







| विषयाः | पृष्ठ | पङ्क्तौ |
|-------------------------------------|-------|---------|
| अर्शांसां स्थानम् | २८६० | १ |
| सहजार्शांसां लिङ्गानि | २८६१ | १ |
| जातस्योत्तरकालजानामर्शांसां निदानम् | २८६३ | १ |
| तेषां स्वरूपम् | २८६४ | २ |
| वातार्शांसां लिङ्गानि | २८६५ | ३ |
| तेषां हेतुः | २८६६ | १ |
| पित्तार्शांसां लिङ्गानि | २८६६ | ६ |
| तेषां हेतुः | २८६७ | ६ |
| कफार्शांसां लिङ्गानि | २८६७ | ६ |
| तेषां हेतुः | २८६८ | ६ |
| द्रव्यसंज्ञिपातार्शांसां हेतुः | २८६८ | १० |
| अर्शांसां पूर्ववत्स्थापि | २८६९ | १ |
| अर्शांसां त्रिविधजन्येषु वि | | |
| उदरगदोपरेकदोषजन्यव्यपदेशः | २८६९ | ५ |
| अर्शांसां मस्योपस्था दिक्क्षणानि | २८७१ | १ |
| अर्शांसां चिकित्सा | २८७२ | ५ |
| स्वेदाद्यगाह्याभ्यङ्गाः | २८७३ | ८ |
| भूषणानि | २८७५ | ५ |
| प्रशस्ताः प्रलेपाः | २८७५ | ११ |
| रक्तमोक्षणविधिः | २८७७ | ३ |
| दीपनपाचना योगाः | २८७८ | १ |
| तक्षारिष्टम् | २८७९ | ३ |
| वातद्रव्यप्रसारः कु तक्षरयोपयोगिता | २८८० | ३ |
| तक्षप्रयोगविधिः | २८८० | ७ |
| प्रशस्तयवागूयुष्यस्यादिः | २८८३ | ३ |
| गाढविट्कानामर्शांसां भेषजानि | २८८४ | ४ |
| चव्याद्यधृतम् | २८८६ | १ |
| साधारणं धृतम् | २८८६ | ८ |
| पिप्पल्याद्यधृतम् | २८८६ | १५ |
| अनुवासनाहोर्णा निहृदाः | २८८९ | ९ |
| प्रशस्तानि अनुवासनानि | २८८९ | १२ |
| अभयारिष्टः | २८९१ | १ |
| द्वयारिष्टः | २८९२ | १ |
| फलादिष्टः | २८९२ | १० |

| विषयाः | पृष्ठ | पङ्क्तौ |
|----------------------------------|-------|---------|
| शार्करारिष्टः | २८९३ | ८ |
| कनकारिष्टः | २८९४ | १ |
| रक्तसाविणामर्शांसां चिकित्सा | २८९६ | १ |
| स्र तक्षरनस्यादीं संग्रहणे दोषः | २८९७ | ३ |
| रक्तसंग्राहकद्रव्याणां निर्हृदाः | २८९८ | ३ |
| कुटजादिरसक्रिया | २८९९ | ७ |
| रक्तशमना योगाः | २९०० | ८ |
| पिच्छावृत्तिः | २९०६ | ११ |
| होत्रादि धृतम् | २९०७ | ८ |
| मुनिपणकचाङ्गरीधृतम् | २९०८ | ५ |
| अर्शांसां निम्नारमर्हणादोषाः | | |
| परस्परहेतयः | २९१० | १ |
| अध्यायोपसंहारः | २९११ | २ |

पञ्चदशोऽध्यायः ।

| | | |
|-----------------------------------|------|---|
| ग्रहणोदोषचिकित्साध्यायः | २९१३ | २ |
| वेहारनेगुणाः | २९१३ | ४ |
| शुक्लाक्षर्य पचनप्रकारः | २९१४ | १ |
| कफादीनामुत्पत्तिविवरणम् | २९१५ | ५ |
| पाञ्चभौतिकशरीरगुणानां | | |
| पौषणप्रकारः | २९१७ | १ |
| किष्टप्रसादभेदेन रसादीनां | | |
| पाकहेतव्यम् | २९२० | १ |
| रसादीनां क्रमोत्पत्तिविवरणम् | २९२० | ३ |
| मलानामुत्पत्तिविवरणम् | २९२२ | १ |
| प्रसादजभावानां परिवर्तनकालः | २९२३ | २ |
| शुक्लाक्षर्यप्रकारः | २९२६ | २ |
| जातरागनेः पचनप्रकारम् | २९२७ | ५ |
| ग्रहणोदोषजगदानां निदानम् | २९२८ | ५ |
| अजीर्णोदोषस्य लक्षणम् | २९२९ | ५ |
| अग्निदोषलक्षणम् | २९३१ | १ |
| ग्रहणोदोषस्य पूर्ववत्प्रकारम् | २९३२ | ३ |
| ग्रहण्याः स्वरूपं प्रकृतं क्रमं च | २९३२ | ५ |
| वातजग्रहणोदोषस्य महत्त्वम् | | |
| लक्षणम् | २९३३ | ३ |

| विषयः | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|---------------------------------|--------|---------|
| पित्तजग्रहणीरोगस्य सनिदान- | | |
| लक्षणम् | २९३५ | १ |
| कफजग्रहणीरोगस्य निदानपूर्वकं | | |
| लक्षणम् | २९३५ | ५ |
| विदोषजग्रहणीरोगस्य निदान- | | |
| लक्षणम् | २९३६ | ७ |
| ग्रहणीदोषस्यामादिलक्षणम् | २९३७ | १ |
| दशमूलाद्यं घृतम् | २९३८ | ९ |
| श्रूषणाद्यं घृतम् | २९३९ | ८ |
| पञ्चमूलाद्यं घृतं तैलं चूर्णञ्च | २९४० | १ |
| आमपक्वपुरीषयोर्लक्षणम् | २९४१ | १ |
| चित्तिकाद्या गुडिका | २९४१ | ५ |
| आमपाचना योगाः | २९४२ | ४ |
| पिप्पल्याद्यं चूर्णम् | २९४३ | ९ |
| मरिचाद्यं चूर्णम् | २९४३ | १४ |
| अवचारणचूर्णम् | २९४४ | ६ |
| पञ्चयवागूविधानम् | २९४५ | १ |
| यूष-रस-पानीयानां निर्देशः | २९४५ | ७ |
| ग्रहणीदोषे तक्रस्योपयोगिता | २९४६ | १ |
| तक्रारिष्टम् | २९४६ | ७ |
| पित्तजग्रहणारागस्य | | |
| चिकित्साविशेषः | २९४७ | ४ |
| चन्दनाद्यं चूर्णम् | २९४८ | १ |
| नागराद्यं चूर्णम् | २९४८ | १० |
| भूनिम्बाद्यं चूर्णम् | २९४९ | १ |
| वचादिचूर्णम् | २९४९ | ६ |
| किराताद्यं चूर्णम् | २९५० | १ |
| श्लैष्मिकग्रहणीरोगस्य | | |
| चिकित्साविशेषः | २९५० | १० |
| मधूकासवः | २९५१ | ५ |
| अन्यो मधूकासवः | २९५२ | ८ |
| इरालकासवः | २९५३ | १ |
| मूलासवः | २९५३ | ९ |
| पिण्डासवः | २९५४ | ८ |
| मध्वरिष्टः | २९५५ | १ |

| विषयाः | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|-----------------------------|--------|---------|
| क्षारघृतम् | २९५५ | १२ |
| कतिपये क्षाराः | २९५६ | १० |
| विदोषजग्रहणीरोगस्य चिकित्सा | २९६० | १४ |
| तस्य आवस्थिकी क्रिया | २९६१ | ६ |
| मन्दग्निचिकित्सा | २९६२ | १ |
| तीक्ष्णग्निचिकित्सा | २९६६ | २ |
| समविषमाध्यशनलक्षणम् | २९६९ | ८ |
| प्रातराशाजोर्णोपि सायमाशस्य | | |
| न दूषकत्वम् | २९७० | १ |
| अध्यायोपसंहारः | २९७१ | ८ |

षोडशोऽध्यायः ।

| | | |
|-----------------------------------|------|----|
| पाण्डुरोगचिकित्सिताध्यायः | २९७३ | २ |
| पाण्डुरोगस्य सङ्ख्या | २९७३ | ४ |
| तस्य सम्प्राप्तिः | २९७४ | १ |
| पाण्डुरोगस्य निदानम् | २९७५ | १ |
| तस्य पूर्वलक्षणम् | २९७५ | ११ |
| पाण्डुरोगस्य सामान्यलक्षणम् | २९७६ | १ |
| वातजपाण्डुरोगस्य निदानलक्षणे | २९७६ | ९ |
| पित्तजपाण्डुरोगस्य सनिदान- | | |
| लक्षणम् | २९७७ | १ |
| श्लेष्मजपाण्डुरोगस्य निदानपूर्वकं | | |
| लक्षणम् | २९७७ | ९ |
| त्रिदोषजपाण्डुरोगस्य निदान- | | |
| सहितलक्षणम् | २९७८ | १ |
| मृजपाण्डुरोगस्य सहेतुलक्षणम् | २९७८ | ७ |
| पाण्डुरोगाणामसाध्यलक्षणानि | २९७९ | ५ |
| कामलाकुम्भकामलयोर्लक्षणानि | २९८० | ५ |
| कामलाया असाध्यलक्षणम् | २९८१ | २ |
| पाण्डुरोगस्य साधारणचिकित्सा | २९८१ | ६ |
| दाडिमाद्यं घृतम् | २९८२ | ७ |
| कटुकाद्यं घृतम् | २९८३ | १ |
| पथ्याघृतम् | २९८३ | ८ |
| दन्तीघृतम् | २९८३ | ११ |
| व्राक्षाघृतम् | २९८४ | १ |

| विषयः | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|----------------------------|--------|---------|
| हरिद्रादिघृतम् | २९८४ | ४ |
| पाण्डुकामलानाशना योगाः | २९८५ | १ |
| नवायसं चूर्णम् | २९८६ | ८ |
| मण्डूरचटकाः | २९८८ | १ |
| योगराजः | २९८९ | ३ |
| शिलाजतुवटकाः | २९९० | ४ |
| पुनर्नवामण्डूरम् | २९९१ | ४ |
| धातुप्रवलेहः | २९९२ | ३ |
| मण्डूरचटकाः | २९९२ | ९ |
| गौड़ोऽरिष्टः | २९९३ | ४ |
| बीजकारिष्टः | २९९३ | ७ |
| धान्यारिष्टः | २९९४ | ६ |
| शाखाश्रितकामलायाश्चिकित्सा | २९९७ | १ |
| हलीमकलक्षणम् | २९९८ | ५ |
| हलीमकचिकित्सा | २९९९ | १ |
| अध्यायोपसंहारः | २९९९ | १० |

सप्तदशोऽध्यायः ।

| | | |
|-----------------------------|------|----|
| हिक्काश्वासचिकित्सिताध्यायः | ३००१ | २ |
| हिक्काश्वासयोर्दुर्जयत्वम् | ३००२ | १ |
| तयोर्निदानपूर्वकं लक्षणम् | ३००३ | १ |
| हिक्कानां पूर्वरूपाणि | ३००४ | ७ |
| श्वासानां पूर्वरूपाणि | ३००४ | ९ |
| हिक्कायाः सम्प्राप्तिः | ३००४ | ११ |
| महाहिक्कालक्षणम् | ३००५ | १ |
| गम्भीराहिक्कालक्षणम् | ३००६ | १ |
| व्यपेताहिक्कालक्षणम् | ३००६ | १० |
| क्षुद्राहिक्कालक्षणम् | ३००७ | ६ |
| अन्नजाहिक्कालक्षणम् | ३००८ | ४ |
| हिक्कानामसाध्यलक्षणानि | ३००९ | १ |
| श्वासस्य सम्प्राप्तिः | ३०१० | १ |
| महाश्वासलक्षणम् | ३०१० | ३ |
| ऊर्ध्वश्वासलक्षणम् | ३०११ | १ |
| छिन्नश्वासलक्षणम् | ३०१४ | ८ |
| तमकश्वासलक्षणम् | ३०१२ | ४ |

| विषयः | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|--|--------|---------|
| प्रतमक सन्तमकश्वासलक्षणम् | ३०१४ | १ |
| क्षुद्रश्वासलक्षणम् | ३०१४ | ६ |
| श्वासानां साध्यलक्षणानि | ३०१५ | ५ |
| हिक्काश्वासचिकित्सा | ३०१६ | ३ |
| अस्वेद्यानां निदः शः | ३०१८ | ५ |
| आत्ययिके तेषां स्वेदविधिः | ३०१९ | १ |
| सबल-दुर्बलादिभेदेन हिक्काश्वासनां चिकित्सा | ३०२० | १ |
| प्रशस्तयूपयवाग्वादिः | ३०२१ | ५ |
| कतिपये योगाः | ३०२३ | ५ |
| शटपादिचूर्णम् | ३०२६ | ३ |
| मुक्ताद्यचूर्णम् | ३०२६ | ८ |
| हिक्कानाशना योगाः | ३०२७ | ६ |
| हिक्काश्वासनिदानवर्जने उपदेशः | ३०२९ | ३ |
| दशमूलार्घ्यं घृतम् | ३०२९ | ७ |
| तेजोवत्यादिचूर्णम् | ३०२९ | ११ |
| मनःशिलादि घृतम् | ३०३० | ६ |
| हिक्काश्वासयोश्चिकित्सासूत्रम् | ३०३१ | १ |
| अध्यायोपसंहारः | ३०३२ | ४ |

अष्टादशोऽध्यायः ।

| | | |
|-------------------------------------|------|---|
| कासचिकित्सिताध्यायः | ३०३३ | २ |
| कासानां सङ्ख्या | ३०३३ | ६ |
| कासानां पूर्वलक्षणम् | ३०३४ | १ |
| तेषां सम्प्राप्तिपूर्विका निरुक्तिः | ३०३४ | ३ |
| वातकासनिदानम् | ३०३५ | ५ |
| पित्तकासनिदानम् | ३०३६ | १ |
| पित्तकासलक्षणम् | ३०३६ | ३ |
| कफकासनिदानम् | ३०३६ | ९ |
| क्षतकासनिदानम् | ३०३७ | ३ |
| क्षयकासनिदानम् | ३०३७ | ९ |
| क्षयकासलक्षणम् | ३०३८ | १ |
| क्षतजक्षयजकासयोः साध्यत्वादि | ३०३८ | ९ |
| वातजकासचिकित्सा | ३०३९ | ३ |
| कण्टकारीघृतम् | ३०४० | ३ |

| विषयाः | पृष्ठ | पङ्क्तौ |
|---------------------------------|-------|---------|
| पिप्पल्यादिघृतम् | ३०४० | ६ |
| त्र्युषणाद्यं घृतम् | ३०४१ | १ |
| रास्नाघृतम् | ३०४१ | १० |
| प्रशस्ता योगाः | ३०४२ | ४ |
| चित्रकादिलेहः | ३०४३ | १ |
| अगस्त्यहरीतकी | ३०४३ | १० |
| धूमयोग्यावस्थोपदर्शनपूर्वक- | | |
| धूमप्रयोगविधिः | ३०४५ | ५ |
| प्रशस्तयूष्यवाग्वादिः | ३०४७ | ५ |
| पित्तजकासचिकित्सा | ३०४८ | ९ |
| कासहरा लेहाः | ३०४९ | ७ |
| पित्तकासे रस-क्षीर-यूषादिकल्पना | ३०५१ | ७ |
| कफजकासचिकित्सा | ३०५३ | ३ |
| कष्टकारीघृतम् | ३०५६ | १ |
| क्षतजकासचिकित्सा | ३०५७ | ५ |
| पिप्पल्यादिलेहः | ३०५७ | ७ |
| क्षयजकासचिकित्सा | ३०६० | ५ |
| द्विपञ्चमूल्यादिघृतम् | ३०६२ | १ |
| गुडूच्यादिघृतम् | ३०६२ | ८ |
| कासमह्नीदिघृतम् | ३०६३ | १ |
| हरीतकीलेहः | ३०६३ | ११ |
| प्रशस्ता योगाः | ३०६४ | ४ |
| जीवन्त्याद्यचूर्णावलेहौ | ३०६५ | १२ |
| पञ्चकादिलेहः | ३०६५ | ७ |
| अध्यायोपसंहारः | ३०६८ | २ |

एकोनविंशोऽध्यायः ।

| | | |
|----------------------------------|------|----|
| अतीसारस्य प्रागुत्पत्तेर्विवरणम् | ३०६९ | १० |
| वातातीसारस्य निदानम् | ३०७० | ६ |
| तस्य रूपाणि | ३०७१ | ४ |
| पित्तातीसारस्य निदानम् | ३०७२ | १ |
| तस्य रूपाणि | ३०७२ | ६ |
| श्लेष्मातीसारस्य निदानम् | ३०७२ | ९ |
| तस्य रूपाणि | ३०७३ | ३ |
| त्रिदोषातीसारस्य निदानलक्षणं | ३०७३ | ८ |

| विषयाः | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|---------------------------|--------|---------|
| तस्य कृच्छ्रसाध्यलक्षणानि | ३०७५ | १ |
| आगन्त्वतिशारौ | ३०७७ | १ |
| अतीसारस्य चिकित्सासूत्रम् | ३०७९ | १ |
| प्रमथ्यायोगानां निवृत्तिः | ३०८१ | १ |
| अतीसारे जलपानविधिः | ३०८१ | ५ |
| प्रशस्तयवाग्वादिः | ३०८१ | ९ |
| दीपनग्राही गणः | ३०८२ | ३ |
| चाङ्गेरीघृतम् | ३०८५ | ३ |
| चःयादिघृतम् | ३०८५ | ६ |
| आमादितपित्तातीसारचिकित्सा | ३०८६ | ९ |
| पित्तातीसारे षड्योगाः | ३०८८ | १ |
| अनुवासनविधिः | ३०८९ | ५ |
| पिच्छावस्तिः | ३०९० | १ |
| रक्तातीसारस्य निदानलक्षणं | ३०९१ | १ |
| तस्य छागपयसः प्रशस्तता | ३०९१ | ५ |
| रक्तातीसारनाशना योगाः | ३०९३ | ९ |
| गुदपाकप्रतीकारः | ३०९४ | ७ |
| आवस्थिकी क्रिया | ३०९५ | ९ |
| श्लेष्मातीसारचिकित्सा | ३०९७ | ७ |
| श्लेष्मातीसारघ्ना योगाः | ३०९८ | ३ |
| अजाज्यादिः | ३०९८ | ९ |
| सन्निपातातीसारचिकित्सा | ३१०१ | ३ |
| अध्यायोपसंहारः | ३१०२ | १ |

विंशोऽध्यायः ।

| | | |
|------------------------------|------|----|
| छर्द्दिचिकित्सिताध्यायः | ३१०३ | २ |
| छर्द्दीनां पूर्वस्वरूपम् | ३१०४ | ३ |
| वातजच्छर्द्दिनिदानपूर्विका | | |
| सम्प्राप्तिः | ३१०५ | ७ |
| तस्या लक्षणम् | ३१०५ | १ |
| पित्तजच्छर्द्दिनिदानपूर्विका | | |
| सम्प्राप्तिः | ३१०५ | ७ |
| तस्या लक्षणम् | ३१०५ | ११ |
| कफजच्छर्द्दिनिदानम् | ३१०६ | १ |
| तस्या लक्षणम् | ३१०६ | ५ |

| पङ्क्तौ | विषयाः | पृष्ठ | पङ्क्तौ |
|---------|-------------------------------------|-------|---------|
| १ | त्रिदोषजच्छर्दिर्निदानपूर्विका | | |
| १ | सम्प्राप्तिः | ३१०६ | ९ |
| १ | तस्या लक्षणम् | ३१०७ | ३ |
| १ | असाध्यलक्षणानि | ३१०७ | ७ |
| ५ | द्विष्टार्थसंयोगजच्छर्दिर्निदानम् | ३१०८ | १ |
| ९ | छर्दिनामसाध्यलक्षणानि | ३१०८ | ५ |
| ३ | छर्दिचिकित्सा | ३१०९ | ५ |
| ३ | वातजच्छर्दिचिकित्सा | ३११० | ९ |
| ६ | पित्तजच्छर्दिचिकित्सा | ३१११ | ३ |
| ९ | कफजच्छर्दिचिकित्सा | ३११४ | ५ |
| १ | त्रिदोषजच्छर्दिचिकित्सा | ३११६ | १ |
| ५ | आगन्तुच्छर्दिचिकित्सा | ३११६ | ३ |
| १ | छर्द्दुःस्थितोपद्रवाणां चिकित्सा | ३११७ | १ |
| १ | अध्यायोपसंहारः | ३११८ | १ |
| ५ | एकविंशोऽध्यायः । | | |
| ९ | विसर्पचिकित्सिताध्यायः | ३११९ | २ |
| ९ | विसर्पशब्दस्य निरुक्तिः | ३१२० | ९ |
| ७ | विसर्पणामुपादानम् | ३१२१ | ७ |
| ३ | विसर्पनिदानम् | ३१२२ | १ |
| ९ | वाह्यादिभेदेन विसर्पस्य त्रैविध्यम् | ३१२३ | ३ |
| ३ | विसर्पणामनुपक्रमलक्षणम् | ३१२४ | ३ |
| १ | वातविसर्पस्य लक्षणम् | ३१२५ | १ |
| | पित्तविसर्पस्य निदानम् | ३१२५ | १० |
| | तस्य लक्षणम् | ३१२६ | १ |
| २ | कफविसर्पस्य निदानम् | ३१२६ | ९ |
| ३ | तस्य लक्षणम् | ३१२७ | १ |
| | अग्निविसर्पस्य निदानलक्षणे | ३१२८ | १ |
| ७ | कर्द्दमविसर्पस्य निदानलक्षणे | ३१२९ | १ |
| १ | ग्रन्थिविसर्पस्य निदानलक्षणे | ३१३० | ५ |
| | उपद्रवलक्षणम् | ३१३१ | ६ |
| ७ | त्रिदोषविसर्पस्य निदानादि | ३१३२ | ४ |
| ११ | विसर्पणां साध्यत्वादि | ३१३३ | ३ |
| १ | विसर्पणां सङ्क्षिप्तचिकित्सा | ३१३४ | ६ |
| ५ | विसर्प वमनविधिः | ३१३५ | ४ |

| विषयाः | पृष्ठ | पङ्क्तौ |
|-----------------------------|-------|---------|
| विसर्पनाशना योगाः | ३१३६ | १ |
| विरेचनविधिः | ३१३७ | ७ |
| रक्तनिर्हरणविधिः | ३१३८ | १ |
| प्रलेपाः | ३१३८ | ९ |
| प्रलेपदानविधिः | ३१४३ | ३ |
| अन्नपानविधिः | ३१४४ | १ |
| अपथ्यानां निर्द्देशः | ३१४५ | ३ |
| दोषभेदेन चिकित्साविधिः | ३१४५ | ५ |
| गलगण्डचिकित्सा | ३१४९ | ५ |
| विसर्प रक्तमोक्षस्यावश्यकता | ३१४९ | ९ |
| अध्यायोपसंहारः | ३१५० | ४ |

द्वाविंशोऽध्यायः ।

| | | |
|-------------------------------|------|---|
| तृष्णाचिकित्सिताध्यायः | ३१५१ | २ |
| तृष्णानां सनिदानसम्प्राप्तिः | ३१५१ | ६ |
| तासां पृथ्वरूपाणि रूपाणि च | ३१५२ | ५ |
| प्रबलतृष्णायाः सामान्यलक्षणम् | ३१५३ | १ |
| वातजतृष्णायाः सनिदानलक्षणम् | ३१५३ | ५ |
| पित्तजतृष्णाया लक्षणानि | ३१५४ | १ |
| आमजतृष्णालक्षणम् | ३१५५ | १ |
| रसक्षयजतृष्णालक्षणम् | ३१५५ | ३ |
| उपसर्गात्मिकायास्तृष्णाया | | |
| लक्षणम् | ३१५६ | १ |
| मद्यजतृष्णाया निदानलक्षणम् | ३१५७ | ३ |
| तृष्णाचिकित्सा | ३१५८ | ३ |
| प्रशस्तमन्थ-गण्ड-पेयादिः | ३१५९ | १ |
| अवस्थाभेदे शीतोष्णजलदान- | | |
| निषेधविधिः | ३१६४ | ७ |
| अध्यायोपसंहारः | ३१६६ | १ |

त्रयोविंशोऽध्यायः

| | | |
|-----------------------------|------|----|
| विषचिकित्सिताध्यायः | ३१६७ | २ |
| विषस्य प्रागुत्पत्तिविवरणम् | ३१६७ | ६ |
| विषशब्दस्य निरुक्तिः | ३१६७ | ९ |
| विषस्य द्विविध्यम् | ३१६७ | १० |

| विषयाः | पृष्ठ | पङ्क्तौ |
|--|-------|---------|
| जङ्गमविषाणां योनिः | ३१६९ | १ |
| स्थावरविषाणां निर्देशः | ३१७० | १ |
| चारविषस्य विवरणम् | ३१७१ | १ |
| जङ्गमस्थावरविषयोः कर्म | ३१७१ | ३ |
| तयोर्गतिभेदः | ३१७२ | १ |
| स्थावरविषवेगानां लक्षणानि | ३१७३ | १ |
| विषगुणानां निर्देशः कर्माणि च | ३१७४ | ५ |
| दूषोविषलक्षणम् | ३१७६ | ८ |
| विषं यथा मारयति | ३१७७ | १ |
| पीतादिविषस्थितिस्थानम् | ३१७७ | २ |
| विषपीडितस्थारिष्टलक्षणम् | ३१७७ | ३ |
| चतुर्विंशतिरूपक्रमाः | ३१८७ | १ |
| मृतसञ्जीवनोऽगदः | ३१९३ | १ |
| दोषस्थानगनस्य विषस्य प्रतीकारः | ३१९४ | ८ |
| गन्धहस्तीनामागदः | ३१९६ | ५ |
| महागन्धहस्तीनामागदः | ३१९७ | ६ |
| विषत्योपद्रवाणां चिकित्सा | ३१९९ | १५ |
| क्षारगुडिकाः | ३२०० | ९ |
| विषदातुर्लक्षणम् | ३२०१ | १ |
| सविषान्नपानानां परीक्षा | ३२०३ | १ |
| आमपक्काशयगतसविषान्नपानानां लक्षणम् | ३२०५ | १ |
| जङ्गमविषचिकित्सा | ३२०८ | ३ |
| परमोऽगदः | ३२२४ | ११ |
| पञ्चशिरीपोऽगदः | ३२२५ | ४ |
| नख-दन्तविषचिकित्सा | ३२२६ | ४ |
| शङ्काविषस्य लक्षणं चिकित्सा च | ३२२६ | ६ |
| विषार्त्तानामन्नार्थं शाल्यादीनां निर्देशः | ३२२७ | १ |
| विषार्त्त-विषमुक्तानां वर्जनीयानि | ३२२७ | ८ |
| दृष्टचतुष्पदानां लक्षणं चिकित्सा च | ३२२७ | १० |
| अमृतघृतम् | ३२३० | १ |
| दंशनमात्रे कर्त्तव्योपदेशः | ३२३१ | ८ |
| अध्यायोपसंहारः | ३२३२ | ५ |

चतुर्विंशोऽध्यायः ।

| विषयाः | पृष्ठ | पङ्क्तौ |
|-------------------------------------|-------|---------|
| मदात्ययचिकित्सिनाध्यायः | ३२३३ | २ |
| सुरायाः प्रभावः | ३२३३ | ४ |
| मद्यपानविधिः | ३२३५ | १ |
| यथाऽयथाविधिपीतमद्यस्य फलम् | ३२३७ | ३ |
| मद्यस्य मद्यजननप्रकारः | ३२३७ | ७ |
| मद्यगुणाः | ३२३७ | ९ |
| ओजोगुणाः | ३२३८ | १ |
| ओजसः स्थानम् | ३२३८ | ९ |
| मदानां त्रैविध्यम् | ३२४० | ५ |
| तेषां लक्षणानि | ३२४० | ७ |
| मद्यदोषाः | ३२४२ | ११ |
| युक्त्या पीतस्य मद्यस्य गुणाः | ३२४३ | ९ |
| मद्यपाने युक्तिः | ३२४५ | ३ |
| सात्त्विकादिपानलक्षणम् | ३२४६ | ३ |
| वातोल्वणमदात्ययस्य सनिदान-लक्षणम् | ३२५० | ३ |
| पित्तोल्वणमदात्ययस्य सनिदान-लक्षणम् | ३२५० | ९ |
| कफोल्वणमदात्ययस्य सनिदान-लक्षणम् | ३२५१ | १ |
| मदात्ययस्य त्रिदोषजत्वे हेतुः | ३२५१ | ७ |
| तस्य सामान्यलक्षणम् | ३२५२ | १ |
| मदात्ययस्य सामान्यचिकित्सा | ३२५३ | ३ |
| दोषभेदेन मद्यप्रयोगविधिः | ३२५५ | ९ |
| वातोल्वणमदात्ययचिकित्सा | ३२५६ | १ |
| पित्तोल्वणमदात्ययचिकित्सा | ३२५७ | १३ |
| कफोल्वणमदात्ययचिकित्सा | ३२६२ | ३ |
| अष्टाङ्गल्वणम् | ३२६४ | १ |
| सन्निपातजमदात्ययचिकित्सा | ३२६६ | १ |
| मदात्ययनाशना उपायाः | ३२६६ | ५ |
| ध्वंसकविक्षेपकयोर्निदानम् | ३२६७ | ९ |
| तयोर्लक्षणं चिकित्सा च | ३२६८ | १ |
| अध्यायोपसंहारः | ३२७० | १ |

पञ्चविंशोऽध्यायः ।

| विषयाः | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|------------------------------------|--------|---------|
| द्वित्रिणीयचिकित्सिताध्यायः | ३२७१ | २ |
| निजागन्तुभेदेन व्रणस्य द्वैविध्यम् | ३२७१ | ११ |
| द्विविधस्य तस्य निदानम् | ३२७२ | १ |
| वातज्वरस्य लक्षणप्रतीकारौ | ३२७३ | १ |
| पित्तज्वरस्य लक्षणप्रतीकारौ | ३२७३ | ५ |
| कफज्वरस्य लक्षणप्रतीकारौ | ३२७३ | ९ |
| व्रणानां विंशतिर्भेदाः | ३२७४ | ७ |
| तेषां त्रिविधा परीक्षा | ३२७५ | १ |
| द्वादशदुष्टव्रणानां निर्देशः | ३२७५ | ५ |
| व्रणानामष्टौ स्थानानि | ३२७५ | ८ |
| अष्टौ गन्धाः | ३२७६ | १ |
| चतुर्दश स्वावाः | ३२७६ | ३ |
| षोडशोपद्रवाः | ३२७६ | ६ |
| चतुर्विंशतिर्दोषाः | ३२७६ | १० |
| व्रणस्य सुखसाध्यत्वादि | ३२७७ | ९ |
| षट्त्रिंशदुपक्रमाः | ३२७९ | १ |
| अध्यायोपसंहारः | ३२९४ | ५ |

षट्विंशोऽध्यायः ।

| | | |
|----------------------------------|------|---|
| त्रिमर्मीयचिकित्सिताध्यायः | ३२९५ | २ |
| त्रिमर्माणां निर्देशः | ३२९५ | ५ |
| उदावर्तस्य निदानलक्षणे | ३२९६ | १ |
| उदावर्तचिकित्सा | ३२९७ | १ |
| आनाहस्य लक्षणं चिकित्सा च | ३३०१ | १ |
| मूत्रकृच्छस्य निदानं सङ्ख्या च | ३३०१ | ४ |
| तस्य सम्प्रसिः सामान्यलक्षणञ्च | ३३०२ | १ |
| वातजादिमूत्रकृच्छ्राणां लक्षणानि | ३३०२ | ३ |
| अश्मरीजन्मप्रकारः | ३३०३ | १ |
| अश्मरीरूपाणि | ३३०३ | ३ |
| शर्कराया निदानलक्षणे | ३३०४ | १ |
| शुक्रजमूत्रकृच्छस्य निदान- | | |
| लक्षणम् | ३३०६ | १ |

| विषयाः | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|--|--------|---------|
| आगन्तुजस्य तस्य निदानलक्षणं | ३३०६ | ४ |
| वातजादिमूत्रकृच्छ्राणां चिकित्सा | ३३०७ | १ |
| अश्मरीभेदेनपातना योगाः | ३३११ | १० |
| शुक्रविधातजमूलकृच्छ्रचिकित्सा | ३३१४ | १ |
| रक्तजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा | ३३१४ | ९ |
| मूत्रकृच्छ्रवर्जनांथानि | ३३१५ | ५ |
| हृद्रोगस्य सामान्यलक्षणम् | ३३१७ | ३ |
| तस्य विशेषलक्षणम् | ३३१७ | ७ |
| वातहृद्रोगचिकित्सा | ३३१८ | १ |
| त्रूपणादिघृतम् | ३३१९ | ३ |
| पित्तादिहृद्रोगचिकित्सा | ३३१९ | ९ |
| किमिजहृद्रोगचिकित्सा | ३३२२ | ९ |
| प्रतिश्यायनिदानम् | ३३२३ | १ |
| प्रतिश्यायानां लक्षणानि | ३३२३ | ४ |
| दुष्टप्रतिश्यायलक्षणम् | ३३२४ | ६ |
| क्षवथलक्षणम् | ३३२५ | १ |
| नासाशोष-प्रमानाह-परिस्त्र-पूतिनस्यारीनस- | | |
| नासाशाय-नासापाक-पूयरकार्वा | | |
| लक्षणानि | ३३२५ | २ |
| शिरोरोगाणां लक्षणानि | ३३२७ | १ |
| मुखमयानां लक्षणानि | ३३२७ | ५ |
| अरञ्चकरागाणां लक्षणानि | ३३३१ | १ |
| कर्णरोगाणां लक्षणानि | ३३३२ | ३ |
| अक्षिरागाणां लक्षणानि भेदाश्च | ३३३३ | १ |
| खालित्यपालित्ययोः सनिदान- | | |
| लक्षणम् | ३३४१ | १ |
| नवप्रतिश्यापस्य चिकित्सा | ३३४२ | ५ |
| नासारोगप्रतीकारः | ३३४३ | १ |
| अणुतेलम् | ३३४३ | ६ |
| शिरोरोगचिकित्सा | ३३४७ | १ |
| मायूरघृतम् | ३३४७ | ११ |
| महामायूरघृतम् | ३३४८ | १ |
| मुखरागचिकित्सा | ३३५२ | ९ |
| काणकचूर्णम् | ३३५३ | १३ |
| पीतकचूर्णम् | ३३५४ | १ |

| विषयाः | पृष्ठ | पङ्क्तौ |
|-----------------------------|-------|---------|
| खदिरादिगुडिका खदिरादितैलञ्च | ३३५५ | ७ |
| अंरोचकचिकित्सा | ३३५७ | १ |
| स्वरभेदचिकित्सा | ३३५८ | १ |
| कर्णरोगचिकित्सा | ३३५९ | ५ |
| क्षारतैलम् | ३३५९ | ९ |
| गन्धतैलम् | ३३६० | ११ |
| नेत्ररोगचिकित्सा | ३३६१ | ५ |
| प्रशस्तवर्त्तिचूर्णाञ्जनानि | ३३६३ | १२ |
| सुखावती वर्त्तिः | ३३६५ | १ |
| दृष्टिप्रदा वर्त्तिः | ३३६५ | ६ |
| खालित्यादिचिकित्सा | ३३६६ | ८ |
| महानीलतैलम् | ३३६७ | ९ |
| केशवर्द्धन-रञ्जनयोगाः | ३३६९ | ७ |
| अध्यायोपसंहारः | ३३७२ | २ |

अष्टविंशोऽध्यायः ।

| | | |
|------------------------------|------|---|
| ऊरुस्तम्भचिकित्सिताध्यायः | ३३७३ | २ |
| ऊरुस्तम्भनिदानम् | ३३७४ | १ |
| ऊरुस्तम्भशब्दस्य निरुक्तिः | ३३७५ | ६ |
| ऊरुस्तम्भस्य पूर्वरूपम् | ३३७५ | ५ |
| तस्य रूपाणि | ३३७६ | १ |
| असाध्यलक्षणम् | ३३७६ | ५ |
| ऊरुस्तम्भे स्नेहनादेर्निषेधः | ३३७६ | ७ |
| ऊरुस्तम्भस्य चिकित्साक्रमः | ३३७७ | ७ |
| ऊरुस्तम्भनाशना योगाः | ३३७८ | ७ |
| अपत्यदं तैलम् | ३३८१ | १ |
| अष्टकटुरं तैलम् | ३३८१ | ५ |
| ऊरुस्तम्भस्य वाह्यचिकित्सा | ३३८१ | ८ |
| अध्यायोपसंहारः | ३३८४ | २ |

अष्टाविंशोऽध्यायः ।

| | | |
|-------------------------------|------|---|
| वातव्याधिचिकित्सिताध्यायः | ३३८५ | २ |
| वायोः स्तुतिः | ३३८५ | ४ |
| तस्य पञ्चधा भेदः | ३३८६ | १ |
| प्राणादिवायूनां स्थानं कर्म च | ३३८६ | ३ |

| विषयाः | पृष्ठ | पङ्क्तौ |
|----------------------------------|-------|---------|
| वातव्याधेर्निदानम् | ३३८८ | ३ |
| तस्य पूर्वरूपम् | ३३८९ | १ |
| तस्य रूपाणि | ३३८९ | ३ |
| स्थानभेदेन लक्षणानि | ३३९० | १ |
| त्वगादिगतकुपितवायोर्लक्षणानि | ३३९० | १२ |
| स्नाय्वादिगतवायोर्लक्षणानि | ३३९१ | ७ |
| अर्द्धितलक्षणम् | ३३९२ | १ |
| अन्तरायाम-वहिरायामयो- लक्षणम् | ३३९३ | १ |
| हनुस्तम्भलक्षणम् | ३३९४ | ३ |
| आक्षेपकलक्षणम् | ३३९४ | ६ |
| एकाङ्गसर्वाङ्गरोगयोर्लक्षणम् | ३३९५ | ३ |
| गृध्रसी-खल्लोलक्षणम् | ३३९५ | ९ |
| आवृतवायोर्लक्षणम् | ३३९६ | ५ |
| वातव्याधिचिकित्सा | ३३९९ | ६ |
| अर्द्धितचिकित्सा | ३४०४ | ३ |
| पक्षाघातचिकित्सा | ३४०४ | ५ |
| गृध्रसी-खल्लोचिकित्सा | ३४०४ | ७ |
| व्यादितार्साचिकित्सा | ३४०४ | ९ |
| वातव्याधौ पथ्यानि | ३४०५ | ३ |
| महास्नेहः | ३४०९ | ५ |
| बलातैलम् | ३४१२ | ५ |
| अमृतातैलम् | ३४१३ | १० |
| रास्नादि तैलम् | ३४१४ | १० |
| मूलकाद्यतैलम् | ३४१५ | ४ |
| रुक्कलकवृषमूलादि तैलम् | ३४१६ | १ |
| रास्नातैलम् | ३४१६ | ५ |
| वातरोगे तैलस्य प्रशस्तता | ३४१७ | ११ |
| आवृतवायोश्चिकित्सा | ३४१८ | १ |
| आमाशयादिगतवातस्य | | |

प्रतीकारः ३४१९ १

वायोरन्योऽन्यावरणलक्षणानि ३४२१ ३

अन्योऽन्यावृतस्य तस्य

चिकित्सा ३४२२ १

अध्यायोपसंहारः ३४२९ ८

| पङ्क्तिः | ऊनत्रिंशोऽध्यायः । | विषयाः | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|----------|------------------------------|--------|--------|---------|
| ३ | विषयाः | | | |
| १ | वातरक्तचिकित्सिताध्यायः | ३४३१ | २ | |
| ३ | वातरक्तनिदानम् | ३४३१ | ८ | |
| १२ | वातरक्तस्य स्थानम् | ३४३२ | १ | |
| ७ | तस्य पूर्वरूपम् | ३४३३ | ९ | |
| १ | वातरक्तस्य द्वेविध्यम्, | | | |
| | द्विविधस्य तस्य लक्षणञ्च | ३४३४ | १ | |
| १ | वातरक्तलक्षणम् | ३४३५ | १ | |
| ३ | वातरक्तस्य साध्यत्वादि | ३४३६ | १ | |
| ६ | तस्योपद्रवाः | ३४३६ | ३ | |
| ३ | रक्तमोक्षणविधिः | ३४३७ | ३ | |
| ९ | वातरक्तेऽपथ्यस्थानि | ३४३९ | ७ | |
| ५ | वातरक्तचिकित्सा | ३४४० | ५ | |
| ६ | पारूपकं घृतम् | ३४४० | ११ | |
| ३ | जीवनीयं घृतम् | ३४४१ | ४ | |
| ५ | अपराणि घृतानि | ३४४२ | १० | |
| ७ | वातरक्ते वस्तेः प्राशस्त्यम् | ३४४५ | ८ | |
| ९ | मधुपर्ण्योदितैलम् | ३४४५ | १३ | |
| ३ | सुकुमारकतैलम् | ३४४६ | ९ | |
| ५ | अमृताख्यं तैलम् | ३४४७ | १० | |
| ५ | महापद्मतैलम् | ३४४८ | १० | |
| १० | खड्गकपद्मतैलम् | ३४४९ | ६ | |
| १० | शतपाकमधुपर्णोतैलम् | ३४४९ | १ | |
| ४ | सहस्रपाकं शतपाकं बलातैलम् | ३४५० | ४ | |
| १ | गुडूच्यादीनि तैलानि | ३४५० | ९ | |
| ५ | पिण्डतैलम् | ३४५० | १२ | |
| ११ | वातरक्ते प्रलेपाः | ३४५३ | ९ | |
| १ | अध्यायोपसंहारः | ३४५७ | ८ | |
| १ | त्रिंशोऽध्यायः । | | | |
| ३ | योनिव्यापच्चिकित्सिताध्यायः | ३४५९ | २ | |
| १ | वातादिजयोनिव्यापदः पृथग् | | | |
| ८ | निदानलक्षणे | ३४६० | ४ | |
| | अरजरक्तलक्षणम् | ३४६१ | ७ | |

| विषयाः | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|--------------------------------|--------|---------|
| अचरणातिचरणाप्राक्चरणानां | | |
| लक्षणानि | ३४६२ | १ |
| उपप्लुतायाः सनिदानलक्षणम् | ३४६२ | ७ |
| परिप्लुताया निदानलक्षणे | ३४६३ | १ |
| उदावर्तिनीकर्णिनीपुत्रप्लवन्त- | | |
| मुखीवामिनीनां निदान | | |
| लक्षणानि | ३४६३ | ३ |
| षण्डीलक्षणम् | ३४६५ | १ |
| महायोनेः सनिदानलक्षणम् | ३४६५ | ३ |
| आसु दोषसम्बन्धः | ३४६६ | १ |
| योनिव्यापच्चिकित्सा | ३४६६ | ५ |
| बलातैलम् | ३४६७ | ११ |
| काश्मर्यादिघृतम् | ३४६८ | ६ |
| शतावरीघृतम् | ३४७० | ४ |
| अपरं शतावरीघृतम् | ३४७१ | ४ |
| रक्तयोनिचिकित्सा | ३४७४ | ३ |
| पुण्यानुगं चूर्णम् | ३४७५ | १ |
| पाण्डरप्रदरचिकित्सा | ३४७९ | ५ |
| योनिव्यापदुपसंहारः | ३४८१ | ३ |
| शुक्रदुष्टिकारणानि | ३४८२ | ८ |
| शुक्रस्याष्टौ दोषाः | ३४८३ | ६ |
| तेषु दोषनियमः | ३४८३ | ८ |
| विशुद्धशुक्रस्य लक्षणम् | ३४८४ | ६ |
| दुष्टशुक्रस्य चिकित्सा | ३४८४ | ८ |
| क्लैव्यस्य सामान्यलक्षणम् | ३४८६ | १ |
| चतुर्विधक्लैव्यस्य सनिदान- | | |
| लक्षणम् | ३४८६ | ६ |
| तस्यासाध्यलक्षणम् | ३४९१ | १० |
| क्लैव्यचिकित्सा | ३४९२ | ६ |
| प्रदरनिदानम् | ३४९४ | ५ |
| प्रदरशब्दस्य निरुक्तिः | ३४९५ | २ |
| प्रदरचिकित्सा | ३४९७ | ९ |
| स्तन्यदुष्टनिदानम् | ३४९८ | ७ |
| वातादिदुष्टस्तन्यलक्षणम् | ३४९९ | ५ |
| स्तन्यदुष्टचिकित्सा | ३५०१ | ४ |

| विषयाः | पृष्ठे | पङ्क्तौ | विषयाः | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|------------------------------|--------|---------|-------------------|--------|---------|
| बालरोगचिकित्सा | ३५०६ | ३ | साम्यावधिः | ३५१४ | २ |
| अपथ्यानि | ३५०७ | १ | चिकित्सायामुपदेशः | ३५१५ | १ |
| अनुकुरोगाणां चिकित्सासूत्रम् | ३५०८ | १ | अध्यायोपसंहारः | ३५१७ | ५ |
| अवेक्षणीयषट्कालानां निर्देशः | ३५०९ | ५ | | | |

चिकित्सितस्थानस्य सूचीपत्रं समाप्तम् ।

कल्पस्थानस्य सूचीपत्रम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

| विषयाः | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|---|--------|---------|
| मदनकल्पाध्यायः | ३५१९ | २ |
| वमन-विरेचनलक्षणम् | ३५२१ | १ |
| मदनफलादीनां वामकत्वे विवृतादीनां विरेचकत्वे हेतुः | ३५२३ | १ |
| देशस्य त्रैविध्यम्, विविधस्य तस्य लक्षणञ्च | ३५२४ | ५ |
| औषधग्रहणोचितस्थानस्य लक्षणम् | ३५२६ | १ |
| ग्रहणीयौषधानां लक्षणानि | ३५२६ | ६ |
| औषधस्य ग्रहणरीतिः | | |
| स्थापनविधिश्च | ३५२८ | १ |
| वमनकरणप्रकारः | ३५२८ | ११ |
| हीनवेगे कर्तव्यम् | ३५३० | ८ |
| वमनयोगे मधुमेन्द्रवयो- रुपयोगिता | ३५३० | १० |
| मदनफलस्य कषाययोगाः | ३५३१ | १ |

| विषयाः | पृष्ठे | पङ्क्तौ |
|----------------------------|--------|---------|
| क्षीरादिषु तस्य पञ्च योगाः | ३५३२ | १ |
| घ्रेयादियोगाः | ३५३३ | १ |
| विंशतिर्लैहयोगाः | ३५३४ | ३ |
| मोदकोत्कारिकायोगाः | ३५३४ | ७ |
| शङ्कुलीपूपयोगाः | ३५३५ | ४ |
| अपरे चतुर्दश योगाः | ३५३६ | १ |
| षाड्वादियोगाः | ३५३६ | ३ |
| मदनफलस्य पर्यायाः | ३५३६ | ८ |
| अध्यायोपसंहारः | ३५३७ | १ |

द्वितीयोऽध्यायः ।

| | | |
|----------------------------|------|---|
| जीमूतकल्पाध्यायः | ३५३८ | २ |
| जीमूतकस्य पर्यायाः | ३५३८ | ५ |
| क्षीरादिषु जीमूतकस्य योगाः | ३५३८ | ८ |
| मदिरामण्डयोगाः | ३५३९ | ५ |
| कषायादिषु योगाः | ३५३९ | ७ |
| अष्टौ वर्त्तियोगाः | ३५४० | ७ |
| जीवकादिषु योगाः | ३५४० | ५ |

पङ्क्ति

२

१

३

पङ्क्ति

१

२

३

४

५

६

७

८

९

१०

११

१२

१३

१४

१५

१६

इत

ज

पु

ग्रह

गृह

ता

व्य

यत

पृ

ह

प्रो

ह

प

ए

ह

पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथातो ग्रहणीदोषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

आयुवर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा ।

ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥ २ ॥

शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः ।

रोगी स्याद् विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टानुक्रमादर्शोऽनन्तरं ग्रहणीदोषचिकित्सितमाह—अथात इत्यादि । पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—आयुरित्यादि । आयुरादय एकादश देहाग्निहेतुकाः । देहाग्नि-
जाठराग्निर्देतुषां ते । अग्नय इति धात्वग्नयः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—कुत एवं तत्राह—शान्ते इत्यादि । अग्नौ देहाग्नौ शान्ते नष्टे
पुरुषो म्रियते । युक्ते समरूपे स्थिते अनामयः सन् पुमांश्चिरं जीवति,

चक्रपाणिः—अर्शःकार्यत्वाद् ग्रहणीदोषस्य अर्शश्चिकित्सितमनु ग्रहणीचिकित्सितं ब्रूते ।
ग्रहणीम् आश्रितो दोषो ग्रहणीदोषः । एवञ्चाश्रयाश्रयिणोरभेदग्रहणाद् ग्रहण्याश्रितोऽग्निदोषोऽपि
गृह्यते । तत्र ग्रहणीदोषनिर्दिष्टाग्निदोषे वक्तव्ये प्रकृतिज्ञानान्तरत्वाद् विकृतिज्ञानस्य प्रथमं
तावदविकृतस्याग्ने रूपमाह—आयुरित्यादि । आयुश्चेतनानुवृत्तिः, वर्णो गौरादिः, बलं शक्तिः
व्यायामशक्तिश्च । स्वास्थ्यशब्देनैव वर्णादिग्रहणं यद्यपि लभ्यते तथापि “स्वस्थस्यौजस्करं
यत् तु तद् रसायनमुच्यते” तेन वर्णादीनामविकारत्वम् अवश्यं सुस्थे भवतीति वर्णादीनां
पृथगुपादानं कृतम् । उत्साहो दुष्करेण्यपि कार्येषु अध्यवसायः । उपचयो देहपुष्टिः । ओजो
हृदयस्थं सर्वधातुसाररूपम् । तेजो देहोष्मा शुक्रं वा । यदुक्तं शालाक्ये “दृष्टिस्तेजोमयी
प्रोक्ता शुक्रं तेजश्च केवलम् । तस्माद् दृष्टिबलापेक्षी तेजोवृद्धिं समाचरेत्” इति । अग्नय
इति मूलान्नयः पञ्च, धात्वन्नयः सप्त इति द्वादशान्नयः । प्राणा इति प्राणापानोपलक्षिताः
पञ्चापि वायवः । किंवा प्राणाः इति शब्देन नित्यं बहुवचनान्तेनोच्यते यथाप्सरःशब्देन
एकापि विद्याधरी कीर्तयते । देहाग्निहेतुका इति देहपोषकप्रधानजाठराग्निकारकाः । शान्ते
इत्युत्पन्ने । युक्त इति समे । विकृत इति मन्दे विषमे तीक्ष्णे वा । मूलमग्निः तस्मादिति

यदन्नं देहधात्वोजो-बलवर्णादिपोषकम् ।

तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद् रसादयः ॥ ४ ॥

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति ।

तद्वैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥

विकृते तु देहाग्नौ विषमे तीक्ष्णे मन्दे च रोगी स्यात् तस्मादग्निर्मूलमायुरादीनां कारणं निरुच्यते ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—यदन्नमित्यादि । यदन्नमभ्यवहृतं देहधात्वादपोषकं तदन्नपाके हेतुर्जाठराग्निः । कस्मात् ? आहारात् पक्वाद् रसादयो जायन्ते न ह्यपक्वात् आहाराद् रसादयो धातवः स्युरिति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—कथमभ्यवहृतश्चान्नमग्निना पच्यत इत्यत आह—अन्नमित्यादि । प्राणो नाम हृदयस्थः शरीरो वायुरादानकर्मा पानाहारादिकमादत्ते । स तु अभ्यवह्रियमाणमन्नं कोष्ठमुदरं प्रकर्षति । द्विकर्मकः कृषिः, प्र आरम्भे । अभ्यवह्रियमाणमन्नं कोष्ठं कष्टमारभ्यमाणमपानोऽधस्तादपकर्षति । तेन द्वितीयारण्यकोक्तं न विरुध्यते । तत्र ह्युक्तम् । तदपानेनाजिघृक्षत तदा यत् । स एषोऽन्नस्य ग्रहो यद् वायुरन्नायुर्वा एष यद् वायुरिति । तत् काले भुक्तं कोष्ठगतमन्नं द्रवः क्लेदकश्लेष्मद्रवैर्भिन्नसंघातं द्रवीभूतं स्नेहेन तत्

तस्मात् प्राशस्त्यात् अन्वयव्यतिरेकविधानात् आयुर्वर्णादीनाम् अग्निर्मूलं प्रधानं कारणमित्यर्थः । निरुच्यते इति निश्चयेनोच्यते ॥ १—३ ॥

चक्रपाणिः—सामान्यकारणमुक्त्वा अग्नेः साक्षात्कार्यकारणत्वं व्युत्पादयन्नाह—यदन्नमित्यादि । बाह्या अपि गैरिकादयो धातुशब्देनोच्यन्ते इति तद्व्यवच्छेदार्थं धातोर्देहविशेषणम् । अथ अहोरात्रजन्येषु देहधात्वादेषु कथमग्नेः कारणत्वमित्याह—आहारादिति । एतेनाहारमप्यपेक्ष्यैव रसादीन् जनयति । आदिग्रहणेन रक्तादीनि संगृह्यन्ते ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—संप्रति संप्राप्तस्यान्नस्य अग्निना यथा पाको भवति यथा च पच्यमानम् अन्नं देहधात्वादिना रूपतामापद्यते तदाह—अन्नमित्यादि । मुखप्रवेशादन्नस्य व्याहार इहोच्यते । आदानम् आहारप्रणयनं कर्म यस्य स तथा । कर्षतीति नयति । द्रवैरिति पानीयादिभिः । भिन्न-

समानेनावधूतोऽग्निरुदीर्यः पवनेन तु * ।

काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥ ५ ॥

एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः ।

पचत्यग्निर्यथा स्थात्यामोदनायाम्बुतण्डुलम् ॥ ६ ॥

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।

मधुराख्यात् † कफो भावात् फेनभाव उदीर्यते ॥

क्लेदकश्लेष्मस्नेहांशेन मृदुतां गतं समानेन पवनेन नाभेवामपाश्वस्थो जाठरोऽग्निः समीपस्थेनावधूतोऽवकम्पितः सन्नुदीर्णो भूत्वा समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये न तु विषमं पचति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—पाकप्रकारमाह—एवमित्यादि । एवमनेन प्रकारेणामाशयस्थ-
मन्नं तदधःस्थितो जाठरोऽग्निर्यथा स्थात्यामम्बुतण्डुलमधःस्थितोऽग्निरुदनाय
पचति तथा रसमलाय पचति ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—कथं रसाय मलाय वा पचतीत्यत आह—अन्नस्येत्यादि ।
षड्रसस्यान्नस्य भुक्तमात्रस्य प्रपाकतः पाकारम्भात् मधुराख्यात् भावात्
सङ्घातमित्यवयवशैथिल्यमापन्नम् । काले इति बुभुक्षाकाले । भुक्तं सममिति मालाप्रकृत्यादिसमम् ।
समानेनावधूत इति अग्निपाश्वस्थितेन समानेन संधुक्षितः । अथ च समानप्रकृतिवत्
वाह्यो वायुरिव अग्नेः संधुक्षणां भवति न वैषम्यकरः, विकृतस्तु वैषम्यं करोति । तेन वातेन
विषमोऽग्निः भवतीति च उपपन्नं भवति । एते च द्रवादयः पाचकस्याग्नेः सहाया भवन्ति
इत्यनेन ग्रन्थेनोच्यते । आहारपरिणामकरा इमे भावा भवन्ति । तद् यथा—उष्मा वायुः
क्लेदः स्नेहः कालः समयोगश्चेति । उद्दर्यः पाचक इत्यर्थः । पवनोद्ब्रह्म इत्यग्निविशेषणं
केचित् पठन्ति । सम्यगिति भुक्तविशेषणं केचित् पठन्ति, तदा सम्यगित्यनेन मालासाम्यमुच्यते ।
सम्यग्रहणेन तु प्रकृत्यादिसम्पद्यते । आयुर्विवृद्धये इति शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगानुवर्त्तमाना
रसादयः । तादर्थ्यं चतुर्थी ॥ ५ ॥

चक्रपारिः—आशयस्थमित्यामाशयस्थम् । अधः स्थित इत्यनेन अग्नेरुद्ब्रह्मज्वलनस्वभावतया
ऊर्ध्वस्थान्नपाके सामर्थ्यं सूचयति । अत्रार्थं यथेत्यादिना दृष्टान्तमाह । एवं स्थूलपाकक्रमं
विधाय अवान्तरमनुपाकक्रममाह—अन्नस्येत्यादि । भुक्तमालस्य भुक्तानन्तरमेव । षड्रसस्येति
प्राशस्त्यत्वेनाभिधानं किंवा षड्रसस्यापि प्रथमं मधुरता निरुक्ता भवतीति दर्शयति ।
प्रपाकत इति प्रथमपाकतः । प्रशब्दो रसादिकर्मणि । मधुरश्चासौ आद्यश्चेति मधुराद्यः ।
किंवा मधुरात् प्राक् कफोद्भावः इति पाठः । फेनभूत इति फेनसदृशो घन इत्यर्थः ।

* उद्दर्यः पवनोद्ब्रह्म इति चक्रसम्मतः पाठः ।

† मधुराद्यात् इति चक्र ।

परन्तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः ।

आशयाच्चावमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥

पकाशयन्तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना ।

परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः ॥ ७ ॥

यः फेनभाव उदीर्यते स कफो नाम मलः । परं तदुत्तरकालं पच्यमानस्य तस्य षड्रसस्यान्नस्य विदग्धस्यार्द्धपरिपक्वस्याम्लभावो भवति । आशयादामशयात् च्यवमानस्य तस्याम्लीभूतस्यान्नस्य यत् स्वच्छं निर्मलरूपमुदीर्यते तत् पित्तं नाम मलम् । पकाशयं प्राप्तस्य वह्निना शोष्यमाणस्य परिपिण्डितपक्वस्य तस्य षड्रसस्यान्नस्य कटुभावो भवति तस्मात् कटुभावाद् वायुर्नाम मलः स्यात् ॥ ७ ॥

आद्यमधुरपाकानन्तरं विदग्धस्येति पकापक्वस्य । अम्लभावतः इति जाताम्लस्वरूपतः । आशयादामशयात् च्यवमानस्य अत्रोभागं वायुना नीयमानस्य, अनेन च पित्तस्थानसम्बन्धं विदग्धाहारस्य दर्शयति । अच्छमित्यवधनम् । उदीर्यते इति पित्तमुदीर्यते । अम्लञ्च पित्तम् अम्लभावादाहारस्य उत्पद्यत इति युक्तमेव । पकाशयन्तु प्राप्तस्येति च मलरूपतया पकाशयं गतस्य, शोष्यमाणस्य च वह्निनेति यद्यपि ऊर्ध्वदाहक्षमो वह्निः, तथाप्यधोगतस्यापि वह्निना शोष्यमाणत्वं पकाशयगतस्याप्युपपन्नम् । यतश्चाधोगमने सम्यक् वह्निव्यापारो नास्ति अतः पच्यमानस्येति पदं परित्यज्य शोष्यमाणस्येति कृतम् । परिपिण्डितपक्वस्येति परिपिण्डितरूपतया मलरूपतया पक्वस्य । वायुः स्यात् कटुभावत इति परिपिण्डितावस्थोद्भूतकटुता वायोरुत्पद्यते । एवमीदृशः षड्रसाहारस्यावस्थापाको भवति । उक्तं मधुरादीनां कफादिकर्तृत्वम् । कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः इत्यादिना च यः पाक उच्यते, सोऽवस्थापाकेन च बाधितत्वात् । मैवं, न ह्यवस्थापाकः स्वभावं बाधते, किन्त्ववस्थायां स्वकार्यं करोति । तेन रसादयोऽपि स्वकार्यं कुर्वन्ति । अवस्थापाकोऽपि स्वकीयं कार्यं करोति । यथा मधुर-तिक्तादिषड्रसेऽन्ने उपयुक्ते मधुरोऽपि स्वकार्यं करोति, तिक्तादयः स्वकार्यं कुर्वन्ति, अयन्तु विशेषः यदावस्थापाकस्य मधुरादयः श्लेष्मजनका रसा अन्नगुणा भवन्ति, तदा श्लेष्माणं जनयन्ति । यदा तु अवस्थापाकः विपरीतकटुकादिपरिगृहीतो भवति, तदा स्तोकमात्रं कफं जनयति । एवं पित्तजनक अवस्थापाकेऽपि वाच्यम् । त्रिधा विपाकस्तु रसमलविवेकसमकाले एवावस्थापाकैः समं भवति । कालोऽपि अवस्थापाककार्यदोषानुगुणतया अवस्थापाकाहितदोषाणां वर्द्धनं क्षयणञ्च करोतीति तस्याभिधानं शास्त्रे प्रयोजनवदेव । यद्यपि वा सर्वमन्नम् अवस्थायां विदह्यते तथापि तेऽत्यर्थं विदाहितत्वात् विदाहिन इत्युच्यन्ते विशेषविदाहकर्तृत्वात् । न्येअ त्वाहुः न षड्रसादपि अनुसामान्येनावस्थापाके कफादुत्पत्तिः, किन्तु षड्रसादन्नात्

अन्नमिष्टं ह्यपकृत-❖-मिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक् ।

देहे प्रीणाति गन्धादीन् प्राणादीनिन्द्रियाणि च † ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—एवंप्रकारेण मलाय पाके जायमाने पाञ्चभौतिकशारीरगुणानां यथा पुष्टयो भवन्ति तदाह—अन्नमित्यादि । इष्टैर्गन्धादिभिः गुणयुक्तमन्नमिष्ट-मुपकृतं भक्तं देहे पृथक् गन्धादीन् प्रीणयति, प्राणादीन् प्राणापानादीन् इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पृथक् प्रीणयतीति ॥ ८ ॥

प्रथमे पाके मधुरोऽयमनुपगतो रसः स कफं जनयति तथा द्वितीये अम्लरसः पित्तदोषं विदाहावस्थायाम्, उद्भूतादम्लरसात् पित्तमुत्पद्यते । एवं वायुरपि आहारकटुतावस्थायां भवतीति । अन्ये त्वादुः यत् नास्तीत्यग्निसंयोगात् मधुराद्यावस्थिकं भवति किन्तु कफादिस्थानेषु मनुष्याणां स्वभावादेव मधुरादयो रसास्तिष्ठन्ति । उक्तं हि तन्त्रान्तरे—मधुरो हृदयाद्बद्धः रसः कोष्ठे व्यवस्थितः । ततः संवर्द्धते श्लेष्मा शरीरबलवर्द्धनः । नाभीहृदयमध्ये च रसस्त्वम्लो व्यवस्थितः । स्वभावेन मनुष्याणां ततः पित्तं प्रवर्तते । अधो नाभ्यास्तु नन्वेकः कटुकोऽवस्थितो रसः । प्रायः श्रेष्ठतमस्तत्र प्राणिनां वर्द्धतेऽनिलः । तस्माद् विपाकस्त्रिविधो रसानां नात्र संशयः । इति । इह तु तत्त्वत्यादिग्रन्थार्थालोचनया यथार्थ एव ग्रन्थार्थो न्यायेयः । तन्त्रान्तरे तु श्लेष्मपित्त-गतमधुराम्लरसौ वर्णयन्ति, ते च कफाधिगता रसाः अस्माकमपि पाकसहकारितया अनुमता एव । यत् तु श्लेष्मजनकांशस्यैवावस्थापाके श्लेष्मकर्तृत्वमित्युक्तं तदनुमतमेव । एवं श्लेष्मजनकोऽंशः आहारगतो यः स स्थानमहिम्ना तदाहारस्य मधुरतामापद्य श्लेष्माणं जनयतीति विशेषेण ब्रूमः । यत् तु अनेनावस्थापाकेन कफपित्तयोः ईरणमात्रं करोति न तु वृद्धिम्, वृद्धिः कफस्यानु-पाके भवतीति वदन्ति, तदुपपत्तिश्चान्यं भाति, किन्तु अवस्थापाकाच्च कफपित्तवृद्धिः तथा रसरक्त-पाकाच्च मलरूपतया उत्पादयति इति युक्तं पश्यामः ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—कर्मन्तरेणापि अन्नस्य पाकः संपद्यते तमाह—अन्नमिति । अन्नम् इष्टम् उपहितमिति, हिशब्दोऽवधारणे, इष्टशब्देनेह प्रियं हितञ्चोच्यते न प्रियमात्रम्, अहितस्य प्रिय-मात्रस्य न देहव्यवस्थितिः गन्धादितर्पकत्वं भवति । उपहितमित्युपयुक्तम् । इष्टैरिति प्रियहितैः गन्धरसरूपस्पर्शशब्दैः । अत्र यद्यपि हितत्वमेव गन्धादीनाम् आहारगतानां देहगतगन्धादि-पोषणे प्रधानं तथापि प्रियत्वमपि आहारगतगन्धादीनां तदात्त्वोपकारकतया ग्रहीतुं प्रियत्वहित-त्वयोः द्वयोरपि उपादानं कर्तव्यम् । देहे प्रीणाति गन्धादीनि हि देहश्रितान् गन्धादीन् पोषयेत् इति । तथा प्राणादीनि च प्राणरूपरसस्पर्शनश्रोत्राणि इष्टैर्गन्धादिभिः प्रीणाति तर्पयति पोषयतीति यावत् । इन्द्रियाण्यपि हि पाञ्चभौतिकान्यस्सद्दर्शने तानि च प्रतिक्षणं क्षीयमाणानि ॥ ८ ॥

* अन्नमिष्टं ह्युपहितम् इति चक्रसम्मतः पाठः । † प्राणादीनीन्द्रियाणि च इति चक्रवृत्तः पाठः ।

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः ।

पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि ॥

यथास्वैरेव पुष्यन्ते देहे द्रव्यगुणाः पृथक् * ।

पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—अस्तु, भुक्तान्नं कथं गन्धेन देहे गन्धं प्रीणाति रसेन रस-
रूपेण रूपं स्पर्शेन स्पर्शं शब्देन शब्दं गुरुत्वेन गुरुत्वमित्येवमादि ; कथं वा
प्राणादीनिन्द्रियाणि च प्रीणाति न ह्यस्त्यन्नस्य प्राणा इन्द्रियञ्चेत्यत आह—
भौमेत्यादि । भूबहुलपाञ्चभौतिकेऽन्ने भौम उष्मा, अब्बहुलपाञ्चभौतिकेऽन्ने
आप्य उष्मा, तेजोबहुलपाञ्चभौतिकेऽन्ने आग्नेय उष्मा, वायुबहुलपाञ्च-
भौतिकेऽन्ने वायव्य उष्मा, नभोबहुलपाञ्चभौतिकेऽन्ने नाभस उष्मेति
पञ्चोष्माणः पार्थिवादीन् स्वान् स्वान् पञ्चाहारगुणान् गन्धादीन् पृथिव्यादि-
पञ्चानां गुणान् हि यस्मात् पचन्ति तस्माद् यथास्वैरेव स्वेन स्वेन गुणेन
देहे द्रव्यगुणाः पृथक् पुष्यन्ते । केन के गुणाः इत्यत आह—पार्थिवा
इत्यादि । पार्थिवा आहारगुणाः गुरुस्वरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धा
देहे पाथिवगुणान् गुरुस्वरादीन् पोषयन्ति । गुरुत्वं गुरुत्वं देहस्य पुष्णाति,
स्वरत्वं स्वरत्वं कठिन्यं कठिन्यं मान्द्यं मान्द्यं स्थैर्यं स्थैर्यं वैशद्यं
वैशद्यं सान्द्रत्वं सान्द्रत्वं स्थौल्यं स्थौल्यं गन्धो गन्धमिति । एवं शेषा
आप्यादयोऽन्नगुणा देहे आप्यादिगुणान् पोषयन्ति कृत्स्नश इति । तथाऽन्ने

चक्रपाणिः—भौतिकवह्न्युपापारमाह—भौमेत्यादि । भौमादयः पञ्चोष्माणः पार्थिवादिद्रव्य-
व्यवस्थिताः जाठराग्निः सन्धुक्षितबलाः अन्तरीयं द्रव्यं पचन्तः स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पूर्वपार्थिव-
गन्धत्वादिविलक्षणान् गुणान् निर्व्वर्णयन्ति । एतदेवाशितलीढपीतखादितं जन्तोर्हितम् अन्तरग्नि-
सन्धुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानमिति । यद्यपि च भूताग्निना पार्थिवादिद्रव्यं
पच्यते तथापि पार्थिवादिद्रव्याणां पाकेनैतदेव जननं यद्विशिष्टगुणयुक्तत्वं तेन पाकेन जन्यमाने-
ऽपि द्रव्ये गुणा एव जन्यन्ते इत्यभिप्रायेण पार्थिवादीनाहारगुणान् जनयन्ति । अनेन
गुणजननमेवाग्निनोच्यते न द्रव्यजननं, किंवा आहाराश्च गुणाश्चेति विग्रहादाहारशब्देन
आहाराधिकाररूपं द्रव्यमपि गृह्यते, पार्थिवादीनीति पार्थिवाप्यतैजसवायवीयनाभसानि । अत्र
जाठराग्निः सच्चमेवाहारसमलविपाकान् पचति । भौतिकास्त्वग्नयः स्वान् स्वान् गुणान् जनयन्ति ।

* यथारत्वं रचञ्च पुष्णन्त्याहारद्रव्यगुणाः पृथक् । इति चक्रः ।

खल्वाप्ये द्रवस्निग्धशीतमन्दसरसान्द्रमृदुपिच्छिलरसगुणा देहे तानेवाप्यान्
गुणान् पोषयन्ति । आग्नेये त्वन्नेऽप्याग्नेया गुणा उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मलघुरुक्ष-
विशदरूपगुणा देहे तानेवाग्नेयगुणान् पोषयन्ति । वायव्येऽन्ने वायव्यगुणा
लघुशीतरुक्षखरविशदसूक्ष्मस्पर्शगुणा दहे तानेव गुणान् पोषयन्ति । नाभसे
चान्ने नाभसा मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्णशब्दगुणा दहे तानेव गुणान् पोषयन्तीति
कृत्स्नश्च इति पदेनोक्तम् । अन्नं हि पार्थिवमशितं त्रिधा विधीयत पाकात् ।
तत्र स्थूलतरो धातुः पुरीषं भवति, मध्यमो मांसमणुतमो मन इति ।
आप्यमन्नं पीतं त्रिधा भवति पाकात् । तत्रापां यः स्थूलतरो धातुस्तन्मूत्रं
भवति, यो मध्यमस्तद् रक्तं, योऽणुतमः स प्राण इति । तेजसमन्नमशितं त्रेधा
विधीयते । तत्र तेजसो यः स्थूलतरो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः
स मज्जा, योऽणुतमः सा वागिति । अन्नमयं सौम्यमनः, आपोमयः
प्राणस्तेजोमयी वागिति । तत्र मनः एतत्स्थूलशरीरारम्भे गर्भाशयगतं
शुक्रात्तवमनुप्रविश्य सूक्ष्मशरीरात्मा पूर्वं स्वस्थितानि पञ्च महाभूतानि
विकुर्वन् पञ्च भूतानि यथा सृजति तैश्च दशेन्द्रियाणि सृजति, तथा सत्त्वादींश्च
त्रीन् गुणान् विकुर्वन् सत्त्वादीन् सृजति । तान् गुणान् सूक्ष्मशरीरस्थं
त्रिगुणात्मकं मनः प्रविश्यास्मिन् स्थूलशरीरे स्थूलं मनो भवति, तदव मनो
भौमाहारद्रव्यस्थसत्त्वादिगुणाः स्थूलरूपाः पक्वाः पोषयन्तीति न मनो भौतिकम् ।
मनश्चात्मजादिषु शरीरे स्वयमुक्तम् । तथा पूर्वमुक्तं विविधाशितपीतीये ।
“पुष्यन्ति लाहाररसाद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रिय-
द्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि” इति । तेन प्रसादांशादिन्द्रियाणि पुष्यन्ति ।
इति ॥ ९ ॥

उक्तञ्च जाठरेणाग्निना पूर्वं कृते संघातभेदे पश्चाद्भूतान्नयः पञ्च स्वं स्वं द्रव्यं पचन्ति ।
अथञ्च भूताग्निव्यापारो धातुष्वप्यस्ति । तेन धातुष्वपि पञ्च भूतानि सन्ति । तत्रापि धात्वग्नि-
व्यापारो भूतानिग्न्यापारश्च जाठराग्निक्रमेणैवोक्तो, ज्ञेयः । अग्निपक्वानाहारगुणानाह—यथास्व-
मिति । यथास्वं यदयस्यात्मीयम् । सजातीयं द्रव्यगुणा द्रव्यगुणान् पुष्पन्ति । तेन द्रव्याणि
पार्थिवादिद्रव्यरूपाणि देहधातुदोषमलाख्यानि पुष्पन्ति, गुणास्तु पाकस्थिसगन्धस्नेहौष्ण्य-
गौरवादयः देहगन्धस्नेहौष्ण्यगौरवादीनि पुष्पन्ति । यथास्वमित्यादिशब्दार्थं स्फोरयति—पार्थिवा
आहारद्रव्यगुणाः देहगतान् पार्थिवानेव द्रव्यगुणान् पुष्पन्ति । आहारद्रव्यगुणा इत्यत्र द्रव्यगत-
गुणा एव उच्यन्ते । द्रव्यपोषणन्तु गुणपोषणेन लभ्यते गुणपोषणं द्रव्यपोषणमन्तरा कर्तु-
मशक्यत्वात् ॥ ९ ॥

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः ।

यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादतः ॥ १० ॥

रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ।

अस्थनो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अनेन प्रकारेणाभ्यवहतादन्नात् पक्तात् भौमादयो गुणा देहे भौमादिगुणपोषका भवन्तु, देहस्तु कुतः पुष्यतीत्यत आह—सप्तभिरित्यादि । देहधातारो देहधारका रसादयो धातवो यथास्वं स्वैः स्वैः सप्तभिरग्निभिः किट्ट-प्रसादतो द्विविधपाकं यान्ति ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—तत्र प्रसादपाकमाह—रसादित्यादि । आहाराज्जाठराग्निना पक्तात् प्रसादांशभूतो यो धातुर्जायते स त्वाद्यो रसनामा धातुस्तस्माद् रसात् स्वगताग्निना पक्तात् प्रसादांशभूतं रक्तं जायते, ततो रक्तात् स्वगताग्निना पक्तात् प्रसादांशभूतं मांसं जायते, मांसात् स्वगताग्निना पक्तात् प्रसादांशभूतं मेदो जायते, ततो मेदसः स्वगताग्निना पक्तात् प्रसादांशभूतमस्थि जायते, अस्थोऽपि स्वगताग्निना पक्तात् प्रसादांशभूतो मज्जा जायते, ततो मज्जः स्वगताग्निना पक्तात् प्रसादांशभूतं शुक्रं जायते, शुक्रमपि स्वगताग्निना पक्तात्

चक्रपाणिः—भूताग्निव्यापारं दर्शयित्वा धात्वग्निव्यापारं दर्शयन्नाह—सप्तभिरित्यादि । देह-धातार इति विशेषेण देहधारकाः । द्विविधमिति द्विप्रकारं पाकं, तदेव प्रकारद्वयमाह । किट्ट-प्रसादवदिति किट्टप्रसादरूप इत्यर्थः । शुक्रस्य तु किट्टवान् पाको न भवति, तथापि बहूनां किट्टवत्त्वात् द्विविधमिति निर्देशश्छत्तिणो गच्छन्तीति न्यायाज्ज्ञेयः । पुनरिति जाठराग्निपाकानन्तरं पाकजन्यानाम् रसादीनाम् उत्पादः ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—क्रमेणाह—रसादित्यादि । रसाद्रक्तं प्रसादनं, ततो रक्तान्मांसं प्रसादनं, मांसान्मेदः प्रसादनमित्यादि, यावच्छुक्रात् । प्रसादशब्देन रसादिभ्यः प्रसादांशजन्या रक्तादयः किट्टांशजन्यास्तु वक्ष्यमाणाः कफादय इति । शुक्रात् तु निर्मलतया प्रसादज एव गर्भो भवति न तु मलः जन्यते । केचित् तु शुक्रमलतया इमश्रूणि वदन्ति, तन्न, तन्त्रेऽनभिधानात् । यदि शुक्रमलः इमश्रूणि तदा स्त्रीणामपि शुक्रतया इमश्रूणि स्युः । रक्तादयो हि गर्भप्रभृत्येव पोष्यन्ते । तत्र च लिङ्गा तूपादं वर्णयन्ति । यद्रसः स्वाग्निपच्यमानः रक्ततां याति रक्तं मांसतामित्याह—रसादिति । पूर्वपूर्वधातुपरिणामात् उत्तरोत्तरधातूत्पादः । यथा क्षीराद् दधि भवति दध्नो नवनीतं नवनीताद् घृतं घृतात् घृतमण्डः इत्येकः पक्षः । किंवा

रसात् स्तन्यं स्त्रिया रक्तमसृजः कण्डराः सिराः ।

मांसाद् वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः ॥ १२ ॥

यत् प्रसादांशभूतं दहे वर्त्तते तदेवाधिष्ठितदिष्टं बीजरूपम् । स्त्रिया संसर्गे
च्युतात् तस्माच्छुक्राद् गर्भः स्यादिति प्रसादज उच्यते ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—एवं पुरुषवत् स्त्रिया अपि चाहाराद् रसादयः सप्त धातवः स्युः ।
तत्र विशेषमाह—रसात् स्तन्यं स्त्रिया रक्तमिति । स्त्रिया गर्भिण्या आहारजो
रसस्त्रिधा भिद्यते, तस्यैकांशेन गर्भिण्याः गर्भपुष्टिरपरांशेन स्तन्यं प्रसादजं
जायते । तत्-तृतीयांशो रक्तं द्वितीयांशो भवतीति पूर्वमुक्तं ; या त्वगर्भा तस्याश्च
रसाद् रक्तमिति । तदेव क्रमेण मांसादयो भूत्वा शुक्रभावं गतं तच्छुक्रं
स्वगताग्निना पक्वं प्रायेण भवत्यार्त्तवं रक्तं, स्वल्पन्तु शुक्रं वर्त्तते । इत्येव-
मार्त्तवरक्ते मासेन जाते पूर्वमासजातमार्त्तवं प्रवर्त्तते वहिस्तदा स्त्रियमृतुमती-
माहुरिति स्त्रिया विशेषः । पुंसः शुक्रात् पुत्रदुहित्रोः सिरास्नायवस्थिधमन्यः

रस एव रक्तं प्रथमं प्लावयति तत्र च रक्तस्थानसम्बन्धात् रक्तसादृश्यमनुभवति रक्तञ्च
रक्तसमानेनांशेन पोषयति । ततो मांसमाप्लाव्य मांसपोषणं करोति, मांससादृश्यमनुवदति ।
एवम् उत्तरोत्तरधातून् रस एवाप्लावयति वर्द्धयति च । यथा केदारनिषिक्तं कुल्याजलं
प्रत्यासन्नकेदारं तर्पयित्वा क्रमेण केदारिकेतराणि पयसा प्लावयति, किंवा आहाररसः
उत्पन्नः अभिन्नैरेव मार्गैः रसरुधिरादीनि समानेनांशेन तर्पयति । तत्र च यः प्रत्यासन्नो धातुः
तं शीघ्रं पुष्णाति । यस्तु विरुद्धो धातुः तस्य भिन्नमार्गतया चिरेण पोषणं भवति । क्षिप्र-
विरादिभेदेन शीघ्रचिरेण च गमनं भवति तद्वदिति ; क्षीरदधिन्यायात् केदारकुल्यान्यायात्
खलेकपोतन्यायात् त्रेधा धातुपोषणक्रमः । तत्रेह शब्दार्थपर्यालोचनया केदारकुल्यान्यायः
क्षीरदधिन्यायो वा सङ्गतः । खलेकपोतन्यायस्तु दुर्घटः । रसाद्रक्तं प्रसादजमित्यर्थे उत्पादनं
इःशकम् । प्रपञ्चितञ्चेत्तत् विविधाशितपीतीये तत्रैषोऽनुसरणीयः प्रपञ्चः । ननु विविधाशित-
पीतीये आहाररसाद् रसादिपुष्टिरुक्ता पोष्यत्वादाहाररसात् रुधिरपोषको रसो भिन्न इत्यनेन तत्र
रसद्वयं स्वीकृतम् । इह तु एकरक्तपोषको रस इति कथं न विरोधः ? मैवं, तत्रापि आहार-
रसशब्देन आहारजः प्रसादोऽभिधीयते, स च रसग्रहणेन गृहीत एव । यतो द्विविधो रसः
स्थायी पोषकश्चेति, तेन तत्र धातुरसपोषकरसांशयोः भेदविवक्षया भेद उक्तः । इह स्थायी पोषक-
रससारस्यैकतया निर्दिष्टयोः स्थायिरसपोषकरसभावयोः स्थानाग्निभावाद्यभावात् एकत्वम् एवं
कृत्वा सप्तधातुकं शरीरमुच्यते । एतदपि विविधाशितपीतीये प्रपञ्चितम् ॥ ११ ॥

चक्रपाणिः—धातूनां पोषणमभिधाय उपधातुपोषणमाह—रसात् स्तन्यमित्यादि । रसात्
स्तन्यं प्रसादजं, ततस्तन्याद् रक्तं स्त्रीणाञ्जातवमिति । असृजः कण्डरादिस्थूलस्नायवः मेदसस्तु
सूक्ष्मस्नायुपोषणम् मेदसः स्नायुसम्भव इत्यनेन वक्तव्यम् । इह हि कण्डराशब्देन स्थूल-

किट्टमन्त्रस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः ।

पित्तं मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥

स्यात् किट्टं केशलोमास्थनो मज्जः स्नेहोऽक्षिविट् त्वचाम् ।

प्रसादकिट्टौ धातूनां पाकादेवाविगर्हतः ॥

उक्तास्तस्मादसृजः स्त्रीपुंसयोरेव द्वितीयाद्धातुतो रक्ताद् यथा मांसं तथा प्रसादजाः कण्डराः सिराश्च । मांसाद्रसा षट् त्वचश्च । यथा मांसान्मेदः प्रसादजं तथा मांसात् प्रसादजा वसा षट् त्वचश्च सप्त चैके । मेदसश्च यथा प्रसादजमस्थि तथा स्नायुसम्भवः प्रसादज इति । अस्थ्यादीनां प्रसादजमन्यन्नास्ति ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—किट्टमित्यादि । अन्नस्य भुक्तस्य पक्वस्य किट्टं विण्मूत्रं, भौमान्नस्य भूमेः किट्टं विट्, आप्यान्नस्यापां किट्टं मूत्रं, सर्वान्नस्य प्रसादजो रस उक्तः । रसस्य तु पक्वस्य किट्टं कफः, प्रसादजन्तु रक्तमुक्तपपां मध्यमांशभूतम् । सूक्ष्मांशः प्राणः । असृजः पक्वस्य किट्टं पित्तं, प्रसादजं मांसम् । पाञ्चभौतिकान्नस्य भूमेर्मध्यमांशरूपं सूक्ष्मांशपुष्टं मनः । मांसस्य पक्वस्य किट्टं खमला इति यावन्ति शरीरे श्रोत्रादीनां छिद्राणि तावतां छिद्राणां मलाः । मेदसस्तु मलः स्वेदः । तेजसः पक्वस्य स्थलांशस्य अस्थिः पक्वस्य किट्टं केशलोम, प्रसादजो मज्जा तेजसो मध्यमांशभूतः सूक्ष्मांशभूता वाक् । मज्जः किट्टं स्नेहः शरीरगतः । त्वचां पकानां किट्टमक्षिविट् । इत्येवं धातूनां प्रसादकिट्टौ भुक्तान्नात्

स्नायु सूच्यते, सुश्रुते तु स्थूलशिरा धात्वन्तरापोषणात् शरीरपोषका अपि उपधातुशब्देनोच्यन्ते । रसादयस्तु शरीरधारकतया धात्वन्तरपोषकतया च धातुशब्देनोच्यन्ते । उक्तञ्च भोजे—‘शिरा-स्नायुरजःससत्त्वचो गतिविवर्जिताः । धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात् त उपधातवः’ इति । अन्नापीह धातुभ्यश्चोपजायन्ते इत्यनेन जायन्त एव परं न जनयन्ति इत्युक्तम् । शुक्रन्तु ओजो जनकत्वात् । ओजस्तु उपधातुषु पठितं तस्य सप्तधातुरूपतया सप्तधात्वन्तरगतत्वादेव । अत एव तस्याग्निरपि पृथङ्नोक्तः ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—प्रसादभागोत्पादमभिधाय मलभागोत्पादमाह—किट्टमित्यादि । रसस्य कफ इति रसे पच्यमाने किट्टं कफो भवति प्रसादश्च रक्तम् । एवं रक्तादिष्वपि ज्ञेयम् । मांसस्य च खला इति कर्णाक्षिनासाख्यजननमलाः । मलः स्वेदस्तु मेदसः इति स्वेदो यद्यपि उदकविशेष एव उक्तस्तथापि तस्य मेदोमलत्वेनैवोत्पत्तिः, किंवा उदकादपि स्वेदो भवति, मेदोमलतया च भवति । यथा कफोऽवस्थापाकात् रसमलतया च भवति । अस्थिमलो नखोऽपि सुश्रुतप्रामाण्यादुन्नेयः । तस्माह—नखलोम चेत्त्यनेन अस्थिमलत्वं नखस्योक्तम् । उक्तञ्च विविधाशितपीतीये केशश्मश्रुलोम-नखादयः पुष्यन्ति किन्तु शरीरेऽस्तिग्गणनायां विंशतिरन्वा इत्यनेन अस्थिगणना प्रोक्ता । तेन

परस्परोपसंस्तम्भाद् धत्तो देहे परस्परम् ।

वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्पाति बलमाशु हि ॥

षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्त्तनम् ।

सन्तत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ॥ १३ ॥

एवाविगर्हतः पाकादेव भवतः । तौ प्रसादकिट्टौ धातू यतः परस्परोपसंस्तम्भाद् देहे परस्परं धत्त इति । एषां प्रसादजधातूनां परिवर्त्तनकालमाह—वृष्यादीनामित्यादि । वृष्यद्रव्याणामौजस्यद्रव्यादीनाञ्च प्रभावस्त्वचिन्त्यक्रियाशक्तिराशु बलमोजः शुक्रं पुष्पाति विरेचनद्रव्यवत् । यथा विरेचनद्रव्यमाशु पुरीषपित्तकफादीन् विरेचयति, तथा वृष्यादिद्रव्यमाशु रसो भूत्वा क्रमेण रक्तादीनि भूत्वा शुक्रं विरेचयति । केचित् तु वृष्यावृष्यसर्व्वद्रव्याणां शुक्तानां पाकात् षड्भिः षड्भिरहोरात्रैः पञ्च पञ्च दिनानि क्रमेण पच्यमानात् रसादेः षष्ठे षष्ठे दिने परिवर्त्तनमिच्छन्ति ; तेन मासेन शुक्रार्त्तवं स्यात् । कथं परिवर्त्तनाज्जीवति ? सन्तत्येत्यादि । सन्तत्या भोज्यानां धातूनाञ्च सन्तत्या चक्रवद् रसादीनां परिवृत्तिर्न तु पूर्व्वपूर्व्वधातूनां परपरधातुरूपेण परिवर्त्तने पूर्व्वपूर्व्वधातुक्षयान्मरणं स्यात् । भोज्यानां सातत्यात् यथा रसस्य रक्तरूपेण परिवर्त्तनं तथा शुक्तमन्नं पक्वं रसं पोषयति । इत्येवं परपररूपेण परिवर्त्तने पूर्व्व-

पूर्व्वधातुपुष्टिर्भवति ॥ १३ ॥

क्रमेण प्रसादकिट्टौ भवत इत्यर्थः । संप्रति रक्तेन रसस्य पोषणं न क्रियते तथा मांसेनापि रक्तस्य इत्यादि परस्परं धातूनाम् उत्पादकत्वमाह—परस्परेत्यादि । धातुस्नेहपरम्परा परस्परोपसंस्तम्भेति अन्योन्यमुपस्तेहेन संस्तम्भाच्च सन्तर्पितेति यावत् । वृष्यादिद्रव्याणां धातुपरम्पराक्रमेण शुक्रजननादिकार्य्यं निषेधयन्नाह—वृष्यादीनामित्यादि । वृष्यादीनां क्षीरादिद्रव्याणां प्रभावो बलं शीघ्रं पुष्पाति । ततस्ते क्षीरादयः प्रभाववर्द्धितबलाः शीघ्रमेवान्नकार्य्यं शुक्रजननादि कुर्व्वन्ति यथोक्तधातुक्रमेणेत्यर्थः । किंवा वृष्यादीनां प्रभावाच्छुक्रादुत्पत्तिः शीघ्रं भवति । क्रियता कालेन धातुपरिवृत्तिर्भवति इत्याह—षड्भिरहोरात्रैः रसस्य शुक्ररूपतया परिवर्त्तनं भवतीति केचिद्विच्छन्ति । तद्योपश्रो रसः रक्तमेकेनाहोरात्रेणेति, एवं रसोत्पत्तिदिनं परित्यज्य षड्हेन शुक्रता भवति । यदा तु रसोत्पत्तिदिनमपि प्रक्षिप्यते तदा षड्भिर्दिनैरतिक्रान्तैः सप्तमे शुक्रभावतया परिवर्त्तनं भवतीति ज्ञेयम् । उक्तं हि पराशरे—आहारोपभोगदिनात् श्वः रसत्वं वृतीयेऽहि रक्तत्वं चतुर्थेऽहि मांसता मेदस्त्वं पञ्चमे षष्ठे त्वस्थित्वं सप्तमे मज्जता अष्टमे शुक्रता नियमेन भवात्, किञ्च रसधातोः शुक्रधातुरूपतया परिणमनं यत् तदपि षष्ठदिनं निवर्त्तयेति । सुश्रुते—स खल्वप्यो रसः एकैस्मिन् धातौ क्षीणि क्षीणि कलासहस्राण्यवतिष्ठते पञ्चदश च

ॐ इत्युक्तवन्तमाचार्य्यं शिष्यस्त्वदमचोदयत् ।

रसाद् रक्तं प्रविशतः कथं देहेऽभिजायते ॥

रसस्य च न रागोऽस्ति स कथं याति रक्तताम् ।

द्रवाद् रक्तात् स्थिरं मांसं कथं तज्जायते नृणाम् ॥

द्रवधातोः स्थिरान्मांसान्मेदसः सम्भवः कथम् ।

श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां खरत्वं कथमस्थिषु ॥

खरेष्वस्थिषु मज्जा च केन स्निग्धो मृदुस्तथा ।

मज्ज्ञस्तु परिणामेन यदि शुक्रं प्रवर्त्तते ॥

गङ्गाधरः—कथमेवं स्यात् तत्र चाह—अत्र केचित् पठन्ति ; इत्युक्तवन्त-
माचार्य्यमित्यादि प्रश्नोत्तरे । आयुर्वर्णो बलमित्यादेः तदन्तर्मुक्तं वन्तमाचार्य्य-
मात्रेण शिष्योऽग्निवेश इदमचोदयत् । किमित्यत आह—रसादित्यादि । देहे रक्तं
प्रविशतो रसाद् रक्तं कथमभिजायते ; यतो रसस्य न रागोऽस्ति, स रसः
कथं रक्ततां यातीत्येकः प्रश्नः । रसजाद् रक्ताद् द्रवात् स्थिरं तन्मांसं कथं
नृणां जायत इति द्वितीयः । रसाज्जाताद् रक्ताज्जातान्मांसात् स्थिरात् कथं
द्रवस्य मेदसः सम्भवः । श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां जातेष्वस्थिषु कथं
खरत्वं जायते । अस्थिषु च खरेषु केन प्रकारेण स्निग्धो मृदुश्च मज्जा
कलाः । एवं मासेन रसः शुक्लीभवतीति ज्ञेयम् । एतत्पक्षद्वयमपि केचिदित्यादिना दर्शयति ।
खमत्तमाह—सन्तत्येत्यादि । भोज्ये उपयुक्ते सति धातूनां रसादीनां चक्रवत्परिवृत्तिर्भवति ।
अविश्रान्ता समुत्पत्तिर्धातूनां भवति । तत् दृष्टान्तेन तु परिवृत्तिकालानियमं दर्शयति । यथा
चक्रं पानीयोद्धरणार्थं नियुक्तैः बाह्यमानं बाहुबलप्रकर्षात् कदाचिदाश्वेव परिवर्त्तते कदाचित् वाहु-
बलाप्रकर्षात् चिरेण एवं धातवोऽपि अग्न्यादिसौष्टवात् शीघ्रमेव परिवर्त्तन्ते अग्न्यादिवैगुण्ये चिरेण
वर्त्तन्ते इति । एवं सुश्रुतेनापि “स शब्दाच्चिर्जलसन्तानवत् अणुना विशेषेणानुधावत्येव शरीरं
केवलम् ।” इति । अत्र कृष्णाक्षेयेण रसपरिणामोऽपि अग्न्यादिभेदेन प्रकृष्टाप्रकृष्टकालज उक्त एव ।
तत्र हि जलसन्तानदृष्टान्तेन चिरेण मासपर्यन्तेन शुक्रतोत्पत्तिः रसस्योक्ता । शब्दसन्तानदृष्टान्तेन
तु नातिशीघ्रं नातिचिराच्च शुक्रोत्पत्तिरुक्ता । अर्चिःसन्तानदृष्टान्तेन तु नातिशीघ्रं नातिचिराच्च
शुक्रोत्पत्तिर्भवति । तथान्यत्रापि उक्तं केचिदाहुरहोरात्रात् षड्रात्रादपरे परे । मासेन याति
शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति । तदेतत् सकलं चक्रदृष्टान्तेन गृहीतं ज्ञेयम् ॥ १३ ॥

* “इत्युक्तवन्तमित्यादि-स्थलान्निघ्नमिवोदकम्” इत्यन्तसार्वभौमश्लोकाणां चक्रपाणिनिकृता
टीका मृगितापि न मिलिता । अतः पाठोऽयं चक्रपाणिसम्मतो न वेति चिन्तनीयम् ।

सर्वदेहगतं शुक्रं प्रवदन्ति मनीषिणः ।

तथास्थिमध्यमज्जश्च शुक्रं भवति देहिनाम् ।

छिद्रं न दृश्यतेऽस्थनाश्च तन्निःसरति वा कथम् ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु शिष्येण गुरुः प्राहेदमुत्तरम् ।

तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते ।

पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ॥

वाय्वम्बुतेजसा रक्तमुष्मणा चाभिसंयुतम् ।

स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात् स्खोष्मणा पक्वमेव तत् ॥

स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्विक्तं मेदोऽभिजायते ।

पृथिव्यग्न्यनिलादीनां सङ्घातः स्खोष्मणा कृतः ॥

खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम् ।

करोति तत्र शौषिर्यमस्थनां मध्ये समीरणः ॥

जायते । मज्जः परिणामेन शुक्रं जायत । इति यदि, तदा मनीषिणः सर्वे शुक्रं सर्वदेहगतं यत् प्रवदन्ति तथा तत्रास्थिमध्ये मज्जा मज्जस्तु शुक्रं भवति । अस्थनाश्च छिद्रं न दृश्यते कथं तदस्थिमध्यगतमज्जजातं शुक्रमस्थनामच्छिद्राणां बहिः सर्वदेहे निःसरति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—इत्येतैः प्रश्नैः शिष्येणोक्तो गुरुरिदमुत्तरं प्राह—तेजो रसानामित्यादि । सर्वेषां मनुजानां रसानामाहारजघातूनां पाञ्चभौतिकानां यत् तेज उच्यते, तेन तेजसा रागेण स रसः पित्तोष्मणः पाकात् रक्तत्वमुपगच्छति । इति प्रथमप्रश्नोत्तरम् । ० । तच्च रक्तं वाय्वम्बुतेजसा चोष्मणा चाभिसंयुतं स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात् । इति द्वितीयस्य । ० । तच्च मांसं स्खोष्मणा पक्वं स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्विक्तं मेदोऽभिजायते । इति तृतीयस्य । ० । अस्य मेदसः पृथिव्यादीनां सङ्घातः स्खोष्मणा कृतः स्खोष्मणा पाकात् खरत्वं प्रकरोति, ततो नृणां कठिनमस्थि जायते । इति चतुर्थस्य । ० । तत्र स्खोष्मणा पच्यमानेऽस्थि

मेदसास्थीनि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः ।
 तस्मान्मज्जस्तु यः स्नेहः शुक्रं संजायते ततः ॥
 वाय्वाकाशादिभिर्भावैः शौषिर्यं जायतेऽस्थिषु ।
 तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात् कुम्भादिवोदकम् ॥
 स्रोतोभिः स्यन्दते देहात् समेतं शुक्रवाहिभिः ।
 हर्षणोदीरितं वेगात् सङ्कल्पाच्च मनोभवात् ॥
 विलीनं घृतवद् व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम् ।
 वस्तौ सम्भृत्य निर्याति स्थलान्निम्नमिवोदकम् ॥ १५ ॥
 व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्म्मणा ।
 युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥

समीरणोऽस्थनां मध्ये शौषिर्यं करोति । इति पञ्चमस्य । ० । मेदसेत्यादि ।
 तदस्थिस्नेहेन मेदसा तानीस्थीनि पूर्यन्ते तेनास्थिमध्ये स्नेहो मज्जा
 भवति, तस्मादस्थिमध्यस्थान्मज्जस्तु पक्वात् खोष्मणा यः स्नेहस्ततः स्नेहात्
 सोमगुणात्मकं शुक्रं संजायते । मज्जि पच्यमाने ततो जायमाने शुक्रे
 वाय्वाकाशादिभिर्भावैरस्थिषु सर्वावयवेषु सूक्ष्मशौषिर्यं यज्जायते, तेन
 शौषिर्येणास्थिमध्यस्थमज्जपाकाज्जातं तत् शुक्रं स्रवति, नूतनात् कुम्भाद्
 यथोदकं स्रवति । इति षष्ठस्य । स्रोतोभिरित्यादि । शुक्रवाहिभिः
 स्रोतोभिस्तच्च शुक्रं देहात् स्यन्दते । कामिनीसन्दर्शनस्पर्शनादिना हर्षणोदीरितं
 वेगात् सङ्कल्पान्मानसक्रियातः मनोभवात् वन्दर्पाविर्भावाच्च देहात् समेतं
 समागतं मैथुनादिव्यायामजेनोष्मणा घृतवद् विलीनं द्रवीभूतं स्थानाद्विच्युतं
 सत् वस्तौ सम्भृत्य वहिर्निर्याति यथोदकमुच्चस्थलान्निम्नं स्थलं निर्यातीति ।
 देहान्निसरणं प्रसङ्गादुक्तमिति ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—इति प्रश्नोत्तरानन्तरं यथा स्वास्थ्यं वर्त्तते तदाह—व्याने-
 नेत्यादि । हि यस्मात् विक्षेपोचितकर्म्मणा व्यानेन वायुनाऽजस्रं देहे सदा
 सर्वतः पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्द्धाधो युगपद् रसधातुर्विक्षिप्यते, तस्माच्चक्रवत्

चक्रपाणिः—अथ कोऽन्नरसं रक्तादिधातुपोषकं ग्रहयति येन तत्र तत्र रसः सर्पतीत्याह—
 व्यानेनेत्यादि । रसरूपो धातुः किंवा रसतीति रसो द्रवधातुरुच्यते । तेन रुधिरादीनामपि

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद् रसः सज्जति यत्र सः ।

तस्मिन् विकारान् कुरुते विवर्षमिव तोयदः ॥ १५ ॥

दोषाणामपि चैवं स्यात् तत्र देशे प्रकोपणम् ।

इति भौतिकधात्वन्न-पक्त्वाणां कर्म भाषितम् ॥ १६ ॥

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्त्वाणामधिपो मतः ।

तन्मूलास्तै हि तद्वृद्धि-क्षयवृद्धिक्षयात्मकाः ॥

परिवृत्तिः स्वास्थ्यश्चानुवर्तते । क्षिप्यमाण इत्यादि । एवं व्यानेन क्षिप्यमाणो रसः खवैगुण्याद् रसवहस्रोतोवैगुण्यात् यत्र सज्जति लघो भवति न चलति, तस्मिन् स रसो विकारान् कुरुते, खवैगुण्यात् तोयदो यथा विवर्षं कुरुते । एवं दोषाणामपि यत्र सज्जनं तत्रैव देशे प्रकोपः स्यादिति । उपसंहरति— इतीत्यादि । इत्येतद् भौतिकानां धातूनामन्नानाञ्च पक्तारो येऽग्रयस्तेषां कर्म भाषितमिति ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—अन्नस्येत्यादि । तत्र सर्वेषां पक्त्वाणामधिपोऽन्नस्य पक्ता जाठराग्निमतः । कस्मादधिप इत्यत आह—तन्मूला इत्यादि । हि यस्मात् ते धात्वग्रयस्तदन्नपक्तवह्निमूलाः, यस्माच्च तदन्नपक्तर्जाठराग्नेवृद्ध्या धात्वग्नीनां

द्रवाणां ग्रहणं भवति । विक्षेपोचितं प्राकृतं कर्म यस्य स विश्वपोचितकर्म, तेन व्यानेन युगपदित्येककालम् । सर्वतः इति सर्वस्मिन् देशे । विक्षिप्यते नीयते । अजस्रमिति अविश्रान्तम् । सदेति सर्वकालम् । नन्वेवं सर्वत्र रसविक्षेपे कथमेकदेशेन रसो विकाराश्रयो दृश्यते इत्याह— क्षिप्यमाण इत्यादि । खवैगुण्यादिति स्रोतोवैगुण्यात् । सज्जतीति तिष्ठति । विकारं कुरुत इति रसाश्रयो विकारं कुरुते, रसोऽपि विकारकरण आश्रयतया व्याप्रियते तेनेह तस्य कर्तृत्वं युक्तम् । खे वर्षमिव तोयद इति यथा चण्डेन वायुना नीयमानो मेघो यस्य सक्तो भवति तत्रैव वर्षं करोति तथा रसोऽपीत्यर्थः । यथा रसः एकदेशे विकारं करोति एवं दोषा अपि एकदेशविकारं कुर्वन्ति इत्याह । सुश्रुतेऽप्याह—“कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् । यस्य सङ्गः खवैगुण्याद् व्याप्तिस्तोपजायते” । उक्तमग्नीनां कर्म उपसंहरति—इति भौतिकेत्यादि । भौतिकाः पञ्च धात्वग्नयः सप्त अन्नपक्तैकः ॥ १४—१६ ॥

चक्रपाणिः—अन्नपक्तमूलत्वे हेतुगर्भविशेषणमाह—तद्वृद्धीत्यादि । तस्य जाठराग्नेः वृद्ध्या वृद्ध्यात्मकः क्षयेण च क्षयात्मकः, तस्मादन्वयव्यतिरेकार्थविधायित्वात् तन्मूलाद् इत्यर्थः । यतश्च

* ख वर्षमिव तोयदः इति तथा स्यादेकदेशप्रकोपणम् इति चक्रधृतः पाठः ।

तस्मात् तं विधिवद्भुक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितः ।

पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ॥ १७ ॥

यो हि भुङ्क्ते विधिं त्यक्त्वा ग्रहणीदोषजान् गदान् ।

स लौल्याल्लभतै शीघ्रं वक्ष्यन्तेऽतः परन्तु ये ॥ १८ ॥

अभोजनादजीर्णाति-भोजनाद् विषमाशनात् ।

असात्म्यगुरुशीताति-रुक्षसंदुष्टभोजनात् ॥

वृद्धिः क्षयेण क्षय इति, तस्मात् तमन्नपक्कारं हितविधिवद्भुक्तैरन्नपानेन्धनैः प्रयतः सन् पालयेत् । कस्मात् पालयेत् ? हि यस्मात् तस्यान्नपक्तुः स्थितौ आयुर्बलयोः स्थितिः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—कस्मात् तत्स्थितावायुर्बलस्थितिरित्यत आह—यो हीत्यादि । हि यस्मात् यो विधिं त्यक्त्वा लौल्याल्लोभात् भुङ्क्ते स ग्रहणीदोषजान् गदान् शीघ्रं लभते । के गदाः ? अतः परं ये गदा वक्ष्यन्ते । इति ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—तेषां ग्रहणीदोषजानां गदानां कारणमविधिभोजनान्याह—

अयमन्तरनिर्मूलं सर्व्वल तस्मात् तं पालयेदिति योज्यम् । विधिवद्भुक्तैरित्यत आहारविधियोगात् उपयुक्तैः । आयुर्बलस्थितिरित्यत अन्नपाचकाग्निस्थितौ आयुर्बलादीनां स्थितिरिक्षणीया ॥ १७ ॥

चक्रपाणिः—विपर्य्यये दोषमाह—यो हीत्यादि । ग्रहणीदोषजा एतेन वक्ष्यमाणलक्षणाः चत्वारो ग्रहणीविकारा विशेषेण ग्रहणीदोषशब्दवाच्या गृह्यन्ते । तथाग्निमान्द्याजीर्णादयश्च ग्रहण्याश्रिता रोगा गृह्यन्ते । अग्निमान्द्याजीर्णादयस्तु यद्यपि ग्रहण्याश्रितत्वे ग्रहणीरोगा एव तथापिह ग्रहणीरूपनाडीव्यापारवैपरीत्येन ये जायन्ते त एव मुख्यग्रहणीशब्दवाच्याश्चत्वारो रोगाः । यतोऽवस्तु पक्वमामं वा इत्यादिना ग्रहणीगदसामान्यविशिष्टलक्षणविशिष्टमेव ग्रहणीगदं ग्रहणी-प्राकृतन्यापारोपमर्द्देन जायमानं वक्ष्यति । वक्ष्यति च ग्रहण्या इष्टमदुष्टञ्च रूपम् “अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पाद्वतः” । “सा इष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति” । न चेयं पक्वान्नविमोक्षलक्षणा इष्टिः । अग्निदोषे आमाद्यजीर्णे शब्दे वा अनेन विशेषाभिधेयग्रहणी-शब्दत्वं ग्रहण्याश्रितदोषजन्यग्रहणीगदत्वमेवेहोच्यते । अग्निदोषाणां न विशेषाद् ग्रहणीगदत्वम् भतिसारे यद्यपि अपक्वान्नमुञ्चनमस्ति, तथापि तस्य भिन्नसंप्राप्तिकत्वात् तथा चिकित्साभेदात् ग्रहणीदोषान्यत्वमुक्तम् ॥ १८ ॥

चक्रपाणिः—एवं व्यवस्थिते सामान्येन ग्रहणीदोषजविकाराणां हेत्वादीन्याह—अभोजनात्

विरेकवमनस्नेह-विभ्रमाद् व्याधिकर्षणात् ।
 देशकालर्तुवैषम्याद् वेगानाश्च विधारणात् ॥
 दुष्यत्यग्निः स दुष्टोऽन्नं न तत् पचति लघ्वपि ।
 अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषताश्च तत् ॥ १६ ॥
 तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भः सदन्नं तथा ।
 शिरोरुक् चैव मूर्च्छा च भ्रमः पृष्ठकटीग्रहः ॥
 जृम्भाङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दिः प्रवाहणम् ।
 अरोचकाविकौ च घोरमन्नं विषश्च तत् ॥
 पित्तेन सह संसृष्टं दाहतृष्णामुखामयान् ।
 जनयत्यम्लपित्तञ्च पित्तजांश्चापरान् गदान् ॥

अभोजनादित्यादि । अभोजनादिकमविधिभोजनं विरेकादिकश्चाग्निदुष्टिकारणं,
 विरेकादिविभ्रमोऽसम्यग्योगः । एभ्यो हेतुभ्योऽग्निदुष्यति, दुष्टः सोऽग्निस्तदन्नं
 लघ्वपि भुक्तं न पचति मन्दत्वात् । अपच्यमानं तदन्नं शुक्तत्वमम्लत्वं याति
 विषताश्च तद् याति ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—तस्याजीर्णस्यान्नस्य लिङ्गमाह—तस्येत्यादि । विष्टम्भ आध्मानं
 तथा सदनादिकश्च । इत्येवमजीर्णं तदघोरं भयानकमन्नं विषमिव मारकत्वाद्
 विषश्चोच्यते । पित्तेनेत्यादि । तदन्नविषं पित्तेन संसृष्टं दाहतृष्णादि, पित्तज-
 मुखामयान् जनयति अम्लपित्तञ्च । पित्तजांश्चापरानोषचोषादीन् जनयति ।
 तत्राम्लपित्तलक्षणमुक्तं तन्त्रान्तरे । तद्यथा । “अविपाककृमोत्क्लेश-

इत्यादि । देशवैषम्यं देशव्यापत् । सा च जनपदोद्ध्वंसनीये प्रोक्ता । कालशब्देन च
 संवत्सरात्मककाल उच्यते । ऋतुशब्देन तु शिशिरादिऋतुः । कालवैषम्येण सर्वेषां वैषम्यं, सर्वं
 एव ऋतवः पठ्यन्ते, ऋतुवैषम्येण द्वे एक एवर्तुरिति विशेषः । शुक्तत्वमिति (आमताम्) अम्लत्वम् ।
 विषतामिति विषरूपताम् । विषं यथा बहुविकारकारि भवति तथा तदरूपताम्, अनेन सर्वं
 एवाजीर्णमेवा अवरुद्धा ज्ञेया ये तन्त्रान्तरे “आमं विदग्धं विष्टग्धं कफपित्तानिलैः क्रमात् । अजीर्णं
 केचिद्विच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः” ॥ १९ ॥

चक्रपाणिः—तस्येति सामान्याजीर्णस्य । लक्षणं विष्टम्भ इत्यादि । विष्टम्भोऽप्रचलनरूपतया
 अवस्थानम् । घोरम् अन्नविषञ्च तत् पित्तेन संसृज्यमानम् इत्यादिना पित्तदुष्टस्याजीर्णस्य

यक्ष्मपीनसमेहादोन् कफजान् कफसङ्गतम् ।

करोति वातसंसृष्टं वातजांश्चापरान् गदान् ॥

मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद्गतम् ।

रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्याद् रोगान् रसादिजान् ॥ २० ॥

तिक्ताम्लोद्धारगौरवैः । हृत्कण्ठदाहारुचिभिरम्लपित्तं वदेद् भिषक् ॥ विरुद्ध-
दुष्टाम्लविदाहिपित्त-प्रकोपिपानान्नभुजो विदग्धम् । पित्तं स्वहेतूपचितं पुरा
यत् तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्तः ॥ तृड्दाहमूर्च्छाभ्रममोहकारि प्रयात्यथो वा
विविधप्रकारम् । हृत्तासकोठानलसादहषे स्वेदाङ्गपीतलकरं कदाचित् ॥ वान्तं
हरिर्पीतकनीलकृष्णमारुक्तरक्ताभमतीव चाम्बलम् । मांसोदकाभन्तति-
पिच्छिलाच्छं श्लेष्मानुयातं विविधं रसेन ॥ भुक्ते विदग्धेऽप्यथवाऽविदग्धे
करोति तिक्ताम्लवर्षिं कदाचित् । उद्धारमेवंविधमेव कण्ठ-हृत्कुक्षिदाहं शिरसो
रुजश्च ॥ करचरणदाहमौष्ण्यं महतीमरुचिं ज्वरश्च कफपित्तम् । जनयति
कण्डूमण्डलपिङ्काशतनिचितगात्ररोगचयम् ॥ सानिलं सानिलकफं सकफं
तच्च लक्षयेत् । दोषलिङ्गेन मतिमान् भिषङ्मोहकरं हि तत् ॥ कम्पप्रलाप-
मूर्च्छाचिमिचिमिगात्रावसादशूलानि । तमसो दर्शनविभ्रमविमोहहर्षाः स्यु-
रनिलयुते ॥ कफनिष्ठीवनगौरवजडतारुचिशीतसादवमिलेपाः । दहन-
बलसादकण्डू निद्रा चिह्नं कफानुगते ॥ उभयमिदमेव चिह्नं मारुतकफसम्भवे
भवत्यम्ले । विज्ञाय च भिषगेवं क्रियारभेत यथादोषम् ॥ रोगोऽयमम्ल-
पित्ताख्यो यन्नात् संसाध्यते नवः । चिरोत्थितो भवेद् याप्यः कृच्छ्रसाध्यः
स कस्यचित् ॥ इति । यक्ष्मेत्यादि । कफसङ्गतं तदन्नविषमजीर्णं यक्ष्मादीन्
कफजान् गदान् जनयति । वातसंसृष्टं तदन्नविषं वातजांश्चापरान् गदान्
करोति । मूत्रेत्यादि । मूत्रस्थं तदन्नविषं मूत्ररोगान् करोति । शकृद्-
गतमन्नविषं कुक्षिरोगान् करोति । रसादिभिर्धातुभिः संसृष्टमन्नविषं रसादि-
जान् रोगान् करोति ॥ २० ॥

लक्षणमाह । एतच्च पित्तादिसंसर्गकृतं लक्षणम् । अजीर्णस्य कोष्ठमालगतत्वेन यक्ष्मादिविकार-
करणं सामर्थ्योपलब्धेः अम्लपित्तञ्चेति अम्लगुणोद्भूतं पित्तम् । अस्य तन्त्रान्तरे लक्षणमुक्तम्
“अविपाककृद् मोक्षलेद-तिक्ताम्लोद्धारगौरवैः । हृत्कण्ठदाहारुचिभिराम्लपित्तं विनिर्दिशेत् ॥” इति ।
यक्ष्मण्क्षिदोषजत्वेऽपि क्षोतोऽवरोधे कफाध्यापारप्राधान्यात् इह कफजत्वमुक्तम् । क्रिष्टधातुयोगेन

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन् ।
 तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः ॥
 युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन् ।
 दुर्बलो विदहत्यन्नं तद् यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा ॥
 अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः ।
 उच्यते सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते ॥
 अतिस्त्रुष्टं विबद्धं वा द्रवं तदुपवेश्यते ।
 तृणारोचकवैरस्य-प्रसेकतमकान्वितः ॥

गङ्गाधरः—अन्नविषमेवंविधरोगकृत् कथं स्यादित्यत आह—विषम
 इत्यादि । विषमः पावको जाठराग्निभुक्तमन्नं विषमं पचन् धातुवैषम्यं
 वातादिवैषम्यं करोति । तीक्ष्णो जाठरः पावको मन्देन्धनोऽल्पाहारात्मक-
 काष्ठः संस्तदाहारमिन्धनं दग्ध्वा रसादीन् धातून् विशोषयति । युक्तः समः
 पावको युक्तं मात्रावदाहारं भुक्तवतो जनस्य तदाहारं समं पचन् धातुसाम्यं
 करोति । दुर्बलो मन्दः पावकः स्वल्पमप्यन्नं भुक्तवतो विदहति विगत-
 पाकं करोति । तद्विदग्धमन्नमूर्ध्वं याति वमिना, अधोऽपि वा गुदेन याति ।
 तत्राधस्तु यद् याति पक्वं वाप्यामं वा स ग्रहणीगद उच्यते । अस्य ग्रहणी-
 गदवतो जनस्य सर्वमेव लघु वा गुरु वा स्निग्धं वा रुक्षं वान्नं यस्मात् प्रायो
 विदह्यते । तस्य लक्षणमाह—अतीत्यादि । तद्विदग्धमन्नमतिस्त्रुष्टं द्रवं
 रसशेषान्नस्य गदानाह—मूलरोगानित्यादि । रसादिजानित्यल्ल ये रसादिजा अरुच्यादय उक्तास्ते
 भवन्तीति ज्ञेयम् ॥ २० ॥

चक्रपाणिः—अजीर्णलक्षणमभिधाय अग्निदोषलक्षणमाह—विषम इत्यादि । तीक्ष्णाग्नि-
 कार्यमाह—तीक्ष्ण इत्यादि । अत मन्देन्धन इत्यनेन तीक्ष्णोऽपि यदि शुचीन्धनो भवति तदा
 धातुपोषणं भवतीति दर्शयति । अग्निप्रसङ्गात् समानेः कार्यमाह—युक्तमित्यादि । युक्तं इति
 समः । युक्तमन्नं पचन् धातुसाम्यं करोति इत्यर्थः । समशब्देन समानो वायुः अग्निसहायो
 गृह्यते । किंवा युक्तवायुतया धातुसाम्यं करोति, युक्तशब्देन च कफपित्तसाम्यम् अग्नौ गृह्यते ।
 यतः समः समैरिति वक्ष्यते समानित्वमुक्तम् । मन्दाग्निव्यापारमाह—दुर्बल इत्यादि । युक्त-
 विकारेषु प्रधानत्वेन अध्यायप्रकृतं ग्रहणीदोषविकारं निर्द्धारयन्नाह—अधस्तिव्यादि । पक्वमामं
 वेति वाशब्दः समुच्चये । तेन किञ्चित्पक्वं किञ्चिदपक्वम् । कुतः पक्वापक्वं स्वतीत्याह—सर्वम्

शूनपादकरः सास्थि-पर्वरुक् छर्दनं ज्वरः ।

लोहानुगन्धि-तिक्ताम्ल उद्गारश्चास्य जायते ॥ २१ ॥

पूर्वरूपन्तु तस्येदं तृष्णालस्यं बलक्षयः ।

विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात् कायस्य गौरवम् ॥ २२ ॥

अग्न्याधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता ।

नाभेरुपर्यग्निबलेनोपपृष्ठोपवृंहिता ॥

अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः ।

दुर्बलाग्निबलाद् दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ॥ २३ ॥

विवर्द्धं वा द्रवमुपवेश्यते वच्चस्त्यज्यते गुदेन । स च तृष्णाद्यन्वितः शूनपाद-
करः पादकरे शोफान्वितः सास्थिपर्वरुगादियुक्तश्च भवति । अस्य ग्रहणी-
गदिनो लोहानुगन्धितिक्ताम्लो रक्तगन्धानुगततिक्ताम्ल उद्गारश्च जायते ।
इति ग्रहणीगदस्य सामान्यलक्षणम् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—अस्य पूर्वरूपमाह—पूर्वरूपन्तित्यादि । अन्नस्य भुक्तस्य
प्रायो विदाहः अद्धपरिपाकः कदाचित् चिराच्च पाकः ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—ननु का पुनः ग्रहणीत्युच्यते इत्यत आह—अग्न्यधीत्यादि ।
अग्नेर्जाठराग्न्येर्दधिष्ठानं सा खल्वन्नस्य भुज्यमानस्य ग्रहणाद् ग्रहणी नाम
नाडी मता । क च सा वर्त्तते इत्यत आह—नाभेरुपरि वर्त्तते, तदधस्ताज्जाठरो-
ऽग्निर्वर्त्तते । तस्याग्नेर्वलेनोपपृष्ठोपवृंहिता च । यथाग्निबलं तथा
सोपपृष्ठ्यते तथैवोपपृष्ठ्यते । अग्नेरल्पबले स्थलपाकारा भवत्यतिबले विपुला
भवतीति । तस्याः कार्यमाह—अपक्वमित्यादि । भुक्तमपक्वमन्नं सा ग्रहणी
एवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते इति एकापक्वं भवति । अतिसृष्टमिति विमुक्तम् । तम एव
तमकः ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—पूर्वरूपे विदाहोऽन्नस्येति विशिष्टो दाहो विदाहः ॥ २२ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति ग्रहणीदोषस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थं ग्रहण्याः स्वरूपं प्रकृतञ्च कर्म आह ।
अग्न्याधिष्ठानम् अग्नेराश्रय इत्यर्थः । ग्रहणीसंज्ञानामन्तमाह—अन्नस्येत्यादि । ग्रहणादिति
धारणात् नाभेरुपर्यग्न्यस्य धारणादित्यर्थः । किंवा नाभेरुपरि अग्नेरुर्ध्वज्वलनेन उपस्तम्भिता
उपवृंहिता सती अपक्वम् अन्नं धारयति पक्वञ्च पार्श्वतः सृजति इति वामपार्श्वतः सृजति । यतः
ग्रहणीगुदौ वामपार्श्वश्रयौ तेन वामे च पार्श्वे पक्वं सृजतीत्युक्तम् । उपस्तम्भिता इति अग्निना

वातात् पित्तात् कफाच्च स्यात् तद्रोगस्त्रिभ्य एव च * ।

हेतुं लिङ्गं चिकित्साञ्च शृणु तस्य पृथक् पृथक् ॥ २४ ॥

कषायकटुतिक्ताति-रुक्षशीताल्पभोजनैः ।

प्रमितानशनात्यध्व-वेगनिग्रहमैथुनैः ॥

मारुतः कुपितो वह्निं संछाद्य कुरुते गदान् ।

तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥

धारयति पक्ञ्चान्नं विण्मूत्ररूपं पार्श्वतः सृजति । दुर्बलाग्नेर्बलाद् दुष्टा तु ग्रहणी आममेवान्नं विमुञ्चति ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—तस्या रोगः कारणतो भिद्यते ; वातादित्यादि । तस्या ग्रहण्या रोगस्तद्रोगो वातात् कुपितात् स्यात् पित्तात् स्यात् कफात् स्यात् त्रिभ्य एव च वातपित्तकफेभ्यो मिलितेभ्य एव च स्यादिति चतुर्विधो ग्रहणी-रोगस्तस्य पृथक् पृथक् हेतुं लिङ्गं चिकित्साञ्च शृणु ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—तत्र वातं कोपयित्वा ग्रहणीरोगं यद् यत् कारणं करोति तदाह—कषायेत्यादि । अत्र केचित् पठन्ति—कटुतिक्तकषायाति-रुक्षसन्दुष्ट-भोजनैरिति पाठम् । संयोगविरुद्धभोजनं संदुष्टभोजनम् । शीतादिभोजनै-रिति पाठे आदिना सूक्ष्मलघ्वादिग्रहणम् ; अस्मिन् पाठे प्रमितानशनेति पाठः, प्रमितमल्पाशनम् । इहाल्पभोजनैरिति पाठे प्रमृतानशनेति पाठः । प्रमृतमतीत-कालभोजनमनशनं लङ्घनम् । एभिर्मारुतः तथा कुप्यति यथा वह्निं संछाद्य ग्रहणीगदान् कुरुते नान्यान्, इत्युभयहेतव एवैते न तु वातकोपस्यैव हेतवः । एवं सर्वत्र निदानोपदेशे बोध्यम् । अस्य लिङ्गान्याह—तस्यान्नमित्यादि ।

पित्तव्यापारकरणेन अनुकूलिता, उपवृंहितेति अग्निना वृंहणव्यापारकरणेन सशक्तीकृता किंवा उपस्तम्भत्वेन उपवृंहिता अत्र पक्षे उपस्तम्भसाधारण्यं ग्रहण्या आह । ग्रहण्याः प्राकृतं कर्म अभिधाय वैकृतं कर्म आह—दुर्बलेत्यादि । दुर्बलाग्निश्च अवलाश्चेति किंवा दुर्बलम् अग्निबलं यस्याः सा दुर्बलाग्निबला । दुष्टादिति दोषदुष्टात् । आमं विमुञ्चतीति अपक्वमेवान्नं विमुञ्चति । पूर्व्वरूपे पक्वमामं वा विमुञ्चतीत्यनेन विदग्धरूपमाममेवोक्तम् । इह त्वामं नियमेन विमुञ्चति इति न विरोधः ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—वातपित्तकफसन्निपातजान् ग्रहणीभेदानाह—वातादित्यादि । सर्व्वीदिति सन्नि-पातात् ॥ २४ ॥

* वातात् पित्तात् कफात् सर्व्वीदं ग्रहणीदोष उच्यते ।

कण्ठास्यशोषः क्षुत् तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः ।

पार्श्वोत्थङ्क्षणग्रीवा-रुगभीक्षणं विसूचिका ॥

हृत्पीडा कार्श्यदौर्बल्यं वरस्यं परिकर्त्तिका ।

गृद्धिः सर्व्वरसानाञ्च मनसः सदनं तथा ॥

जीर्णे जीर्य्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च ।

स वातगुल्महृद्रोग-प्लीहाशङ्की च मानवः ॥

चिराद् दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् ।

पुनःपुनः सृजेद् वर्चः श्वासकासाद्दितोऽनिलात् ॥ २५ ॥

शुक्तपाकमम्लपाक मन्दाग्निजनितान्नविदाहात् । खराङ्गता वातगुणरौक्ष्यत्वग्-
गतस्नेहशोषात् कर्कशाङ्गत्वं, कण्ठास्यद्रवशोषात् कण्ठास्यशोषश्च, क्लोमनः
शोषात् तृष्णा क्षुधा, रौक्ष्यलाघवाभ्यां तिमिरं नेत्ररोगविशेषस्तेनाल्पा
दृष्टिः । पार्श्वदिषु रुक् पीडा अभीक्षणं भवति । विसूचिका सूचीभिरिव
गात्रवेदनासहितामानस्योर्द्धाधःप्रवृत्तिः, परिकर्त्तिका गुददेशे कर्त्तनवत्
पीडा । सर्व्वरसानामाहारे गृद्धिर्लोभः राजसवातेन मनोराज्याधिकभावात् ।
मनसः सदनं ग्लानिः व्याधियातनया । भुक्तेऽन्ने जीर्णे च जीर्य्यति
चाध्मानं भुक्ते भुक्तमात्रे स्वास्थ्यमुपैति । स वातग्रहणीरोगवान् वात-
गुल्माद्याशङ्की वातगुल्माकारवदुदरे लक्ष्यते न च वातगुल्मः, वातहृद्रोग-
वद् हृदये पीडा लक्ष्यते न तु वातहृद्रोगः, वातप्लीहवन्वामकुक्षौ लक्ष्यते न
तु वातप्लीहेति । स च मानवो द्रवं वर्चः क्वचिच्छुष्कं वर्चः क्वचित्
तनुं स्वल्पं वर्चः क्वचिदाममपक्वं वर्चः शब्दफेनवदधोवातकृतशब्दसहितं
फेनवच्च पुनःपुनः सृजेत् मुञ्चेत् । एवं श्वासकासाभ्यामर्दितः स्यादनिलाद्
ग्रहणीरोगे ॥ २५ ॥

चक्रपाणिः—शुक्तमिवान्नस्य पाकः शुक्तपाकः । गृद्धिः सर्व्वरसानामिति सप्तम्यर्थे षष्ठी ।

जीर्णे जीर्य्यति अन्न इति शेषः । गुल्मादिशङ्कित्वं गुल्मादिसदृशपीडाशुक्तत्वेन भवति ॥ २५ ॥

पाणि
क्षार
ग्रह
द्रव
तप्त
स
द्रव
ग्रह
द्रव
स्नि
उत्त
त्वा
चेह
पुं

अभि

कट्वजीर्णविदाह्यम्ल-क्षारादौः पित्तमुल्वणम् ।
 आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम् ॥
 सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्य्यते द्रवम् ।
 पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठ-दाहारुचितृड्दितः ॥ २६ ॥
 गुर्वतिस्निग्धशीतादि-भोजनादतिभोजनात् ।
 भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः ॥
 तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्दरोचकाः ।
 आस्योपदेहमाधुर्य्य-कासष्ठीवनपीनसाः ॥

गङ्गाधरः—पित्तग्रहणीरोगहेतूनाह—कट्वजीर्णेत्यादि । विदाहि अर्द्धपरि-
 पाकि भृष्टतण्डुलादि । क्षारो भस्म परिस्रुतजलकृतः सतिक्तलवणरसो यव-
 क्षारादिः । आदिना लवणतीक्ष्णादि । एभिरुल्वणं पित्तं तथा भवति यथा
 ग्रहणीगदानेव कुरुते नान्यानि उभयहेतवः कटादयः । तथोल्वणं पित्तं
 द्रवांशेन जाठरमनलमाप्लावयद्धन्ति न चौष्ण्यादग्निं वर्द्धयति औल्वण्यात् । यथा
 तप्तजलं वाह्यमनलं द्रवेणाप्लावयद्धन्ति न त्रौष्ण्याद् वर्द्धयति । तस्य लिङ्गान्याह—
 स इत्यादि । स पित्तहतानलः पुरुषः पीताभः पित्तेन भूत्वा नीलपीताभमजीर्णं
 द्रवं पुरीषं सार्य्यते । पूत्यम्लोद्गारादिभिरर्द्धितश्च भवति । इति पित्त-
 ग्रहणीरोगलिङ्गम् ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—अथ कफग्रहणीरोगहेतूनाह—गुर्वतीत्यादि । आदिना मधुर-
 द्रवपिच्छिलादीनां ग्रहणम् । भुक्तमात्रस्य जनस्य कफवृद्धौ पुनर्दिवास्वप्नात्
 स्निग्धात् ग्रहणीरोगारम्भको यथा स्यात् तथा कुपितः कफोऽग्निं हन्ति ।
 उक्तं प्राक्—रात्रौ जागरणं रुक्लं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा । अरुक्षमनभिष्यन्दि
 त्वासीनप्रचलायितमिति । अभुक्तवतस्तु नाग्निं हन्ति दिवास्वप्नः । न
 चेह रात्रिस्वप्नो विवक्षितः । तस्य भुक्तमात्रदिवास्वप्नकुपितकफहताग्नेः
 पुंसो दुःखं यथा स्यात् तथा अन्नं भुक्तं पच्यते । हृल्लासादयश्च स्युः ।

चक्रपाणिः—पैतिके पित्तेनाग्निहननं क्रियते इति दर्शयन्नाह । उष्णस्यापि हि द्रवतया
 अग्निनिर्व्वापणे दृष्टान्तमाह—जलं तप्तमित्यादि ॥ २६ ॥

हृदयं मन्यते स्थानमुदरं स्तिमितं गुरु ।
 दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ॥
 भिन्नामश्लेष्मभूयिष्ठ-गुरुवर्चःप्रवर्त्तनम् ।
 अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यश्च कफात्मके ॥ २७ ॥
 यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः ।
 तश्चापि ग्रहणीदोषं समवर्जं प्रचक्षते ॥ २८ ॥
 पृथग्वातादिनिर्दिष्ट-हेतुलिङ्गसमागमे ।
 त्रिदोषं निर्दिशेदेवमतो वक्ष्यामि भेषजम् ॥ २९ ॥

आस्यस्योपदेहमाधुस्य भवतः । स च हृदयं स्थानं सान्द्रमिव मन्यते ।
 स्तिमितं निश्चलमिव हृत् गुरु च उदरं मन्यते । दुष्टो विकृत एव मधुर उद्गारः ।
 भिन्नश्च आमश्च श्लेष्मभूयिष्ठश्च गुरु च वर्चस्तस्य प्रवर्त्तनम् । अकृशस्यापि
 देहपुष्टस्य दौर्बल्यमालस्यश्च । कफात्मके ग्रहणीगदे भवति । इति कफज-
 ग्रहणीगदलक्षणम् ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—तर्हि किमेतावानेव ग्रहणीगद उतान्योऽपि अस्तीत्यत आह—
 यश्चेत्यादि । विमानस्थाने रोगानीकेऽध्याये पूर्वं यश्चतुर्विधो जाठरोऽग्निः
 उद्दिष्टस्तत्र समाग्नवर्जं त्रिविधं तं विषमतीक्ष्णमन्दाग्निं ग्रहणीदोषमृषयः
 प्रचक्षते ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—त्रिभ्य एव चेति यदुक्तं तत् त्रिदोषजग्रहणीरोगहेतुलिङ्गान्याह—
 पृथगित्यादि । वातादिग्रहणीगदे निर्दिष्टानां कषायकटुतिक्तेत्यादि-वात-
 ग्रहणीगदहेतु- कटुजीर्णेत्यादिपित्तग्रहणीगदहेतु- गुर्वृत्तिस्निग्धेत्यादिकफग्रहणी-
 गदहेतूनां समागमे मेलने त्रिदोषं ग्रहणीगदहेतुं निर्दिशेत् । तथा
 तस्यान्नं पच्यते दुःखमित्यादि-वातग्रहणीगदलिङ्ग-सोऽजीर्णमित्यादिपित्त-

चक्रपाणिः—गुर्वृत्यादिना कफजग्रहणीमाह । दौर्बल्यं बलहानिः ॥ २७ ॥

चक्रपाणिः—यश्चाग्निरित्यादिश्लोकं केचित् दैशेषिकग्रहणीदोषव्यतिरिक्तदोषत्रयजग्रहणी-
 रोगान्तर्निवेशनप्रसङ्गत इति दर्शयति इति कृत्वा अनार्थं वदन्ति, किन्तु तश्चापीति पदेनाग्नि-
 मान्यादीनां प्राकृतानां सामान्याद् ग्रहणीदोषाबाधे सति न किञ्चिद्गिरोधं पश्यामः । सामान्य-
 ग्रहणीदोषेऽपि अग्निमान्यादय उक्ता इति दर्शितमेव । समवर्जमिति समप्रकृतिपुरुषाग्नि-
 वर्जम् ॥ २८ । २९ ॥

ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्च्छितम् ।
 सविष्टम्भप्रसेकार्त्ति-विदाहारुचिगौरवैः ॥
 आमलिङ्गान्वितं ज्ञात्वा सुखोष्णानाम्बुनोद्धरेत् ।
 फलानां वा कषायेण पिप्पलीसर्षपैस्तथा ॥
 लीनं पक्काशयस्थं वाप्यामं स्नाव्यं सदीपनैः ।
 शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम् ॥
 विशुद्धामाशयायस्मै पञ्चकोलादिभिः शृतम् ।
 दद्यात् पेयादि लघ्वन्नं पुनर्योगांश्च दीपनान् ॥ ३० ॥
 ज्ञात्वा तु परिपक्वामं मारुतग्रहणीगदम् ।
 दीपनीययुतं सर्पिः पाययेतालपशो भिषक् ॥

ग्रहणीगदालङ्घन-तस्यान्नमित्यादिकफग्रहणीगदलिङ्गानां समागमे त्रिदोषं ग्रहणी-
 गदलिङ्गं निर्दिशेत् । अतः परं भेषजं वक्ष्यामि ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—तत्रादौ ग्रहणीदोषस्य आमतादिलक्षणमाह—ग्रहणीमित्यादि ।
 ग्रहणीमाश्रितं दोषं मन्दाग्निना विदग्धाहारमूर्च्छितं विष्टम्भादिभिरामलिङ्गा-
 न्वितं ज्ञात्वा सुखोष्णानाम्बुना उद्धरेत् वामयेत् । तथा पिप्पलीसर्षपकल्क-
 सहितेन मदनस्य फलानां वीजकषायेण वा उद्धरेत् वामयेत् । पक्काशयस्थं
 लीनं वाप्यामं विष्टम्भादिभिर्ज्ञात्वा सदीपनैः पञ्चकोलादिभिः सह विरेचनेन
 स्नाव्यम् । शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनं पाचनञ्च काव्यम् । विशुद्धा-
 माशयाय वमनेन आमाशयशुद्धाय अस्मै पुंसे पञ्चकोलादिभिर्दीपनैः शृतं
 पेयादि लघ्वन्नं दद्यात् । पुनर्दीपनयोगांश्च दद्यात् ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—ज्ञात्वेत्यादि । परिपक्वामं ज्ञात्वा मारुतग्रहणीगदं जनं दीपनीय-

चक्रपाणिः—ग्रहणीमाश्रितमित्यादौ दोषमिति सासान्यवचनात् वातादीनां त्रयाणामपि
 ग्रहणम् । आमस्यापकस्य लिङ्गरन्वितमिति आमलिङ्गान्वितम् । फलानामिति मदनफलानाम् ।
 लीनमित्यनुक्लिष्टम् । पक्काशयस्थमिति अधोगतत्वेन पक्काशयसमीपगतम् । स्नाव्यमिति
 विरेचनीयम् । सदीपनैरिति दीपनद्रव्यसंयुक्तैर्विरेचनप्रयोगैः । शरीरानुगते इति शरीरव्यापके ।
 सामे रसे इति अपक्वे रसे । आमश्चात्पाकरूप एव इष्टः, आहाररसस्य रससम्बन्धेन शरीर-
 व्यापकत्वात् । लङ्घनमनशनम् । पाचनं यवाग्वादि । विशुद्धामाशयाय इत्यत्र विशुद्धिर्हि विरेचन-
 लङ्घनैर्यथायोग्यतया ज्ञेया ॥ ३० ॥

किञ्चित्सन्धुक्षितै चाग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम् ।

द्राहं त्राहं वा संस्निह्य स्विन्नाभ्यक्तं निरूहयेत् ॥

तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा ।

सक्षारेणानिले शान्तै स्रस्तदोषं विरेचयेत् ॥

शुद्धं रुक्षाशयं ज्ञात्वा सर्व्वशश्चानुवासयेत् ।

दीपनीयाम्लवातघ्न-सिद्धतैलेन मात्रया

निरूढश्च विरिक्तश्च सम्यक् चाप्यनुवासितम् ।

लघ्वन्नं प्रतिसंभुक्तं सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ॥ ३१

द्विपञ्चमूल्यौ सरलं देवदारु सनागरम् ।

पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥

शण्वीजं यवान् कोलान् कुलत्थान् सुषवीस्तथा * ।

पाचयेदारनालेन दध्ना सौवीरकेण वा ॥

पिप्पल्यादिदशकयुतं सर्पिरल्पशः पाययेत् । ततः किञ्चित्सन्धुक्षिते दीप्तेऽग्नौ सक्तविड़ादिकं तं नरं द्राहं त्राहं वा संस्निह्य ततः स्वेदयित्वा तैलादिस्नेहाभ्यक्तं निरूहयेत् । ततो निरूहानन्तरं शान्तेऽनिले स्रस्तदोषं स्थानाच्च्युतदोषं तं नरम् एरण्डतैलेन सक्षारेण तैल्वकेन सर्पिषा वा विरेचयेत् । एवंशुद्धं तं नरं रुक्षाशयं ज्ञात्वा सर्व्वशश्चानुवासयेत् इति । यदि सर्व्वशो रुक्षाशयता न स्यात् तदा नानुवासयेत् । येनानुवासयेत् तदाह—दीपनीये-त्यादि । दीपनीयदशकं पिप्पल्यादिकम् अम्लं तिन्तिडीकादि वातघ्नं बृहत्पञ्चमूल्यादिकं, तः कल्कैः सिद्धतैलेन मात्रयानुवासयेदिति । एवं निरूढश्च विरिक्तश्च सम्यगनुवासितश्च ग्रहणीदोषान्वितं नरं लघ्वन्नं प्रतिभोजितं पुनः सर्पिरभ्यासयेत् ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—तत् सर्पिराह—द्विपञ्चेत्यादि । द्वे पञ्चमूल्यौ दशमूली । सुषवी कृष्णजीरकम् । दशमूल्यादीनि द्वाविंशतिं प्रत्येकं समांशेन मिलित्वा

चक्रपाणिः—दीपनीययुतमिति षड्विरेचनशताश्रित्योक्तदीपनीयग्रहणम् । स्नेहेनाभ्यक्तमिति स्नेहाभ्यक्तम् । स्रस्तदोषमिति निरूहेण स्रस्तदोषम् ॥ ३१ ॥

चक्रपाणिः—द्वे पञ्चमूले इत्यादौ सुरभिस्वरसः जलस्थानीये आरनालादिकाथ्यश्च मिलित्वा

* सुरभीस्तथा इति चक्रधृतः पाठः ।

चतुर्भागावशेषेण पचेत् तेन घृतादकम् ।
 स्वर्जिकायावशूकाख्यौ क्षारौ दत्त्वा तु युक्तिः ॥
 सैन्धवोद्भिदसामुद्र-विडानां रोमकस्य च ।
 ससौवर्चलपाक्यानां भागान् द्विपलिकान् पृथक् ॥
 विनीय चूर्णितांस्तस्मात् पाययेत् प्रसृतं बुधः ।
 करोत्यग्निबलं वर्णं वातघ्नं भक्तपाचनम् ॥ ३२ ॥

दशमूलाद्यं घृतम् ।

त्रूषणत्रिफलाकल्के विल्वमात्रे गुड्मात् पले ।
 सर्पिषोऽष्टपलं पक्त्वा मात्रां मन्दानलः पिबेत् ॥ ३३ ॥
 त्रूषणाद्यं घृतम् ।

द्वात्रिंशच्छरावमितानि । आरनालेन चतुर्द्रोणेन दध्ना वा चतुर्द्रोणेन सौवीर-
 केण वा चतुर्द्रोणेन पाचयेत् । चतुर्भागावशेषेण चतुःषष्टिशरावेण तेन काथेन
 घृतादकं षोडशशरावं पचेत् । पक्वे पूते तत्र स्वर्जिकाक्षारयवक्ष्मागौ
 युक्तितो द्विपलात् किञ्चिन्नूनौ सैन्धवादीनां पृथक् द्विपलिकान् भागान्
 चूर्णितान् विनीय कल्कीकृत्य दत्त्वा पचेत् । पाक्यं लवणं पांशुज
 लवणम् । तस्मात् पक्तात् घृतात् प्रसृतं पलद्वयं बुधः पाययेदिति । बुध इत्युक्त्या
 यथाबलं पाययेदिति ख्यापितम् । शेषमाशीः । दशमूलाद्यं घृतम् ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—त्रूषणेत्यादि । त्रिकटुत्रिफलयोर्मिलित्वा विल्वमात्रे पलमात्र
 कल्के गुड्माच्च पले कल्के घृतस्य अष्टपलं द्वात्रिंशत्पलजले पक्त्वा मात्रां
 मन्दानलः पिबेत् । त्रूषणाद्यं घृतम् ॥ ३३ ॥

द्रोणं मानं ग्राह्यम् । क्षारौ दत्त्वा च युक्ति इति अनेन क्षारयोरनल्पमानत्वमुच्यते, किन्तु
 प्रक्षेप्यान्यतमलवणमानेन पृथक् क्षारौ देयौ । युक्ति इत्यनेन योग्ये काले क्षारयोगमाह ।
 स च योग्यकालः घृतावतारणकाल एव । यदाह जतूकर्णः । दशमूलं पञ्चकोलं कुलत्थं सुरभिं
 यवम् । शणवीजञ्च कोलञ्च साधयेत् काञ्चिकेन तु । दध्ना सौवीरकेणैव तेन पक्वे घृतादके ।
 द्वौ क्षारौ सप्तलवणं दापयेद् द्विपलान्वितम् । औद्भिदमुत्कारि उत्कारिकालवणम् । रोमकं
 रुमाभवं, पाक्यं पाकजम् ॥ ३२ ॥

चक्रपाणिः—अष्टपले घृते विल्वमात्र इति पलमाने कल्के । अष्टपलमानमेवात्र सर्पिः
 पक्त्वम् महर्षिवचनेन फलदायित्वात् ॥ ३३ ॥

पञ्चमूलाभयाजाजी-पिप्पलीमूलसैन्धवैः ।
 विडङ्गत्रूषणशटी-रालाक्षारद्रयैर्घृतम् ॥
 शुक्तेन मातुलुङ्गस्य स्वरसेनार्द्रकस्य च ।
 शुष्कमूलककोलाम्बु चुक्रिका दाडिमस्य च ॥
 तक्रमस्तुसुरामण्ड-सौवीरकतुषोदकः ।
 काञ्जिकेन च तत् पक्वमग्निदीप्तिकरं परम् ॥
 शूलगुल्मोदरश्वास-कासानिलकफापहम् ।
 सवीजपूरकरसं सिद्धं वा पाययेद् घृतम् ॥
 तैलमभ्यञ्जनार्थञ्च सिद्धमेतः प्रदापयेत् ।
 एतेषामौषधानां वा पिबेच्चूर्णं सुखाम्बुना ॥
 वातश्लेष्मावृत्तैः सामे कफे वा वायुनोद्धतैः ।
 दद्याच्चूर्णं पाचनार्थमग्निसन्दीपनं परम् ॥ ३४ ॥

पञ्चमूलाद्यं घृतं तैलं चूर्णञ्च ।

गङ्गाधरः—पञ्चमूलेत्यादि । बृहत्पञ्चमूलादिक्षारद्वयान्तः कल्कैर्घृतात्
 पादिकैर्घृतसमानेन शुक्तेन मातुलुङ्गस्वरसेन आर्द्रकस्य च स्वरसेन । शुष्क-
 मूलकादीनां मिलितानां काथेन घृतसमेन । तत्र अम्बु बालकम् । चुक्रिका
 चाङ्गेरी दाडिमत्वक् । तत्रेण च घृतसमेन मस्तुना सुरामण्डेन सौवीरकेण
 धान्याम्लेन तुषोदकेन सतुष्यवकृतेन काञ्जिकेन घृतसमेन तद् घृतं पक्वमग्नि-
 दीप्तिकरमित्याद्याशीः । (पञ्चमूलादिघृतम् ।) सवीजपूरकरसं घृताच्चतुर्गुणेन
 मातुलुङ्गस्वरसेन सह तैः कल्कैः तैश्च द्रवैः सिद्धं घृतं वा पाययेत् । पूर्वोक्ताशीः ।
 पञ्चमूलादिभिरुक्तैरेतैः सिद्धं तैलमभ्यञ्जनार्थं प्रदापयेत् । इति । वीजपूरक-
 स्वरसे च तः कल्कैस्तेर्द्रवैश्च सिद्धञ्च तैलं द्वयं तदनन्तरमेतैरित्युक्तत्वात् ।
 (पञ्चस्वरसे मूलादितैलं वीजपूरकतलञ्च ।) एतेषामित्यादि । पञ्चमूलादीनां

चक्रपाणिः—पञ्चमूलाद्यं शुक्तादितयोदशद्रवाणां प्रत्येकं स्नेहसमत्वम् । सवीजपूरकरस-
 मित्यत्रापि पञ्चमूल्यादीनि कल्कत्वेनेच्छन्ति । किंवा पूर्वमेव घृतं वीजपूरकरसंयुक्तं पेयमित्यर्थः ।
 तैलमित्यादौ एतैः पञ्चमूल्यादिभिः सिद्धं तलं तथा एतेषामेव कल्कोक्तानां पञ्चमूल्यादीनां

मज्जत्यामा गुरुत्वाद् विट् पक्का तूत्प्लवतै जले ।

विनातिद्रवसंघात-शैत्यश्लेष्मप्रदूषणात् ॥

परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामश्चामदोषिणम् ।

विधिनोपाचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा ॥ ३५ ॥

चित्रकं पिप्पलीमूलं द्वौ चारौ लवणानि च ।

व्योषं हिङ्गुजमोदाश्च चव्यञ्चैकत्र चूर्णयेत् ॥

क्षारद्वयान्तानां चूर्णं सुखाम्बुना पिवेद् योग्यत्वात् न तु शुक्तादीनामिहानुवृत्ति-
रेतेषामिति पदेन चर्णत्वासम्भवात् । पञ्चमूलाद्यं घृतं तैलं चूर्णश्च ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—विदग्धाहारमूर्च्छितत्वेन ग्रहण्याश्रितदोषस्य विष्टम्भादिना लिङ्गेन
आमलिङ्गमुक्तम् । सम्प्रति ग्रहणीदोषिणो विडामत्वलक्षणमाह—मज्जतीत्यादि ।
ग्रहणीदोषवतामामा विट् गुरुत्वाज्जले क्षिप्त्वा मज्जति । पक्का तु विट्
अतिद्रवादिभिर्विना जले उत्प्लवते । अतिद्रवसंघातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात्
पक्कापि जले मज्जति । पुरा त्वेवं सामं निरामश्च परीक्ष्य तत्रामदोषिणं
विधिनामपाकविधिना सम्यक्पाचनेन औषधेन उपाचरेत् । निरामश्च पुनः
इतरेण संशमनेनोपाचरेत् ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—तत्र पाचनयोगमाह—चित्रकमित्यादि । चित्रकमूलादिचव्यान्तं
चूर्णं वातश्लेष्माद्युते ग्रहणीगदे तथा सामे ग्रहणीगदे केचित् सामे पुरीष इति वदन्ति ।
आमश्च अनेकविधमाह । यदुच्यते—‘आममन्त्रसं केचित् केचित् तु मलसञ्चयम् । प्रथमं दोषदुष्टिञ्च
केचिदामं प्रचक्षते’ । भोजोऽप्याह—‘आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः । आद्यं
आहारधातुर्यः स आम इति संज्ञितः ।’ भद्रसेनोऽप्याह—‘एवमामाशयेऽप्यन्नं बहु सम्यङ्
न जोर्यति । चोयमानं तदेवात्र कालेनामत्वमाप्नुयात्’ इत्यादि । तदिहापि तद्वचन-
प्रामाण्याद् व्यवस्था कर्तव्या ॥ ३४ ॥

चक्रपाणिः—सामनिरामग्रहणीगदज्ञानार्थं सामनिरामविडलक्षणमाह—मज्जतीत्यादि । आमात्
गुरुत्वादिति आमाहितगुरुत्वात् । पक्काति आमनिरामयोः द्वयोरपि आमपक्कलक्षणयोः अपवादमाह—
विनातिद्रवेत्यादि । अतिद्रवत्वात् आमापि प्लवते । अतिसंहतत्वात् पक्कापि मज्जति । शैत्य-
श्लेष्मप्रदूषणात् पक्कापि निमज्जति । ननु सविष्टम्भप्रसेकार्त्तित्यत्र सामस्य लक्षणमुक्तम्, किमनेन
सामतालक्षणेन पुनरुक्तेन ? उच्यते, वातकफाधिकारात् तदुक्तं इदञ्च विडज्ञानार्थमुक्तम् इति
विशेषः । परीक्ष्येत्यादौ निरामं वा सदोषिणमिति । आमदोषशब्देन ग्रहणीदोषो नान्यत्र
अभिप्रेतः ॥ ३५ ॥

चक्रपाणिः—चित्रकमित्यादौ लवणानि चेत्यत्र कपिक्षलाधिकरणन्यायेन लवणत्रयमिच्छन्ति

गुड़िका मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा ।

कृता विपाचयत्यामं दीपयत्याशु चानलम् ॥ ३६ ॥

चित्रकाद्या गुड़िका ।

नागरातिविषामुस्त-काथः स्यादामपाचनः ।

मुस्तान्तकल्कः पथ्या वा नागरश्चोष्णवारिणा ॥

देवदारुवचामुस्ता-नागरातिविषाभयाः ।

वारुण्यामासुतास्तोये कोष्णे वालवणाः पिबेत् ॥

वर्चस्यामे सशूले च पिबेद् वा दाडिमाम्बुना ।

विडेन लवणं पिष्टं विल्वं चित्रकनागरम् ॥

सामे वा सकफे वाते कोष्ठशूलकरे पिबेत् ।

कलिङ्गहिङ्गुतिविषा-वचासौवर्चलाभयाः ॥

प्रत्येकं समम् एकत्र चूर्णयेत् । तच्चूर्णं मातुलुङ्गस्य रसेनाम्लदाडिमस्य रसेन वा मर्दयित्वा गुड़िका कृता भक्षितामं पाचयतीति । चित्रकाद्या गुड़िका ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—नागरेत्यादि । नागरादित्रयस्य काथ एकयोगः । मुस्तान्तानां तेषां नागरादीनां त्रयाणां कल्को द्वितीयः । पथ्या चूर्णितैवोष्णवारिणा पीता आमपाचनीति तृतीयः । नागरश्च चूर्णितमुष्णवारिणा पीतमामपाचनमिति चतुर्थः । देवदारुर्विति । देवदारुर्वादयोऽभयान्ता वारुण्यां संस्थिताः कालेनासुताः जातसन्धानाः पिबेदामपाचनीः । कोष्णे तोये वा आसुता जातसन्धानाः अलवणा ईषत्सेन्धवयुक्ताः पिबेत् । वर्चसीत्यादि । आमे सशूले च वर्चसि दाडिमत्वक्काथेन ताः अभयान्ताः चूर्णिताः पिबेत् । विडेनेत्यादि । विल्वमामं चित्रकमूलं नागरश्च त्रयं पिष्टं विडेन लवणेन लवणं कृत्वा सामे सकफे वा वाते कोष्ठे शूलकरे पिबेत् । कलिङ्गामिन्द्रयवः । कलिङ्गाद्यभयान्तान् चूर्णितान्

किन्तु अनियते स न्यायो भवति इह तु पञ्चलवणानां प्राधान्येन दीर्घजीविताये निर्दिष्टत्वात् पञ्चलवणस्यैव स्वशक्त्योत्पादनत्वात् पञ्चैव लवणानि ग्राह्याणि ॥ ३६ ॥

चक्रपाणिः—मुस्तान्तकल्क इति उक्तनागरादिकल्क इत्यर्थः । चूर्णानि कृत्वा पिप्पली-

छर्द्दार्शोग्रन्थिशूलेषु पेयमुष्णेन वारिणा ।
 पथ्यासौवर्चलाजाजी-चूर्णं मरिचसंयुतम् ॥
 पिप्पलीमूलमभयां वचां कटुकरोहिणीम् ।
 पाठां वत्सकबीजानि चित्रकं विश्वभेषजम् ॥
 पिबोन्नःकाथ्य चूर्णानि कृत्वा चोष्णेन वारिणा ।
 पित्तश्लेष्माभिभूतायां ग्रहण्यां शूलनुद्धितम् ॥
 सामे सातिविषं व्योषं लवणक्षारहिङ्गमतु ।
 निःकाथ्य पाययेच्चूर्णं कृत्वा वा कोष्णवारिणा ॥ ३७ ॥
 पिप्पलीं नागरं पाठां शारिवां बृहतोद्वयम् ।
 चित्रकं कौटजं बीजं लवणान्यथ पञ्च च ॥
 तच्चूर्णं सयवक्षारं दध्युष्णाम्बुसुरादिभिः ।
 पिबेदग्निविवृद्धार्थं कोष्ठवातापहं नरः ॥ ३८ ॥
 पिप्पल्याद्यं चणम् ।

मरिचौकुञ्चिकाम्बुष्ठा-वृक्षाम्लकुडवान् पृथक् ।
 दशाम्लवेतसपलानीमांश्चापि पलांशिकान् ॥

कृत्वा उष्णेन वारिणा पिबेत् छर्द्दादिषु पथ्यादिमरिचान्तं चूर्णमुष्णेन
 वारिणा पिबेत् । पिप्पलीमूलमित्यादि । पिप्पलीमूलादि-विश्वभेषजान्तं
 निःकाथ्य पिबेत् अथवा चूर्णं कृत्वा उष्णवारिणा पिबेदिति । इति पिप्पल्यादि-
 दशकम् । ग्रहण्यां नाड्यां पित्तश्लेष्माभिभूतायां शूलनुत् शूलप्रशमनं हितम्
 इति । साम इत्यादि । सामे पित्तश्लेष्मदोषे अतिविषासहितं व्योषं निःकाथ्य
 लवणक्षारहिङ्गयुक्तं पिबेदथवा चूर्णं कृत्वा कोष्णवारिणा पिबेत् ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—पिप्पलीमित्यादि । पिप्पल्यादीनि यवक्षारान्तानि चूर्णं कृत्वा
 दध्युष्णान्यतमेन नरः पिबेत् । पिप्पल्याद्यं चूर्णम् ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—मरिचेत्यादि । औकुञ्चिका कृष्णजीरकः । मरिचादीनां प्रत्येकं

मूलाद्ये वमादीनि पिबेदित्यनुवर्त्तते । सामे दोषे सति पिप्पलीमूलादिषु अतिविषादि प्रक्षिप्य चूर्णं
 कृत्वा चोष्णेन वारिणा पिबेत् । सुरादिभिरित्यत्र सुराशब्देन काञ्जिकसौवीरादिग्रहणम् ॥ ३७ । ३८ ॥

सौवर्चलं विडं पाक्यं यवचारं ससैन्धवम् ।

शटीपुष्करमूलानि हिङ्गु हिङ्गुशिराटिका ॥

तत्सर्वमेकतः सूक्ष्मं चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् ।

हितं वाताभिभूतायां ग्रहणायामरुचौ तथा ॥ ३६ ॥

मरिचाद्यं चूर्णम् ।

चतुर्णां प्रस्थमम्लानां त्र्यूषणस्य पलत्रयम् ।

लवणानाञ्च चत्वारि शर्करायाः पलाष्टकम् ॥

तच्चूर्णं शाकसूपान्न-रागादिष्ववचारयेत् ।

कासाजीर्णारुचिश्वास-हृत्पाण्डामयशूलनुत् ॥ ४० ॥

कुड्ममल्लवेतसपलानि दश । इमान् वक्ष्यमाणान् सौवर्चलादीन् अपि पलांशिकान् नीत्वा तत्सर्वमेकतः सूक्ष्मचूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् दध्यादिभिः । वाताभिभूतायां ग्रहण्यां हितं तथाऽरुचौ च । अत्र पाक्यं पांशुजलव्रणम् । हिङ्गुशिराटिका हिङ्गुपत्री । हिङ्गुपत्री वेणपत्री नाडी हिङ्गुशिराटिकेति पर्यायाः । लोके वेणुपातनामवनजविशेषः । मरिचाद्यं चूर्णम् ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—चतुर्णामित्यादि । चतुर्णामम्लानामल्लवेतसद्वृक्षाम्लकोलदादिमानां प्रस्थं प्रत्येकन्तु कुड्ममानं स्वरसम् त्र्यूषणस्य । प्रत्येकं पलं मिलितस्य पलत्रयम् । लवणानाञ्च चतुर्णां सैन्धवसौवर्चलविडौद्भिदानां प्रत्येकमेकपलं मिलित्वा चत्वारि पलानि । शर्करायाः पलाष्टकमिति । तत्सर्वमेकीकृत्य संशोष्य चूर्णं कृत्वा शाकादिष्ववचारयेत् । इत्यवचारणचूर्णम् ॥ ४० ॥

चक्रपाणिः—चतुर्णां प्रस्थमम्लानामित्यत्र चतुरमलं वृक्षाम्लल्लवेतसदादिमबदररूपमाहुः । अन्ये तु चव्यत्वगित्यादिप्रयोगवक्ष्यमाणकपित्थचुक्रिकावृक्षाम्लदादिमानां गणमाहुः । तन्मान्तरे तु “वृक्षामलं मातुलुङ्गामलं बदरज्जामल्लवेतसम् । चतुरमलमिदं प्रोक्तं पञ्चामलन्तु सदादिमम्” इत्युक्तम् । त्र्यूषणाञ्च पलत्रयमिति मिलितान् पलत्रयम् । रागः कपित्थादिद्रव्यकृतो व्यञ्जनविशेषः ॥ ३९ । ४० ॥

चव्यत्वक्पिप्पलीमूल-धातकीव्योषचित्रकान् ।
 कपित्थाम्बष्ठकोहस्ति-पिप्पलीविल्वशाल्मलम् ॥
 शिलोद्भेदं तथाजार्जीं पिष्ट्वा बदरसम्मिताम् ।
 घृतेन भर्जितां दध्ना यवागूं साधयेद् भिषक् ॥
 रसैः कपित्थचुक्रोका-वृक्षाम्लैर्दाडिमस्य च ।
 सर्वातिसारग्रहणी-रोगार्शःप्लीहनाशिनीम् ॥ ४१ ॥
 पञ्चकोलकयूषश्च मूलकानाञ्च सोषणः ।
 स्निग्धो दाडिमतक्राम्लो जाङ्गलः संस्कृतो रसः ॥
 क्रव्यादस्य रसः शस्तो भोजनार्थे सदीपनः ।
 तक्रारनालं पानार्थं मद्यं वारिष्टमेव वा ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—चव्येत्यादि । अम्बष्ठकी पाठा । विल्वशलाट्टः । शाल्मलं
 शाल्मलीवेष्टम् । शिलोद्भेदं शालिञ्चः । सर्वांमोषधिं बदरसम्मितां कोल-
 परिमाणां पिष्ट्वा कल्कं दत्त्वा क्षुद्रतण्डुलान् यवागूमग्निललापेक्षया मण्डपेया-
 विलप्यन्यतमां चतुर्दशगुणषड्गुणचतुर्गुणदध्ना पक्त्वा घृते भर्जितां साधयेत् ।
 एवं कपित्थरसेन चुक्रोकारसेन च वृक्षाम्लरसेन च दाडिमाम्लरसेन च तथैव
 यवागूं साधयेदिति पञ्चयवागूविधानम् । यवागूः ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—पञ्चकोलकेत्यादि । पञ्चकोलस्य कल्कसाध्यो वा काथसाध्यो
 वा मुद्गादियूषः सोषणः समरिचः । मूलकानां शुष्काणां काथकल्कान्यतरेण
 साधितः सोषणश्च मुद्गादीनां यूषः । जाङ्गलो रसः हरिणादिमांसरसः दाडिम-
 रसतक्राभ्यां कृताम्लो घृतेन स्निग्धो मरिचलवणादिना संस्कृतः । एवं
 क्रव्यादमांसस्य रसः मरिचादिर्वह्निदीपनद्रव्यसाधितो ग्रहणीदोषवतां भोजनार्थं
 उक्तयवागूभोजनार्थं शस्तो भवति । पानार्थं तक्रमारनालं मद्यमरिष्टं वा
 शस्तमिति ॥ ४२ ॥

चक्रपाणिः—चव्येत्यादौ शाल्मलं शाल्मलीवेष्टकम् । शिलोद्भवं शैलजम् । चुक्रिका
 चाङ्गेरी ॥ ४१ ॥

चक्रपाणिः—सोषण इति समरिचः ॥ ४२ ॥

ग्रहणीदोषिणां तक्रं दीपनं ग्राहि लाघवात् ।
 पथ्यं मधुरपाकित्वान्न च पित्तप्रकोपणम् ॥ .
 कषायोष्णविकाशित्वाद् रौक्ष्याच्चापि कफे हितम् ।
 वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत् ॥
 तस्मात् तक्रप्रयोगा ये जठराणां तथार्शसाम् ।
 विहिता ग्रहणीदोषे सर्व्वशस्तान् प्रयोजयेत् ॥ ४३ ॥
 यमान्यामलकं पथ्या मरिचं त्रिपलांशिकम् ।
 लवणानि पलांशानि पञ्च चैकत्र चूर्णयेत् ॥

गङ्गाधरः—तत्र तक्रस्य विशेषमाह—ग्रहणीत्यादि । लाघवात् तक्रं ग्राहि ।
 ग्रहणीदोषिणां वद्धिदीपनं मधुरपाकित्वात् पथ्यम् । न च पित्तप्रकोपणम् । तर्हि
 किं कफवर्द्धनं मधुरपाकित्वादित्यत आह—कषायेत्यादि । कषायादिगुणाः
 कफगुणविरोधिनः, तस्मात् तक्रं कफे हितं प्राग् विकारात् । विकाशी
 विकशत्येव सन्धिवन्धं विमोक्षयन्निति । विपाके मधुररसेन पित्तं शमयति ।
 तर्हि चाम्लत्वेन प्रथमं किं पित्तप्रकोपणं तक्रं कषायत्वाद् वातप्रकोपणमित्यत
 आह—वात इत्यादि । स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् वाते हितम् । तद्वम्लमपि सद्यस्कं न
 विदाहि भवति तेन न पित्तप्रकोपि । विरुद्धगुणसमवाये भूयसाऽल्पमवजीयते ।
 तेन रुक्षकषायौ वातवर्द्धनौ स्वाद्वम्लसान्द्रा गुणा भूयांसोऽवजयन्ति न वातं
 वर्द्धयति कषायरौक्ष्यम् । कषायोष्णविकाशिरौक्ष्यगुणैरवजिताः स्वाद्वम्लसान्द्रा
 न कफं वर्द्धयन्ति, अम्लोष्णविकाशिगुणाः कषायस्वादुसान्द्रगुणैर्मधुरपाकेण
 चावजिताः पित्तं न वर्द्धयन्ति । प्रागुक्तं—रसं विपाकस्तौ वीर्य्यं प्रभावस्तान्य-
 पोहति । इति । तस्मात् जठराणामुदराणां तथार्शसां ये तक्रप्रयोगा
 विहितास्तांस्तक्रप्रयोगान् ग्रहणीदोषे सर्व्वशः प्रयोजयेत् इह चाह ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—यमानीत्यादि । यमान्यादिकं प्रत्येकं त्रिपलांशिकम् । पञ्च-

चक्रपाणिः—ग्रहणीत्यादिना तक्रगुणविधारणं मधुरपाकित्वात् न च पित्तप्रकोपणम् । अम्लत्वात्
 पित्तप्रकोपणे प्राप्ते मधुरपाकित्या पित्तं न प्रकोपयति । सद्यस्कम् अविदाहीति सद्यो मथितमेव
 तक्रं पच्यमानावस्थायां न विदाहकृद् भवति । किञ्चित्कालस्थितन्तु विदाहि भवत्येव ॥ ४३ ॥

तक्रकंसासुतं जातं तक्रारिष्टं पिबेन्नरः ।

दीपनं शोफगुल्मार्शः-क्रिमिमेहोदरापहम् ॥ ४४ ॥

तक्रारिष्टम् ।

स्वस्थानगतमुत्क्रिष्टमग्निनिर्वापकं भिषक् ।

पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद् वमनेन वा ॥

अविदाहिभिर्गन्धैश्च लघुभिस्तिसंयुतैः ।

जाङ्गलानां रसैर्यूषमृदादीनां खडैरपि ॥

दाडिमाम्लैः ससर्पिष्कैर्दीपनग्राहिसंयुतैः ।

तस्याग्निं दीपयेच्चूर्णैः सर्पिर्भिश्चापि तित्तकैः ॥ ४५ ॥

लवणानि पलांशानि प्रत्येकं सर्वमेकत्र चूर्णयेत् । तच्चूर्णं तक्रकंसे षोडशशरावे प्रक्षिप्य स्थापयेत्, तत् तक्रकंसासुतं तक्रारिष्टं भवति—तत् दीपनादिगुणं नरो ग्रहणीदोषी पिबेत् । अत्र स्थापनकालानुक्तौ कालमानमाह—“स्निग्धे भाजनके भिषग् विनिहितं त्रीन् वासरान् स्थापयेत् । ग्रीष्मे तोयधरात्यये च चतुरो वर्षासु पुष्पागमे । षट् शीतेऽष्टदिनान्यतः परमिदं जातं प्रयोज्यं बुधैः” इति । तक्रारिष्टम् ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—पित्तग्रहणीरोगचिकित्साविशेषमाह—स्वस्थानेत्यादि । स्वस्थानस्थं द्रवं ग्रहणीरोगकरं पित्तमग्निनिर्वापकं ज्ञात्वा भिषक् विरेचनेन निर्हरेत् । उत्क्रिष्टं ज्ञात्वा वमनेन निर्हरेत् । निहृत्य चाहारार्थं यद् देयं तदाह—अविदाही-त्यादि । अविदाहिभिर्लघुभिर्गन्धैश्च लघुभिस्तिसंयुतैः तित्तद्रव्यकृतव्यञ्जनः जाङ्गलानां मांसरसैः मुद्गादीनां यवैः खडैरम्लैर्दाडिमरसेनाम्लैर्मुद्गादीनां यूषैः ससर्पिष्कैः सर्पिषि संभृष्टैः प्राक्षिप्तसर्पिष्कैर्दीपनग्राहिभिर्मरिचजीरकादियुक्तैराहारैस्तस्य विरिक्तस्य वमितस्य चाग्निं दीपयेत् । एवं चूर्णैः तित्तकैः सर्पिर्भिश्च तस्याग्निं दीपयेत् ॥ ४५ ॥

चक्रपाणिः—यमानीत्यादौ कंस इति आढकं, जातमिति अम्लरसतया जातम् ॥ ४४ ॥

चक्रपाणिः—वमनेन वेत्युद्धृगपित्तापेक्षया ज्ञेयम् । सर्पिर्भिश्चापि तित्तकैरित्यत्र व्याख्यायं बहुलवचनं किंवा कुष्ठोक्तं तित्तघृतद्वयम् अन्यच्च तित्तसाजितं घृतमिति बहुवचनं साधु ॥ ४५ ॥

चन्दनं पद्मकोशोरं पाठां मूर्ध्वां कुटन्नटम् ।
 षड्ग्रन्थाशारिवास्फोता-सप्तपर्णाटरूपकान् ॥
 पटोलोडुम्बराश्वत्थ-वटप्लक्षकपीतनान् ।
 कटुकारोहिणीमुस्तं निम्बश्च द्विपलांशिकम् ॥
 द्रोणेऽपां साधयेत् पाद-शेषं प्रस्थं घृतात् पचेत् ।
 किराततिक्तेन्द्रयव-वीरामागधिकोत्पलैः ॥
 कल्कैरक्षसमैः पेयं तत् पित्तग्रहणीगदे ।
 तिक्तकं यद् घृतञ्चोक्तं कौष्ठिके तच्च दापयेत् ॥ ४६ ॥
 चन्दनाद्यं घृतम् ।

नागरातिविषामुस्तं धातकीं सरसाञ्जनम् ।
 वत्सकत्वक् फलं विल्वं पाठां तिक्तकरोहिणीम् ॥
 पिबेत् समांशं तच्चूर्णं सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना ।
 पैत्तिके ग्रहणीदोषे रक्तं यच्चोपवेश्यते ॥
 अर्शांस्यथ गुदे शूलं जयेच्चैव प्रवाहिकाम् ।
 नागराद्यमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण पूजितम् ॥ ४७ ॥
 नागराद्यं चूर्णम् ।

गङ्गाधरः—तत्रादौ तिक्तकसपिराह—चन्दनमित्यादि । चन्दनादिकं प्रत्येकं द्विपलांशिकम् अपां द्रोणे पक्त्वा साधयेत् पादशेषम् । तेन घृतात् प्रस्थं किराततिक्तादिभिरक्षसमैः कल्कैः पचेत् । तत् पक्वं घृतं पित्तग्रहणीगदे पेयम् । एवं कौष्ठिके कुष्ठचिकित्सिते यत् तिक्तकं पञ्चतिक्तघृतादिकमुक्तं तच्च पित्तग्रहणीगदे दापयेत् । चन्दनाद्यं घृतम् ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—चूर्णमाह—नागरेत्यादि । नागरादिकं प्रत्येकं समांशं चूर्णं मिश्रयित्वा तण्डुलाम्बुमधुभ्यां गोलयित्वा पिबेत् । नागराद्यं चूर्णम् ॥ ४७ ॥

चक्रपाणिः—कुटन्नटं कैवर्त्तमुस्तकम्, षड्ग्रन्था वचा, आरफोता अस्फुरमल्लिका, कपीतनो गर्हभाण्ड इति ख्यातः ॥ ४६

चक्रपाणिः—नागराद्यं सक्षौद्रमिति मधुप्रक्षेपयुक्तम् । तण्डुलाम्बुनेति तण्डुलधावनाम्बुना

भूनिम्बकटुकाव्योष-मुस्तकेन्द्रयवान् समान् ।

द्वौ चित्रकाद् वत्सकत्वग्-भागान् षोडश चूर्णयेत् ॥

गुडशीताम्बुना पीतं ग्रहणं दोषगुल्मनुत् ।

कामलाज्वरपाण्डुत्व-मेहारुच्यतिसारनुत् ॥ ४८ ॥

भूनिम्बाद्यं चूर्णम् ।

वचामतिविषां पाठां सप्तपर्णं रसाञ्जनम् ।

श्योनाकोदीच्यकटुङ्ग-वत्सकत्वग्दुरालभाः ॥

दाव्वीर्षपटकं पाठां यमानीं मधुशिग्रुकम् ।

पटोलपत्रं सिद्धार्थान् यूथिकां जातिपल्लवान् ॥

जम्बाम्रविल्वमध्यानि निम्बशाकफलानि च ।

तद्रोगशममन्विच्छन् भूनिम्बाद्येन योजयेत् ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—भूनिम्बेत्यादि । भूनिम्बादीन् समानांशान् चित्रकाद् द्वौ भागावेकद्रव्यापेक्षया वत्सकस्य कुटजस्य त्वचः षोडश भागानेकभागापेक्षया चूर्णयेत् । गुडशीताम्बुना पीतं तच्चूर्णं ग्रहण्यादिनुत् । भूनिम्बाद्यं चूर्णम् ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—वचामित्यादि । श्योनाकस्य कटुङ्गशब्देन पुनरुक्तत्वाद भागद्वयम्, जम्बाम्रविल्वानां मध्यानि शस्यानि न तु बीजानि, निम्बस्य शाकं पत्रं फलानि च । भूनिम्बाद्येन यथोक्तमानेन वचादीनीमानि प्रथम-भागसमानि प्रत्येकं योजयेत् तद्भूनिम्बादिचूर्णवचनोक्तरोगशममन्विच्छन् ग्रहणीदोषवान् नर इति ॥ ४९ ॥

अन्ये तु तण्डुलाद् द्विगुणश्च तण्डुलेन समं चिरस्थितं तत् तण्डुलाम्बु वदन्ति । कृष्णात्रयेण पूजितत्वोपदर्शितम् अस्य सिद्धयोगत्वं दृश्यते । कृष्णात्रेयः पुनर्वसुरभिज्ञाविति बोध्यम् ॥ ४७ ॥

चक्रपाणिः—भूनिम्बाद्ये गुडयुतं शीताम्बु । गुडश्चाल माधुर्यापत्तिमात्रो ज्ञेयः ॥ ४८ ॥

चक्रपाणिः—वचामित्यादौ श्योनाककटुङ्गशब्दाभ्यां द्वावपि श्योनाकौ गृह्येते । तद्-रोगशममन्विच्छन्निति भूनिम्बादुक्तग्रहणीदोषादिरोगशान्तिं काङ्क्षन्, भूनिम्बाद्येनेति भूनिम्बादुक्त-द्रव्यगणेन यथोक्तमानेन योजयेत् वचादीनि । अपरे तु भूनिम्बाद्येनेति वचनेन भूनिम्बादुक्त-गुडशीताम्बुपेयतामतिदिशतीति वदन्ति ॥ ४९ ॥

किराततित्तं षड् ग्रन्था त्रायमाणा कटुत्रिकम् ।

चन्दनं पद्मकोशीरं दाव्वीत्वक् कटुरोहिणी ॥

कुटजत्वक्फलं मुस्तं यमानी देवदारु च ।

पटोलनिम्बपत्रैला-सौराष्ट्रातिविषात्वचः ॥

मधुशिग्रोश्च बीजानि मूर्वा पर्यटकं तथा ।

तच्चूर्णं मधुना लेह्यं पेयं मदैर्जलेन वा ॥

हृत्पाण्डुग्रहणीरोग-गुल्मशूलारुचिज्वरान् ।

कामलां पाण्डुरोगश्च मुखरोगश्च नाशयेत् ॥ ५० ॥

किराताद्यं चणम् ।

ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथाविधि ।

कटुम्ललवणचारैस्तित्तैश्चाग्निं विवर्द्धयेत् ॥

पलाशं चित्रकं चव्यं मातुलुङ्गं हरीतकी ।

पिप्पली पिप्पलीमूलं पाठाधान्यकनागरम् ॥

कार्षिकाण्युदकप्रस्थे पक्त्वा पादावशेषितैः ।

पानार्थं तत् प्रयुञ्जीत यवागूं तश्च साधयेत् ॥ ५१ ॥

गङ्गाधरः—किराततित्तमित्यादि । दाव्वीत्वक् दाव्वीत्वक् कुटजस्य त्वक् च फलश्च पटोलनिम्बयोः पत्रं सौराष्ट्री मृत् फटीकारी । त्वक् कुटजत्वक् मधुशिग्रो रक्तशोभाञ्जनस्य बीजानि । किरातातित्तादीनि समानि चूर्णीयत्वा तच्चूर्णं मधुना लेह्यं मद्यैर्जलेन वा पेयम् । हृदित्याद्याशीः । किराताद्यं चूर्णम् ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—पित्तग्रहणीरोगचिकित्सितमुक्त्वा श्लैष्मिकचिकित्सितमाह—ग्रहण्यामित्यादि । यथाविधि वमितस्य श्लैष्मिकग्रहणीदोषवतो जनस्य कट्वादिरसद्रव्यैरग्निं विवर्द्धयेत् । अग्निविवर्द्धनयोगमाह—पलाशमित्यादि । अत्र पलाशं शटीमूलं मातुलुङ्गस्य फलमध्यस्थकेशरम् । एषां मिलितानां

शुष्कमूलकयूषेण कौलत्थेनाथवा पुनः ।
 कटुम्लक्षारपटुना लघून्यन्नानि भोजयेत् ॥
 अम्लश्चानुपिबेत् तक्रं तक्रारिष्टमथापि वा ।
 मदिरां मध्वरिष्टं वा निगदं सोधुमेव वा ॥ ५२ ॥
 द्रोणं मधूकपुष्पाणां विडङ्गश्च ततोऽर्द्धतः ।
 चित्रकस्य ततोऽर्द्धश्च तथा भल्लातकादकम् ॥

काषिकाणि उदकप्रस्थे पक्त्वा पादशेषं पानार्थं तत् प्रयुञ्जीत । तश्चोदकैर्मण्ड-
 पेयाविलेपीनामन्यतमां यवागूं साधयेत् ॥ ५१ ॥

गङ्गाधरः—एवं मण्डादिक्रमेण लघ्वाहारेणाग्निवृद्धौ भोजनार्थमाह—
 शुष्केत्यादि । कटुम्लक्षारपटुना मरिचादिभिः कटुना कपित्थादिनाम्लेन
 यवक्षारादिना क्षारेण सैन्धवादिभिः पटुना लवणेन शुष्कमूलकस्य काथकल्कयो-
 रन्यतरेण सिद्धेन मुद्रादियूषेण केवलेन कौलत्थेन यूषण वा कट्वादिना
 लघूनि रक्तशाल्यादीनामन्नानि भोजयेत् पीतमण्डादिना विट्वाग्निं
 श्लेष्मग्रहणीरोगिणमिति । तदन्नभोजनानन्तरमम्लं तक्रं तक्रारिष्टं वा मदिरां
 वा मध्वरिष्टं वा निगदसंज्ञं वा सीधुं वा पिबेन्न तु जलं पिबेत् । तक्रमम्लं
 प्रसिद्धं तक्रारिष्टमुक्तं मदिरा च प्रसिद्धा ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—तद्विशेषानासवानाह—द्रोणमित्यादि । मधूकपुष्पाणामार्द्राणां
 द्रोणं चतुःषष्टिशरावं शुष्काणां द्वात्रिंशच्छरावं ततोऽर्द्धतः षोडशशरावं
 विडङ्गं शुष्कत्वादार्द्राणां नवत्वादयौगिकत्वात् । उक्तं हि—“द्रव्याण्यभिनवान्येव
 प्रशस्तानि क्रियाविधौ । ऋते गुडघृतक्षौद्र-धान्यकृष्णाविडङ्गतः ।” इति । चित्र-
 कस्य आर्द्रस्य ततोऽर्द्धतोऽष्टशरावं शुष्कस्यार्द्रस्य तु षोडशशरावमेव । उक्तं हि—
 “शुष्कद्रव्येष्विदं मानं द्विगुणं तद्द्रवादयोः” इति । शुष्कस्य तु चित्रकस्य
 अष्टशरावमेव ततोऽर्द्धतो भवति । तथा भल्लातकफलस्यादकमष्टशरावं

चक्रपाणिः—ग्रहण्यामित्यादि । स तु पानार्थं कटुम्लक्षारपटुनेति कट्वादियोगात् (संस्कृतं
 शुष्कमूलकयूषं कौलत्थयूषं वा उपयुञ्जीत न तु जलं, तेनैव यूषेण लघून्यन्नानि भुञ्जीत ।)
 कफग्रहण्यां सद्यस्कमेव यद्यपि कपायत्वात् तक्रमुचितम्, तथापि अग्निदीपनतया अम्लमेव तक्रं
 अम्लञ्च अनुपिबेदित्यनेनैवोक्तम् । निगदं सीधुमिति निर्दोषं सीधुम् ॥ ५०—५२ ॥

मज्जिष्ठात्रिपलञ्चैवं त्रिद्रोणेऽपि विपाचयेत् ।
 द्रोणशेषश्च तच्छीतं मध्वाद्धादिकसंयुतम् ॥
 एलामृणालागुरुभिश्चन्दनेन च रूपितै ।
 कुम्भे मासस्थितं जातमासवं तं प्रयोजयेत् ॥
 ग्रहणीं दीपयत्येष वृंहणोऽनिलरोगजित् ।
 शोथकुष्ठकिलासानां प्रमेहाणाञ्च नाशनः ॥ ५३ ॥

मधूकासवः ।

मधूकपुष्पस्वरसं शृतमर्द्धक्षयीकृतम् ।
 क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्व्ववत् सन्निधापयेत् ॥
 तं पिवन् ग्रहणीदोषान् जयेत् सर्व्वान् हिताशनः ।
 तद्वद् द्राक्षेक्षुकाश्मर्य्य-स्वरसानासुतान् पिबेत् ॥ ५४ ॥

आसवाः ।

मज्जिष्ठायास्त्रिपलञ्च एवं सर्व्वमपां त्रिद्रोणे द्विनवत्युत्तरशतशरावे पाचयेत् ।
 द्रोणशेषं चतुःषष्टिशरावावशिष्टं तत् कथितं शीतं कृत्वा मधुनोऽर्द्धादिक-
 मष्टशरावं तत्र दत्त्वा एलादिकल्केन घृतकुम्भोदरे रूपिते प्रलिप्ते मासं
 स्थापयेत् । मासस्थितं जातं भवति तमासवं तदन्नभोजनादनु पानं प्रयोजयेत् ।
 स च मधूकासवो ग्रहणीमित्याद्याशीः ॥ ५३ ॥

गङ्गाधरः—अपरमासवमाह—मधूकेत्यादि । आर्द्रं मधूकपुष्पं कुट्टयित्वा
 स्वरसः कार्य्यस्तं स्वरसं शृतं पक्वमर्द्धक्षयीकृतं शीतं यदा तदा तत्पक्वस्वरसस्य
 चतुर्थांशं मधु दत्त्वा पूर्व्ववत् एलादिकल्करूपिते घृतकुम्भे मासं निधापयेत् ।
 तं लघ्वन्नभोजनादनु पिवन् ग्रहणीदोषान् सर्व्वान् जयेत् । अपरश्चासव-
 माह—तद्वदित्यादि । द्राक्षादीनां प्रत्येकं स्वरसान् तद्वदासुतान् पिबेत् ।
 द्राक्षास्वरसं शृतमर्द्धक्षयीकृतं शीतीकृतं तत्पादांशमधुयुतम् एलादिकल्कलिप्ते
 घृतकुम्भे मासं स्थापयेत् । (द्राक्षासवः) । एवमिक्षुस्वरसम् अर्द्धशृतं शीतं

चक्रपाणिः—अर्द्धक्षयीकृतमिति पाकादर्द्धवशिष्टं कृतं, पूर्व्ववत् सन्निधापयेदिति एलादिलिप्ते
 कुम्भे संस्थापयेत् । तद्वदिति एलादिलिसवृहत्कुम्भस्थान् ॥ ५३ । ५४ ॥

दुरालभाया द्विप्रस्थं प्रस्थमामलकस्य च ।
 मुष्टी चित्रकदन्त्योद्वे प्रत्यग्रश्चाभयाशतम् ॥
 चतुर्द्रोणोऽम्भसः पक्त्वा शीतं द्रोणावशेषितम् ।
 सगुडद्विशतं पूतं मधुनः कुड़वायुतम् ॥
 तद्वत् प्रियङ्गोः पिप्पल्या विडङ्गानाञ्च चूर्णितैः ।
 कुड़वैर्घृतकुम्भस्थं पक्षादूर्ध्वं पिबेन्नरः ॥
 ग्रहणीपाण्डुरोगार्शः-कुण्ठवीसर्पमेहनुत् ॥
 स्वरवर्णकारश्चैव रक्तपित्तकफापहः ॥ ५५ ॥
 द्विपञ्चमूल्यौ रजनी-वीरर्षभकजीवकान् ।
 पृथक् पञ्चपलान् भागांश्चतुर्द्रोणोऽम्भसः पचेत् ॥

पादांशमधुयुतम् एलादिकल्कलिप्तघृतकुम्भे मासं स्थापयेत् । (इक्ष्वासवः) । एवं
 काशमर्यास्य गाम्भारीफलस्य स्वरसं पक्वमर्द्धक्षयीकृतं शीतीकृतं पादांशमधुयुतम्
 एलादिकल्करूपिते घृतकुम्भे मासं स्थापयेत् । (काशमर्यासवः) । द्राक्षा-
 काशमर्यायोः स्वरसाभावे शुष्कद्राक्षां शुष्कगाम्भारीफलं काथविधिनाष्टगुणे जले
 पक्त्वा चतुर्थभागावशेषितः स्वरसो ग्राह्यस्तं पूतं पुनरर्द्धक्षयीकृतं पक्वं शीतं
 पादांशमधुयुतमेलादिकल्करूपिते घृतकुम्भे मासं स्थापयेत् । जातं तमासवं
 लघ्वन्नभोजनादनु पिबेत् । इत्यासवाः पञ्च ॥ ५४ ॥

गङ्गाधरः—अपरश्चासवमाह—दुरालभाया इत्यादि । दुरालभायाः प्रस्थ-
 द्वयमामलकस्य प्रस्थं चित्रकमूलस्य मुष्टिः पलं दन्तीमूलस्य मुष्टिः पलमिति द्वे
 मुष्टी चित्रकदन्त्योः । प्रत्यग्रं परिपूर्णवीर्यप्रभयाशतं शतगुडं न तु शतमुष्टिं
 पानीयत्वादासवस्य । तत् सव्वेदम्भसश्चतुर्द्रोणे पक्त्वा द्रोणावशेषितं पूत्वा
 शीतं कृत्वा गुडद्विशतपलसहितं कुड़वमितमधुयुतं प्रियङ्गुप्रभृतीनां प्रत्येकं
 चूर्णितैः कुड़वमितैः सहितं तद्वत् पूर्व्ववेदलादिकल्कलिप्तघृतकुम्भस्थं पक्षं
 जातं भवति न तु मासम् । पक्षादूर्ध्वं नरो लघ्वन्नभोजनादनु पिबेत् ।
 दुरालभासवः ॥ ५५ ॥

गङ्गाधरः—द्विपञ्चेत्यादि । द्वे पञ्चमूल्यौ दशमूली । वीरा शालपर्णी ।

चक्रपाणिः—चित्रकदन्त्योर्मुष्टी द्वे इति मिलित्वा द्विपलम् ॥ ५५ ॥

द्रोणशेषे रसे पूते गुडस्य द्विशतं भिषक् ।
 चूर्णितान् कुड्वार्द्धांशान् दद्याच्चात्र समाक्षिकान् ॥
 प्रियङ्गुमुस्तमञ्जिष्ठा-विडङ्गमधुकप्लवान् ।
 लोध्रं सावरकञ्चैव मासार्द्धं तं पिबेत् ततः ॥
 एष मूलासवः सिद्धो दीपनो रक्तपित्तनुत् ।
 आनाहकफहृद्रोग-पाण्डुरोगाङ्गसादनुत् ॥ ५६ ॥

मूलासवः ।

प्रास्थिकीं पिप्पलीं पिष्ट्वा गुडं मध्यविभीतकात् ।
 उदकप्रस्थसंयुक्तं यवपल्ले निधापयेत् ॥
 तस्मात् पलं सुजातात् तु सलिलाञ्जलिसंयुतम् ।
 पिबेत् पिण्डासवो ह्येष रोगानीकविनाशनः ॥
 स्वस्थोऽप्येनं पिबेन्मासं नरः सिद्धरसायनम् ।
 इष्ठस्तैषामनुत्पत्तिं रोगाणां ये प्रकीर्त्तिताः ॥ ५७ ॥

पिण्डासवः ।

ऋषभ इषह इति ख्यातः । जीवको जियाला इति लोके । एषां प्रत्येकं पञ्च-
 पलान् भागान् अम्भसश्चतुर्द्वारेण पचेत् द्रोणेऽवशेषे रसे पूते पुराणगुडस्य द्विशत-
 पलं दत्त्वा गोलयित्वा पूत्वा प्रियङ्गादीनां चूर्णान् प्रत्येकं कुड्वार्द्धांशान् द्विपल-
 मितान् समाक्षिकान् द्विपलमाक्षिकञ्च दद्यात् । सावरकं लोध्रं पट्टिकालोध्रं
 श्वेतवल्कलम् । पूर्ववदेलादिकल्कलिप्ते घृतकुम्भे मासं स्थापयेत् । मासादूर्द्ध
 लध्वन्नभोजनादनु तं पिबेत् । शेषमाशिषः । मूलासवः ॥ ५६ ॥

गङ्गाधरः—प्रास्थिकीमित्यादि । पिप्पलीप्रस्थं शरावद्वयं पिष्ट्वा मध्याकृति-
 विभीतकाद् गुडं गुडकं प्रास्थिकमपिष्ट्वा गुडकवचनाद् । द्वयमेतदुदकप्रस्थसंयुतं
 (मध्याकृतिविभीतकात् प्रस्थं गुडं गुडस्य प्रास्थिकमपि त्रयमेतदुदकप्रस्थसंयुतं)
 यवपल्ले सतृणयवराशौ निधापयेत् । मासस्थितात् सुजातात् तस्मात्
 पिण्डासवात् पलं सलिलाञ्जलिसंयुतं पिबेत् । एष पिण्डासवो रोगानीक-
 विनाशन इत्यादि । पिण्डासवः ॥ ५७ ॥

चक्रपाणिः—प्रास्थिकीमित्यादौ पिप्पलीगुडविभीतकमज्जा प्रत्येकं प्रस्थः ॥ ५६ । ५७ ॥

नवे पिप्पलिमध्वाक्ते कलसेऽगुरुधूपिते ।
 मध्वाढकं जलसमं चूर्णानीमानि दापयेत् ॥
 कुड़वाद्धं विड़ङ्गानां पिप्पल्याः कुड़वं तथा ।
 चातुर्थिकांशां त्वक्क्षीरं केशरं मरिचानि च ॥
 त्वगेलापत्रकशटी-क्रमुकातिविषाघनम् ।
 हरेरेवेलुकतैजोह्वा-पिप्पलोमूलचित्रकान् ॥
 कार्षिकांस्तं स्थितं मासमत ऊर्द्धं प्रयोजयेत् ।
 मन्दं सन्दीपयत्यग्निं करोति विषमं समम् ॥
 हृत्पाण्डुग्रहणीरोग-कुष्ठार्शःश्वयथुज्वरान् ।
 वातश्लेष्मामयांश्चान्यान् मध्वरिष्टो व्यपोहति ॥ ५८ ॥
 मध्वरिष्टः ।

समूलां पिप्पलीं चारौ द्वौ पञ्च लवणानि च ।
 मातुलुङ्गाभयाराक्षा-शठीमरिचनागरम् ॥

गङ्गाधरः—मदिराविशेषानासवानुत्त्वा मध्वरिष्टमाह—नव इत्यादि ।
 पिप्पलीकल्कमधुभ्यामभ्यक्ते नवे मृन्मये कलसेऽगुरुधूपिते मधुन आढकं षोडश-
 शरावं जलसमं षोडशशरावजलमेकीकृत्य तत्रेमानि चूर्णानि दापयेत् । विड़ङ्गानां
 चूर्णितानां कुड़वाद्धं पलद्वयम् । पिप्पल्याश्चूर्णितायाः कुड़वं चतुःपलम् ।
 त्वक्क्षीरं वंशलोचनां चतुर्थिकांशां पलांशम् । केशरादीनां कार्षिकान् । तत्र
 दत्त्वा मासं स्थापयेत् । मासादूर्द्धं प्रयोजयेत् । लघ्वन्नभोजनादनु पाययेत् ।
 अत्र क्रमुको गुवाकः । एलुकम् एलवालुकम् । तेजोह्वा चवी । विषममग्निं
 समं करोति । मध्वरिष्टः ॥ ५८ ॥

गङ्गाधरः—अनुपानमुत्त्वा स्वतः प्रयोगानाह—समूलामित्यादि । पिप्पलीं

चक्रपाणिः—नव इत्यादौ त्वगेलादीनां कार्षिकत्वम् ॥ ५८ ॥

चक्रपाणिः—समूलां पिप्पलीमिति पिप्पलीं पिप्पलीमूलम् ॥ ५९ ॥

कृत्वा समांशं तच्चूर्णं पिबेत् प्रातः सुखाम्बुना ।
 कफजे ग्रहणीदोषे बलवर्णाग्निवर्द्धनम् ॥ ५९ ॥
 एतैरेवौषधैः सिद्धं सर्पिः पेयं समारुते ।
 गोल्मिकोक्तं षट्पलकं भल्लातकघृतञ्च यत् ॥ ६० ॥
 विडं कालोत्थलवणं * स्वर्जिकायावशूकजम् ।
 निदिग्धिकां सप्तलाञ्च चित्रकञ्चेति दाहयेत् ॥
 सप्तकृत्वःसुतस्याथ क्षारस्यार्द्धाद्वकेन तु ।
 आदकं सर्पिषः पत्त्वा पिबेदग्निविवर्द्धनम् ॥ ६१ ॥
 क्षारघृतम् ।

समूलां पिप्पलीं पाठां चव्येन्द्रयवनागरम् ।
 चित्रकातिविषे हिङ्गु श्वदंष्ट्रां कटुरोहिणीम् ॥
 वचाञ्च कार्षिकान् पञ्च-लवणानां पलानि च ।
 घृततैले द्विकुड्वे द्वे प्रस्थे दध्न एव च ॥

पिप्पलीमूलञ्च मातुलङ्गमिह चूर्णत्वान्मूलम् । समांशं सर्व्वं तच्चूर्णं कृत्वा
 सुखाम्बुना प्रातः पिबेत् । कफज इत्याद्याशीः । पिप्पल्याद्यं चूर्णम् ॥ ५९ ॥
 गङ्गाधरः—एतैरित्यादि । एतैः पिप्पलीपिप्पलीमूलादिधिरोषधैः कल्कैः
 काथैश्च सिद्धं सर्पिः समारुते कफजे ग्रहणीगदे प्रातः पिबेत् । गुल्मचिकित्सि-
 तोक्तं षट्पलकं घृतं भल्लातकघृतञ्च यदुक्तं तच्च समारुते कफजे पिबेत् ॥ ६० ॥

गङ्गाधरः—विडमित्यादि । विडं विट्त्वणं कालोत्थलवणं काललवणं
 सप्तलां चर्मकषाम् । एतानि समांशानि निदिग्धिकादीनि त्रीणि दाहयेत् ।
 भस्मीकृत्य विडादिप्रत्येकसमानि प्रत्येकं भस्म नीत्वा षड्गुणे तोये सप्तकृत्वः
 परिस्तावयेत् । स तस्य तस्य क्षारोदकस्यार्द्धाद्वकेनाष्टशरावेण सर्पिष आदकं
 षोडशशरावं पत्त्वाग्निविवर्द्धनं पिबेत् । क्षारघृतम् ॥ ६१ ॥

गङ्गाधरः—समूलामित्यादि । पिप्पलीं पिप्पलीमूलञ्च वचान्तान्येतानि

चक्रपाणिः—भल्लातकघृतञ्च गुल्मोक्तमिति ज्ञेयम् ॥ ६० ॥

चक्रपाणिः—विडं काचोषलवणमिति विडलवणं काचलवणम् उपलवणं क्षारलवणञ्चेति ॥ ६१ ॥

* विडं काचोषलवणमिति पठति चक्रो वागभट्टश्च ।

चूर्णीकृतानि निःकाथ्य शनरन्तर्गतै रसे ॥
 अन्तर्द्धूमं ततो दग्ध्वा चूर्णं कृत्वा घृताप्लुतम् ॥
 खादेत् पाणितलं तस्मिन् जीर्णे स्यान्मधुराशनः ।
 वातश्लेष्मामयान् सर्वान् हन्याद् विषगरांश्च सः ॥ ६२ ॥
 भल्लातकं त्रिकटुकं त्रिफलां लवणत्रयम् ।
 अन्तर्द्धूमं द्विपलिकं गोपुरीषाग्निना दहेत् ॥
 स क्षारः सर्पिषा पीतो भोज्ये वाप्यवचारितः ।
 हृत्पाण्डुग्रहणीरोग-गुल्मोदावर्त्तशूलनुत् ॥ ६३ ॥
 दुरालभाकरञ्जौ च सप्तपर्णं सवत्सकम् ।
 षडग्रन्थां मदनं मूर्ध्वां पाठामारग्वधं तथा ॥

कार्ष्णिकाणि पञ्चानां लवणानां प्रत्येकं पलं मिलितानां पञ्च पलानि । घृतं
 तले च कुडवं कुडवमिति द्विकुडवे घृततले । दध्न एव च द्वे प्रस्थे अष्टशरावम् ।
 वचान्तानि चूर्णीकृत्य तत्र दध्नि घृततले युते निःकाथ्य निष्पाच्य रसे
 शुष्केऽन्तर्गते सति । ततो हण्डिकायां प्रक्षिप्य हण्डिकामुखं शरावेण रुद्ध्वा
 धूमनिर्गमनं यथा न स्यात् तथा दग्ध्वा ततस्तच्चूर्णं घृताप्लुतं कृत्वा पाणितलं
 कर्षं खादेत् । तस्मिन्मौषधे जीर्णे मधुरद्रव्याशनः स्यात् । वातेत्याद्याशीः ।
 क्षारः ॥ ६२ ॥

गङ्गाधरः—भल्लातकमित्यादि । लवणत्रयं सौवर्चलं सैन्धवं विडञ्चेति ।
 भल्लातकादिकं द्विपलिकं प्रत्येकं नीत्वा गोपुरीषाग्निनान्तर्द्धूमं दहेत् । स
 क्षारः सर्पिषा पीतः भोज्ये व्यञ्जनादौ वाप्यवचारितो हृद्गोदिनुत् स्यात् ।
 क्षारः ॥ ६३ ॥

गङ्गाधरः—दुरालभेत्यादि । करञ्जो गोरकरञ्जः । वत्सकं कुटजवृक्षः ।
 दुरालभादीन्यारग्वधान्तान्येतानि समांशानि चूर्णानि कृत्वा सर्वाणि पुनः

चक्रपाणिः—खण्डीकृतानीति खण्डं खण्डं कृतानि । अनुपीतरसे इति निपीते रसे ।
 पाणितलमिति कर्षः । मधुराशनत्वमिह क्षारप्रयोगयौगिकत्वाज्ज्ञेयम् ॥ ६२ । ६३ ॥

* खण्डीकृतानि निःकाथ्य अनुपीतरसे शनैः इति चक्रवर्तः पाठः ।

गोमूत्रेण समांशानि कृत्वा चूर्णानि दाहयेत् ।

दग्ध्वा च तं पिबेत् चारं ग्रहण्यां बलवर्द्धनम् ॥ ६४ ॥

भूनिम्बं रोहिणीं तिक्तां पटोलं निम्बपर्पटम् ।

दहेन्माहिषमूत्रेण चार एषोऽग्निवर्द्धनः ॥ ६५ ॥

क्षारः ।

द्वे हरिद्रे वचा कुष्ठं चित्रकं कटुरोहिणीम् ।

मुस्तश्च छागमूत्रेण दहेत् चारोऽग्निवर्द्धनः ॥ ६६ ॥

क्षाराः ।

चतुःपलं सुधाकाण्डात् त्रिपलं लवणत्रयात् ।

वार्त्ताकीकुड्मवश्चार्कादष्टौ द्वे चित्रकात् पले ॥

गोमूत्रेण समांशानि कृत्वा दाहयेत् । दग्ध्वा च तं क्षारं बलवर्द्धनं पिबेत्
ग्रहण्यामिति । क्षारः ॥ ६४ ॥

गङ्गाधरः—भूनिम्बमित्यादि । तिक्तां रोहिणीं कटुरोहिणीम् । प्रत्येकं
समांशं चूर्णयित्वा सर्व्वं माहिषमूत्रेण समानं दहेत् । एष क्षारोऽग्निवर्द्धनः ।
क्षारः ॥ ६५ ॥

गङ्गाधरः—द्वे इत्यादि । हरिद्राद्वयादिमुस्तान्तं प्रत्येकं समं चूर्णयित्वा
सर्व्वं छागेन मूत्रेण समानं दहेदिति पूर्व्वेणान्वयः । क्षाराः ॥ ६६ ॥

गङ्गाधरः—चतुःपलमित्यादि । सुधा स्नुही तस्याः काण्डात् शुष्का-
चचूर्णीकृतात् चतुःपलं लवणत्रयात् प्रत्येकमेकैकपलमिति त्रिपलं वार्त्ताकी-
कुड्मं शुष्कवात्ताकुचूर्णकुड्मम् । अर्काच्चणितादष्टौ पलानि चित्रकाच्च द्वे पले ।

चक्रपाणिः—गोमूत्रेण समांशानीति गोमूत्रेण मिलितं चूर्णं तुल्यम् । अस्य च पानं पूर्व्व-
क्षारवत् सर्पिषा ज्ञेयम् ॥ ६४ ॥

चक्रपाणिः—माहिषमूत्रेणेत्यादिनापि चूर्णसमत्वं माहिषमूलस्य पूर्व्वप्रयोगदृष्टत्वात् ॥ ६५—६६ ॥

चक्रपाणिः—चतुःपलमित्यादौ चतुःपलं सुधाकाण्डात् । त्रिपलालवणानि चेति ये पठन्ति ते

दग्धानि वार्त्ताकुरसे गुड़िका भोजनोत्तराः ।
 भुक्तं भक्तं पचत्याशु कासश्वासाश्रंसां हिताः ॥
 विसूचिकाप्रतिश्याय-हृद्रोगघ्न्यश्च ता मताः ।
 इत्येषा चारगुड़िका कृष्णात्रेयेण कीर्त्तिता * ॥ ६७ ॥

क्षारगुड़िका ।

वत्सकातिविषे पाठा दुःस्पर्शो हिङ्गु चित्रकम् ।
 चूर्णीकृत्य पलाशानां चारे मूत्रशृते पचेत् ॥
 आयसे भाजने सान्द्रं तस्मात् कोलं सुखाम्बुना ।
 मद्यैर्वा ग्रहणीदोषे शोफार्शःपाण्डुमान् पिबेत् ॥ ६८ ॥

क्षारः ।

त्रिफलां कट्भीं चव्यं विल्वमध्यमयोरजः ।
 रोहिणीं कटुकां मुस्तं कुष्ठं पाठाश्च हिङ्गु च ॥

एतानि चूर्णानि दग्धानि वार्त्ताकुरसे गुड़िकाः कृता भोजनोत्तरकालमुप-
 योजनीयाः । भुक्तं भक्तमित्याद्याशीः । क्षारगुड़िका ॥ ६७ ॥

गङ्गाधरः—वत्सकेत्यादि । वत्सकादीनां समांशानि चूर्णीकृत्य पलाशानां
 क्षारे गोमूत्रेः षड्गुणैः शृतेऽर्द्धशिष्टे सप्तधा परिस्रते तच्चूर्णमायसे
 भाजने पचेत् सान्द्रं यथा भवति । सान्द्रीभूतात् तस्मादौषधात् कोलं
 प्रमाणं सुखाम्बुना ग्रहणीदोषे पिबेत् । तस्मिन् रोगे शोफादिमानपि
 पिबेत् । क्षारः ॥ ६८ ॥

गङ्गाधरः—त्रिफलामित्यादि । कट्भीं क्षद्रवृक्षशिरीषः । विल्वमध्यं
 विल्वफलशस्यम् । अयोरजो मारितजारितलौहचूर्णम् । रोहिणीं कटुकां कटु-

त्रिफलालवणमिलित्वा चतुःपलं वदन्ति । दग्धानि वार्त्ताकुरसे इति क्षारभूतानि, गुड़िकाः
 कर्त्तव्याः ॥ ६७ । ६८ ॥

* इत्येषा क्षारगुड़िका कृष्णात्रेयेण कीर्त्तिता इति पाठस्तु न चक्रसम्मतः न वा
 बागभट्टसम्मतः ।

मधुकं मुष्ककयव-चारौ त्रिकटुकं वचाम् ।
 विडङ्गं पिप्पलीमूलं खर्जिका निम्बचित्रकौ ॥
 मूठ्वाजमोदेन्द्रयव-गुडूचीदेवदारु च ।
 कार्षिकं लवणानाञ्च पञ्चानां पलिकान् पृथक् ॥
 भागान् दध्नि त्रिकुडवे घृततैलेन मूर्च्छितम् ।
 अन्तर्द्धूमं शनैर्दध्वा तस्मात् पाणितलं पिबेत् ॥
 सर्पिषा कफवाताशो-ग्रहणीपाण्डुरोगवान् ।
 ग्रीहमूत्रग्रहश्वास-हिक्राकासक्रिमिज्वरान् ॥
 शोषातिसारश्चयथु-प्रमेहान् हृद्ग्रहांस्तथा ।
 हन्यात् सर्वविषाणाञ्च चारोऽयं शमनो वरः ॥
 जीर्णं रसर्वा मधुरैरश्रीयात् पयसा सह ।
 एष चारो महावीर्यः कृष्णात्रयेण भाषितः ॥ ६६ ॥

क्षारः ।

त्रिदोषे विधिवद् वैद्यः पञ्च कर्माणि कारयेत् ।
 घृतचारासवारिष्टान् दद्याच्चाग्निविवर्द्धनान् ॥

रोहिणीम् । मुष्ककं घण्टापाटला कृष्णपुष्पा तस्य क्षारो यवक्षारश्च । त्रिफला-
 दीनां कार्षिकं पञ्चानां लवणानां पृथक् पलिकान् भागान् सर्वं चूर्णीकृत्य
 त्रिकुडवे सार्द्धशरावे दध्नि घृततलेन मूर्च्छितमेकीकृतं हण्डिकायां निक्षिप्य
 मुखं रुद्धाऽन्तर्द्धूमं दध्वा तं क्षारं पाणितलं कर्षमाणं सर्पिषा चतुर्गुणेन
 आलोड्य पिबेत् । तस्मिन् पीतौषधे जीर्णं सति मधुरं रसैर्वाश्रीयादथवा
 पयसा सहाश्रीयात् । कफवाताशोऽप्रभृतिमान् । अयं क्षारो हि ग्रीहादिकं
 हन्यात् सर्वविषाणाञ्च वरः शमनः । क्षारः ॥ ६९ ॥

गङ्गाधरः—अथ त्रिदोषजग्रहणीरोगचिकित्सितमाह—त्रिदोष इत्यादि ।

चक्रपाणिः—त्रिफलामित्यादौ घृततैलेनेत्यत्र दधिसाहचर्यात् घृततलस्यापि मिलितस्य
 कुक्षवत्यम् ॥ ६९ ॥

चक्रपाणिः—त्रिदोषे पञ्चकर्माणि क्षिरोविरेचनमित्यत्र देयमेव इत्याद्यासात् तां समस्तान्चेति

क्रिया या चानिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणीं प्रति ।

व्यत्यासात् तां समस्तां वा कुर्याद् रोगविशेषवित् ॥ ७० ॥

स्नेहनं स्वेदनं शुद्धिं लङ्घनं दीपनञ्च यत् ।

चूर्णानि मधुरक्षार-मध्वरिष्टसुरासवाः ॥

तक्रप्रयोगा विविधा दीपनानाञ्च सर्पिषाम् ।

ग्रहणीदोषिभिः सेव्याः क्रियाञ्चावस्थिकीं शृणु ॥ ७१ ॥

ष्ठीवनं श्लैष्मिके रुक्षं दीपनं तिक्तसंयुतम् ।

सकृद् रुक्षं सकृत् स्निग्धं कृशे बहुकफे हितम् ॥ ७२ ॥

त्रिदोषे ग्रहणीरोगे वैद्यो विधिवत् पञ्च कर्माणि कारयेत् । वमनविरेचनाङ्गतात् स्नेहस्वेदौ च कृत्वेति विधिवद् वचनेनाभिधानात् । तथा संशुद्धाय घृतादीन् अग्निविवर्द्धनान् दद्यात् । या च क्रिया अनिलादीनां प्रत्येकग्रहणीं प्रति इह निर्दिष्टा रोगविशेषविद् वैद्यस्तां समस्तां वातजपित्तजकफजग्रहणीरोगक्रियां वा व्यत्यासात् कुर्यात् । या क्रिया यस्य दोषस्य व्यात्यासरूपा विपर्ययरूपा तां बुद्ध्या कुर्यात् ॥ ७० ॥

गङ्गाधरः—स्नेहनमित्यादि । यत् द्रव्यं स्नेहनादिकं यानि चूर्णानि चोक्तानि मधुरादयश्च विविधास्तक्रप्रयोगाश्च दीपनानाञ्च सर्पिषां ये विविधाः प्रयोगाः ते सर्व्वे त्रिदोषजग्रहणीदोषिभिः सेव्याः । तेषां त्रिदोष-ग्रहणीदोषिणामावस्थिकीं क्रियां शृणु । यात ऊर्द्धं वक्ष्यते ॥ ७१ ॥

गङ्गाधरः—ष्ठीवनमित्यादि । श्लैष्मिके श्लेष्माधिकत्रिदोषजे तिक्तसंयुतं रुक्षं दीपनञ्च यद् द्रव्यं तस्य कथेन कवलं हितम् । ष्ठीवनं कर्म मुस्वेन श्लेष्मणः स्वल्पं स्वल्पमुद्गिरणं हितम् । कृशे बहुकफे सकृदेकवारं रुक्षं सकृदेकवारञ्च स्निग्धं कर्म हितम् ॥ ७२ ॥

उक्तवातादिक्रियाव्यत्यासात् । एकैकदोषक्रियापरिवर्त्तने सर्व्वीं तां कुर्यात् किंवा मिलितैः कुर्यात्, मेलनञ्च वातादिद्रव्यमेलनादेव भवति ॥ ७० ॥

चक्रपाणिः—स्नेहनमित्यादिना ग्रहणीदोषभेषजसङ्कलनमाह । क्रियाञ्चावस्थिकीमिति ग्रहणी-दोष एव अवस्थाविशेषे कर्त्तव्याः क्रियाः शृणु ॥ ७१ ॥

चक्रपाणिः—सकृद् रुक्षं सकृत् स्निग्धं कृश इति रुक्षमेव क्रियते तदा कृशस्य बलहानिः

परीक्ष्यामं शरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम् ।

दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरसंयुतम् ॥ ७३ ॥

बहुवातस्य तु स्नेह-लवणाम्लयुतं हितम् ।

सन्धुक्षति यथा वह्निरेषां विधिवदिन्धनैः ॥ ७४ ॥

स्नेहमेव परं विद्याद् दुर्बलानां प्रदीपनम् ।

नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि ॥ ७५ ॥

मन्दाग्निरविपक्वन्तु पुरीषं योऽतिसार्यते ।

दीपनीयोषधैर्युक्तां घृतमात्रां पिबेत् तु सः ॥

गङ्गाधरः—परीक्ष्येत्यादि । शरीरस्यामं ग्रहणीदोषं परीक्ष्य स्नेहसंयुतं दीपनं दीपनीयदशकं हितम् । बहुपित्तस्यामदोषिणो दीपनं तिक्तञ्च मधुरसंयुतञ्च हितम् । बहुवातस्य तु ग्रहणीदोषिण आमदोषे स्नेहलवणाम्लयुतं दीपनं हितम् । एतैः किं स्यादित्यत आह—सन्धुक्षतीत्यादि । यथा विधिवदिन्धनैर्वह्निः सन्धुक्षति तथैषामेभिर्वह्निः सन्धुक्षति ॥ ७४ ॥

गङ्गाधरः—तत्राग्निदीपने प्रवरमाह—स्नेहमेवेत्यादि । दुर्बलानां त्रिदोष-ग्रहणीदोषिणां परं श्रेष्ठं वह्निप्रदीपनं स्नेहमेव विद्यात् । कस्मात् ? नाल-मित्यादि । स्नेहसमिद्धस्य जाठराग्नेः शमाय शान्तये सुगुर्वपि अन्नं नालं न समर्थं भवति ॥ ७५ ॥

गङ्गाधरः—इति दोषजचतुर्विधग्रहणीरोगचिकित्सितमुक्त्वा यथाग्निः पूर्व-मुद्दिष्ट इति समाग्निवज्जत्रिधाग्निरपि ग्रहणीरोग उक्तः तत्र मन्दाग्निक्रिया माह—मन्दाग्निरित्यादि । त्रिधाग्निश्च ग्रहणीरोगी । तत्र मन्दाग्निरपि स्यात् ; अथ स्निग्धमेव क्रियते तदा बहुकफे कफवृद्धिः स्यात् ; तेनोभयापेक्षया अन्तरा रुक्षम् अन्तरा च स्निग्धं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ७२ । ७३ ॥

चक्रपाणिः—स्नेहलवणाम्लयुतमिति दीपनमित्यर्थः । सन्धुक्षतीति विधिवदिन्धनैरिति यथा-विधानंदीपितमित्यर्थः ॥ ७४ ॥

चक्रपाणिः—उक्तानुक्तस्नेहफलमवधारयन्नाह—स्नेहमेवेत्यादि । परमिति श्रेष्ठं, स्नेह एव दीपनं श्रेष्ठं, तत्र हेतुमाह नालमित्यादिना । नालं न समर्थम् । स्नेहसमिद्धस्येति स्नेहदीप्तस्य । स्नेहशब्देनाल सामान्यवाचिना सर्पिरेवोच्यते सर्पिष एवावाधिकारात् ॥ ७५ ॥

चक्रपाणिः—मन्दाग्निरित्यादौ अविपक्वमिति पुरीषविशेषणम् । तेनाविपक्वशब्दग्रहणात्

तथा समानः पवनः प्रसन्नो मार्गमाश्रितः ।
 अग्नेः समीपचारित्वादाशु प्रकुरुते बलम् ॥
 काठिन्याद् यः पुरीषन्तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः ।
 स घृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं पिबेत् ॥
 रौक्ष्यान्मन्दे पिबेत् सपिस्तैलं वा दीपनैर्युतम् ।
 अतिस्नेहात् तु मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवा हिताः ॥
 भिन्ने गुदोपलेपात् तु मले तैलसुरासवाः ।
 उदावर्त्तात् तु मन्देऽग्नौ निरुहाः स्नेहवस्तयः ॥
 दोषवृद्ध्या च मन्देऽग्नौ शुद्धो दोषविधिं चरेत् ।
 व्याधियुक्तस्य मन्दे तु सर्पिरेवाग्निदीपनैः ॥

योऽविपक्वं पुरीषमिति साध्यते स तु दीपनीयैर्देशक्युक्तां घृतमात्रां पिबेत् ।
 ततो यत् स्यात् तदाह—तयेत्यादि । तथा दीपनीयौषधयुक्तया घृतमात्रया
 पीतया यः समानः पवनो वह्निसमीपस्थः सन्धुक्षणः स प्रसन्नः सन् मार्गं
 स्वमाश्रितः सन्नग्नेः समीपचारित्वादाशु बलमग्नेः प्रकुरुते । अपक्वपुरीषाति-
 सरणप्रतीकारमुक्त्वा कठिनपुरीषमुञ्चतो मन्दान्याद्यग्रहणीरोगिणश्चिकित्सित-
 माह—काठिन्यादित्यादि । यस्त्रिदोषजग्रहणीरोगवान् मानवः पुरीषं काठि-
 न्यात् कृच्छ्रात् मुञ्चति स नरो लवणैर्युक्तमन्नावग्रहमन्नग्रहणेन ग्रहीत्वा
 घृतं पिबेत् । रौक्ष्यादित्यादि । मन्दाग्निग्रहणीरोगी मन्देऽग्नौ रुक्षतो रुक्ष-
 गुर्वादिजाते दीपनैर्देशभिर्युक्तं सिद्धं सपिस्तैलं वा पिबेत् । अतिस्नेहात् तु
 जाते मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवास्तस्य हिताः । भिन्ने पुरीषे गुदोपलेपात् तु
 गुदसावे तैलसुरासवा अवलेहा हिताः । उदावर्त्तात् तु जाते मन्देऽग्नौ निरुहाः
 आस्थापनवस्तयः स्नेहवस्तयश्चानुवासनवस्तयो हिताः । दोषवृद्ध्या कफवृद्ध्या
 सामस्य ग्रहणं न भवति । अपक्वपुरीषं प्रति स्नेहप्रयोगो विरुद्ध एव किञ्च दीपनीयौषध-
 संस्कारात् स्नेहस्य संस्कारगुणाभिधानात् अपक्वपुरीषं प्रति हितत्वं भवति, स्नेहांशस्तु वातप्रगुणता-
 करणत्वेन सहायतया उपादीयते । अत एवोक्तं तथा समान इति । प्रसन्न इति इष्टिरहितः ।
 मार्गमाश्रित इति स्वाभाविकमार्गमादन्नः । समीपचारित्वादिति प्रसन्नत्वादिगुणयोगे सति ।
 अन्नावग्रहमिति अन्नमध्यप्रयुक्त इत्यर्थः । अतिस्नेहान्मन्देऽग्नौ सति चूर्णारिष्टादीनि योज्यानि ।
 भिन्ने इति विशिष्टगुदोपलेपात् अग्नौ मन्दे तैलसुरासवा देया इति वाक्यार्थः । दोषत्रिधिं

उपवासाच्च मन्देऽग्नौ यवागूभिः पिबेद् घृतम् ।
 अन्नावपीडितै चालं दीपनं वृंहणञ्च तत् ॥ ७६ ॥
 दीर्घकालप्रसङ्गात् तु कामक्षीण-कृशान् नरान् ।
 प्रसहानां रसः साम्लैर्भोजयेत् पिशिताशिनम् ॥
 लघुतीक्ष्णोष्णशोधित्वाद् दीपयन्त्याशु तैऽनलम् ।
 मांसोपचितमांसत्वात् तथाशुतरवृंहणाः ॥ ७७ ॥
 नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात् ।
 यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वातीन्धनावृतः ॥

जाते मन्देऽग्नौ शुद्धो वमनविरेचनाभ्यां दोषहरविधिं चरेत् । व्याधियुक्तस्य
 ग्रहणरोगातिसारज्वरादिरक्तव्याधियुक्तस्य ग्रहणीरोगिणो मन्देऽग्नौ अग्निदीपनैः
 सिद्धमेव सर्पिश्चरेत् । उपवासाच्च जाते मन्देऽग्नौ यवागूभिर्मण्डादिभिश्च तं
 पिबेत् । कस्मात् ? अन्नावपीडिते सति तद् घृतं दीपनं वृंहणञ्चालञ्च समर्थं
 स्यात् ॥ ७६ ॥

गङ्गाधरः—दीर्घकालं रोगप्रसङ्गात् कामक्षीणकृशान् यथेष्टं क्षीणान्
 कृशान् नरान् मन्दाग्नीन् पिशिताशिनां प्रसहानां मांसस्य साम्लै रसैर्भोजयेत् ।
 कस्मात् ? ते प्रसहा लघत्वादित्वादाशु अनलं दीपयन्ति मांसोपचितमांस-
 त्वादाशुतरं वृंहणाश्च तथा भवन्ति ॥ ७७ ॥

गङ्गाधरः—ननु मन्देऽग्नौ लङ्घनमेव युज्यते कथमेवमाहारो विधीयते इत्यत
 चरेदिति अग्निमान्द्यकारकदोषौषधविधिं चरेत् । अन्नावपीडितं यथा भवति तथा यवाग्वादिभिः
 घृतं पिबेत् । अन्नावपीडितञ्च मध्यभोजनावपीडं घृतं भवति ॥ ७६ ॥

चक्रपाणिः—दीर्घकालेत्यादौ क्षामो व्यवसायशून्यः । क्षीणो दुर्बलः । कृशो हीनमांसः ।
 प्रसहानां मांससिद्धत्वे पिशिता-(मांसा)-शितामिति विशेषणं तेन तृणादप्रसहानां गवादीनां निषेधः ।
 ननु प्रसहाः गुरुष्णस्निग्धमधुरा इत्युक्तम्, इह तु लघुतीक्ष्णोष्णेत्यादिना कथं लाघवम् ? उच्यते,
 प्रसहानां मध्ये ये लघवस्तेषां रसेनालं भोजयेत् । तीक्ष्णेत्यादिना प्रसहगुणाभिधानम् । अन्ये
 तु इतरापेक्षया ये प्रसहा लघवस्तेषामिह लघुशब्देनोपादानम् । तथान्ये अम्लादियोगात् संस्कारेण
 इह लाघवं साधयन्ति, एतेन राजयक्ष्मचिकित्सितेऽपि प्रसहगुणाः तीक्ष्णोष्णलघुशुचित्वाद्याः
 गुणाः उक्ताः ते न्याय्या एव ॥ ७७ ॥

चक्रपाणिः—नाभोजनेनेत्यादिना सस्यकप्रयोगस्याग्निजनकतामाह । अभोजनमल्पभोजनम् ।

* कामक्षीणेत्यत्र क्षामक्षीणेति चक्रपाठः ।

स्नेहान्नपानैर्विविधैश्चूर्णारिष्टसुरासवैः ।

सम्यक्प्रयुक्तभिषजा बलमग्नेः प्रवर्द्धते ॥

यथा हि सारदावर्गग्निः स्थिरः सन्तिष्ठते चिरम् ।

स्नेहाशनादिभिस्तद्वदन्तर्वह्निर्भवेत् स्थिरः ॥ ७८ ॥

हितं जीर्णं मितश्चाशनंश्चिरमारोग्यमश्नुते ।

अवैषम्येण धातूनामग्निवृद्धौ यतैत ना ॥

समैर्दोषः समो मध्ये देहस्योष्माग्निसंस्थितः ।

पचत्यन्नं तदारोग्य-पुष्ट्यायुर्बलवर्द्धनम् ॥

आह—नाभोजनेनेत्यादि । अभोजनेन कायाग्निर्न दीप्यते न चातिभोजना दीप्यते । यथा निरन्धनोऽल्पो वह्निर्न दीप्यतेऽतीन्धनावृतो वा न दीप्यते, तद्वद् अभोजनातिभोजनान्न दीप्यते । तस्मात् । स्नेहान्नपानैरित्यादि । स्नेहान्नपानैर्भिषजा सम्यक् प्रयुक्तैर्विविधः स्नेहान्नपानैः दीपनीयोषधसिद्धैस्तथा चूर्णारिष्टसुरासवैर्मन्दाग्नेरग्नेर्बलं प्रवर्द्धते । यथा सारदावर्गग्निः सारभूत-काष्ठाग्निः स्थिरः संश्चिरं सन्तिष्ठते तद्वदन्तर्वह्निर्जाठराग्निः स्नेहासवादिभिरुक्तैः स्नेहान्नादिभिर्विवृद्धः स्थिरोऽचलो भवेन्न तु ह्रस्वः स्यादिति ॥ ७८ ॥

गङ्गाधरः—तद्धिं च हितं किं वृद्धाग्निरश्रीयादित्यत आह—हितमित्यादि । ना पुमान् पूर्व्याशने जीर्णं हितं मितश्चान्नमश्नन् संश्चिरमारोग्यमश्नुते तस्माद् धातूनामवषम्येण विषममान्यतीक्ष्णत्वाभावेनाग्निवृद्धौ यतैत । क्रियार्थमवैषम्येणेत्यत आह—समरित्यादि । देहस्य मध्येऽग्निसंस्थित उष्मा समैर्वातपित्तकफैर्दोषैः

अल्पो वा अतीन्धनावृतो वा न दीप्यते इति योजना । सारदावर्गग्निः सारदारुणि स्थितोऽग्निः सारदावर्गग्निः । स्नेहवदन्नं स्नेहान्नम् ॥ ७८ ॥

चक्रपाणिः—मितमिति मालावश्यं, यद्यपि हितमिताशिनोऽपि कालविपर्ययादिना रोगा भवन्त्येव, तथापि हितमिताशिनाम् आहारजरोगोत्पत्तिर्न भवतीति दर्शयति । चिरमारोग्यमश्नुते इति आहारजरोगं न प्राप्नोतीति भावः । अवैषम्येण धातूनाम् इति धातुसाध्येन क्रियमाणायां अग्निवृद्धौ यतैत । एतेन दोषवैषम्येण पित्तोद्रेकरूपेण वा अग्निवृद्धिरित्यग्निरूपा तां निषेधयति । समैरित्यादिनाग्निभेदान् समान्निपरिपालनार्थमाह । मध्य इति समीपे अग्निसंस्थित इति

दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमो जनयेद् गदान् ।
 पाच्यं * मन्दस्य तत्रोक्तमतिवृद्धस्य वक्ष्यते ॥ ७६ ॥
 नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम् ।
 सोष्मकं पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति ॥
 तदा लब्धबलो देहे विरुक्षे सानिलोऽनलः ।
 अभिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्महुः ॥
 पक्त्वान्नं स ततो धातून् शोणितादीन् पचत्यपि ।
 ततो दौर्बल्यमातङ्कं मृत्युश्चोपनयेन्नरम् ॥
 भुक्तेऽग्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति ।
 तृट्श्वासमोहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः ॥ ८० ॥

समः सन्नन्नं पुष्ट्यायुर्बलवर्द्धनं यथा स्यात् पचति । दोषैरित्यादि । विषमः
 वृद्धकफवृद्धपित्तवृद्धवातैर्दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धस्तीक्ष्णोऽग्निविषमोऽग्निर्वा गदान् जन-
 येत्, कफजान् मन्दोऽग्निः पित्तजान् गदान्तिवृद्धोऽग्निर्जनयेत् वातजान्
 विषमोऽग्निः । तत्र मन्दस्याग्नेः पाच्यं विवर्त्तजनकक्रियाजातं प्रोक्तम् ।
 अतिवृद्धस्य पाच्यं वक्ष्यते । भावे ण्यत् ॥ ७९ ॥

गङ्गाधरः—नरे इत्यादि । क्षीणकफे नरे मारुतानुगं पित्तं कुपितं
 सोष्मकमुष्मणा सह वर्त्तमानं सत् पावकस्थाने नाभ्यूढं देशेऽग्नेर्बलं प्रयच्छति ।
 तदा विरुक्षे देहे लब्धबलः सानिलोऽनलस्तैक्ष्ण्यादन्नमभिभूय मुहुश्मुहुराशु
 पचति । स तीक्ष्णाग्निस्ततोऽभ्यवहृतमन्नं पक्त्वा शोणितादीन् धातून्पि
 पचति । ततो धातुपाकाद् दौर्बल्यं रोगश्च पित्तजं मृत्युश्च नरं नयेत् ।
 तत्रान्ने पक्वे पुनश्चुहुश्चुहुश्चुक्षायामग्ने पुनश्चुक्तेऽग्ने शान्तिं लभते जीर्णमात्रे
 भुक्तेऽग्ने प्रताम्यति । तृट्वादयश्च व्याधयस्तदत्यग्निसम्भवाः स्युरिति ॥ ८० ॥

वष्मरूपो जाडराग्निः । दोषैरिति सामान्योक्तेऽपि योग्यतया कफपित्तवातैर्यथाक्रममेव
 मन्दतीक्ष्णविषमत्वानि ज्ञेयानि । वाच्यमिति प्रतिक्रियावचनीयं चिकित्सितमिति यावत् ॥ ७९ ॥

चक्रपाणिः—पित्तं पावकस्थाने कुपितमिति सम्बन्धः, तच्च पित्तं मारुतानुगतत्वात्

* पाच्यमित्यत्र वाच्यमिति चक्रधृतः पाठः ।

तमत्यग्निं गुरुस्निग्ध-शीतर्मधुराविज्जलः ।
 अन्नपानेनैवेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः ॥
 मुहुर्मुहुर्जोर्णोऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत् ।
 निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत् ॥ ८१ ॥
 कृशरां पायसं स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम् ।
 अद्यात् तथौदकानूप-पिशितानि घृतानि च ॥
 मत्स्यान् विशेषतः श्लक्ष्णान् स्थिरतोयचरानपि ।
 आविकश्च घृतं मांसमद्यादत्यग्निराबलम् ॥
 यवागूं समधूच्छिष्टां घृतं वा क्षुधितः पिबेत् ।
 गोधूमचूर्णमन्थं वा व्यधयित्वा सिरां पिबेत् ॥
 पयो वा शर्करां सर्पिर्जीवनीयोषधैः शृतम् ।
 फलानि तैलयोनीनां मृत्कुञ्चाश्च सशर्कराः ॥

गङ्गाधरः—तदत्यग्निचिकित्सितमाह—तमित्यादि । तमत्यग्निं गुरुत्वादि-
 गुणैरन्नपानैः शान्तिं नयेत् यथाम्बुभिर्दीप्तमग्निं शान्तिं नयति । विज्जलं
 पिच्छिलम् । गुर्वाद्यन्नपाने खल्वजीर्णोऽपि मुहुर्मुहुर्स्यात्यग्नेः पुंसो
 भोज्यानि गुर्वादीनि मुहुर्मुहुर्रूपहारयेत् । कस्मात् ? निरिन्धनोऽस्यात्यग्नि-
 रन्तरमवकाशं लब्ध्वा यथा नैनं पुरुषं विपादयेन्न मारयेत् ॥ ८१ ॥

गङ्गाधरः—यानि भोज्यान्युपहारयेत् तान्याह—कृशरामित्यादि । कृशरां
 तिलशङ्कुलीम् । विशेषतस्तु स्थिरतोयचरान् सरोवापीपुष्करिण्यादितोय-
 चरान् श्लक्ष्णान् कोमलान् मत्स्यानद्यात् । आबलं यावदत्यग्निपुरुषस्य
 बलं स्यात् तावदेतान् स पुमानद्यात् । यवागूमित्यादि । समधूच्छिष्टां यवागूं
 क्षुधितः पिबेत् । घृतं वा स्वच्छं पिबेत् । सिरां पञ्चसिराणामन्यतमां
 व्यधयित्वात्यग्निर्गोधूमचूर्णमन्थं वा गोधूमचूर्णं द्रवेणालोड्य पिबेत् । पयो वा
 पिबेत् शर्करां वा पिबेत् । जीवनीयदशकोषधैः शृतं घृतं वात्यग्निर्जनः पिबेत् ।
 अत्यग्निकरं भवति एवं धर्मभेदात् विरुद्धकार्यकरं ज्ञेयम् । पित्तोष्मरूपस्यापि बह्वैः प्रादेशिक-
 पित्तोष्मणो हानिजनकत्वं जन्यजनकयोर्भेदत्वात् उपपन्नमेव ज्ञेयम् ॥ ८० । ८१ ॥

चक्रपाणिः—स्थिरतोयचरानित्यनेन स्थिरतोयचारिणां निष्क्रियतया गौरवात्किञ्चयं दर्शयति ।

मार्दवं जनयन्त्यग्नेः स्निग्धमांसरसास्तथा ।
 पिबेच्छीताम्बुना सर्पिर्मधूच्छिष्टेन संयुतम् ॥
 गोधूमचूर्णं पयसा ससर्पिष्कं पिबेन्नरः ।
 आनूपरससिद्धान् वा त्रीन् स्नेहांस्तैलवर्जितान् ॥
 पयसा समितां वापि घनां त्रिस्नेहसंयुताम् ।
 नारीस्तन्येन संयुक्तां पिबेदौदुम्बरीं त्वचम् ।
 ताभ्यां वा पायसं सिद्धं पिबेदत्यग्निशान्तये ॥ ८२ ॥
 श्यामात्रिवृद्विपक्वं वा पयो दद्याद् विरेचनम् ।
 असकृत् पित्तहरणं पायसं प्रतिभोजनम् ।
 भिषक् प्राज्ञः प्रसमीक्ष्य तस्मै दद्याद् विधानवित् ॥ ८३ ॥

तलयोनीनां फलानि तिलवातामादीनि सशर्कराः ससिता मृत्कुञ्जा मृत्खण्डा
 आश्वत्यग्नेमार्दवं जनयन्ति, तथा स्निग्धमांसरसाश्च मार्दवमग्नेः जनयन्ति ।
 पिबेदित्यादि । द्रवीकृतेन मधूच्छिष्टेन संयुक्तं सर्पिः शीतेनाम्बुना पिबेत् ।
 गोधूमचूर्णं पयसालोड्य ससर्पिष्कमत्यग्निनरः पिबेत् । आनूपेत्यादि ।
 आनूपमांसरसेन चतुर्गुणेन सिद्धांस्तैलवर्जितांस्त्रीनां स्नेहान् घृतवसामज्जः
 पिबेत् । केचित् प्रत्येकमाहुः । पयसा समितां गोधूमचूर्णं त्रिस्नेहसंयुतां
 घृतवसामज्जसंयुतां घनामद्रवीभूतां पिबेत् । नारीत्यादि । औदुम्बरीं
 त्वचं नारीस्तन्येन पिष्ट्वा पिबेदघनामेव । ताभ्यामित्यादि । ताभ्यां नारी-
 स्तन्यौदुम्बरत्वग्भ्यां किञ्चित् तण्डुलं पायसं सिद्धमित्यग्निशान्तये
 पिबेत् ॥ ८२ ॥

गङ्गाधरः—श्यामेत्यादि । श्यामात्रिवृद्विपक्वं पयो वा विरेचनं दद्यात् ।
 पित्तहरणं पायसं तद्विरेचने प्रतिभोजनमसकृत् दद्यात् ॥ ८३ ॥

उष्णोदकमृदिता मृत्पिण्डा मृत्कुञ्जा उच्यन्ते । उत्कारिकेत्यन्ये । घनां त्रिस्नेहसंयुतामित्यस्य
 घनशब्देन त्वगुच्यते ॥ ८२ ॥

चक्रपाणिः—पायसेन प्रतिभोजनं यस्मिन् पित्तहरणे तत् पायसप्रतिभोजनम् ॥ ८३ ॥

यत् किञ्चिद् गुरु मेध्यं यत् श्लेष्मलश्चापि भोजनम् ।

सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा च स्वपनं दिवा ॥

मेध्यान्यन्नानि योऽयन्नावप्रतान्तः * समश्नुते ।

न तन्निमित्तं व्यसनं लभते पुष्टिमेव च ॥ ८४ ॥

कफे वृद्धे जिते पित्त-मारुते चानलः समः ।

समधातोः पचत्यन्नं पुष्ट्यायुर्वलवृद्धये ॥ ८५ ॥

भवन्ति चात्र ।

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम् ।

विषमं बहु चाल्पं वाप्यप्राप्तातीतकालयोः ॥

पूर्वान्नशेषे च पुनर्भुक्तमध्यशनं मतम् ।

त्रोग्यप्येतानि मृत्यं वा घोरान् व्याधीन् सृजन्ति वा ॥ ८६

गङ्गाधरः—यदित्यादि । मेध्यं मेधाहितं पवित्रं न त्वमेध्यम् । मेध्या-
नीत्यादि । योऽप्रतान्तोऽग्लानः पुमानत्यग्नौ मेध्यान्यन्नानि समश्नुते स
तन्निमित्तमत्यग्निनिमित्तकं व्यसनं न लभते पुष्टिञ्चैव लभते ॥ ८४ ॥

गङ्गाधरः—कथं तदाह—कफ इत्यादि । उक्तैर्मेध्याहारैरत्यग्निजनस्य कफे
वृद्धे सति पित्तमारुते तु जितेऽनलः समः सन् समधातोस्तस्य पुष्ट्यायुर्वलवृद्धये-
ऽन्नं पचति । इति ॥ ८५ ॥

गङ्गाधरः—अत्र श्लोका भवन्ति—भवन्तीत्यादि । पथ्यापथ्यमित्यादि । इह
भोजनविषये यत् पथ्यं यच्चापथ्यं तदेकत्र यद्भुक्तं भवति तत् समशनं बुधर्मतम् ।
बहु चाल्पं वा अप्राप्ताहारकाले वा अतीताहारकाले वा यद्भुक्तं पथ्यं वापथ्यं
वा पृथक्त्वेन तद्विषममशनं मतम् । पूर्वान्नशेषे पूर्वदिनाहारस्य पाकावशेषे सति

चक्रपाणिः—मेद्यमिति मेदुरम्, मेदोजनकं वा । अप्रशान्त इति आबुभुक्षितः । व्यसनं
मरणमित्यर्थः । पुष्टिमेव लभते इति योज्यम् ॥ ८४ । ८५ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति प्रागुक्तसमशनादिलक्षणमाह—पथ्यापथ्यमित्यादि । पथ्यापथ्यं किञ्चित्
एकत्र मिलितं, यथा रक्तशाल्यन्नं यवान्नं मिलितम् । बहुभुक्तम् अल्पभुक्तं वा तथाऽप्राप्त-
कालमतीतकालञ्च भुक्तं विषममुच्यते । पूर्वान्नेत्यादिना भुक्तं दिवा भुक्तस्य पुनरप्य-
योगोऽध्यशनम् ॥ ८६ ॥

प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति ।
 दिवा प्रबोध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् ॥
 तस्मिन् विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्व्वशः ।
 व्यायामाच्च विचाराच्च * विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः ॥
 न क्लेदमुपगच्छन्ति † दिवा तैनास्य धातवः ।
 अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमत्यन्तैषु न दुष्यति ॥
 अविदग्धेष्विव पयःस्वन्यत् संमिश्रितं पयः ‡ ।
 नैव दुष्यति तैर्नैव समं सम्पद्यते यथा ॥ ८७ ॥

यद् भुक्त तदध्यशनं मतमिति । त्रीण्यप्येतान्यशनानि मृत्युं सृजन्ति घोरान्
 व्याधीन् वा सृजन्तीति ॥ ८६ ॥

गङ्गाधरः—तर्हि सद्योऽजीर्णे भुञ्जीत वा न वेत्यत आह—प्रातरित्यादि ।
 प्रातराशे पूर्वाह्णे कृतभोजने त्वजीर्णे सत्यपि सायमाशो रात्रौ द्वितीयभोजनं
 न दुष्यति । कस्मात् ? दिवा हि हृदयं पुण्डरीकवदर्केण प्रबोध्यते विकचं
 क्रियते । तस्मिन् हृदये विबुद्धे प्रस्फुटिते सति स्रोतांसि सर्वाण्यन्नवहादीनि
 सर्व्वशः स्फुटितत्वं यान्ति । एवं पुरुषस्य दिवा व्यायामाच्च विचाराच्च विचरणं
 गमनागमनं चेतसो विक्षिप्तत्वाच्च चित्तस्य विविधविषयेषु भ्रामणात् अस्य
 दिवा दिने तेन पूर्वाह्णाहाराजीर्णे निशाभोजनेन धातवो रसरक्तादयो न क्लेद-
 मुपयान्ति । तर्हि दैन्याजीर्णे भोजने सर्व्वस्मिन्नेव कस्मान्न दोषः स्यादित्यत
 आह—अक्लिन्नेष्वित्यादि । पूर्वाह्णभोजनाजीर्णे रसादिषु धातुष्वत्यन्ताक्लिन्नेषु
 आसिक्तं भुक्तमन्नं न दुष्यति । यथा पयःस्वविदग्धेषु स्वल्पोष्णानम्लेषु
 अन्यत् पयो मिश्रितं न दुष्यति ॥ ८७ ॥

चक्रपाणिः—प्रातराश इत्यादि प्रातर्भोजनमित्यर्थः । कस्मात् तत् न दुष्यतीत्याह—
 दिवेत्यादि । स्फुटत्वमिति स्रोतसां वहनेन रसव्याप्तिर्भवति, ततश्च न क्लेदं स्रोतांसि याति ।
 तथा व्यायामादिभिश्च शोष्यमाणा न उत्क्लेदमुपयान्ति धातवः । व्यायामो गमनादिः, विहारो-
 ऽङ्गक्षेपणादिचेष्टा । स्रोतउत्क्लेदे किं भवतीत्याह—अक्लिन्नेष्वित्यादि । आसिक्तमिति प्रक्षिप्तम् ।
 अविदग्धेत्यादिना दृष्टान्तमाह ॥ ८७ ॥

* विहाराच्च इति चक्रः ।

† उत्क्लेदमुपगच्छन्ति इति चक्रपाठः ।

‡ अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद् विमिश्रितम् इति चक्रेण पठ्यते ।

रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतैष्वयनेषु च ।
 परिकृदं यान्ति कोष्ठे संवृतै देहधातवः ॥
 क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तैष्वासिक्तं प्रदुष्यति ।
 विदग्धेषु पयःस्वन्यत् पयस्तप्तैष्विवापितम् ॥
 नैशेष्वहारजातेषु नाविपक्वेषु बुद्धिमान् ।
 तस्मादन्यत् समश्नीयात् पालयिष्यन् बलायुषी ॥ ८८ ॥

संग्रहश्लोकाः ।

अन्तरग्निगुणा देहं यथा सन्धारयेच्च सः ।
 यथान्नं पच्यते यश्च यथाहारः करोत्यपि ॥
 येऽग्नयो यांश्च पुष्यन्ति यात्रन्तो ये पचन्ति यान् ।
 रसादीनां क्रमोत्पत्तिर्मलानां तैभ्य एव च ॥
 वृथाणामाशुकृच्छेतुर्द्धातुकालोद्भवक्रमः ।
 रोगैकदेशकृच्छेतुरान्तराग्निर्यथाधिकः ॥
 प्रदुष्यति यथा दुष्टो यान् रोगान् जनयत्यपि ।
 ग्रहणी या समासाच्च ग्रहणादोषलक्षणम् ॥

गङ्गाधरः—रात्रावजीर्णे तु दिने भोजनं यथा स्यात् तदाह—रात्रावित्यादि ।
 रात्रौ तु सूर्यसम्पर्काभावात् पुण्डरीकवत् हृदये म्लाने मुद्रिते सत्ययनेषु
 रसादिवहस्रोतःसु संवृतेषु कोष्ठे च संवृते देहधातवः परिकृदं सच्चैवा क्लिन्नभावं
 यान्ति । क्लिन्नेषु तेषु रसादिधातुषु स्वस्वन्येष्वपक्वेषु च सत्स्वन्यदन्नमासिक्तं
 प्रदुष्यति । यथा विदग्धेष्वम्लीभूतषु तप्तेषु पयःस्वन्यत् पयोऽपितं प्रदुष्यति ।
 ततो यत् कार्यं तदाह—नैशेष्वित्यादि । तस्माद् बुद्धिमान् नैशेष्वहार-
 जातेषु अविपक्वेषु बलायुषी पालयिष्यन्नन्यदनं न समश्नीयादिति ॥ ८८ ॥

चक्रपाणिः—म्लान इति सङ्कुचिते । अपक्वेष्वित्यन्येषु । उपसंहरति नैशेष्वित्यादिना । न
 समश्नीयादिति योजना ॥ ८८ ॥

चक्रपाणिः—अन्तराग्निरित्यादिना अध्यायसंग्रहः । येऽग्नय इति यथास्वं स्वान् इत्याद्युक्तं

पूर्वरूपं पृथक् चापि व्यञ्जनं सचिकित्सितम् ।

चतुर्विधस्य निर्दिष्टा तथैवावस्थिकी क्रिया ॥

जायते च यथात्यग्निर्यच्च तस्य चिकित्सितम् ।

तदुक्तवानशेषेण ग्रहणीदोषिके मुनिः ॥ ८६ ॥

इत्यग्निवेशकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतैऽप्राप्तै दृढबलप्रतिसंस्कृतै

चिकित्सितस्थाने ग्रहणीदोषचिकित्सितं नाम

पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—अस्याध्यायस्यार्थसंग्रहार्थमाह—संग्रहश्लोकाः । अन्तरग्निरित्यादि ।
मुनिरात्रं यपुनर्वसुः ॥ ८९ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबलप्रतिसंस्कृत एव च ।

चिकित्सितस्थान एव ग्रहणीदोषिके पुनः । ग्रहणीदोषिकचिकित्सितं

पञ्चदशोऽध्यायः ।

इति वद्यश्रोतृगङ्गाधरकविराजकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ षष्ठस्कन्धे

चिकित्सितस्थानजल्पे ग्रहणीदोषचिकित्सितजल्पाख्या

पञ्चदशी शाखा ॥ १५ ॥

संगृह्णाति । यानिति सप्तभिर्देहधातार इत्यादुपत्तिसंग्रहः । आशुकारिकत्वेन हेतुना आशुकृद्भेतुः ।

शेषं व्यक्तम् ॥ ८९ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामयुर्वेददीपिकायां

चरकतालपर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां ग्रहणीदोषचिकित्सितं

नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः ।

अथातः पाण्डुरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः ।
चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—उद्दिष्टक्रमाद् ग्रहणीरोगचिकित्सानन्तरं पाण्डुरोगचिकित्सित-
माह—अथात इत्यादि । सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—पाण्डुरोगा इत्यादि । पञ्चमो मृदो भक्षणादिति । स्वकारण-
कुपितवातादिभिरेवान्यरोगा आरभ्यन्ते न च तत्कारणभेदाद्भिद्यन्ते, तथा
भक्षितकषायादिमृत्तिकया कुपिता वातादयोऽन्यरोगानिव पाण्डुरोगश्च
आरभन्ते । किमर्थं मृद्वक्षणाकारणाद्भिद्यते इति चेन्न, कषायादिमृद्वक्षणाकुपिता
वातादयः पाण्डुरोगमेवारभन्ते, नान्यरोगमारभन्ते, इत्यतो मृद्वक्षणातो भिद्यते,
चिकित्साविशेषार्थं वातादिहरमात्रचिकित्सया प्रशमाभावात् यथा च मृद् भक्षिता
वातादीनां कोपं जनयति, तथा पाण्डुरोगश्च जनयतीत्युभयहेतुर्मुदिति अतश्च
मृत्तिकाजत्वेन भिद्यत इति । यत् पुनः शोफकारणं मृदुक्ता तत् तु कषायोषर-
मधुरमृद्विन्ना मृत् । तथा कुपितवातादयः शोफमिवान्यरोगश्च जनयन्ति,
कारणान्तरकुपिता इव, तस्मान्न मृत्तिकाजत्वेन शोफो भिद्यते ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—ग्रहणीदोषचिकित्सिते तीक्ष्णाग्निना पित्तजननात् ग्रहणीचिकित्सितानन्तरं
पित्तप्रधानपाण्डुरोगचिकित्सितमुच्यते । पाण्डुना वक्ष्यमाणेभ्यः हरितालवर्णेभ्यः प्रधानेन
वर्णन चिकित्सितो रोगः पाण्डुरोगः । सुश्रुते उक्तं—सर्वेषु चैतेषु च पाण्डुभावो यतोऽन्त्रिको-
ऽतः खलु पाण्डुरोगः इति । कामलाहलीमकादिचिकित्सा च पाण्डुरोगभेदत्वादेव इहैव वक्तव्या ।
किंवा पाण्डुरोगादीनां चिकित्सितं पाण्डुरोगचिकित्सितमिति परिग्रहात् कामलाचिकित्सितमिति
प्रतिज्ञातम् । विशीथीये यद्यपि पाण्डुरोगः पञ्चसंख्याक उक्तस्तथापीह पुनस्तदनुवादेन सुश्रुतोक्त-
चतुःसंख्यात्वं निषेधयति । उक्तं हि सुश्रुते—पाण्डामयोऽष्टार्द्धविधः प्रदिष्टः पृथक्समस्तैर्युगपच्च
दोषैरिति । मृद्वक्षणाजः पृथगेवोच्यते ॥ १ । २ ॥

दोषाः पित्तप्रधानाश्च यस्य कुप्यन्ति धातुषु ।

शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवश्चोपजायते ॥

ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः ।

व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात् ॥

सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः ।

वैवर्ण्यं भजते तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम् ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—सम्प्राप्तिमाह—दोषा इत्यादि । पित्तप्रधाना इत्यनेन वातादि-
पृथग्जेषु पाण्डुरोगेषु सर्वेषु पित्तमारम्भकमुक्तं, तर्हि द्विदोषा एव किं सर्वे
भवन्तीत्यत उक्तं दोषा इति बहुवचनान्तम् । सर्वत्र पित्तं प्रधानं सदपि
योऽन्यो दोषः प्रधानतयारम्भकस्तेन दोषेण पृथग्दोषजो व्यपदिश्यते न तु
अप्रधानदोषेण । न हि सति पित्तप्राधान्ये द्वावितरौ दोषावारम्भकौ भवतः ।
तथाविधकोपनकारणाभावादितिवद् द्वन्द्वजः पाण्डुरोगोऽस्ति, सति पित्तप्राधान्ये
तदितरयोः प्राधान्येन प्रकोपे तज्जपाण्डुरोगस्य सन्निपातजत्वव्यपदेशात् । न
हि समत्रिदोषजत्वेन पाण्डुरोगसम्भवोऽस्ति, येन सन्निपातान्तरं व्यपदिश्य
द्विदोषजो व्यपदेश्यः स्यात् । पित्तप्रधाना इत्युक्ता सन्निपातेऽपि पित्त-
प्राधान्यवचनादिति । ये चान्येऽप्योजसो गुणा माधुर्यलाजगन्धादयः ।
यस्यैवमोजःक्षयः स्यात् सोऽल्परक्तादिः सन् वैवर्ण्यं भजते, तद् वैवर्ण्यं पाण्डुवर्णा-
व्यभिचारात् पाण्डुरोगमाहुस्तस्य सलक्षणं हेतुं शृणु ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—दोषा इत्यादिना संप्राप्तिमाह । पित्तं प्रधानं ययोस्ते पित्तप्रधानाः, बहुवचनञ्च
व्यक्तिबहुत्वापेक्षया न तु पारमार्थिकम् । गौरवं पाण्डुरोगिणो निःसारधातुत्वादिति ब्रुवते ।
ओजसो गुणा इति ओजसो ये दश गुणाः क्षीरसमाना उक्तास्ते ज्ञेयाः । ओजसः क्षणं नैव स्नेहक्षये
कब्धे पुनः स्नेहक्षयाभिधानं विशेषक्षयाभिधानार्थम् । दोषैर्दूष्याणां प्रकृष्टाद् दूषणादिति दोष-
दूष्यप्रवृण्णात् । निःसारः अष्टौ सारा इत्यादिना प्रोक्तसारविरहितः । शिथिलेन्द्रियः दुर्बलेन्द्रियः ।
स इति पुमान् । रक्तपित्तयोरेकयोनित्वात् अपिच पित्तरक्तयोरिह रक्तवृद्धिर्भाव्या तथापि ब्रह्
रक्तक्षयो रक्तपोषकरसस्य पित्तेन क्षयणात् रक्तपोषकसारभागानुत्पादाच्च । यद्यपि पित्तं तेजोरूप-
तया वर्णकरमिहोच्यते, यदुक्तं—तेजोधातुवर्णकर इति, तथापि विकृतत्वात् पित्तमिह विकृतवर्णकदेव
भवति ॥ ३ ॥

क्षाराम्ललवणात्युष्ण-विरुद्धाहारसेवनात् ।
 निष्पावमाषपिण्याक-तिलतैलनिषेवणात् ॥
 विदग्धेऽन्ने दिवास्वप्नाद् व्यायामान्मैथुनात् तथा ।
 प्रतिकर्मर्तुवैषम्याद् वेगानाञ्च विधारणात् ॥
 कामचिन्ताभयक्रोध-शोकोपहतचेतसः ।
 समुदीर्णं यथा पित्तं हृदये समवस्थितम् ॥
 वायुना बलिना क्षिप्तं सम्प्राप्य धमनीर्दश ।
 प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरसंस्थितम् ॥
 प्रदूष्य कफवातासृक्-त्वङ्मांसानि करोति तत् ।
 पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णांश्च विविधांस्त्वचि ॥
 स पाण्डुरोग इत्युक्तस्तस्य लिङ्गं भविष्यतः ।
 हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—क्षारेत्यादि । निष्पावः शिम्बिः, पिण्याकस्तिलकल्कः ।
 विदग्धेऽपके भुक्तेऽन्ने दिवास्वप्नात्, प्रतिकर्मवैषम्यादपररोगप्रतिकाराथ-
 कर्मणामसम्यग्योगात्, ऋतुवैषम्याच्च । अभिर्हेतुभिर्यथा पित्तं समुदीर्णं
 हृदये समवस्थितं तथा तैरेव क्षारादिभिः कुपितेन बलिना वायुना क्षिप्तं तत्
 पित्तं दश हृदयमूला धमनीः सम्प्राप्य केवलं कृत्स्नं देहं प्रपन्नं सत् त्वङ्-
 मांसयोरन्तरे संस्थितं कफवातासृक्त्वङ्मांसानि सन्दूष्य त्वचि पाण्डादीन्
 विविधान् वर्णान् तत् पित्तं करोति, स पाण्डुप्राधान्यात् पाण्डुरोग इत्युक्तः ।
 भविष्यतस्तस्य लिङ्गं हृदयेत्यादि ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—क्षारेत्यादिना समानं हेतुमाह—व्यायाममैथुने विदग्धेऽन्ने रोगहेतुनी । प्रतिकर्म-
 णाम् ऋतूनाञ्च वैषम्यम् । धमनीर्दश इति हृदयाश्रितदशधमनीः । केवलमिति कृत्स्नम् ।
 प्रदूष्य कफवातासृगित्यादिपाठे वायोः पित्तेन दूषणम् । यदा तु कफपित्तासृगिति पाठः तदा
 पित्तेन हृदयस्थेन स्थानान्तरस्थस्य पित्तस्य दूष्टिर्यथा । समुदीर्णमित्यादिना एवेयं संप्राप्तिः
 पूर्वोक्तसामान्यसंप्राप्तेरेव प्रपन्नः । तस्येत्यादिना पूर्वरूपमाह । स्वेदाभाव इति केचित्
 पठन्ति ॥ ४ ॥

सम्भूतैऽस्मिन् भवेत् सर्वः कर्णक्ष्वेदी हतानलः ।

दुर्बलः सदनोऽन्नद्विट् श्रमभ्रमनिपीडितः ॥

गात्रशूलज्वरश्वास-गौरवारुचिमान् नरः ।

मृदितैरिव गात्रैश्च पीडितोन्मथितैरिव ॥

शूनानिकूटो हरितः शीर्णरोमा हतप्रभः ।

कोपनः शिशिरद्वेषी निद्रालुः ष्ठीवनोऽल्पवाक् ॥

पिण्डकोद्वेष्टकटूरु-पादरुक् सदनानि च ।

स्युरध्वारोहणायासैर्विशेषस्तस्य वक्ष्यते ॥ ५ ॥

आहारैरुपवासैश्च वातलैः कुपितोऽनिलः ।

जनयेत् कृच्छ्रपाण्डुत्वं सरुक्षारुणभासताम् ॥

अङ्गमर्दं ज्वरं तोदं कम्पं पार्श्वशिरोरुजम् ।

वर्चःशोषास्यवैरस्यं शोथानाहबलक्षयान् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—तस्य सामान्यलिङ्गम् सम्भूत इत्यादि । अस्मिन् पाण्डुरोगे सम्भूते जाते सर्व्वी वातादिपाण्डुरोगी कर्णक्ष्वेदी कर्णरोगविशेषवान् । गात्रैः मृदितैरिव विशिष्टः पीडितैरुन्मथितैरिव च गात्रैर्विशिष्टः । पिण्डिका जाम्बधोमांसपिण्डं तस्योद्वेष्टनं दण्डादिनेव ताडनं कट्यादिषु रुक् सदनानि च अध्वारोहणायासैः स्युः । इति पाण्डुरोगसामान्यलक्षणम्, विशेषतो वातजादिलक्षणं वक्ष्यते ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—आहारैरित्यादि । वातलै रक्षादिभिराहारैः । कृच्छ्रपाण्डुत्वं सरुक्षारुणभासतामङ्गमर्दादींश्च जनयेत् ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—सम्भूतैऽस्मिन् इति उत्पन्ने पाण्डुरोगे कर्णक्ष्वेद इत्यादि सामान्यं लक्षणम् । कर्णक्ष्वेदी कर्णनादवान् । अन्नद्विट् इत्यादिना अन्नाग्रह उच्यते । अरुचिमान् इत्यनेन प्रार्थितान्न-भक्षणासामर्थ्यमुच्यते । शिशिरद्वेषी इति शीतद्वेषी । शिशिरद्वेषिता च पित्तरोगेऽप्यस्मिन् रोगमहिम्ना भवति । पिण्डकोद्वेष्टनं पिण्डकापीडा । आरोहणेनायासाच्चेति । विशेषश्चास्य वक्ष्यते इति पाण्डुरोगस्य वातजत्वादिविशेषतो हेतुलिङ्गविशेषो वक्ष्यते इत्यर्थः ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—आहारैरित्यादिना वातजस्य हेतुलक्षणे अप्याह । सामान्यलक्षणानि सर्व्वत्र भवन्ति विशेषलक्षणानि विशेषलक्षणाय ॥ ६ ॥

पित्तलस्याचितं पित्तं यथोक्तैः स्वैः प्रकोपणैः ।
 दूषयित्वा तु रक्तादीन् पाण्डुरोगाय कल्पते ॥
 स पीतो हरिताभो वा ज्वरदाहसमन्वितः ।
 छर्दिमूर्च्छापिपासार्तः * पीतमूत्रशकृन्नरः ॥
 स्वेदनः शीतकामश्च न चान्नमभिनन्दति ।
 कटुकास्यो न चास्योष्णमुपशेतैऽम्लमेव च ॥
 उद्गारोऽम्लो विदाहश्च विदग्धान्नरय जायते ।
 दौर्बल्यं भिन्नवर्चस्त्वं दौर्गन्ध्यं तम एव च ॥ ७ ॥
 विवृद्धः श्लेष्मलैः † श्लेष्मा पाण्डुरोगं स पूर्ववत् ।
 करोति गौरवं तन्द्रां छर्दिं श्वेतावभासताम् ॥
 प्रसेकं लोमहर्षश्च सादं मूर्च्छां भ्रमं क्लमम् ।
 श्वासं कासं तथा लस्यमरुचिं वाक्स्वरग्रहम् ॥
 मूत्राक्षिवर्चसां शौक्ल्यं कटुरुक्षाम्लकामताम् ।
 श्वयथुं लवणास्यत्वमिति पाण्ड्रामयः कफात् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—सहेतुपित्तपाण्डुरोगलक्षणमाह—पित्तलस्येत्यादि । पित्तलस्य
 पित्तप्रधानस्य स्वैः पित्तस्य यथोक्तैः कटुः श्लोष्णादिभिः प्रकोपणैराचितं पित्तं
 रक्तादीन् दूषयित्वा पाण्डुरोगाय कल्पते । नरः स पीतादिर्भवति । विदग्धान्न-
 स्योद्गारोऽम्लो विदाहश्च जायते । इति पित्तपाण्डुरोगस्य हेतुलक्षणमुक्तम् ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—अथ कफपाण्डुरोगस्य हेतुपूर्वकलक्षणमाह—विवृद्ध इत्यादि ।
 श्लेष्मलैर्गुरुमधुरादिभिः श्लेष्मकोपनैर्विवृद्धः श्लेष्मा स पूर्ववत् रक्तादीन्

चक्रपाणिः—पित्तलस्येत्यादिना पित्तकमाह । सर्वोऽपि पाण्डुरोगः पित्तजः तथाप्ययं
 विशेषण दोषान्तरासंपृक्तत्वात् प्रबलपित्तजन्यत्वात् पैत्तिक इत्युच्यते, यथा पैत्तिकं रक्तपित्तम् ।
 अत एवात्र पित्तातिप्रबलतोपदर्शनार्थं पित्तलस्येत्येनेन पित्तप्रकोपिकारणान्युक्तानि यथोक्तैः
 इति । रक्तादीन् रक्तप्रकारान् तेन रसरक्तादीनामपि ग्रहणम् । तृष्णामूर्च्छापिपासार्त इत्यत्र तृष्णा-
 निमित्ता मूर्च्छा तृष्णामूर्च्छा तेन पिपासया न पौनरुक्त्यम् । अन्ये तु तृष्णामिह क्षुधामाहुः ।
 केचित् तृष्णामूर्च्छापरीतस्येति पठन्ति ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—विवृद्धैरित्यादिना कफजमाह । पूर्व्व इति रक्तादीन् संदूष्य ॥ ८ ॥

* तृष्णामूर्च्छापिपासार्त इति चक्रः । † विवृद्धैः श्लेष्मलैः इति चक्रसम्मतः पाठः ।

सर्वान्नसेविनः सर्व-दोषा दुष्टास्त्रिदोषजम् ।
 त्रिदोषलिङ्गं कुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम् ॥ ६ ॥
 मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः ।
 कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ॥
 कोपयेन्मृद् रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तञ्च रुक्षयेत् ।
 पूरयत्यविषकैव स्रोतांसि निरुणद्धापि ॥

दूषयित्वा पाण्डुरोगं करोति । गौरवादिकञ्च करोति । वाक्स्वरग्रहं वाग्ग्रहं स्वरग्रहञ्च । इतिलक्षणः पाण्ड्वामयः कफाज्जायते ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—सन्निपात-पाण्डुरोगस्य हेतुलक्षणमाह—सर्वान्नेत्यादि । सर्वान्नानि वातपाण्डुरोग-पित्तपाण्डुरोग-कफपाण्डुरोगोक्तानि कषायादिकृदादि-मधुरादीनि सेवितुं शीलमस्य तस्य, सर्वदोषा वातपित्तकफाः पित्तप्रधाना दुष्टाः सन्तस्त्रिदोषलिङ्गं सुदुःसहं त्रिदोषजं पाण्डुरोगं कुर्वन्ति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—शेषं मृत्तिकाजपाण्डुरोगस्य हेतुलक्षणमाह—मृत्तिकेत्यादि । मृत्तिकादनशीलस्य मृत्तिकाविशेषभक्षणस्वभावस्य पुंसस्त्रयाणां मलानां वात-पित्तकफानामन्यतमो वातादेरकैकमलः कुप्यति । तत्र मृत्तिकाविशेषमाह येन यो मलः कुप्यति—कषायेत्यादि । कषाया मृत् मारुतं कोपयेत् । ऊषरा मृत् क्षारमृद् भक्षिता पित्तं कोपयेत् । मधुरा मृद् भक्षिता कफं कोपयेत् । रसादींश्च सा सा मृत् कोपयेत् । सा च सा च मृत् रौक्ष्याद् भुक्तवतो भुक्तमन्नञ्च रुक्षयेत् । तर्हि किं मृत्तिकाजः पाण्डुरोग एकदोषाद् भवति तेन च दोषाः पित्तप्रधानाश्चेति वचनं न सङ्गच्छते इति ? नैवं, कषायादेरकैका मृदेव स्वप्रभावात् पित्तप्रधानांस्त्रीन् दोषान् कोपयति, तत्र कषाया वातप्रबलपित्तप्रधान-त्रिदोषं कोपयेत् । ऊषरा पित्तप्रधानं, मधुरा पित्तप्रधानकफप्रबलत्रिदोषं कोपयेत् । न तु कषायोषरमधुरा त्रिधा मृन्मिलिता भक्षिता त्रीन् दोषान्

चक्रपाणिः—सर्वान्नेत्यादिना सान्निपातिकं व्याकरोति । त्रिदोषलिङ्गमिति प्रत्येकदोषलिङ्ग-समुदाययुक्तम् ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—मृत्तिकेत्यादिना मृद्भक्षणजमाह । अत्र च दोषसम्बन्धे सत्यपि मृदेव व्यपदेशिका न दोषाः । तस्या एव चिकित्साभेद-लिङ्गभेदकर्तृत्वात् । कषाया मारुतमित्यादिना मृद्वोऽपि

इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौ जसौ तथा ।

पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ॥

शूनाक्षिकूटगण्डभ्रुः शून्यन्नाभिमेहनः ।

क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक् कफान्वितम् ॥ १० ॥

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति ।

कालप्रकर्षाच्छूनो ना यो वा पीतानि पश्यति ॥

कोपयेत् इति । सा सा च मृद्भक्षिता वातादीन् कोपयेत् रसादीन् भुक्तञ्च
रुक्षयेत् स्वयञ्चाविषकैव स्रोतांसि पूरयति निरुणद्धि च । इन्द्रियाणां
बलं हत्वा तथा तेजो वीर्यौ जसौ च हत्वा बलवर्णाग्निनाशनं पाण्डुरोगमाशु
करोतीति । मृदः कतृ खवचनान्न तु कषायादिमृदा कुपितो वाताच्चन्यतमः
पाण्डुरोगं करोति । आगन्तुर्हि पूर्वं जायते पश्चादोषरनुबध्यते । तस्मात्
कषायाच्चन्यतमया मृदोक्तरूपेण जनितं पाण्डुरोगमुत्तरकालं तत्तन्मृदा कुपितो
वातादिरनुबध्नातीति दोषजाद् भेदः । यथा हि निरुक्तकारणात् कुपितो वातादिः
पाण्डुरोगं करोति न तथा मृत्कुपितः । मृदेव वातादीन् कोपयित्वा पाण्डुरोगं
करोति, ततस्तत् पित्तवातादिरनुबध्नातीति । शूनाक्षीत्यादि । यस्य भक्षिता
मृत् पाण्डुरोगं करोति स शूनाक्षिकूटादिः । शूने स्फीते अक्षिकूटे चक्षुर्गालके
गण्डे कपोले भ्रुवौ च शूनौ शोफौ यस्य सः । शूनानि पन्नाभिमेहनानि यस्य सः
पदादयः पृथक्छब्दाः सन्ति । क्रिमिकोष्ठः सन्नसृक्सहितं कफान्वितं मल
मतिसार्येत । इति मृत्तिकाभक्षणजपाण्डुरोगलक्षणम् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—सर्वेषामसाध्यलक्षणमाह—पाण्डुरोग इत्यादि । चिरोत्पन्नो
यदि खरीभवति रौक्ष्यात् कर्कशभावं गच्छति, तदा सर्व एव पाण्डुरोगो
न सिध्यति । यो वा ना पुमान् कालप्रकर्षादधिककालत्वात् शूनः शोफवान्
सन् सर्वाणि दृश्यानि पीतानि पश्यति, तस्य पाण्डुरोगो न सिध्यति ।

वातादिगतलिङ्गं दर्शयति । ऊपरेति सक्षारानुरसा । रसादींश्च भुक्तञ्च विरुक्ष्य इति योज्यम् ।
अविषकैवेति स्वरूपावस्थितैव केवलं स्रोतांसि पूरयति रुणद्धि च । स्रोतोविरोधेन रसादीनां
न सम्यग्बलं भवति तेन च बलवर्णाग्निनाशन इत्यनेन बलहातिं दर्शयति ॥ १० ॥

बद्धाल्पविट् सहरितं सकफं योऽतिसार्यते ।
 दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृड्ण्वितः ॥
 स नास्त्यसृक्क्षयाद् यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात् ।
 इति पञ्चविधस्योक्तं पाण्डुरोगस्य लक्षणम् ॥ ११ ॥
 पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते ।
 तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥
 हारिद्रनेत्रः सुभृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः ।
 रक्तपोतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हृतेन्द्रियः ॥
 दाहाविपाकदौर्बल्य-सदनारुचिकर्षितः ।
 कामला बहुपित्तेषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥

बद्धाल्पेत्यादि । यः सहरितं पालाशवर्णयुक्तं सकफं बद्धमथ चाल्पं विट्
 आसार्यते, दीनो दैन्यापन्नः श्वेतवर्णेनातिदिग्धाङ्गो भवति तृडाद्यर्दितश्च
 भवति, स पाण्डुरोगी नास्ति म्रियते । यश्च पाण्डुरसृक्क्षयात् श्वेतत्वमाप्नुयात्
 तत्पाण्डुरोगी नास्ति । इति पञ्चविधस्य पाण्डुरोगस्य लक्षणमुक्तं भवति ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—पाण्डुरोगस्यावस्थान्तरे संज्ञान्तरमाह—पाण्डुरोगीत्यादि । यः
 पाण्डुरोगी पित्तलानि द्रव्याण्यत्यर्थं निषेवते, तस्य पुनर्दृढं पित्तमसृङ्मांसं
 दग्ध्वा कामलाख्यरोगाय कल्पते । निदानार्थकरोऽयं पाण्डुरोगो भवति । तस्य
 लक्षणं हारिद्रेत्यादि । सुभृशमतिशयेन हारिद्रनेत्रः । भेकवर्णो वार्षिकभेक-
 वर्णवद्धारिद्रवर्णः, हृतेन्द्रिय इन्द्रियशक्तिरहितः । एषा कामला बहुपित्ता
 कोष्ठशाखाश्रया कोष्ठमामाशयादि, शाखा रक्तादयो धातवस्तदुभयाश्रया

चक्रपाणिः—पाण्डुरोग इत्यादिना असाध्यलक्षणमाह । खरीभूत इति अत्यर्थरुक्षः । कालेत्या-
 दिना अपरमसाध्यलक्षणम् । श्वेतानुदिग्धाङ्ग इति श्वेतवर्णलसाङ्ग इत्यर्थः ॥ ११ ॥

चक्रपाणिः—पाण्डुरोगीत्यादिना कामलामाह । पाण्डुरोगीति वचनात् पाण्डुरोगस्यैव हेतु-
 विशेषेण कामलादिरूपावस्था उत्पद्यते । अत एव च हारीतेऽपि कामलादीनामपि पाण्डुरोगत्व-
 भेदोक्तम् । वचनं हि—“वातेन पित्तेन कफेन चैव त्रिदोषमृद्भक्षणसंभवन्ति । द्वे कामले
 चैव हलीमकश्च इत्यष्टयैव पाण्डुरोगः ।” अन्या तु सुश्रुतोक्ता कामला भिन्ना भवति
 “यो ह्यामयान्ते सहसाम्लमज्ञमद्यादपथ्यान्यपि तस्य पित्तम् । करोति पाण्डुं वदनं विशेषात्

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला ।

कृष्णमूत्रशकृन्नेत्रो भृशं शूनश्च मानवः ॥

सरक्ताक्षिमुखच्छर्दि-विण्मूत्रो यश्च ताम्यति ।

दाहारुचितृङ्गानाह-तन्द्रामोहसमन्वितः ॥

नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान् विपद्यते ॥ १२ ॥

साध्यानामितरेषाञ्च प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् ।

तत्र पाण्डुमयी स्निग्ध-तोदणरुद्धानुलोमिकैः ।

शोध्यः स्यान्मृदुभिस्तित्तः कामलावान् विरेचनैः ॥

मता । तस्याः कोष्ठाश्रयत्वे कुम्भकामलासंज्ञा, तस्याः कृच्छ्रसाध्यता-
माह—कालान्तरादित्यादि । कालाधिक्ये कोष्ठाश्रया कुम्भकामला यदि
खरीभवति तदा कृच्छ्रा स्यात् । सर्व्वकामलानामसाध्यतामाह—कृष्णेत्यादि ।
अक्ष्णोमुखस्य छर्दिश्च विण्मूत्रयोश्च सरक्तत्वं यस्य सः । ईदृशः कामलावान्
विपद्यते म्रियते । इति पाण्डुरोगनिदानम् ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—अतः परमाह—साध्यानामित्यादि । उक्तासाध्यलक्षणपाण्डु-
कामलारोगादितरेषां कृच्छ्राणां पाण्डुरोगाणां साध्यानाञ्च चिकित्सितं
प्रवक्ष्यामि । चिकित्सामाह—तत्रेत्यादि । तत्र साध्यपाण्डुमयी स्निग्ध-
तीक्ष्णैरुद्धानुलोमिकैः वमनविरेचनैः शोध्यः स्यात् । कामलावांस्तु मृदुभिः
पूर्व्वैरितौ तन्निबलक्षयौ च ।” इत्यादिना पृथक् कामलाहेतुरुक्तः । वाग्भटेऽपि “भवेत्
पित्तोत्पन्नस्यासौ पाण्डुरोगादितेऽपि च” । इह तु पाण्डुरोगेऽपि भवेत् पाण्डुरोगाद्विनापि भवेत् ।
यथा प्रमेहाश्रिताः पिडकाः प्रमेहेषु भवन्ति विना प्रमेहमपि भवन्ति, तथा पाण्डुरोगिणोऽपि उक्ता
कामला पृथगपि भवति । कोष्ठशाखाश्रया बहुपित्तात् पाण्डुरोगपूर्व्विका भवति । या तु केवलं
शाखाश्रया सा अल्पपित्ता च ॥ वक्तव्या सा स्वतन्त्रापि भवतीति केचित् । अत एव तस्या रुक्ष-
शीतेत्यादिना पृथगेव हेतुं लिङ्गञ्च अध्यायशेषे वक्ष्यति । बहुपित्तेत्यनेन केवलं शाखाश्रयाया
अल्पपित्तत्वं सूचयति । अम्लकटुतीक्ष्णोपयोगं शाखाश्रयिपित्तस्य बलेन कोष्ठानयनार्थं वक्ष्यति ।
खरीभूतेति कठोरतामुपगता । कुम्भकामला अवस्थाभेदेन कोष्ठकामलायाः संज्ञा । कुम्भः कोष्ठः
तदाश्रया कामला कुम्भकामला । अस्याञ्च शोथोपलक्षणं भवति । उक्तं हि सुश्रुते—भेदस्तु तस्याः
खलु कुम्भमाहुः स्रोतोमहांश्चापि स पर्व्वभेदः ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—तत्रेत्यादिना चिकित्सामाह । ऊर्द्धानुलोमिकैरिति ऊर्द्धहरानुलोमनवमन-
विरेचनयोरपि ग्रहणं युक्तम् । यतः पाण्डुरोगेऽपि “कफपाण्डौ तु गोमूल-क्लिन्नयुक्तां हरीतकीम्”

ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानि दापयेत् ।
 शालीन् सयवगोधूमान् पुराणान् यूषसंहितान् ॥
 मुद्गादकीमसूरादौर्जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः ।
 यथादोषं विशिष्टञ्च तयोर्भैषज्यमाचरेत् ॥
 कल्याणकं पञ्चगव्यं महातिक्तमथापि वा ।
 स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे ॥ १३ ॥
 दाडिमात् कुडवं धान्यात् कुडवाच्च पलं पलम् ।
 चित्रकाच्छृङ्गवेराच्च पिप्पल्यष्टमिका तथा ॥
 तः कल्कैर्विंशतिपलं घृतस्य सलिलादके ।
 सिद्धं हृत्पाण्डुगुल्मार्शः-प्लीहवातकफार्त्तिनुत् ॥
 दोषनं श्वासकासघ्नं मूढवाते च शस्यते ।
 दुःखप्रसविनीनाञ्च बन्ध्यानाञ्चैव गर्भदम् ॥ १४ ॥

दाडिमाद्यं घृतम् ।

तिक्तैर्विरेचनैः शोध्यः स्यात् । ताभ्यां पाण्डुमयि-कामलावज्ज्यां संशुद्ध-
 कोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानि दापयेत् । मुद्गादकीमसूराद्यः कृतयुषसंहितान्
 पुराणान् सयवगोधूमान् शालीन् दापयेत् । जाङ्गलैश्च हितैर्मसिरसैः शालीन्
 दापयेत् । तथा यथादोषं विशिष्टञ्चासाधारणं भैषज्यं तयोः पाण्डुमयि-
 कामलावतोरचरेत् । कामलापाण्डुरोगिणे स्नेहनार्थम् उन्मादोक्तं कल्याणकं घृतं
 कुष्ठोक्तं पञ्चगव्यमथवा महातिक्तं घृतं दद्यादिति । इति चिकित्सासूत्राणि ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—दाडिमादित्यादि । दाडिमफलत्वचः कुडवं चतुष्पलं, धान्यात्
 कुडवाच्च पलद्वयं, चित्रकात् पलं, पलं शृङ्गवेराच्च, पिप्पल्यष्टमिका कर्षमानम् ।
 तैः कल्कघृतस्य विंशतिपलं सलिलादके पचेत् । अत्र केचित् पठन्ति तैर्द्वात्रिंशत्-
 पलं कल्कैरिति कल्कबाहुल्यानुभवात् दाडिमादिघृतम् ॥ १४ ॥

इत्यादिना विरेचनं वक्ष्यति । ताभ्यामिति पाण्डुरोगकामलाभ्याम् । ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाय इति पाठपक्ष
 ताभ्यामिति वमनविरेचनाभ्याम् । विशिष्टभैषज्यमिहैव कामलायां पाण्डुरोगे च वक्ष्यमाणं ज्ञेयम् ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—दाडिमेत्यादौ अष्टमिका द्विकर्षमुक्तम् । उक्तं हि 'द्वे सुवर्णे पलाद्वे' स्यात् शुक्ति-
 षष्ठमिका च' इति ॥ १४ ॥

कटुकां रोहिणीं मुस्तं हरिद्रे वत्सकात् फलम् ।

पटोलं चन्दनं मूर्वां त्रायमाणां दुरालभाम् ॥

सपिप्पलीं पर्पटकं भूनिम्बं देवदारु च ।

पिष्ट्वाक्षमात्रैस्तैः सर्पिः-प्रस्थं क्षीरादृक् पचेत् ॥

रक्तपित्तं ज्वरं दाहं श्रयथुं सभगन्दरम् ।

अर्शांस्यसृग्दरञ्चैव हन्याद् विस्फोटकांस्तथा ॥ १५ ॥

कटुकाद्यं घृतम् ।

पथ्याशतरसे पथ्या-वृन्तार्द्धशतकल्कवान् ।

प्रस्थः सिद्धो घृतात् पेयः स पाण्डुरामयगुल्मनुत् ॥ १६ ॥

पथ्याघृतम् ।

दन्त्याः शतपलरसे पिष्टैर्दन्तीशलाटुभिः ।

तद्वत् प्रस्थो घृतात् सिद्धः ग्रीहपाण्डुर्त्तिशोफजित् ॥ १७ ॥

दन्तीघृतम् ।

गङ्गाधरः—कटुकामित्यादि । कटुकां रोहिणीं कटुरोहिणीम् । एतरक्ष-
मात्रैः कल्कैः क्षीरादृक् षोडशशरावे दुग्धे घृतप्रस्थं विपाचयेत् । इति कटु-
काद्यं घृतम् ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—पथ्येत्यादि । पथ्यायाः शतपलस्य रसेऽपां द्रोणे पक्त्वावशेषे
शरावे पथ्यावृन्तार्द्धशतकल्कवान् पथ्याया वृन्तानामर्द्धशतं पञ्चाशत्-
पथ्यानां वृन्तानि कल्कीकृत्य घृतात् प्रस्थः सिद्धः पेयः । पथ्याघृतम् ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—दन्त्या इत्यादि । दन्त्याः शतपलस्य मूलस्यापां द्रोणे पक्वस्य
पादावशेषे षोडशशरावे रसे दन्तीशलाटुभिर्दन्त्या आमफलैः पिष्टैः पादिकैः
कल्कैर्घृतात् प्रस्थः सिद्धस्तद्वत् पेयः ग्रीहादिजित् । दन्तीघृतम् ॥ १७ ॥

चक्रपाणिः—पथ्याशतरसेन काथः कर्तव्यः । अतः च तथा काथार्थं जलं देयं यथा
चतुर्भागावशिष्टं सत् घृतचतुर्गुणं भवति, अत एव द्रोणमानं जलं देयम् । पथ्यावृन्तार्द्धशतं
हरीतकीफलबन्धनार्द्धशतम् । अन्ये तु पथ्याचूर्णं हरीतकीफलस्यैव चूर्णं तत् अस्थिशून्य-
मित्याहुः ॥ १५ । १६ ॥

चक्रपाणिः—दन्त्या इत्यादौ दन्त्याः काथः घृताचतुर्गुणं स्थाप्यः । तन्वान्तरदर्शनात् प्रस्थमानः
पुत्राक्ष काथो भवति । उक्तं ह्यन्यत्र “निङ्गुम्भकुडवकाथ-प्रस्थे तत्कल्कसंयुतम् । सर्पिःप्रस्थं
पचेत् ग्रीह-कामलापाण्डुरोगनुत्” ॥ १७ ॥

पुराणसर्पिषः प्रस्थो द्राक्षाद्धप्रस्थसाधितः ।

कामलागुल्मपाण्डुर्त्ति-ज्वरमेहोदरापहः ॥ १८ ॥

द्राक्षाघृतम् ।

हरिद्रात्रिफलानिम्ब-बलामधुकसाधितम् ।

सर्पारं माहिषं सर्पिः कामलाहरमुत्तमम् ॥ १९ ॥

हरिद्रादिघृतम् ।

गोमूत्रद्विगुणे दाव्वी-कल्काक्षद्वयसंयुतः ।

दाव्व्याः पञ्चपलकाथे कल्के कालीयकेऽपरः ॥

माहिषाज्यस्य तु प्रस्थः पूर्वः पूर्वे परे परः ।

स्नेहैरैरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत् ॥

गङ्गाधरः—पुराणेत्यादि । इह पुराणपदोपादानं सर्वत्र पुराणघृतग्रहण-
जापनार्थम् । द्राक्षाया अर्द्धप्रस्थः शरावमानं कल्कः द्वार्थमिहानुक्त्या जलं
चतुर्गुणम् । द्राक्षाघृतम् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—हरिद्रेत्यादि । हरिद्रादिः कल्कः पादिकः, पुराणं माहिषं सर्पिः
प्रस्थं, क्षीरं चतुर्गुणम् । हरिद्रादिघृतम् ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—गोमूत्रेत्यादि । गोमूत्रे द्विगुणे दाव्वीकल्कस्याक्षद्वयेन कर्ष-
द्वयेन संयुतो माहिषाज्यस्य प्रस्थः सिद्ध एष पूर्वः पूर्वे पाण्डुरोगे । दाव्व्याः
पञ्चपलस्य चत्वारिंशत्पलजले पकस्य पादशेषे दशपलकाथे कालीयककल्केऽक्ष-
द्वयमिते माहिषाज्यस्य तु प्रस्थोऽपरो योग एष परः परे कामलारोगे । (दाव्वी-
घृत-कालीयकघृते ।) एतैर्घृतैर्यत् कुर्यात् तदाह—स्नेहैरित्यादि । पाण्डा-
मयी स्निग्धतीक्ष्णैः शोध्यः, कामलावान् मृदुतिक्तैर्विरेच्यः, इति यदुक्तं, तद्विरेचने
कर्तव्ये एतैः स्नेहैरुपक्रम्य स्निग्धं पाण्डुकामलिनं मत्वा विरेचयेत् ।

चक्रपाणिः—पुराणेत्यादौ जलमनुक्तद्रवाद् भवति । द्राक्षाप्रस्थार्द्धन्तु कल्कः ॥ १८ ॥

चक्रपाणिः—हरिद्रेत्यादौ द्रवान्तराभावात् क्षीरमेव चतुर्गुणम् ॥ १९ ॥

चक्रपाणिः—दाव्व्याः कल्काक्षद्वयसाधितो माहिषात् सर्पिषः प्रस्थ इति योज्यम् । दाव्व्याः
पञ्चपलकाथे इत्येतापि पूर्वघृतानुसारात् पञ्चपलदाव्वीकाथोऽप घृताद् द्विगुण एव कर्तव्यः ॥

पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा ।

दन्तीफलरसे कोष्णे काश्मर्याञ्जलिना शृतम् ॥

द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वा वा दद्यात् पाण्डुमयापहम् ।

द्विशर्करं त्रिवृच्चूर्णं पलाञ्छं पैत्तिकः पिबेत् ॥ २० ॥

कफपाण्डुस्तु गोमूत्र-युक्तां क्लिन्नां हरीतकीम् ।

आरग्वधरसेनोर्विदार्यामलकस्य च ॥

सत्रूपणं विल्वपत्रं पिबेद् वा कामलापहम् ।

दन्तार्द्धपलकल्कं वा द्विगुडं शीतवारिणा ॥ २१ ॥

येन विरेचयेत् तदाह—पयसा मूत्रयुक्तेन केवलेन वा बहुशः पयसा विरेचयेत् । अपरश्चाह—दन्तीत्यादि । दन्तीफलानां बीजानां रसेऽष्टगुणजले पत्त्वा पादशेषे काथे कोष्णे काश्मर्याञ्जलिना गाम्भारी-पकफलपलचतुष्टयेन सह द्राक्षाञ्जलिं द्राक्षापलचतुष्टयं शृतं चतुर्थभागशेषं दद्यात् मृदित्वा वा दद्यादिति । कोष्णे दन्तीफलकाथे काश्मर्याञ्जलिसहित-द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वा यथायोग्यं देहबलापेक्षया दद्यात् । (विरेचनमिदम् ।) द्विशर्करमित्यादि । द्विगुणशर्करं त्रिवृच्चूर्णं पलाञ्छं देहाग्निबलापेक्षया पैत्तिकः पाण्डुरोगी पिबेत् ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—कफपाण्डुस्तु गोमूत्रे हरीतकीं स्थापितां क्लिन्नां गोमूत्रयुक्तां पिबेत् । आरग्वधेत्यादि । आरग्वधस्य फलमध्यस्थसर्वेष्टकबीजरसेन क्लिन्नां हरीतकीं पिबेदथवेक्षो रसेन क्लिन्नामथवा विदार्या रसेन क्लिन्नामथवामलकी-रसेन क्लिन्नां हरीतकीं पिबेत् । सत्रूपणं विल्वपत्रकल्कं कोष्ठाद्यपेक्षया कामलापहं पिबेत् । दन्त्यर्द्धेत्यादि । दन्तीमूलस्यार्द्धपलकल्कं द्विगुणगुडं शीतवारिणा कोष्ठाद्यपेक्षया पिबेत् ॥ २१ ॥

कालीयककल्कोऽपि पूर्ववत् अक्षद्वयमानमेव । पूर्वंः पूर्वं इति पूर्वं पाण्डुरोगे गोमूत्रसिद्धौ वृत्तप्रस्थाः परे तु कामलालये परो दाढ्या युक्तो देय इति शेषः । काश्मरी गाम्भारीफलम् । शृतमिति पाण्डकषायविधिना प्रक्षिप्तम् । द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वा इत्यनेन स्फुटमेव पाण्डकषायं दर्शयति । द्विशर्करमित्यादौ त्रिवृच्चूर्णं पलाञ्छं द्विशर्करयुक्तं सत् पलद्वयमानं भवति ॥ २० ॥

चक्रपाणिः—गोमूत्रक्लिन्नयुक्तमिति गोमूत्रेण क्लिन्नां कल्कीकृतां तथा गोमूत्रेण युक्तमालोडितं पिबेत् । अन्ये तु आरग्वधरसेन हरीतकीं पिबेत् इति योजयन्ति । इक्ष्वादिरसेन सन्निकटं

पिबेद् वा कामलावान् ना त्रिवृतां त्रिफलारसः ।
 विशालात्रिफलामुस्त-कुष्ठदारुकलिङ्गकान् ॥
 कर्षोन्मितानतिविषां कर्षार्द्धाश्च प्रदापयेत् ।
 कर्षौ मधुरसाया द्वौ सर्व्वमेतत् सुखाम्बुना ॥
 मृदितं तं रसं पूतं पीत्वा लिह्याच्च माक्षिकम् ।
 कासं श्वासं ज्वरं दाहं पाण्डुरोगमरोचकम् ।
 गुल्मानाहामवातांश्च रक्तपित्तञ्च नाशयेत् ॥ २२ ॥
 त्रिफलाया गुडूच्या वा दाढ्य्या निम्बस्य वा रसः ।
 प्रातःप्रातर्मधुयुतः शीलितः कामलापहः ॥
 क्षीरं मूत्रं पिबेत् पक्षं गव्यं माहिषमेव वा ।
 पाण्डुर्गोमूत्रयुक्तं वा सप्ताहं त्रिफलारसम् ॥
 तरुजान् ज्वलितान् मूत्रे निर्व्वाप्यामृद्य चाङ्कुरान् ।
 मातुलङ्गस्य तत् पूतं पाण्डुशोथहरं पिबेत् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—कामलावान् ना त्रिफलारसैस्त्रिवृतां वा पिबेत् । विशालेत्यादि ।
 विशालामूलादीन् प्रत्येकं कर्षोन्मितान् कर्षार्द्धांमतिविषां मधुरसाया मूव्याया
 द्वौ कर्षौ सर्व्वमेतत् कुट्टयित्वा षड्गुणेन सुखाम्बुना मृदितं पूतं तं रसं फाण्टारस्यं
 कौष्ठाद्यपेक्षया पीत्वा माक्षिकं लिह्यात् । आमवातं तन्त्रान्तरे द्रष्टव्यम् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—त्रिफलाया इत्यादि । त्रिफलाया मिलितायाः । एकयोगः ।
 शेषास्त्रयो योगाः । क्षीरमित्यादि । गव्यं क्षीरं मूत्रं माहिषमेव वा क्षीरं
 मूत्रं पाण्डुर्नरः पक्षं पिबेत् । गोमूत्रयुक्तं त्रिफलारसं वा पाण्डुर्नरः सप्ताहं
 पिबेत् । तरुजानित्यादि । मातुलङ्गस्य तरुजान् अङ्कुरान् दहने ज्वलितान्
 मूत्रे निर्व्वाप्य आमृद्य च तत् पूतं पाण्डुशोथहरं पिबेत् ॥ २३ ॥

पिबेदिति योजयन्ति । आरग्वधं सत्विकदुकं रसेनेक्षोः विदार्या आमलकस्य रसेन पिबेदिति
 अपरोऽर्थः । विशालेत्यादौ फाण्टकषायवद् द्रव्यात् पलमानात् चतुःपलं द्रवं वदन्ति
 वृद्धाः ॥ २१—२३ ॥

स्वर्णक्षीरी त्रिवृच्छागमा भद्रदारु सनागरम् ।

गोमूत्राञ्जलिना कल्कं मूत्रे वा कथितं पिबेत् ।

क्षीरमेभिः शृतं वापि पिबेद् दोषानुलोमनम् ॥ २४ ॥

हरीतकीं मूत्रयुतां प्रयोगेणाथ वा पिबेत् ।

जीर्णं क्षीरेण भुञ्जीत मधुरेण रसेन वा ॥

सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाप्ययोरजः ।

पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसा पाययेद् भिषक् ॥ २५ ॥

त्रूषणत्रिफलामुस्त-विडङ्गचित्रकाः समाः ।

नवायोरजसो भागास्तच्चूर्णं मधुसर्पिषा ।

भक्षयेत् पाण्डुहृद्रोग-कुष्ठार्शःकामलापहम् ॥ २६ ॥ *

नवायसं चूर्णम् ।

गङ्गाधरः—स्वर्णक्षीरीत्यादि । स्वर्णक्षीरी स्वर्णवर्णनिर्य्यासवृक्षविशेषः ।
इयामा इयाममूला त्रिवृत् । भद्रदारु देवदारु । एषां कल्कं गोमूत्राञ्जलिना
चतुःपलन पिबेत् । मूत्रेऽष्टगुणे कथितं वा स्वर्णक्षीर्यादिकं पिबेत् । एभिः
स्वर्णक्षीर्यादिभिः शृतं वा क्षीरं दोषानुलोमनं पिबेत् ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—हरीतकीमित्यादि । हरीतकीं मूत्रयुतां प्रयोगेण वा पिबेत् ।
जीर्णं तन्मूत्रयुक्तहरीतकीप्रयोगे क्षीरेण भुञ्जीताथवा मधुरेण मांसरसेन
भुञ्जीत । सप्तेत्यादि । गवां मूत्रे सप्तरात्रं भावितमयसो जारितमारितं
रजः पयसा मात्रया पाययेत् ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—त्रूषणेत्यादि । त्रूषणादयो नव समाः । मारितस्यायसो रजसो
नव भागा एकीकृतं तच्चूर्णं मधुसर्पिषा भक्षयेत् । नवायसचूर्णम् ॥ २६ ॥

चक्रपाणिः—नवायोरजसो भाग इति एकभागापेक्षया नवगुणत्वमयोरजसः, तेन त्रूषणा-
दीनां मिलितानां चूर्णेन सममयोरजः ॥ २४—२६ ॥

* इतः परं केचित् “नवायसमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण भाषितम्” श्लोकार्द्धमिदमधिकं पठन्ति ।

त्रिफलां त्रूषणं मूस्तं विडङ्गं चव्यचित्रकौ ।
 दाव्रीं त्वङ् माक्षिको धातुर्ग्रन्थिको देवदारु च ॥
 एषां द्विपलिकान् भागांश्चूर्णं कुर्यात् पृथक् पृथक् ।
 मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमञ्जनसन्निभम् ।
 गोमूत्रेऽष्टगुणे पक्त्वा तच्चूर्णं प्रक्षिपेत् पुनः ।
 उडुम्बरसमान् कुर्यात् वटकांस्तान् यथाग्निना ॥
 उपयुञ्जीत तक्रेण जीर्णे सात्म्यञ्च भोजनम् ।
 मण्डूरवटका ह्येतै प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम् ॥
 कुष्ठान्यजरकं शोथमूरुस्तम्भं कफामयान् ।
 अर्शांसि कामलां मेहं ग्रीहानं शमयन्ति च ॥ २७ ॥

मण्डूरवटकाः * ।

गङ्गाधरः—त्रिफलामित्यादि । माक्षिको धातुः स्वर्णमाक्षिकं किञ्चित्-
 सन्धवयुक्तं जम्बीररसेन पेषयित्वा लोहकटोरिकायां कृत्वाग्निना पचेत् ।
 शुष्कं नीलपीतादिनानावर्णं प्रज्वलितं यावद् भवेत् तावत् पक्त्वा रक्ताभं
 यदा स्यात् तदावहत्य चूर्णयित्वा ग्राह्यम् । मण्डूरं गोमूत्रेऽग्नौ दग्ध्वा दग्ध्वा
 निर्व्वाप्य संशोष्य चूर्णीकृत्याञ्जनसन्निभं कज्जलाभं ग्राह्यम्, तन्मण्डूरं सर्वचूर्णाद्
 द्विगुणं चर्णसहितमण्डूरादष्टगुणे गोमूत्रे मण्डूरचूर्णं पक्त्वा किञ्चिद् द्रवे सति
 त्रिफलादि तच्चूर्णं प्रक्षिपेत् । सर्वमेकीभूतम् उडुम्बरसमान् कोलप्रमान्
 वटकान् कुर्यात् । तान् यथाग्निवत् तक्रेण गोलयित्वा उपयुञ्जीत । जीर्णे
 तस्मिन् उपयुक्ते औषधे सात्म्यञ्च भोजनं तक्रेण उपयुञ्जीत । मण्डूरवटकः ॥२७॥

चक्रपाणिः—मण्डूरं पुराणं लोहकिट्टम् ॥ २७ ॥

* इतः परमित्यधिकः पाठः कचिद् दृश्यते । स यथा—

“ताप्याद्रिजतुरुष्यायो-मलाः पञ्चपलाः पृथक् । चित्तकलिफलाव्योष-विडङ्गैः पालिकैः सह ॥

शर्कराष्टपलोन्मिश्राश्चूर्णिता मधुनाप्लुताः । अभ्यस्यास्त्वक्षमात्रा हि जीण नियमिताशिना ।

कुलत्थकाकमाच्यादि-कपोतपरिहारिणा ॥”

गुड़नागरमण्डूर-तिनिशान् मानतः समान् ।
 पिप्पलीं द्विगुणां दद्याद् गुड़िकां पाण्डुरोगिणे ॥ २८ ॥
 त्रिफलायास्त्रयो भागास्त्रयस्त्रिकटुकस्य च ।
 भागश्चित्रकमूलस्य विडङ्गानां तथैव च ॥
 पञ्चाशमजतुनो भागास्तथा रूप्यमलस्य च ।
 मान्दिकस्य च शुद्धस्य लौहस्य रजसस्तथा ॥
 अष्टौ भागाः सितायाश्च तत् सर्वं सूक्ष्मचूर्णितम् ।
 मान्दिकेणाप्लुतं स्थाप्यमायसे भाजने शुभे ॥
 उडुम्बरसमां मात्रां ततः खादेद् यथाग्निना ।
 दिने दिने प्रयोगेण जीर्णे भोज्यं यथेप्सितम् ॥
 वर्जयित्वा कुलत्थांश्च काकमाचौ कपोतकान् ।
 योगराज इति ख्यातो योगोऽयममृतोपमः ॥
 रसायनमिदं श्रेष्ठं सर्वरोगहरं शिवम् ।
 पाण्डुरोगं विषं कासं यक्ष्माणां विषमज्वरम् ॥

गङ्गाधरः—गुडेत्यादि । गुडादीन् चतुरः समभागान् पिप्पलीं सर्वेषां
 द्विगुणां, गुड़िकां कृत्वा पाण्डुरोगिणे दद्यात् ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—त्रिफलाया इत्यादि । त्रिफलायाः प्रत्येकमेकभाग इति मिलि-
 तायास्त्रयो भागाः, एवं त्रिकटुकस्य च मिलितस्य त्रयो भागाः । एवमेको भाग-
 श्चित्रकस्य । विडङ्गानामेको भागः । अशमजतुनः शिलाजतुनः पञ्च भागाः ।
 रूप्यमलस्य वह्नौ ध्मातस्य रूप्यस्य यन्मलं निर्य्याति तस्य पञ्च भागाः । शुद्धस्य
 धातुमाक्षिकस्य पञ्च भागाः । लौहस्य मारितपुटितस्य पञ्च भागाः । सिताया
 अष्टौ भागाः । सर्वं तत् सूक्ष्मचूर्णं कृत्वा माक्षिकेण मधुना गोलयित्वा शुभ

चक्रपाणिः—त्रिफलाया इत्यादौ रूप्यमलं रूप्यस्य यत् किट्टं भवति तज्ज्ञेयम् । माक्षिके इत्येति
 माक्षिकधातोः । अशमजत्वादीनां चतुर्णां पञ्च भागाः प्रत्येकम् । किंवा पञ्चाशमजतुनो भागाः

कुष्ठान्यजरकं मेहं श्वासं हिकामरोचकम् ।

विशेषाद्धन्त्यपस्मारं कामलां गुदजानि च ॥ २६ ॥

योगराजः ।

कौटजत्रिफलानिम्ब-पटोलघननागरः ।

भावितानि दशाहानि रसैर्द्वित्रिगुणानि च ॥

शिलाजतुपलान्यष्टौ तावती सितशर्करा ।

त्वक्क्षीरीपिप्पलीधात्री-कटुकाख्याः पलोन्मिताः ॥

निदिग्ध्याः फलमूलाभ्यां पलं युक्त्या त्रिगन्धकम् ।

मधुत्रिपलसंयुक्तं कुर्यादक्षसमान् गुडान् ॥

डिमाम्बुपयःपक्षि-रसतोयसुरासवान् ।

तान् भक्षयित्वानुपिबेन्निरन्नोऽभुक्त एव वा ॥

पाण्डुकुष्ठज्वरप्लीह-तमकार्शोभगन्दरान् ।

पूतिहृच्छुक्रमूत्राग्नि-दोषशोथगरोदरान् ॥

आयसे भाजने स्थाप्यं, तत उडुम्बरसमां मात्रां यथाग्नि ना खादत् ।

योगराजः ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—कौटजेत्यादि । कौटजं फलम् । कौटजादीनां काथैर्दशाहान्यथवा विंशतिदिनान्यथवा त्रिंशद्दिनानि भावितानि, शिलाजतुनः पलान्यष्टौ, सितशर्करा तावती अष्टौ पलानि, त्वक्क्षीरीप्रभृतीनां प्रत्येकं पलं, कटुका रोहिणी, निदिग्ध्याः कण्टकार्याः फलं मूलञ्च पलम् । त्रिगुणन्धकं युक्त्या प्रत्येकं कर्षमानं, मधुनः पलत्रयम्, एतत् सर्व्वमेकीकृत्याक्षसमान् गुडान् पञ्च रूप्यमलस्य चेति पाठे रूप्यमलस्येति शिलाजतुविशेषणं, तेन रूप्यमलरूपं यदुक्तं शिलाजतु राजतं कटुकं श्वेतमित्यादि तदिह गृह्यते ॥ २८ । २९ ॥

चक्रपाणिः—भावितानीति द्विगुणत्रिगुणदशाहानि भावितानि । रसैरिति कुटजादिकाथैः । कौटजं कुटजफलम् । अत्र भावना शिलाजतुक्तेनैव विधिना कर्त्तव्या । काथ्यकाथमाने च तन्त्रान्तरे “तुल्यं गिरिजेन जले चतुर्गुणे भावनौषधं काथ्यम् । ततः काथे पादांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेद् गिरिजं । तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद् रसे भूयः” इति । एवञ्च अन्यत्रापि भावनाविधौ काथ्यकाथमानौ ज्ञेयौ । फलमूलाभ्यां पलमिति मिलित्वा पलम् । युक्त्या

कासासृग्दरपित्तासृक्-क्षोषगुल्मज्वरामयान् ।

ते च सर्व्वव्रणान् हन्युः सर्व्वरोगहराः शिवाः ॥ ३० ॥

शिलाजतुवटकाः ।

पुनर्नवात्रिवृद्धोष-विडङ्गं दारु चित्रकम् ।

कुष्ठं हरिद्रे त्रिफला दन्ती चव्यं कलिङ्गकाः ॥

कटुका पिप्पलीमूलं मुस्तञ्चेति पलोन्मितम् ।

मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाद् गोमूत्रे द्वाद्दके पचेत् ॥

कोलवद् गुडिकाः कृत्वा तक्रेणालोड्य ना पिबेत् ।

ताः पाण्डुरोगं प्रीहानमर्शांसि विषमज्वरम् ॥

श्वयथुं ग्रहणीदोषं हन्युः कुष्ठं क्रिमोस्तथा ।

आत्रेयेण पुनर्नवा-मण्डूरं कीर्तितं परम् ॥ ३१ ॥

पुनर्नवामण्डूरम् ।

दाव्वीत्वक्त्रिफलाव्योष-विडङ्गमयसो रजः ।

मधुसर्पिर्युतं लिह्यात् कामलापाण्डुरोगवान् ॥

तुल्या अयोरजःपथ्या-हरिद्राः चौद्रसर्पिषा ।

चूर्णिताः कामली लिह्याद् गुडचौद्रेण वाभयाम् ॥

कुर्यात् । निरन्नो भुक्तवान् वा तान् भक्षयित्वा दाडिमादीननुपिबेत् ।

शिलाजतुवटकाः ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—पुनर्नवेत्यादि । पुनर्नवादीनां चूर्णं पठं, सर्व्वचूर्णाद् द्विगुणं मण्डूरं, द्वाद्दके द्वात्रिंशच्छरावे गोमूत्रे पचेत् । कोलवद्गुडिकाः कृत्वा तक्रेणाळोड्य पिबेत् । पुनर्नवामण्डूरम् ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—दाव्वीत्यादि । दाव्वीत्विगादीनां सप्तानां सममयोरजः सर्व्वमेकीकृत्य स्थापयेत् । ततो मात्रां यथाग्नि मधुसर्पिर्भ्यां मर्दयित्वा लिह्यात् । तुल्या इत्यादि । मारितपुटितायोरजः पथ्या हरिद्रा चेति लिगन्धकमिति यावत्लिगन्धेन साधुगन्धो भवति तावन्मात्रं लिगन्धं ज्ञेयम् । लिगन्धश्च पलत्वगेलोच्यते । “लिगन्धन्तु समाख्यातं त्वगेलापत्रकैः समैः । तदेव तु समाख्यातं चातुर्जातं सकेसरम्” इति । पृथ्यादिभिर्दोषसम्बन्धः प्रत्येकं सम्बध्यते ॥ ३० । ३१ ॥

त्रिफला द्वे हरिद्रे च कटुरोहिण्ययोरजः ।

चूर्णितं मधुसर्पिभ्यां लेहयेत् कामलापहम् ॥ ३२ ॥

द्विपलांशां तुगाक्षीरीं नागरं मधुयष्टिकाम् ।

प्रास्थिकीं पिप्पलीं द्राक्षां शर्करार्द्धतुलां तथा ॥

धात्रीफलरसद्रोणे चूर्णितं लेहवत् पचेत् ।

शीतान्मधुप्रस्थयुतात् लिह्यात् पाणितलं ततः ॥

हलीमकं पाण्डुरोगं कामलाञ्चैव नाशयेत् ।

आत्रेयकीर्तितस्त्वेष धात्रीलेहः परः स्मृतः ॥ ३३ ॥ धात्रावलेहः ।

* त्रूषणं त्रिफलां चव्यं चित्रकं देवदारु च ।

विडङ्गान्यथ मुस्तञ्च वत्सकञ्चेति चूर्णयेत् ॥

मण्डूरतुल्यं चूर्णन्तु गोमूत्रेऽष्टगुणे पचेत् ।

शनैः सिद्धास्तथा शीताः कार्य्याः कर्षसमा गुडाः ॥

तिस्रश्चूर्णिताः क्षौद्रसर्पिषा कामली लिह्यादथवा अभयां चूर्णितां
गुडक्षौद्रेण लिह्यात् । त्रिफलेत्यादि । स्पष्टार्थम् ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—द्विपलांशमित्यादि—तुगाक्षीरी द्विपलांशा, नागरादिचतुष्टयं
प्रत्येकं प्रास्थिकं, शर्करार्द्धतुला, धात्रीफलरसस्य द्रोणश्चतुःषष्टिः शरावाः ।
सर्वमेतदेकत्र लेहवत् पचेत् । अवतार्य्य शीते मधुनः प्रस्थं दद्यात् । मधुप्रस्थ-
श्चतुःशरावः । धात्रावलेहः ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—त्रूषणमित्यादि । वत्सकमिन्द्रयवः, एतदन्तं सर्वं समांशं

चक्रपाणिः—द्विपलांशमित्यादौ द्राक्षा प्रास्थिकी । धात्रीफलरसो धात्रीस्वरसः ॥ ३२ । ३३ ॥

चक्रपाणिः—त्रूषणादीनामष्टाविंशतिपलानि, मण्डूरञ्च द्विगुणम् समुदितं चूर्णं चतुरस्रिका-
शीतिपलमानं भवति । पृथगिति पाठात् मण्डूरं चूर्णमेव (गोमूत्रञ्च मिलितचूर्णापेक्षयाष्टगुणम् ।)

* त्रूषणं त्रिफला मुस्तं विडङ्गं चव्यचित्रकौ । दार्वात्विड्माक्षिको धातुर्मन्थिकं देवदारु च ॥

एषां द्विपलिकान् भागांश्चूर्णं कृत्वा पृथक् पृथक् । मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमञ्जनसन्निभम् ॥

मूत्रे चाष्टगुणे पक्त्वा तस्मिन् प्रक्षिपेत्ततः । उडुम्बरसमान् कुर्याद् वटकांस्तान् यथाबलम् ॥

उपयुज्यते तत्रेण सात्स्यं जीर्णं च भोजनम् । मण्डूरवटका हेपते प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम् ।

कुष्ठान्यजरकं शोधयमूरुस्तम्भं कफामयान् । अशींसि कामलां मेहान् स्त्रीहाणं शमयन्ति च ॥

इति चक्रसम्मतः पाठः ।

मण्डूरवटकाः ।

यथाग्नि भक्षणीयास्तैः प्रोहपाण्डुमयापहाः ।

ग्रहण्यशोनुदश्च तक्रवाद्याशिनः स्मृताः ॥ ३४ ॥

मण्डूरवटकाः ।

द्राक्षाहरिद्रामञ्जिष्ठा-बलामूलान्ययोरजः ।

लोध्रश्चैतैषु गौड़ः स्यादरिष्टः पाण्डुरोगिणाम् ॥ ३५ ॥

गौड़ोऽरिष्टः ।

बीजकात् * षोडशपलं त्रिफलायाश्च विंशतिः ।

द्राक्षायाः पञ्च लाक्षायाः सप्त द्रोणे जलस्य तत् ॥

साध्यं पादावशेषे च पूतशीते प्रदापयेत् ।

शर्करायास्तुलां प्रस्थं क्षौद्रं दद्याच्च कार्षिकम् ॥

व्योषव्याघ्रनखोशीरं क्रमुकं सैलवालुकम् ।

माधूकं कुष्ठमित्येतच्चूर्णितं घृतभाजने ॥

चणयेत् । सर्व्वतुल्यं मण्डूरं, गोमूत्रे सर्व्वतोऽष्टगुणे पचेत् । मण्डूरादष्टगुणे पचेदिति कश्चित् । मण्डूरवटकाः ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—द्राक्षेत्यादि । द्राक्षादीनां षण्णां युक्त्या प्रत्येकं समभागः, सर्व्वं पादिकं, गुडश्चतुर्गुणः, सर्व्वं चतुर्गुणजले गोलयित्वा घृतभाजने स्थाप्यं, सप्ताहादिकाले जात एष गौड़ोऽरिष्टः स्यात् । गौड़ोऽरिष्टः ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—बीजकादित्यादि । बीजकं काञ्जिकाधःस्थक्लिन्नं, त्रिफलाया विंशतिः पलानि, द्राक्षायाः पञ्च पलानि, लाक्षायाः सप्त पलानि, तत् सर्व्वं जलस्य द्रोणे साध्यं, पादावशेषे पूते शीते च शर्करायास्तुलां प्रदापयेत्, क्षौद्रं प्रस्थं दद्यात् । व्योषादीनां कार्षिकं प्रत्येकं चूर्णं दद्याच्च । तत् सर्व्वं पृथङ्मूलं पक्त्वयम् । तस्मिन् सिध्यति त्रूपणादीनां तच्चूर्णं प्रक्षेप्यम् । शुद्धमिति पदेन मण्डूरस्य ध्मापनगोमूत्रनिर्व्वोषणादिना शुद्धिर्दशयति । केचित् तु गोमूत्रमष्टगुणं प्रत्यासन्नमण्डूरादेव वदन्ति । अयमेव च पक्षः प्रतिभाति ॥ ३४ । ३५ ॥

चक्रपाणिः—बीजकात् षोडशपलमित्यत्र केचित् द्विजीरकपलान्यष्टाविति वदन्ति ; तथापि

यवेषु दशरात्रस्थं ग्रीष्मे द्विः शिशिरे स्थितम् ।

पिबेत् तद् ग्रहणीपाण्डु-रोगार्शःशोथगुल्मनुत् ॥

मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेह-कामलासन्निपातनुत् ।

बीजकारिष्ट एवैष आत्रयेण प्रकीर्तितः ॥ ३६ ॥

बीजकारिष्टः ।

धात्रीफलसहस्रे द्वे पीडयित्वा रसं भिषक् ।

क्षौद्राष्टभागं पिप्पल्याश्चूर्णाद्धकुडवायुतम् ॥

शर्कराद्धतुलोन्मिश्रं पक्षं स्निग्धघटे स्थितम् ।

प्रपिबेन्मात्रया प्रातर्जीर्णे हितमिताशनः ॥

कामलापाण्डुहृद्रोग-वातासृग्विषमज्वरान् ।

कासहिक्कारुचिश्वासानेषोऽरिष्टः प्रणाशयेत् ॥ ३७ ॥

धात्ररिष्टः ।

स्थिरादिभिः शृतं तोयं पानाहारे प्रशस्यते ।

पाण्डूनां कामलात्तानां मृद्वीकामलकाद् रसः ॥ ३८ ॥

घृतभाजने कृत्वा यवेषु यवराशिमध्ये ग्रीष्मे दशरात्रं स्थापयेत् शिशिरे द्विदश-
रात्रं विंशतिरात्रं स्थापयेत् । इह ग्रीष्मशिशिरयोर्द्वयोः निर्देशात् वैशाखादयः
षण्मासा ग्रीष्माः, शेषाः शिशिराः । बीजकारिष्टः ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—धात्रीत्यादि । धात्रीफलानां गुडकानां द्वे सहस्रे कुडयित्वा
पीडयित्वा यावान् रसो लभ्यते तस्य रसस्याष्टमो भागः क्षौद्रस्य, पिप्पली-
चूर्णमर्द्धकुडवं द्विपलम्, शर्कराया अर्द्धतुलां दत्त्वा सर्वमेकीकृत्य स्निग्धे
घटे पक्षं स्थितं जातमरिष्टं मात्रया प्रातः प्रपिबेदिति । पीते तस्मिन्नरिष्टे
जीर्णं सति हितमिताशनः स्यात् । धात्ररिष्टः ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—स्थिरादिभिरित्यादि । स्थिरादिः शालपर्ण्यादिपञ्चमूलं तत्-
स एवार्थः । बीजकोऽसनः । व्याघ्रनखो नखीभेद एव । द्विः शिशिर इति विंशतिरात्र-
स्थितम् ॥ ३६ ॥

चक्रपाणिः—धात्रीत्यादौ धात्रीफलसहस्रद्वयस्य स्वरस एव ग्राह्यः ॥ ३७ ॥

चक्रपाणिः—कामलात्तानां मृद्वीकामलकीरसः पानाहारे प्रशस्यते इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

पाण्डु
विक
स्नेह
श्लो
निष
युक्ति
शुद्ध
व्यो
मुस्त
वृश्चि
साध
तद्वत

पक्वं तोयं
शृतः काथः
गङ्गाधर
उक्तं, पृथग्
भवति । क
प्रायिकत्वम्
कामलाचि
इत्यादि ।
युक्तिबो बुद्ध
शुद्धकायस्य
गङ्गाधर
व्योषादिभि
मृद्वोषपीडित
चक्रपाणिः
चिकित्सामाह

पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थमिदमुक्तं चिकित्सितम् ।
 विकल्प्यमेतद् भिषजा पृथग् दोषबलं प्रति ॥
 स्नेहप्रायं पवनजे तिक्तशीतन्तु पैत्तिके ।
 श्लैष्मिके कटुरुक्षोष्णं मिश्रं स्यात् सान्निपातिके ॥
 निष्पातयेच्छरीरात् तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक् ।
 युक्तिज्ञः शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम् ।
 शुद्धकायस्य सर्पींषि बलाधानानां योजयेत् ॥ ३६ ॥
 व्योषं विल्वं हरिद्रे द्वे त्रिफला द्वे पुनर्नवे ।
 मुस्तान्ययोरजः पाठा विडङ्गं देवदारु च ॥
 वृश्चिकाली च भार्गी च सक्षारैस्तैः समैर्घृतम् ।
 साधयित्वा पिबेद् युक्त्या नरो मृदोषपीडितः ।
 तद्वत् केशरयष्ट्याह-पिप्पलीक्षारशाद्वलैः ॥ ४० ॥

पक्वं तोयं पाण्डुरोगिणां प्रशस्यते । कामलार्त्तानान्तु मृद्वीकामलकाद् रसः
 मृतः काथः पानाहारे प्रशस्यते ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—पाण्डुरोगेत्यादि । इदं चिकित्सितं पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं सामान्यत
 उक्तं, पृथग्दोषबलं प्रति एषु मध्ये भिषजा बुद्ध्या विकल्प्यं विशेषेण कल्पनीयं
 भवति । कथं विकल्प्यं तदाह—स्नेहप्रायमित्यादि । प्रायशब्देन सर्वत्र उन्नेयं
 प्रायिकत्वम् । तिक्तशीतप्रायं पैत्तिके । कटुरुक्षोष्णप्रायं श्लैष्मिके । दोषजपाण्डु-
 कामलाचिकित्सितम् उक्त्वा मृत्तिकाजपाण्डुरोगचिकित्सितमाह— निष्पातयेत्
 इत्यादि । भिषक् मृत्तिकाभक्षणजे पाण्डुरोगे भक्षितामपक्वां मृत्तिकासुदरस्थां
 युक्तिज्ञो बुद्ध्या बलाबलं प्रसमीक्ष्य तीक्ष्णैः शोधनैः शरीरान्निष्पातयेत् निःसारयेत् ।
 शुद्धकायस्य तस्य बलाधानानि बल्यदशकसिद्धानि सर्पींषि योजयेत् ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—बलाधानानि च सर्पींषि कियन्त्याह—व्योषमित्यादि ।
 व्योषादिभिः सक्षारैः प्रत्येकं समैर्घृतात् पादिकैः कल्कैश्चतुर्गुणजले साधयित्वा
 मृदोषपीडितो नरो युक्त्या पिबेत् । तद्वदित्यादि । केशरादिभिः कल्कैः

चक्रपाणिः—विकल्प्यमित्यनेन विकल्पविधिमाह । निष्पातयेदित्यादिना मृजपाण्डुरोग-
 चिकित्सामाह । शाद्वलं दूर्वा ॥ ३९ । ४० ॥

मृदुभक्षणादातुरस्य लौल्यादविनिवर्त्तिनः ।

द्वेषार्थं भावितां कामं दद्यात् तद्दोषनाशनैः ॥

विडङ्गलातिविषया निम्बपत्रेण पाठया ।

वात्तकैः कटुरोहिण्या कौटजैर्मूर्ध्वयापि वा ॥

यथादोषं प्रकुर्वीत भेषजं पाण्डुरोगिणाम् ।

क्रियाविशेष एषोऽस्य मतो हेतुविशेषतः ॥ ४१ ॥

तिलपिष्टनिभं यस्तु कामलावान् सृजेन्मलम् ।

श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तं कफपित्तहरैर्जयेत् ॥ ४२ ॥

साधयित्वा घृतं तद्वत् पिबेत् । शाद्वलः सादहरिते देशे वत्तते, तेन यत्र भूमा सादारुण्यं नवतृणं जातं वत्तते तत्तृणस्थानमृत्तिका शाद्वल इह ग्राह्यः ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—मृदित्यादि । यो मृद्वक्षणेजपाण्डुरोगी लौल्यालोभात् मृद्वक्षणाच्च विनिवर्त्तते, तस्यानिवर्त्तिनो मृद्वक्षणे द्वेषार्थं मृद्वोषनाशनैर्विडङ्गादिभिर्निम्बपत्रेण पाठया वात्तकैः कटुरोहिण्या कौटजैर्मूर्ध्वया वा कथितया भावितां तां मृत्तिकां कामं यथाकामं खादितुं दद्यात् । एवं यथादोषं कषायादिमृद्वक्षणेन कुपितवातादिदोषहरं भेषजं मृद्वक्षणेजपाण्डुरोगिणां कुर्वीत । हेतुविशेषतः क्रियाविशेषोऽस्य मृद्वक्षणेजपाण्डुरोगस्य मतः ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—कामलाविशेषचिकित्सितमाह—तिलेत्यादि । यस्तु कामलावान् तिलपिष्टनिभं मलं पुरीषं सृजेत्, तं श्लेष्मणा रुद्धमार्गं कफपित्तहरद्रव्यैः जयेत् ॥ ४२ ॥

चक्रपाणिः—मृदुभक्षणादविनिवर्त्तिनः सकस्येत्यर्थः । भावितामिति तद्दोषनाशनैः द्रव्यैः संस्कृताम् । मूर्ध्वया पिबेदित्यन्तो ग्रन्थः पूर्व्वेण सम्बध्यते । पाण्डुरोगोक्तं दोषविशेषचिकित्सितं मृजेऽप्यतिदिशति—यथादोषमित्यादि । एष इति मृजे पाण्डुरोगे प्रोक्तः ॥ ४१ ॥

चक्रपाणिः—तिलपिष्टनिभमित्यादिना शाखाश्रयकामलाचिकित्सितं लक्षणपूर्व्वकमाह । श्लेष्मणा रुद्धमार्गमिति कोष्ठस्थेन श्लेष्मणा शाखाश्रयि पित्तं कामलाजनकं रुद्धमार्गं कोष्ठगमनार्थं निषिद्धमार्गमिति यावत् ॥ ४२ ॥

सलि
संमू
समा
सादो
सक्तो
रसैः
लुङ्गर
कामा

वहनि
शाखा
च
दोषस्य
शाखां

रुक्षशीतगुरुस्वादु-व्यायामैवैर्गनिग्रहैः ।
 कफसंमूर्च्छितो वायुः स्थानात् पित्तं क्षिपेद् बली ॥
 हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः ।
 भवेत् साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च ॥
 दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्त्ति-हिक्काकासारुचिज्वरैः ।
 क्रमेणाल्पेन सज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते ॥ ४३ ॥
 वर्हितित्तिरिदक्षाणां रुक्षाम्लकटुकै रसैः ।
 शुष्कमूलककौलथैर्युषैश्चान्नानि भोजयेत् ॥
 मातुलुङ्गरसं क्षौद्र-पिप्पलीमरिचान्वितम् ।
 सनागरं पिबेत् पित्तं तथास्यैति स्वमाशयम् ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—कोष्ठाश्रयकामलाचिकित्सामुक्तवा कामलायाः शाखाश्रयायाः
 सलिङ्गचिकित्सामाह—रुक्षेत्यादि । कामलायां रुक्षादिसेवनेन वायुः कफ-
 संमूर्च्छितः सन् बली स्थानात् पित्तं क्षिपेत् । तेन शाखारक्तादिधातु-
 समाश्रिते पित्ते कामली नरो हारिद्रनेत्रादिर्भवेत्, तदा श्वेतवर्चाः
 साटोपविष्टम्भश्च सन् गुरुणा हृदयेन दौर्बल्यादिभिश्च क्रमेणाल्पेन सज्येत
 सक्तो भवति । इति शाखाश्रयकामलालिङ्गम् ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—तदवस्थान्वितं तं कामलिनं वर्णादीनां मांसानां रुक्षादिभी
 रसैः शुष्कमूलकादिभिर्युषैश्चान्नानि भोजयेत् । क्षौद्रत्रिकटुकचूर्णसहितं मातु-
 लुङ्गरसं पिबेत् । तथा तेन प्रकारेणान्नभोजनेन मातुलुङ्गरसपानेन चास्य
 कामलिनः स्थानात् क्षिप्तं रक्तादिशाखागतं पित्तं स्वमाशयमेति याति ॥ ४४ ॥

चक्रपाणिः—एतदेव रुक्षेत्यादिना विस्तरेणाह । श्वेतवर्चा इति कोष्ठस्य पित्तस्य मलरजकस्य
 वह्निर्निर्गमात् वृद्धेन श्लेष्मणा श्वेतवर्चा भवति । क्रमेणाल्पेनेति ज्वरान्तैरनुषज्यते । पित्ते
 शाखाश्रित इति सम्बन्धः ॥ ४३ ॥

चक्रपाणिः—वर्हाद्यादिना कफहरं पित्तवृद्धिकरञ्च समं चिकित्सितं प्राह । यतः शाखाश्रय-
 दोषस्य वृद्धिः कोष्ठानयनार्थम् । उक्तं हि “वृद्ध्याभिष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोभनात् ।
 शाखां मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्” ॥ ४४ ॥

कटुतीक्ष्णैस्तु लवणैर्भूयोऽम्लैश्चाप्युपक्रमः ।

आ पित्तरोगाच्च कृतो वायोश्चा प्रशमाद् भवेत् ॥

स्वस्थानमागतै पित्ते मले पित्तानुरञ्जितै ।

निवृत्तोपद्रवस्यास्य पूर्व्वः कामलिको विधिः ॥ ४५ ॥

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितः श्यावपीतकः ।

बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः ॥

स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णारुचिर्भ्रमः ।

हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—ततोऽपरमुपक्रममाह—कटित्यादि । तत आ पित्तरोगात् उक्त-
हारिद्रनेत्रत्वादिरोगसञ्ज्ञावपर्य्यन्तं वायोरप्या प्रशमात् प्रशमपर्य्यन्तं कट्टादिभिः
भूय उपक्रम आरम्भः कृतो भवेत् । एवमेव स्वस्थानमागते पित्ते पित्तानुरञ्जिते
मले पुरीषे सति ज्ञात्वा निवृत्तोपद्रवस्य हारिद्रनेत्रत्वादिनिवृत्तौ चास्य पूर्व्वः
कामलिको विधिः काव्यः ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—यथा पाण्डुरोगस्यावस्थाविशेषः कामला तथाऽपरश्चाह—
यदा त्वित्यादि । यदा त्वनिलपित्तकरापचारविशेषात् पाण्डोः पुरुषस्य
वर्णो हरितादिः स्याद् बलादिक्षयादयश्च स्युः, तदा तस्य तं हलीमकमनिल-
पित्ततो विद्यात् ॥ ४६ ॥

चक्रपाणिः—आ पित्तरोगात् यावत् कोष्ठमार्गस्य मलं न वर्द्धते तावद्वर्त्तपित्तवर्द्धनम् । पूर्व्वं
इति पूर्व्वोक्तः । कामलिको विधिरिति कोष्ठाश्रयाकामलाचिकित्सितं कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ४५ ॥

चक्रपाणिः—यदेत्यादिना हलीमकमाह । अयमेव तन्त्रान्तरे लाघरसंज्ञया अलस उच्यते,
उक्तं हि सुश्रुते “ज्वराङ्गमर्दश्चमदाहतन्द्रा-क्षयान्वितो लाघरिकोऽलसश्च । तं वातपित्ताभि-
परीतलिङ्गं हलीमकं केचिदुदाहरन्ति ।” यच्चापि तत्र भिन्नवर्चस्त्वं सा चापि कामलावस्थैव न
पृथगुक्तम् । उक्तं हि तन्त्रान्तरे—“सन्तापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्ते च पीनता । पाण्डुता
नेत्ररागाश्च पल्लकीलक्षणं (१) मतम्” ॥ ४६ ॥

क्षीरं
स ह
मधुर
मधुर
सानु
तथा
लेहं

गुडूचीस्वरसक्षीर-साधितं माहिषं घृतम् ।
 स पिबेत् त्रिवृतां स्निग्धो रसेनामलकस्य तु ॥
 विरिक्तो मधुरप्रायं भजेत् पित्तानिलापहम् ।
 द्राक्षालेहश्च पूर्वोक्तं सर्पीषि मधुराणि च ॥
 यापनान् क्षीरवस्तींश्च शीलयेत् सानुवासनान् ।
 मार्द्वीकारिष्टयोगांश्च पिबेद् युक्त्याग्निवृद्धये ॥
 कासिकञ्चाभ्यालेहं पिप्पलीं मधुकं बलाम् ।
 पयसा च प्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलम् ॥ ४७ ॥

तत्र श्लोकौ ।

पाण्डोः पञ्चविधस्थोक्तं हेतुलक्षणभेषजम् ।
 कामला द्विविधा तेषां साध्यासाध्यत्वमेव च ॥

गङ्गाधरः—हलीमकचिकित्सामाह—गुडूचीत्यादि । गुडूचीस्वरसस्त्रिगुणः,
 क्षीरं घृतसमम् । एवंसाधितं माहिषं घृतं हलीमकी पिबेत् । तेन स्निग्धः
 स हलीमकी आमलकस्य रसेन त्रिवृतां विरेकार्थं मात्रया पिबेत् । विरिक्तस्तु
 मधुरप्रायं पित्तानिलापहं भेषजाहारं भजेत् । पूर्वमुक्तं द्राक्षालेहश्च भजेत् ।
 मधुराणि च सर्पीषि, यापनान् वस्तीन् सिद्धिस्थाने वक्ष्यमाणान् क्षीरवस्तींश्च
 सानुवासनान् शीलयेदभ्यस्येत् । मार्द्वीकेत्यादि । मार्द्वीकारिष्टं द्राक्षारिष्टं
 तथान्यानग्निविष्टद्वये योगान् युक्त्या पिबेत् । कासिकं कासे वक्ष्यमाणमभ्या-
 लेहं पिप्पल्यादित्रयं चूर्णीकृत्य पयसा प्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलमिति ॥४७॥

चक्रपाणिः—गुडूचीत्यादिना हलीमकचिकित्सामाह । द्राक्षालेहञ्च पूर्वोक्तमिति द्विपलांशं
 तुगाक्षीरीम् इत्यादिग्रन्थोक्तम् । इहैव यापनावस्तयः । कासिकञ्चाभ्यालेहमित्यगस्त्यहरीतकी ॥४७॥

तेषां विकल्पो यश्चान्यो महाव्याधिर्हलीमकः ।

तस्य चोक्तं समासेन लक्षणं सचिकित्सितम् ॥ ४८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतैऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते
चिकित्सितस्थाने पाण्डुरोगचिकित्सितं नाम
षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—पाण्डुरोगचिकित्सिताध्यायार्थं संग्रहेणाह—तत्र श्लोकाविति ।
पाण्डोरित्यादि ॥ ४८ ॥

इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव च ।

पाण्डुरोगचिकित्सिते वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरक-
जल्पकल्पतरौ षष्ठस्कन्धे चिकित्सितस्थानजल्पे पाण्डुरोग-
चिकित्सितजलपाख्या षोडशी शाखा ॥ १६ ॥

चक्रपाणिः—पाण्डोः पञ्चविधस्येत्यादिना संग्रहमाह । स च व्यक्त एव ॥ ४८ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां
चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां पाण्डुरोगचिकित्सितं
नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः ।

अथातो हिक्काश्वासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

वेदलोकार्थतत्त्वज्ञमात्रेयमृषिमुत्तमम् ।

अपृच्छत् संशयं धीमानग्निवेशः कृताञ्जलिः ॥

य इमे द्विविधाः प्रोक्तास्त्रिदोषास्त्रिप्रकोपणाः ।

रोगाणां विविधास्तेषां कस्को भवति दुर्जयः ॥ २ ॥

इत्यग्निवेशस्य वचः श्रुत्वा मतिमतां वरः ।

उवाच परमप्रीतः परमार्थविनिश्चयम् ॥

गङ्गाधरः—उद्दिष्टानुक्रमात् पाण्डुरोगचिकित्सितानन्तरं हिक्काश्वास-
चिकित्सितमाह—अथात इत्यादि । पूर्ववद्वाख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—वेदलोकेत्यादि । वेदार्थतत्त्वज्ञो लोकार्थतत्त्वज्ञश्चेति यस्त-
मात्रेयं पुनर्व्वसुं संशयमपृच्छत् । संशयमाह—य इत्यादि । ये खल्विमे विविधाः
त्रिप्रकोपणा असात्स्येन्द्रियसंयोगप्रज्ञापराधपरिणामास्त्रयः प्रकोपणा येषां ते,
त्रिदोषा वातपित्तकफास्त्रयो दोषा येषां ते, द्विविधाः सौम्याग्नेयभेदान्निजा-
गन्तुभेदाच्छारीरमानसभेदाद्रोगाः प्रोक्तास्तेषां रोगाणां मध्ये कस्को रोगो
दुर्जयो भवति ? ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—इत्यग्निवेशस्य संशयवचः श्रुत्वा मतिमतां वरो भगवानात्रेयः

चक्रपाणिः—पाण्डुरोगकारणत्वात् हिक्काश्वासयोः पाण्डुरोगानन्तरम् अभिधानम् । वक्ष्यति
हि “पाण्डुरोगाद् विषाच्च व प्रवर्त्तते गदाविमौ ।” इति । हिक्काश्वासौ च समानकारणचिकित्सित-
त्वात् एकाध्यायेनैवोक्तौ ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—वैदिकं लौकिकञ्च अर्थतत्त्वं जानातीति वेदलोकार्थतत्त्वज्ञः । द्विविधा इति
सामान्यासामान्यभेदेन किंवा मृदुदारुणभेदेन निजानिजभेदेन । त्रिदोषा इति वातादिभिः
पृथङ्मिलितैः । त्रिप्र कोपणा इति असात्स्येन्द्रियार्थसंयोगप्रज्ञापराधपरिणामकारणकाः ॥ २ ॥

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।
 यथा श्वासश्च हिक्रा च प्राणानाशु निकृन्ततः ॥
 अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः ।
 अन्तै सञ्जायते हिक्रा श्वासो वा तीव्रवेदनः ॥
 कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ ।
 हृदयस्य रसादीनां धातूनाञ्चोपशोषणौ ॥
 तस्मात् साधारणावेतौ मतौ मम सुदुर्जयौ ।
 मिथ्योपचरितौ क्रुद्धौ हत आशीविषाविव ॥
 पृथक् पञ्चविधावेतौ निर्दिष्टौ रोगसंग्रहे ।
 तयोः शृणु समुत्थानं लिङ्गञ्च सभिषग्जितम् ॥ ३ ॥

परमप्रीतः परमार्थविनिश्चयमुवाच । यदुवाच तदाह—काममित्यादि । कामं
 यथाभिलासात् प्राणहरा रोगा ज्वरातिसारादयो बहवः सन्ति, ते रोगास्तथा
 प्राणहरास्तु न भवन्ति यथा श्वासश्च हिक्रा चेति द्वौ रोगावाशु प्राणान्
 निकृन्ततः । कस्मादित्यत आह—अन्यैरित्यादि । यतोऽन्यैः पृथग्विधैः
 रोगैर्ज्वरातिसारादिभिरुपसृष्टस्यापि जन्तोरन्तेऽवसानविषये हिक्रा सञ्जायते,
 तीव्रवेदनः श्वासो वा सञ्जायते । दुर्जयत्वमाह—कफेत्यादि । एतौ हिक्राश्वासौ
 कफवातात्मकौ, किन्तु पित्तस्थानसमुद्भवौ, हृदयस्य रसादीनां धातूनां प्राणाय-
 तनानां यत उपशोषणौ, तस्मात् साधारणौ द्वावेतौ हिक्राश्वासौ सुदुर्जयौ मम
 मतौ । यतश्चैतौ मिथ्योपचरितौ क्रुद्धावाशीविषाविव हतः प्राणान् नाशयतः ।
 ननु कथमुपचरितौ भवतः क्रुद्धौ च न भवतः न चाशीविषाविव हत इत्यतस्तयो-
 र्मुपाचरं चिकित्सितमाह—पृथगित्यादि । रोगसंग्रहे सूत्रस्थानेऽष्टोदरीये पञ्च
 श्वासाः पञ्च हिक्रा इत्येतौ पञ्चविधौ उद्दिश्य, पञ्च श्वासा इति महोद्धृच्छिन्न-

चक्रपाणिः—काममित्यनुमताः । बहव इति ज्वरशङ्खकरोहिण्यादयः । यथा श्वासश्च हिक्रा च
 हृत्पथेन शीघ्रं प्राणहारित्वं हिक्राश्वासयोः दर्शयति । अन्त इति मरणसमये । संजायते इति अवश्यं
 हिक्राश्वासयोरन्यतरो जायते । पित्तस्थानसमुद्भवावित्यनेन पित्तस्य ऊर्ध्वस्थानसम्बन्धेन एव न
 तु वातकफवदारम्भकत्वं दर्शयति । पित्तस्थानशब्देन आमामाशयोऽभिप्रेतः । साधारणाविति प्रायः
 तुल्यचिकित्सयत्वात् । आशीविषाविव दृष्टिनिश्वासरूपरूपौ इव । मिथ्योपचरितोऽन्योऽपि रोगोऽस्ति

रजसा धूमवाताभ्यां शीतस्थानाम्बुसेवनात् ।
 व्यायामाद् ग्राम्यधर्माध्व-रुक्षान्नविषमाशनात् ॥
 आमप्रदोषादानाहाद् रौक्ष्यादत्यतर्पणात् ।
 मर्माभिघाताद् दौर्बल्याद् द्वन्द्वाच्छङ्कातियोगतः ॥
 अतीसारज्वरच्छर्दि-प्रतिश्यायक्षतक्षयात् ।
 रक्तपित्तादुदावर्त्ताद् विसूच्यलसकादपि ॥
 पाण्डुरोगाद् विषाच्चैव रोगावेतौ प्ररोहतः *
 निष्पावमार्षापण्याक-तिलतैलनिषेवणात् ॥
 पिष्टशालूकविष्टम्भि-विदाहिगुरुभोजनात् ।
 जलजानूपपिशित-दध्यामक्षीरसेवनात् ॥

तमकक्षुद्राः, पथ्र हिका इति महती गम्भीरा व्यपेता क्षद्रा चान्नजा चेति निर्दिष्टौ । तयोः पञ्चपञ्चविधयोर्द्विकाश्वासयोः सभिषग्जितं समुत्थानं निदानं लिङ्गञ्च शृणु ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—रजसेत्यादि । रजसा धूलिना । शीतस्थानशीताम्बुनोः सेवनात् । ग्राम्यधर्मोऽध्वा च तयोरसम्यक्सेवनात् । रुक्षान्नाशनाद् विषमाशनाच्च । आमस्यापक्वस्य प्रदोषात् । रौक्ष्यात् स्नेहसेवनात् । अत्यतर्पणात् लङ्घनातियोगादितः । द्वन्द्वात् गुरुलघू द्वन्द्वौ शीतोष्णौ द्वन्द्वौ मन्दतीक्ष्णौ द्वन्द्वौ मृदुकठिनौ द्वन्द्वौ खरमसृणौ द्वन्द्वौ विशदपिच्छिलौ द्वन्द्वौ स्थिरसरौ द्वन्द्वौ स्थूलसूक्ष्मौ द्वन्द्वौ स्निग्धरुक्षौ द्वन्द्वौ सान्द्रद्रवौ द्वन्द्वौ सुखदुःखे द्वन्द्वौ द्वन्द्वौ चेच्छाद्वेषौ द्वन्द्वौ प्रवृत्तिनिवृत्ती चेति । अतीसारादयो रोगा हिकाश्वासरोगहेतवः । एभ्यो हेतुभ्यो रोगावेतौ हिकाश्वासौ प्ररोहतः प्रादुर्भवतः । निष्पावतदिहाशीविषदृष्टान्तेन मिथ्योपचारे सति शीघ्रहन्तृत्वमाह । पृथगिति प्रत्येकं पञ्चविधः । रोगसंग्रहे इति अष्टौदरीये ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—अत्र च रजसेत्यादिना प्रायो वातप्रकोपकगणो विच्छिद्य उक्तः प्रवर्त्तते गदाविमौ हृत्यन्तेन । निष्पावेत्यादिना कफकारणतया हिकाश्वासयोः हेतुगणोऽभिहितः, तदनेन वातजनक-कफजनकहेतुवर्गद्वयविच्छेदपाठेन वातकफयोरप्यत्र स्वहेतुकुपितत्वेन स्वातन्त्र्यं दर्शयति नानुबन्ध्य-

अभिध्यन्दुरपचाराच्च श्लेष्मलानाञ्च सेवनात् ।

कण्ठोरसोः प्रतीघाताद् विबन्धैश्च पृथग्विधैः ॥

मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति ।

उरस्तः कफमुद्धूय हिक्राश्वासान् करोत्यथ ।

घोरान् प्राणोपरोधाय प्राणिनां पञ्च पञ्च च ॥ ४ ॥

द्वयोश्च पूर्वरूपाणि शृणु वक्ष्याम्यतः परम् ।

कण्ठोरसोर्गुरुत्वञ्च वदनस्य कषायता ॥

हिक्रानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ।

आनाहः पार्श्वशूलञ्च पीडनं हृदयस्य च ।

प्राणस्य च विलोमत्वं श्वासानां पूर्वलक्षणम् ॥ ५ ॥

प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः ।

हिक्राः करोति संरुध्य तासां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥ ६ ॥

दिभ्यो हेतुभ्यश्च । प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य मारुतः कुप्यति, कुपितः स उरस्तः उरसः कफमुद्धूय ऊर्द्ध्वं नीत्वाऽथ हिक्राश्वासान् पञ्च पञ्च च प्राणिनां प्राणोपरोधाय घोरान् करोति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—तत्रादौ हिक्रानां पूर्वरूपाण्याह—कण्ठेत्यादि । कुक्षेराटोपो गुड़-गुड़ाशब्दः । हिक्रापूर्वरूपानन्तरं श्वासपूर्वरूपमाह—आनाह इत्यादि । प्राणस्य च विलोमत्वं, प्राणोऽत्र श्वासनिर्गमनं तस्य विलोमत्वमनुलोमाभाव इति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—हिक्रायाः सम्प्राप्तिमाह—प्राणेत्यादि । प्राणादिवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः संरुध्य हिक्राः करोति । तासां पृथक् प्रत्येकं लिङ्गं शृणु ॥ ६ ॥ रूपत्वम् । प्राणवाहीनीत्यादिना संप्राप्तिमाह । इयं हिक्राश्वासयोः साधारणी संप्राप्तिः । वैशेषिकी चात्र वक्ष्यति । प्राणोपरोधायेति प्रायः प्राणहरायेत्यथः । पञ्च पञ्च चेति हिक्राः पञ्च श्वासाः पञ्च इत्यर्थः ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—लक्षणग्रहगृहीतं पूर्वरूपं हिक्रानां कण्ठोरसोः इत्यादिना, श्वासानामानाह इत्यादिना आह । विलोमत्वमिति पर्याकुलत्वम् ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—प्राणोदकेत्यादिना विशिष्टहिक्रासंप्राप्तिमाह ॥ ६ ॥

क्षीणमांसबलप्राण-तैजसः सकफोऽनिलः ।

गृहीत्वा सहसा कण्ठमुच्चैर्घोषवतीं भृशम् ।

करोति सततं हिक्कां द्विस्त्रिरेकगुणां तथा * ॥

प्राणस्रोतांसि मर्माणि संरुध्योष्माणमेव च ।

संज्ञां मुष्णाति गात्रेषु स्तम्भं संजनयत्यपि ।

मार्गञ्चैवान्नपानानां रुणद्धुपहतस्मृतैः ॥

सास्त्रुविप्लुतनेत्रस्य स्तब्धशङ्खच्युतभ्रुवः ।

सक्तजल्पप्रलापस्य निवृत्तिं नाधिगच्छतः ॥

महाशब्दा महावेगा महातैजा † महाबला ।

महाहिकेति सा नृणां सद्यः प्राणहरा मता ॥ ७ ॥

इति महाहिको ।

गङ्गाधरः—क्षीणेत्यादि महाहिकालिङ्गम् । तेजः शरीरप्रभावः । क्षीण-
मांसादेः पुंसः सकफोऽनिल उदानः सहसा कण्ठं गृहीत्वा सततमविच्छेदेन
भृशमत्यथमुच्चैर्घोषवतीं हिक्कां हिगिति शब्दं कृत्वा कायति या रुक् तां करोति ।
एकगुणां कस्यचित् कस्यचिद् द्विर्द्विगुणां त्रिस्त्रिगुणां तथा कस्यचित् । गुणा
महावेगतेजोबलानि तेषां गुणानामन्यतमैकद्वित्रिगुणामिति । तथा प्राणस्य
स्रोतांसि मर्माणि हृदयादीनि उष्माणश्च संरुध्य संज्ञां मुष्णाति लोपयति,
गात्रेषु स्तम्भमपि जनयति । अस्य हिक्किन उपहतस्मृतैः सास्त्रुविप्लुतनेत्रस्य
स्तब्धशङ्खस्य च्युतभ्रुवः सक्तजल्पप्रलापस्य अव्यक्तजल्पस्याव्यक्तानर्थक-
वचनस्य हिक्कायाः सातत्यान्निवृत्तिं नाधिगच्छतो नरस्यान्नपानानां गमन-
मार्गञ्चैव रुणद्धि । एतादृशस्य नरस्यैषा महाशब्दा महावेगा महातैजा महा-
वीर्या महाबला यस्मात् तस्मान्महाहिकेति मता । नृणां सद्यः प्राणहरा ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—क्षीणमांसबलप्राणतेजस इति । अनुप्राणो वायुः उत्साहो वा, तेजोऽग्निः । उच्चै-
र्गृहीत्वा घोषवतीमिति योज्यम् । द्विसन्ततां त्रिसन्तताम् अनेकगुणां वा करोति । तत्र
द्विसन्तता एकोपक्रमे वारद्वयं भवति । संरुध्योष्माणमिति देहोष्माणम् । संसक्तवचनतया प्रलापो
यस्य स सक्तवाक्प्रलापः । महामूलेति महाबलगम्भीराश्रयदोषमूला । महाशब्दत्वञ्च उच्चैर्घोषवती-
मित्यनेन एवोक्तमपि महाहिकसंज्ञोपादानार्थम् इह पुनरुक्तिः । तेन महाहिकेति संज्ञा ॥ ७ ॥

*—हिक्कां तथैकद्वित्रिसन्तताम् इति चक्रः ।

† महामूलेति चक्रः ।

हिक्रते यः प्रवृद्धन्तु कृशो दीनमना नरः ।

जज्जरेणोरसा कृच्छ्रं गम्भीरमनु नादयन् ॥

संक्षिपन् जृम्भमाणश्च तथाङ्गानि प्रसारयन् ।

पार्श्वे चोभे समायम्य कूजस्तम्भरुगर्दितः ॥

नाभेः पकाशयाद् वापि हिक्रा चास्योपजायते ।

क्षोभयन्ती भृशं देहं नामयन्तीव ताम्यतः ॥

रुणद्धुच्छ्वासमार्गन्तु प्रनष्टबलचेतसः ।

गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्रा प्राणान्तिकी मता ॥ ८ ॥

इति गम्भीरा हिक्रा ।

व्यपेता जायते हिक्रा यान्नपाने चतुर्विधे ।

आहारपरिणामान्ते भूयश्च लभते बलम् ॥

गङ्गाधरः—गम्भीरालक्षणमाह—हिक्रते इत्यादि । यस्तु नरः कृशो दीन-
मना जज्जरेण उरसा विशिष्टः सन् कृच्छ्रं यथा स्यात् तथा गम्भीरं नादमनु
नादयन् सन् तथाङ्गानि भूमौ संक्षिपन् प्रसारयन् जृम्भमाणश्च उभे पार्श्वे
समायम्य दीर्घीकृत्य कूजरतम्भरुगर्दितश्च श्वासाविरोधकारिणी न तु प्राण-
नाशिनी प्रवृद्धं यथा स्यात् तथा हिक्रते । हिक्र कूजनेऽनुदात्तेद्भवादिः धातुः ।
अस्य खल्वेवम्भूतं हिक्रमानस्य नाभेः प्रवर्त्तमाना हिक्रा पकाशयाद्वापि प्रवर्त्त-
माना हिक्रोपजायते । पूर्वमुक्तं पित्तस्थानसमुद्भवाविति प्रायिकत्वात् पका-
शयप्रवृत्तावपि न दोषः । एवं नाभेः पकाशयाद्वोपजातास्य हिक्रा ताम्यतो
ग्लानिमतोऽस्य देहं भृशं क्षोभयन्ती सञ्चालयन्ती तथा नामयन्तीव नतं देहं
कुर्वन्तीव प्रनष्टबलचेतसोऽस्य उच्छ्वासमाग रुणद्धि । सेयं गम्भीरा नाम
हिक्रा, तस्य नरस्य प्राणान्तिकी प्राणान्तिकृन्मता ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकत्वाद् व्यपेतामाह—व्यपेतेत्यादि । या हिक्रा चतुर्विधे
ऽन्नपानेऽशितखादितलीदृपीते जायते, आहारपरिणामान्ते व्यपगते भूयो बलश्च

चक्रपाणिः—तत्र हिंगिति कायति शब्दं करोतीति हिक्रा । गम्भीरमनुनादयन् इति हिक्राया
अनु गम्भीरे शब्दं कुर्वन् । संक्षिपन् अङ्गमिति योज्यम् । गम्भीरदेशभवत्वात् गम्भीरेति
संज्ञा ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—व्यपेता परिणता इत्यर्थः । आहारपरिणामान्त इति आहारपरिणामे वृत्ते, एतेन

प्रलापच्छर्द्दतीसार-तृष्णार्त्तस्य विचेतसः ।

जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिनः ॥

पर्याध्मातस्य हिक्का या जत्रुमूलादसन्तता ।

सा व्यपेतैति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी ॥ ६ ॥

इति व्यपेता वा यमिका हिक्का ।

क्षुद्रवातो यदा कोष्ठाद् व्यायामपरिघटितः ।

कण्ठं प्रपद्यते हिक्कां क्षुद्रां संजनयेत् तदा ॥

अतिदुःखा न सा नोरः-शिरोमर्मप्रवाधिनी ।

न च श्वासान्नपानानां मार्गमावृत्य तिष्ठति ॥

वृद्धिमायस्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम् ।

यतः प्रवर्त्तते पूर्वं तत एव निवर्त्तते ॥

लभते, सा हिक्का व्यपेतोच्यते । इति निरुक्तिः । प्रलापाद्यार्त्तस्य विचेतसो जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिनो नतगात्रस्य पर्याध्मातस्य प्रत्याध्मानवतश्च या हिक्का जत्रुमूलात् क्लोमस्थानात् प्रवर्त्तते न सन्तता वर्त्तते, सा हिक्का व्यपेतैति नाम, विज्ञेया प्राणोपरोधिनी । (इति व्यपेता-लक्षणम् ।) यमलवेगो बोध्यो यमिका च प्रलापार्त्तीति वक्ष्यमाणवचनेन ज्ञापनात् । तन्त्रान्तरे—चिरेण यमलवेगंर्या हिक्का संप्रवर्त्तते । कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्देशेत् इत्युक्तेः ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—क्षुद्रहिक्कालक्षणमाह—क्षुद्रेत्यादि । यदा व्यायामपरिघटितः क्षुद्रवातः कोष्ठादुदरात् कण्ठं प्रपद्यते तदा क्षुद्रां हिक्कां संजनयेत् । सा हिक्का नातिदुःखा न चोरःशिरोमर्मप्रवाधिनी न च श्वासादिमार्गमावृत्य तिष्ठति । आयस्यतो वृद्धिं याति भुक्तमात्रे मार्दवं याति । यतः पूर्वं प्रवर्त्तते

आहारेऽपि उत्पद्यत अन्ते बलवती भवति, सा व्यपेता इति संज्ञया दर्शयति । विनामिन इति शरीरविनामकस्य । असन्ततेति अनतिदीर्घा ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—क्षुद्रेत्यादिना क्षुद्रहिक्कामाह । क्षुद्रवातोऽल्पवातः । केचित् क्षुद्रवातमुदान-माहुः । आयस्यत इति आयासं कुर्वन्तः, मार्दवं यातीति सम्बन्धः । यतः प्रवर्त्तते पूर्वं तत एव निवर्त्तते इति उत्पद्यमानैव निवर्त्तमानवेगा भवति, महाहिक्कादिवत् अनुबन्धा न भवति

हृदयं क्लोम कण्ठश्च तालुकश्च समाश्रिता ।

मृद्वी सा क्षुद्रहिकेति नृणां साध्या प्रकीर्त्तिता ॥ १० ॥

इति क्षुद्रहिका ।

सहस्रैवातिसंभुक्तैः पानान्नैः पीडितोऽनिलः ।

ऊर्ध्वं प्रपद्यते कोष्ठान्मदैर्वातिमदप्रदैः ॥

तथातिरोषभाष्याध्व-हास्यभारातिवर्त्तनैः ।

वायुः कोष्ठं गतो धावन् पानभोज्यप्रपीडितः ॥

प्रकरोत्यन्नजां हिकामुरःस्रोतःसमाश्रितः ।

तथाशनैरसम्बन्धं क्षुवंश्चापि स हिकते ॥

न मर्मबाधाजननी नेन्द्रियाणां प्रवाधिनी ।

हिका पीते तथा भुक्ते शमं याति तु सान्नजा ॥ ११ ॥

इत्यन्नजा हिका ।

तत एव कारणान्निवर्त्तते । हृदयादिकं समाश्रिता सा मृद्वी हिका नृणां
क्षुद्रहिकेति नाम साध्या कीर्त्तिता ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—अन्नजामाह—सहस्रेत्यादि । अतिसंभुक्तैः पानान्नैः पीडितो-
ऽनिलः सहस्रैव कोष्ठादूर्ध्वं प्रपद्यते । अतिमदप्रदैर्मद्यैर्वा पीडितोऽनिलः
सहस्रैव कोष्ठादूर्ध्वं प्रपद्यते । तथा अतिरोषादिभिः पानभोज्यप्रपीडितः
कोष्ठगतो वायुर्धावन् उरःस्रोतःसमाश्रितोऽन्नजां हिकां प्रकरोति । तथा
सोऽयं वायुरशनैरसम्बन्धं यथा स्यात् तथा क्षुवं क्षवथुं कुब्धेन हिकते । सेयं
हिका न मर्मबाधाजननी न चेन्द्रियाणां प्रवाधिनी । तथा पीते भुक्ते च शमं
याति । सा हिकाऽन्नजा नाम ॥ ११ ॥

उत्पादकहेतोः व्यायामादेरेव निवर्त्तते, व्यायामादिना हिकाजनकवातस्य क्षुद्रस्य निक्षेपात् संप्राप्ति-
भङ्गेनेति भावः । क्षुद्रवातजनितत्वात् क्षुद्रा हिका ॥ १० ॥

सङ्ग्रहाणि—सहस्रेत्यादिना अन्नजामाह । इयञ्च यद्यपि दोषाभिमूतजाप्युक्ता, तथापि
दोषादिजनितानि । पानाभोज्यप्रपीडित इत्यनेनास्य कारणत्वेनोक्तत्वात् अन्नजेयमिति संज्ञा ॥ ११ ॥

अतिसञ्चितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च ।

व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥

आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम् ।

यमिका च प्रलापार्त्ति-मोहतृष्णासमन्विता ॥

अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः ।

तस्य साधयितं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—पञ्चानामसाध्यत्वमाह—अतीत्यादि । आसां पञ्चानां हिक्कानां मध्ये या हिक्का अतिसञ्चितदोषस्य नरस्य समुत्पन्ना, भक्तच्छेदकृशस्य अरुचिजनितभक्तभोजनाभावेन कृशस्य नरस्य वा योत्पन्ना, व्याधिभिरन्यैः क्षीणदेहस्य वा या समुत्पन्ना, वृद्धस्य नरस्य वा या समुत्पन्ना, या चातिव्यवायिनः समुत्पन्ना, सा तस्य जीवितमाशु हन्ति । यदुक्तं महाहिक्केति सा नृणां सद्यः प्राणहरा मता इति । तथा गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता इति यदुक्तं, तथाप्यासामिति वचनं सा व्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनीति प्राणोपरोधिनी न प्राणनाशिनी, तेन व्यपेता क्षुद्रहिक्का तथान्नजा त्रिधाऽतिसम्भुक्तजा अतिमदकरमद्यपानजा अतिरोषादितोऽन्नपानप्रपीडनजा चेति पञ्चानामभिप्रायेणेति । यत् तु व्याख्यायते । महाहिक्कादीनामसाध्यत्वेऽपि पुनरिहासामिति वचनेन तत्प्रायिकत्वं ख्यापितम् । जतूकर्णवचनं हि दृश्यते आद्ये दुःसाध्ये यमिका मोहतृष्णावतः सद्यःप्राणहृदिति । तत्राद्ये दुःसाध्ये इति स्वरूपतो दुःसाध्यत्वेऽपि प्रायिकत्वं वाच्यमन्यथा चरकवचनविरोधः स्यादव्यभिचारेण दुःसाध्यत्वे इति । यमिका च व्यपेतेति या तूक्ता सा प्रलापादियुक्ता आशु

चक्रपाणिः—अतीत्यादिना साध्यासाध्यविभागमाह । अतिशयेन सञ्चिता दोषा यस्य स तथा । भक्तच्छेदकृशस्येति अभोजनदुर्बलस्य । आसां पञ्चानां या हिक्का अतीत्यादिना प्रोक्तलक्षणस्य पुरुषस्य भवति सा जीवितं हन्ति । यमिका चेत्यनेन क्षुद्रान्नजा साध्यत्वेनोक्ता । वेगेन जायमाना यमिका ज्ञेया पूर्वोक्तानुवेगेन या जायमाना सा महाहिक्का, सा स्वरूपेणैव असाध्या, तस्या अतीत्यादियोगेन असाध्यताविधानम् अनर्थकम् । तथा महत्यादिहिक्कानां तिसृणाम् असम्पूर्णलक्षणानाम् असाध्यत्वम् । क्षुद्रान्नजयोस्तु सम्पूर्णलक्षणयोरपि असाध्यत्वम् । महाहिक्कादितयं निसर्गत एवासाध्यम् । अन्ये तु ब्रुवते महाहिक्कादयोऽपि कदाचित् साध्या भवन्त्येव । तत्र प्राणान्तिकेति वचनात् तत् प्रायः प्राणहरा इत्यनेनोक्तम् । तथा जतूकर्णे आद्या

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः ।

विष्वग् व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः ॥ १३ ॥

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद् दुःखितो नरः ।

उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥

प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः ।

विवृताक्षाननो बद्ध-मूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ॥

दोनः प्रश्वसितश्चास्य दूराद् विज्ञायते भृशम् ।

महाश्वासोपसृष्टस्तु निप्रमेव विपद्यते ॥ १४ ॥

इति महाश्वासः ।

जीवितं हन्तीति वचनेन प्राणोपरोधिनी व्यपेता शुद्धा नाशु किन्तु कालप्रकर्षणेति प्रायेण । यमिकायाः साध्यलक्षणमाह—अक्षीणश्चेत्यादि । अक्षीणत्वाद्यभावे यमिका हन्तीति कालप्रकर्षेण न लाशु ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—इति हिकानिदानमुक्त्वा श्वासनिदानमाह—यदेत्यादि । कफ-पूर्वकः कफेन संयुक्तः पूर्वं सन् मारुतः स्रोतांसि हिकाश्वाससाधारणोक्तानि प्राणवाहीनि न तु हिकोक्तानि प्राणोदकान्नवाहीनि संरुध्य तेन स्रोतो-रोधेन संरुद्धः सन् विष्वग् व्रजति, विशु अश्वतीति विष्वक्; सर्वशरीरं व्रजति, तदा वैकारिकान् श्वासान् स करोति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—सम्प्राप्तिमुक्त्वा महाश्वासमाह—उद्धूयेत्यादि । उद्धूयमानवातो यः पुमान् उद्धूयमानवात ऊर्द्धं धूयमानः स्वयमेव गम्यमानो वातो यस्य स नरः खलु दुःखितः सञ्छब्दवद् यथा स्यात् तथा उच्चैः श्वसिति, यथा संरुद्धो मत्तर्षभोऽनिशमुच्चैः श्वसिति प्रनष्टज्ञानादिर्भवति, अस्य प्रश्वसितं प्रश्वासं भृशं दूराद्विज्ञायते । एष महाश्वासः । एतन्महाश्वासोपसृष्टः पुमान् क्षिप्रं विपद्यते म्रियते ॥ १४ ॥

इःसाध्या, यमिका तृष्णाभोहवतां सद्यः प्राणहृत् गभीराव्यपेते च इत्युक्तम् । अक्षीणेति अक्षीण-मांसः ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—यदेत्यादिना श्वाससंप्राप्तिमाह । स्रोतांसीति प्रकृतत्वात् प्राणोदकवाहीनि स्रोतांसि । कफपूर्वक इति कफप्रधानः । विष्वग् व्रजति सर्वतो गच्छति ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—उद्धूयमानेयादिना महाश्वासलक्षणमाह । उद्धूयमान इति ऊर्द्धं धूयमानो वातः ।

ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं * न च प्रत्याहरत्यधः ।

श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥

ऊर्ध्वं दृष्टिर्विपश्यंस्तु विभ्रान्ताच्च इतस्ततः ।

प्रमुह्यन् वेदनार्त्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः ॥

ऊर्ध्वं श्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते ।

मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ॥ १५ ॥

इत्यूर्ध्वं श्वासः ।

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः ।

न वा श्वसिति दुःखात्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः ॥

आनाहस्वेदमूर्च्छार्त्तो दह्यमानेन वस्तिना ।

विप्लुताच्चः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः ॥

गङ्गाधरः—ऊर्ध्वं श्वासमाह—ऊर्ध्वं मित्यादि । यो नर ऊर्ध्वमेव श्वसिति न चाधः श्वासं सम्यक् प्रत्याहरति श्लेष्मावृतमुखस्रोतःप्रभृतिः सन् वेदनार्त्तश्च सन् प्रमुह्यन् मोहं गच्छन् शुष्कास्योऽरतिपीडितो भवति । इत्येतस्मिन् ऊर्ध्व-
श्वासे प्रकुपिते वृद्धे सत्यधःश्वासो निरुध्यते, तस्य मुह्यतश्च ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासो-
ऽसून् प्राणान् निहन्ति । इत्येतदूर्ध्वं श्वासे मोहग्लानी भवत एव न, तु यदि भवत-
स्तदाऽसून् निहन्ति नान्यथा इति त्रयः श्वासा न सिध्यन्तीति वचनात् ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—छिन्नश्वासमाह—यस्त्वित्यादि । यस्तु सर्वप्राणेन पीडितः सन् विच्छिन्नं स्थित्वा स्थित्वा श्वसिति, यदा मर्मच्छेदरुगर्दितः सन् दुःखात्तो भवति, तदा न वा श्वसिति श्वासरोधः स्यादस्य । एष नर आनाहाद्यात्तो उच्चैरिति दीर्घम् । मत्तर्षभो मत्तवलीवर्हः । दीन इति दीनवत् । हीनं प्रश्वसितमिति पाठः । तथाहि प्रश्वसितस्य हीनत्वे दूराद् विज्ञायते इति यद् वक्ष्यति तदनुपपन्नं स्यात् ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—दीर्घमित्यादिना ऊर्ध्वं श्वासमाह । दीर्घं श्वसिति श्वासस्य बहिर्निर्गमनं दीर्घकालं करोति न च प्रत्याहरत्यधः इति श्वासमधो न नयति । क्रुद्धगन्धवहो वायुः । श्वासस्य दीर्घकाल उद्धृत्यने अधोऽनयने चोक्ते हेतुमाह ऊर्ध्वं श्वास इत्यादिना ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—यस्त्वित्यादिना छिन्नश्वासलक्षणमाह । श्वसिति निश्वास्य पुनः क्षणान्तेन न वा

* दीर्घं श्वसिति यश्चोर्ध्वम् इति चक्रण पठ्यते ।

विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन् नरः ।

छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं विजहात्यसून् ॥ १६ ॥

इति छिन्नश्वासः ।

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते ।

ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥

करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा ।

अतीव तीव्रवेगश्च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥

प्रताम्यति स वेगेन कासते सन्निरुध्यते ।

प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥

दहमानेन वस्तिना विशिष्टः विप्लुताक्ष उच्छ्वननेत्रः सन् परिक्षीणः श्वसन्
श्वासं कुर्वन्नेकलोचनं रक्तमस्य स्यात् । विचेता इत्यादिरूपः प्रलपन्
सन् छिन्नश्वासेन विच्छिन्नो भवति, स शीघ्रमसून् विजहाति । इति त्रयः श्वासा
असाध्याः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—अथ तमकश्वासमाह—प्रतिलोममित्यादि । वायुर्यदा प्रति-
लोमं यथा स्यात् तथा स्रोतांसि प्राणवहानि प्रतिपद्यते तदा प्रतिलोमं स्रोतो-
गतो वायुः ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणश्च समुदीर्य पीनसं प्रतिश्यायविशेषं
करोति, तेन पीनसलक्षणकफेन पुनः स्रोतोरोधेन वायोर्मार्गावरोधाद् रुद्धः
सन् वायुघुर्घुरकं शब्दं करोति । तथा श्वासं प्राणप्रपीडकं प्राणो देहान्नि-
सरतीवत्येवं प्रपीडाजनकमतीव तीव्रवेगं करोति । स श्वासी तेनातीवतीव्र-
वेगेन प्रताम्यति ग्लायति कासते सन्निरुध्यते निश्चेष्टो भवति । कास-
मानश्च स प्रमोहं मुहुर्मुहुर्गच्छति । अत्र भ्रम्यते इत्यपपाठः । कासेन

श्वसिति न श्वासं लभते । मर्मच्छेदरूपा रुक् । (वस्तिनिरोधो मूलनिरोध इत्यर्थः ।)
रक्तकलोचनत्वमिह व्याधिप्रभावात् । विच्छिन्नः विमुक्तसन्धिवन्धः । एते त्रयः श्वासा
निसर्गतोऽसाध्याः ॥ १६ ॥

चक्रपाणिः—प्रतिलोमम् इत्यादिना तमकश्वासमाह । श्लेष्माणं समुदीर्य च इत्यनेन
सामान्यसंप्राप्युक्तस्यापि श्लेष्मणः पुनरभिधानात् इह विशेषेण कारणत्वं दर्शयति । घुर्घुरकम्

श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः ।
 तस्यैव च विमोक्षान्तै मुहूर्त्तं लभते सुखम् ॥
 तथास्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्रोति भाषितुम् ।
 न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः ॥
 पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः ।
 आसीनो लभते सौख्यमुष्णञ्चैवाभिनन्दति ॥
 उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्त्तिमान् ।
 विशुष्कास्यो मुहुःश्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥
 मेघाम्बुशोतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च प्रवर्द्धते ।

स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ॥ १७ ॥

इति तमकश्वासः ।

श्लेष्मण्यमुच्यमाने भृशं दुःखितो भवति । तस्यैव श्लेष्मणः कासवेगेन विमोक्षान्ते मुहूर्त्तं सुखं पूर्वक्लेशापेक्षया लभते । तथा पुनरस्यैव कण्ठ उद्ध्वंसते उपस्थितकासवेगः स्यादेवं कासवेगस्यावसराभावेन भाषितुं कृच्छ्रात् शक्रोति श्वासपीडितत्वेन शयानोऽपि न च निद्रां लभते पुनः-पुनः कासवेगात् । तथा निद्रार्थं शयानस्य समीरणः पार्श्वे द्वे अवगृह्णाति पार्श्वविग्रहणेन श्वासावरोधः स्यात् । तथा निद्रां न लब्ध्वा पुनरुत्थायासीनः सन् सौख्यं पूर्वक्लेशापेक्षया लभते । तथोष्णमभिनन्दति सुखयति । उच्छ्रिताक्षो नयनयोरुच्छूनभावोऽस्य स्यात् । स्विद्यता ललाटेन युक्तः स्याल्ललाटेऽस्य घर्म्मो भवति । विशुष्कास्यो मुहुः सन् मुहुः श्वासवान् सन् मुहुश्चावधम्यते गजारूढ इव शरीरचालनवान् भवति । मेघादिभिः प्रवर्द्धते । स तमकः श्वासो याप्यः कालप्रकर्षे, नवोत्थितस्तु साध्यो वा स्याच्चतुष्पाद-योगात् । वाशब्देन ज्ञापनाम् ॥ १७ ॥

इति कण्ठे घुर्बुरुक्षशब्दम् । सन्निरुध्यते इति निरोधो भवति । तस्यैव चेति श्लेष्मण इति शेषः । आसीन उपविष्टः । उच्छ्रिताक्ष इति उच्छ्रिताक्षः । मुहुश्चैवावधम्यते इति क्षणक्षणश्वासेन वायुना अवधम्यते ॥ १७ ॥

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात् प्रतमकन्तु तम् ।

उदावर्त्तरजोऽजीर्ण-क्लिन्नकायनिरोधजः ॥

तमसा वर्द्धतेऽत्यर्थं शीतश्चाशु प्रशाम्यति ।

मज्जतस्तमसीवास्य विद्यात् सन्तमकन्तु तम् ॥ १८ ॥

इति प्रतमकसन्तमकश्वासौ ।

रुक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन् ।

क्षुद्रश्वासः न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ॥

गङ्गाधरः—तमकस्यावस्थान्तरेण संबान्तरमाह—ज्वरेत्यादि । ज्वरादि-
मतस्तमकं तं प्रतमं विद्यात् । तस्यैव कारणविशेषजत्वे संबान्तरमाह—उदा-
वर्त्तेत्यादि । उदावर्त्तौ वेगधारणजो व्याधिस्तस्माज्जातो, रजो धूलिरजीर्णे
सामादिना क्लिन्नं भुक्तं, कायनिरोधः कायाग्निनिरोधः, एभ्यो जातस्तमकः
श्वासोऽत्यर्थं तमसाऽन्धकारेण वर्द्धते शीतैः कर्मभिराशु प्रशाम्यति ।
तमसि चायं मज्जतीवास्य तमसि मज्जत इव तमकश्वासं तं सन्तमकं विद्यात् ।
सन्तमकं तं विद्यादितिवचनेन प्रतमकस्योदावर्त्तादिभिरुपद्रव इत्यन्येन
यदुच्यते तन्न साधु ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—क्षुद्रश्वासमाह—रुक्षेत्यादि । रुक्षमन्नपानविहारदिकम्, आयासः
श्रमस्ताभ्यां कोष्ठे उद्भवः क्षुद्रवात उदीरयन्क्षुद्रं गच्छन् श्वासान् करोतीति
पूर्वस्मादनुवर्त्तते । सोऽयं क्षुद्रश्वासो नात्यर्थं दुःखेनाङ्गानां प्रबाधकः ।

चक्रपाणिः—ज्वरादिरोगेण तमकस्यैव पित्तसम्बन्धात् प्रतमकसंज्ञां दर्शयन्माह—ज्वरेत्यादि ।
उदावर्त्तेत्यादिना प्रतमकहेतुलक्षणे प्राह । प्रतमक एव सन्तमकः । रजो धूलिः । कायनिरोधो
वेगानां निरोधः । किंवा क्लिन्नकायो वृद्धः, निरोधो वेगनिरोधः । तमसेत्यन्धकारेण किंवा तमसा
तमोगुणेन । यद्यपि तमकस्य शीतेन वृद्धिरुक्ता तथापि प्रतमकस्य पित्तसम्बन्धत्वात् शीतैश्चाशु
प्रशाम्यतीति यदुक्तं तदुपपन्नं भवति । किंवा यथा मद्योत्थविकारस्य मद्यं प्रशमनं भवति तथा
शीतसमुत्थस्यापि तदात्वमात्रे शीतैः प्रशमनं ज्ञेयम् । सन्तमकः प्रतमकभेद इति कृत्वा श्वासानां
पञ्चसंख्यासिद्धिः ॥ १८ ॥

चक्रपाणिः—रुक्षेत्यादिना क्षुद्रश्वासमाह । रुक्षादायासाच्च उद्भवो यस्य स रुक्षायासोद्भवः ।

हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे ।

न च भोजनपानानां निरुणद्धुचितां गतिम् ।

इन्द्रियाणां व्यथां नापि काश्चिदापादयेद् रुजम् ॥ १९ ॥

इति क्षुद्रश्वासः ।

स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ।

इति श्वासाः समुद्दिष्टा हिक्काश्चैव स्वलक्षणैः ॥ २० ॥

एषां प्राणहरा वज्ज्या घोरास्तै ह्याशुकारिणः ।

भेषजैः साध्ययाप्यास्तु क्षिप्रं भिषगुपाचरेत् ।

उपेक्षिता दहेयुर्हि शुष्कं कक्षमिवानलः ॥ २१ ॥

न गात्राणि हिनस्ति न च यथेतरे श्वासा यथा दुःखा न तथायं क्षुद्रश्वासो दुःखः पीडाकरः । न भोजनादीनामुचितां गतिं निरुणद्धि । न चेन्द्रियाणां व्यथाम् आपादयति न च काश्चिद् रुजं रोगान्तरमापादयति । इति क्षुद्रश्वासलक्षणम् ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—तस्य साध्यतामाह—स क्षुद्रश्वासो बलिनः पुंसः साध्य उक्तः, सर्वे महाश्वासादयो यदा स्वत्वव्यक्तलक्षणाः पूर्वरूपावस्थास्तदा साध्या उक्ताः । अत्र पठन्ति । “क्षुद्रः साध्यतमस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते । त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ।” इति श्वासाः पञ्च समुद्दिष्टा व्याख्याताः स्वलक्षणैः । पञ्च हिक्काश्च स्वलक्षणैः समुद्दिष्टा इति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—एषां हिक्काश्वासानां प्राणहरा हिक्काश्वासा वज्ज्या न चिकित्स्याः । हि यस्मात् ते घोरा आशुकारिण आशुमारकाः । साध्ययाप्यास्तु हिक्काश्वासान् भिषग् भेषजैः क्षिप्रमुपाचरेत् । कस्मात् क्षिप्रमित्यत आह—उपेक्षिता इत्यादि । उपेक्षिताः साध्ययाप्या अपि हिक्काश्वासा दहेयुर्यथा शुष्कं कक्षं कक्षस्थकाष्ठमनलो दहेदिति ॥ २१ ॥

क्षुद्रवात इति स्वल्पवातः । न सोऽत्यर्थमिति नात्यर्थं दुःखकरः । न दुःख इति न दुःखसाध्यः ॥ १९ ॥

चक्रपाणिः—सर्वे चाव्यक्तलक्षणा इत्यनेन साध्यत्वेन उक्तानां महाश्वासादीनां व्यक्तसर्वलक्षणताद्यतिरिक्तायामेवावस्थायां साध्यतां प्रतिपादयति ॥ २० ॥

चक्रपाणिः—प्राणहरा महाश्वासादयः सम्पूर्णलक्षण वज्ज्याः । साध्या याप्या इति बहुवचनं साध्ययाप्यभेदबहुत्वाज्जयम् ॥ २१ ॥

कारणस्थानमूलक्यादेकमेव चिकित्सितम् ।

द्वयोरपि यथादृष्टमृषिभिस्तन्निबोधत ॥ २२ ॥

हिक्राश्वासार्दितं स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत् ।

आक्तं लवणतैलेन नाडीप्रस्तरसङ्करः ॥

तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा स्रोतःस्वपि विलीयते ।

खानि माद्वमायान्ति वातश्चाप्यनुलोमताम् ॥

यथाद्रिकुञ्जेष्वर्कांशु-तप्तं विष्यन्दते हिमम् ।

श्लेष्मा तप्तः स्थिरो देहे स्वेदविष्यन्दते तथा ॥

स्निन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत् स्निग्धमोदनम् ।

मत्स्यानां शूकराणाञ्च रसैर्दध्युत्तरेण वा ॥

गङ्गाधरः—कारणेत्यादि । हिक्राश्वासयोः कारणस्य स्थानस्य मूलस्योद्भवस्थानप्राथमिकस्य चैक्यादेकत्वाद् द्वयोरेकमेव चिकित्सितमृषिभिर्यथादृष्टं तन्निबोधत । इति ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—तच्चिकित्सितमाह—हिक्रेत्यादि । हिक्रादितं श्वासार्दितं वा नरमादौ भिषक् स्निग्धैः कर्मभिः स्नेहयित्वा लवणमिश्रिततैलेनाक्तं नाडी-प्रस्तरसङ्करैः स्वेदैरुपाचरेत् । तैः स्नेहपूर्वकस्वेदैरस्य हिक्राश्वासान्यतरार्दितस्य स्रोतःस्वपि ग्रथितः श्लेष्मा विलीयते गलितो भवति । खानि रन्ध्राणि माद्वमायान्ति । वातश्चाप्यनुलोमतामायाति । तत्र दृष्टान्तः—यथेत्यादि । अद्रिकुञ्जेषु यथा पतितं संहतीभूतं हिमं जलम् अर्कांशुतप्तं विष्यन्दते, तथा हिक्राश्वासान्यतरार्दितस्य देहे स्थिरः श्लेष्मा स्वेदैस्तप्तो विष्यन्दते इति । ततः किं कुर्यादित्यत आह—स्निन्नमित्यादि । ततस्तं हिक्रा-श्वासान्यतरार्दितं सम्यक् स्निन्नं ज्ञात्वा मत्स्यानां शूकराणाञ्च रसैः अथवा दध्युत्तरेण दधिवहुलेनोपकरणेन स्निग्धमोदनं तूर्णं भोजयेत् । पुनः श्लेष्मा

चक्रपाणिः—संप्रति भिन्नयोरपि हिक्राश्वासयोः यथा समानं चिकित्सितं भवति तथा दर्शयन् समानं चिकित्सितमाह—कारणेत्यादि । कारणं बाह्यकारणं, स्थानं नाभ्यादि, मूलं दोषः ॥ २२ ॥

चक्रपाणिः—स्निग्धैरिति स्नेहविशेषणम् । अन्ये तु स्निग्धमिति पठन्ति । लवणवत् तैलं लवणतैलम् । कुञ्जेष्विति विटपेषु । मत्स्यादीनामित्यादौ मत्स्यानामपि रसः स्वरसः कल्केन कर्तव्यः । दध्युत्तरं दधिसरः । ईदृशञ्च भोजनं रसनानुगुणं कफवृद्धयर्थम् । उक्तं हि श्लोकोद्भवः ?

ततः श्लेष्मणि संवृद्धे वमनं पाययेत् तु तम् ।
 पिप्पलीसैन्धवक्षौद्र-युक्तं वाताविरोधि यत् ॥
 निर्हते सुखमाप्नोति स कफे दुष्टविग्रहे ।
 स्रोतःसु हि विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिलः ॥ २३ ॥
 लीनश्चेद् दोषशेषः स्यात् तं धूमनिर्हरेद् बुधः ।
 हरिद्रां यवमेरुद-मूलं लाक्षां मनःशिलाम् ॥
 सदेवदार्वलं मांसीं पिष्ट्वा वर्त्तिं प्रकल्पयेत् ।
 तां घृताक्तां पिबेद् धूमं यवैर्वा घृतसंयुतैः ॥
 मधूच्छिष्टं सज्जरसं घृतं मल्वकसंपुटे ।
 कृत्वा धूमं पिबेच्छृङ्गं बालं वा क्षायु वा गवाम् ॥

यावच्छुष्कीभूय ग्रथितो न भवेत् । ततः श्लेष्मणि संवृद्धे चोत्क्रिष्टे च तमातुरं वमनौषधं पाययेत् । यद्वमनौषधं वाताविरोधि तत् सैन्धवपिप्पलीक्षौद्रयुतं पाययेत् । दुष्टविग्रहे कफे निर्हते सति स पुमान् सुखमाप्नोति । कुतः ? स्रोतःसु हीत्यादि । हि यस्मात् स्रोतःसु विशुद्धेषु सत्सु अविहतः पथिरोधाभावेनाविहतगतिरनिलश्चरति ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—वमनेन निर्हतकफशेषे किं कुर्यादित्यत आह—लीनश्चेत् इत्यादि । यदि दोषशेषः स्रोतःसु लीनो वर्त्तते, तदा बुधो धूमैस्तं लीनं दोषशेषं निर्हरेत् । धूमानाह—हरिद्रामित्यादि । अलं हरितालम् । हरिद्रादीनि मांस्यन्तानि अष्टौ द्रव्याणि पिष्ट्वा वर्त्तिं धूमवर्त्तिं प्रकल्पयेत् । तां घृताक्तां वर्त्तिं कृत्वा धूमं पिबेत् । घृतसंयुतैर्यवैः पिष्टैर्वर्त्तिं कृत्वा धूमं वा पिबेत् । मधूच्छिष्टमित्यादि । मधूच्छिष्टं सज्जरसश्च चूर्णयित्वा घृतं

लईयतीह दुःखम् । वाताविरोधीत्यनेन अन्नं रुक्षं तीक्ष्णं वमनं निषेधयति । इष्टः विग्रहो यस्य स इष्टविग्रहः ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—वमनशेषहरणार्थं धूममाह—लीन इत्यादिना । एतेन धूमवमनं विनापि स्वल्पदोषे कर्त्तव्या एव । मात्रापि धूमविषया दोषस्य विद्यमानत्वात् । अलं हरितालम् । धूमवर्त्तिकरणं तस्याशीतोष्णधूमवर्त्तिवधानेन कर्त्तव्यम् । अतः च धूमपाननलिकामानं वक्ष्यमाणकासहर-धूमनलिकामानसमानम् इच्छन्ति हिक्काश्वासयोरपि काससमानत्वात् । मधूच्छिष्टं सिक्तकम् ।

श्योनाकवर्द्धमानाणां नाडीं शुष्कां कुशस्य च ।

पद्मकं गुग्गुलुं लोध्रं शल्लकीं वा घृतप्लुताम् ॥ २४ ॥

स्वरक्षीणातिसारासृक्-पित्तदाहानुबन्धजान् ।

मधुरस्निग्धशीतादैर्हिक्काश्वासानुपाचरेत् ॥ २५ ॥

न स्वेद्याः पित्तदाहार्ता रक्तस्वेदातिवर्त्तिनः ।

क्षीणधातुबला रुक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः ॥ २६ ॥

प्रक्षयिता मल्वकसम्पुट शरावमध्येऽङ्गाराग्निं दत्त्वा सञ्छिद्रेण नलिका-
प्रवेशार्हेण शरावान्तरेण पिधाय तदन्तरग्रौ निक्षिप्य धूमपानोक्तनलिकां
तस्मिंश्छिद्रे प्रवेश्य धूमं पिबेत् । एवमेव प्रकारेण गवां शृङ्गं चूर्णयित्वा
अथवा गवां बालं पुच्छकेशमथवा स्नायु चूर्णयित्वा धूमं पिबेत् ।
श्योनाकेत्यादि । शुष्कां श्योनाकस्य नाडीं घृतप्लुतां धूमं पिबेत् ।
अथवा वर्द्धमानानामेरण्डानां नाडीं शुष्कां घृतप्लुताम्, अथवा कुशस्य
शुष्कां नाडीं घृतप्लुतामथवा पद्मकाष्ठं गुग्गुलुं लोध्रं पिष्ट्वा कृतां वर्त्ति
शुष्कां घृतप्लुतां शल्लकीं शल्लकीवृक्षकाष्ठं पिष्ट्वा कृतां वर्त्ति घृतप्लुतां
धूमं पिबेत् ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—स्वरेत्यादि । स्वरक्षीणाद्यनुबन्धजान् हिक्काश्वासान् मधुर-
स्निग्धशीताद्य रूपाचरेत् ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—स्वेदैरूपाचरेदिति यदुक्तं तस्यापवादमाह—न स्वेद्या इत्यादि ।
पित्तार्ता दाहार्ता रक्तातिवर्त्तिनः स्वेदातिवर्त्तिनः क्षीणधातवः क्षीणबला
रूक्षा गर्भिण्यः पित्तलाश्च हिक्काश्वासादिता न स्वेद्याः नाडीप्रस्तर-
सङ्करैरिति ॥ २६ ॥

मल्लकसंपुटे चात्र उक्तमपि पातव्यधूमनिर्गमाय ऊर्द्धच्छिद्रं कर्त्तव्यम् । पद्मकादिष्वपि घृत-
मित्याद्यनुवर्त्तते । वर्द्धमान एरण्डः । लोध्रोऽगुरुः । शल्लकी स्वनामख्याता ॥ २४ ॥

चक्रपाणिः—शीतादैर्हिक्कादिशब्देन पित्तहरणपिच्छिलादिग्रहणम् ॥ २५ ॥

चक्रपाणिः—पित्तदाहार्ता इति पित्तार्तान् दाहार्तांश्च । रक्तं स्वेदश्च अतिवर्त्तमानौ येषां ते
रक्तस्वेदातिवर्त्तिनः पित्तप्रकृतयः ॥ २६ ॥

कामं कण्ठमुरः कोष्णैः स्नेहसेकैः सशर्करैः ।
 उत्कारिकोपनाहैश्च मृदुभिः स्वेदयेत् क्षणम् ॥
 तिलोमामाषगोधूम-चूर्णैर्वातहरैः सह ।
 स्नेहैश्चोत्कारिका साम्लैः सक्षोरैर्वा कृता हिता ॥ २७ ॥
 नवज्वरामदोषेषु रुक्षं स्वेदं विलङ्घनम् ।
 समीक्ष्योल्लेखनं वापि कारयेत्लवणाम्बुना ॥
 अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा वातहरैर्भिषक् ।
 रसादैर्नातिशीतोष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत् ॥ २८ ॥
 उदावर्त्ते तथाध्माने मातुलुङ्गाम्लवेतसैः ।
 हिङ्गुपोलुविडैश्चान्नं युक्तं स्यादनुलोमनम् ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—तेषां यथा स्वेदः कार्यस्तदाह—काममित्यादि । पित्तार्त्तादीनां तेषां हिकाश्वासादितानां कामं यथेच्छं सशर्करैः स्नेहद्रव्यावसेकैः कोष्णैः क्षणं कण्ठपुरश्च स्वेदयेत् । मृदुभिरुत्कारिकाप्रदेहैः कोष्णैश्च कण्ठमुरः क्षणं स्वेदयेत् । मृदुभिरुत्कारिकामाह—तिलेत्यादि । तिला उमा माषा गोधूमा इत्येषां चूर्णैर्वातहरतिलतैलादिभिः स्नेहैः सह साम्लरुत्कारिकाऽथवाम्लं विना क्षीररुत्कारिका कृता तेषां पित्तार्त्तादीनां कण्ठोरःस्वेदे हिता ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—नवज्वरेत्यादि । पित्तार्त्तादीनां नवज्वरामदोषेषु रुक्षं वातहर-स्नेहं विना तिलोमादीनां चूर्णैरुत्कारिकास्वेदं, पित्तार्त्तादिभ्योऽन्येषां स्वेद्यानां रुक्षं स्वेदं विलङ्घनञ्च समीक्ष्य कारयेत् वलादि समीक्ष्य च लवणाम्बुना वाष्पु-ल्लेखनं वमनं कारयेत् । वमनाद्यतियोगोद्धतं वातं तेषां दृष्ट्वा वातहरैर्मांसरसैर्नातिशीतोष्णैः शमं नयेदभ्यङ्गैश्च वातहरैः शमं नयेदिति ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—उदावर्त्तेत्यादि । तेषां हिकाश्वासादितानामुदावर्त्ते तथाध्माने च मातुलुङ्गाम्लवेतसैर्हिङ्गुपोलुविडैश्च युक्तमन्नमनुलोमनं स्यादिति ॥ २९ ॥

चक्रपाणिः—काममित्यादिना स्वेद्यानां स्थानविशिष्टं स्वेदमाह । काममिति इच्छायां सत्याम-
 उत्कारिकोपनाहैः स्वेदयेत् ॥ २७ ॥

चक्रपाणिः—उल्लेखनं वमनम् । अतियोगोद्धतमिति वमनाद्यतियोगवृद्धम् । किंवा अति-
 योगेन अतिमात्रोद्धतम् । पीलुविडसिद्धम् ॥ २८ । २९ ॥

हिकाम्नासामयो त्वेको बलवान् दुर्बलः परः ।

कफाधिकस्तथैवैको रुक्षो बह्वनिलः परः ॥

कफाधिके बलस्थे च वमनं सविरेचनम् ।

कार्यं पथ्याशिने धूम-लेहादिशमनं ततः ॥

वातिकान् दुर्बलान् वृद्धान् बालान्श्चानिलसूदनैः ।

तर्पयेदेव शमनः स्नेहयूषरसादिभिः ॥ ३० ॥

अनुत्क्लिष्टकफास्त्रि-दुर्बलानां विशोधनात् ।

वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याशु हरेदसून् ॥

गङ्गाधरः—अथ भेदानाह—हिकेत्यादि । एको हिकामयी श्वासामयी च बलवान् अपरो दुर्बल इति द्विधा द्विधा । अन्यान्यप्रकार एतयोर्बलवद्-दुर्बलयोर्मध्ये एकः कफाधिकस्तथा रुक्षो बह्वनिलोऽपर इति द्विधा द्विधेव द्विधा । तत्र कफाधिके बलस्थे च वमनं विरेचनश्च कार्यं, ततः पथ्याशिने धूमलेहादिना शमनं कार्यम् । वातिकानित्यादि । वातिकान् वा दुर्बलान् वा हिकाम्नासादिना वृद्धान् वा कफाधिकबलवतश्च बालान्श्च तथाऽनिलसूदनः शमनैः स्नेहयूषरसादिभिस्तर्पयेत् ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—वमनादिभिर्दोषो येषां तदाह—अनुदित्यादि । ये दम्या विरेच्यास्ते चेतदनुत्क्लिष्टकफा अथवा न स्त्रिणा अथवा दुर्बलास्तेषां वमनविरेचनविशोधनात् वायुर्लब्धास्पदः सन् मर्म हृदयं संशोष्याशु

चक्रपाणिः—‘चिकित्साभेदार्थं हिकाम्नासिनोऽवस्थाभेदमाह—हिकेत्यादि । एताश्चतस्रोऽवस्थाः साक्षादुक्ताः । बलवान् वाताधिकः कफाधिकश्चेति । बह्वनिलविशेषणेनापि रुक्षस्तिग्धावस्था-द्वयम् । तत्र बह्वनिलबहुकफरूपतासूचिते अवस्थाद्वये क्रियां ब्रूते—कफाधिक इति । तत इति वमनविरेचनानन्तरम् । तथा चापरे अवस्थाद्वये समानचिकित्सितमाह—वातिकानिति । बाल-वृद्धयोश्चात्र असंपूर्णक्षीणधातुत्वेन दुर्बलयोः दुर्बलोदाहरणार्थमेवोपादानम् । एतच्च संक्षेपेण चिकित्सासूत्रमुक्तम् । तेन बलवान् वाताधिकः इत्याद्यवस्थामिश्रिताया युक्तचिकित्साया अपि मिश्रणं कल्पनीयम् । यथा प्रत्येकदोषोक्तचिकित्सा दोषसंसर्गे विकल्प्यते ॥ ३० ॥

चक्रपाणिः—अविषयप्रविष्टशोधने दोषमाह—अनुत्क्लिष्टेत्यादिना । मर्म इति हृदयादीनि ।

दृढान् बहुकफांस्तस्माद् रसैरानूपवारिजैः ।

तृप्तान् विशोधयेत् स्विन्नान् वृंहयेदितरान् भिषक् ॥ ३१ ॥

शिखितित्तिरिदक्षाद्या जाङ्गलाश्च मृगा द्विजाः ।

दशमूलीरसे सिद्धाः कौलत्थे वा रसे हिताः ॥ ३२ ॥

निदिग्धिकां विल्वमध्यं कर्कटाख्यां दुरालभाम् ।

त्रिकण्टकं गुडूचीञ्च कुलत्थांश्च सचित्रकान् ॥

जले पक्त्वा रसः पूतः पिप्पलीघृतभर्जितः ।

सनागरः सलवणः स्याद् यूषो भोजने हितः ॥

रास्नां बलां पञ्चमूलं ह्रस्वं मुद्गान् सचित्रकान् ।

पक्त्वाम्भसि रसे तस्मिन् यूषः साध्यश्च पूर्ववत् ॥

असून् हरेत् । शोध्यानाह—दृढानित्यादि । तस्मादुक्तदोषात् । दृढान् हिका-
श्वासात्तान् बहुकफान् स्निग्धस्विन्नानानूपवारिजैर्मांसरसैस्तृप्तानुत्क्रिष्टकफान्
वमनविरेचनाभ्यां विशोधयेत् । दृढबहुकफाद्विकाश्वासाद्विदितरान् दुर्बलान्
वाताधिकान् दृढान् बालांश्च शमनैवृंहयेद् भिषगिति ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—शमनवृंहणान्याह—शिखीत्यादि । शिखिप्रभृतयो जाङ्गला
मृगा द्विजाः पक्षिणः दशमूलीरसे काथे सिद्धाः कौलत्थे वा रसे काथे सिद्धाः
वृंहणीयानां हिकाश्वासाद्वितानां हिताः ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—निदिग्धिकामित्यादि । विल्वमध्यं विल्वफलशस्यं, कर्कटाख्यां
कर्कटशृङ्गीम् । चित्रकान्तान्येतानि अष्टौ द्रव्याणि । तत्र सप्त द्रव्याणि प्रास्थिके
जले कर्षमात्राणि पक्त्वाद्धृत्य पूते जले कुलत्थविदलमष्टादशशङ्कांशं दत्त्वा
पक्त्वा पूतः स यूषभूतो रसः पिप्पलीनागरचूर्णलवणयुक्तो घृतभर्जितो
हिकाश्वासिनोर्भोजने हितः । यूषः । रास्नामित्यादि । पूर्ववद् रास्नादिकम्
दृढानिति बलवतः । रसैरानूपवारिजैः तृप्तान् इत्यनेन कफोत्क्लेशहरणे तृप्तिं दर्शयति । स्विन्नान्
इति स्वेदितान् । इतरानिति दुर्बलान् बहुवातांश्च । कफाधिकायामवस्थायां तर्पणरूपविपरीतक्रिया-
करणेऽनुक्तेऽपि कफवृद्ध्या अदोषा एव ज्ञेया ॥ ३१ ॥

चक्रपाणिः—इह दशमूलरसादौ वर्हितित्तिरादीनां सिद्धिः रसविधानेनैव ज्ञेया ॥ ३२ ॥

चक्रपाणिः—निदिग्धिकामित्यादि यूषविधानं सामान्यपठितमपि कुलत्थस्य यूषप्रकृतित्वाद्
यूषसाधनौपयिकं मानं गृह्यते । शेषद्रव्यन्तु यूषसाधनमानेन गृह्यते । पिप्पलीसाधिते घृते

पल्लवान् मातुलुङ्गस्य निम्बस्य कूलकस्य च ।
 पक्त्वा मुद्गान्श्च सव्योषान् क्षारयूषं विपाचयेत् ॥
 दत्त्वा क्षारं सलवणं शिग्रूणि मरिचानि च ।
 युक्त्या संसाधितो यूषो हिकाश्वासविकारजित् ॥
 कासमर्दकपत्राणां यूषः शोभाञ्जनस्य च ।
 शुष्कमूलकयूषश्च हिकाश्वासनिवर्हणः ।
 सदधिव्योषसर्पिष्को यूषो वार्त्ताकजो हितः ॥ ३३ ॥
 शालिषष्टिकगोधूम-यवान्नान्यनयानि च ।
 हिङ्गुसौवर्चलाजाजी-विडपौष्करचित्रकैः ।
 सिद्धा कर्कटशृङ्गा च यवागूः श्वासहिकिनाम् ॥

अम्भसि पक्त्वा तस्मिन् रसे यूषः साध्यः, पिप्पलीनागरचूर्णसैन्धवयुक्तो
 घृतभर्जितः हिकाश्वासिनोर्भाजने हितः । रास्नादियूषः । पल्लवानित्यादि ।
 मातुलुङ्गस्य पल्लवान् निम्बस्य पल्लवान् कूलकस्य पटोलस्य च पल्लवान्
 व्यस्तान् समस्तान् वा पक्त्वा तस्मिन् रसे मुद्गान् विदलीकृतान् सव्योषान्
 व्योषचूर्णमनुरूपेण दत्त्वा क्षारयूषं पचेत् । कथमित्यत आह—क्षारं यवक्षारं
 सैन्धवलवणश्च शिग्रूणि फलानि मरिचानि च पुनर्युक्त्या दत्त्वा संसाधितो
 यूषः क्षारयूषः हिकाश्वासविकारजित् । क्षारयूषः । कासमर्दक्यादि । कास-
 मर्दकपत्रकाथे शोभाञ्जनस्य पत्रकाथे शुष्कमूलककाथे पको यूषो हिकाश्वास-
 निवर्हणः । सदधीत्यादि । वार्त्ताकफलसहितो मुद्गादियूषः सदधि व्योषं
 दत्त्वा सर्पिषि भृष्टः हिकाश्वासिनोर्भाजने हितः ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—शाल्यादीनामनवानामन्नानि हिकाश्वासिनोर्हितानि । तत्र
 विशेषमाह—हिङ्गित्यादि । घृते भृष्टहिङ्गप्रभृतिभिः कथितं सिद्धा यवागूः
 शाल्यादीनामनवानां श्वासहिकिनां हिता । तथा कर्कटशृङ्गा कथितया सिद्धा

वा पिप्पलीयुक्त घृते भर्जित इति पिप्पलीघृतभर्जितः । एवं रास्नामित्यादौ रसस्य प्राधान्यम् ।
 पूर्व्ववत् इति पिप्पलीघृतभर्जितादिकमतिदिशति । क्षारेण युक्तो यूषः । क्षारोऽपामागोदिः ।
 कासमर्दक्यादीनां यथायोग्यतया प्रक्षेपः । जलमानादिना संस्कार उन्नेयः ॥ ३३ ॥

यव
 शृते
 यव
 तम

स
 व
 पि
 ज
 क

व

दशमूलशटीरास्त्रा-पिप्पलीविल्वपौष्करैः ।
 शृङ्गीतामलकीभार्गी-गुडूचीनागरर्द्धिभिः ॥
 यवागूं विधिना सिद्धां कषायं वा पिबेन्नरः ।
 कासहृदग्रहपाश्चात्ति-हिक्राश्वासप्रशान्तये ॥ ३४ ॥
 पुष्कराह्वशटीव्योष-मातुलुङ्गाम्लवेतसैः ।
 योजयेदन्नपानानि ससर्पिर्विड्बिड्बुभिः ॥
 दशमूलस्य वा काथमथवा देवदारुणः ।
 तृषितो मदिरां वापि हिक्राश्वासी पिबेन्नरः ॥
 पाठां मधुरसां रास्त्रां सरलं देवदारु च ।
 प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य सुरामण्डे निधापयेत् ॥
 तन्मन्दलवणं कृत्वा वैद्यः प्रसृतसम्मितम् ।
 पाययेत् तु ततो हिक्रा-श्वासश्चैवोपशाम्यति ॥
 हिङ्गु सौवर्चलं कोलं समङ्गां पिप्पलीं बलाम् ।
 मातुलुङ्गरसे पिष्टमारनालेन ना पिबेत् ॥

यवागूश्च श्वासहिकावतां हिता । दशमूलीत्यादि । दशमूल्यादीनि काथयित्वाद्ध-
 शृते तोये यवागूमण्डपेयाविलेप्यन्यतमा सिद्धा श्वासहिकिनां हिता ।
 यवागूमित्यादि । यैर्द्रव्यैर्यवागूरुक्ता तैर्द्रव्यैः विधिना मण्डपेयाविलेपीनामन्य-
 तमां यवागूं सिद्धां पिबेत् । एषां कषायं वा हिक्राश्वासी नरः पिबेत् ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—पुष्कराह्वेत्यादि । पुष्करादिभिः कथितैः सिद्धान्यन्नपानानि
 सर्पिर्विड्बिड्बुभिः प्रक्षिप्तैः सह हिक्राश्वासिनोर्योजयेत् । दशमूलस्येत्यादि ।
 तृषितो हिक्राश्वासी नरोऽर्द्धशृतं दशमूलस्य काथं पिबेदथवा देवदारुणः काथं
 पिबेन्मदिरां वा पिबेत् । पाठामित्यादि । पाठादीनि जलेन प्रक्षाल्य कुट्टयित्वा
 जर्जरीकृत्य सुरामण्डे चतुर्गुणे षड्गुणे वा निधापयेत् । तन्मन्दलवणमल्पलवणं
 कृत्वा प्रसृतसम्मितं पलद्वयं हिक्राश्वासिनं वैद्यः पाययेत् । हिङ्गित्यादि । घृते

चक्रपाणिः—दशमूलीत्यादौ कषायशब्दः पानीयस्थानविहितत्वात् अर्द्धशृते जले एव
 वर्त्तते ॥ ३४ ॥

भार्गीनागरयोः कल्कं मरिचद्वारयोस्तथा ।

पीतद्रुचित्रकास्फोता-मूर्ध्वाणामम्बुना पिबेत् ॥ ३५ ॥

शिरीषपुष्पस्वरसः सप्तपर्णस्य वा पुनः ।

पिप्पलीमधुसंयुक्तौ कफपित्तानुगे हितौ ॥

मधूलिका तुगाक्षीरी नागरं पिप्पली तथा ।

उत्कारिका घृते सिद्धा श्वासे पित्तानुबन्धजे ॥

श्वाविधं शाशमांसञ्च शल्लकस्य च शोणितम् ।

पिप्पलीघृतसिद्धानि श्वासे वातानुबन्धजे ॥

सुवर्चलारसो दुग्धं घृतं त्रिकटुकान्वितम् ।

शाल्योदनस्यनुपानं वातपित्तानुगे हितम् ॥

मधुकं पिप्पलीमूलं गुडो गोशकृतो रसः ॥

क्षौद्रं घृतं श्वासकास-हिक्राभिष्यन्दिनां हितम् ॥ ३६ ॥

भृष्टहिङ्गप्रभृतिकं मातुलङ्गरसे पिष्टमारनालेन गोलयित्वा हिक्राश्वासवान् ना पुमान्
पिबेत् । भार्गीत्यादि । भार्गीत्यादि योगत्रयं कल्कविधयाम्बुना पिबेत् ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—शिरीषेत्यादि । शिरीषपुष्पस्य स्वरसः सप्तपर्णस्य स्वरसः ।
एतौ द्वौ स्वरसौ पिप्पलीमधुसंयुक्तौ कफपित्तानुगे हिक्राश्वासान्यतमे हितौ ।
मधूलिकेत्यादि । मधूलिका गोधूमपेषणावशिष्टक्षुद्रभागः । तस्य त्रयो भागाः,
तुगाक्षीर्यादीनां त्रयाणां मिलितानामेको भागः । घृतञ्चानुरूपं दत्त्वा जले
सिद्धा उत्कारिका पित्तानुबन्धजे हिता । श्वाविधमित्यादि । श्वावित् सेज्जङ्घः
स च बृहत्क्षुद्रभेदनं द्विधा, तयोर्बृहान् श्वावित्, क्षुद्रः शल्लकः । तत्र बृहत्-
शल्लकस्य शशस्य च मांसं, क्षुद्रशल्लकस्य च शोणितं, तानि त्रीणि पिप्पली-
चूर्णमिश्रितघृते सिद्धानि भृष्टानि वातानुगे श्वासे हितानि । सुवर्चलेत्यादि ।
सुवर्चला सूर्यभक्ता तस्या रसः स्वरसः किंवा दुग्धं घृतं वा त्रिकटुकान्वितं
वातपित्तानुगे श्वासे शाल्योदनभोजनादनुपानं हितम् । मधुकमित्यादि ।

चक्रपाणिः—आस्फोता अपरमल्लिकेति ख्याता ॥ ३५ ॥

चक्रपाणिः—मधूलिका अल्पगोधूमा । श्वाविधमिति शल्लकस्य मांसम् ॥ ३६ ॥

* गोश्वशकृतसः इति चक्रः ।

खराश्वोष्ट्रवराहाणां मेषस्य च गजस्य च ।

शकृद्रसं बहुकफेत्वेकैकं मधुना पिबेत् ॥

क्षारं वाप्यश्वगन्धाया लिह्यान्ना क्षौद्रसर्पिषा ।

मयूरपादनालं वा शललं शल्लकस्य च ॥

श्वविद्रोहकचाषाणां * लोमानि कुररस्य च ।

एकद्विशफशृङ्गाणि चर्म्मास्थीनि खुरांस्तथा ॥

समस्तान्येकशो वापि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम् ।

चूर्णं लिहन् जयेत् कासं हिक्कां श्वासश्च दारुणम् ॥

एते हि कफसंरुद्ध-गतिप्राणप्रकोपहाः ।

तस्मात् तन्मार्गशुद्ध्यर्थं देया लेहा न निष्कफे ॥ ३७ ॥

कासिने छर्दनं दद्यात् स्वरभेदे च बुद्धिमान् ।

वातश्लेष्महरैर्युक्तं तमके तु विरेचनम् ॥

मधुकपिप्पलीमूलयोश्चूर्णं गुडो गोमयरसश्च क्षौद्रं घृतं सर्वं सममेकीकृत्य
खादत् श्वासादिकानां हितम् ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—खरेत्यादि । खरादीनां शकृद्रसमेकैकं बहुकफे श्वासे मधुना
पिबेत् । क्षारं वेत्यादि । अश्वगन्धायाः भस्म जले स्रावयित्वा स्थापयेत्, तत्र तलस्थं
संहतं क्षारं श्वासी ना पुमान् क्षौद्रसर्पिषा लिहेत् । मयूरपादस्य नालं दग्ध्वा
क्षारं कृत्वा मधुसर्पिषा लिहेत् । अथवा शल्लकस्य शललं कण्टकं दग्ध्वा भस्म
मधुसर्पिषा लेहयेत् । एकेत्यादि । एकशफा अश्वदयो द्विशफा गवादयस्तेषां
शृङ्गाणि चर्म्माण्यस्थीनि खुरांश्च समस्तानि एकशो वापि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितं
चूर्णं लिहन् कासादीन् जयेत् । एते हीत्यादि । हि यस्मात् एते लेहाः कफेन
संरुद्धाः प्राणस्य प्रकोपहाः, तस्मात् तस्य प्राणस्य मार्गरोधककफशुद्ध्यर्थं
लेहा एते देया न तु निष्कफे देया इति ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—कासिन इत्यादि । श्वासवते कासिने छर्दनमौषधं दद्यात् ।

चक्रपाणिः—मयूरपादमिति । नालं मयूरस्येव पृथगेव प्रस्थमानम् । शकलमिति मत्स्यशकला-
कारम् । जाण्डको मरुदेशोज्ज्वलः प्राणी स्पृष्टमात्रे सङ्कोचमुपयाति । एकः द्विधाऽभिन्नः शफः
येषां तेऽश्वदयः एकशफाः, द्विशफाः हरिणादयः, तान् । मार्गशुद्ध्यर्थमिति प्राणमार्गशुद्ध्यर्थम् ॥ ३७ ॥

* मयूरपादं नालं वा शकलं शल्लकस्य वा । श्वाविजाण्डकचाषाणाम् इति पाठान्तरम् ।

उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद् वहज्जलम् ।

यथा तथानिलस्तस्य मार्गं नित्यं विशोधयेत् ॥ ३८ ॥

शटी ग्रन्थिक-❁-जीवन्ती त्वङ् मुस्तं पुष्कराह्वयम् ।

सुरसं तामलक्येला पिप्पल्यगुरु नागरम् ॥

बालकञ्च समं चूर्णं कृत्वाष्टगुणशर्करम् ।

सर्व्वथा तमके श्वासे हिक्रायाञ्च प्रयोजयेत् ॥ ३९ ॥

शङ्खादिचूर्णम् ।

मुक्ताप्रवालवैदूर्यं शङ्खः स्फटिकमञ्जनम् ।

ससारकाचगन्धार्क-सूक्ष्मैलालवणद्वयम् ॥

ताम्रायोरजसी रूप्यं सौगन्धिककशेरुकम् ।

जातीफलं शण्णफलान्ययामार्गस्य तण्डलाः ॥

श्वासनः स्वरभेदे च बुद्धिमान् वातश्लेष्महरं युक्तं विरेचनं दद्यात् तमके च श्वासे स्वरभेदे विरेचनं दद्यात् । कुतो मार्गशोधनं कार्यमित्यत आह—
उदीर्यते इत्यादि । वहज्जलं नदनद्यादिकं यथा मार्गरोधाद् भृशतरमुदीर्यते तथा हिक्राश्वासिनोरनिलस्तस्यानिलस्य मार्गरोधाद् भृशतरमुदीर्यते । तस्मात् तस्यानिलस्य मार्गं नित्यं विशोधयेत् ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—शटीत्यादि । ग्रन्थिकं पिप्पलीमूलम् । शङ्खादिबालकान्तानि त्रयोदश प्रत्येकं समानि चूर्णानि कृत्वा सव्वचूर्णादष्टगुणा शर्करा तत्सर्व्व-
मेकीकृतं तमकश्वासादौ सर्व्वथा प्रयोजयेत् । शङ्खादिचूर्णम् ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—मुक्तेत्यादि । वैदूर्यं मणिविशेषः । मुक्तादिस्फटिकान्तं पञ्चद्रव्यं प्रत्येकं सूक्ष्मचूर्णं ग्राह्यं न तु लघुपुटेन दग्ध्वा ग्राह्यम् । ससार-
काचर्माणः दृढकाचः । गन्धं शोधितम् । अर्कस्य मूललक्ष् । ताम्रायोऽजसी

चक्रपाणिः—कासिन इति । हिक्राश्वासयुक्त एव कासी । उदीर्यते इत्यादावनिलः कफ-
मार्गनिरोधात् उदीरित इति दर्शयति ॥ ३८ ॥

चक्रपाणिः—शटीत्यादिके चूर्णं सममिति सवालकं द्रव्यम् । अष्टगुणशर्करमिति एकभागा-
पेक्षया अष्टगुणशर्करम् । सर्व्वथेति पानभोजनलेहादियुक्ते ॥ ३९ ॥

चक्रपाणिः—मुक्तेत्यादौ ससारः स्फटिक एव । लवणद्वयं सौवर्चलं सैन्धवञ्च । सौगन्ध्यं

एषां पाणितलं चूर्णं तुल्यानां क्षौद्रसर्पिषा ।
 हिकां श्वासश्च कासश्च लीढमाशु नियच्छति ॥
 अञ्जनात् तिमिरं काचं नीलिकां पिष्टकं तमः ।
 पित्तं कण्डूमभिष्यन्दमर्म चैव प्रणाशयेत् * ॥ ४० ॥

मुक्ताद्यचूर्णम् ।

शटीपुष्करमूलानां चूर्णमामलकस्य च ।
 मधुना संयुतं लेह्यं चूर्णं वा काललोहजम् ॥
 सशर्करां तामलकीं द्राक्षां गोऽश्वशकृद्रसम् ।
 तुल्यं गुडं नागरश्च प्राशयेन्नावयेत् तथा ॥
 लसुनस्य पलाण्डोर्वा मूलं गृञ्जनकस्य च ।
 नावयेच्चन्दनं वापि नारीक्षीरेण संयुतम् ॥

मारितपुटितं ताम्ररजः मारितपुटितश्च लौहरजस्तथा रूप्यमपि मारित-
 पुटितं ग्राह्यम् । सौगन्धिकं कङ्कारपुष्पं कशेरुश्च जातीफलं शणस्य फलानि
 अपामार्गस्य तण्डुलाश्चेत्येषां तुल्यानां मिश्रितानां चूर्णं पाणितलं कर्षमाणं
 देहबलापेक्षयाल्पमानमपि क्षौद्रसर्पिषा लीढं हिकादिकं नियच्छति । चूर्णमिदम्
 अञ्जनात् तिमिरादीन् नाशयेत् । मुक्ताद्यं चूर्णम् ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—शटीत्यादि । शटीपुष्करमूलानां चूर्णं मधुना संयुतं लेह्यम् ।
 आमलकस्य चूर्णं मधुना लेह्यम् । काललोहजं मारितपुटिततीक्ष्णलौहचूर्णं
 मधुना लेह्यं हिकादिषु पूर्वोक्तेषु । सशर्करामित्यादि । शर्करां भूम्यामलकीं
 गोऽश्वशकृतो रसं गुडं नागरश्च तुल्यं मेलयित्वा हिकाश्वासातुरं प्राशयेत्
 तथा नावयेन्नस्यं कारयेत् । लसुनस्येत्यादिना चत्वारः । लसुनादीनां त्रयाणां

माणिक्यभेदः । सीसकं सौवीराञ्जनम् केचित् कृष्णमणिमाहुः । कसेरुकमीषञ्जीलपीतो मणिः ।
 पाणितलं कर्षः । मैल्यमिति मलदिग्धाक्षिताम् ॥ ४० ॥

चक्रपाणिः—काललोहः लोहं एव, तीक्ष्णं लोहं केचिद् वर्णयन्ति । गृञ्जनकं लोहित-

* मैल्यं कण्डूमभिष्यन्दं मन्दञ्च तत् प्रणाशयेत् इति चक्रधृतः पाठः ।

सुखोष्णं घृतमण्डं वा सन्धवेनावचूर्णितम् ।
 नावयेन्मक्षिकाविष्ठामलक्तकरसेन वा ॥
 नारीक्षीरेण वा सिद्धं सर्पिर्मधुरकैरपि ।
 नस्तो निषिक्तं पीतं वा सद्यो हिकां नियच्छति ॥
 सकृदुष्णं सकृच्छीतं व्यत्यासाद्विक्रिनां पयः ।
 पाने नस्तःक्रियायां वा शर्करामधुसंयुतम् ॥ ४१ ॥
 अधोभागे घृतं सिद्धं सद्यो हिकां नियच्छति ।
 पिप्पलीमधुसंयुक्तौ रसौ धात्रीकपित्थयोः ॥
 लाक्षाजमधुद्राक्षा-पिप्पल्यश्चशकृद्रसम् ।
 लिह्यात् कोलमधुद्राक्षा-पिप्पलीनागराणि वा ॥

प्रत्येकं मूलं चूर्णयित्वा नावयेत् । नारीक्षीरेण चन्दनं वा नावयेत् । सुखोष्ण-
 मित्यादि । सुखोष्णं घृतमण्डं सन्धवमिश्रं नावयेद् वा । नावयेदित्यादि ।
 मक्षिकाविष्ठामलक्तकरसेन गोलयित्वा नारीक्षीरेण वा गोलयित्वा नावयेत् ।
 मधुरकैर्जीवनीयैः कल्कैश्चतुर्गुणजले सिद्धं सर्पिरपि नस्तो नासिकायां
 निषिक्तं नासिकायां पीतं वा सद्यो हिकां नियच्छति । एतत् शब्दादिकं
 हिकायां बोध्यम् । सकृदित्यादि । सकृदेकवारमुष्णं पय एकवारं शीतं पय
 इत्येवं व्यत्यासाद्विक्रिनां पाने योज्यम् । नस्तःक्रियायां शर्करामधुसंयुतं शीतं
 पयः ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—अधोभाग इत्यादि । अधोभागे विरेचनिके द्रव्ये कल्के चतुर्गुण-
 जले सिद्धं घृतं सद्यो हिकां नियच्छति । पिप्पलीत्यादि । धात्रीरसः पिप्पली-
 चूर्णमधुसंयुक्तस्तथा कपित्थफलमध्यः पिप्पलीमधुसंयुक्तस्य रस इत्येतौ द्वौ रसौ
 लिह्यात् । लाक्षेत्यादि । लाक्षादिकश्च मधुहयशकृद्रसाभ्यां लिह्यात् ।

पलाण्डुः । माक्षिकीमिति मक्षिकाभवाम् । मधुरकरिति जीवनीयैः । सकृदिति कदाचित् ।
 व्यत्यासात् इति विपर्ययात् । उष्णं पयः कृत्वा शीतं कर्त्तव्यम् । मधुसंयोगश्चात्र
 विरुद्धत्वात् उष्णं न कर्त्तव्यम् ॥ ४१ ॥

चक्रपाणिः—अधोभागैरिति विरेचनद्रव्यैः ॥ ४२ ॥

शोताम्बुसेकः सहसा त्रासो विस्मापनं भयम् ।
 क्रोधहर्षप्रियोद्वेगा हिक्काप्रच्यवना मताः ॥ ४२ ॥
 हिक्काश्वासविकाराणां निदानं यत् प्रकीर्तितम् ।
 वज्ज्यमारोग्यकामैस्तद् हिक्काश्वासविकारिभिः ॥ ४३ ॥
 शुष्कक्षीणकफोरस्का हिक्काश्वासानुबन्धिनः ।
 ये प्रकृत्या रुक्षदेहाः सर्पिर्भिस्तानुपाचरेत् ॥ ४४ ॥
 दशमूलरसे सर्पिर्दधिमण्डेन साधयेत् ।
 कृष्णासौवर्चलक्षार-वयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ।
 कयस्थया च संसिद्धं हिक्काश्वासौ नियच्छति ॥ ४५ ॥
 दशमूलादत्र घृतम् ।

तेजोवत्यभया कुष्ठं पिप्पली कटुरोहिणी ।
 भूतीकं पौष्करं मूलं पलाशं चित्रकं शटी ।

कोलद्राक्षापिप्पलीनागराणि च पिष्ट्वा मधुना लिह्याद्वा । शीतेत्यादि ।
 शोताम्बुसेकादयो हिक्काप्रच्यवना मताः ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—अथ निदानवर्जनमाह—हिक्केत्यादि । स्पष्टार्थमिदम् ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—शुष्केत्यादि । शुष्कः क्षीणः कफो यत्र तदुरो येषां ते ।
 हिक्काश्वासानुबन्धिनः कालप्रकर्षानुबन्धिहिक्काश्वासवन्तः प्रकृत्या स्वभावतः
 एव रुक्षदेहास्तान् सर्पिर्भिक्ष्यमाणैरुपाचरेत् ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—सर्पीण्याह—दशमूलेत्यादि । दशमूलस्य रसो घृताद् द्विगुणः
 दधिमण्डश्च द्विगुण इत्युत्सर्गसिद्धचतुर्गुणे द्रवे सर्पिः साधयेत् । तत्र कल्कैः
 कृष्णादिभिः पादिकैः । इत्येकं सर्पिः । कयस्थयेत्यादि । कयस्थया च कल्क-
 भूतया दशमूलरसे द्विगुणे दधिमण्डे च द्विगुणे संसिद्धं सर्पिः हिक्काश्वासौ
 नियच्छतीति । दशमूलसर्पिस्परम् ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—तेजोवतीत्यादि । तेजोवती चव्यं, भूतीकं यमानी । तेजोवत्या-

चक्रपाणिः—दशमूलीत्यादौ दधिमण्डो मस्तु । दशमूलकाथदधिमण्डानाञ्च मिलित्वा
 चातुर्गुण्यम् । वयःस्था ब्राह्मी । कायस्था सुरसा ॥ ४३—४५ ॥

सौवर्चलं तामलकी सैन्धवं विल्वपेषिकाम् ॥
 तालीशपत्रं जीवन्ती वचा तैरक्षसम्मितैः ।
 हिङ्गुपादैर्घृतप्रस्थं पचेत् तोये चतुर्गुणम् ॥
 एतद् यथाबलं पीत्वा हिक्काश्वासौ जयेन्नरः ।
 शोथानिलाशोऽग्रहणी-हृत्पाश्वरुज एव च ॥ ४६ ॥

तेजोवत्यादि घृतम् ।

मनःशिलासर्जरस-लाक्षारजनिपन्नकैः ।
 मञ्जिष्ठैलैश्च कर्पाशैः प्रस्थः सिद्धो घृताद्धितः ॥ ४७ ॥

मनःशिलादि घृतम् ।

जीवनीयोपसिद्धं वा सक्षौद्रं लेहयेद् घृतम् ।
 वासाघृतं दाधिकं वा पिबेत् त्रूषणमेव च ॥ ४८ ॥

दिभिः प्रत्येकमक्षसम्मितैर्हिङ्गुपादैः शाणमितहिङ्गसहितैरिति । तेजोवत्यादि
 घृतम् ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—मनःशिलेत्यादि । शोधितमनःशिला ग्राह्या । मञ्जिष्ठैलश्च
 मञ्जिष्ठैलाभ्यां वर्तन्ते इति तैः मञ्जिष्ठैलैरिति । जलमत्र चतुर्गुणम् ।
 हिक्काश्वासिनोद्धितम् । मनःशिलादि घृतम् ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—जीवनीयेत्यादि । जीवनीयदशककल्कसिद्धं चतुर्गुणजल
 पके पूते च शीते च क्षौद्रपादयुतं घृतं लेहयेत् । वासाघृतं दाधिकं घृतं
 त्रूषणञ्चैव घृतं पिबेत् ॥ ४८ ॥

चक्रपाणिः—तेजोवत्यादौ तेजोवती चविका । हिङ्गुपादैरित्यत्र हिङ्गुपादशब्देन हिङ्ग रेक-
 द्रव्यापेक्षया शाणमानो गृह्यते । तथापि अयमेव प्रयोगो हारीतेन एतानि तेजोवतीत्यादि पठित्वा
 उक्त—कल्कैरितैरक्षसम्मितैः हिङ्गुशाणैः संयुतैः घृतप्रस्थं विपाचयेत् इत्यादि ॥ ४६ । ४७ ॥

चक्रपाणिः—वासाघृतमिति गुल्मोक्तम् । त्रूषणमिति त्रूषणं लिफलाभित्यादिना त्रूषण-
 संज्ञयैव कासचिकित्सिते वक्ष्यमाणम् ॥ ४८ ॥

यत्किञ्चित् कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम् ।
 भेषजं पानमन्नं वा हिक्काश्वासेषु तद्धितम् ॥
 वातकृद् वा कफहरं कफकृद् वानिलापहम् ।
 कार्यं नैकान्तिकं ताभ्यां प्रायः श्रेयोऽनिलापहम् ॥
 सर्व्वेषां वृंहणे ह्यल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत् ।
 अवश्यं शमनेऽपायो भृशोऽशक्यश्च कर्षणे ॥ *

गङ्गाधरः—उपसंहरति—यत्किञ्चिदित्यादि । कफवातघ्नमिति संयुक्तकफ-
 वातोभयघ्नम् । तदाह—वातकृदित्यादि । यदेकं भेषजादिकं वातकृद् कफहरं
 यद्वा कफकृद् अनिलापहं भवति तन्नैकान्तिकं नाव्यभिचारि योग्यं, ताभ्यां हि
 प्रायोऽनिलापहं श्रेय इति । सर्व्वेषामित्यादि । सर्व्वेषां हिक्काश्वासानामपायो
 हि यस्माद् वृंहणे भेषजान्नपानेऽल्पः शक्यः प्रायशो भवेत्, शमने भेषजान्नपाने
 सर्व्वेषामपायोऽवश्यं शक्यो भवेत्, कर्षणे भेषजान्नपाने सर्व्वेषामपायो

चक्रपाणिः—अनुक्तचिकित्सापक्षग्रहणार्थमाह—यत्किञ्चिदित्यादि । अनैकान्तिकं कर्त्तव्य-
 विधिमाह—वातकृदित्यादि । अत्र हिक्काश्वासयोश्चिकित्सिते विधित्वम् । तत्र तावत् कफवात-
 हरं प्रधानमेवोक्तम् । यत् तु अवशिष्टं तत्र दोषस्य विद्यमानतया एकान्तेन करणं ज्ञेयम् ।
 एवमुक्तेऽपि अनैकान्तेन चिकित्साद्वयकरणे वातहरस्यैव प्राधान्यं ज्ञेयम् ताभ्यामित्यादि ।
 अनिलापहञ्च वृंहणं समानं भवति । तन्नोपपत्तिमाह सर्व्वेषामित्यनेन । गदान्तरानपि
 ज्वरादीन् हिक्काश्वासवद्वृंहणार्हानाह । वृंहणे क्रियमाणे ह्यल्पः शक्यः प्रतीकारो भवति
 वृंहणजनितबलानां सुखजयव्यापत्तिकत्वात् इति भावः । शमने तु अवश्यमपायो भवति ।
 कर्षणे तु क्रियमाणे अशक्योऽपायो भवति कष्टश्च भवति । अशक्य इति असाध्यः । एतदपि
 कर्षणेन बहुबले पुरुषे भेषजादिना रोगस्य दुःशकत्वात् इति ज्ञेयम् । अत एव शमनैः
 वृंहणैरिति उपसंहारं करिष्यति । किंवा वृंहणरूपे शमने क्रियमाणे नावश्यमपायो भवति,

* सर्व्वेषामिति । सर्व्वेषां हिक्काश्वासात्तानां हि यस्माद् वृंहणे विधीयमाने कदाचिद्
 दैववशाद् यो यो रोगोऽन्यरोगप्रादुर्भावो वा भवेत् स प्रायशोऽल्पस्तथा शक्यः साधयितुं सुख-
 साध्यः । तथा तेषां शमने भेषजादौ क्रियमाणेऽपायो यदि दैवात् स्यात् स नात्यर्थं नातिशयेन
 किं तर्हि मध्यमया वृत्त्या हिक्काश्वासशान्त्यर्थम् । कर्षणे भेषजा क्रियमाणे यो रोगो जायते, स
 भृशो दुःसहोऽतएवाशक्यः साधयितुं न शक्यते । यत् एवं भृशोऽशक्यश्चापायो भवति,
 अतोऽस्मात् कारणात् हिक्काश्वासान् भूयिष्ठं बाहुल्येन शमनैर्भेषजादैस्तथा वृंहणैरुपाचरेत् ।
 इत्यरुणः ।

तस्माच्छुद्धानशुद्धांश्च शमनैवृ हणैरपि ।

हिक्काश्वासादिं तान् जन्तून् प्रायशः समुपाचरेत् ॥ ४६ ॥

तत्र श्लोकः ।

दुर्जयत्वे समुत्पत्तौ क्रियैकत्वे च कारणम् ।

लिङ्गं पथ्यञ्च हिक्कानां श्वासानाञ्च निदर्शितम् ॥ ५० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते
चिकित्सितस्थाने हिक्काश्वासचिकित्सितं नाम

सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

भृशोऽप्ययो भवेदिति, तस्माद्विक्काश्वासादिं तान् सर्वान् जन्तून् शुद्धान्
अशुद्धांश्च शमनैवृ हणैरपि प्रायश उपाचरेन्न तु कर्षणैरिति ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—तत्र श्लोकः संग्रहार्थम् । दुर्जयत्वं इत्यादि ॥ ५० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबलप्रतिसंस्कृत एव च ।

हिक्काश्वासचिकित्सिते वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरक-
जल्पकल्पतरौ षष्ठस्कन्धे चिकित्सितस्थानजल्पे हिक्काश्वास-
चिकित्सितजल्पाख्या सप्तदशी शाखा ॥ १७ ॥

भवन्नपि अल्पः शक्यश्च भवति, शक्यमेव तु क्रियमाणेऽपायो भवतीति योज्यम् । न्यायोप-
पादितं वृंहणशमनं वृंहणं वा प्रायः कर्तव्यतया उपसंहरन्नाह—तस्मादित्यादि । अत्र
शमनमशुद्धविषयं वृंहणञ्च शुद्धविषयं केचिदाहुः । शमनस्यैव तु वृंहणत्वं केचित्
उदाहरन्ति ॥ ४९ ॥

चक्रपाणिः—दुर्जय इत्यादिकोऽध्यायार्थसंग्रहो व्यक्तः ॥ ५० ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां

चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां हिक्काश्वासचिकित्सितं

नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः ।

अथातः कासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

तपसा तैजसा धृत्या धिया च परयान्वितः ।

आत्रेयः कासशान्त्यर्थमिदमाह चिकित्सितम् ॥ २ ॥

वातादिजास्त्रयो ये च क्षतजः क्षयजस्तथा ।

पञ्चैतैः स्युर्नृणां कासा वर्द्धमानाः क्षयप्रदाः ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टक्रमाद्विकाश्वसचिकित्सितानन्तरं कासचिकित्सित-
माह—अथात इत्यादि । अथेत्यादि सर्व्वं पूर्व्ववद्व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—तपसेत्यादि । आत्रेयः पुनर्व्वसुः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—वातादिजा इत्यादि । वातादिजास्त्रय इति वातजपित्तज-
श्लेष्मजा इति त्रयः कासाः । प्रागभिहितमष्टोदरीये पञ्च कासा इति वातपित्त-
कफक्षतक्षयजा इति, तस्यायमनुवादस्तु वर्द्धमानक्षयप्रदा इत्युपदेशार्थमुत्तरोत्तरं
बलवन्तश्चेति ज्ञापनार्थश्च ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—हिकाश्वसानन्तरं समानचिकित्सितत्वात् तथा हिकाश्वसकासानां परस्परा-
नन्वित्वाच्च कासचिकित्सितमुच्यते । अत्रात्रेयस्याभिधानादेव शिष्यप्रश्नोऽनुमीयते, न पृष्टा
गुरवो वदन्तीति न्यायात् ॥ १ । २ ॥

चक्रपाणिः—क्षय इति धातुक्षयः, तेन राजयक्ष्मसम्बन्धानां क्षीणधातुपुरुषभवाणां तथा
जराकासस्य क्षयजशब्देन ग्रहणं भवति । क्षतोद्भवस्य क्षतपूर्व्वकयक्ष्मभवस्य तथा क्षतक्षीणस्य
च कासस्य ग्रहणं भवति । पञ्चेति संख्यया सकलकासावरोधो ज्ञेयः । क्षयप्रदा इति
देहक्षयप्रदाः न मारका इति यावत् । किञ्च क्षयजोऽपि कासः पुनर्विंशिक्षयप्रदो भवति, यथा
ज्वरोत्पत्ते रक्तपित्तं, रक्तपित्तात् पुनर्ज्वरो भवति । उक्तं हि “—ज्वरसन्तापाद् रक्तपित्तमुदीर्य्यते,
रक्तपित्तात् ज्वरः इति ॥ ३ ॥

पूर्वरूपं भवेत् तैषां शूकपूर्णगलास्यता ।
 कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥ ४ ॥
 अधः प्रतिहतो वायुरुद्ध्वस्रोतःसमाश्रितः ।
 उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि ॥
 आविश्य शिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन् ।
 आभञ्जनाक्षिपन् देहं हनुमन्ये तथाक्षिणी ॥
 नेत्रपृष्ठमुरः पार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयंस्ततः ।
 शुद्धो वा सकफो वापि कासनात् कास उच्यते ॥

गङ्गाधरः—पूर्वरूपमित्यादि । शूको यवाग्रजादिः । भोज्यानामवरोधः
 कण्ठशोषाद् भुक्तमन्नं कण्ठेऽवरुध्यते, अभ्यवहारासामर्थ्यमित्यन्येऽपरे
 त्वरुचिमाहुः ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—सम्प्राप्तिमाह—अथ इत्यादि । वायुरधस्तात् केनापि कारणेन
 तथा स्वभावात् स्वयमेव प्रतिघातवानधस्ताद्भवति । अधस्तात् स्वेन प्रति-
 घातादूर्ध्वस्रोतःसमाश्रितः सन्नुदानभावमुदानानुगतभावमापन्नः कण्ठे तथोरसि
 सक्तः संलग्नः सन् शिरसः खानि मुखनासिकाकर्णनेत्रच्छिद्राण्याविश्य तानि
 सर्वाणि खानि प्रतिपूरयन् देहमाभञ्जनाक्षिपंश्च देहं हनुमन्ये तथाक्षिणी
 आक्षिपन् नेत्रपृष्ठमुरः पार्श्वे द्वे च निर्भुज्य निर्भुग्णानि कृत्वा ततः स्तम्भयंश्च
 शुद्धः सकफो वा कास उच्यते, कस्मात् ? कासनात् । कासः कुशब्दे । कुशब्दं
 भिन्नस्वरविशेषं कुर्वन् निरेतीति । स वायुः सकफः शुद्धो वा कास उच्यते ।
 कश्चिदाह—शिरःकण्ठाद्याक्षिपन् कसति निर्गच्छति इति कस गतावित्यस्य रूपं

चक्रपाणिः—पूर्वरूपमाह—पूर्व्वेत्यादि । शूकैरिव पूर्णः शूकपूर्णः गल आस्यञ्च यस्य ।
 भोज्यानामवरोधोऽरुचिः अशक्तिर्वा ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—अथ इत्यादिना सम्प्राप्तिमाह । उदानभावमापन्न इति ऊर्ध्वगतिस्वभावमापन्नः ।
 खानीति स्रोतांसि । निर्भुज्येति आक्षिप्य । नेत्रादीन्त्येव स्तम्भयन् कास इत्यन्वर्थसंज्ञया

प्रतिघातविशेषेण तस्य वायोः सरंहसः ।

वेदनाशब्दवैशेष्यं कासानामुपजायते ॥ ५ ॥

रुक्षशोतकषायाल्प-प्रमितानशनं स्त्रियः ।

वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्त्तकाः ॥ ६ ॥

हृत्पार्श्वोरःशिरःशूल-स्वरभेदकरो भृशम् ।

शुष्कोरःकण्ठवक्त्रस्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतः ॥

निर्घोषदैर्न्यक्षामास्य-दौर्बल्यक्षोभमोहकृत् ।

शुष्कः कासः कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्तवाल्पतां व्रजेत् ॥

स्निग्धाम्बुलवणोष्णैश्च भुक्तपीतैः प्रशाम्यति ।

ऊर्ध्ववातस्य जीर्णेऽन्ने वेगवान् मारुतो भवेत् ॥ ७ ॥

कास इति । अपरश्चाह—प्रतिघातेत्यादि । तस्य कारणविशेषे-कुपितस्य वायोः सरंहसो जातवेगस्य स्वेनैव प्रतिघातविशेषेण वेदनाशब्दवैशेष्यं वेदनाविशेष-सहितशब्दवैशेष्यं कासानामुपजायते । इति कासनात् कास उच्यते ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—सम्प्राप्तिपूर्वकनिरुक्तिमुक्त्वा निदानमाह—रुक्षेत्यादि । रुक्षा-दीनि प्रमितान्तान्यन्नानि । अल्पं मात्रयाऽल्पं प्रमितमत्यल्पमन्नम् । अनशनं लङ्घनमिति न तु रुक्षादीनामनशनमविवक्षितत्वादयोग्यत्वाच्च वातकोपे । स्त्रियोऽतिसेविता वेगानामविधार्याणां धारणम् आयासः श्रमः वातकास-प्रवर्त्तका वातकासहेतवः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—वातकासलिङ्गमाह—हृदित्यादि । हृदादिषु शूलं स्वरभेदश्च करोति । उरआदि शुष्कं यस्य तस्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतो ग्लानिमतः । निर्घोषः प्रबलः कासशब्दः क्षामास्यं क्षीणमुखम् । ईदृशस्य शुष्कः कासः शुष्कं कफं कृच्छ्रान्मुक्तवाल्पतां व्रजेत् । स्निग्धाद्यैर्भुक्तैः पीतैश्च शाम्यति ।

उच्यते । कस गतिशतनयोरिति धातोरयं प्रयोगः । एवं सामान्योक्तस्य भेदहेतुमाह—प्रतिघातेत्यादि । प्रतिघात इत्यावरणं कफादि । सरंहसः सवेगस्य । वेदना पीडा । वैशिष्ट्यं विशिष्टत्वम् भिन्नत्वमिति यावत् ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—रुक्षेत्यादिना वातजस्य हेतुलक्षणे आह ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—प्र-ाम्यतः इति तमसीव प्रविशतः । ऊर्ध्ववातस्येति ऊर्ध्वतया प्रकुपितवातस्य ॥ ७ ॥

कटुकोष्णविदाह्यम्ल-क्षारणामतिसेवनम् ।
 पित्तकासकरं क्रोधः सन्तापश्चाग्निसूर्यजः ॥ ८ ॥
 पीतनिष्ठीवनाक्षत्वं तिक्तास्यत्वं स्वरामयः ।
 उरोधूमायनं तृष्णा-दाहमोहारुचिभ्रमाः ॥
 प्रततं कासमानश्च ज्योतीषीव च पश्यति ।
 श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिके ॥ ९ ॥
 गुर्वभिष्यन्दिमधुर-स्निग्धस्वप्नविचेष्टितैः ।
 वृद्धः श्लेष्मानिलं रुद्धा कफकासमुदीरयेत् ॥ १० ॥
 मन्दाग्नित्वारुचिच्छर्दि-पीनसोत्क्लेशगौरवः ।
 लोमहर्षास्यमाधुर्य-क्लेदसंसदनैर्युतम् ॥
 बहुलं मधुरं स्निग्धं घनं ष्ठीवेत् कफं तथा ।

कासमानो ह्यरुग् वृद्धः सम्पूर्णमिव मन्यते ॥ ११ ॥
 जीर्णेऽन्ने पुनरुद्धं वातस्य मारुतो बलवान् भवेत् । इति वातकास-
 लिङ्गानि ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—अथ पित्तकासमाह—कटुकोष्णेत्यादि । कटुकादीनामतिसेवनं
 पित्तकासकरं, क्रोधोऽग्निसूर्यजः सन्तापश्च पित्तकासकरः ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—इति निदानमुक्त्वा लिङ्गमाह—पीतेत्यादि । पैत्तिके कासे
 यन्निष्ठीवति तत् पीतमक्षि च पीतम् । वक्षो धूमायते । कासमानो नरः
 प्रततं ज्योतीषीव कासवेगान्नेत्रज्योतीषि निर्गच्छन्तीव पश्यति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—कफकासमाह—गुर्वभीत्यादि । शब्दविशेषस्य कासस्याकरण-
 सामर्थ्यान्निश्चलकफस्य कथं कफकासः स्यादित्यतः सम्प्राप्तिमाह । गुर्वादिभि-
 र्हेतुभिर्वृद्धः श्लेष्माणानिलं रुद्धा तेन रुद्धानिलविशिष्टः सन् कफकासमुदीरयेत् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—तस्य लक्षणमाह—मन्देत्यादि । कासमानः स मन्दाग्नित्वादिभिः

चक्रपाणिः—कटित्यादिना पित्तकासहेतुलिङ्गमाह । अग्निसूर्यज इति अग्निसूर्यभवः
 सन्ताप इत्यर्थः ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—उरोधूमायनमिति उरसो धूमोद्धमनमिव । पित्तजेऽपि उद्धमनं श्लेष्मनिष्ठी-
 वनम् । व्याधेरुरःप्रभृतिकफस्थानमूतत्वेन श्लेष्मपित्तसंसर्गो जायते इति ज्ञेयम् ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—गुर्वीत्यादिना श्लेष्मजमाह ॥ १० । ११ ॥

युतो
वक्षो

युद्धा

कास
उरस
भेदप
पीडि

भोज
व्याप

अयम्

निग्रहे

अतिव्यवायभाराध्व-युद्धाश्वगजनिग्रहैः ।

रुक्षस्योरः क्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ॥ १२ ॥

स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत् सशोणितम् ।

कण्ठेन रुजतात्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा ॥

सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ।

दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥

पर्वभेदज्वरश्वास-तृष्णावैस्वर्यपीडितः ।

पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥ १३ ॥

विषमासात्स्यभोज्याति-व्यवायाद् वेगनिग्रहात् ।

घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ।

कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ॥ १४ ॥

युतो बहुलादिकं कफमरुग् यथा स्यात् तथा निष्ठीवेत् । सम्पूर्णमिव कफेन वक्षो मन्यते । इति कफकासलक्षणम् ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अथ क्षतकासमाह—अतिव्यवायेत्यादि । रुक्षस्य नरस्य युद्धान्तैरश्वगजयोर्निग्रहेण च क्षतपुरो वक्षो वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—तस्य लक्षणमाह—स इत्यादि । स क्षतकासी पूर्वं शुष्कं कासते पश्चात् ततः सशोणितं कफं ष्ठीवेत् । अत्यर्थं रुजता कण्ठेन विशिष्ट उरसा विरुग्णेनेव तीक्ष्णाभिः सूचीभिरिव तुद्यमानेन शूलिना चोरसा तथा भेदपीडाभितापिना दुःखस्पर्शेन शूलेन च विशिष्टेनोरसा युक्तः पर्वभेदादिभिः पीडितः क्षतोद्भवात् कासवेगात् पारावत इवाकूजन् वर्त्तते ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—इति क्षतकासलक्षणमुक्तत्वा क्षयकासमाह—विषमेत्यादि । विषम-भोज्यासात्स्यभोज्यातिव्यवायात् घृणिनां घृणावतां शोचताश्च नृणामग्नौ व्यापन्ने सति त्रयो मलाः कुपिताः क्षयजं रसादिधातुक्षयात् कासं कुर्युः ।

चक्रपाणिः—अतिव्यवायेत्यादिना क्षतजमाह । उरःक्षतं गृहीत्वेति क्षतं प्राग्पेत्यर्थः । अथ कासः साहसयक्ष्मरूपेऽपि युक्त एव ज्ञेयः ॥ १२ । १३ ॥

चक्रपाणिः—विषमेत्यादिना क्षयजमाह । अत्र च विषमासात्स्यभोज्येन तथा व्यवायेन तथा वेग-निग्रहेण विषमासात्स्यजक्षयजवेगसन्धारणजानां यक्ष्मणां लक्षणभूतकासहेतुत्वं पृथगुक्तं भवति ॥ १४

दुर्गन्धं हरितं रक्तं ष्ठीवेत् पूयोपमं कफम् ।
 कासमानश्च हृदयं स्थानभ्रष्टं स मन्यते ॥
 अकस्मादुष्णशीतार्तो बद्वाशी दुर्बलः कृशः ।
 प्रसन्नस्निग्धवदनः श्रीमद्दर्शनलोचनः ॥
 पाणिपादतलौ श्लक्ष्णौ घृणावानभ्यसूयकः ।
 ज्वरो मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसोऽरुचिः ॥
 भिन्नसंघातवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः ।
 इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ॥ १५ ॥
 साध्यो बलवतां वा स्याद् याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ।
 नवौ कदाचित् सिध्यतामेतौ पादगुणान्वितौ ।
 स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः ॥ १६ ॥

कासाच्च देहक्षयो भवतीति ग्राह—देहक्षयप्रदमिति । देहक्षयाच्च क्षयो राजयक्ष्मा भवति । उक्तं यत् । कासात् संजायते क्षय इति । तदुपेक्षया सर्वेभ्यः कासेभ्य एव क्षयः स्यादिति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—स क्षयकासी कासमानो दुर्गन्धादिकफं ष्ठीवेत् । हृदयं स्थानभ्रष्टमिव मन्यते । अकस्मादुष्णार्तोऽथ कचिच्छीतार्तो भवति । किन्तु बद्वाशी सन् दुर्बलश्च कृशश्च भवति, तद्बद्वाहारफलं न लभते । दुर्बलः कृशोऽपि प्रसन्नस्निग्धवदनः स्यान्न तु दुर्बल्यकाशफलं भवति । लोचने द्वे च श्रीमती दृश्येते । पाणिपादतलौ श्लक्ष्णौ मसृणौ भवतः । घृणावान् सर्वत्र घृणयाभ्यसूयां करोति । तस्य मिश्राकृतिर्द्वन्द्वसन्निपाताकृतिर्ज्वरो भवति । अनिमित्ततः स्वरभेदः स्वरभङ्गकारणाभावेऽपि स्वरभङ्गः स्यात् । इत्येष इत्येतल्लक्षणः क्षयजः कासः । एष क्षीणानां देहनाशनो मारकः, बलवतां साध्यो वा भवति । एवं बलवतां क्षतोत्थितः कासो याप्यः । एतौ क्षतज-

चक्रपाणिः—अत्र प्रसन्नदृष्टिर्त्वं भिन्नवर्चस्त्वम् अनिमित्ततो भवति, तथा स्वरभेदोऽपि अनिमित्ततो भवति । देहनाशन इत्यसाध्य इत्यर्थः ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—पादगुणान्वत इति पादचतुष्टयगुणवान् । अत्र कदाचित् सिध्यतीत्यभिधानेन याप्यत्वं साध्यत्वं वा नैकविषयकम् । यतो न वायोरेव चतुष्पादसम्पत्त्या साध्यत्वमुक्तम् ।

क्षयज
 कदा
 कश्चि
 विना
 स्युरि
 पित्त
 पथ्यै
 मित्य
 रादा
 सिद्धै
 र्वातः
 क्षतज
 राणा
 याप्य
 अन्त
 बहुव

त्रीन् पूर्वान् साधयेत् साध्यान् पथ्यैर्याप्यास्तु यापयेत् ।

चिकित्सामत ऊर्ध्वं हि शृणु कासनिवर्हणीम् ॥ १७ ॥

रुक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत् ।

सर्पिर्भिर्वस्तिभिः पेया-क्षीरयूषरसादिभिः ॥

वातघ्नसिद्धैः स्नेहादौर्धूमैर्लेहैश्च युक्तितः ।

अभ्यङ्गैः परिषेकैश्च स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धिमान् ॥

क्षयजो कासो नवो नूतनो चेत् तदा सव्वेषां पादगुणान्वितौ गुणवच्चतुष्पादयुक्तौ कदाचित् सिध्येताम् । इति पञ्च कासाः । अत्र स्थविराणां वृद्धतमानां यः कश्चिज्जरानिमित्तः कासः सर्व एव स याप्यः प्रकीर्तितः । जरया धातुक्षयं विना यदि वातादिस्वस्वकारणजो भवति तदा वातजादयस्त्रयः साध्याः स्युरित्यतो जराकास इत्युक्तम् ॥ १५ । १६ ॥

गङ्गाधरः—एषां चिकित्सयानाह—त्रीनित्यादि । त्रीन् पूर्वान् वातज-पित्तजकफजान् साध्यान् साधयेत्, याप्यान् बलवतां क्षतोत्थजराकासान् पथ्यैर्यापयेत् । इति पञ्चकासनिदानम् । एषां चिकित्सामाह—चिकित्सा-मित्यादि ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—रुक्षस्येत्यादि । रुक्षस्य स्नेहासेविनः स्नेहैः सर्पिरादिभि-क्षादावनिलजं कासमुपाचरेत् । कीदृशैरित्यत आह—स्नेहादैरस्तेर्वातघ्नदशक-सिद्धैरुपाचरेन्न शुद्धैः । धूमैर्लेहैश्च युक्तित उपाचरेत् । अपरैरभ्यङ्गै-र्वातघ्नसिद्धैर्वातघ्नसिद्धैः परिषेकैश्चोपाचरेत् । स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धिमानुपाचरेत्

क्षतजो याप्य इति उक्तः स भिन्नविषयः । क्षयजकासभेदं जराकासं याप्यतया दर्शयद्वाह—स्थवि-राणामित्यादि । स्थविराणामित्युक्त्यापि जराकास इति वचनेन देहक्षयकारितया कृतः स याप्यः, यस्तु दोषकृतः स साध्यः एव भवतीति ज्ञेयः । अन्ये तु जराकासं दोषेष्वेव अन्तर्भावयन्ति ॥ १६ ॥

चक्रपाणिः—त्रीन् पूर्वानिति दोषजान् । साध्यानिति साध्यत्वनोक्तान् । याप्यान् इति बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया उन्नेयम् ॥ १७ ॥

वस्तिभिर्बद्धविड्वातं शुष्कोद्ध्वंश्चौद्ध्वंभक्तिकैः ।

घृतैः सपित्तं सकफं जयेत् स्नेहविरेचनैः ॥ १८ ॥

कण्टकारीगुडूचीभ्यां पृथक्त्रिंशत्पलाद् रसे ।

प्रस्थः सिद्धो घृताद् वात-कासनुद् वह्निदीपनः ॥ १९ ॥

कण्टकारीघृतम् ।

पिप्पलीपिप्पलीमूल-चव्यचित्रकनागरैः ।

धान्यपाठावचारास्ना-यष्टग्राहद्वारहिङ्गुभिः ॥

कोलमात्रैर्घृतप्रस्थाद् दशमूलीरसादृके ।

सिद्धाच्चतुर्थिकां पीत्वा पेयां मण्डं पिबेदनु ॥

तत् श्वासकासहृत्पाश्व-ग्रहणीदोषगुल्मनुत् ।

पिप्पल्याद्यं घृतञ्चैतदात्रेयेण प्रकीर्तितम् ॥ २० ॥

पिप्पल्यादिघृतम् ।

न तु रुक्षैः स्वेदैरिति । तत्र बद्धविड्वातं वस्तिभिर्जयेत् । शुष्कोद्ध्वं शुष्क-
विड्वातम् औत्तरभक्तिकैर्घृतैर्जयेत् । सपित्तं सकफं वातं वातकासिनः
स्नेहविरेचनैर्जयेत् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—सूत्राण्युक्त्वा स्नेहादियोगानाह—कण्टकारीत्यादि । कण्ट-
कार्यास्त्रिंशत्पलं गुडूच्यास्त्रिंशत्पलमेकीकृत्याष्टगुणे जले पक्त्वा पादशेषे
रसे पञ्चदशशरावेऽकल्कसिद्धो घृतात् प्रस्थः वातकासनुद्बहिदीपनश्च ।
कण्टकारीघृतम् ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—पिप्पलीत्यादि । पिप्पल्यादिभिः प्रत्येकं कोलमात्रैः कल्कै-
र्दशमूलीरसादृके षोडशशरावे सिद्धाद् घृतप्रस्थाच्चतुर्थिकां पलं पीत्वा पेयां मण्डं
वानुपिबेत् । तत् श्वासादिनुत् । पिप्पल्यादिघृतम् ॥ २० ॥

चक्रपाणिः—रुक्षस्येत्यादिना चिकित्सामाह । शुष्कम् ऊद्ध्वं यस्य सः, शुष्कोद्ध्वं शुष्क-
कासगृहीतं वातपित्तम् ऊद्ध्वंभक्तिकैः घृतैर्जयेत् । शुष्कोद्ध्वमेव सकफं स्नेहविरेचनैर्जयेत् ॥ १८ ॥

चक्रपाणिः—कण्टकारीत्यादौ रसे इति काये ॥ १९ ॥

चक्रपाणिः—चतुर्थिकामिति पलम् ॥ २० ॥

त्रूषणत्रिफलाद्राक्षा-काश्मर्याणि परूषकम् ।
 द्वे पाठे देवदावृद्धिं स्वगुप्तां चित्रकं शटीम् ॥
 व्याघ्रीं तामलकीं मेदां काकनासां शतावरीम् ।
 त्रिकण्टकं विदारीञ्च पिष्ट्वा कर्षसमान् घृतात् ॥
 प्रस्थं चतुर्गुणक्षीरे सिद्धं कासहरं पिबेत् ।
 ज्वरगुल्मारुचिप्रीह-शिरोहृत्पार्श्वशूलनुत् ॥
 कामलार्शोऽनिलाष्टोला-क्षतशोषक्षयापहम् ।
 त्रूषणं नाम विख्यातं घृतमेतदनुत्तमम् ॥ २१ ॥

त्रूषणाद्यं घृतम् ।

द्रोणेऽपां साधयेद् रास्नां दशमूलं शतावरीम् ।
 पलिकान् माणिकांशांस्त्रीन् कुलत्थान् बदरान् यवान् ॥
 तुलार्द्धञ्चाजमांसस्य पादशेषेण तेन च ।
 घृताढकं समक्षीरं जीवनीयैः पलोन्मितैः ॥
 सिद्धं तद् दशभिः कल्कैर्नस्यपानानुवासनैः ।
 समीक्ष्य वातरोगेषु यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥

गङ्गाधरः—त्रूषणेत्यादि । द्वे पाठे पाठाद्वयं क्षुद्रवृद्धेदात् । स्वगुप्तां
 शूकशिम्बीम् । काकनासां काउयाठोटी । विदार्यन्तान् प्रत्येकं कर्षसमान
 कल्कीकृत्य चतुर्गुणक्षीरे घृतात् प्रस्थं सिद्धं वातकासहरं पिबेत् । त्रूषणाद्यं
 घृतम् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—द्रोणेऽपामित्यादि । रास्नादशमूलशतावरीणां प्रत्येकं पलिकं,
 कुलत्थादीनां त्रयाणां प्रत्येकं माणिकामष्टपलानि । अजस्य वयःस्थस्य मांसस्य
 तुलार्द्धं सपादषट्शरावम् । सर्व्वमिदमपां द्रोणे साधयेत् पादशेषेण तेन काथेन
 षोडशशरावेण घृतस्याढकं षोडशशरावं समक्षीरं षोडशशरावक्षीरं जीवनीयैः

चक्रपाणिः—त्रूषणमित्यत्र द्वे पाठे इत्यनेन स्वल्पपक्षां द्वितीयां पाठां ग्राहयन्ति ।
 स्वगुप्ता शूकशिम्बी ॥ २१ ॥

पञ्च कासान् शिरःकम्पं शूलं वङ्क्ष्योनिजम् ।

सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च स ग्रीहोर्ध्वानिलान् जयेत् ॥ २२ ॥

रास्नाघृतम् ।

विडङ्गं नागरं रास्ना पिप्पली हिङ्गु सैन्धवम् ।

भार्गी चारश्च तच्चूर्णं पिबेद् वा घृतमात्रया ॥

सकफेऽनिलजे कासे श्वासे हिक्काहताग्निषु ।

द्वौ चारौ पञ्च कोलानि पञ्चैव लवणानि च ॥

शटीनागरकोदीच्य-कल्कं वा वस्त्रगालितम् ।

पाययेत् तद् घृतोन्मिश्रं वातकासनिवर्हणम् ॥

दुरालभां शृङ्गवेरं शटीं द्राक्षां सितोपलाम् ।

लिह्यात् कर्कटशृङ्गीश्च कासे तैलेन वातजे ॥

दुःस्पर्शं पिप्पलीं मुस्तं भार्गीं कर्कटकं शटीम् ।

पुराणगुडतैलाभ्यां चूर्णितं वापि लेहयेत् ॥

विडङ्गान् सैन्धवं कुष्ठं व्योषं हिङ्गु मनःशिलाम् ।

हिक्काश्वासे च कासे च लिह्यात् चौद्रघृतप्लुतान् ॥ २३ ॥

दशभिः प्रत्येकं पलोन्मितैः कल्कैः सिद्धं तद्घृतं वातरोगेषु समीक्ष्य यथावस्थं
नस्यादिभिः प्रयोजयेत् । रास्नादशमूलघृतम् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—विडङ्गमित्यादि । विडङ्गादीनि चूर्णयित्वा सकफेऽनिलजे
कासे घृतमात्रया चतुर्गुणया पिबेत् । द्वौ क्षारावित्यादि । द्विक्षारादीन् समान्
जलेन पिष्ट्वा कल्कीकृत्य वस्त्रगालितं कृत्वा घृतोन्मिश्रं पाययेत् । दुरालभा-
मित्यादि । दुरालभादिर्कर्कटशृङ्गान्तं चूर्णयित्वा सर्व्वसमां शर्करां मिश्रयित्वा
तैलेन वातजे लिह्यात् । दुःस्पर्शमित्यादि । दुःस्पर्शां दुरालभा । शठ्यन्तं चूर्णं

चक्रपाणिः—द्रोणेऽपामित्यादौ वक्ष्यमाणानि अजमांसान्तानि क्वाथ्यानि द्रोणे एव साध्यानि ।
माणिकाष्टौ पलानि । जीवनीयानीति जीवन्त्यादीनि दश षड् विरेचनशताश्रितयोक्तानि ॥ २२ ॥

चक्रपाणिः—घृतमात्रयेति चूर्णमालोडितं घृतमात्रया । वस्त्रगालितमिति वस्त्रपूतम् ।
कर्कटकमिति कर्कटशृङ्गी ॥ २३ ॥

चित्रकं पिप्पलीमूलं व्योषं मुस्तं दुरालभाम् ।
 शटीं पुष्करमूलञ्च श्रेयसीं सुरसां वचाम् ॥
 भार्गीं छिन्नरुहां रास्नां कर्कटाह्वञ्च कार्ष्णिकान् ।
 कलकान् निदिग्ध्यर्द्धतुलां निकाथ्य पलविंशतिम् ॥
 मत्स्यण्डिकास्तत्र दत्त्वा सर्पिषः कुडवं पचेत् ।
 सिद्धं शीतं पृथक् क्षौद्र-पिप्पलीकुड्वान्वितम् ॥
 चतुःपलं तुगाक्षीर्याश्चूर्णितं तत्र दापयेत् ।
 लेहयेत् कासहृद्रोग-श्वासगुल्मनिवारणम् ॥ २४ ॥

चित्रकादिलेहः ।

दशमूलीं स्वयंगुप्तां शङ्खपुष्पीं शटीं बलाम् ।
 हस्तिपिप्पल्यपामार्ग-पिप्पलीमूलचित्रकान् ।
 भार्गीं पुष्करमूलञ्च द्विपलांशं यवाढकम् ।
 हरीतकीशतं भद्रं जलपञ्चादके पचेत् ॥

कृत्वा पुराणगुडतैलाभ्यां द्विगुणाभ्यां गोलयित्वा वातजे कासे लेहयेत् । विडङ्गा-
 न्त्यादि । विडङ्गादिमनःशिलान्तं समं चूर्णयित्वा क्षौद्रघृतप्लुतान् लिह्यात् ॥ २३ ॥
गङ्गाधरः—चित्रकमित्यादि । चित्रकादीन् कर्कटान्तान् कार्ष्णिकान्
 चूर्णितान् निदिग्धिकाया अर्द्धतुलां द्वात्रिंशच्छरावजले निकाथ्य तत्र पाद-
 शेषेऽष्टशरावे काथे दत्त्वा मत्स्यण्डिकाः पलविंशतिश्च दत्त्वा सर्पिषः कुडवं
 दत्त्वा पचेत् । घनीभूते तत्र तुगाक्षीर्याश्चूर्णितं चतुःपलं दापयेत् । सिद्धं
 तं शीतं कृत्वा क्षौद्रस्य कुड्वान्वितं पिप्पलीचूर्णकुड्वान्वितं कृत्वा स्थापयेत् ।
 अग्निबलानुरूपं तं लेहयेत् । चित्रकादिलेहः ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—दशमूलीत्यादि । स्वयंगुप्तामात्मगुप्ताम् । दशमूल्यादीनां पुष्कर-
 मूलान्तानां प्रत्येकं द्विपलांशं यवस्याढकमष्टौ शरावाणि हरीतकीशतं गुड-
 कानाम् भद्रमिति सम्पूर्णवीर्यं वस्त्रे पोटलीं बद्ध्वा प्रक्षिप्य जलपञ्चादके

चक्रपाणिः—चित्रकमित्यादौ श्रेयसीमिति हस्तिपिप्पली । अर्द्धतुलाकाथ इत्यत्र तुलार्द्ध-
 शब्दोल्लेखेन क्रियमाणत्वाद् द्रोणार्द्धजलेन काथः कर्तव्यः ॥ २४ ॥

यवैः खिन्नैः कषायं तं पूतं तच्चाभयाशतम् ।
 पचेद् गुड़तुलां दत्त्वा कुड़वश्च पृथग् घृतात् ॥
 तैलात् सपिप्पलीचूर्णात् सिद्धशीतै च माक्षिकात् ।
 लिह्याद् द्वे चाभये नित्यमतः खादेद् रसायनात् ॥
 तद् बलीपलितं हन्याद् वर्णायुर्वलवर्द्धनम् ।
 पञ्च कासान् क्षयं श्वासं हिक्काश्च विषमज्वरान् ॥
 हन्यात् तथाशोऽग्रहणी-हृद्रोगारुचिपीनसान् ।
 अगस्त्यविहितं धन्यमिदं श्रेष्ठं रसायनम् ॥ २५ ॥

अगस्त्यहरीतकी ।

अशीतिशरावे पचेत् । यवैः खिन्नैः पादावशेषे रसे सति यवाः खिन्ना भवन्ति, ततस्तं कषायं पूतं, तच्चाभयाशतं खिन्नमस्थिहीनं कृत्वा, तत्र कषाये गुड़तुलां दत्त्वा पृथक् प्रत्येकं घृतात् कुड़वं तैलाच्च कुड़वमादौ नीत्वा तत्र हरीतकीशतं भृष्टा पिप्पलीचूर्णाच्च कुड़वं दत्त्वा पचेत् । कुड़वन्तु द्वैगुण्याद् घृततैलयोः प्रत्येकमष्टौ पलानि, पिप्पलीचूर्णस्य चत्वारि । सिद्धशीतै गुड़पाकसिद्धि-लक्षणोदयेऽवतार्य शीतीकृते माक्षिकात् कुड़वं दत्त्वाष्टपलं दत्त्वातो रसायना-ल्लेहं यथाशक्ति लिह्यात्, द्वे चाभये नित्यं खादेदिति । अत्र यवाः खिन्ना अष्टांशशेषे काये भवन्तीति नाशङ्क्यम्, चतुर्थांशशेष एव तथाभावस्य सुश्रुत-वचनात् । तत्र हुतं द्रोणं जलस्यादकसंयुते तु काथीकृते पूतचतुर्थभागे ।

चक्रपाणिः—दशमूलीमित्यादौ हरीतकीशतमिति हरीतकीफलशतम् । यवैः खिन्नैरिति यदा यवाः खिन्नाः भवन्ति तदा तत्कषायं पूतं गृहीत्वा हरीतकीशतञ्च गृहीत्वा गुड़तुलाञ्च दत्त्वा पुनः पाकः कर्तव्यः । यवानाञ्च खिन्नानां चतुर्भागावशेष एव कषायो भवतीति कृत्वा चतुर्भागावशिष्टमेवात्र कषायं कुर्वन्ति । घृततैलकुड़वे चात्राष्टपलमानेन, कुड़वेऽपि द्वैगुण्यस्य प्रतिपादितत्वात् । तन्नास्तरे चात्रैव योगे मधुनश्च पलाष्टकमित्युक्तम् । तुल्यमानत्वेऽपि चाल घृतमधुनोः द्रवान्तरयोगविद्यमानत्वात् न विरुद्धत्वम् ; द्रवान्तरयोगे सति मधु-घृतयोः तुल्यमानता न विरुद्धा भवति । अत्र च हरीतकीफलं खिन्नं घृततैले प्रथमं भर्जयन्निज-ततः काथादिप्रक्षेपः, अवतारसमये च पिप्पलीचूर्णप्रक्षेपः, शीतीभूते च मधु देयम् इदं वृद्ध-वैद्यानां कर्माहुः । लिह्यादिति तं प्रकृतं लेहं लिह्यात् । द्वे अभये च खादेत् । नित्यं निान्तरमित्यर्थः । किंवा द्वे अभये लिह्यात् तथा द्वे अभये खादेत् । इत्यनेन अभयाद्वय-

सैन्धवं पिप्पलीं भार्गीं शृङ्गवेरं दुर्गलभाम् ।
 दाडिमाम्लेन कोष्णेन भार्गीनागरमम्बुना ॥
 पिबेत् खदिरसारं वा मदिरादधिमस्तुभिः ।
 अथवा पिप्पलीकल्कं घृतभृष्टं ससैन्धवम् ॥ २६ ॥
 शिरसः पीडने स्त्रावे नासाया हृदि ताम्ब्यति ।
 कासप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥
 दशाङ्गुलोन्मितां नाडीमथवाष्टाङ्गुलोन्मिताम् ।
 शरावसम्पुटे छिद्रे कृत्वा जिह्वां विचक्षणः ॥
 मुखेन वैरेचनिकं कासवान् धूममापिबेत् ।
 तमुरः केवलं प्राप्तं मुखेनैवोद्वमेत् पुनः ॥

इति । तत्रापि कुड्मवचनाद् घृतादीनां समानमाननिर्देशेन तन्त्रान्तरे
 मधुनश्च पलाष्ठकम् इत्युक्तंः द्रवत्वाद् घृततैलमग्न्यां पलाष्ठकमिह कुड्ममिति ।
 अगस्त्यहरीतकी ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—सैन्धवमित्यादि । दुर्गलभान्तानि चूर्णीकृत्य दाडिमाम्लेन
 पिबेत् । भार्गीनागरं चूर्णीकृत्य कोष्णेनाम्बुना पिबेत् । खदिरसारं वा
 चूर्णीकृत्य मदिरायाश्च वा दधिमस्तुभिः पिबेदिति त्रयो योगाः । अथवेत्यादि ।
 पिप्पलीकल्कं ससैन्धवं घृते भृष्टं पिबेत् इति पूर्व्वेणान्वयः ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—कासहरधूमपानविधानमाह—शिरस इत्यादि । शिरसः पीडना-
 दिषु कासप्रतिश्यायवतां वैद्यः कासहरद्रव्यधूमं प्रयोजयेदिति । यथा प्रयोजयेत्
 तदाह—दशाङ्गुलेत्यादि । नाडीं धूमनेत्रं दशाङ्गुलाष्टाङ्गुलान्यतरां नलिकां जिह्वां
 कुटिलां त्रिपर्व्वां पूर्व्ववत् कृत्वा शरावसम्पुटे कासहरौषधं दत्त्वा छिद्रं कृत्वा
 तत्र निधाय मुखेन वैरेचनिकं धूमं पिबेत्, तं धूममुरः कृत्स्नं प्राप्तं मुखेनैव
 सम्बद्धलेह्यं भागं लिह्यात् । ततस्तदभयाद्वयं खादेदित्यर्थः । अगस्त्यविहितमित्यनेनास्य महाजन-
 संप्रदाययोग्यता सिद्धा भवति इत्यर्थः ॥ २५ ॥

चक्रपाणिः—खदिरसारमिति खदिरकाष्ठसारम् । ससैन्धवमिति ईषन्सैन्धवेन अव्यक्त-
 लवणमिति यावत् । अत्रापि मदिरादिभिः पिबेदित्यनुवर्तते ॥ २६ ॥

चक्रपाणिः—शिरस इत्यादिना धूमयोग्यावस्थोपदर्शनपूर्व्वकं धूममाह । गौरवादिना
 शिरसि पीडिते दशाङ्गुलोन्मिता सूत्रस्थानोक्तधूमपानविशिष्टनलिकेह विधीयते । अयञ्च धूमः

स ह्यस्य तैक्ष्ण्याद् विच्छेद्य श्लेष्माणुरसि स्थितम् ।

निष्कृष्य शमयेत् कासं वातश्लेष्मसमुद्भवम् ॥

मनःशिलालमधुक-मांसीमुस्तैङ्गदः पिबेत् ।

धूमं तस्यानु च पयः कदुष्णं सगुडं पिबेत् ॥

एष कासान् पृथग्दोष-सन्निपातसमुद्भवान् ।

धूमो हन्यादसंसिद्धानन्यर्थोगशतैरपि ॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं सशाङ्गैष्टां मनःशिलाम् ।

मरिचं पिप्पलीं द्राक्षांमेलां सुरसमञ्जरीम् ॥

कृत्वा वर्त्तिं पिबेद् धूमं क्षौमचेलानुवर्त्तिताम् ।

घृताक्तामनु च क्षीरं गुडोदकमथापि वा ॥

मनःशिलैलामरिच-क्षाराञ्जनकुटन्नटैः ।

वंशलेखनसेव्याल-क्षौमलक्तकरौहिषैः ॥

धूमकण्ठं मुञ्चेत् । आशिषमाह—स हीत्यादि । हि यस्मात् । स धूमस्तैक्ष्ण्यात्
अस्योरसि स्थितं श्लेष्माणं विच्छेद्य निष्कृष्य वातश्लेष्मसमुद्भवं कासं
शमयेत् । धूमान्तरमाह—मनःशिलेत्यादि । आलं हरितालम् । ऐङ्गदं फलम् ।
एभिर्धूममुक्तप्रकारेण पिबेत् अनु सगुडं कदुष्णं पयः पिबेदोजोरक्षार्थम् । एष
इत्यादिनाशीः । प्रपौण्डरीकमित्यादि । शाङ्गैष्टा घण्टारवा । सुरसमञ्जरी तुलसी-
मञ्जरी । एतानि पिष्ट्वा क्षौमचेलं म्रक्षयित्वाऽनुवर्त्तितां वर्त्तिं कृत्वा घृताक्तां धूमं
पिबेत्, तदनु क्षीरं गुडोदकं वा पिबेदोजोरक्षार्थमिति । मनःशिलेत्यादि । एला
स्थूला, कुटन्नटं कैवर्त्तमुस्तकं, वंशलेखनं वंशनीली, सेव्यमुशीरम् । आलं
वमनार्थं तन्तान्तरे पृथगेवोक्तः । यद्यपि पञ्च धूमाः स्नेहनप्रायोगिकवैरेचनिकासघ्न-
वामनीयाश्चेति सुश्रुते प्रोक्ताः, तथापीह कासघ्नवामनीययोः विरेचनकारकतया कासहरस्य
न वमनादिभेद उक्त इति विशेषो ज्ञेयः । छिद्रमिति उपरि नलिकामानच्छिद्रयुक्तम् ।
जिह्वामिति वक्राम् । मुखेनैव इति वचनेन प्रागुक्तनासापानं निषेधयति । मनःशिलेत्यादौ
आलं हरितालम् । ऐङ्गदः पुलजीवकः । अस्य धूमस्य पश्चात् क्षीरपानं तीक्ष्णेन धूमेन क्रियमाणत्वात्
ओजःक्षयादिभयपरिहारार्थम् । सन्निपातजकासो यद्यप्यत्र नोक्तः तथापि प्रकृतिसमसन्निपातस्तु
कासो भवत्येव इति वचनात् उच्यते । किंवा सान्निपातिकः क्षयजकासः वक्ष्यते हि

हरि
एत
शर
वार
ना
घृत्
नुप
म्रक्ष
धूम

हित

ता

“स

प्रपौ

गन्ध

पूर्वकल्पेन धूमोऽयं सानुपानो विधीयते ।
 मनःशिलाले तद्वच्च पिप्पलीनागरैः सह ॥
 त्वगैद्भुदीवृहत्यौ च तालमूली मनःशिला ।
 कार्पासास्थ्यश्वगन्धा च धूमः कासविनाशनः ॥ २७ ॥
 ग्राम्यानुपौदकैः शालि-यवगोधूमषष्टिकान् ।
 रसेर्माषात्मगुप्तानां यूषर्वा भोजयेद्धि तान् ॥ २८ ॥
 यमानीपिप्पलीविल्व-शटोचित्रकपुष्करैः ।
 रास्त्राजाजीपृथक्पर्णी-पलाशविश्वभेषजैः ॥
 सिद्धां स्निग्धाम्ललवणां पेयामनिलजे पिबेत् ।
 कटोहृत्पार्श्वकोष्ठार्त्ति-श्वासहिक्राप्रणाशिनीम् ॥

हरितालं, शोधितम्, क्षौममत्सीवीजम्, अलक्तकं लाक्षा, रौहिषं गन्धतृणम् ।
 एतानि पिष्ट्वा पूर्वकल्पेन क्षौमचेलं म्रक्षयित्वाऽनुवर्त्तितां वर्त्तिं कृत्वा घृताक्तां
 शरावसम्पुटे दत्त्वा कृतोऽयं धूमः सानुपानो विधीयते । अत्र क्षीरं गुडोदकं
 वानुपानं विधीयते । मनःशिलेत्यादि । मनःशिला हरितालञ्च पिप्पलीचूर्ण-
 नागरचूर्णसहितं मिश्रयित्वा तद्वत् क्षौमचेलं म्रक्षयित्वाऽनुवर्त्तितां वर्त्तिं कृत्वा
 घृताक्तां शरावसम्पुटे दत्त्वा कृतो धूमः सानुपानो विधीयते क्षीरं गुडोदकमत्रा-
 नुपानमिति । त्वगित्यादि । ऐद्भुदी त्वक् । एतदाद्यश्वगन्धान्तं पिष्ट्वा क्षौमचेलं
 म्रक्षयित्वानुवर्त्तितां वर्त्तिं कृत्वा घृताक्तां शरावसम्पुटे दत्त्वा पूर्वोक्तनाड्या
 धूमः सानुपानः पेयो विधीयते ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—ग्राम्येत्यादि । ग्राम्यादिमांसरसैः शाल्यादोनामोदनादीन् कास-
 हितान् भोजयेत् । माषात्मगुप्तफलविदलानां यूषर्वा तान् भोजयेत् ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—यमानीत्यादि । पृथक्पर्णी पृश्निपर्णी । यमान्यादीनि मिलि-
 तानि कर्षमानानि प्रस्थे जले पक्त्वा र्द्धशृतेन तेन काथेन पेयां घृतादिना स्निग्धां

“सन्निवातोद्भवो ह्येष क्षयकासः सुदारुणः । सन्निपातहितं तस्मात् कार्यमल मिषगजितम् ।”
 प्रपौण्डरीकमित्यादि । शार्ङ्गैश्चा गुञ्जा । कृत्वा वर्त्तिमिति मालाशितोक्तविधानेन, रौहिषं
 गन्धतृणं, पूर्वकल्पेन पूर्वोक्तविधिना, नागरैस्त्र्यनेन एको योगः ॥ २७ ॥

चक्रपाणिः—आत्मगुप्ता इति शूकशिम्विः ॥ २८ ॥

दशमूलोरसे तद्वत् पञ्चकोलगुडान्विताम् ।
 सिद्धां दद्यात् समतिलां क्षीरे वापि ससैन्धवाम् ॥
 मात्स्यकौकुटवाराहैरामिषैर्वा घृतान्विताम् ।
 ससैन्धवां पाययेत् यवागूं वातकासिनम् ॥ २६ ॥
 वास्तूको वायसीशाकं मूलकं सुनिषण्णकम् ।
 स्नेहास्तैलादयो भक्ष्याः क्षीरेक्षुरसगौड़िकाः ॥
 दध्यारनालाम्लफलं प्रसन्नापानमेव च ।
 शस्यन्ते वातकासेषु स्वाद्वम्ललवणानि च । ३० ॥
 पित्तकासे तु सकफे वमनं सर्पिषैव च * ।
 तथा मदनकाश्मर्य-मधुककथितैर्जलैः ॥

कोलादिभिरम्लां सैन्धवादिभिर्लवणामनिलजे कासे पिबेत् । प्रकरणलब्धेऽपि
 कासविनाशन इत्यस्मात् सामान्यकासानुवृत्तिनिरासार्थमिह पुनरनिलजे
 इत्युक्तमिति । दशमूल्यादि । दशमूल्याः कर्ष प्रस्थे जले पक्त्वाद्दश्रुते रसे
 षड्गुणे क्षुद्रतण्डुलान् पक्त्वा पेयां पञ्चकोलचूर्णं गुडमनुरूपं दत्त्वा सिद्धां पेया-
 मनिलजे दद्यात् । अथवापि तण्डुलान् समतिलां पेयां क्षीरे पक्त्वा ससैन्धवां
 सिद्धामनिलजे कासे दद्यात् । मात्स्येत्यादि । मात्स्यादिभिरामिषैर्मांसैः सह
 पकां यवागूं मण्डपेयाविलेपीनामन्यतमां घृतान्वितां ससैन्धवां वातकासिनं
 पाययेत् ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—शाकान्याह—वास्तूक इत्यादि । मूलकं बालमूलकं वृहच्च शुष्क-
 मिति । तैलादयः स्नेहाश्च । क्षीरादिकृता भक्ष्या अपूमादयः । दध्याद्यम्लम् ।
 तत्राम्लफलं तित्तिडीकादिकम् । इति वातकासचिकित्सितम् ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—अथ पित्तकासचिकित्सितमाह—पित्तकास इत्यादि । सकफे
 प्रबलकफानुबन्धे पित्तकासे वमनं सर्पिषैव च । तथा मदनफलबीजादिकथितैः

चक्रपाणिः—पञ्चकोलगुडान्वितामिति प्रक्षिप्तपञ्चकोलगुडां समतिलतण्डुलसाधिताम् । आमिषै-
 रिति मत्स्याद्यामिषैः सतण्डुलैः सिद्धाम् ॥ २९ ॥

चक्रपाणिः—वायसी काकमाची । वमनं सर्पिषेति वमनद्रव्ययुक्तेन सर्पिषा वमनं कर्तव्यम् ।

* वमनं सर्पिषा हितम् इति चक्रपाठः ।

जले
 हृत
 अथ
 तित्
 कफ
 का
 घृत
 ला
 आ
 फल
 अर
 यत्
 तनु
 इति

यष्टग्राहफ(मू)लकल्कैर्वा विदारीक्षुरसायुतैः ।

हृतदोषस्ततः शीतं मधुरञ्च भजेत् क्रमम् ॥

पैत्ते कासे तनुकफे त्रिवृतां मधुरैर्युताम् ।

दद्याद् घनकफे तिक्तैर्विरेकार्थं युतां भिषक् ॥

स्निग्धशीतं तनुकफे रुक्षशीतं घने कफे ।

क्रमः कार्यः परं भोज्यैः स्नेहैर्लेहैश्च शस्यते ॥ ३१ ॥

शृङ्गाटकं पद्मबीजं नीलीसाराणि पिप्पली ।

पिप्पली मुस्त्यष्टग्राह-द्राक्षामूर्वा महौषधम् ॥

लाजामृतफलं द्राक्षा त्वक्क्षीरी पिप्पली सिता ।

पिप्पली पद्मकं द्राक्षा बृहत्याश्च फलाद् रसः ।

खज्जूरं पिप्पली वांशी श्वदंष्ट्रा चेति पञ्च ते ।

घृतक्षौद्रयुता लेहाः श्लोकाद्धैः पित्तकासिनाम् ॥

जलैर्वमनम् । अथवा यष्टग्राहफ(मू)लकल्कैर्विदारीक्षुरसायुतैर्वमनम् । तेन वमनेन हृतदोषः कफानुगपित्तासी शीतमधुरं क्रमं भजेत् । पैत्ते इत्यादि । तनुकफे अघनकफे पित्तकासे मधुरैर्युतां त्रिवृतां विरेकार्थं दद्यात् । घनकफे पित्तकासे तिक्तरसद्रव्यैर्युतां त्रिवृतां विरेकार्थं दद्यात् । तत्राह—स्निग्धेत्यादि । तनुकफ स्निग्धशीतं कर्मैव क्रमः कार्यः । घने कफे रुक्षशीतं कर्मैव क्रमः कार्यः । परं भोज्यैः स्नेहैर्लेहैश्च क्रमः शस्यते । क्रमः क्रियारम्भः ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—शृङ्गाटकमित्यादि । शृङ्गाटकादिपिप्पल्यन्तेनार्द्धश्लोकेनैकलेहो घृतक्षौद्रयुतः । पिप्पल्यादिमहौषधान्तेनार्द्धश्लोकेन घृतक्षौद्रयुतो द्वितीयो लेहः । लाजादिसितान्तेनार्द्धश्लोकेन घृतक्षौद्रयुतस्तृतीयो लेहः । अत्रामृतफलम् आमलकम् । त्वक्क्षीरी वंशलोचना । पिप्पली पद्मकं द्राक्षा चेति त्रयं बृहत्याः फलाद्रसश्च पिप्पली तत् सर्वं घृतक्षौद्रयुतो लेहश्चतुर्थः । खज्जूरारादिश्वदंष्ट्रान्तेन अर्द्धश्लोकेन घृतक्षौद्रयुतः पञ्चमो लेहः । इत्यर्द्धश्लोकैः पञ्चभिस्ते पञ्च लेहाः यष्टग्राहफलकल्कैरित्यत्र फलं मदनफलम् । पित्तकासे एव कासवेगनिःसार्यमाणस्य कफस्य तनुतायां घनतायाञ्च चिकित्सायाह—पैत्ते इत्यादि । तिक्तकैर्युतां त्रिवृतामिति सम्बन्धः । क्रम इति पेयादिक्रमः । परमिति पेयादिक्रमादूर्द्धम् । शस्यत इति उपचार इति शेषः ॥ ३० । ३१ ॥

शर्करा चन्दनं द्राक्षा मधुधात्रीफलोत्पलः ।
 पैत्ते समुस्तमरिचः सकफे सघृतोऽनिले ॥
 मृद्रीकाद्धशतं त्रिंशत्-पिप्पलीः शर्करापलम् ।
 लेहयेन्मधुना गोर्वा क्षीरे पक्त्वा शकृद्रसान् ॥
 त्वगेलाव्योषमृद्रीका-पिप्पलीमूलपौष्करः ।
 लाजामुस्तशटीरास्त्रा-धात्रीफलविभीतकैः ॥
 शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिलेहः कासविनाशनः ।
 श्वासं हिक्कां क्षयञ्चैव हृद्रोगश्च विनाशयेत् ॥
 पिप्पल्यामलकं लाजां लाक्षां द्राक्षां सितोपलाम् ।
 क्षीरे पक्त्वा घनं शीतं लिह्यात् क्षौद्राष्टभागिकम् ॥
 विदारीक्षुमृणालानां रसान् क्षीरं सितोपलाम् ।
 पिबेद् वा मधुसंयुक्तं पित्तकासहरं परम् ॥ ३२ ॥

पित्तकासिनां शस्यन्ते । शकरेत्यादि । शकरादीन्युत्पलान्तानि समानि ।
 तत्र मधु लेहयोग्यमित्येष लेहः शुद्धे पैत्ते कासे शस्यते । अयं लेहः समुस्तमरिचः
 सकफे पैत्ते कासे सानिले पैत्ते सघृत उत्पलान्तो लेहः शस्यते । मृद्रीकेत्यादि ।
 आकृतिमानात् मृद्रीकाया अद्धशतं पञ्चाशद्गुडकं पिप्पलीरप्याकृतिमानात्
 त्रिंशद्गुडकम् । शर्करापलं मधुना लेहयेत् । गोः शकृद्रसान् चतुर्गुणे गोः
 क्षीरे पक्त्वा वा लेहयेत् । त्वगेलेत्यादि । त्वगादिविभीतकान्तानां सर्व्वेषां
 चूर्णं समानांशेन सर्व्वमेकीकृत्य शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिलेहः कासविनाशनादिः ।
 पिप्पल्यामलकमित्यादि । पिप्पल्यादिसितोपलान्तानि समानि क्षीरे पक्त्वा
 घनीभूतं शीतं कृत्वा सर्व्वद्रव्यादष्टमभागक्षौद्रयुतं लिह्यात् । प्रकरणात् पैत्ते ।
 विदारीत्यादि । मृणालमुशीरं, विदार्य्या रस इक्षुरस उशीरकाथः इत्येतान्

चक्रपाणिः—नीलीसारमिति नीलिनीफलसारम् । अमृतफलम् आमलकम् । शर्करादिः
 केवलं पैत्ते, सकफे पैत्ते समुस्तमरिचः, सघृतस्तु शर्करादिः अनिलानुबन्धे पैत्ते ज्ञेयः ।
 मृद्रीकाद्धशतं त्रिंशत्पिप्पलीश्च व्यक्तं परिग्रहान् । गोक्षीरस्येति क्षीरमात्राशनस्य । पिप्पल्यामलक-
 मित्यादौ घनमिति घनतामापन्नम् ॥ ३२ ॥

विदा
 पिबे
 ओद
 घन
 तनु
 तद्भ
 मधु

कथि

मधुरैर्जाङ्गलरसैः श्यामाकयवकोद्रवाः ।
 मुद्गादियूषैः शाकैर्वा तित्तकैर्मात्रया हिताः ॥
 घनश्लेष्मणि लेहास्तु तित्ता मधुरसंयुताः ।
 शालयः स्युस्तनुकफे षष्टिकाश्च रसादिभिः ॥
 शकराम्भोऽनुपानार्थं द्राक्षेक्षूणां रसान् पयः ।
 सर्व्वश्च मधुरं शीतमविदाहि प्रशस्यते ॥ ३३ ॥
 काकोलीवृहतीमेदा-युग्मैः सवृषणागरैः ।
 पित्तकासे रसक्षीर-यूषांश्चाप्युपकल्पयेत् ॥ ३४ ॥
 शरादिपञ्चमूलस्य पिप्पलीद्राक्षयोस्तथा ।
 कषायेण शृतं क्षीरं पिबेत् समधुशर्करम् ॥
 सितास्थिरापृश्निपर्णी-श्रावणीवृहतियुगैः ।
 वीरर्षभककाकोली-तामलकूटद्विजीवकैः ।
 शृतं क्षीरं पिबेत् कासी ज्वरी दाहो क्षतक्षयो ॥ ३५ ॥

विदार्यादीनां रसान् क्षीरं सितोपलं प्रत्येकं समानांशेन मेलयित्वा मधुयुक्तं
 पिबेत् ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—मधुरैरित्यादि । मधुररसजाङ्गलमांसरसैः पकाः श्यामाकादय
 ओदनरूपा मुद्गादियूषैस्तिलैः शाकैर्वा मात्रया पित्तकासे हिताः । घनेत्यादि ।
 घनश्लेष्मणि पित्तकासे मधुरसंयुतास्तित्ता लेहाः शालयश्च हिताः स्युः ।
 तनुकफं रसादिभिर्मधुरजाङ्गलमांसरसमुद्गादियूषतित्तशकैः षष्टिका हिताः ।
 तद्भोजनादनुपानार्थं शर्कराम्भः । अथवा द्राक्षारस इक्षरसः पयो वा सर्व्वश्च
 मधुरमथ च शीतमविदाहि चानुपानार्थं प्रशस्यते ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—काकोलीत्यादि । काकोलीयुग्मवृहतीयुग्ममेदायुग्मैः सवृषणागरः
 कथितैः मांसरसक्षीरयूषान् कल्पयेत् ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—शरादीत्यादि । एको योगोऽयं, योगद्वयमाहुरन्ये । सितेत्यादि ।

चक्रपाणिः—काकोलीयादौ प्रत्येकं युग्मैरिति सम्बध्यते ॥ ३३ । ३४ ॥

चक्रपाणिः—शरादिपञ्चमूली तृणपञ्चमूलम् ॥ ३५ ॥

तज्जं वा साधयेत् सर्पिः सक्षीरेक्षुरसं भिषक् ।

जीवकाद्यैर्मधुरकैः फलश्राभिषुकादिभिः ॥

कल्कैस्त्रिकाषिकैः सिद्धे घृते शीते प्रदापयेत् ।

शर्करापिप्पलीचूर्णं त्वक्क्षीर्या मरिचस्य च ॥

शृङ्गाटकस्य चावाप्य क्षौद्रगर्भान् पलोन्मितान् ।

गुडान् गोधूमचूर्णेन कृत्वा खादेद्धिताशनः ।

शुक्रासृग्दोषशोषेषु कासक्षीणक्षतैषु च ॥ ३६ ॥

शर्करानागरोदीच्यं कण्टकारं शर्टीं समाम् ।

पिष्ट्वा रसं पिबेत् पूतं वस्त्रेण घृतमूर्च्छितम् ॥ ३७ ॥

श्रावणी मुण्डेरी । श्रावणीयुगवृहतीयुगैः । जीवको जियाला । एतदन्तैः शृतं क्षीरं पित्तकासप्रभृतिः पिबेत् ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—तज्जं वेत्यादि । तैः शृतक्षीरजं सर्पिः सक्षीरेक्षुरसं समक्षीरं त्रिगुणेषुरसम् । जीवकादिभिर्दशभिर्मधुरकफलैः द्राक्षाखज्जूरैरादिभिरभिषुकादिभिश्च प्रत्येकं त्रिकार्षिकः कल्कैः साधयेत् । सिद्धे पूते शीते च सति शर्करादीनि शृङ्गाटकान्तानि चूर्णीकृत्यावाप्य सर्व्व पादिकं घृतात् प्रदापयेद् यथा घनं स्यात् । तस्य गोधूमचूर्णेन सह मेलनेन पलोन्मितान् शङ्कुलीवद् गुडकान् कृत्वा मध्ये क्षौद्रं पूरयित्वा पक्त्वा खादेत् । शेषमाशीरिति ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—शर्करेत्यादि । नागरादीन्यार्द्राणि समानि पिष्ट्वा वस्त्रेण पूतं रसमेकद्रव्यसमां शर्करां मिश्रयित्वा घृतेन समेन खजेन मूर्च्छितं मिलितं कृत्वा पिबेत् ॥ ३७ ॥

चक्रपाणिः—अभिषुकादयः वातपित्तहराः “वातामाभिषुकाक्षोट-मकूलकनिको वकाः” इति ग्रन्थोक्ताश्चत्वारो ज्ञेयाः । जीवकादयश्च जीवनोयगणोक्ताः । शर्करादीनाञ्च क्षयोक्तसर्पिर्मानुसारेण मानमत्र ज्ञेयम् ॥ ३६ ॥

चक्रपाणिः—शर्करेत्यादौ रसमिति कल्कस्यैव रसम् ॥ ३७ ॥

रसैः

बलि

वमने

मूलव

विले

बीज

वा म

सह

महिष्यजाविगोक्षीर-धात्रीफलरसैः समैः ।

सर्पिः सिद्धं पिबेद् युक्त्या पित्तकासनिवर्हणम् ॥ ३८ ॥

बलिनं वमनेनादौ शोधितं कफकासिनम् ।

यवान्नैः कटुरुक्षोष्णैः कफघ्नैश्चापुषाचरेत् ॥ ३९ ॥

पिप्पलीक्षारकैर्यूषैः कौलत्थैर्मूलकस्य च ।

लघून्यन्नानि भुञ्जीत रसैर्वा कटुकान्वितैः ॥

धान्ववैलैस्तथा स्नेहैस्तिलसर्षपविल्वजैः ।

मध्वम्लोष्णाम्बु तक्रं वा मद्यं वा निगदं पिबेत् ॥ ४० ॥

पौष्कारग्वधं मूलं पटोलं तैर्निशास्थितम् ।

जलं मधुयुतं पेयं कालेष्वन्नस्य रात्रिषु * ॥

गङ्गाधरः—महिषीत्यादि । महिषीक्षीराजाक्षीरमेषीक्षीरगोक्षीरधात्रीफल-
रसैः सर्पिःसमैः प्रत्येकमकलकं सिद्धं युक्त्या पिबेत् ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—पित्तकासचिकित्सितानन्तरं कफकासचिकित्सितमाह—
बलिनमित्यादि । आदावङ्गत्वात् स्नेहस्वेदाभ्यामुपपन्नं कफकासिनं बलिनं
वमनेन शोधितं कटुरुक्षोष्णैर्यवान्नैः कफघ्नैश्चान्नैरुपाचरेत् ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—तद्यथा—पिप्पलीत्यादि । पिप्पलीयवक्षारसंस्कृतैः कौलत्थैर्यूषैः
मूलकस्य च शुष्कस्य यूषैर्लघून्यन्नानि भुञ्जीत । कटुकरसान्वितैर्धान्वमांस-
विलेशयमांसान्यतरमांसरसैर्वा भुञ्जीत । लघून्यन्नान्येव । तिलसर्षपविल्व-
बीजजैः स्नेहैस्तथा लघून्यन्नानि भुञ्जीत । भोजनोत्तरं दध्यम्लमुष्णाम्बु तक्रं
वा मद्यं वा निगदं वा पिबेत् । यन्निगदं पेयं तदिह विवक्षितम् ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—पौष्करेत्यादि । पुष्करमूलमारग्वधमूलं पटोलपत्रं समं, तं
सह निशास्थितं जलं शीतकषायाख्यं मधुयुतमन्नस्य कालेषु तथा रात्रिषु

चक्रपाणिः—बलिनमित्यादिना कफकासचिकित्सामाह ॥ ३८ । ३९ ॥

चक्रपाणिः—पिप्पलीक्षारकैरिति पिप्पलीक्षारसंस्कृतैः । धान्ववैल्यरसैरिति विलेशयरसैः ॥ ४० ॥

* रात्रिष्वित्यत्र वा त्रिषु इति पाठान्तरम् ।

कट्फलं कत्तूणं भार्गीं मुस्तं धान्यवचाभयाः ।

शुण्ठीं पर्पटकं शृङ्गीं सुराह्वञ्च जले शृतम् ॥

मधुहिङ्गयुतं पेयं कासे वातकफात्मके ।

कण्ठरोगे मुखे शूने श्वासहिक्राज्वरेषु च ॥

पाठाशुण्ठीशटीमूर्वा-गवाक्षीमुस्तपिप्पलीः ।

पिष्ट्वा घर्म्माम्बुणा हिङ्गु-सैन्धवाभ्यां युताः पिबेत् ॥

नागरातिविषामुस्तं शृङ्गी कर्कटकस्य च ।

हरीतकी शटी चैव तैर्नैव विधिना पिबेत् ॥ ४१ ॥

तैले भृष्टञ्च पिप्पल्याः कल्काक्षं ससितोपलम् ।

पिबेद् वा कफकासघ्नं कुलत्थसलिलप्लुतम् ॥ ४२ ॥

कासमर्दाश्वविड् भृङ्ग-राजवार्त्ताकजा रसाः ।

क्षौद्रयुक्ताः कफहराः सुरसस्यासितस्य च ॥ ४३ ॥

पेयम् । कट्फलमित्यादि । कट्फलादिकं जले शृतं काथविधिना पक्वं शीतं मधुहिङ्गयुतं पेयं वातानुबन्धकफात्मककासे । पाठाभित्यादि । पाठादीः पिष्ट्वा हिङ्गुसैन्धवयुक्ता घर्म्माम्बुणा उष्णाम्बुना पिबेत् । नागरेत्यादि । नागरादीन् पिष्ट्वा तेनैव विधिना घर्म्माम्बुणा पिबेत् ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—तैल इत्यादि । सितोपलासमं पिप्पलीकल्काक्षं तैले भृष्टं कुलत्थसलिलप्लुतं पिबेद् वा ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—कासमर्देत्यादि । कासमर्दरसाश्वविड् रसभृङ्गराजरसवार्त्ताकरसाः क्षौद्रयुक्ताः कफकासहराः । असितस्य सुरसस्य कृष्णतुलसीपत्रस्य च रसो मधुयुतः कफकासहरः ॥ ४३ ॥

चक्रपाणिः—कालेषु लिप्पित्यत्र भोजनादिमध्यावसानेषु । मधुहिङ्गयुतमित्यत्र माक्षिकं हिङ्गुसिन्धूथेत्यादिवचनानुसारेण प्रक्षेप्यविधिनोष्णोदकेन हिङ्गुसैन्धवोपेतं पिबेदित्यर्थः ॥ ४१ । ४२ ॥

चक्रपाणिः—सुरसस्यासितस्य कृष्णतुलसीपर्णजस्य ॥ ४३ ॥

पिप्प

कफे

मधुन

गुणे

प्रत्ये

मतः

देवदारुशटीराला-कर्कटाख्यादुरालभाः ।

पिप्पली नागरं मुस्तं पथ्याधात्रीसितोपलाः ॥

मधुतैलयुतावेतौ लेहौ वातानुगे कफे ।

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पली ॥

पथ्यातामलकीधात्री-भद्रमुस्तानि पिप्पली ।

देवदार्वभया मुस्तं पिप्पली विश्वभेषजम् ॥

विशाला पिप्पली मुस्तं त्रिवृता चेति लेहयेत् ।

चतुरो मधुना लेहान् कफकासहरान् भिषक् ॥ ४४ ॥

सौवर्चलाभयाधात्री-पिप्पलीक्षारनागरम् ।

चूर्णितं सर्पिषा वात-कफकासहरं पिबेत् ॥ ४५ ॥

दशमूलाढके प्रस्थं घृतस्याक्षसमैः पचेत् ।

पुष्कराह्वशटीविल्व-सुरसव्योषहिङ्गभिः ॥

पेयानुपेयं तत् पेयं कासे वातकफात्मके ।

श्वासरोगेषु सर्वेषु कफवातात्मकेषु च ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—देवदारुविल्यादि । देवदारुर्वादिदुरालभान्तचूर्णमेको लेहः । पिप्पल्यादिसितोपलान्तः परो लेहः । इत्येतौ द्वौ लेहौ मधुतैलयुतौ वातानुगे कफे कासे हितौ । पिप्पलीत्यादि । श्लोकाद्धेनैकैकलेहः, इति चतुरो लेहान् मधुना लेहयेत् ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—सौवर्चलेत्यादि । वातानुबन्धकफकासहरं पिबेदिति चतुर्गुणेन सर्पिषा ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—दशमूलस्यादि । दशमूलस्य रसाढके घृतस्य प्रस्थं पुष्करादिभिः प्रत्येकमक्षसमः कल्कैः पचेत् । तत् सर्पिः पेयमनु पेया पेया ॥ ४६ ॥

चक्रपाणिः—तुरो मधुना लेहानित्यत्र अर्द्धश्लोकोक्ता लेहा ज्ञेयाः ॥ ४४ । ४५ ॥

चक्रपाणिः—दशमूलाढक इति दशमूलस्य काथ्यस्याढकमानत्वं, तेन “काथः काथ्यसमो मतः” इति वचनात् पादावशिष्टकाथोऽप्याढकमानो भवति ॥ ४६ ॥

समूलपत्रशाखायाः कण्टकाय्या रसादृके ।

घृतप्रस्थं बलाव्योष-विडङ्गशट्चित्रकैः ॥

सौवच्चलयवक्षार-विल्वामलकपौष्करैः ।

वृश्चीरवृहतोऽथ्या-यमानीदाङ्गिमर्द्धिभिः ॥

द्राक्षापुनर्नवाचव्य-दुरालभाम्लवेतसैः ।

शृङ्गीतामलकीभार्गी-राल्नागोक्षुरकैः पचेत् ॥

कल्कैस्तत् सर्वकासेषु हिक्काश्वासेषु शस्यते ।

कण्टकाण्यघृतं सिद्धं कफव्याधिनिसूदनम् ॥ ४७ ॥

कण्टकारीघृतम् ।

कुलत्थरससंयुक्तं पञ्चमूलशृतं घृतम् * ॥ ४८ ॥

धूमांस्तानेव दद्याच्च ये प्रोक्ता वातकासिनाम् ।

कोषातकीफलान्मध्यं पिबेद् वा समनःशिलम् ॥ ४९ ॥

तमकः कफकासे तु स्याच्चेत् पित्तानुबन्धजे ।

पित्तकार्साक्रियां तत्र यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥

गङ्गाधरः—समूलेत्यादि । समूलाद्यायाः कण्टकाय्या रसादृके बलादिभिः
गोक्षुरान्तैः कल्कैः पादिकैर्घृतप्रस्थं पचेत् । तत् सर्पिः । सर्वकासेष्वित्या-
द्याशीः । कण्टकारीघृतम् ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—कुलत्थेत्यादि । कुलत्थरसश्चतुर्गुणः पञ्चमूलं कल्कः पादिकः ।
तेन शृतं घृतं सर्वकासेष्वित्याद्याशीः ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—धूमांस्तानित्यादि । ये धूमा वातकासिनां प्रोक्तास्तांश्च धूमान्
कफकासिने दद्यात् । कोषातकीत्यादि । कोषातक्या घोषकस्य फलमध्यं
मज्जानं समनःशिलं धूमं पिबेद् धूमप्रकरणात् ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—तमक इत्यादि । तत्र पित्तानुबन्धे कफकासे तमकः श्वासश्चेत्

चक्रपाणिः—कण्टकारीघृते बलादिकल्कद्रव्यस्य मिलित्वा कुड्वमानत्वम् ॥ ४७ । ४८ ॥

चक्रपाणिः—कोषातकी घोषकः ॥ ४९ ॥

* इतः परं “पाययेत् कफजे कासे हिक्काश्वासेषु शस्यते” इत्यधिकः पाठो बहुषु ग्रन्थेषु दृश्यते ।

स्यात्
इत्या
अत्रा
वैधम
कफ
जयः

शुष्के

मिस्
कैरि
मांस

पित्त
क्रि

कफानुबन्धे पवने कुर्यात् कफहरीं क्रियाम् ।

पित्तानुबन्धयोर्वात-कफयोः पित्तनाशिनीम् ॥ ५० ॥

आर्द्रे विरुक्ष्णं शुष्के स्निग्धं वातकफात्मके ।

कासेऽन्नपानं कफजे सपित्ते तिक्तसंयुतम् ॥ ५१ ॥

कासमात्ययिकं मत्वा क्षतजं त्वरया जयेत् ।

मधुरैर्जीवनीयश्च बलमांसविवर्द्धनैः ॥ ५२ ॥

पिप्पलीमधुकं पिष्टं कार्षिकं ससितोपलम् ।

प्रास्थिकं गव्यमाजश्च क्षीरमिक्षुरसस्तथा ॥

स्यात् तदा यथावस्थं पित्तकासक्रियां पूर्वोक्तां प्रयोजयेत् । कफानुबन्ध इत्यादि । कफस्यानुबन्धयुक्ते पवनेऽनुबन्धशान्त्यर्थं कफहरीं क्रियां कुर्यात् अत्रानुबन्धनाशादनुबन्धनाशोऽपि श्रुत्यादिसाधर्म्यतः कुपितस्य स्याद् वैधर्म्येण कुपितस्य हि न स्यादिति । एवं पित्तस्यानुबन्धयोर्वातकास-कफकासयोरप्यनुबन्धपित्तनाशिनीं क्रियां कुर्यात् । अनुबन्धजये हि शुद्धस्य जयः सुखेन स्यादिति ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—आर्द्रे इत्यादि । वातकफात्मके कासे आर्द्रकफे रुक्षणमन्नपानं शुष्के कफे स्निग्धमन्नपानं सपित्ते कफजे तिक्तसंयुतमन्नपानं देयमिति ॥ ५१ ॥

गङ्गाधरः—कफजकासचिकित्साश्रुत्वा क्षतजकासचिकित्सितमाह—कास-मिस्यादि । क्षतजं कासमात्ययिकमत्ययकरं मत्वा भिषक् त्वरया जयेत् । केरिति ? मधुरैरित्यादिभिः । मधुरैर्द्राक्षाखर्ज्जरादिभिर्जीवनीयैर्दशभिर्बल-मांसविवर्द्धनैर्बल्यैर्वृहणीयैश्च दशभिरन्यैश्च जयेदिति ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—पिप्पलीत्यादि । पिप्पलीकर्षं मधुकर्षं पिष्टं सितोपलकर्षं

चक्रपाणिः—तमकः उपद्रवः । कफोऽनुबन्धोऽस्येति कफानुबन्धः तस्मिन् कफानुबन्धे पवने । पित्तानुबन्धयोरित्येतापि वातकफयोरनुबन्धत्वम् पित्तस्य तु प्राधान्यम् । अत एव पित्तनाशिनी क्रियोक्ता तत्र ॥ ५० ॥

चक्रपाणिः—आर्द्रे इति तनुकफे ॥ ५१ ॥

चक्रपाणिः—कासमित्यादिना क्षतजकासचिकित्सामाह ॥ ५२ ॥

यवगोधूममृद्रीका-चूर्णमामलकाद् रसः ।

प्रसृतांशानि तैलञ्च तत् सर्वं मृदुनाग्निना ॥

पचेल्लेहं घृतक्षौद्र-युक्तः स क्षतकासहा ।

कासहृद्रोगकाश्येषु हितो वृद्धाल्परेतसे ॥ ५३ ॥

पिप्पल्यादिलेहः ।

क्षतकासाभिभूतानां वृत्तिः स्यात् पित्तकासिकी ।

क्षीरसर्पिर्मधुप्राया संसर्गे तु विशेषणम् ॥

वातपित्तादितैऽभ्यङ्गो गात्रभेदे घृतैहितः ।

तैलैर्मारुतरोगघ्नैः पीड्यमाने च वायुना ॥

हृत्पार्श्वार्त्तिषु पानं स्याज्जीवनीयस्य सर्पिषः ।

सदाहं कासिनो रक्तं ष्ठीवतः सबलेऽनले ॥

गव्यं क्षीरं प्रास्थिकमाजञ्च क्षीरं प्रास्थिकमिक्षरसस्तथा प्रास्थिकः । यवचूर्णं गोधूमचूर्णं मृद्रीकाचूर्णमामलकफलाद्रसञ्च तैलञ्चेत्येतानि पञ्च द्रव्याणि प्रसृतांशानि द्विपलांशानि । तत् सर्वं मृदुनाग्निना लेहं पचेत् । स लेहो घृतक्षौद्रयुतः क्षतकासहा । अत्र घृतक्षौद्रे लेहभक्षणकाले यथायोग्यं मिश्रयित्वा लेहयेत् । पिप्पल्यादिलेहः ॥ ५३ ॥

गङ्गाधरः—क्षतकासेत्यादि । क्षतकासाभिभूतानां पित्तकासिकी पित्तकासोक्ता पथ्यादिवृत्तिर्हिता स्यात् । तथा क्षीरसर्पिर्मधुप्राया वृत्तिः स्यात् । संसर्गे तु विशेषणं विशेषः । तद् यथा । वातेत्यादि । वातपित्तसंसर्गादिते गात्रभेदे गात्रमर्दे घृतैरभ्यङ्गो हितः । वायुना पीड्यमाने च मारुतरोगघ्नैर्वक्ष्यमाणवातरोगघ्नैस्तैलैरभ्यङ्गः । हृत्पार्श्वार्त्तिषु जीवनीयस्य नाम्नः सर्पिषः पानं हितम् । सदाहमित्यादि । क्षतकासिनो रक्तं सदाहं ष्ठीवन्तो ये, अनले सबले

चक्रपाणिः—पिप्पल्यादिके लेहे यवादयस्तैलान्ताः प्रत्येकं प्रसृतमानाः ॥ ५३ ॥

चक्रपाणिः—वृत्तिरिति चिकित्सा । संसर्गे तु विशेषणम् इति चिकित्साविशेषो वातपित्तादित इत्यादिना वक्ष्यमाणो ज्ञेयः । वातपित्तादित इत्यादिना क्षतकासे एवावस्थिकीं चिकित्सांमाह ।

सति
क्षीर्णे
क्षत
रक्त
क्षीर
स्तम्भ
रक्त

वात
क्षत
इत्य
जीव
जीव

ऽष्टप

मांसोचितैभ्यः क्षामेभ्यो लावादीनां रसा हिताः ।
 तृष्णार्त्तानां पयश्छागं शरमूलादिभिः शृतम् ॥
 रक्ते स्रोतोभ्य आस्याद् वाप्यागतै क्षोरजं घृतम् ।
 पानं नस्यं यवागूर्वा श्रान्तै क्षामे हतानले ॥
 स्तम्भायासेषु महतीं मात्रां वा सर्पिषः पिबेत् ।
 कुर्याद् वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधिनम् ॥ ५४ ॥
 निवृत्ते क्षतदोषे तु कफे वृद्ध उरः क्षतै ।
 दाल्यतै कासिनो यस्य स धूमान् ना पिबेदिमान् ॥
 द्वे मेदे मधुकं द्वे च बले तैः क्षौमलक्तकः ।
 वर्त्तितैर्धूममापीय जीवनीयघृतं पिबेत् ॥
 मनःशिलापलाशाज-गन्धात्वक्क्षीरिनागरः ।
 भावयित्वा पिबेत् क्षौमं ससितैर्चुगुडोदकम् ॥

सति तेभ्यः क्षतकासिभ्यो मांसोचितैभ्यो मांसाहाराभ्यासवद्भ्यः क्षामेभ्यः
 क्षीणेभ्यो लावादीनां विष्किराणां मांसरसा हिताः । तृष्णेत्यादि ।
 क्षतकासिनां तृष्णार्त्तानां शरमूलादिपञ्चमूलैः शृतं छागं पयो हितम् ।
 रक्त इत्यादि । स्रोतोभ्यो नासादिरन्ध्रेभ्य आस्याद् वा रक्ते आगते
 क्षीरजं घृतं पानं नस्यं हितम् । श्रान्ते क्षामे हतानले यवागूर्वा हिता ।
 स्तम्भेत्यादि । स्तम्भे देहस्यायासेषु च सर्पिषो महतीं मात्रां पिबेत् । पित्त-
 रक्तयोरविरोधिनं वातरोगघ्नमौषधं वा कुर्यात् ॥ ५४ ॥

गङ्गाधरः—निवृत्त इत्यादि । उरःक्षते क्षतदोषे क्षते च निवृत्ते तदनुबन्ध-
 वातपित्ते दोषे च निवृत्ते सति कफे वृद्धे कासिनो यस्य तदुरो वक्षः क्षते
 क्षतस्थाने दाल्यते स ना पुरुष इमान् वक्ष्यमाणान् धूमान् पिबेत् । द्वे मेदे
 इत्यादि । मेदाद्वयादिकं पिष्ट्वा क्षौमलक्तकैर्वर्त्तितैर्वर्त्ति कृत्वा धूममापीय अनु
 जीवनीयघृतमोजोरक्षार्थं पिबेत् । मनःशिलेत्यादि । पलाशस्य बीजम्, अजगन्धा
 जीवनीयं सर्पिर्वीतरक्ते वक्ष्यमाणम् । महतीं मात्रामिति अहोरात्रेण परिणमनीयां प्रायो-
 ऽष्टपलप्रमाणाम् ॥ ५४ ॥

चक्रपाणिः—निवृत्ते क्षतदोषे इति क्षतव्रणे श्रान्ते क्षौमलक्तकैर्वर्त्तितैरिति यथोक्तौषधेन

पिष्टा मनःशिलां तुल्यामाद्र्या वटशुङ्गया ।

ससर्पिष्कं पिबेद् धूमं तित्तिरिप्रतिभोजनम् ॥

भावितं जीवनीयैर्वा कुलिङ्गाण्डरसायुतः ।

क्षौमं धूमं पिबेत् क्षीरं शृतं वाऽयोगुडैरण् ॥ ५५ ॥

सम्पूर्णरूपं क्षयजं दुर्बलस्य विवर्जयेत् ।

नवोत्थितं बलवतः प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥ ५६ ॥

तस्य वृंहणमेवादौ कुर्यादग्नेश्च दोषनम् ।

बहुदोषाय सस्नेहं मृदु दद्याद् विरेचनम् ॥

यमानीलकृक्षीरीवंशलोचनानागरान्तैः पिष्ट्वा क्षौमं लिप्त्वा भावयित्वा शोषयित्वा शरावसम्पुटे दत्त्वा धूमं पीत्वा ससितेक्षुगुडोदकं सितोदकमिक्षुगुडोदकमनुपानं कुर्यात् । पिष्टेत्यादि । आद्र्या वटशुङ्गया तुल्यां मनःशिलां पिष्ट्वा क्षौमं लेपयित्वा सर्पिषा युक्तया धूमं पिबेत् । तित्तिरिमांसरसेन प्रतिभोजनं कुर्यात् । भावितमित्यादि । जीवनीयदर्शभिः कथितैः कुलिङ्गानामण्डरसेन युक्तैर्भावितं क्षौमं वस्त्रं धूमं पिबेत् । तदनु शृतं क्षीरं पिबेदथवा वह्नौ तप्तैरयोगुडैर्लोहगुडकैः क्षीरे प्रक्षिप्तैः शृतं क्षीरं वा अनु पिबेदिति ॥ ५५ ॥

गङ्गाधरः— तकासचिकित्सितमुत्तवा क्षयजकासचिकित्सितमाह—सम्पूर्णेत्यादि । क्षयजं कासं दुर्बलस्य सम्पूर्णलक्षणं विवर्जयेत् । बलवतो नवोत्थितं सम्पूर्णलक्षणं प्रत्याख्याय क्रियामाचरेत् । पूर्वं हुतं नवौ कदाचित् सिध्येतामिति, तेन यदि सिध्येदित्यभिप्रेत्य क्रियामाचरेदिति । असम्पूर्णरूपश्च न प्रत्याख्यायते क्रियाश्चाचरेत् ॥ ५६ ॥

गङ्गाधरः—तस्येत्यादि । तस्य बलवतो नवोत्थक्षयकासिन आदौ वृंहणमौषधमग्नेर्दोषनश्च कुर्यात् । तत्र बहुदोषश्चेत् स भवेत् तदा बहुदोषाय

क्षौमलेपाद्वर्त्तिकृतैः क्षौमं दग्ध्वा धूमं पिबेत् । तित्तिरिसानुपानम् । अयोगुडैरिति लोहगुडैः शृतं क्षीरम् ॥ ५५ ॥

चक्रपाणिः—प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् इत्यनेन उक्तलक्षणेऽपि क्षयजे कदाचित् सिद्धिर्दर्शयति ॥ ६ ॥

तस्मै
कल्कः ।
सर्पिः क्ष
गङ्गा
कर्कटशृ
विदारी
कदम्बैः
पयश्च
नवोत्थ
पायो च
घृततैल

चक्र
घृतमण्डः

शम्पाकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया ।
 तिल्वकस्य कषायेण विदारीस्वरसेन च ॥
 सर्पिः सिद्धं पिबेद् युक्त्या क्षीणदेहविशोधनम् ।
 हितं तद् देहबलयोरस्य संरक्षणं मतम् ॥ ५७ ॥
 पित्ते कफे च संक्षीणे परिक्षीणेषु धातुषु ।
 घृतं कर्कटकक्षीर-द्विबलासाधितं पिबेत् ॥
 विदारीभिः कदम्बैर्वा तालशस्यैस्तथा घृतम् ।
 शृतं पयश्च मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे ॥
 शूने सवेदने मेद्रे पायौ सश्रोणिवङ्क्षणौ ।
 घृतमण्डेन मधुनाऽनुवास्यो मिश्रकेण वा ॥
 जाङ्गलैः प्रतिभुक्तस्य वर्तकाद्या विलेशयाः ।
 क्रमशः प्रसहाश्चैव प्रयोज्याः पिशिताशिनः ॥
 औष्ण्यात् प्रमाथिभावाच्च स्रोतोभ्यश्च्यावयन्ति ते ।

कफं शुद्धस्य तैः पुष्टिं कुर्यात् सम्यग्वहन् रसः ॥ ५८ ॥
 तस्मै सस्नेहं मृदु विरेचनमादौ दद्यात् । तद्विरेचनमाह—शम्पाकत्रिवृता-
 कल्कः । मृद्वीकारसतिल्वककषायविदारीस्वरसा मिलित्वा चतुर्गुणास्तः सिद्धं
 सर्पिः क्षीणदेहविशोधनम् ॥ ५७ ॥

गङ्गाधरः—पित्ते कफे चेत्यादि । क्षयकासी नरः पित्ते कफे चेत्यादिषु
 कर्कटशृङ्गीबलाद्वयकल्केन पादिकेन चतुर्गुणे क्षीरे साधितं घृतं पिबेत् ।
 विदारीभिः कल्कैश्चतुर्गुणजले शृतं घृतं पयश्च क्षीरपरिभाषया शृतं तथा
 कदम्बैः शृतं घृतं तथा पयश्च शृतं तालशस्यैस्तालाङ्गरैः कल्कैः शृतं घृतं तथा
 पयश्च मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे पिबेदिति पूर्व्वेणान्वयः । शून इत्यादि ।
 नवीत्यक्षयकासवान् दुर्बलः सबलश्च मेद्रे शूने सवेदने, सश्रोणिवङ्क्षणे
 पायौ च शूने सवेदने मधुना सहितेन घृतमण्डेनानुवास्यः । अथवा मिश्रकेण
 घृततैलमिश्रेणानुवास्यः । अनुवासनानन्तरं जाङ्गलैः शशकादिमांसरसैः प्रति-

चक्रपाणिः—शम्पाक आरवधः । कर्कटकी काकडिशिङ्गी । तालशस्यैरिति तालफलस्य शस्यैः ।
 घृतमण्डः घृतोपरिस्त्यानभागः । औष्ण्यादिति । शुद्धैश्च तैरिति शुद्धैः स्रोतोभिः ॥ ५७ । ५८ ॥

द्विपञ्चमूलीत्रिफला-चविकाभार्गिचित्रकैः ।

कुलत्थपिप्पलोमूल-पाठाकोलयवैर्जले ॥

शृते नागरदुःस्पर्श-शटोपिप्पलोपौष्करैः ।

कल्कैः कर्कटशृङ्गा च समैः सर्पिर्विपाचयेत् ॥

सिद्धेऽस्मिंश्चूर्णितौ चारौ द्वौ पञ्चलवणानि च ।

दत्त्वा युक्त्या पिबेन्मात्रं क्षयकासनिपोद्धितः ॥ ५६ ॥

द्विपञ्चमूल्यादिघृतम् ।

गुडूचीं त्रिफलां मूर्च्छां हरिद्रां श्रेयसीं वचाम् ।

निर्दिग्धिकां कासमर्द्दं पाठां चित्रकनागरम् ॥

जले चतुर्गुणे पक्त्वा पादशेषेण तत्समम् ।

सिद्धं सर्पिः पिबेद् गुल्म-श्वासात्तिक्षयकासनुत् ॥ ६० ॥

गुडूच्यादिघृतम् ।

भुक्तस्य तस्य क्षयकासिनो भोजने वर्त्तकाद्या विलेशयाः पिशिताशिनः प्रसहाश्च क्रमशः प्रयोज्याः । ते वर्त्तकाद्या औष्ण्यात् प्रमाथिभावात् स्रोतोभ्यः कफं च्यावयन्ति । प्रमाथित्वं व्यवायितम् । व्यवायी देहमखिलं व्याप्य पाकाय कल्पते । कफच्यवनेन यत् स्यात् तदाह—शुद्धस्येत्यादि । तैर्वर्त्तकादिभिः शुद्धस्य च्युतकफस्य नवोत्थक्षयकासिनः स्रोतःशोधनेन रसो धातुः सम्यग्वहन् पुष्टिं रक्तादिपोषणं कुर्यादिति ॥ ५८ ॥

गङ्गाधरः—द्विपञ्चमूलीत्यादि । द्विपञ्चमूल्यादियवान्तैः काथ्यः शृते जले काथे चतुर्गुणे नागरादिकर्कटशृङ्गान्तैः प्रत्येकं समैः कल्केष्टृतात् पादिकैः सर्पिर्विपाचयेत् । सिद्धे पूते द्विषारपञ्चलवणानि युक्त्या दत्त्वा मात्रां पिबेत् । द्विपञ्चमूल्यादिघृतम् ॥ ५९ ॥

गङ्गाधरः—गुडूचीमित्यादि । गुडूच्यादीनि प्रत्येकं समानि नागरान्तानि

चक्रपाणिः—द्विपञ्चमूलीत्यादौ क्षारलवणानाञ्च युक्त्या दानवचनेन स्तोकमात्रं दानं लवणीकरणप्रयोजनार्थं दर्शयति ॥ ५९ ॥

चक्रपाणिः—गुडूचीमित्यादौ श्रेयसी रासना । तत्सममिति काथसमम् ॥ ६० ॥

चतुर्गु

गुडू च

ग

मात्रैघृ

शिवश्च

गु

विहाय

व्योषे

चतुर्गु

पिबेत्

सिद्धं

ग

द्राद

च

कासमर्दाभयामुस्त-पाठाकटफलनागरैः ।
 पिप्पलीकटुकाद्राक्षा-काश्मर्यसुरसैस्तथा ॥
 अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं क्षीरद्राक्षारसाढके ।
 पचेच्छोषज्वरप्रीह-सर्वकासहरं शिवम् ॥ ६१ ॥
 धात्रीफलः क्षीरसिद्धैः सर्पिर्वाप्यवचूर्णितम् ।
 द्विगुणे दाडिमरसे सिद्धं वा व्योषसंयुतम् ॥
 पिबेदुप र भक्तस्य यवक्षारघृतं नरः ।
 पिप्पलीगुडसिद्धं वा छागक्षीरयुतं घृतम् ॥
 एतान्यग्निविवृद्धार्थं सर्पींषि क्षयकासिनाम् ।
 स्युर्दोषबद्धकोष्ठोरः-स्रोतसाश्च विशुद्ध्ये ॥ ६२ ॥
 हरीतकीर्यवकाथ-द्राढके विंशतिं पचेत् ।
 खिन्ना मृदित्वा तास्तस्मिन् पुराणगुडषट्पलम् ॥

चतुर्गुण जले पक्त्वा पादावशेषेण तेन काथेन तत्काथसमं सिद्धं सपिः पिबेत् ।
 गुड च्यादघृतम् ॥ ६० ॥

गङ्गाधरः—कासमर्देत्यादि । कासमर्दादिभिः सुरसान्तः कल्कैः प्रत्येकमक्ष-
 मात्रैर्घृतप्रस्थं क्षीरद्राक्षारसाढके समक्षीरे त्रिगुणद्राक्षारसे पचेत् । शोषादिहरं
 शिवञ्च घृतमिदमिति । कासमर्दादिघृतम् ॥ ६१ ॥

गङ्गाधरः—धात्रीत्यादि । क्षीरे यथायोग्ये धात्रीफलानि पक्त्वाऽस्थ्यादिकं
 विहाय पिष्ट्वा तैर्धात्रीफलैरवचूर्णितं मर्दितं चतुर्गुणं सर्पिः पिबेत् । पादिक-
 व्योषेण कल्केन द्विगुणे दाडिमरसे सिद्धं वा सर्पिः पिबेत् । यवक्षारघृतं
 चतुर्गुणजले युक्त्याष्टांशयवक्षारेण पक्वं घृतं भक्तस्योपरि नरः क्षयकासी
 पिबेत् । पिप्पलीगुडौ पादिकौ मिलित्वा कल्कीकृत्य चतुर्गुणच्छागक्षीरे
 सिद्धं घृतं पिबेत् । एतानीत्याद्याशीः । चत्वारि घृतानि ॥ ६२ ॥

गङ्गाधरः—हरीतकीरित्यादि । यवानष्टगुणे जले पक्त्वा पादावशेषे पूते
 द्राढके द्वात्रिंशच्छरावे विंशतिं हरीतकीः पचेत् । खिन्नास्ता हरीतकयोऽस्थि-

चक्रपाणिः—क्षीरसिद्धैरिति क्षीरखिन्नैः । यवक्षारं घृतञ्च ॥ ६१ । ६२ ॥

दद्यान्मनःशिलाकर्षं कर्षार्द्धश्च रसाञ्जनम् ।

कुडुवार्द्धश्च पिप्पल्याः स लेहः श्वासकासनुत् ॥ ६३ ॥

हरीतकीलेहः ।

श्वाविधां सूचयो दग्धाः सघृतक्षौद्रशर्कराः ।

श्वासकासहरा वह्नि-पादौ वा क्षौद्रसर्पिषा ॥

एरण्डपत्रक्षारं वा व्योषतैलगुडान्वितम् ।

लिह्यादेतेन विधिना सुरसैरण्डपत्रजम् ॥

वार्त्ताकपिप्पलीद्राक्षा-पद्मकं क्षौद्रसर्पिषा ।

लिह्यात् त्रूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा ॥

चित्रकं त्रिफलाजाजी-कर्कटाख्याकटुत्रिकम् ।

द्राक्षाश्च मधुसर्पिर्भ्यां लिह्यादद्याद् गुडेन वा ॥ ६४ ॥

जीवन्तीं मधुकं पाठां त्वक्क्षीरीं त्रिफलां शटीम् ।

मुस्तैले पिप्पलीं द्राक्षां द्वे वृहत्यौ वितुन्नकम् ॥

हीना मृदिता श्लेष्मणं पिष्ट्वा तस्मिन् यवकाथे पुराणगुडस्य षट्पलं दद्यात् । पतवावतरणकाले मनःशिलायाः कर्षं रसाञ्जनकर्षार्द्धं पिप्पल्याः कुडुवार्द्धं चूर्णं प्रक्षिप्य लेहरूपमवतारयेत् । हरीतकीलेहः ॥ ६३ ॥

गुग्गाधरः—श्वाविधामित्यादि । शल्वकीकण्टका दग्धाः सप्तशर्करा घृत-क्षौद्राभ्यां लेहाः श्वासकासहराः । वह्निपादौ जङ्घे द्वे वा दग्धा क्षौद्रसर्पिषा लेहाः श्वासकासहराः । एरण्डेत्यादि । एरण्डपत्रं दग्धा क्षारं कृत्वा समांशव्योषचूर्णान् मिश्रयित्वा तैलगुडाभ्यां लिह्यात् । एतेन विधिना सुरसस्य तुलस्या एरण्डस्य च पत्राणि दग्धा क्षारं कृत्वा समव्योषचूर्णेन मेलयित्वा तैलगुडाभ्यां लिह्यात् श्वासकासहरमिति । वार्त्ताकेत्यादि । वार्त्ताकादिकं चूर्णयित्वा क्षौद्रसर्पिर्भ्यां लिह्यात् । त्रूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा लिह्यात् । चित्रकमित्यादि । द्राक्षान्तं चूर्णीकृत्य मधुसर्पिर्भ्यां लिह्यादथवा समगुडेन मेलयित्वा जद्यात् ॥ ६४ ॥

चक्रपाणिः—एतेन विधिनेति व्योषतैलगुडान्वितं साधनीयम् । सुरसं मुनिषण्णकम् ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

सारिवां पौष्करं मूलं कर्कटास्यां रसाञ्जनम् ।
 पुनर्नवां लेहः जस्त्रायमाणां यमानिकाम् ॥
 भार्गीं तामलकीमृद्धिं विडङ्गं धन्वयासकम् ।
 चारचित्रकचव्याम्ल-वेतसव्योषदारु च ॥
 चूर्णीकृत्य पलांशानि लेहयेन्मधुसर्पिषा ।
 चूर्णात् पाणितलं पञ्च कासानेतद् व्यपोहति ॥ ६५ ॥

पद्मकं त्रिफलां व्योषं विडङ्गं देवदारु च ।
 बलां रास्नाञ्च तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ॥
 सव्वैरेभिः समं चूर्णैः पृथक् क्षौद्रं घृतं सिताम् ।
 लिह्याल्लेहं विमथ्यैतं सर्वकासहरं शिवम् ॥ ६६ ॥

पद्मकादिलेहः ।

लिह्यान्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम् ।
 सर्वकासहरं श्रेष्ठं लेहं कासादितो नरः ॥
 बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम् ।
 स्वरोपघाते कासे च लेहमेतं प्रयोजयेत् ॥ ६७ ॥

गङ्गाधरः—जीवन्तीमित्यादि । वितुन्नकं धान्यकं, लोहरजो मारितपुटित-
 लोहम् । दार्वन्तं सर्वं चूर्णीकृत्य प्रत्येकं पलाञ्जं मिश्रयित्वा तच्चूर्णात्
 पाणितलं तद्विगुणेन मधुसर्पिषा मिलितं लेहयेत् । जीवन्त्याद्यचूर्णाव-
 लेहौ ॥ ६५ ॥

गङ्गाधरः—पद्मकमित्यादि । पद्मकादीनि तुल्यानि चूर्णानि कारयेत् ।
 एभिः सर्वैश्चूर्णैः समं पृथक् प्रत्येकं क्षौद्रं घृतं सिताञ्च दत्त्वा विमथ्य लेहं
 लिह्यात् । पद्मकादिलेहः ॥ ६६ ॥

गङ्गाधरः—लिह्यादित्यादि । मरिचचूर्णं शर्करासमम् । घृतक्षौद्राभ्यां
 लिह्यात् । बदरीत्यादि । बदरीपत्रकल्कं ससैन्धवं घृते भृष्टं तेनैव भर्जन-
 घृतेन लिह्यादेतं लेहं स्वरोपघाते कासे च प्रयोजयेत् ॥ ६७ ॥

चक्रपाणिः—पाणितलं कर्षः ॥ ६५—६७ ॥

पत्रकल्कं घृतै भृष्टं तिल्वकस्य सशर्करम् ।
 पेया चोत्कारिका छर्दि-तृट्कासामातिसारनुत् ॥
 गौरसर्षपगण्डीर-विडङ्गव्योषचित्रकान् ।
 साभयान् साधयेत् तोये यवागूँ तेन चाम्भसा ॥
 ससर्पिलवणा कासे हिक्काश्वासे च पीनसे ।
 पाण्डुमये क्षये शोषे कर्णशूले च शस्यते ॥ ६८ ॥
 कण्टकारीरसे सिद्धो मुद्गयूषः सुसंस्कृतः ।
 सगौरामलकः साम्लः सर्वकासे भिषग्जितम् ॥ ६९ ॥
 वातघ्नौषधनिःकाथं क्षीरयूषान् रसानपि ।
 वैष्किरप्रतुदादीनां दापयेत् क्षयकासिने ॥
 क्षतकासे च ये धूमाः सानुष्ठाना निदर्शिताः ।
 क्षयकासेऽपि तानेव यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥

गङ्गाधरः—पत्रेत्यादि । तिल्वकस्य लोध्रस्य पत्रकल्कं घृते भृष्टं सशर्करमुत्कारिका कृता पेया पातव्या छर्दिनादिनुत् । गौरेत्यादि । गौरसर्षपः, गण्डीरः समठः, अभयाः, तान् कर्षमात्रान् प्रास्थिके तोये पचेदूर्द्धशिष्टेन तेनाम्भसा यवागूँ साधयेत् । सा यवागूः ससर्पिलवणा कासादिषु शस्यते ॥ ६८ ॥

गङ्गाधरः—कण्टकारीत्यादि । कण्टकारीकर्षं प्रास्थिके जले पक्त्वाूर्द्धशिष्टे रसे सिद्धो मुद्गयूषः सपिर्मरिचादिना सुसंस्कृतः गौरा हरिद्रा आमलकफळं ताभ्यां साम्लः सर्वकासे भिषग्जितम् ॥ ६९ ॥

गङ्गाधरः—वातेत्यादि । वातघ्नौषधं भद्रदावर्वादि तेषां निःकाथं क्षय-कासिने दापयेत् । तथा तेन काथेन सिद्धं क्षीरं यूषांश्च दापयेत् तथा वैष्किरान् रसान् दापयेत् तथा प्रतुदादीनां रसान् दापयेत् । आदिना प्रसहादीनां रसान् दापयेत् । क्षतेत्यादि । क्षतकासे च ये धूमा यद्यदनुष्ठानं

चक्रपाणिः—उत्कारिकेति पत्रकलकेनेत्यादिना । गण्डीरः शमठः ॥ ६८ ॥

चक्रपाणिः—गौरामलक आर्द्रामलकः, साम्ल इति दाडिमादियोगादम्लः ॥ ६९ ॥

दीपनं वृंहणञ्चैव स्रोतसाश्च विशोधनम् ।

व्यत्यासात् क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वं हितं भवेत् ॥ ७० ॥

सन्निपातोद्भवो ह्येष क्षयकासः सुदारुणः ।

सन्निपातहितं तस्मात् कार्यमत्र भिषग्जितम् ॥

दोषानुबलयोगाच्च भवेद् * रोगबलाबलम् ।

कासेष्वेषु गरीयांसं जानीयादुत्तरोत्तरम् ॥ ७१ ॥

निदग्धितं क्षयकासेऽपि तान् सानुष्ठानान् धूमान् यथावस्थं प्रयोजयेत् । दीपनमित्यादि । क्षयकासे यो यो दोषस्तत्तदोषव्यत्यासाद् विपर्ययाद् यद्यदीपनमौषधादिकं वृंहणञ्च स्रोतसां विशोधनञ्च बल्यञ्च तत् सर्वं क्षयकासिभ्यो हितं भवेत् ॥ ७० ॥

गङ्गाधरः—सन्निपातेत्यादि । हि यस्मात् एष क्षयकासः सन्निपातोद्भवः सुदारुणः सद्बद्धेनोपक्रान्तः सिध्यत्यथोपक्रान्तो मारयति, तस्मात् सन्निपातस्य त्रिदोषस्य हितं यद् यदौषधादिकं तत् सर्वं भिषग्जितमत्र क्षयकासे कार्यम् । दोषेत्यादि । रोगबलाबलं दोषानुबलयोगाच्च दोषानुबन्धयोगाच्च रोगबलाबलं भवेत् । एषु पञ्चसु कासेषु मध्ये उत्तरोत्तरं कासं गरीयांसं जानीयात् । वातकासाद् गरीयान् पित्तकासः, पित्तकासात् कफकासः, कफकासात् क्षतकासः, क्षतकासात् क्षयकास इति ॥ ७१ ॥

चक्रपाणिः—व्यत्यासादिति क्रियापरिवर्तनात् ॥ ७० ॥

चक्रपाणिः—क्षयकासस्य सन्निपातोद्भव इत्यादिना सान्निपातिकत्वमभिधाय दोषोद्भवं विशेषानुबन्धरूपेण चिकित्साविशेषसूत्रमाह—“दोषानुबन्धयोगाच्च हरेद् रोगबलाबलम्” । अत्र बुद्धेरत्यध्याहार्यम् । दोषाणामनुबन्धः उत्कर्षापकर्षादिना सम्बन्धः तदपेक्षयोगः, अत्र पञ्चमी हेतौ । अन्ये तु दोषानुबन्धरूपेण भेषजयोगेन रोगस्य क्षयकासस्य प्रबलवन्तश्च दोषं हरेत् । तस्मिन् न तु युक्तं हरेद् रोगबलाबलमिति । अन्ये तु दोषानुबलयोगाच्च कुर्याद् रोगबलाबलमिति पठन्ति । तेन दोषानुबन्धयोगात् रोगबलाबलं बुद्धा कुर्याद् भिषग्जितमिति सम्बन्धः । कासेष्विति वातपित्तकफक्षतक्षयजेषु ॥ ७१ ॥

* दोषानुबन्धयोगाच्च हरेत् इति चक्रः ।

तत्र श्लोकौ ।

भोज्यं पानानि सर्पीषि लेहाश्च सह पानकैः ।

चौरसर्पिर्गुडा धूमाः कासभेषज्यसंग्रहः ॥

सङ्ख्यानिमित्तरूपाणि साध्यासाध्यत्वमेव च ।

कासानां भेषजञ्चोक्तं गरीयस्त्वञ्च कासिनः ॥ ७२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते

चिकित्सितस्थाने कासरोगचिकित्सितं नाम

अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमाह—तत्र श्लोकाविति । भोज्यमित्यादिश्लोक-
द्वयम् ॥ ७२ ॥

इति अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल प्रतिसंस्कृत एव च ।

कासचिकित्सितेऽष्टादशाध्याये वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते

चरकजल्पकल्पतरौ षष्ठस्कन्धे चिकित्सितस्थानजल्पे कासरोग

चिकित्सितजल्पाख्या अष्टादशी शाखा ॥ १८ ॥

चक्रपाणिः—विस्तारोक्तं कासभेषजं संगृह्णाति—भोज्यमित्यादि । संख्येत्यादि अध्यायार्थ-
संग्रहः सुगम इति ॥ ७२ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामयुर्वेददीपिकायां

चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां कासचिकित्सितं

नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः ।

अथातोऽतीसारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

भगवन्तं खल्वत्रेयं कृताहिकं हुताग्निहोत्रमासीनमृषिगण-
परिवृतं हिमवत्पार्श्वे विनयादुपेत्याभिवाद्याग्निवेश उवाच,
भगवन्नतीसारस्य प्रागुत्पत्तिनिमित्तलक्षणोपशमनानि तु प्रजानु-
ग्रहार्थमाख्यातुमर्हस्योति ॥ २ ॥

अथ भगवान् पुनर्वसुरात्रेयस्तदग्निवेशवचनमनुनिशम्य
उवाच—श्रूयतामग्निवेश ! सर्वमेतदखिलेन व्याख्यायमानम् ।
आदिकाले तु यज्ञेषु पशवः समालम्भनीया बभूवुर्नालम्भाय
प्रक्रियन्ते स्म । ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां
नरिष्यन्नाभागेद्वाकुदिष्टशर्यात्यादीनां क्रतुषु पशव एवाभ्यनु-

गङ्गाधरः—उद्दिष्टानुक्रमात् कासचिकित्सितान्तरमतिसारचिकित्सित-
माह—अथा इत्यादि । पूर्ववत् सर्वं व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—भगवन्तमित्यादि । अग्निवेश ऋषिर्हिमवत उत्तरे पार्श्वे आसीनम्
आत्रेयं विनयादुपेत्याभिवाद्य चोवाच । तद् यथा—भगवन्नित्यादि ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—तदुत्तरमाहात्रेयः—अथेत्यादि । अतिसाररोगस्य प्रागुत्पत्ति-
पुराष्टत्तमुवाच । आदिकाल इत्यादि । दक्षयज्ञं प्रति अवरकालं दक्षयज्ञादनन्तरं
बहुकाले व्यतीते मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागादीनां क्रतुषु पशव एवाभ्य-

चक्रपाणिः—अग्निबलहानिसामान्यात् ग्रहणीदोषमनु अतिसारचिकित्सिते वक्तव्ये उपोद्धात-
तया पाण्डुरोगादिभिर्विषयवधानं कृतं, सम्प्रति तु उपोद्धातोक्तगण्डुरोगादीनभिधाय प्रकृतमतीसार-
चिकित्सितमुच्यते । प्रागुत्पत्तिरिति प्राक्कालोत्पत्तिः ॥ १ । २ ॥

चक्रपाणिः—आदिकाले इति कृतयुगे । समालम्भनीया इति मन्त्रेण अभिमन्त्र्यैव परित्याज्या
बभूवुः न आलम्भार्थम् प्रक्रियन्ते स्म इति आलम्भाय मारणाय न प्रक्रियन्ते न संक्रियन्त
इत्यर्थः । नरिष्यन्नाभागादिमनुपुत्रेषु । एवमेव मनुपुत्रमुदाहार्यं यज्ञादिशब्दः क्रियते तदा तेषां

ज्ञाय प्रोक्षणमेवावापुः । अतः प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घ-
सत्रेण यजता पशूनामलाभाद् गवामालम्भश्च प्रवर्तितः ।
तद् दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः । तेषाञ्चोपयोगादुपाकृतानां गवां
गौरवादौर्ण्यादसात्स्यात् अशस्तोपयोगात् स्वाद्वपयोगाच्चोप-
हताग्नीनामुपहतमनसाश्चातिसारः पूर्वमुत्पन्नस्तत्पृषध्रयज्ञे ॥३॥

अथावरकालं वातलस्य वातातपव्यायामातिमात्रनिषेविणो
रुक्षाल्पप्रमिताशिनः तीक्ष्णमद्यव्यवायनित्यस्य उदावर्त्तयतश्च

नुज्ञां चक्रुः—क्रतुषु भवन्तोऽस्मान् प्रोक्षयन्त्विति । ते पशवो मनुपुत्राणां क्रतुषु
प्रोक्षणमेवावापुः । अतो मनुपुत्राणां क्रतुसमाप्तिं प्रति अवरकालं कियत्काला-
नन्तरं पृषध्रेण राज्ञा दीर्घसत्रेण दीर्घकालनिष्पाद्यक्रतुना यजता पशूनामलाभात्
गवामालम्भः प्रवर्तितः । तद्गवालम्भनं दृष्ट्वा भूतगणा मनुष्यादयः प्रव्य-
थिता बभूवुः । तेषाञ्चेत्यादि । तेषु तत्र क्रतौ व्रतिभिर्कृत्स्निग्भिस्तेषाञ्च
गवामुपाकृतानां यज्ञार्थं मन्त्रतो हतानां मांसानामुपयोगादाहारेषु तन्मांसस्य
मौरवादौर्ण्यादसात्स्यादशस्तोपयोगात् स्वाद्वपयोगात् स्वादुत्साभावाच्च
उपहताग्नीनामृषीणामुपहतमनसाश्चातिसारः पूर्वमुत्पन्नस्तत्पृषध्रयज्ञे ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—इत्येवं प्रागुत्पन्नस्यातिसारस्याथानन्तरकालं हेतुविशेषमासाद्य
कुपितवातादितो जायमानस्य षड्विधभेदमुपेतस्योत्पत्तिर्भवतीति तदाह—
अथावरकालमित्यादि । वातलस्य बहुलवातस्य न तु वातप्रकृतेः सुखसाध्यता-
नुपपत्तेः कृच्छ्रसाध्यताया एवोपपत्तेः, कफपित्तप्रकृतिकयोरपि वातातीसार-

कचिदन्यत्त समुदायेन पाठात् बुद्धिपूर्वः साक्षात् ज्ञानार्थं कतिपये पठिताः । पशूनामभ्यनु-
ज्ञानादिति पशूनामेव प्रेरणया 'प्रेषाय च एषां विशिष्टार्थमेव' उच्यते आगमेषु । क्रत्वर्थहिंसायां
वधवध्ययोरुभयोरपि महापुण्यमुत्पद्यत इति । किंवा पशूनामेवाभ्यनुज्ञानादिति वेदे पशूनां
वध्यत्वेऽप्यनुज्ञानात् । प्रोक्षणमिति अभिमन्त्र्य हननम् । उक्तं हि—'उपाकृतः पशुरसौ योऽभि-
मन्त्र्य क्रतौ हतः' । अनेन प्रागुत्पत्तिनिदर्शनेन मानसोपपातोऽतीसारकारणं भवतीत्युपदर्श्यते ।
दीर्घसत्रेणेति दीर्घकालवृत्तिना क्रतुना । व्यथिता इति अदृष्टपूर्वं गवां बधं दृष्ट्वा दुःखिताः
सन्तः ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—अथत्यादिना वातातीसारादीनां पृथक् लक्षणं ब्रूते । वातलस्येत्यनेन वात-
प्रकृतिं प्राप्य वातातपादीनां वातातीसारजनने सामर्थ्यातिशयो दृश्यते । अनेन अन्यप्रकृतेरपि

वेगान् वायुः प्रकोपमापद्यते पक्ता चोपहन्यते । स वायुः प्रकुपितोऽग्रावुपहतै मूत्रस्वेदौ पुरीषाक्षयमुपहत्य ताभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्यातिसाराय कल्पते ॥ ४ ॥

तस्य रूपाणि—विज्जलमामविप्लुतमवसादि रुचं द्रवं सशूल-
मामगन्धमीषच्छब्दं वा विवद्धमूत्रधारमतिसार्यते पुरीषम् ।
वायुश्चान्तःकोष्ठे सशब्दशूलस्तिर्यक् चरति विवद्धः । इत्या-
मातिसारो वातात् । पक्वं वा विवद्धमल्पाल्पं सशब्दशूलफेन-
पिच्छापरिकर्तिकं हृष्टरोमा विनिश्चस्य शुष्कमुखः कट्यू रुत्रिक-
जानुपृष्ठपार्श्वशूली भ्रष्टगुदो मुहुर्मुहुर्विग्रथितमुपवेश्यते वातात्
तमाहुरनुग्रथितमित्येके वातानुग्रथितवर्चस्त्वात् ॥ ५ ॥

दर्शनाच्च पित्तलश्लेष्मलयोर्बोध्यमिति । पक्ता च जाठराग्निस्तेन वाता-
तपादिना हेतुनोपहन्यते । स वायुरित्यादि । मूत्रस्वेदौ पुरीषाक्षयमुपहत्य
नीत्वा ताभ्यां मूत्रस्वेदाभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्येति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—तस्य रूपाणीति । तस्य वातजस्यातिसारस्य । विज्जलादि-
पुरीषं पुरुषो वातेनातिसार्यते । विज्जलं पिच्छिलम् । आमविप्लुतम् अपक्व-
दोषविप्लुतम् अवसादि अवसादकरत्वात् । वायुश्चान्तःकोष्ठे कोष्ठाभ्यन्तरे
शब्दशूलाभ्यां सहितस्तिर्यक् चरति विवद्धः संश्रयतीत्यामातिसारो वातात् ।
पक्वातिसारमाह—पक्वं वेत्यादि । वातेनातिसारकी गुमान् हृष्टरोमादिः सन्
पक्वं वा पुरीषं विवद्धमल्पाल्पं शब्दादिमद्विग्रथितञ्च मुहुर्मुहुर्रूपवेश्यते ।

वातातपादयः अतीसारस्य कारणं भवतीति ज्ञेयम् । एवं पित्तलश्लेष्मलशब्दयोरपि तात्पर्यं
व्याख्येयम् । प्रमिताशनमतीतकालाशनं वेगादुदावर्त्तयत दति ऊर्द्धमावर्त्तयतो वेगादित्यर्थः ।
पुरीषाक्षयं वेगेनाभिहृत्यैति पक्वाक्षयं जित्वा । ताभ्यामिति मूत्रस्वेदाभ्याम् ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—तस्य रूपाणीत्यादिना आमवातातीसारलक्षणमाह । आममिति आमत्वगतम् ।
विप्लुतमिति प्रसरणशीलम् । अवसादितमिति भूमौ पतितं लीनं भवति । पक्वञ्चेत्यादिना
पक्ववातातिसारमाह । विनिश्चसन्निति शब्दं कुर्वन् । तमाहुरनुग्रथितमिति विग्रन्थितपुरीषाति-
सारावस्थां प्राप्नोति ॥ ५ ॥

पित्तलस्य पुनरम्ललवणकटुचारोष्णतीक्ष्णातिमात्रनिषे-
विणः प्रतताग्निसूर्यसन्तापोष्णमारुतोपहतगात्रस्य क्रोधेर्ष्या-
बहुलस्य पित्तं प्रकोपमापद्यते । तद् द्रवत्वादुष्माणमुपहत्य
पुरीषाशयाश्रितमौषधाद् द्रवत्वात् सरत्वाच्च भित्त्वा पुरीषमति-
साराय कल्पते ॥ ६ ॥

तस्य रूपाणि—हारिद्रं हरितं नीलं कृष्णं रक्तपित्तोपगतम्
अतिदुर्गन्धमतिसार्यते पुरीषम् । तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छा-
शूलव्रधनसन्तापपाकपरीतः । इति पित्तातिसारः ॥ ७ ॥

श्लेष्मलस्य तु गुरुमधुरशीतस्निग्धोपसेविनः सम्पूरकस्य
अचिन्तयतो दिवास्वप्नपरस्यालसस्य श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ।
तं पक्वं वातादितिसारमाहुः । तमनुग्रथितकमित्येक आहुः । कस्मात् ?
वातानुग्रथितवर्चस्त्वात् । इति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—पित्तातिसारमाह—पित्तलस्येत्यादि । पित्तलस्याम्लाद्यतिमात्र-
निषेविण इत्यादेः पित्तं प्रकोपमापद्यते । तदित्यादि । तत्तदम्लाद्यतिमात्र-
निषेवणादितः प्रकुपितं पित्तं द्रवत्वादुष्माणमुपहन्ति न तु तीक्ष्णोष्णत्वादितो
वर्द्धयति तदम्लादिहेतुकतथाविधस्वभावात् । द्रवत्वादुष्माणमुपहत्य पुरीषा-
शयाश्रितं सदौष्यादिभ्यः पुरीषं भित्त्वातिसाराय कल्पते । इति पित्ताति-
सारसम्प्राप्तिः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—अथ तस्य रूपाणि । तद् यथा—हारिद्रमित्यादि । रक्तपित्तोप-
गतं पुरीषमतिसार्यते इति सोऽतिसारी तृष्णादिपरीतो भवति । पाको
गुदपाकः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—श्लेष्मातिसारमाह—श्लेष्मलस्येत्यादि । श्लेष्मलस्य गुर्वा-
दुपसेविनः । सम्पूरकस्य द्रवद्रव्यातिसेविनः । अचिन्तयतः सर्व्वदा चिन्ता-

चक्रपाणिः—पित्तलस्येत्यादिना पित्तातिसारमाह । द्रवत्वादुष्माणमुपहत्येति यद्यपि पित्तम्
उष्णम् अग्नेः समानतया वर्द्धकं भवतीति युज्यते तथापि द्रवत्वादुष्माणं पुरीषाशयगतं पित्तं
हन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—व्रद्धो गुदः ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—श्लेष्मलस्येत्यादिना श्लेष्मातिसारमाह । सम्पूरकस्येति—अतिमात्राशनशीलस्य ।

स पु
स्वभा
दुर्गन्
गुरुत
क्लेश
श्लेष्म
रहित
श्लेष्म
स्वभा
इति
सारी
कफे
श्लेष्म
युक्तमे
गत्यर्थे
क्रोश
साम
आम
दिना
समा
पृथक्
विव

स पुनः स्वभावाद् गुरुमधुरशीतस्निग्धस्य पुंसोऽग्निमुपहत्य सौम्य-
स्वभावात् पुरीषाशयमुपगत्योपक्लेद्य चातिसाराय कल्पते ॥ ८ ॥

तस्य रूपाणि—स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमदामं गुरु
दुर्गन्धमनुबद्धशूलमत्यल्पमभीक्षणमतिसार्यते सप्रवाहिकं
गुरुतरं गुरुदरगुदवस्तिवङ्क्षणदेशः कृतापकृतसंज्ञः सोत्-
क्लेशो निद्रालस्यपरीतः सलोमहर्षः सदनोऽन्नद्वेषी च । इति
श्लेष्मातिसारः ॥ ६ ॥

अतिशीतस्निग्धरुक्षोष्णगुरु-खरकठिनविशद-विषमविरुद्धा-
रहितस्य । दिवास्वप्नातिसेविनः । श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते । स इत्यादि । स
श्लेष्मा स्वभावात् प्रसिद्धगुर्वादिः पुंसोऽग्निगुणविरोधी तेनाग्निमुपहत्य सौम्य-
स्वभावादधोगतित्वात् पुरीषाशयमुपगत्योपक्लेद्य च पुरीषमतिसाराय कल्पते ।
इति कफजातिसारसम्प्राप्तिः ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—तस्य रूपाणि इमानि । तद् यथा—स्निग्धमित्यादि । सोऽति-
सारी पुमान् गुरुदरादिः सन् स्निग्धादिपुरीषं सप्रवाहिकं गुरुतरमतिसार्यते
कफेन । सोत्क्लेशादिर्भवति । इति श्लेष्मातिसारः ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—सन्निपातातिसारमाह । तस्य निदानम्—अतिशीतेत्यादि ।
श्लेष्मणोऽन्युपघाते हेतुमाह—सौम्यस्वभावादिति । सौम्यस्याग्नेर्विरुद्धत्वात् आघातं करोतीति
युक्तमेवेति भावः । पुरीषाशयमुपहत्येति पुरीषाशयं गत्वा, हन्तेर्गतिर्हिंसात्मकत्वात् अत्र
गत्यर्थेन, किंवा पुरीषाशयशब्देन स्थानेन स्थानिन उपचारात् पुरीषमेवोच्यते ; यथा मञ्जाः
क्रोशन्तीति, ततश्च पुरीषमुपहत्येति सम्बन्धः ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—कृतेऽप्यकृतसंज्ञ इति कृतेऽपि वेगे न बुध्यत इत्यर्थः । अत्र च पित्तकफातिसारे
सामतालक्षणं यद्यपि नोक्तं तथापि सामतातीसारसम्बन्धकृतविज्वरत्वगन्धिवत्प्रकारैर्लक्षणैः
आमातिसाररूपावस्था ज्ञेयैव । तथाहि चिकित्सायां पित्तातिसारं निदानोपशयाकृतिभिः विदित्वेत्या-
दिना रक्तातिसारे पृथक् चिकित्सां वक्ष्यति, श्लेष्मातिसारे तु सामे निरामे रक्षोष्णादिरूपा चिकित्सा
समानैवेति कृत्वा पृथगामश्लेष्मातीसारचिकित्सा नोक्ता । क्षारपाणिना सर्व्वीतिसाराणां सामता
पृथगुक्ता, वचनं हि “वातातिसारः सामश्च रुक्षलः फेनिलरुनुः । श्यावः रुद्धो दुर्गन्धो
विबद्धोऽल्पाल्प एव च” । एवं पित्तकफानां हि अतीसारं निर्दिशेत् ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—अतिशीतेत्यादिना विदोषजातीसारमाह । अत्र च शीतादीनां यथासम्भवं

ऽसात्म्यभोजनाद् अभोजनात् कालातीतभोजनाच्च किञ्चित्
अभ्यवहरणात् प्रदुष्टमद्यपानीयपानात् अतिमद्यपानीय-
पानात् असंशोधनात् प्रतिकर्मणां विषमगमनादनुपचारा-
ज्वलनादित्यपवनसलिलातिसेवनात् अस्वप्नाद् वेगविधारणादनु-
विपर्ययात् अयथाबलमारम्भाद् भयशोकचिन्तोद्वेगाति-
योगात् क्रिमि-शोथ-ज्वराशोविकारातिकर्षणैः व्यापन्नाग्नेस्त्रयो
दोषाः प्रकुपिता भूय एवाग्निमुपहत्य पकाशयमनुप्रविश्य
अतिसारं सर्वदोषलिङ्गं जनयन्ति ॥ १० ॥

अपि च शोणितादीन् धातून् तत्प्रदुष्टान् दूषयन्तो धातु-
दोषस्वभावकृतानतोसारवर्णान् दर्शयन्ति । तत्र शोणितादिषु
शीतादिभिरतीत्यस्यान्वयः । अभोजनादुपवासात् । किञ्चिदभ्यवहरणात्
अल्पाशनात् । प्रदुष्टमद्यप्रदुष्टपानीयपानात् । अतिमद्यातिपानीयपानात् ।
असंशोधनात् वमनविरेचनादिना संशोधनाभावात् । प्रतिकर्मणां तत्तद्रोग-
प्रतिकारक्रियाणां विषमगमनात् सम्यग्योगाभावात् तथा तत्तद्रोगाणां
यथार्थोपचाराभावात् । ज्वलनाद्यतिसेवनात् । ज्वलनो वह्निः आदित्यः
सूर्यः पवनो लोकेचरो वायुः सलिलस्यातिसेवनमिहावगाहनादिना पूर्वं यदुक्तं
तदतिपानीयपानमिति एभिः कारणैस्त्रयो दोषाः प्रकुप्यन्ति व्यापन्नाग्नेश्च ।
प्रकुपितास्ते त्रयो दोषा भूय एवाग्निमुपहत्य पकाशयमनुप्रविश्यातिसारं सर्व-
दोषलिङ्गं जनयन्ति ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—अपिचातिप्रदुष्टान् शोणितादीन् धातून् दूषयन्तो धातुदोषाणां
स्वभावकृतान् धातुस्वभावकृतान् दोषस्वभावकृतानतिसारे पुरीषस्य वर्णानुप-
वातादिकर्तृत्वेन ज्ञेयम् । किंवा सर्वेषामेव त्रिदोषकर्तृत्वं ज्ञेयम् । उक्तं हि—सर्वेषां दोषाणाम्
अग्निसंश्रितौ सामप्रकोपौ इति । किञ्चिदभ्यवहरणादिति पथ्यापथ्यभोजनात् । अनुपचारादिति
प्रतिकर्मणामेव असम्यगुपचारादित्यर्थः । सलिलातिसेवनादित्यत्र अवगाहादीनां वाह्यसेवनं
सलिलस्योच्यते अनुपानन्तु प्रागेवोक्तम् । विषज्ञाग्निरिति वचनात् यथोक्तहेतूनाम् अग्निवधद्वारेणैव
प्रायस्त्रिदोषकर्तृत्वं दर्शयति ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—अपिचेत्यादिना विकृतिविषमसमवायत्रिदोषजलक्षणमाह । अतिप्रकृष्टं यथा

धातुषु नातिप्रदुष्टेषु * हारिद्रहरितनीलमांशजिष्ठमांसधावन-
 सङ्काशं रक्तं कृष्णं श्वेतं वा वराहमेदःसदृशम् अनुवद्धवेदनमति-
 वेदनं वा समासव्यत्यासादुपवेश्यते पुरीषम् । महद् ग्रन्थितमामं
 शकृदपि † वा पक्वमनतिक्षीणमांसशोणितबलो मन्दाग्नि-
 विहतमुखरसस्तादृशमातुरं कृच्छ्रसाध्यं विद्यात् । एभिर्वर्णैः
 अतिसार्यमाणं सोपद्रवमातुरमसाध्योऽयमिति प्रत्याचक्षीत ।
 तद् यथा—काथशोणिताभं यकृतपिण्डोपमं मेदोमांसोदकसदृशं
 दधिमज्जतैलक्षीरवसावेशवाराभमतिनीलम् अतिरक्तमतिकृष्णम्
 उदकमिव पुनर्मेचकाभमतिस्निग्धं हरिताभं नीलकषाय-
 वर्णं कर्बूरवर्णं वा आविलं पिच्छिलं तन्तुमदामं चन्द्रकोर-
 दर्शयन्ति । तत्र नातिप्रदुष्टेषु शोणितादिषु धातुषु हारिद्रादिरूपं समास-
 व्यत्यासादसमस्तरूपमुपवेश्यते पुरीषं वर्चस्त्याज्यते । तत्र कृच्छ्रसाध्यलक्षण-
 माह—महदित्यादि । यस्य सन्निपातातिसारिणः शकृत् पुरीषं महत् प्रचुरं
 ग्रन्थितमामं वा पक्वं वा भवति, स यद्यनतिक्षीणमांसादिर्मन्दाग्निना विहतमुख-
 रसो न तु दोषविहतमुखरसः स्यात्, तादृशं सन्निपातातिसारातुरं भिषक् कृच्छ्र-
 साध्यं विद्यात् । असाध्यलक्षणमाह—एभिरित्यादि । एभिर्वक्ष्यमाणकाथ-
 शोणिताभेत्यादिभिर्वर्णैरतिसार्यमाणं सोपद्रवमातुरं भिषगसाध्योऽयमिति-
 सार इत्युक्त्वा प्रत्याचक्षीत प्रत्याख्यानं कुर्यादिति । कर्बूरैरित्यत आह—
 तद् यथेत्यादि । काथेत्यादि । नानौषधिनिष्पचनकृतः कषायः काथः ।
 तत्काथाभं शोणिताभञ्च, कश्चिदाह काथवर्णरूपशोणिताभं यकृतपिण्डोपमं
 कृष्णलोहितं मेदोमांसोदकसदृशं मेदःसदृशं मांसोदकसदृशं दध्याद्याभं
 वेशवारो “निरस्थि पिशितं स्विन्नं पिष्टं गुडघृतान्वितम् । कणामरिच-
 संयुक्तं वेशवार इति स्मृतः” इति । अतिनीलादिकम् उदकमिव पुनर्मेचकाभं
 वा मेचकं खञ्जनवक्षःस्थकृष्णपिण्डाभं नीलकषायवर्णं नानौषधिकषायाभम्
 भवति तथा प्रदूषयन्त इत्यर्थः । मांसधावनं मांसप्रक्षालनोदकम् । समासव्यत्यासादुपवेश्यते
 इति समासो यथोक्तलक्षणानां मेलकः । शकृदिति कदाचित् । विहतमुखरसः इति विरसमुखः ।
 एभिर्वक्ष्यमाणैः । वेशवाराभं वेशवारसदृशं, तल्लक्षणञ्च निरस्थि पिशितं पिष्टमित्यादिना

गतम् अतिकुणपपूतिपूयगन्ध्याममत्स्यगन्धि मक्षिकाक्रान्तं
कुथितं वा बहुधातुस्त्रावमल्पपुरीषं बहुपुरीषं वातिसार्यमाणम्
तृष्णादाहज्वरभ्रमतमोहिकाश्वासानुबन्धम् अतिवेदनम् अवेदनं
वा स्रस्तपक्वगुदं पतितगुदबलिं मुक्तनालमतिदीर्घबलमांस-
शोणितं सत्त्वपक्वस्थिशूलिनम् अरोचकारतिप्रलापसम्मोह-
परीतं सहसोपरतविकारमतिसारिणम् अचिकित्स्यं विद्यात् ।
इति सन्निपातातिसारः ॥ ११ ॥

तमसाध्यमसाध्यताम् असंप्राप्तं चिकित्सेत् यथाप्रधाने-
नोपक्रमेण हेतूपशब्ददोषविशेषपरीक्षया चेति ॥ १२ ॥
उक्तं प्राक्, इह नीलिनीपत्रकषायवर्णं विज्ञेयम् । कम्बूरवर्णं नानावर्णमिश्रम् ।
तन्तुमत् तन्तुलीभूतं चन्द्रकोपगतं शिखिपिच्छाभचन्द्रकमिश्रम् । अतिकुणप-
गन्धि कुणपं शवः । पूतिगन्धि च पूयगन्धि च आममत्स्यगन्धि च कुथितः
पूतिगन्धिर्बहुस्त्रावोऽथ चाल्पपुरीषं बहुपुरीषं वातिसार्यमाणं नरं तृष्णाद्यनु-
बन्धं स्रस्तं वह्निर्निःसृतमथ च पक्वं गुदं यस्य तम्, पतितगुदबलिं वाहः
निःसृत्यावस्थितैव न पुनः स्वस्थानप्रविष्टा गुदबलिर्यस्य तम्, मुक्तनालं
श्लथीभूतं सन्धुक्तं वह्निर्निःसृतं गुदनालं पुरीषप्रवृत्तिस्रोतो यस्य तं
सहसा हठादुपरताः सर्वविकारा यस्य तम् । ईदृशमतिसारिणमचिकित्स्य-
मसाध्यं विद्यात् । इति सन्निपातातिसार उक्तः ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—इतीत्यादि । योऽतिसारस्त्वसाध्यः तमतिसारमसाध्यताम्
असंप्राप्तं सन्निपातातिसारश्च चिकित्सेत् । यथाप्रधानेन यत्र यत्रातिसारे
यो दोषः प्रधानस्तमनतिक्रम्योपक्रमेण हेत्वादिपरीक्षया च चिकित्सेदिति ।
इति चत्वारोऽतिसारा व्याख्याताः । अष्टोदरीयं तु पूर्व्वमुक्तं षड्तीसाराः ।
षड्तीसारा इति वातपित्तकफसन्निपातभयशोकजा इति ॥ १२ ॥

उक्तम् । मेचकाभमिति स्निग्धकृष्णम् । मक्षिकाक्रान्तमिति मक्षिकामयं, मक्षिकाक्रान्त इति पाठे
मक्षिकापरीत इत्यर्थः । तृष्णेत्यादिना सोपद्रवलक्षणसूचकानुपद्रवानाह सहसोपरतविकारमिति ॥ ११ ॥

चक्रपाणिः—यद्यपि रिष्टे संशयितमरणमुक्तं तथापि इहातीसारं प्राप्य निश्चितमरणज्ञापकतया
उच्यते, यथाः प्रधानोपक्रमेणेति दोषत्रये यः प्रधानो भवति तस्योपक्रमेणेत्यर्थः । हेत्वादिपरीक्षा
चेह भवति । अतः विशिष्टा चिकित्सैवोच्यते ॥ १२ ॥

भवन्ति चात्र ।

आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ ।

यौ तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम् ॥ १३ ॥

मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति ।

तयोः क्रिया वातहरी हर्षणाश्वासनानि च ॥

गङ्गाधरः—शेषौ पुनः कोटशौ भवत इत्याशङ्क्याह—भवन्ति चात्रेत्यादि ।
चत्वारो दोषजा अतीसारा द्वौ चातीसारावागन्तुजौ भवतस्तौ तु मानसौ
मनोदोषजौ भयशोकजौ यौ तौ द्वौ तयोर्लक्षणं वायोरतीसारलक्षणम् ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—कस्मात् ? मारुत इत्यादि । हि यस्माद्भयशोकाभ्यां मारुतः शीघ्रं
परिकुप्यति । ततस्तयोर्भयशोकजयोरतिसारयोः क्रिया यावती वातहरी तावती
कार्या, हर्षणाश्वासनानि च कार्याणि । इत्येवं चेत्, तर्हि कथं मानसावेतौ
शरीरदोषवातलक्षणौ वातक्रियाप्रशाम्यौ चेति ? उच्यते, मानसदोषौ रजस्तमसी
ताभ्यां भयश्च शोकश्च, ततो मानसौ भयशोकौ हेतुपूर्वमतिसाराय भवत इति पूर्व
मानसहेतुभ्यां भयशोकाभ्यां जातौ पश्चाद्वातेनानुबध्येते तस्माच्छरीरव्याधायु-
पात्तौ वातहरक्रिया मानसदोषहरहर्षणाश्वासनानि च विधीयन्त इति ।

अथात्र जिज्ञास्यम् । इह तन्त्रे भयजोऽतिसार उक्तो न त्वामजः, सुश्रुतादौ
त्वामज उक्तो न भयज इति षड्धा त्वमङ्ग इति । अत्रोच्यते । सुश्रुते वात-
पित्तकफसन्निपातशोकजानतीसारानुक्तत्वामज उक्तः । “आमाजीर्णैः प्रदुताः
क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषाः सम्प्रदुष्टाः सभक्तम् । नानावर्णं नैकशः सारयन्ति

चक्षुराणि—आगन्तू इत्यादिना भयशोकजावतीसारौ प्राह । आगन्तू इति आगन्तुजनितभय-
शोकजौ । मानसाविति मानसदोषभयशोकजनितौ । एतेन मानसत्वञ्चानयोर्न विरोधीभवति,
अनयोर्लक्षणम् अतिदेशेनाह—तयोर्लक्षणमित्यादिना ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—कस्मात् पुनर्वातातिसारलक्षणमनयोर्भवतीत्याह—मारुत इत्यादि । यस्मात् भय-
शोकजनितोऽल मारुतः कारणं भवति तस्माद् वातातीसारलक्षणानि भवन्तीति युक्तमित्यर्थः । न
चानयोर्वातजन्यत्वेन वातजलक्षणयुक्तत्वेन वातजेनैव ग्रहणमिति वाच्यम् । यतोऽनयोर्वातजाद्
भिन्नापि चिकित्सा भविष्यति, हर्षणाश्वासनरूपचिकित्साभेदार्थं व्याधीनां भेदोऽभिधीयते । किञ्च
लक्षणभेदोऽप्यत्र वातः शीघ्रं हि परिकुप्यतीति इत्यनेनोक्तः । यतो भयशोकजेऽतीसारे शीघ्रकारी
वायुर्भवतीति शीघ्रं हि परिकुप्यतीति पदेनोच्यते न निदानान्तरं, सन्निपातातिसारे न भयशोकौ
कारणत्वेनोक्तौ हेत्वन्तरसहितौ अत्र कारणे भवत इति । त्विदोषजभयशोकजयोश्च यद्यपि तुल्यं

इत्युक्ताः षड्तीसाराः साध्यानां साधनं ततः ।

प्रवक्ष्याम्यनुपूर्व्वेण यथावत् तन्निबोधत ॐ ॥ १४ ॥

कृच्छ्राज्जन्तोः षष्ठमेनं वदन्ति ।” इति त्रिदोषजत्वेनोक्त आमातिसार आम-
पाचनप्रधानचिकित्सार्थं पृथगुक्तः, भयजस्तु वातजत्वेन वातजेऽन्तर्भूय
षष्ठत्वेनैवामज उक्तः । एवमेव हेतुप्रधानत्वेनापरानप्यतीसारानुक्त्वा दोषजे-
ऽन्तर्भावस्तेषां कृतः । तद् यथा—सुश्रुते । “शरीरिणामतीसारः सम्भूतो
येन केनचित् । दोषाणामेव लिङ्गानि कदाचिन्नातिवर्त्तते । स्नेहाजीर्ण-
निमित्तस्तु बहुशूलप्रवाहिकः । विसृचिकानिमित्तस्तु चान्योऽजीर्णनिमित्तजः ।
विषागः क्रिमिसम्भूतो यथास्वदोषलक्षणः । आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे
क्रिया यतः । अतः सर्वातिसारास्तु त्रयाः पक्वमलक्षणैः ।” इति सर्वाति-
सारेष्वामता वर्त्तते, तत आमजोऽतिसारो यत् पृथगुक्तस्तदाममन्नं दोष-
दूषितमतिसाराय कल्पते न त्वामावस्थिकातिसार आमारब्ध इति । इह
तन्त्रे सामान्नजस्नेहाजीर्णजादयो दोषप्रकोपपूर्व्वकमेवामान्नादयोऽतिसारं
जनयन्तीति न हेतुभेदेन भेदः कृतः दोषभेदेनैव चरितार्थत्वात् । भयशोक-
जयोस्तु मानसधर्म्मान्तरयोगाद् दोषजत्वेऽपि पृथगुक्तिरिति, नैवामजादीनां
धर्म्मान्तरयोगोऽस्तीति बोध्यम् ।

अथात्रापरं जिज्ञास्यं—दोषजेषु यथा सन्निपातज उक्तो न कथं तथा
द्वन्द्वजा उक्ता इति ? तत्रोच्यते, दोषभेदास्त्रिषष्टिविधा उक्ताः सर्व्वे विकारा
दोषजास्त्रिषष्टिविधा एव जायन्ते, तत्र पृथग्दोषजलक्षणानि प्रतिरोगं
परस्परभेदज्ञानार्थमवश्यवाच्यानि भवन्ति, द्वन्द्वसन्निपातास्तु यत्र दोषकर्म-
विरोधिकर्मवत्त्वेन द्वन्द्वसन्निपातजरोगा जायन्ते तत्र तत्तत्कर्मज्ञानार्थं
पृथग्दोषजमुक्त्वा पृथगुच्यन्ते द्वन्द्वजाः सन्निपातजाश्च । यत्र दोषकर्म-
सजातीयकर्मवत्त्वेन द्वन्द्वजाः सन्निपातजा वा जायन्ते तत्र पृथग्दोषज-

लक्षणमिहोक्तं तथापि चिकित्साभेदाद् तयोर्भेद उक्तः, तथाहि भयजे प्रश्नासनं शोकजे हर्षणम्
इति चिकित्साभेदः । चिकित्साभेदोऽस्तु, सुश्रुते तु—“तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य वाष्पोष्मा च
वह्निमाविश्य जन्तोः” इत्यादिना शोकजः प्रबन्धेनोक्तः, स तु शोकजादन्य एव विशिष्टहेतुजन्यः ।
इह त्वसौ सान्निपातिकेनावरुद्धो ज्ञेयः । तथाहि तत्र वाष्पोष्मणो हि पित्तकारणत्वं युक्तं

* “निबोधत” इति बहुवचनन्तु एकस्याप्यग्निवेशस्य समादरगौरवे इति केचित् । क्रिया-
समभिहारे लोट “त” इत्यपरे । केचित् साहसिकास्तु “निबोध मे” इति पठन्ति ।

दोषाः सन्निचिता यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः ।

अतीसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् संप्रवर्त्तयेत् ॥

न तु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे ।

दोषा ह्यादौ बध्यमाना जनयन्त्यामयान् बहून् ॥

शोथपाण्ड्यामयप्लीह-कुष्ठगुल्मोदरज्वरान् ।

दण्डकालसकाध्मान-ग्रहण्यशौर्गदांस्तथा ॥ १५ ॥

लक्षणवचनेनैव ते जायन्ते तत्र न द्वन्द्वजाः सन्निपातजा वा पृथगुच्यन्ते । तस्मादिह द्वन्द्वजेषु दोषकर्मविरोधिकर्माणि न भवन्तीत्यतो द्वन्द्वजा नोक्ताः । सन्निपातजेषु दोषकर्मविरोधिकर्माणि भवन्तीति पृथगुक्तः सन्निपातजोऽतिसारः । इत्येवं सर्वत्र बोध्यम् । उपसंहरति—इत्युक्ता इत्यादि । साध्यानामतीसाराणाम् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—दोषा इत्यादि । यस्य नरस्य सन्निचिता दोषा विदग्धाहार-मूर्च्छिताः कुपिता अतिसाराय कल्पन्ते, तान् विदग्धाहारमूर्च्छितान् दोषान् भूय एव प्रवर्त्तयेत् स्वत एव यत् प्रवर्त्तन्ते तन्न संगृहीयात् । तदाह—न लिप्यादि । आमातिसारिणे पूर्वं न संग्रहणं स्तम्भनमौषधं देयम् । कस्मात् ? दोषा हीत्यादि । हि यस्मात् आदौ खल्वामावस्थायां स्थिताः शेषदोषा बध्यमानाः कृतबन्धा बहूनामयान् जनयन्ति । यांस्तानाह—शोथेत्यादि ॥ १५ ॥

तेन शोकानलजो वायुः वायोष्मणा च पित्तकफाविति तत्र कारणत्वन दर्शितौ । अत एव च तस्यासाध्यत्वं तत्तोक्तम्, अत्रापि च त्रिदोषजे शोकोऽपि कारणत्वेनोक्तः । सुश्रुते अजीर्णात् प्रहता इत्यादिनाजीर्णजः पृथगुक्तः । तस्य इह उक्तविदोषजे अनुबन्धो व्यक्त एव । यत् तत्रैव दोषा इति बहुवचनेन अत्राजीर्णस्य विदोषजत्वमुक्तम् इहापि च व्यापन्नेऽग्न्यावित्यनेन अग्निमान्द्य-जनिताजीर्णं विदोषजातिसारे कारणमेव, तेन सुश्रुतोक्तसर्वतीसारविरोधोऽत्र ज्ञेयः ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—दोषाः सन्निचिता इत्यादिना चिकित्सामाह । विदग्धशब्देनात्राविपकाहार-वाचिना चतुर्विधमप्यामं विदग्धं विष्टब्धं रसशेषञ्चाजीर्णं गृह्यते । सम्प्रवर्त्तयेदित्यनेन स्वयं प्रवर्त्तमानस्य दोषस्य अपेक्षया प्रवर्त्तनम् । तथा स्तोकं बहून् विरेचनयोगात् प्रवर्त्तयेत् । यद् वक्ष्यति “कृच्छ्रं वा बहूनां दद्यात् अभयां सम्प्रवर्त्तिनोम्” इति । “न तु संग्रहणं पूर्वं देयमामातिसारिणे” इत्यत्र पूर्वमिति विशेषणेन उत्तरकालमामातोसारं संग्रहणं दर्शयति ।

तस्मादुपेक्षते क्लिष्टान् वर्त्तमानान् स्वयं मलान् ।

कृच्छ्रं वा वहतां दद्यादभयां संप्रवर्त्तिनीम् ॥

तथा प्रवाहिते दोषे प्रशाम्यत्युदरामयः ।

प्रमथ्यां मध्यदोषेभ्यो दद्याद् दीपनपाचनीम् ॥ १६ ॥

जायते देहलघुता जठराग्निश्च वर्द्धते ।

लङ्घनञ्चालपदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम् ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—तस्मादित्यादि । तस्मात् आमातिसारस्तम्भने शोथादि-
रोगोत्पादात् स्वयं प्रवर्त्तमानानुत्क्लिष्टान् मलानुपेक्षेत । यदि तत्र
स्वयं प्रवर्त्तमाना मलाः कृच्छ्रेण स्वरूपं स्वरूपं वहति तदा तस्य प्रवर्त्तिनीं
हरीतकीं कल्कादिकल्पनया दद्यात् । तथा हरीतक्या प्रवाहिते दोष
उदरामयोऽतिसारः प्रशाम्यति ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—ततः किं कुर्यादित्यत आह—प्रमथ्यामित्यादि । मध्यदोषेभ्यो
नरेभ्यः प्रमथ्यां दद्यात् । प्रमथ्या नाम सा या दीपनपाचनी । तां
प्रमथ्यां दद्यादिद्वैवेयं प्रमथ्यासंज्ञा कृता । अल्पदोषाणामतिसारिणां लङ्घनं
प्रशस्तमिति ॥ १७ ॥

प्रथमञ्चामातीसारस्यापेक्षया विरेचनदानं युक्तम् इति विरोधे इयं व्यवस्था—यत् प्रवृत्ते आमे
बलवति च पुरुषे प्रवर्त्तनमेव कर्त्तव्यम्, यदा तु दुर्बलः पुमान् क्षीणश्चाप्यस्तदा प्रथमं
प्रवर्त्तनं कृत्वा संग्रहणं कर्त्तव्यम् । तस्याम् आमावस्थायां संग्रहणे आतुरस्य बलश्रंशात्
मरणमेव स्यात् । अन्ये तु पूर्वं संग्रहणं न देयम् इति शालमलकुटजत्वगादिसंग्रहणं न
देयम्, सुस्तोदीच्यादिपाचनसंग्रहणं देयमिति वर्णयन्ति । इयञ्चामातिसारचिकित्सा
सर्वामातिसाराणां साधारणी ज्ञेया ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—कृच्छ्रं वा वहतामिति सप्रबन्धं वहताम् । प्रमथ्यामिति पाचनीयदीपनीयं
कषायम् । प्रमथ्याशब्दो हि वृद्धपरम्परया वैद्यकशास्त्रपरिभाषया पाचनदीपनकषाये श्रूयते ; यथा
विद्वज्जकषायः शैस्वरिककषायशब्देन वधैरुच्यते । बहुदोषे प्रवर्त्तनं तथा मध्यदोषे प्रमथ्योक्तम् ॥ १६

चक्रपाणिः—अल्पदोषे च सामे प्रथमं कर्त्तव्यमाह—लङ्घनमित्यादि ॥ १७ ॥

पिप्पली नागरं धान्यं भूतीकमभया वचा ।
 ह्रीवेरं भद्रमुस्तानि विल्वनागरधान्यकम् ॥
 पृश्निपर्णी श्वदंष्ट्रा च समङ्गा कण्टकारिका ।
 तिस्रः प्रमथ्या विहिताः श्लोकाञ्छैरतिसारिणाम् ॥
 वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तपर्पटकेन वा ।
 ह्रीवेश्वरशृङ्गवेराभ्यां पक्वं वा दापयेज्जलम् ॥ १८ ॥
 युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामं लघून्यन्नानि भोजयेत् ।
 तथा स शीघ्रं प्राप्नोति रुचिमग्निबलं बलम् ॥ १९ ॥
 तक्रेणावन्तिसोमेन यवाग्वा तर्पणेन वा ।
 सुरया मधुना वादौ यथासात्म्यमुपाचरेत् ॥

गङ्गाधरः—प्रमथ्यायोगानाह—पिप्पलीत्यादि। वचान्ता धान्यकान्ता
 कण्टकारिकान्ता चेति तिस्रः प्रमथ्याश्चूर्णकषायादिकल्पनया विहिताः।
 वचेत्यादि। अतिसारिणे पिपासवे वचादिभ्यां द्वाभ्यां द्वाभ्यामर्द्धशृतं जलं
 दापयेत्। इत्येताश्च प्रमथ्यास्तिस्रः ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—युक्ते इत्यादि। इत्येवं प्रमथ्यायोगे क्षुत्क्षामं क्षुधया क्षीण-
 मतिसारिणमन्नकाले युक्ते लघून्यन्नानि भोजयेत्। तथा सति सोऽतिसारी
 शीघ्रं रुच्यादिकं प्राप्नोति ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—येन लघून्यन्नानि भोजयेत् तदाह—तक्रेणेत्यादि। तक्रादिना
 यथासात्म्यं भोजनमुपाचरेत्। अवन्तिसोमं काञ्जिकम्। ततः परं यत्

चक्रपाणिः—तिस्रः प्रमथ्या इति यथाक्रमं कफपित्तवातेषु विभज्य देया इति वदन्ति।
 तथा वचाप्रतिविषादिभिः विहितानि क्षीण्यपि जलानि कफपित्तवातेषु यथाक्रमं वदन्ति।
 षडङ्गविधिना जलसाधनं ज्ञेयम् ॥ १८ ॥

चक्रपाणिः—युक्तेऽन्नकाले इति सम्यग्बुधश्लोकाले। अवन्तिसोमं काञ्जिकम्। तक्रादीनां
 द्रव्याणां तर्पणादीनाम् आलोडनार्थमिहाभिधानम् ॥ १९ ॥

यवागूभिर्विलेपीभिः खड्गैर्यूषै रसौदनैः ।
 दीपनग्राहिसंयुक्तैः क्रमश्च स्यादतः परम् ॥ २० ॥
 शालपर्णी पृथिवी वृहती कण्टकारिका ।
 बलाश्वदंष्ट्राविल्वानि पाठानागरधान्यकम् ॥
 शटी पलाशं हवुषां वचाजीरकपिप्पलीः ।
 यमानो पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥
 वृक्षाम्लं दाडिमश्चाम्लं सहिद्रु विडसैन्धवम् ।
 प्रयोजयेदन्नपाने विधिना सूपकल्पितम् ॥
 वातश्लेष्महरो ह्येष गणो दीपनपाचनः ।
 ग्राही बल्यो रोचनश्च तस्माच्छस्तोऽतिसारिणाम् ॥ २१ ॥
 आम्रे परिणतै यस्तु विबद्धमृतिसार्य्यतै ।
 सशूलपिच्छमल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम् ॥

तदाह—यवागूभिरित्यादि । अतस्तक्रादिना यथासात्म्यभोजनात् परम् ।
 यवागूरिह पेया षड्गुणतोयसाधिता । विलेपी नाम यवागूश्चतुर्गुण-
 तोयसाधिता । खड्गो यूषो निरम्लः । रसौदनो लघुमांसरससाधितः ।
 दीपनग्राहिसंयुक्तैरेतैर्यवाग्वादिरसौदनान्तैर्भोजनक्रमः स्यादिति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—दीपनग्राहिद्रव्याण्याह—शालपर्णीत्यादि । शालपर्ण्यादीना-
 मन्यतमद्रव्यं समस्तं वातिसारेष्वन्नपाने विधिना सूपकल्पितं प्रयोजयेत् ।
 गणोक्तानां यथालाभं प्रयोगात् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—आम इत्यादि । इत्येवमामातिसारपरिपाके जाते यस्तु विबद्धा-

चक्रपाणिः—यवागूर्विरलद्रवा विलेपी बहुसिक्ता च । रसादिसंस्कृताः घनरसौदनाः । प्रलेह्या
 व्यञ्जनविशेषाः । दीपनग्राहिगणौ षड्विरेचनशताश्रितयोक्तौ । अतः परमिति यवाग्वाद्युपचारा-
 नन्तरम् ॥ २० ॥

चक्रपाणिः—शालीपर्णीत्यादिना यवाग्वादिसंस्कारद्रव्याण्याह ॥ २१ ॥

चक्रपाणिः—सप्रवाहिकमित्यत्र प्रवाहिकालक्षणम् 'वायुर्विवृद्धो निश्चितं बलासं नुदत्य-
 धस्तादहिताशनस्य । प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलार्कं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।' इत्यनेन

तं मूलकानां यूषेण बदराणामथापि वा ।
 उपोदिकायाः क्षीरिण्या यमान्या वास्तुकस्य च ॥
 सुवर्चलायाश्चञ्चोर्वा शाकेनावल्गुजस्य वा ।
 शल्याः कर्कारुकाणां वा जीवन्त्याश्चिर्भटस्य च ॥
 लोणिकायाः सपाठायाः शुष्कशाकेन वा पुनः ।
 दधिदाडिमसिद्धेन बहुस्नेहेन भोजयेत् ॥ २२ ॥
 कल्कः स्याद् बालविल्वानां तिलकल्कश्च तत्समः ।
 दध्नः सरोऽम्लः स्नेहाढ्यः खड्गो हन्यात् प्रवाहिकाम् ॥ २३ ॥
 यवानां मुद्गमाषाणां शालीनाश्च तिलस्य च ।
 कोलानां बालविल्वानां धान्ययूषं प्रकल्पयेत् ॥
 ऐकध्यं यमके भृष्टं दधिदाडिमसाधितम् ।
 वर्चःक्षये शुष्कमुखं शाल्यन्नं तेन भोजयेत् ॥

दिकमतिसार्यते तं मूलकानां शुष्काणां यूषेण शुष्कवदरेण वा सिद्धेन
 यूषेण वा भोजयेत् । उपोदिकाद्यन्यतमपत्रशाकेन दधिदाडिमरससिद्धेन
 बहुस्नेहेन सिद्धेन भोजयेत् । क्षीरिणी स्वनामख्याता फलिनीपूता । सुवर्चला
 सूर्यभक्ता । चञ्चुः पञ्चाङ्गुल एरण्डः । कर्कारुकाणां कर्कटीजातीनाम् ।
 चिर्भटो गोरक्षकर्कटो । लोणिका अम्ललोणिका चाङ्गेरी । शुष्कशार्कं
 पट्टपत्रं नालिताशाकमिति लोके ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—कल्क इत्यादि । बालविल्वनिस्तुषतिलयोः कल्कः समभागः ।
 अम्लो दधिसरः । स्नेहाढ्यः सर्पिरादिस्नेहबहुलः एव खड्गः मुद्गादि-
 यूषः प्रवाहिकां हन्यात् । अतिसारे कुन्थनं हन्यात् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—यवानामित्यादि । यवादीनि सर्वाणि ऐकध्यमेकीकृत्य यथार्हम्

सुश्रुतोक्तं ज्ञेयम् । क्षीरिणी त्वग्निका, सुवर्चला सूर्यभक्ता, चञ्चुर्नोडाचाः, कर्कारुः कुष्माण्डभेदः,
 चिर्भटः कर्कटी, लोणिका स्वनामख्याता, शुष्कशार्कं रुक्षदेशजं शाकमित्येके ॥ २२ ॥

चक्रपाणिः—कल्कः स्यादित्यादिना खड्गम् ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—धान्ययूषमिति धान्यप्रधानं यूषं यथोक्तमेव । यमक इति घृततैले । दधि-

दध्नः सरं वा यमके भृष्टं सगुड़नागरम् ।

सुरां वा यमके भृष्टा व्यञ्जनार्थे प्रयोजयेत् ॥

फलाम्लं यमके भृष्टं यूषं गृञ्जनकस्य वा ।

लोपाकरसमम्लं वा स्निग्धाम्लं कच्छपस्य वा ॥

वर्हितित्तिरिदक्षाणां वर्त्तकानां तथा रसः ।

स्निग्धोष्णाः शालयश्चाग्रा वर्चःक्षयरुजापहाः ॥

अन्तराधिरसं पूत्वा रक्तं मेषस्य चोभयम् ।

पचेद् दाडिमसाराभ्यं सधान्यस्नेहनागरम् ॥

भोजने रक्तशालीनां तेनाद्यात् प्रपिबेच्च तम् ।

तथा वर्चःक्षयकृतैर्व्याधिभिर्विप्रमुच्यते ॥ २४ ॥

अष्टादशगुणे तोये चतुर्दशगुणे वा धान्ययूषं शूकधान्यसमीधान्ययूषं तं यूषं दधिदाडिमरसेन साधितं पक्वं यमके घृततैले सम्भृष्टं प्रकल्पयेत् । वर्चःक्षयेऽतिसारेण पुरीषक्षये शुष्कमुखं तं नरं तेन यूषेण शाल्यन्नं भोजयेत् । दध्न इत्यादि । सगुड़नागरं दध्नः सरं यमके भृष्टं वा यमके सुरां वा भृष्टा व्यञ्जनार्थे प्रयोजयेत् । फलाम्लमित्यादि । फलाम्लं तित्तिरिदिकादि-फलाम्लं यमके भृष्टं गृञ्जनकस्य पलाण्डुविशेषस्य गौजोर इति ख्यातस्य यूषं लोपाकस्य क्षुद्रशृगालस्य मांसरसमामलकाद्यम्लेनाम्लीकृतं कच्छपस्य मांसरसं घृतादिना स्निग्धमामलकाद्यम्लेनाम्लीकृतम् व्यञ्जनार्थे प्रयोजयेत् । वर्हित्यादि । एवं वर्हिप्रभृतीनां मांसरसः स्निग्धोष्णाश्च ये शालयोऽग्राः श्रेष्ठास्ते वर्चःक्षयरुजापहाः । अन्तराधिरसमित्यादि । मेषस्यान्तराधेः मध्य-देहस्य मांसरसं पूत्वा पूत्वा मेषस्य रक्तञ्चेत्युभयं पचेत् । आसन्नपाके दाडिमसारस्य बीजस्याम्लं रसं धान्यकचूर्णनागरचूर्णमनुरूपं प्रक्षिप्य दाडिमसाराभ्यां संस्कृतं दधिदाडिमसाधितम् । शालीनां यद्यपि बद्धवर्चस्त्वयम् उक्तं तथापि ह खड्यूषविशेषयुक्तानां शालीनां वर्चःक्षये हितत्वं दर्शयन्नाह—स्निग्धाम्लाः शालयश्चाग्रा वर्चःक्षयरुजापहा इति । तेनाद्यात् प्रपिबेच्च तमिति उक्तविधानकृतेन द्रवेण संदिह्यात् । पृथक् द्रवं पिबेत् वर्चःक्षयकृतैः मुखशोषदौर्बल्योदावर्त्तादिभिः ॥ २४ ॥

गुदनिःसरणे शूले पानमम्लस्य सर्पिषः ।

प्रशस्यते निरामाणामथवाप्यनुवासनम् ॥ २५ ॥

चाङ्गेरीकोलदध्यम्ल-नागरक्षारसंयुतम् ।

घृतमुत्कथितं पेयं गुदभ्रंशरुजापहम् ॥ २६ ॥

चाङ्गेरीघृतम् ।

सचव्यपिप्पलीमूलं सव्योषगुडदाडिमम् ।

पेयमम्लघृतं युक्त्या साजाजीधान्यनागरम् ॥ २७ ॥

गुदभ्रंशे चव्यादिघृतम् ।

दशमूल्युपसिद्धं * वा सविल्वमनुवासनम् ।

शटीशताह्वाकुष्ठैर्वा वचया चित्रकेण वा ॥ २८ ॥

घृतादिस्नेहे भृष्टमित्येवं सधान्यस्नेहनागरं पचेत् । तेन रक्तशालीनामन्नं भोजनेऽद्यात् तश्चानुपपिबेत् । तथा सतीत्याद्याशोः ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—गुदेत्यादि । अतिसारे प्रवाहणेन गुदनिःसरणे शूले चाम्लस्य सर्पिषः दाडिमामलक्याद्यम्लेन साधितस्य सर्पिषः पानं प्रशस्यते । निरामाणामनुवासनं वा प्रशस्यते ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—चाङ्गेरीत्यादि । चाङ्गेरीकोलादिकं घृतेऽम्लयोग्यं दत्त्वा चतुर्गुण-जल उत्कथितं घृतं गुदभ्रंशरुजापहं पेयम् । इति चाङ्गेरीघृतम् ॥ २६ ॥

सचव्येत्यादि । चव्यादिकलकं दध्याद्यम्लेनाम्लीकृतं घृतं साजाजीधान्य-नागरचूर्णं प्रक्षिप्य पेयं गुदभ्रंशरुजापहम् ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—अम्लघृतमुत्तवानुवासनमाह—दशमूलीत्यादि । (दशमूल्या आपो दशमूल्यपस्तेन सिद्धं) बालविल्वकल्केन दशमूलीकायेन उपसिद्धं घृतमनुवासनं गुदभ्रंशे स्यात् । शटीशताह्वाकुष्ठैः सिद्धं घृतं वा गुदभ्रंशे

चक्रपाणिः—सुव्रतमम्लघृतमाह । अत्र चाङ्गेरीरसकोलरसदधिभिर्द्रवत्वं नागरक्षारयोश्च कल्कत्वम् ॥ २५ । २६ ॥

चक्रपाणिः—पेयमम्लं घृतमित्यत्र अम्लार्थम् अनन्तरोक्तमेव द्रवं चाङ्गेरीस्वरसादि देयम् । चव्यादयश्च दश कल्काः । उक्तञ्च तन्वान्तरे—“पञ्चकोलविडाजाजीधान्यदाडिमवेतसैः । पचेदम्लं घृतं तद्वत् नागरक्षारसंयुतम् ॥” इति ॥ २७ ॥

चक्रपाणिः—दशमूलोपसिद्धमित्यादौ अनुवासनमिःयानुवासनस्नेहः । अत्रानुवासने स्नेहस्तु तैलमेव ; अन्ये तु घृतस्य प्रक्रान्तत्वात् घृतमेवाहुः । शटीत्यादिनाप्यनुवासने स्नेहस्यमुच्यते ॥ २८ ॥

* दशमूल्युपसिद्धमिति काचित्कः पाठः ।

स्तब्धे भ्रष्टे गुदे पूर्वं स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत् ।

सुखिन्नं तं मृदूभूतं पिचुना संप्रवेशयेत् ॥ २६ ॥

विवद्धवातवर्चास्तु बहुशूलप्रवाहिकः ।

सरक्तपिच्छस्तृष्णार्तः क्षीरसौहित्यमर्हति ॥

यमकस्योपरि क्षीरं धारोष्णं वा पिबेत् स ना ।

शृतमेरुडमूलेन बालविल्वेन वा पुनः ॥

एवं क्षीरप्रयोगेण रक्तं पिच्छा च शाम्यति ।

शूलं प्रवाहिका चैव विबन्धश्चोपशाम्यति ॥ ३० ॥

पित्तातिसारं पुनर्निदानोपशयाकृतिभिरामान्वयमुपलभ्य

यथाबलं लङ्घनपाचनाभ्यामुपाचरेत् । तृष्यतस्तु मुस्तपर्पटकोक्षीर-

अनुवासनम्, वचया सिद्धं घृतं चित्रकेण वा सिद्धं घृतमनुवासनं गुद-
भ्रंशे स्यादिति ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—स्तब्ध इत्यादि । गुदं भ्रष्टं सद्यदि स्तब्धमप्रविष्टं भवति
तदा तत्र गुदे पूर्वं स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत् । तं सुखिन्नं गुदं मृदूभूतं पिचुना
तूलकनिर्मितेन पत्राकारेणावेष्ट्य धृत्वा प्रवेशयेत् ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—विवद्धेत्यादि । अतीसारी विवद्धवातवर्चा बहुशूलप्रवाहिकस्तु
सरक्तपिच्छां विस्रष्टा तृष्णार्तश्च नरः क्षीरसौहित्यमावृत्ति क्षीरपाणमर्हति ।
स ना विवद्धवातवर्चाप्रभृतिः पुरुषः, यमकस्य मुद्गादिविदलं शाल्यादि-
तण्डुल इत्युभयोर्मेलनेन पाकाद् यमकं नामौदनो भवति, तस्य भोजनादुपरि
धारोष्णं क्षीरं वा पिबेत् । शृतमित्यादि । एरुडमूलेन वा बालविल्वेन वा
सिद्धं शृतं क्षीरं पिबेत् । एषां क्षीराणां प्रयोगेण रक्तादिकं प्रशाम्यति ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—इति सामान्यतोऽतिसारचिकित्सितमुक्तवा विशेषत आह—
पित्तेत्यादि । निदानादिभिः पित्तातिसारमामान्वयमुपलभ्य यथाबलं लङ्घनं
विधाय पाचनेनोपाचरेत् । तृष्यतः पित्तातिसारिणस्तु मुस्तादिभिः शृतः

चक्रपाणिः—पिचुना संप्रवेशयेदिति पिचुनाच्छादितं पीडयित्वा प्रवेशयेत् । पिचुः स्थूल-
कर्पटिका ॥ २९ ॥

चक्रपाणिः—सौहित्यं तृप्तिः ॥ ३० ॥

चक्रपाणिः—आमान्वयम् इति आमयुक्तम् । लङ्घनपाचनाभ्याम् उपाचरेदित्यनेन यत् पूर्वम्

शारिवाचन्दनकिराततित्तकोदोच्यवारिभिः उपचारः । लङ्घितस्य तस्य चाहारकाले बलातिबलासूध्यपर्णीशालपर्णीपृथ्वीपर्णीवृहती-कण्टकारिकाशतावरीश्वदंष्ट्रानिर्य्यूहप्रयुक्तेन यथासात्म्यं यवागूमण्डादिना तर्पणादिना वा क्रमेणोपचारः । मुद्गरहरेणमसूरमुकुष्टा-दृकीयूषैर्वा लाव-कपिञ्जल-शश-हरिणैश्च-कालपुच्छरसैरोषदम्लै-रनम्लैर्वा क्रमशोऽग्निं सन्धुक्षयेत् । अनुबन्धे त्वस्य दीपनीय-पाचनीयोपशमनीयसंग्रहणीयान् योगान् प्रयोजयेदिति ॥ ३१ ॥

भवन्ति चात्र ।

सक्षौद्रातिविषं पिष्ट्वा वत्सकस्य फलत्वचम् ।

तण्डुलोदकसंयुक्तं पेयं पित्तातिसारनुत् ॥ ३२ ॥

वारिभिः पानादिषूपचारः कार्यः । लङ्घितस्य तस्य पित्तातिसारिणो बुभुक्षायामाहारकाले बलातिबलादिनिर्य्यूहैः प्रयुक्तेन सिद्धेन यथासात्म्यं यवागूमण्डादिना तर्पणादिना वा क्रमेणोपचारः कार्यः । ततोऽधिक-बुभुक्षायामन्नकाले मुद्गादियूषैर्वा लावादिमांसरसैर्वा ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोज-यित्वा क्रमशोऽस्याग्निं सन्धुक्षयेत् । हरेणुर्वृत्तलकलायः । मुकुष्टको वनमुद्गरः । कपिञ्जलः श्वेततित्तिरिः । कालपुच्छो हरिणविशेषः । अनुबन्धे निवृत्त-पित्तातिसारानुबन्धे खल्वस्यातिसारिणो दीपनीयान् दश पिप्पल्यादीन् पाचनीयान् जीवकादीन् उपशमनीयान् बालविल्वादीन् संग्रहणीयान् पुरीषसंग्रहणीयान् वक्ष्यमाणान् योगान् प्रयोजयेत् । इति ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—तान् दीपनीयादीनाह—भवन्ति चात्रेति । सक्षौद्रेत्यादि । वत्सकस्य फलञ्च त्वक् च तद्द्वयं सातिविषं तण्डुलोदकेन पिष्ट्वा सक्षौद्रं तेनैव तण्डुलोदकेन पेयमिति ॥ ३२ ॥

आमातिसारे सामान्यविधानमुक्तं तदिह नानुमन्यते । तत्र च प्रवर्त्तने क्रियमाणे अतियोगभयं स्यादिति भावः । यत् तु विरेचनमिह वक्तव्यं तत्र सामग्रीविशेषसम्पन्नाभाव एव । लङ्घितस्य चेत्यादौ सूर्यपर्णी मुद्गरमाषण्यौ । निर्य्यूहशब्देन च षडङ्गविधानसिद्धं जलमुच्यते । यवाग्वादि-साधने तस्यैवाधिकारात् । अनुबन्धे त्वित्यादौ पित्तातिसारानुबन्धे । इमानि वक्ष्यमाणान् ॥ ३१ ॥

चक्रपाणिः—फलत्वचं फलञ्च त्वक् चेति फलत्वचम् ॥ ३२ ॥

किराततिक्तकं मुस्तं वत्सकः सरसाञ्जनः ।
 विल्वं दारुहरिद्रा च ह्रीवेरं सदुरालभम् ॥
 चन्दनश्चामृणालश्च नागरं लोध्रमुत्पलम् ।
 तिला मोचरसो लोध्रं समङ्गा कमलोत्पलम् ॥
 नागरं धातकीपुष्पमुत्पलं दाडिमत्वचः ।
 कटफलं नागरं पाठा-जम्बाम्रास्थि दुरालभा ॥
 योगाः षड्देते सद्योद्रास्तण्डुलोदकसंयुताः ।
 पेयाः पित्तातिसारघ्नाः श्लोकाह्नं तु निदर्शिताः ॥ ३३ ॥
 जीर्णौषधानां शस्यन्ते यथायोगोपकल्पितैः ।
 रसैः सांग्राहिकैर्युक्ताः पुराणा रक्तशालयः ॥ ३४ ॥
 पित्तातिसारो दीप्तान्नेः शीघ्रं समुपशाम्यति ।
 अजाक्षीरप्रयोगेण बलं वर्णश्च वर्द्धते ॥
 बहुदोषस्य दीप्तान्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति ।
 पैत्तिको यद्यतीसारः पयसा तं विरेचयेत् ॥

गङ्गाधरः—किरातत्यादि-रसाञ्जनान्त एको योगः । विल्वादि-
 दुरालभान्तो द्वितीयः । चन्दनादुत्पलान्तरतृतीयः । तिलादुत्पलान्तश्चतुर्थः ।
 नागरादिदाडिमत्वगन्तः पञ्चमः । कट्फलादिदुरालभान्तः षष्ठः । सर्वे
 षड्देते योगाश्चूर्णिताः क्षौद्रयुक्तास्तण्डुलोदकेन पेयाः । पीतानामेषां जीर्णत्वे
 यथायोगोपकल्पितैः सांग्राहिकैर्मरसैर्युक्ताः पुराणाः संवत्सरातीता
 रक्तशाल्यादयो भोजने शस्यन्ते ॥ ३३ । ३४ ॥

गङ्गाधरः—पित्तत्यादि । एवं कृते दीप्तान्नेर्नरस्य पित्तातिसारोऽजाक्षीर-
 प्रयोगेण शीघ्रं समुपशाम्यति बलं वर्णश्च वर्द्धते । बहुदोषेत्यादि । बहुदोषस्य
 चर्बं कृते दीप्तान्नेरपि सप्राणस्य यदि पैत्तिकोऽतिसारो न तिष्ठति गति-
 निवृत्तिमान् न भवति तदा सप्राणं बलवन्तं तं पयसा विरेचयेत् न त्वबलम् ।

चक्रपाणिः—अमृणालमुशीरम् । समङ्गा मञ्जिष्ठा, वराहकान्ता इत्यन्ये ॥ ३३ । ३४ ॥

पलाशफलनिर्यूहं पयसा सह ना पिबेत् ।
 ततोऽनु कोष्णं पातव्यं क्षीरमेव यथाबलम् ॥
 प्रवाहिते मले तेन प्रशाम्यत्युदरामयः ।
 पलाशवत् प्रयोज्या वा त्रायमाणा विशोधनो ॥ ३५ ॥
 सांसर्ग्यां ह्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्त्तते ।
 स्रुतदोषस्य तं शीघ्रं यथावदनुवासयेत् ॥
 शतपुष्पावरीभ्याश्च पयसा मधुकेन च ।
 तलपादं घृतं सिद्धं सवित्त्वमनुवासनम् ॥ ३६ ॥
 कृतानुवासनस्यास्य कृतसंसर्जनस्य च ।
 वर्त्तते यद्यतीसारः पिच्छावस्तिरतः परम् ॥

विरेचनमाह—पलाशेत्यादि । पलाशफलस्य निर्यूहं पयसा सह स ना
 पिबेत् । ततोऽनु यथाबलं कोष्णं क्षीरं तेन पातव्यमेव । मले तेन प्रवाहिते वेगेन
 विसृष्टे उदरामयः प्रशाम्यति । पलाशवदित्यादि । त्रायमाणा त्रायन्ती विशोधनी
 पलाशवत् प्रयोज्या । त्रायमाणां निःकाश्य पयसा सह स बहुदोषो दीप्ताग्निः
 सप्राणः पूर्व्वक्रियाभिरनिवृत्तपित्तातिसारी पिबेत् ततोऽनु कोष्णं क्षीरं यथाबलं
 तेन पातव्यं, तेन प्रवाहिते मले सति उदरामयः प्रशाम्यतीति ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—सांसर्ग्यामित्यादि । एवंविरेचनेन सांसर्ग्यां शेषमलसंसर्ग-
 कर्म्मनिवृत्त्यां ह्रियमाणायां सत्यां स्रुतदोषस्य यदि शूलमनुवर्त्तते तदा
 स्रुतदोषं तं शीघ्रं यथावदनुवासयेत् । अनुवासनमाह—शतपुष्पेत्यादि ।
 वरी शतावरी । तैलं पादं यत्र तत् । घृताच्चतुर्थ्यां शतिलतैलमेकाकृत्य शत-
 पुष्पाशतावरीयष्टीमधुकवालविल्वानि पादिकानि कल्कीकृत्य पयसा
 चतुर्गुणेन सिद्धमनुवासनं भवति ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—कृतेत्यादि । एतेन कृतानुवासनस्यास्य नरस्य कृतसंसर्जनस्य
 च कृतभोजनस्य यद्यतीसारो वर्त्तते, तदा ततः परं पिच्छावस्तिर्विधीयते ।

चक्रपाणिः—न सिध्यति न निवर्त्तते । पलाशवदिति उक्तपलाशफलविधानेन ॥ ३५ ॥

चक्रपाणिः—संसर्ग्यामिति पयसिदिक्रमे । शतपुष्पेत्यादौ वरी शतावरी । अनुवासनं
 दद्यादिति शेषः ॥ ३६ ॥

परिवेष्ट्य कुशैराद्रैराद्रवृन्तानि शाल्मलेः ।

कृष्णमृत्तिकया लिप्य स्वेदयेद् गोमयाग्निना ॥

सुशुष्कां मृत्तिकां ज्ञात्वा तानि वृन्तानि शाल्मलेः ।

शृतै पयसि मृद्गोयादापोथ्योलूखले ततः ॥

पिण्डं मुष्टिसमं प्रस्थे तत् पूतं तैलसर्पिषोः ।

स्नेहितं मात्रया युक्तं कल्केन मधुकस्य च ॥

वस्तिमभ्यक्तगात्राय दद्यात् प्रत्यागतै ततः ।

स्नात्वा भुञ्जीत पयसा जाङ्गलानां रसेन वा ॥

पित्तातिसारज्वरशोषगुल्म-जीर्णातिसारग्रहणीप्रदोषान् ।

जयत्ययं शीघ्रमतिप्रवृद्धान् विरेचनास्थापनयोश्च वस्तिः ॥ ३७ ॥

इति पिच्छावस्तिः ।

पिच्छावस्तिमाह—परिवेष्टेयत्यादि । शाल्मलेराद्रवृन्तानि कुशैराद्रः परिवेष्ट्य कृष्णमृत्तिकया चालिप्य गोमयाग्निना स्वेदयेत् । तामालेपनमृत्तिकां सुशुष्कां ज्ञात्वा शाल्मलेस्तानि वृन्तानि उलूखले तत् आपोथ्य तत्पिण्डं मुष्टिसमं पलपरिमितं शृतै पयसि प्रस्थे गोलनोचिते मृद्नीयात् । तद् वस्त्रेण पूतं तैलसर्पिषोर्मिलितयोर्मात्रया स्नेहयोग्यया मिश्रयित्वा स्निग्धीकृतं मधुकस्य कल्केन श्लक्ष्णपिष्टेन मात्रया युक्तमभ्यक्तगात्राय वस्तिं दद्यात् । ततः प्रत्यागते तस्मिन् वस्तौ स्नात्वा पयसा भुञ्जीत जाङ्गलानां मांसरसेन वा भुञ्जीत । अस्य वस्तेराशिषमाह—पित्तातिसारेत्यादि । अयं विरेचनास्थापनयोः पिच्छावस्तिश्च । पिच्छावस्तिः ॥ ३७ ॥

चक्रपाणिः—परिवेष्टेयत्यादिना पिच्छावस्तिमाह । शृतै पयसीत्यत्र पानीयमानेनैव पयः शृतं ज्ञेयम् । प्रस्थ इति शृतै पयसीत्यस्य विशेषणम् । वृन्तानि शाल्मलेः उलूखले आपोथ्य आपोथतात् पिण्डं शृतै प्रस्थे पयसि मृद्नीयादिति योजना । मातयेति वचनात् तैलसर्पिषोस्तत्र तावती मात्रा यावत्या स्नेहमात्रं भवति । तथा यष्टीमधुकल्कस्यापि तावती मात्रा यावत्या घनो वस्तिर्भवति ॥ ३७ ॥

पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते ।

पित्तलान्यन्नपानानि तस्य पित्तं महाबलम् ॥

रक्तातिसारं कुरुते रक्तमाशु प्रदूषयत् ।

तृष्णां दाहश्च शूलश्च गुदपाकश्च दारुणम् ॥ ३८ ॥

तत्र छागपयः शस्तं शीतं समधुशर्करम् ।

पानार्थं व्यञ्जनार्थश्च गुदप्रक्षालने तथा ॥

भोजनं रक्तशालीनां पयसा तेन भोजयेत् ।

रसैः पारावतादीनां घृतभृष्टैः सशर्करः ॥

गङ्गाधरः—पित्तातिसारस्य निदानविशेषेणावस्थाविशेषो भवति, तमाह—
पित्तातिसारीत्यादि । पित्तातिसारी यः पुनरेतां पित्तातिसारप्रतिक्रियां
मुक्त्वा पित्तलान्यन्नपानानि निषेवते तस्य पित्तातिसारिणः पित्तं महाबलं सत्
आशु रक्तं प्रदूषयत् सत् रक्तातिसारं कुरुते । अजाते पित्तातिसारे पित्तला-
हारसेविनो यो रक्तातिसारो दृश्यते स तु न रक्तातिसारः, पित्तातिसारे रक्त-
पित्तोपगतमतिसार्यत इत्युक्तम् । ततः स एव पित्तातिसार इति । रक्ताति-
साररूपविशेषमाह—तृष्णामित्यादि ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—तस्य चिकित्सामाह—तत्रेत्यादि । तत्र रक्तातिसारे । पानार्थं
पिपासायां भोजने च व्यञ्जनार्थं, व्यञ्जनं हि भोज्यान्नसहिताभ्यवाहार्यद्रव्यं
न तु फलपत्रादिशाकमांसकृतमात्रं, गुदपाके गुदप्रक्षालने च, शीतमिति
किञ्चित्पक्वं शीतीकृतं मधुशर्करे प्रक्षिप्य छागपयः शस्तम् । अत
एवाह—भोजनमित्यादि । रक्तशालीनां भोजनमन्नं तेन समधुशर्करेण

चक्रपाणिः—पित्तातिसारीत्यादिना पित्तातिसारस्यैव हेतुविशेषकृतावस्थाभेदरूपं रक्तातिसारं
दर्शयति । अथञ्च रक्तातिसारो यद्यपि पित्तातिसारोत्तरकालभावितयोक्तः, तथापि पित्तातिप्रकोपेण
रक्तदृष्ट्या च प्रथममपि भवत्येव दृष्टत्वादिति ज्ञेयम् । तेनालोत्पत्तिक्रियाभिधानम् अतन्त्रम् । यथा
पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थमित्यादिना कामला उक्ता, उक्तं क्रमं विनापि कामला भवति ; एवमपि चास्य
रक्तातिसारस्य पित्तजन्यत्वात् पित्तिके एवावरोधः तेन षट्संख्या न व्याहन्यते । अतीसारस्य तु
आमरक्तशकृत्पित्तवातकफान् अतीसारकारकानभिधाय एकद्वित्रिसंस्पर्गात् लिङ्गशब्दे भवन्ति ।
ते केवलैः सह षड्विंशदपि अत्रैव षट्केऽन्तर्भावनीयं तत् सूक्ष्मभेदगणनया स भेदः कृत
इत्यविरोधः ॥ ३८ ॥

शशानां धन्वजानाञ्च शीतानां मृगपक्षिणाम् ।

रसैरनम्लैः सघृतैर्भोजयेत् तु सशर्करैः ॥

रुधिरं मार्गमाजं वा घृतभृष्टं प्रशस्यते ।

काश्मर्यफलयूषो वा किञ्चिदम्लः सशर्करः ॥

नीलोत्पलं मोचरसं समङ्गां पद्मकेशरम् ॥

अजाक्षीरयुतं दद्याज्जीर्णे च पयसौदनम् ॥

दुर्बलं पाययित्वा वा तस्यैवोपरि भोजयेत् ।

प्राग्भक्तं नवनीतं वा दद्यात् समधुशर्करम् ॥

प्राश्य क्षीरोत्थितं सर्पिः कपिञ्जलरसाशनः ।

त्र्यहादारोग्यमाप्नोति पयसा क्षीरभृक् तथा ॥

छागपयसा शस्तत्वाद्भोजयेत् । तथा पारावतादीनां मांसस्सैवृत्तभृष्टैः सशर्करैर्भोजयेत् । शशानामित्यादि । शशानां धन्वजानां शीतवीर्याणां मृगपक्षिणां मांसरसैरनम्लैः सघृतैः सशर्करैस्तं रक्तातिसारिणं भोजयेत् । रुधिरमित्यादि । मार्गं मृगस्य रक्तमाजमजस्य वा रक्तं घृतभृष्टं रक्तातिसारिणे शस्तम् । काश्मर्यफलकायेन सिद्धो यूष आमलकादिना किञ्चिदम्लः सशर्करः प्रशस्यते । नीलोत्पलमित्यादि । नीलोत्पलादीनां चूर्णमजाक्षीरयुतं दद्याज्जीर्णं तस्मिन् पयसा सहौदनं भोक्तुं दद्यात् । दुर्बलमित्यादि । दुर्बलं रक्तातिसारिणं तन्नीलोत्पलादिकमजाक्षीरयुतं पाययित्वा तस्यैवोपरि पयसौदनं भोजयेत् तु जीर्णे तदौषधे । प्राग्भक्तमित्यादि । दुर्बलाय रक्तातिसारिणे प्राग्भक्तं समधुशर्करं नवनीतं वा दद्यात् । प्राश्येत्यादि । क्षीरोत्थितं सर्पिः प्राश्य कपिञ्जलरसाशनो रक्तातिसारी त्र्यहादारोग्यमाप्नोति । तथा पयसा पयोऽन्नमात्रवृत्तिः सन् क्षीरोत्थितं सर्पिः प्राश्य त्र्यहादारोग्यमाप्नोति । तथा क्षीरभृक् क्षीरमात्रेणान्नभृक् सन् क्षीरोत्थितं सर्पिः प्राश्य

चक्रपाणिः—तत्र छागमित्यादौ व्यञ्जनार्थमिति भोज्योपकरणार्थम् । पयसा तेनेति छागेन पयसा । मृगस्येदं मार्गम्, अजस्येदमाजं रुधिरमिति योजना । प्राश्येत्यादौ सर्पिः प्राश्येति

पीत्वा शतावरीकल्कं पयसा क्षीरभुग् जयेत् ।
 रक्तातिसारं पीत्वा वा तथा सिद्धं घृतं नरः ॥ ३९ ॥
 घृतं यवागूमण्डेन कुटजस्य फलैः शृतम् ।
 पेयं तस्यानु पातव्या पेया रक्तोपशान्तये ॥ ४० ॥
 वत्सकस्य च बीजानि दाढ्याश्च त्वच उत्तमाः ।
 पिप्पली शृङ्गवेरश्च लाक्षा कटुकरोहिणी ॥
 षड्भिरैतैर्घृतं सिद्धं पेयामण्डावचारितम् ।
 अतीसारं जयेच्छीघ्रं त्रिदोषमपि दारुणम् ॥ ४१ ॥
 कृष्णा मृन्मधुकं शङ्खं रुधिरं तण्डुलोदकम् ।
 पीतमेकत्र संयुक्तं रक्तसंग्रहणं परम् ॥
 पीतः प्रियङ्गुकाकल्कः सचौद्रस्तण्डुलाम्बुना ।
 रक्तस्त्रावं जयेच्छीघ्रं धन्वमांसरसाशिनः ॥

त्रहादारोग्यमाप्नोति । पीत्वेत्यादि । पयसा शतावरीकल्कं पीत्वा क्षीर-
 भुक् रक्तातिसारं जयेत् । तथा शतावर्या कल्कभूतया सिद्धं चतुर्गुणजले
 पक्वं घृतं वा पीत्वा क्षीरभुङ् नरो रक्तातिसारं जयेत् ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—घृतमित्यादि । कुटजस्य फलैः कल्कैश्चतुर्गुणजले शृतं घृतं
 यवागूमण्डान्यतरेण पेयं तस्यानु पातव्या पेया ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—वत्सकस्येत्यादि । वत्सकबीजादिभिरेतैः षड्भिः कल्कः
 चतुर्गुणजले सिद्धं घृतं पेयामण्डान्यतरेणावचारितं पीतं त्रिदोषमप्यतिसारम्
 अपिना रक्तातिसारश्च जयेत् ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—कृष्णा मृदित्यादि । कृष्णवर्णा मृत् । शङ्खं भस्मीकृतम् । पञ्च-

सम्बन्धः । कपिञ्जलो गौरतित्तिरिः । क्षीरं भुनक्तीति क्षीरभुक् । कपिञ्जलसंस्थाने माक्षिकं
 ज्ञेयम् । पीत्वा शतावर्याः कल्कं तथा सिद्धं घृतम् वा क्षीरभुग् रक्तातिसारं जयेत् ।
 यवागूमण्डेन पेयम् इति सम्बन्धः ॥ ३९ । ४० ॥

चक्रपाणिः—षड्भिरितिपदं यथालाभनिषेधार्थम् ॥ ४१ ॥

कल्कस्तिलानां कृष्णानां शर्करापञ्चभागिकः ।
 आजेन पयसा पीतः सद्यो रक्तं नियच्छति ॥ ४२ ॥
 पलं वत्सकबीजस्य श्रपयित्वा रसं पिबेत् ।
 यो रसाशी जयेच्छीघ्रं स पैत्तं जठरामयम् ॥ ४३ ॥
 पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं चन्दनं तण्डुलाम्बुना ।
 दाहत्तृष्णाप्रमेहेभ्यो रक्तस्त्रावाच्च मुच्यते ॥ ४४ ॥
 गुदो बहुभिरुत्थानैर्यस्य पित्तेन पच्यते ।
 सेचयेत् तं सुशीतेन पटोलमधुकाम्बुना ॥
 पञ्चवलकमधूकानां रसैरिचुरसैर्वृतैः ।
 छागैर्गव्यैः पयोभिर्वा शर्कराक्षौद्रसंयुतैः ॥

द्रव्याण्येकीकृत्य पीतम् । पीत इत्यादि । प्रियङ्गुत्वक्कल्कः । कल्क इत्यादि ।
 निस्तुषाणां कृष्णतिलानां कल्क एकभागः, पञ्च भागाः शर्करायाः ; एकीकृत्य
 आजेन पयसा पीतः । शर्करापञ्चभागिक इत्यत्र शर्कराभागसंयुत इति च
 कचित् पाठस्ततः समः शर्कराभाग इति ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—पलमित्यादि । वत्सकबीजस्य पलमष्टगुणे जले पत्तवा
 चतुर्थांशशेषं रसं पिबेत् । पीत्वा यो मांसरसाशी स्यात् स शीघ्रं पित्तं
 जठरामयं जयेत् ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—पीत्वेत्यादि । चन्दनं रक्तचन्दनमेव ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—गुद इत्यादि । बहुभिरुत्थानैर्वारंवारं विद्विर्गैः पित्तेन यस्य
 गुदः पच्यते, पटोलपत्रमधुकयोः काथेन सुशीतेन तस्य तं गुदं जलशौचादिषु
 सेचयेत् । पञ्चवलकलमधुकवलकलानां रसैर्वा सेचयेत् । इक्षुरसैर्वा छागवा

चक्रपाणिः—कृष्णमृदित्यादौ रुधिरं शोणितम्, केचित् कुङ्कुममाहुः । शर्करापञ्चभागिक इत्यत्र
 शर्करापञ्चभागेन कृष्णतिलदानम् । उक्तं हि जतुकर्णे—कृष्णतिलान् शर्करापादिकान्
 छागीपयसेति ॥ ४२ ॥

चक्रपाणिः—पल मित्यादौ रसमिति काथम् । रसाशीति मांसरसमुद्भूतः । इक्षुरसैर्वृतैः

प्रक्षालनानां कल्कैर्वा ससर्पिष्कः प्रलेपयेत् ।
 एषां वा सुकृतैश्चूर्णैस्तं गुदं प्रतिसारयेत् ॥
 तथा रक्तं न स्रवति गुदं तः प्रतिसारितम् ।
 पक्वता प्रशमं याति वेदना चोपशाम्यति ॥
 यथोक्तैः सेचनः शीतैः शोणितैऽतिस्रवत्यपि ।
 गुदवङ्क्षणकटून् सेचयेद् घृतभावितम् ॥
 चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा ।
 कार्पाससंगृहीतेन भावयेद् गुदवङ्क्षणम् ॥ ४५ ॥
 अल्पाल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते ।
 यदा वायुर्विवद्धश्च कृच्छ्रं चरति वा न वा ॥

गव्यैर्वा घृतैस्तश्च पयोभिर्वा शर्कराक्षौद्रसंयुतः सेचयेत् । प्रक्षालनानामित्यादि ।
 उक्तानां पटोलमधुकादीनामिक्षूपर्यन्तानां प्रक्षालनद्रव्याणां कल्कैः दृषदि
 पिष्टैः ससर्पिष्कैर्गुदं प्रलेपयेद् वा । कल्कवचनाच्छागगव्यघृतपयःशर्करा-
 मधूनां कल्कत्वासम्भवान्नेह प्रलेपविधिः । एषां प्रक्षालनद्रव्याणां सुकृतैः
 चूर्णैस्तं पक्वं गुदं प्रतिसारयेत् । तैः प्रतिसारितं गुदं तथारक्तमतिसार-
 रक्तं न स्रवति । यथोक्तैरित्यादि । यथोक्तैः पटोलमधुकाम्बुप्रभृतिभिः शीतैः
 सेचनैरपि शोणितैऽतिस्रवति सति घृतभावितं पुनः पुनर्घृतमक्षितं गुदवङ्क्षण-
 कटून् तैः सेचनः पटोलमधुकाम्बुप्रभृतिभिः सेचयेत् । गुदादिभावनार्थं
 स्नेहान्तरमाह—चन्दनादेऽनेत्यादि । ज्वराधिकारोक्तचन्दनादेऽन तैलेन कार्पास-
 संगृहीतेन पिचुना गृहीतेन तैलेन गुदादिकं भावयेत्, शतधौतेन सर्पिषा वा
 कार्पाससंगृहीतेन गुदादिकं भावयेत् ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—अल्पाल्पमित्यादि । अल्पाल्पमथ च बहुशोऽनेकवारं सशूलं
 रक्तं यदोपवेश्यते वायुश्च विवद्धः सन् कृच्छ्रं चरति, न वा चरति, तदा तस्य

रित्यन्तेन सेचयेदित्यनुवर्तते । प्रक्षालनानामिति प्रक्षालनार्थं युक्तानां पटोलमधुकादीनाम्,
 प्रतिसारयेद्वचूर्णयेत् ॥ ४३—४५ ॥

पिच्छावस्तिं तदा तस्य यथोक्तमुपकल्पयेत् ।
 प्रपौण्डरीकसिद्धेन सर्पिषा चानुवासयेत् ॥ ४६ ॥
 प्रायशो दुर्बलगुदाश्चिरकालातिसारिणः ।
 तस्मादभीक्षणशस्तैषां गुदे स्नेहं प्रयोजयेत् ॥
 अतिवृत्तो हि पवनः स्वे स्थाने लभतेऽधिकम् ।
 बलं तस्य सपित्तस्य जयार्थं वस्तिरुत्तमः ॥ ४७ ॥
 रक्तं विट्सहितं पूर्वं पश्चाद् वा योऽतिसार्यते ।
 शतावरीघृतं तस्य लेहार्थमुपकल्पयेत् ॥
 शर्करार्द्धांशिकं लीढं नवनीतं नवोद्धृतम् ।
 क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रं तं विकारं हिताशिनः ॥

यथोक्तं पिच्छावस्तिं परिवेष्टेत्यादिना पूर्वमुक्तमुपकल्पयेत् । प्रपौण्डरीक-
 लक्कलसिद्धेन सर्पिषा वा तं नरमनुवासयेत् ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—प्रायश इत्यादि । चिरकालातिसारिणो नराः प्रायशो दुर्बल-
 गुदा भवन्ति, तस्मात् तेषां चिरकालातिसारिणां गुदबलार्थमभीक्षणशो गुदे स्नेहं
 प्रयोजयेत् । कस्मात् ? अतिवृत्त इत्यादि । हि यस्मादतिसारस्य चिरेणातिवृत्तो
 पवनः स्वे स्थानेऽधिकं बलं लभते । तस्य सपित्तस्य जयार्थमनुवासनवस्ति-
 रुत्तमस्तस्मात् प्रपौण्डरीकसिद्धेन सर्पिषाऽनुवासयेदिति ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—रक्तमित्यादि । यो नरः पूर्वं वा पश्चाद् वा विट्सहितं
 रक्तमतिसार्यते, तस्य शतावरीघृतं लेहार्थमुपकल्पयेत् । अथवा—
 शर्करेत्यादि । नवोद्धृतं नवनीतं शर्करार्द्धांशिकमर्द्धांशशर्करं क्षौद्रपादं
 पादांशमधुयुतं लीढं हिताशिनस्तं विट्सहितरक्तातिसारं शीघ्रं जयेत् ।

चक्रपाणिः—पिच्छावस्तिं तदा तस्येति अत्रैवोपरि वस्तिग्रन्थोक्तम् । गुदे स्नेहं प्रयोजयेदिति
 स्नेहभावितपिचुप्रणयनेन गुदे स्नेहप्रयोगमिच्छन्ति । अन्ये तु प्रकृतत्वादनुवासनेनैवाल
 प्रयोगमाहुः ॥ ४६ ॥

चक्रपाणिः—स्वे स्थाने इति पकाशये । वस्तिरिति सामान्यवचनात् अनुवासनं निरुहश्च
 ज्ञेयः ॥ ४७ ॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ-शुङ्गानापोथ्य वासयेत् ।
 अहोरात्रं जले तप्तै घृतं तेनाम्भसा पचेत् ॥
 तदर्द्धशर्करायुक्तं लेहयेत् क्षौद्रपादिकम् ।
 अधो वा यदि वाप्यूर्ध्वं यस्य रक्तं प्रवर्तते ॥ ४८ ॥
 यस्त्वेवं दुर्बलो मोहात् पित्तलान्येव सेवते ।
 दारुणं स बलीपाकं प्राप्य शीघ्रं विपद्यते ॥ ४९ ॥
 श्लेष्मातिसारे प्रथमं हितं लङ्घनपाचनम् ।
 योज्यश्चामातिसारघ्नो यथोक्तो दीपनो गणः ॥ ५० ॥

लेहान्तरमाह—न्यग्रोधेत्यादि । न्यग्रोधादीनां शुङ्गानापोथ्य कुट्टयित्वा चतुर्गुणे जले तप्तेऽहोरात्रं वासयेत् । तेन कषायेणाम्भसा चतुर्गुणेन घृतं पचेत् । पक्वं तद् घृतं तद्घृतार्द्धशर्करायुक्तं घृतपादिकक्षौद्रयुक्तं तप्तितिसारिणं लेहयेत् यस्यातिसारिणो विट्सर्गादधो वा यदि वाप्यूर्ध्वं रक्तं प्रवर्तते इति ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—रक्तातिसारासाध्यतामाह—यस्त्वेवमित्यादि । यो रक्तातिसारी एवमनेन प्रकारेण दुर्बलः सन् मोहादज्ञानाद् वा पुनः पित्तलानि सेवते, स दारुणं बलीपाकं गुदबलीपाकं प्राप्य शीघ्रं विपद्यते म्रियते ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—इति पित्तातिसारचिकित्सितमुत्तवा श्लेष्मातिसारचिकित्सित-
 माह—श्लेष्मातिसार इत्यादि । लङ्घनपाचनं हितं, प्रथमं लङ्घनं कार-
 यित्वा पाचनमौषधं दद्यात् । आमामातिसारघ्नो यथोक्तो दीपनो गणः पिप्पली
 नागरं धान्यमित्यादिनामातिसारघ्नो यथा पूर्वमुक्त एवं पञ्चाशन्महाकषायेषु
 दीपनो गण उक्तः स प्रयोज्यः ॥ ५० ॥

चक्रपाणिः—शतावरीघृतमिति शतावरीमूलतुलाश्वत्थ इत्यादिना योनिव्यापद्घृतम् शतावरी-
 घृतम् । विकारमिति रक्तं विट्सहितमित्यादिनोक्तम् ॥ ४८ ॥

चक्रपाणिः—बलीपाकमिति गुदबलीपाकम् ॥ ४९ ॥

चक्रपाणिः—दीपनो गण इति शालीपर्णेत्यादिनोक्तः ॥ ५० ॥

लङ्घितस्यानुपूव्याश्च कृतायां न निवर्त्तते ।
 कफजो यो ह्यतीसारः कफघ्नैस्तमुपाचरेत् ॥ ५१ ॥
 विल्वकर्कटिकामुस्तमभया विश्वभेषजम् ।
 वचाविडङ्गभूतीक-धान्यकं सुरदारु च ॥
 कुष्ठं सातिविषा पाठा चव्यं कटुकरोहिणी ।
 पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ॥
 योगाः श्लोकार्द्धविहिताश्चतुरस्तान् प्रयोजयेत् ।
 शृतान् श्लेष्मातिसारेषु कायाग्निबलवर्द्धनान् ॥ ५२ ॥
 अजाजीमसितां पाठां नागरं मरिचानि च ।
 धातकीद्विगुणं दद्यान्मातुलुङ्गरसाप्लुतम् ॥
 रसाञ्जनं सातिविषं कुटजस्य फलानि च ।
 धातकीद्विगुणं दद्यात् पातुं सक्षौद्रनागरम् ॥ ५३ ॥

गङ्गाधरः—लङ्घितस्येत्यादि । श्लेष्मातिसारिणः प्रथमं लङ्घितस्य पाचना-
 मातिसारघ्नदीपनानामानुपूव्यां कृतायां कफजो योऽतिसारो न निवर्त्तते, तं
 कफजातिसारं कफघ्नैर्वक्ष्यमाणैरुपाचरेत् ॥ ५१ ॥

गङ्गाधरः—कफघ्नान् योगानाह—विल्वेत्यादि । विल्वं वालविल्वं, कर्क-
 टिका कर्कटशृङ्गी । श्लोकार्द्धविहिता य इमे योगास्तांश्चतुरो योगान् शृतान्
 काथविधिना प्रयोजयेत् ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—अजाजीमित्यादि । असितामजाजीं कृष्णजीरकम् । एतदादि-
 मरिचान्तानि प्रत्येकं समानि । तत्सर्व्वं समम् । धातकीद्विगुणं द्विभागां धातकीं
 दत्त्वा तत् सर्व्वं मातुलुङ्गरसाप्लुतं दद्यात् । प्रकरणात् कफातिसारिणे । रसाञ्जन-
 मित्यादि । कुटजस्य फलमिन्द्रयवः । रसाञ्जनादीनां प्रत्येकं समभागः ।
 तदेकभागापेक्षया धातकी द्विगुणा यत्र तत् सक्षौद्रनागरं पातुं दद्यादिति ।
 पानयोग्यं मधु चतुर्गुणं चूर्णापेक्षया देयम् ॥ ५३ ॥

चक्रपाणिः—कफघ्नैस्तमुपाचरेदित्युक्तम्, तेन विल्वकर्कटिकेत्यादिना योगमाह ॥ ५१ । ५२ ॥

चक्रपाणिः—अजाजीमित्यादौ असितामिति पिप्पलीम् । धातकीद्विगुणमिति एकद्रव्यापेक्षया

धातकी नागरं विल्वं लोध्रं पद्मस्य केशरम् ।
 जम्बुत्वङ् नागरं धान्यं पाठा मोचरसं बला ।
 समङ्गा धातकी विल्व-मध्यं जम्ब्वाम्रयोस्त्वचा ।
 कपित्थानि विडङ्गानि नागरं मरिचानि च ॥
 चाङ्गेरीतक्रकोलाम्लांश्चतुरस्तान् कफोत्तरे ।
 श्लोकार्द्धविहितान् दद्यात् सस्नेहलवणान् खड्गान् ॥ ५४ ॥
 कपित्थमध्यं लीढ्वैव सव्योषक्षौद्रशर्करम् ।
 कट्फलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात् ॥
 कणां मधुयुतां लीढ्वा तक्रं पीत्वा सचित्रकम् ।
 जग्ध्वा वा बालविल्वानि मुच्यते जठरामयात् ॥
 बालविल्वं गुडं तैलं पिप्पली विश्वभेषजम् ।
 लिह्याद् वातै प्रतिहतै सशूलः सप्रवाहिकः ॥

गङ्गाधरः—धातकीत्यादि । श्लोकार्द्धविहितांश्चतुरो योगान् सुचूर्णितां-
 चाङ्गेरीतक्रकोलरम्लान् कृत्वा तलस्नेहलवणाभ्यामनुरूपाभ्यां खड्गान्
 दद्यात् ॥ ५४ ॥

गङ्गाधरः—कपित्थेत्यादि । व्योषचूर्णक्षौद्रशर्कराभियथाह मिश्रितं कपि-
 त्थस्य मध्यं शस्यं लीढ्वा । मधुयुक्तं कट्फलचूर्णं वा लीढ्वा कफज-
 जठरामयान्मुच्यते । कणामित्यादि । मधुयुतां कणां पिप्पलीं चूर्णितां लीढ्वा ।
 अथवा सचित्रकं चित्रकमूलचूर्णसहितं चतुर्गुणं तक्रं पीत्वा अथवा बालविल्वानां
 शस्यानि जग्ध्वा जठरामयान्मुच्यते । बालविल्वमित्यादि । सशूलप्रवाहिकः
 कफातिसारी प्रतिहते प्रतिलोमे वाते बालविल्वपिप्पलीविश्वभेषजं चूर्णीकृत्य
 द्विगुणया धातक्या युक्तम् । जतुकर्णं ह्यथ योगः । पाठा जातीफलं व्योषं धातकीद्विगुण-
 मित्युक्तम् । ॥ ५३ । ५४ ॥

चक्रपाणिः—कणां मधुयुतामित्यत्र कणा पिप्पली । अन्ये कणानिति पठन्ति कणानित्यनेन

भोज्यं मूलकयूषेण वातघ्नैश्चोपसेवनैः ।
 वातातिसारविहितैर्युषैर्मांसरसैः खड्गैः ॥
 पूर्वोक्तमम्लसर्पिर्वा षट्पलं वा यथाबलम् ।
 पुराणं वा घृतं दद्याद् यवागूमण्डमिश्रितम् ॥ ५५ ॥
 वातश्लेष्मविबन्धे वा कफे वातिस्त्रयस्यपि ।
 शूले प्रवाहिकायाश्च पिच्छावस्तिं प्रयोजयेत् ॥
 पिप्पलीविल्वकुष्ठानां शताह्वाचयोरपि ।
 कल्कैः सलवणैर्युक्तं पूर्वोक्तं सन्निधापयेत् ॥ ५६ ॥
 प्रत्यागतै सुखे स्नातं कृताहारं दिनात्यये ।
 विल्वतैलेन मतिमान् सुखोष्णेनानुवासयेत् ॥

गुडतैलाभ्यां लिङ्गात् । भोज्यमित्यादि । मूलकस्य शुष्कस्य यूषेण सशूल-
 प्रवाहिककफातिसारिणान्नं भोज्यम् । वातघ्नैश्चोपसेवनैराहारद्रव्योपसेवन-
 दध्यादिभिः । वातातिसारविहितैर्यवानां मुद्गमाषाणामित्यादुक्तैर्युषैर्लोपाक-
 रसमित्यादुक्तैर्मांसरसैः । कल्कः स्याद् बालविल्वानामित्यादुक्तैः खड्गैः
 भोज्यम् । पूर्वोक्तमित्यादि । पूर्वोक्तं चाङ्गेरीघृतादिकमम्लसर्पिः षट्पलं
 सर्पिश्च पुराणं घृतं वा यथाबलं यवागूमण्डान्यतरमिश्रितं सशूलप्रवाहि-
 काय कफातिसारिणे दद्यात् ॥ ५५ ॥

गङ्गाधरः—वातश्लेष्मेत्यादि । पिच्छावस्तिं पूर्वमुक्तम् । तत्प्रयोग-
 मिह विधेयमाह—पिप्पलीत्यादि । पिप्पल्यादीनां कल्कैः श्लक्ष्णपिष्टः
 सलवणैर्युक्तं पूर्वोक्तं पिच्छावस्तिं सन्निधापयेत् प्रयोजयेत् ॥ ५६ ॥

गङ्गाधरः—तस्मिन् दत्तपिच्छावस्तौ प्रत्यागते गुदान्निर्गते सुखे जाते
 स्नातं, दिनात्यये कृताहारं, सुखोष्णेन विल्वतैलेन मतिमाननुवासयेत् ।

च यष्टितण्डुलात् ग्राहयन्ति । वाते प्रतिहत इति बद्धे वाते । उपसेवनैरिति व्यञ्जनैः । पूर्वोक्त-
 मम्लसर्पिरिति चाङ्गेरीकोलदध्यम्लेत्यादिनोक्तम् ॥ ५५ ॥

चक्रपाणिः—पिच्छावस्तिं प्रयोजयेदिति यदुक्तं तत्रापि पिच्छावस्तेर्विशेषणमाह पिप्पल्यादि-
 कल्कैर्युक्तं सन्निधापयेदिति ॥ ५६ ॥

अथवा
 तैलं च
 गङ्गा

स्वस्था
 पकाश
 मारुतं
 जयेत्
 त्रयाण
 भवेत्
 लक्षण

चक्र
 वचान्तै

चक्र

त्वरया

वायुः कु

पातचि

सिदोष

निराम

सिदोष

वचान्तैरथवा कल्कैस्तैलं पत्तवानुवासयेत् ।

बहुशः कफवातार्त्तस्तथा स लभते सुखम् ॥ ५७ ॥

स्वस्थाने मारुतोऽवश्यं वर्द्धते कफसंक्षयात् ।

विवृद्धः सहसा हन्यात् तस्मात् तं त्वरया जयेत् ॥

वातस्यानु जयेत् पित्तं पित्तस्यानु जयेत् कफम् ।

त्रयाणां वा जयेत् पूर्वं यो भवेद् बलवत्तरः ॥ ५८ ॥

अथवा वचान्तैः विल्वकर्कटिकामुस्तमभयाविश्वभेषजम् वचेत्यन्तैः कल्कः
तैलं चतुर्गुणजले पत्तवानुवासयेदिति । अस्याशोः बहुश इत्यादि ॥ ५७ ॥

गङ्गाधरः—कफातिसारचिकित्सितमुक्त्वा सन्निपातचिकित्सामाह—
स्वस्थान इत्यादि । त्रिदोषजातिसारे पूर्व्व कफसंक्षयान्मारुतः स्वस्थाने
पकाशयेऽवश्यं वर्द्धते, विवृद्धश्च मारुतः सहसा तमातुरं हन्यात् तस्मात् तं विवृद्धं
मारुतं त्वरया जयेत् । वातस्य जयादनु पित्तं जयेत् । पित्तस्य जयादनु कफं
जयेत् । यदि कफक्षयो न भवति मारुतश्च न वर्द्धते तदा यत् कुर्यात् तदाह—
त्रयाणामित्यादि । त्रयाणां दोषाणां मध्येऽतिसाररोगे यो बलवत्तरो दोषो
भवेत् तं दोषं पूर्व्वं जयेदिति । भयशोकजयोर्वातचिकित्सितं कुर्यात् वात-
लक्षणत्वाद् वातप्रकोपाच्च । इति तन्न प्रोक्तमिति ॥ ५८ ॥

चक्रपाणिः—विल्वतैलेनेति सिद्धौ दशमूलं बलारास्नेत्यादिना वक्ष्यमाणं विल्वतैलम् ।
वचान्तैरिति पिप्पलीविल्वकुष्ठानां शताह्वावचयोरित्यत्रोक्तैर्वचान्तैः ॥ ५७ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति सर्वोतिसारेषु पकाशयव्यापकत्वेन वायुवृद्धिर्भवति, सा चाशुकारितया
त्वरया जेतव्येति दर्शयन्नाह स्वे स्थाने इत्यादिना । कफसंक्षयादित्यनेन कफसंक्षये रुक्षशरीरतया
वायुः कुप्यति श्लेष्मशोणिते वृद्धे शरीरवायुः विवृतप्रसवो भवति इति । पूर्व्वं उवराध्याये सन्नि-
पातचिकित्सायां कफस्थानानुपूर्व्या वा इत्यनेन कफपित्तवातादीनां क्रमेण चिकित्सा अतीसारेऽपि
स्त्रिदोषजे कदाचित् स्यादित्याशङ्क्य अत्र विशिष्टं क्रममाह—वातस्यान्वित्यादि । अयञ्च क्रमो
निरामसन्निपातातिसारे एव ज्ञेयः । सामे तु प्रथममामस्यैव चिकित्सितं कर्त्तव्यम् । सम-
स्त्रिदोषातिसारचिकित्साक्रममभिधाय विषमस्त्रिदोषातिसारचिकित्साक्रममाह त्रयाणामिति ॥ ५८ ॥

तत्र श्लोकः ।

प्रागुत्पत्तिर्निदानानि लक्षणं साध्यता न च ।

क्रिया चावस्थिकी सिद्धा निदिष्टा ह्यतिसारिणाम् ॥ ५६ ॥

अग्निवेशकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते

चिकित्सितस्थानेऽतिसारचिकित्सितं नाम

एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थ संग्रहीतुमाह—तत्र श्लोक इति । प्रागुत्पत्ति-
रित्यादि ॥ ५९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव च ।

चिकित्सितेऽतिसारस्य त्वेकोनविंश एव तु । अध्याये गङ्गाधरेण जल्प-
कल्पतरौ कृते । षष्ठस्कन्धे तच्चिकित्सा-स्थानजल्पेऽतिसारिणः ।

चिकित्सितजल्पो नाम शास्त्रेऽपैकोनविंशिकी ॥ १९ ॥

चक्रपाणिः—प्रागुत्पत्तीत्यादिना अध्यायार्थसंग्रहः ॥ ५९ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामयुर्वेददीपिकायां

चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां अतिसारचिकित्सितं

नाम ऊनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः ।

अथातश्छर्दिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

यशस्विनं ब्रह्मतपोधृतिभ्यां *

ज्वलन्तमग्न्यर्कसमप्रभावम् ।

पुनर्वसुं भूतहितै निविष्टं

पप्रच्छ शिष्योऽत्रिजमग्निवेशः ॥

याश्छर्दयः पञ्च पुरा त्वयोक्ता

रोगाधिकारे भिषजां वरिष्ठ ।

तासां चिकित्सां सनिदानलिङ्गां

यथावदाचक्ष्व हताय नृणाम् ॥ २ ॥

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य

प्रीतो भिषक्श्रेष्ठ इदं जगाद ।

याश्छर्दयः पञ्च पुरा मयोक्ता-

स्ता विस्तरेण ब्रुवतो निबोध ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—उद्दिष्टानुक्रमेणातिसारचिकित्सितानन्तरं छर्दिचिकित्सितम्
आह—अथात इत्यादि । सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—यशस्विनमित्यादि । ब्रह्मणस्तपश्च धृतिश्च ताभ्याम् । प्रश्नमाह—
य इत्यादि । पुरा त्वया याः पञ्च छर्दयः प्रोक्ता अष्टोदरीये पञ्च छर्दय
इत्युद्दिश्य, पञ्च छर्दय इति द्विष्टान्नसंयोगवातपित्तकफसन्निपातोद्रेका इति,
तासां पञ्चानां छर्दीनाम् ॥ २ । ३ ॥

चक्रपाणिः—शरीरे मार्गद्वयं प्रधानं अधोगुदमूर्द्धं मुखम्, तदधोमार्गीतिप्रवृत्तिदोषमतीसार-
मभिधाय ऊर्ध्वीतिप्रवृत्तिदोषरूपा छर्द्दिच्यते इति छर्दयध्यायसम्बन्धः ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—ब्रह्मणः तत्त्वज्ञानस्य तपसश्च इयती, ताभ्यां ज्वलन्तम् । रोगाधिकारे इत्यष्टो-
दरीये ॥ २ । ३ ॥

* ब्रह्मतपोधृतिभ्यामिति चक्रसम्मतः पाठः ।

दोषैः पृथक् त्रिप्रभवा चतस्रो
 द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात् ।
 तासां हृदुत्वलेशकफप्रसेकौ
 द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम् ॥ ४ ॥
 व्यायामतीक्ष्णौषधशोकरोग-
 भयोपवासाद्यतिकर्षितस्य ।
 वायुर्महास्रोतसि संप्रवृद्धः
 उत्त्वलेश्य दोषांस्तत ऊर्द्धमस्यन् ।
 आमाशयोत्त्वलेशकृताश्च मर्म
 प्रपीडयंश्छर्दिमुदीरयेत् तु ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—पुरा याः पञ्च छर्दय उक्तास्ता एव पुनः स्मारयन्नाह—
 दोषैरित्यादि । पृथग्दोषैस्त्रिस्रश्च त्रिप्रभवा चैकेति ताश्चतस्रश्छर्दयः पञ्चमी
 छर्दिद्विष्टार्थयोगादिति । तासां पञ्चानां छर्दीनां पूर्वरूपं हृदुत्वलेशश्च
 कफप्रसेकश्च अशने द्वेषश्चैव ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—वातजछर्दिर्निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिं वक्तुं निदानमाह—
 व्यायामेत्यादि । व्यायामाद्यतिकर्षितस्य महास्रोतसि गलोदरस्रोतसि संप्रवृद्धो

चक्रपाणिः—पृथक् वातादिषु त्रिषु च मिलितेषु प्रभवः उत्पत्तिर्यासां ताः पृथक्त्रिप्रभवा-
 श्रतस्तः । द्विष्टार्थयोगादप्येतत् द्विष्टशब्देन प्रतीपाशुचिपूत्यादयोऽपि द्वेष्यतया गृह्यन्ते । द्विष्ट-
 प्रतीपेत्यादौ वक्ष्यमाणा द्विष्टार्थछर्दिनिदाने द्विष्टशब्देन गोबलीवर्हस्यायात् प्रतिपुरुषनियतद्विष्टत्व-
 मुच्यते, तेनेह उक्तार्थशब्देन प्रतिपादिता छर्दिरुच्यते । यद्यपि हेत्वभिधानपूर्वकं पूर्वरूपाभिधानं
 युज्यते हेतुत्तरकालभावितादेव पूर्व रूपस्य, तथाप्यल्पवक्तव्यत्वात् तासामित्यादिना पूर्वरूपमाह ।
 पूर्वरूपं लिङ्गात्पत्वाद्भ्यते । एवमन्यत्रापि साक्षात्सूचितपूर्वाभिधानेन ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—व्यायामेत्यादिना वातजहेतुमाह । महास्रोतसीति कोष्ठे । दोषानिति
 बहुवचनं बहूनां उत्त्वलेशनीयानां विद्यमानत्वात् रक्तादेरपि छर्द्यादिदोषशब्देनाभिधानात् ।
 ऊर्द्धक्षिपणं आमाशयोद्रेकेण उदीरितो वायुरेव । किंवा आमाशयोद्रेगकृतान् इति द्वितीया-
 बहुवचनं दोषानित्यस्य विशेषणम् । मर्मैति हृदयम् ॥ ५ ॥

हृत्पार्श्वपीडामुखशोषमूर्च्छा-
 नाभ्यर्त्तिकासस्वरभेदतोदैः ।
 उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं
 विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम् ।
 कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगे-
 नात्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम् ॥ ६ ॥
 अजीर्णकटुम्लविदाह्यशोतै-
 रामाशये पित्तमुदोर्णवेगम् ।
 रसायनीभिर्विस्तृतं प्रपीड्य
 मम्मोर्च्छमागम्य वमिं करोति ॥ ७ ॥
 मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्च्छा-
 ताल्वन्निशान्तापतमोभ्रमार्त्तः ।
 पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं
 धूम्रञ्च पित्तेन वमेत् सदाहम् ॥ ८ ॥

वायुर्दोषानुत्क्रिश्य ऊर्द्धमस्यन् निक्षिपन् मर्मं हृदयादि प्रपीडयन्नामाशयोत्-
 क्लेशकृतां छर्दिम् उदीरयेत् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—वातजच्छर्दिलक्षणमाह—हृत्पार्श्वेत्यादि । हृत्पार्श्वयोः पीडा,
 मूर्च्छनाभ्योर्त्तिः । वमनकाले प्रबल उद्गारशब्दो यत्र तथाविधं छद्दयतीति
 क्रियाविशेषणम् । यद्वस्तु छद्दयति तद् विच्छिन्नकृष्णवर्णं तनुकमघनमल्पञ्च
 महता वेगेनार्त्तः सन्, कृच्छ्रेण छद्दयति वातात् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—पित्तजच्छर्दं निर्दानपूर्वकं सम्प्राप्तिमाह—अजीर्णेत्यादि । अशीत-
 मुष्णम् । रसायनीभिः रसवाहिनीभिर्धमनीभिर्विस्तृतं विसारि सत् मर्मं
 प्रपीड्य वक्षः प्रपीड्य ऊर्द्धमागम्य वमिं करोति जनयति । मूर्च्छेत्यादि
 पित्तजवमिलक्षणम् । पीतमित्यादि विशेषणं तस्य यद्वस्तु वमति ॥ ७ ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—कषायमिति कषायरसं कषायवर्णं वा ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—अजीर्णेत्यादिना पित्तजायाः हेतुलक्षणे ब्रूते । अजीर्णेति अजीर्णे भोजनम् ।
 रसायनीभिरिति स्रोतोभिः ॥ ७ ॥

स्निग्धातिगुर्वामविदाहिभाज्यः

स्वप्नादिभिश्च कफोऽतिवृद्धः ।

उरः शिरो मर्म रसायनीश्च

सर्वाः समावृत्य वमिं करोति ॥ ९ ॥

तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेक-

सन्तोषनिद्रारुचिगौरवार्तः ।

स्निग्धं घनं स्वादु कफं विशुद्धं

सलोमहर्षोऽल्परुजं वमेत् तु ॥ १० ॥

समश्नतः सर्वरसान् प्रसक्त-

मामप्रदोषत् विपर्ययैश्च ।

गङ्गाधरः—स्निग्धेत्यादि कफजच्छर्देर्निदानानि स्वप्नादिभिरित्यन्तानि ।
मर्म हृदयं रसायनी रसवाहिनीधमनी सप्तशती ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—निदानपूर्वकसम्प्राप्तिमुक्त्वा कफजच्छर्देर्लिङ्गान्याह — तन्द्र-
त्यादि । सन्तोषस्तृप्तिवदभ्यवहारानिच्छुता । स्निग्धमित्यादि यद्वपति तद्वस्तु-
विशेषणम् । अल्परुजमिति क्रियाविशेषणम् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—त्रिदोषजच्छर्देर्निदानपूर्वकसम्प्राप्तिमाह—समश्नत इत्यादि ।
समश्नतः समशनं कुर्वतः । समशनमुक्तं ग्रहणीचिकित्सिते—पथ्यापथ्य-
मिहैकत्र भुक्तं समशनं मतमिति । सर्वरसानां प्रसक्तं निरन्तरं समशनं

चक्रपाणिः—सूदति तापेन संबध्यते । धूम्रं धूम्रवर्णम् ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—स्निग्धेत्यादिना कफजमाह ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—सन्तोषोऽत्र तृप्तिः । अन्ये तु सन्तोषो मानस एव अत्र व्याधिप्रभावाद्
भवति । अल्परुजमिति क्रियाविशेषणम् ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—समश्नत इत्यादिना त्रिदोषजमाह । समश्नतः सर्वरसानिति पथ्यापथ्यमेलक-
रूपतया भजतः । उक्तं हि 'पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतमिति, न तु सर्वरसान्

सर्वे प्रकोपं युगपत् प्रपन्ना-
 र्छर्द्दि त्रिदोषां जनयन्ति दोषाः ॥ ११ ॥
 शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णा-
 श्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम् ।
 छर्द्दि स्त्रिदोषाल्लवणाम्लनील-
 सान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ॥ १२ ॥
 विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः
 स्रोतांसि संरुध्य यदोद्धर्मेति ।
 उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं
 दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥
 विण्मूत्रयोस्तत्समगन्धवर्णं
 तृट्श्वासहिकार्त्तियुतं प्रसक्तम् ॥
 प्रच्छर्द्दयेद्दुष्टमिहातियोगात्
 तयार्द्दि तश्चाशु विनाशमेति ॥ १३ ॥

कुर्वतो नरस्यामान्नप्रदोषेण ऋतुविपर्ययैश्च सर्वदोषा युगपत् प्रकोपं प्रपन्नाः
 त्रिदोषां छर्द्दि जनयन्ति ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—लिङ्गान्याह—शूलेत्यादि । शूलादीनि प्रबलानि यत्र सा प्रसक्तं
 निरन्तरं लवणादिरूपं वस्तु वमतां नृणां छर्द्दिस्त्रिदोषात् स्यात् ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—एतामसाध्यामाह—विट्स्वेदेत्यादि । उत्सन्नदोषस्य उद्गत-
 त्रिदोषस्य नरस्य यस्मात् यदा वायुर्विडादिवहानि स्रोतांसि संरुध्य तेषां विडा-
 दीनामधःप्रवृत्तिपथं रुद्ध्वा ऊर्द्धमेति तत्तस्मात् तदा तस्योत्सन्नत्रिदोषस्य तस्य
 नरस्य समाचितं तं दोषं सपित्तं कफं विण्मूत्रयोः समगन्धवर्णं दुष्टं कोष्ठादुद्धूय
 भुञ्जानस्येत्यर्थः । सर्व्वरसभोजनं हि पथ्यमेव । तेनेह तस्य त्रिदोषकर्त्तृत्वं न स्यात् ।
 प्रसक्तमिति निरन्तरम् । आमस्य वा प्रदोषः आमप्रदोषः ॥ ११ । १२ ॥

चक्रपाणिः—विट्स्वेदेत्यादिना उपद्रवयुक्तं छर्द्दिम् उपद्रवादसाध्यामाह । विण्मूत्रयोस्तत्-
 समगन्धवर्णं छर्द्दयतीति वायुना विण्मूत्रस्रोतसां दूषितत्वाज्ज्ञेयम् ॥ १३ ॥

द्विष्टप्रतीपाशुचिपूत्यमेध्य-

वीभत्सगन्धाशनदर्शनैश्च ।

यच्छर्दयेत् तप्तमना मनोघ्ने-

द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा ॥ १४ ॥

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता

सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता ।

ऊर्द्धं गमयित्वा प्रसक्तमविच्छेदेन तथा तृडादियुक्तमतिवेगात् प्रच्छर्दयेत् प्रच्छर्दि कारयेत् तथा छर्द्दऽर्दितः पुमानाशु विनाशमेति । त्रिदोषहेतुमन्तरेण नैवं छर्दिरेकादिदोषेण सम्भवति । न हि सर्वांसु वातजादिषु छर्दिषु वायु-रूर्द्धवेगो भवति तदितरदोषसमाचयश्च वर्तते इति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—आगन्तुच्छर्दिवचनानन्तरं सर्व्वछर्द्दसाध्यताया वक्ष्यमाणत्वाच्च आगन्तुच्छर्दिमाह—द्विष्टेत्यादि । यद् यत् पुरुषो द्वेष्टि तत्तद्द्रव्यं द्विष्टं प्रतीपं सात्त्विकविपरीतमशुचि द्रव्यं घृणाकरं पूति दुर्गन्धि द्रव्यं अमेध्यं मनःप्रतिकूलं वीभत्सं विकृतम् । तेषां गन्धेनाशनेन दर्शनेन च मनोघ्नेन तप्तमना उद्विग्नमना यच्छर्दयेत् सा छर्दिद्विष्टार्थसंयोगभवा पञ्चमी मता । एतेन तद्युक्तं यद्व्याख्यायते—“वीभत्सजा दौर्हृदजामजा च असात्त्विकजा च क्रिमिजा च या हि । सा पञ्चमी ताश्च विभावयेच्च दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्त-मादौ” इति वचनेन सा पञ्चमीति वीभत्सजाद्यपेक्षया क्रिमिजा पञ्चमी, तामादौ यथोक्तं दोषोच्छ्रयेण विभावयेदिति । क्रिमिजा हि छर्दिरिहागन्तुजायां नाभिहिता स्वप्नादिभिः कफच्छर्दिहेतुभिरुद्धः कफो यच्छर्दि करोति तत्रादि-पदेन क्रिमिरपि कफस्थानज उपसंगृहीतः । इति न न्यूनता । येन तु क्रिमिजा पृथगुक्ता क्रिमिप्रत्यनोकचिकित्साकरणज्ञापनाथमिति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अथ सर्वांसामसाध्यतामाह—क्षीणस्येत्यादि । व्याध्यादिभिः

चक्रपाणिः—द्विष्टेत्यादिना द्विष्टजामाह । द्विष्टादयो गन्धेनाशनेन दर्शनेन च यथायोग्यतया संबध्यते । अशनं भक्षणम् । द्विष्टं प्रतिपुरुषाप्रोतिजनकम् । प्रतीपं वचादि । केचित् प्रतीपं वातमाहुः । अशुचि उच्छिष्टम्, अमेध्यं मलिनम्, वीभत्सं जुगुप्सितम् । मनोघ्ने-रित्यनेन द्विष्टादीनां मध्ये यत्किञ्चित् पुरुषं प्राप्य अशुच्यादि मनोघ्नं न भवति तं प्रति तच्छर्दि कारकं न भवति मनोऽनुपघातकत्वादिति सूचयति ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—असाध्यलक्षणयुक्तां छर्दिं परित्यागार्हमाह—क्षीणस्येत्यादि । अतिप्रवृद्धा

सचन्द्रिकां तां प्रवदेदसाध्यां
 साध्यां चिकित्सेदनुपद्रवाञ्च ॥ १५ ॥
 आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वा-
 श्छर्द्दो मता लङ्घनमेव तस्मात् ।
 प्राक् कारयेन्मारुतजां विमुच्य
 संशोधनं वा कफपित्तहारि ॥ १६ ॥
 चूर्णानि लिह्यान्मधुनाभयानां
 हृद्यानि वा यानि विरेचनानि ।
 मद्यैः पयोभिश्च युतानि युक्त्या
 नयन्त्यधो दोषमुदोर्णमूर्द्धम् ॥ १७ ॥

शोणस्यातिप्रसक्ता निरन्तरप्रबलत्वेन लग्ना या कासादुपद्रवयुक्ता च या या च
 शोणितपूययुक्ता तां सचन्द्रिकां मेदःप्रभृतिधातुर्मयूरपुच्छचन्द्रकवत् प्रतिभाति
 सा चन्द्रिका तदयुक्तामसाध्यां प्रवदेत् । अनुपद्रवां कासादुपद्रवहीनां
 साध्यां वातादिजान्यतमां चिकित्सेत् । इति छर्द्दिनिदानम् ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—अथ साध्यायाश्छर्द्देश्चिकित्सितमाह—आमाशयेत्यादि । आमा-
 शयः कफस्थानं तदुत्क्लेशभवत्वादादौ सर्वासु छर्द्दिषु लङ्घनम् । अथवा
 वातजां छर्द्दिं विना सर्वासु कफपित्तहारि संशोधनं वमनविरेचनं कारयेत्
 मारुतजायां लङ्घनमेव ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—चूर्णानीत्यादि । कफपित्तहारीणि विरेचनानि अभयानां
 इति सदानुवद्धा । सोपद्रवेत्यत्र विट्स्वेदेत्यादिना रोगोपद्रवा ज्ञेयाः । सचन्द्रिकामिति दत्त-
 स्नेहमण्डलाकारयुक्ताम् ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—आमाशयेत्यादिना साध्यानां चिकित्सामाह । यस्मादामाशयोत्क्लेशात्
 सर्वाश्छर्द्दयो भवन्ति, आमाशयोत्थे च रोगे लङ्घनादि कफहरं भेषजं युक्तम्, तस्मात्
 लङ्घनमेव कर्तव्यमिति भावः । लङ्घनं चाल्पदोषविषयं शोधनञ्च बहुदोषविषयमिति व्यवस्था ।
 संशोधनशब्देन चेह विरेचनवमने अपि गृह्येते । अन्ये तु अत्र संशोधनशब्देन प्रतिमार्ग-
 हरणतया अत्यर्थहितं विरेचनमेव वणयन्ति ॥ १६ ॥

चक्रपाणिः—संशोधनयोगानाह—चूर्णानीत्यादि ॥ १७ ॥

वल्लीफलाद्यैर्वमनं पिवेद् वा
 यो दुर्बलस्तं शमनैश्चिकित्सेत् ।
 रसैर्मनोज्ञैर्लघुभिर्विशुष्कै-
 र्भक्ष्यैः सभोज्यैर्विविधैश्च पानैः ॥ १८ ॥
 सुसंस्कृतास्तित्तिरिर्वाहिलाव-
 रसा व्यपोहन्यनिलप्रवृत्ताम् ।
 छद्दि तथा कोलकुलत्थधान्य-
 वित्त्वादि-मूलांम्लयवैश्च यूषः ॥ १९ ॥

वातात्मिकायां हृदयद्रवार्तः कामं पिवेत् सैन्धववद्घृतं वा ।
 सिद्धं तथा नागरधान्यकाभ्यां दध्ना च तोयेन च दाडिमस्य ॥

चूर्णानि मधुना लिह्यात् । एवं यानि हृद्यानि कफपित्तहारीणि विरेचनानि तानि
 मदेतः पयोभिश्च घृतानि युक्त्या सेवितानि ऊर्द्धमुदीर्णं दोषमधो नयन्ति ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—वल्लीत्यादि । कफपित्तहारि वमनन्तु वल्लीफलादौ रसित्कालाव-
 प्रभृतिभिः पिवेत् । यो दुर्बलस्तं छद्दि रोगात् शमनैश्चिकित्सेत् । शमनार्थमाह ।
 लघुभिर्मनोज्ञैर्मनोसरसैर्लघुभिरेव विशुष्कैर्भक्ष्यैरपूपादिभिः । विविधश्च लघु-
 भिरेव सभोज्यैः सान्नपेयादिभिः पानैश्चिकित्सेत् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—तत्र लघुमांसरसकार्यमाह—सुसंस्कृता इत्यादि । घृतादिना
 भृष्टा मरिचजीरकादिबुक्ताः । तथा कोलादिभिर्यूषोऽनिलप्रवृत्तां छद्दि
 व्यपोहतीति । वित्त्वादि पञ्चमूलं मूलांम्लं काञ्जिकाधःस्थितकिट्टं यवान्तैः
 साधनैर्द्रव्यैः कुलत्थो यूषः कार्यः ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—वातात्मिकायामित्यादि । हृदयद्रवः वक्षसि धग्धक्कृतस्पन्दः ।
 सैन्धववद्घृतं सैन्धवमिश्रितं चतुर्गुणजले सिद्धं घृतं यथेच्छं पिवेत् । तथा
 नागरधान्याभ्यां कल्काभ्यां चतुर्गुणेन दध्ना सिद्धं घृतं ना पिवेत् । दाडिमस्य

चक्रपाणिः—फलाद्य रिति फलानि जीमूतेक्ष्वाकुप्रभृतीनि पठितानि, तः । शमनैरिति
 दोषनिवर्हणं विना दोषसाम्यकरैः । उक्तं हि पुष्कलावते—‘न शोधयति यद्दोषान् समान्
 मोदीरयत्यपि । समीकरोति विषमान् तत् शमनमुच्यते’ इति ॥ १८ ॥

चक्रपाणिः—सुसंस्कृता इत्यादिना वैशेषिकी वातजा चिकित्सा उच्यते ॥ १९ ॥

व्योषण युक्तां लवणैस्त्रिभिश्च तस्यैव मात्रामथवा प्रदद्यात् ।
 स्निग्धानि हृद्यानि च भोजनानि रसैः स्यूषैर्दधिदाडिमैश्च ॥२०॥
 पित्तात्मिकायां त्वनुलोमनार्थं द्राक्षाविदारीक्षुरसैस्तिवृत् स्यात् ।
 कफाशयस्थं त्वतिमात्रवृद्धं पित्तं हरेत् स्वादुभिरुद्धमेव ॥ २१ ॥

शुद्धाय काले मधुशर्कराभ्यां
 लाजैश्च मन्थं यदि वापि पेयाम् ।
 प्रदापयेन् मुद्गरसेन वापि
 शाल्योदनं जाङ्गलजैरसैर्वा ॥ २२ ॥

तोयेन दाडिमफलरसेन सिद्धं घृतं नापिवेत् । अथवा तस्यैव दाडिमरससिद्धस्य
 घृतस्य मात्रां व्योषयुक्तां त्रिभिर्लवणैः सौवर्चलसैन्धवविडलवणैश्च युक्तामनु-
 रूपेण मिलितां वातच्छर्द्यां प्रदद्यात् । भोजनान्यन्नानि स्निग्धानि हृद्यानि
 मण्डपेयादीनि वातहरहृद्यद्रव्यसाधितानि लघुभिर्मांसरसैर्यूषैर्दधिभिर्दाडिमैश्च
 प्रदद्यादिति वातजच्छर्दिचिकित्सितम् ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—अथ पित्तच्छर्दिचिकित्सितमाह—पित्तात्मिकायामित्यादि ।
 द्राक्षारसैर्विदारीरसैरिक्षुरसैर्वा युक्ता चूर्णिता त्रिवृत् पित्तच्छर्द्यामनुलोमनार्थं
 स्यात् । कफाशयस्थमतिमात्रवृद्धपित्तन्तु स्वादुभिरुद्धं हरवमनद्रव्यैरुद्धं हरेत्
 वामयेत् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—शुद्धायेत्यादि । अनेन विधानेन शुद्धाय पित्तच्छर्दियुक्ताय
 काले बुभुक्षायां जातायां लाजैश्चूर्णीकृतैर्द्रवणालोडितैर्मन्थं मधुशर्कराभ्यां
 यथायोग्यं प्रदापयेत् । अथवा लाजैः पेयां मधुशर्कराभ्यां युक्तां प्रदापयेत् ।
 अग्निबलाधिक्ये मुद्गरसेन शाल्योदनं प्रदापयेदथवा जाङ्गलमांसजरसैः
 शाल्योदनं प्रदापयेत् ॥ २२ ॥

चक्रपाणिः—सैन्धववदिति सैन्धवप्रक्षेपम् । तोयेन च दाडिमस्य इति दाडिमरसेन ।
 व्योषणेत्यादौ व्योषादीनां घृतमात्रायां प्रक्षेपार्थम् ॥ २० ॥

चक्रपाणिः—कफाशयस्थमिति कफस्थानस्थम् । आमाशयोद्धभागो वक्षः, तत्स्थं हरेत् ।
 ऊर्द्धमेवेति वमनेनैव हरेत् ॥ २१ ॥

चक्रपाणिः—यदि वापि पेयामिति मन्दाग्निं प्रति पेया ज्ञेया ॥ २२ ॥

सितोपलामाक्षिकपिप्पलीभिः

कुल्माषलाजायवसक्तुगृञ्जान् ।

खज्जूरमांसान्यथ नारिकेलं

द्राक्षामथो वा वदराणि लिह्यात् ॥

स्रोतो जलाजोत्पलकोलमज्ज-

चूर्णानि लिह्यान्मधुनाभयां वा ।

कोलास्थिमज्जाञ्जनमक्षिकाविड्-

लाजासितामागधिकाकणा वा ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—सितोपलेत्यादि । कुल्माषलाजयवानां सक्तून् गृञ्जनचूर्णं मिश्रयित्वा पिप्पल्या सह युक्तं सितोपलामधुभ्यां लिह्यात् । खज्जूरमांसानि खज्जूरस्य कोमलमस्तकानि पिप्पल्या सहितानि पेषयित्वा सितोपलामधुभ्यां लिह्यात् । अथ नारिकेलं पिप्पलीसहितं पेषयित्वा सितोपलामधुभ्यां लिह्यात् । एवं द्राक्षां पिप्पलीयुक्तां पेषयित्वा सितोपलामधुभ्यां लिह्यात् । अथवा वदराणि शुष्काणि पिप्पलीयुक्तानि पिष्ट्वा सितोपलामधुभ्यां लिह्यादेवं प्रत्येकेन सह योजनार्थं तृतीयान्तपदं सितोपलामाक्षिकपिप्पलीभिरिति प्रयुक्तम् । कुल्माषश्चणकः पित्तविकारे यौगिकः । “स्याद् यावकस्तु-कुल्माष” इति वनमाषस्य पर्यायः नतु कुलत्थपर्याययावकः कुल्माषश्चेति । कुलत्थस्य पित्तवर्द्धकत्वेन पित्तच्छद्वाभयौक्तिकलात् । कुलत्थः कफवातघ्नो ग्राहुराणस्तुवरः कटुरित्युक्तः । स्रोतो जेत्यादि । स्रोतो जो रसाञ्जनम्, रसाञ्जनादीनां चूर्णानि मिलितानि मधुना लिह्यात् । अभयां वा मधुना लिह्यात् । कोलास्थिमज्जेत्यादीनि षाण्मिलितान्येकयोगः । मक्षिकाणां विट मागधिकानां कणास्तण्डुलान् मधुना लिह्यादिति पूर्व्वेणान्वयः ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—कुल्माषलाजायवसक्तुगृञ्जानिति पिष्टकृता भक्ष्याः । पारियात्रास्तु मुद्गान् मसूरानुत्खिन्नसूदितान् कुल्माषानाहुः । गृञ्जः समण्डो यवौदनः । खज्जूरमांसानीति खज्जूरफलमज्जा । खज्जूरेत्यादौ लिह्यादित्यत्र सितोपलामाक्षिकपिप्पलीत्यनुवर्त्तनीयम् । स्रोतो जं स्रोतोऽञ्जनम् । कोलमज्जा कोलाभ्यन्तरम् । अभयां वेत्यत्रापि मधुना लिह्यादिति संबध्यते । कोलास्थीत्यादावपि मधुना लिह्यादित्यनुवर्त्तते ॥ २३ ॥

द्राक्षारसं वा प्रपिबेत् सुशीतं
 मृदुमृष्टलोष्टप्रभवं जलं वा ।
 जम्ब्वाम्रयोः पल्लवजं कषायं
 पिबेत् सुशीतं मधुसंयुतं वा ॥
 निशि स्थितं वारि समुद्रकृष्णं
 सोशीरधान्यं चणकोदकं वा ।
 गवेधुकामूलजलं गुडूच्याः
 जलं पिबेदिक्षुरसं पयो वा ॥ २४ ॥
 सेव्यं पिबेत् काञ्चनगैरिकं वा
 सवालकं तण्डुलधावनेन ।
 कल्कं तथा चन्दनसेव्यमांसी-
 द्राक्षोत्तमावालकगैरिकाणाम् ॥

गङ्गाधरः—द्राक्षत्याद । द्राक्षाया रसं काथ सुशीतं प्रपिबेत् । अथवा
 मृष्टमृत्तिकालोष्ट्रं जले निर्व्वाप्य शीतं कृत्वा प्रपिबेत् । जम्ब्वाम्रयोर्द्वयोर्नतु
 प्रत्येकम् । निशीत्यादि । मुद्रपिप्पलीभ्यां सह निशि स्थितं वारि पिबेत् ।
 उशीरधान्यकाभ्यां सह चणकं जले क्षिप्त्वा निशि स्थितं यदुदकं तद् वा
 पिबेत् । गवेधुकानां क्षुद्रगोधूमानां मूलं जले निशि स्थितं यज्जलं
 तज्जलं वा पिबेदेवं गुडूच्या जलं निशि स्थितं पिबेत् । इक्षुरसं वा
 पयो वा पिबेत् ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—सेव्यमित्याद । सेव्यमुशीरं चूर्णीकृत्य तण्डुलधावनेन
 जलेन पिबेत् । काञ्चनगैरिकं स्वर्णगैरिकं वालकचूर्णसहितं वा तण्डुल-
 धावनेन पिबेत् । चन्दनादीनां सप्तानां कल्कं तण्डुलधावनेन तथा पिबेत् ।

चक्रपाणिः—मृदुमृष्टलोष्ट्रजलं वेति मृन्मयलोष्ट्रनिर्व्वपणभवं जलमित्यर्थः । समुद्रकृष्णं
 पिप्पलीमुद्रसहितम् । निशि स्थितमित्यादौ सोशीरधान्यमिति द्वितीयः । चणकश्चेति
 तृतीयो योगः, तथा गवेधुका । योगद्वयेऽपि शीतकषायविधिर्ज्ञेयः ॥ २४ ॥

चक्रपाणिः—काञ्चनगैरिकमिति गैरिकं काञ्चनवर्णम् । सवालकं तण्डुलधावनेनेति
 विधानं सेव्यं पिबेदित्यनेन तथा काञ्चनगैरिकञ्चेत्यनेन च द्वितीययोगे संबध्यते ।

शीताम्बुना गैरिकशालिचूर्णं
 मूर्वा तथा तण्डुलधावनेन ।
 धात्रीरसेनोत्तमचन्दनं वा
 स्युश्छर्दितृष्णासु समाक्षिकाणि ॥ २५ ॥
 कफात्मिकायां वमनं प्रशस्तं
 सपिप्पलोसर्षपनिम्बतोयैः ।
 पिण्डीतकैः सैन्धवसंप्रयुक्त-
 श्छर्द्दां कफामाशयशोधनार्थम् ॥ २६ ॥
 गोधूमशालीन् सयवान् पुराणान्
 यूषैः पटोलाभृतचित्रकाणाम् ।
 व्योषस्य निम्बस्य च तक्रसिद्धै-
 र्यूषैः फलाम्लैः कटुभिस्तथाद्यात् ॥

अत्र तूत्तमा प्रियङ्गुः । गैरिकं स्वर्णगैरिकम् । शीतेत्यादि । गरिकस्य
 शालेश्च चूर्णं मिलितं शीताम्बुना पिबेदिति पूर्व्वेण योजना । तथा मूर्वा
 चूर्णितां तण्डुलधावनेन पिबेत् । धात्रीरसेन आमलकीरसेनोत्तमचन्दनस्य
 श्वेतचन्दनस्य चूर्णं वा पिबेत् । छर्दितृष्णासु समाक्षिकाण्येतानि गैरिक-
 शालिमूर्वात्तमचन्दनानां चूर्णानि स्युः ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—इति पित्तच्छर्दिचिकित्सितमुक्त्वा कफच्छर्दिचिकित्सितमाह—
 कफात्मिकायामित्यादि । पिप्पलीसर्षपनिम्बानां तोयैः सहितैः पिण्डीतकै-
 र्मदनफलकल्कैः सैन्धवसंप्रयुक्तैर्यथायोग्यसैन्धवयुक्तैर्वमनं कफात्मिकायां छर्द्दां
 प्रशस्तं कफामाशययोः शोधनार्थमिति ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—गोधूमेत्यादि । पुराणान् गोधूमादीन् पटोलादीनां यूषै-
 स्तथा व्योषस्य तक्रसिद्धैर्यूषैर्निम्बस्य च तक्रसिद्धैर्यूषैस्तथा फलाम्लः
 द्राक्षोत्तमा गोस्तनी द्राक्षेत्यर्थः । उत्तमचन्दनं धवलचन्दनम् । समाक्षिकं शीतं पश्चादुक्त-
 त्विद्रव्याणि समाक्षिकाणि ॥ २५ ॥

चक्रपाणः—पिण्डीतकरिति मदनैः । कफामाशयशोधनार्थमिति कफस्यामाशयस्य च
 शोधनार्थम् । यद्यपि शालिगोधूमौ मधुरत्वयोगात् कफकरौ, तथापि पुराणतया न कफकरौ

मु
लि
स
दु
म
चौ

शु
रस
द्राक्ष

दीन
विड

वा
लिह

दुरा
रसम

कफ
छर्दि

इति
रागा
कपित

रसांश्च शूल्यानि च जाङ्गलानां
मांसानि जीर्णान् मधुसोध्वरिष्ठान् ।
रागांस्तथा षाड्वपानकानि
द्राक्षाकपित्थैः फलपूरकैश्च ॥ २७ ॥

मुद्गान् मसूरांश्चणकान् कलायान् भृष्टान् युतान् नागरमाक्षिकाभ्याम् ।
लिह्यात् तथैव त्रिफलाविडङ्ग-चूर्णं विडङ्गप्लवयो रसं वा ॥
सजाम्बवं वा वदरस्य चूर्णं मुस्तायुतां कर्कटकस्य शृङ्गोम् ।
दुरालभां वा मधुसंप्रयुक्तां लिह्यात् कफच्छर्दिनिग्रहार्थम् ॥
मनःशिलायाः फलपूरकस्य रसः कपित्थस्य च पिप्पलीनाम् ।
क्षौद्रेण चूर्णं मरिचैश्च युक्तं लिहन् जयेच्छर्दिमुदीर्णवेगाम् ॥ २८ ॥

शुष्ककोलादिभिस्तथा कटुभिरद्यात् । रसांश्चेत्यादि । जाङ्गलानां मांस-
रसांश्च शूल्यानि तेषां मांसानि शूलविद्धानि भट्टित्रीकृतानि जीर्णान् मध्वादीन्
द्राक्षादिभिः कृतान् रागान् षाड्वान् पानकानि चाद्यात् ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—मुद्गानित्यादि । नागरमाक्षिकाभ्यां युतान् भृष्टान् मुद्गा-
दीन् अद्यात् । एषामदनमुपकरणरूपेण ज्ञेयम् । लिह्यादिति । त्रिफला-
विडङ्गचूर्णं लिह्यान्मध्वादिना यथायोग्यम् । विडङ्गप्लवयो रसं काथं
वा पिबेत् । प्लवः कवर्त्तमुस्तकम् । जाम्बवचूर्णसहितं शुष्कवदरचूर्णं
लिह्यात् । मधुसंप्रयुक्तां मुस्तायुतां कर्कटशृङ्गीं लिह्यात् । मधुसंप्रयुक्तां
दुरालभां वा लिह्यात् । मनःशिलाया इत्यादि । फलपूरकस्य रसैः कपित्थस्य च
रसमनःशिलाया आर्द्रकरसभावनाभिः शोथितायाश्चूर्णं गुञ्जामात्रं लिहंश्छर्दिं
कफजां जयेत् । पिप्पलीनां चूर्णं मरिचैर्युक्तं क्षौद्रेण लिहन् कफजां
छदि जयेत् ॥ २८ ॥

इति कृत्वा कफच्छर्द्यां विहितौ । उक्तं हि—‘श्लेष्मलं मधुरं प्रायो जीर्णाच्छालियवाहते’ इति ।
रागाः कपित्थादिद्रव्यकृताः । मनःशिलायाश्चूर्णं क्षौद्रेण युतं फलपूरकरसैर्लिहन् तथा
कपित्थस्य रसैः पिप्पलीनां चूर्णं मरिचैश्च युक्तं क्षौद्रेण युतं लिहन्निति योजयेत् ॥ २३—२८ ॥

एषा पृथक्त्वेन च या क्रियोक्ता तां सन्निपातैऽपि समीक्ष्य बुद्ध्या ।
 रोगर्तुदोषाग्निबलान्यवेक्ष्य कुर्याद्भिषक् शास्त्रविदप्रमत्तः ॥ २६ ॥
 मनोऽभिघाते तु मनोऽनुकूला वाचः समाश्वासनहर्षणानि ।
 लोकप्रसिद्धाः श्रुतयो वयस्याः शृङ्गारयुक्ताश्च हिता विहाराः ॥
 गन्धा विचित्रा मनसोऽनुकूला मृतपुष्पयुक्ताम्रफलादिकानाम् ।
 शाकानि भोज्यान्यथ पानकानि सुसंस्कृताः षाड्वरागलेहाः ॥
 यूषा रसाः काम्बलिकाः खडाश्च मांसानि धाना विविधाश्च भक्ष्याः ।
 फलानि मूलानि च गन्धवर्णरसैरुपेतानि वमिं जयन्ति ॥
 गन्धं रसं स्पर्शमथापि शब्दं रूपञ्च यद् यत् प्रियमप्यसात्म्यम् ।
 तदेव दद्यात् प्रशमे हि तस्य तज्जो हि रोगः सुख एव जेतुम् ॥ ३०

गङ्गाधरः—एषेत्यादि । यषा भया छर्दिः पृथक्त्वेन वातादिजायाः क्रिया उक्ता शास्त्रविदप्रमत्तो भिषक् सन्निपातेऽपि छर्दिरोगे बुद्ध्या समीक्ष्य तां क्रियां रोगादीन्यवेक्ष्य कुर्यादिति ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—पञ्चमच्छर्दिचिकित्सामाह—मन इत्यादि । मनोऽभिघाते द्विष्टार्थसंयोगजातायां छर्द्यां लोकप्रसिद्धानां हर्षजनकाख्यायिकादीनामिति हासपुराणादुक्तानां श्रुतयः शृङ्गारयुक्ताः शृङ्गाररसोपयुक्ता विहारा न तु शृङ्गारः । गन्धेत्यादि । मनोऽनुकूला विचित्रा गन्धास्तथाम्रफलादीनां पुष्पयुक्ता मृत गन्धग्रहणे हिता इति । शाकानीत्यादि । मनसोऽनुकूला इत्यनुवर्तते । मनोऽनुकूलानि शाकानि मनोऽनुकूलानि भोज्यानि अथ एवं सर्वानि पानकादीनि मनोऽनुकूलानि विद्यात् । गन्धमित्यादि । गन्धादिकं यद् यत् प्रियमस्य नरस्यासात्म्यञ्च तदेव तस्य प्रशमे दद्यात् । कस्मात् ? हि यस्मात् तज्जो यस्य यत् प्रियमथ चासात्म्यं तदसात्म्यजो रोगस्तदसात्म्यस्य प्रियस्य गन्धादेर्दानेन जेतुं सुख एव भवति ॥ ३० ॥ (?)

चक्रपाणिः—यैषेत्यादिना सान्निपातिकी चिकित्सा उच्यते । समीक्ष्येति प्रत्यक्षीकृत्य । दोषर्तु रोगाग्निबलान्निरीक्ष्येति दोषादीनां बलं वीक्ष्य यद्बलवत् तत्प्रधानचिकित्सा कर्तव्या । रोगश्छर्दिरेव ॥ २९ ॥

चक्रपाणिः—मनोऽभिघात इति लोकप्रसिद्धाः श्रुतय इति लौकिकार्थानुगताः आख्यायिका इति । विहाराः क्रीडाः । लेहा व्यञ्जनरूपा लेहाः । गन्धवर्णरसैः उपेतानि प्रशस्तगन्धादि-

दीन
स्वस्
योग
धातु
पहा
सपि
युता
इति
त्वाति
शेषः
संशो
भंवति

छर्द्दुग्रथितानाञ्च चिकित्सितात् स्वात्
 चिकित्सितं कार्यमुपद्रवाणाम् ।
 अतिप्रवृत्तासु विरेचनस्य
 कर्म्मार्तियोगैर्विहितं विधेयम् ॥
 छर्दिप्रसङ्गात् पवनो ह्यवश्यं
 धातुक्षयाद् वृद्धिमुपति तस्मात् ।
 चिरप्रवृत्तास्वनिलापहानि
 कार्यार्णयुपष्टम्भनवृंहणानि ॥
 सर्पिर्गुडाः क्षीरविधिघृतानि
 कल्याणकत्रूषणजीवनानि ।
 वृथास्तथा मांसरसाः सलेहा-
 र्छर्दि चिरोत्थां प्रशमं नयन्ति ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—छर्द्दुग्रथितानामित्यादि । छर्द्दुग्रथितानामुपद्रवाणां ज्वरा-
 दीनां स्वाच्चिकित्सिताच्चिकित्सितं कार्यम् । एतेन सर्वेषामेवोपद्रवाणां
 स्वस्वचिकित्सा कार्य्या भवति । अतिप्रवृत्तासु छर्दिषु विरेचनस्याति-
 योगैर्विहितं कर्म्म विधेयं कर्त्तव्यम् । छर्दीत्यादि । छर्दरतिप्रसङ्गात्
 धातुक्षयादवश्यं पवनो वृद्धिमुपति । तस्माच्चिरप्रवृत्तासु छर्दिषु अनिला-
 पहानि उपष्टम्भनानि वृंहणानि च कर्म्माणि कार्य्याणि भवन्ति, तान्याह—
 सर्पिरित्यादि । सर्पिर्गुडाः क्षतक्षीणचिकित्सितोक्ताः क्षीरविधिश्च

युतानि । गन्धमित्यादिना गन्धादीनां प्रियाणामुपयोगेन छर्द्याः प्रशमे सति । तज्जो हि रोग
 इति गन्धादीनां सात्त्व्यजनितरोगो जेतुं सुख एव भवति । मूलव्याधेः महात्ययस्य जित-
 त्वादित्यभिप्रायः । सुखमेव जेतुमिति पाठे सुखं यथा भवति तथा जेतु- (पर्यन्तं)-मिति
 शेषः ॥ ३० ॥

चक्रपाणिः—अतिप्रवृत्तास्वित्यादि । अतिप्रवृत्तासु छर्दिषु विरेचनस्यातियोगे यत् कर्म्म विहितं
 संशोधनव्यापत्तिसिद्धौ तदिह विधेयमित्यर्थः । वमिप्रसङ्गात् छर्दयनुबन्धात् पवनस्य वृद्धि-
 भवति । ततोपष्टम्भनं छर्दीनां पक्वस्य वा वृंहणं च्यवनप्राशाक्यो लेहाः ॥ ३१ ॥

भवति चात्र ।

सङ्ख्या हेतुं लक्षणमुपद्रवान् साध्यतां तदयोगांश्च ।

छर्दीनां प्रशमार्थं चिकित्सितं प्राह मुनिवर्यः ॥ ३२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते
चिकित्सितस्थाने छर्दि रोगचिकित्सितं नाम

विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

पवनापहः । कल्याणादीनि घृतानि । तथा वृष्या मांसरसा लेहाश्च चिरोत्थां
छर्दिं प्रशमं नयन्ति ॥ ३१ ॥गङ्गाधरः—अध्यायार्थमाह—भवति चात्रेत्यादि । सङ्ख्या इत्यादि ।
मुनिवर्ये आत्रेयपुनर्वसुः ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायं समापयति । अग्निवेशेत्यादि ॥ ३३ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव च ।

छर्दि चिकित्सिते विंशेऽध्याये गङ्गाधरेण तु । कृते जल्पकल्पतरौ

चिकित्सितस्थानजल्पने । षष्ठस्कन्धे छर्दि चिकित्सितजल्पो हि

विंशिकी । शास्त्रा समाप्ता व्याख्याता

शिष्याणां हितकाङ्क्षया ॥ २० ॥

चक्रपाणिः—हेतुमित्यादिना संग्रहः । उपद्रवानिति विट्स्वेदेत्यादिनोक्तानुपद्रवान् । मुनिवर्य
इति मुनिश्रेष्ठः ॥ ३२ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां

चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां छर्दिचिकित्सितं

नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः ।

अथातो विसर्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,
इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

कलासे किन्नराकीर्णे बहुप्रस्रवणौषधौ ।
पादपैर्विविधैः स्निग्धे नित्यं कुसुमसम्पदा ॥
बहद्भिर्मधुरान् गन्धान् सर्व्वतः स्वरस्यलङ्कृतैः ।
विहरन्तं जितात्मानमात्रेयमृषिवन्दितम् ॥
महर्षिभिः परिवृतं सर्व्वभूतहितै रतम् ।
अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमुक्तवान् ॥
भगवन् दारुणं रोगमाशीविषविषोपमम् ।
संसर्पन्तं शरीरेषु देहिनामुपलक्षये ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टानुक्रमाच्छर्द्दिचिकित्सितानन्तरं वीसर्पचिकित्सित-
माह—अथात इत्यादि । सर्व्वं पूर्व्ववद्व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—कैलास इत्यादि । कैलासो नाम पर्व्वतविशेषः । तस्य
विशेषणानि किन्नराकीर्ण इत्यादीनि । बहूनि प्रस्रवणानि बह्व्य ओषधयो
यत्र तत्र । कुसुमानां सम्पदा युतैः पादपैर्वृक्षैः । मधुरान् हृदयङ्गमान् गन्धान्
बहद्भिः । सर्व्वतश्चतुर्द्दिक्षु महर्षिगणकृतस्वस्तिकर्मभिरलङ्कृतैः तत्र कैलासे
विहरन्तमित्यादिकमात्रेयविशेषणम् । इदं वक्ष्यमाणं वाक्यम् । तदाह—भगवन्

चक्रपाणिः—पूर्व्वोऽध्याये छर्द्दिवेगविघातादष्टविसर्पाणामुत्पत्तेः । छर्द्दनन्तरं विसर्पस्य
चिकित्सितमुच्यते । छर्द्देश्च रक्तदूषकत्वं विधिशोणितोये 'छर्द्दिवेगमतीघाता'दित्यादिना
'शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यतीत्यन्तेनोक्तम् ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—कैलासेत्यादि । प्रश्नोऽत्र गुणदोषोपदर्शनपरः । शोभने हि देशे सुमनसो
गुरवः शिष्यैः परिवृताः । कुसुमसंपदा पुष्पफलसम्पत्त्या । मधुरान् गन्धान् द्रव्यान् गन्धान् ।
विहरन्तं वर्त्तमानम् । जितात्मानं जितेन्द्रियम् । आशीविषाः सर्पाः । उपलक्ष्ये पश्यामि ।

सहस्रैव नरास्तेन परीताः शीघ्रकारिणा ।

विनश्यन्त्यनुपक्रान्तास्तत्र मे संशयो महान् ॥

स नाम्ना केन विज्ञेयः संज्ञितः केन हेतुना ।

कतिधातुः कतिविधो जायते कैश्च हेतुभिः ॥ *

सुखसाध्यः कृच्छ्रसाध्यो ज्ञेयो यश्चानुपक्रमः ।

कथं कैर्लक्षणैः किञ्च भगवंस्तत्र भेषजम् ॥ २ ॥

तदग्निवेशस्य वचः श्रुत्वात्रेयः पुनर्व्वसुः ।

यथावदखिलं सर्वं प्रोवाच मुनिसत्तमः ॥ ३ ॥

विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः ।

परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्व्वतः परिसर्पणात् ॥ ४ ॥

इत्यादि । अनुपक्रान्ताश्चिकित्सयानारब्धाः । संशयमाह—स नाम्नेत्यादि । नाम संज्ञा हेतुः कतिधातुः कैर्हेतुभिः कतिविधश्च सुखसाध्यः कृच्छ्रसाध्य-श्चानुपक्रमश्च कथं कैर्लक्षणैश्च तत्र किं भेषजमित्येकादश प्रश्नाः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—तत्रोत्तरमाह—तदग्नीत्यादि । मुनिसत्तम आत्रेयः पुनर्व्वसुः ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—तत्र प्रथमं नाम वक्तुं हेतुपूर्व्वकं नामाह—विविधमित्यादि । विविधं सर्पति यतस्तस्माद्विसर्पो नाम स रोगः, अथवा सर्व्वतः परिसर्पणात् परिसर्पो नाम स रोगः स्मृतः, विशब्दो विविधार्थः, परिशब्दः सर्व्वतोऽर्थः । इति येन हेतुना यन्नाम्ना संज्ञितस्तदुक्तम् ॥ ४ ॥

अनुपक्रान्ता गदाः केचिद् विनश्यन्ति, यथा व्यङ्गतिलकादयः । केचित् तु उपक्रान्ता अपि चिरेण भ्रन्ति यथा मेहगुल्मादयः । अनेन तु गृहीताः शीघ्रमेव विनश्यन्तीति त्वराविशेषं चिकित्सिते दर्शयन्ति । संज्ञितः केन हेतुनेति कस्माद्धेतोः वक्ष्यमाणविसर्पाः विसर्पसंज्ञया आख्याता इत्यर्थः । कियद्वातुरिति कतिधातुकारणकः । कथं कैर्लक्षणैरिति कथम्भूतः कैर्लक्षणैर्ज्ञेय इत्यर्थः ॥ २ । ३ ॥

चक्रपाणिः—विविधमित्यादिना यथाक्रमं प्रश्नानामुत्तरमाह । विविधं सर्पतीति अध ऊर्द्धं तिर्यक् तथा स्फोटशोफादिभिः प्रसरति विसर्पः । परिसर्पशब्दार्थं व्याकरोति । परितः सर्व्वतः । परिशब्दः सर्व्वतोऽर्थे इत्यर्थः । किंवा परिसर्पणशब्देन सर्पणमात्रमुच्यते । सर्व्वतःशब्देन परिशब्दार्थो व्याक्रियते, तेनोक्तं सर्व्वतः परिसर्पणादिति ॥ ४ ॥

* कतिभेदः कियद्वातुः किंनिदानः किमाश्रयः इति चक्रधृतः पाठः ।

स च सप्तविधो दोषैर्विज्ञेयः सप्तधातुकः ।
 पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः ॥
 वातिकः पित्तकश्चैव कफजः सान्निपातिकः ।
 चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ॥
 आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः ।
 यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसम्भवः ॥ ५ ॥
 रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दृष्यं दोषास्त्रयो मलाः ।
 विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—वैदुभिः कतिविधः कतिधातुश्चेत्यनयोरुत्तरमाह—स चेत्यादि ।
 स विसर्पः सप्तविधो दोषैर्भवति । सप्तधातुकश्च विज्ञेयः । दोषैः सप्तविधस्तु
 पृथगित्यादिना । तं सप्तविधमुद्दिष्टं निर्दिशति—वातिक इत्यादि । द्वन्द्वजानां
 त्रयाणां संज्ञाविशेषज्ञानार्थमाह—वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रय इति । तद् यथा—
 आग्नय इत्यादि । आग्नेयादीनि त्रीणि नामानि ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—सप्तधातुकलमुद्दिष्टं यत् तन्निर्दिशति—रक्तमित्यादि । विज्ञेयाः
 सप्त धातव इत्यत्र लसीका नामोपधातुविशेषो न लम्बुधातुमूत्रादिनिखिल-
 मिति कुष्ठविसर्पयोर्धातुभेदाद्भेद इति ; कुष्ठे हुतं—“वातादयस्त्रयो दुष्टा-
 स्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च । दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः” इति । केचिदिह
 लसीकाशब्देनाम्बुधातुमात्रं व्याख्याय कुष्ठोक्तहेतुकुपितदोषाणां हेतुप्रभावा-
 च्चिरकारित्वस्वभावाद्वक्तपित्तयोरप्रावल्याच्च भेदो विसर्पात् । विसर्पहेतुकुपित-
 दोषाणां हेतुप्रभावाच्चिरसर्पणस्वभावः प्रबलरक्तपित्तौस्त्राभदौषैरारब्धत्वाद्
 विसर्पाणामिति वदन्ति । तत्र हेतुप्रभावतश्चिराचिरकारित्वादस्वभावो दोषाणां

चक्रपाणिः—सप्तविधो दोषैरिति दोषभेदात् सप्तविधो भवति । एतेन साध्यासाध्यभेदोऽप्यस्य
 सम्भवतीति दर्शयति ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—पृथगित्यादिना निर्दिष्टं सप्तविधत्वं दर्शयति । रक्तमित्यादिना सप्तधातुत्वं
 स्फुटयति । रक्तादिदोषत्वं कुष्ठे यद्यप्यस्ति तथापि विसर्पणशीलदोषैर्वीसर्पाः । कुष्ठानि तु
 चिरक्रियैर्दोषैर्जायन्ते इत्यादि कुष्ठाचिकित्सित एव प्रपञ्चतमनुसरणीयम् । दोषास्त्रयो मला
 इत्यत्र दोषशब्देनैव वातादिप्राप्तौ मला इति अत्यर्थदुष्टा शरीरमालिनीकरणत्वं प्रतिपादयितुमुक्तम् ।

लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात् ।
 दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च ॥
 व्यापन्नबहुमद्योष्ण-रागषाड्वसेवनात् ।
 शाकानां हरितानाञ्च सेवनाच्च विदाहिनाम् ॥
 कूचिर्चकानां किलाटानां सेवनान्मन्दकस्य च ।
 दध्नः सिण्डाकिपूर्वाणामालुकानाञ्च सेवनात् ॥
 तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पिष्टकस्य च ।
 ग्राम्यान्पौदकानाञ्च सेवनाल्लसुनस्य च ॥
 प्रक्लिन्नानाञ्च मत्स्यानां विरुद्धानाञ्च सेवनात् ।
 अत्यादानात् दिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनाशनात् ॥
 क्षतबन्धप्रपतनात् घर्मकर्ममातिसेवनात् ।
 विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः ॥ ७ ॥

भवतीति सङ्गच्छते, द्वन्द्वजानामग्नेयादीनामचिकित्स्यत्वादिवचनात् । रक्त-
 पित्तप्राबल्यं लसीकाशब्देनाम्बुधातुमात्रञ्चानार्षवचनमिति ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—विसर्पहेतूनाह—लवणेत्यादि । दध्यम्लमस्तुशुक्तानां दध्यम्लमस्तु-
 कृतशुक्तानां कूचिर्चकानां दधिकूचिर्चकानां किलाटानां तक्रकूचिर्चकानां दध्नः
 सिण्डाकिपूर्वाणां दधिकृतशिखरिणीं पीतालुकानां पिण्डालुकादीनां सेवनात् ।
 प्रक्लिन्नानां मत्स्यानां संयोगविरुद्धानाञ्च मत्स्यानाम् । अत्यादानमतिमात्रया
 भोजनम् । अजीर्णाशनादध्यशनाशनाच्च । घर्मकर्मणां रौद्राग्निप्रभृतीनाम्

उक्तं चान्यत्र—‘शरीरदूषणाद्दोषा मलिनीकरणान्मलाः । धारणाद्धातवश्च स्युर्वातपित्तकफास्त्रयः’
 इति ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—जायते कैश्च हेतुभिरित्यस्योत्तरं—लवणाम्लेत्यादि । उष्णानामिति उष्णवीर्याणां
 सैन्धवाममूलकादीनाम् । हरितानामिति हरितशाकवर्गपठितानामार्द्रकादीनाम् । कूचिर्चका
 दधिकूचिर्चका तक्रकूचिर्चका च किलाटा नष्टक्षीरपिण्डा । मन्दकस्येति मन्दक्षीरजातस्य ।
 शाण्डाकीपूर्वाणामिति शाण्डाकीसन्धानं शेषः । अजीर्णेशानमजीर्णाशनं किंवा अजीर्णस्था-
 परिणतस्यापचनम् । अविदग्धे पूर्वदिनाञ्च शानमध्यशनम् ॥ ७ ॥

एभिर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः ।
 दृष्यान् सन्दूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम् ॥
 वहिःश्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः ।
 विसर्पो बलमेषान्तु ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम् ॥
 वहिर्मार्गाश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम् ।
 विसर्पं दारुणं विद्यात् सुकृच्छ्रन्त्वन्तराश्रयम् ॥ ८ ॥
 अन्तःप्रकुपिता दोषा विसर्पन्त्यन्तराश्रये ।
 वहिर्वहिःप्रकुपिताः सर्वत्रोभयसंश्रिताः ॥ ९ ॥
 मर्मोपघातात् संरोधादयनानां विघट्टनात् ।
 तृष्णातियोगाद् वेगानां विषमाणां प्रवर्त्तनात् ॥

अतिसेवनात् । विषादिदोषाद् दुष्टविषाद् दुष्टवाताद् दुष्टाश्रितश्चेति । सर्व-
 विसर्पहेतव इति केहेतुभिरिति प्रश्नस्योत्तरमिदम् ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—सुखसाध्यादिप्रश्नोत्तरं वक्तुमाह—एभिरित्यादि । एभि-
 र्व्यामिश्रैर्निदानैः कुपिता मारुतादयः पुनरहिताशिनां रक्तादीन् रक्तलसीकाखड्-
 मांसानि दृष्यान् सन्दूष्य विसर्पन्ति विसर्पं कुर्वन्ति । स च विसर्पो वहिः-
 श्रितोऽन्तःश्रित उभयश्रितश्चेति । तेषां मध्ये यथोत्तरं बलं गुरु ज्ञेयम् ।
 तेन वहिर्मार्गाश्रितं विसर्पं साध्यं विद्यादुभयाश्रितमसाध्यमन्तराश्रयं सुकृच्छ्रं
 विद्यादिति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—कथमित्यस्योत्तरमाह—अन्तरित्यादि । दोषा अन्तरभ्यन्तरे
 प्रकुपिता अन्तराश्रये अभ्यन्तराश्रये विसर्पन्ति विसर्पं कुर्वन्त्येवं वहिः प्रकुपिता
 वहिराश्रये विसर्पन्ति तथोभयसंश्रिता दोषाः सर्वत्र वहिरन्तश्च विसर्पं
 कुर्वन्तीति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—तद्विज्ञानमाह मर्मेत्यादि । मर्मण उरस उपघातात् संरोधाद्

चक्रपाणिः—व्यामिश्रैः संमिश्रैः । साध्यासाध्यविभागज्ञानार्थं शाखाश्रितत्वादीन्याह—
 वहिरित्यादि । यथोत्तरमिति वहिःश्रितात् अन्तःश्रितादुभयाश्रितश्च गुरुरित्यर्थः । अन्तराश्रित
 इति अन्तःशरीरे । वहिरिति शाखायां सर्पति ॥ ८ । ९ ॥

विद्याद् विसर्पमन्तर्यदाशु चाग्निबलक्षयात् ।

अतो विपर्ययाद् बाह्यमन्यं विद्यात् स्वलक्षणैः ॥ १० ॥

यस्य लिङ्गानि सर्वाणि बलवद् यस्य कारणम् ।

यस्य चोपद्रवाः कष्टा मर्मगो यश्च हन्ति सः ॥ ११ ॥

रूक्षोष्णैः कारणैर्वायुः पूरणैर्वा समाहितः ।

प्रदुष्टो दूषयन् दूष्यान् विसर्पति यथाबलम् ॥ १२ ॥

अयनानां श्वासोच्छ्वासमूत्रपुरीषादीनां प्रवृत्तिमार्गाणां संरोधात् विघट्टनाच्च तृष्णातियोगात् वेगानां विषमत्वेन प्रवर्त्तनात् अन्तर्विसर्पं विद्यात् आशुचाग्निबलक्षयाच्च । अतो लक्षणेभ्यो विपर्ययान्मर्मणोऽनुपघाताद् असंरोधादयनानामविघट्टनात् तृष्णातियोगाभावाद् वेगानां समानां प्रवर्त्तनाद् बाह्यं विसर्पं विद्यात् । अन्यं बाह्याभ्यन्तरं विसर्पं स्वलक्षणैर्वाह्यलक्षणाभ्यन्तर-लक्षणैर्विद्यात् इति नार्थः भावाभावयोरेकत्रासम्भवात् । असाध्यत्ववचनात् तु वक्ष्यमाणैरसाध्यलक्षणैरुभयाश्रितं विद्यादित्यर्थः ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—तत्र तेषामनुपक्रमलक्षणमाह—यस्येत्यादि । यस्य विसर्पस्य वक्ष्यमाणानि सर्वाणि लिङ्गानि भवन्ति यस्य च बलवत् कारणं यस्य च कष्टा उपद्रवा यश्च मर्मग उरोगतो विसर्पः स तमातुरं हन्ति ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—वातजविसर्पस्य निदानपूर्वकसम्प्राप्तिमाह—रूक्षोष्णैरित्यादि । रूक्षोष्णैः प्रदुष्टः कुपितो वायुरथवा पूरणः स्वकारणैः रूक्षोष्णपूरणद्रव्यः समाहितः सन् दूष्यान् रक्तलसीकातुङ्मांसानि दूषयन् यथाबलं विसर्पति विसर्पं करोति ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—अन्तराश्रयादिविसर्पणमाह—मर्मोपघातादित्यादि । मर्ममिति हृदयम् । विद्यात् स्वलक्षणैरिति वक्ष्यमाणविसर्पलक्षणैः ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—यस्य लिङ्गानि सर्वाणीति अन्तराश्रयबहिराश्रयविसर्पलक्षणानि ॥ ११ ॥

चक्रपाणिः—रूक्षोष्णैरित्यादिना पृथक् हेतुलक्षणमाह । पूरणैः रूक्षादिभिः पूरणेन मार्गावरोधात् कुपितः परतन्त्रो वायुर्ज्ञेयः । उष्णं यद्यपि न साक्षाद्वातकरं तथापि रूक्षसञ्चयात् उष्णं वातं करोति । उष्णसम्बन्धात् तु सामान्यसम्प्राप्तिसम्प्राप्तं इह यत् कुपितं तज्जन्मिति ज्ञेयम् ॥ १२ ॥

तस्य रूपाणि भ्रमदवथुपिपासानिस्तोदशूलाङ्गमर्दोद्वेष्टन-
कम्पज्वरतमक-कासास्थिसन्धिभेद-विवर्णवमनारोचकाश्चक्षुषो-
राकुलत्वमस्त्रागमनम् । पिपोलिकानां संप्रसर इवाङ्गेषु । यस्मिं-
श्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः श्यावारुणावभासो
वा श्रयथुमान् निस्तोदशूलभेदायाससङ्कोचवर्षस्फुरणैरतिमात्रैः
पीड्यते । अनुपक्रान्तश्चोपचोयते शीघ्रभेदैः स्फोटैस्तनुभिररुणा-
भासैः श्यावैर्वा तनुविषमदारुणाल्पस्त्रावैर्विवद्धवातमूत्रपुरोषश्च
भवति । निदानोक्तान्यस्य नापशेरते विपरीतानि चोपशेरते ।
इति वार्ताविसर्पः ॥ १३ ॥

पित्तमुष्णोपचारेण विदाह्यम्लादिभिश्चितम् ।

दूष्यान् सन्दूष्य धमनोः पूरयद्बुधैर्विसर्पति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—तस्य रूपाणोत्पादि । दवथुरूपतापः । उद्वेष्टनं दण्डादिनेव
ताडनम् । अस्थिसन्धिषु भेद इव पीडा । चक्षुषोराकुलत्वं सजलत्वम् । अस्त्रा-
गमनं घुस्त्रादितो रक्तागमः । यस्मिंश्चावकाशे स्थाने विसर्पोऽनु पश्चात्
सर्पति सोऽवकाशस्तत्स्थानं श्यावारुणाभासः श्रयथुमान् वा भवति निस्तोदा-
दिभिश्चातिमात्रैः सोऽवकाशो वै पीड्यते । अनुपक्रान्तश्चिकित्सयाऽनारब्धः
स विसर्पान्वितोऽवकाशः शीघ्रभेदैः शीघ्रोद्भिन्नैः स्फोटैस्तनुभिः सूक्ष्मैररुणाभैः
श्यावैर्वा तनुविषमदारुणाल्पस्त्रावैरुपचीयते । स आतुरो विवद्धवातादिश्च
भवतीति । निदानोक्तानि सामान्यानि लवणाम्लादीनि विशेषाणि च
रूक्षोष्णानि नास्य विसर्पिण उपशेरते । विपरीतानि स्निग्धशीतानि चास्थोप-
शेरते । इति वार्ताविसर्प उक्तः ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—पित्तविसर्पमाह—पित्तमित्यादि । उष्णोपचारेण विदाह्यम्ला-
दिभिश्चितं पित्तं दूष्यान् रक्तादींश्चतुरः सन्दूष्य वातकफैः समाहितः धमनोः
पूरयत् सः विसर्पति विसर्पं करोति । पित्तमित्युक्त्या नैकं पित्तं दोषः, सप्त-
धातुकः इति वचनात् । सर्वत्रैव स्वस्वेतरदोषयोगो बोध्यः । पित्तमिति

चक्रपाणिः—दवथुश्च पित्तकोऽप्यत्र उत्सर्गसिद्धविसर्पार्थपित्तरक्तसम्भवाद् भवति ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—पित्तमित्यादिना पित्तकमाह । पूरयदितिपदं यद्यपि पित्तिके एवोक्तं तथापि

तस्य रूपाणि — ज्वरस्तृष्णामूर्च्छाछिदिररोचकोऽङ्गभेदः
स्वेदोऽतिमात्रमन्तर्दाहः प्रलापः शिरोरुक् चक्षुषोराकुलत्वम्
अस्वप्नोऽरतिभ्रमः शीतवातवारितर्षोऽतिमात्रं हरितहारिद्र-
मूत्रवर्चस्त्वं हारिद्रदर्शनम् । यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति
सोऽवकाशस्ताम्रहरितहारिद्रनीलकृष्णरक्तानामन्यतमः पुष्यति
सोत्सेधैश्चातिमात्रं दाहसम्भेदनपरोतैः स्फोटैरुपचीयते तुल्य-
वर्णस्त्राविभिरचिरपाकश्च भवति । निदानोक्तान्यस्य नाप-
शेरतै विपरीतानि चोपशेरतै । इति पित्तविसर्पः ॥ १५ ॥

स्वाद्वल्मलवणस्निग्ध-गुर्वन्नस्वप्नसञ्चितः ।

कफः सन्दूषयन् दूष्यान् कृत्स्नमङ्गं विसर्पति ॥ १६ ॥

पित्तप्रधानत्रिदोष इति वा । ननु तर्हि कुपितो वायुरिति—पूर्वत्र कथं त्रिदोष-
लाभः स्यादिति सिद्धं सप्तधातुक इति वचनात् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—तस्य रूपाणीति—ज्वर इत्यादि । शीतवातवारितर्षः—अति-
मात्रं शीतवाते शीतवारिण्यभिलाषः । यस्मिन्नङ्गावकाशे विसर्पो भवन् अनु-
पश्चात् सर्पति सोऽङ्गावकाशस्ताम्रवर्णादीनामन्यतमो वर्णः सन् पुष्यति पुष्टो
भवति । अतिमात्रदाहसम्भेदनाभ्यां परीतैः सम्भेदनं स्फोटानामाशूद्भेदनं
सोऽवकाश एवम्भूतैः स्फोटैरुपचीयते । निदानोक्तानि लवणाम्लादीनि
सामान्यानि विशेषाणि च विदाहाम्लादीनि । विपरीतानि चैषां शीतस्निग्धा-
दीनि । इति पित्तविसर्प उक्तः ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—कफविसर्पमाह—स्वाद्वल्म्लेत्यादि । स्वप्नो दिवानिद्रा ॥ १६ ॥

समाने स्वार्थे सर्व्वस्यापि अभिहितो विधिरन्यत्वाप्यनुसङ्गनीय इति न्यायात् अन्यविषयेष्वपि
ज्ञेयम् । अथञ्च समानो विधिः पित्तप्रधानत्वाद् विसर्पाणां पित्तप्रकारे एवोक्तः ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—शीतवातशीतपयसोः तृष्णा शीतवातवारितर्षः । अवकाशे देशे ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—स्वाद्वल्म्लेत्यादिना कफजमाह । हेत्वन्तरेष्वपि श्लेष्मणो विद्यमानेषु स्वादा-
दीनामभिधानम् एषामेव प्रायो विसर्पजनकत्वात् । एवं वातपित्तजहेत्वभिधानेऽपि वर्णनीयम् ।
कृत्स्नमङ्गं विसर्पति कृत्स्नमिति ऊर्द्धम्, श्लेष्मण ऊर्द्धकाये एवावस्थानात् ॥ १६ ॥

तस्य रूपाणि शीतज्वरो गौरवं निद्रारोचकोऽविपाको
मधुरास्यत्वमास्योपलेपः प्रसेकश्छर्दि रालस्यं स्तमित्यमग्निसादो
दौर्बल्यम् । यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः
श्वयथुमान् पाण्डुर्नातिरक्तः स्नेहसुप्तिस्तम्भगोरवैरन्वितोऽल्पवेदनः
कृच्छ्रपाकैश्चिरकारिभिवहलत्वगुपलेपैः स्फोटैः श्वेतपाण्डुभिरनु-
बध्यते । प्रभिन्नश्च श्वेतपिच्छिलं तन्तुमद्घनमनुबद्धं दुर्गन्ध-
मास्त्रावं स्रवत्यूर्ध्वं च गुरुभिः स्थिरैर्जालावततैः स्निग्धैर्बहल-
त्वगुपलेपैरनुबध्यतेऽनुषङ्गो भवति । श्वेतत्वङ्नखनयनवदनमूत्र-
वर्चस्त्वम् । निदानोक्तान्यस्य नोपशेरतै विपरीतानि चोप-
शेरतै । इति श्लेष्मविसर्पः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—तस्य रूपाणीत्यादि । प्रसेको मुखस्रावः । यस्मिंश्चावकाश
इति कफविसर्पः सन् अनु पश्चाद् यस्मिन्नङ्गावकाशे सर्पति सोऽनुसर्पणावकाशः
श्वयथुमानित्यादि । कृच्छ्रपाकादिभिः स्फोटैरनुबध्यते उपचीयते । बहला
घना तक् चर्म तथा उपलेप आवरणं येषां तैर्बहलत्वगुपलेपैः स्फोटैः ।
प्रभिन्नश्च स स्फोटः श्वेतादिरूपं स्रावं स्रवतीति स एव विसर्पः प्रभिन्नः
श्वेतादिकं स्रावं स्रवतीत्युच्यते । अनुबन्धं निःशेषेण न स्रवति शेषस्तु वर्तते
इति । ऊद्धश्च स्फोटानामुपरिभागे गुरुस्थिर-जालावततस्निग्धबहलत्वगुप-
लेपस्फोटैरनुबध्यते, एकः स्फोटो नश्यत्यपरो जायत इत्येवमनुबन्धः स्फोटानां
भवति । तेन चानुषङ्गी निरन्तरानुबन्धी भवति । श्वेतत्वगादित्वं चास्य
नरस्य स्यात् । निदानोक्तानि सामान्यानि लवणाम्लादीनि विशेषाणि
स्वादाम्लादीनि च । तेषां विपरीतानि कटूष्णादीनि । इति श्लेष्मविसर्पः
उक्तः ॥ १७ ॥

वातपित्तं प्रकुपितमतिमात्रं स्वहेतुभिः ।

परस्परं लब्धबलं शीघ्रमङ्गे विसर्पति ॥ १८ ॥

तदुपतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरवकोर्यमाणं मन्यते
छद्मतीसारमूर्च्छादाहमोहज्वर-तमकास्थिसन्धिभेदतृष्णारोचका-
विपाकाङ्गभेदादिभिश्चाभिभूयते । यश्चावकाशं विसर्पोऽनुसर्पति
सोऽवकाशः शान्ताङ्गारप्रकाशोऽतिरक्तो वा भवत्यग्निदग्धप्रकारैश्च
स्फोटैरुपचीयते । स शीघ्रगत्वादाश्वेव मर्म्मानुसारी भवति
मर्म्मणि चोपतप्ते पवनोऽतिबलं भिनत्यङ्गानि अतिमात्रं
प्रमोहयति संज्ञां हिक्काश्वासौ जनयति प्रणाशयति निद्राम् । स
नष्टनिद्रो मूढसंज्ञो व्यथितचेता न कश्चित् सुखमुपलभते परितः
स्थानादासनाच्छय्यां क्रान्तुमिच्छति क्लिष्टभूयिष्ठश्चाशु निद्रां
लभते दुष्प्रबोधो च भवति । एवंविधमातुर्मग्निविसर्पपरीतम्
अचिकित्स्यं विद्यात् ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—आग्नेयादीन् क्रमेणाह—वातपित्तमित्यादि । स्वहेतुभिर्वात-
हेतुभिर्व्यायामादिभिर्वातः प्रकुपितः । पित्तहेतुभिः कटुम्लोष्णादिभिः प्रकुपितं
पित्तमिति द्वयं वातपित्तं प्रकुपितं परस्परमन्यतरस्मादन्यतरं लब्धबलं शीघ्रम्
अङ्गे विसर्पति विसर्पं करोति ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—तस्य रूपाणि—तदुपतापादित्यादि । अङ्गारः प्रदीप्यमानैरिवा-
ङ्गारैः । विसर्पो भूत्वा यं यमवकाशमनुविसर्पति सोऽवकाशः शान्ताङ्गारवत्
कृष्णप्रकाशोऽतिरक्तो वा भवति । स्फोटैश्चाग्निदग्धप्रकारैरुपचीयते । स विसर्पः
शीघ्रगतान्मर्म्माण्यनुसरति मर्म्मणि चोपतप्ते हृदयेऽतिबलं पवनो गात्राणि
भिनत्ति । संज्ञामतिमात्रं प्रमोहयति हिक्काश्वासौ च जनयति । सुखोपलाभा-
भावादासनात् स्थानात् शय्यां परितश्चतसृषु दिक्षु क्रान्तुं गन्तुमिच्छति ।

चक्रपाणिः—वातपित्तमित्यादिना अग्निविरुपलक्षणमाह । परस्परं लब्धबलमिति अन्योन्य-
वृद्धं वातपित्तम् ॥ १८ ॥

चक्रपाणिः—शान्ताङ्गारप्रकाश इति निर्वाणाङ्गारसदृशः कृष्ण इत्यर्थः । स्थानात् अवस्थानात्

अ
तृ
अ
अ
वा
ल
व

व
का

रु
स
वि

स्व

मा
उष

कफपित्तं प्रकुपितं बलवत् स्वेन हेतुना ।

विसर्पत्येकदेशे तु प्रक्लेदयति चाधिकम् ॥ २० ॥

तद्विकारः शीतज्वरः शिरोरुग् दाहः स्तैमित्यमङ्गावसदनं
निद्रा तन्द्रा प्रमोहोऽन्नद्वेषः प्रलापोऽग्निनाशो दौर्बल्यमस्थि-
भेदो मूर्च्छा पिपासा स्रोतसां प्रलेपो जाड्यमिन्द्रियाणामामो-
पवेशनमङ्गविक्षेपोऽरतिरौत्सुक्यञ्चोपजायते प्रायशश्चामाशये
विसर्पत्येकदेशग्राही च स्यात् । यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो
विसर्पति सोऽवकाशो रक्तपीतपाण्डुरपिङ्गकाभिरवकीर्ण इव
मेचकाभो मलिनस्निग्धो बहुष्मा गुरुः स्तिमितवेदनः श्रयथुमान्
गम्भीरपाको निरास्त्रावः शीघ्रक्लेदनश्च भवति । स्विन्नक्लिन्न-

तथा शय्यां परितः क्रमणात् दुःखाच्च क्लिष्टभूयिष्ठश्च सन्नाथु निद्रां लभते ।
ततो निद्रातो दुष्प्रबोधी भवति । इत्यग्निविसर्प उक्तः ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—तुल्यसाध्यत्वासाध्यत्वसाधर्म्यादाग्नेयात् परं कर्द्दमाख्य-
विसर्पं कफपित्ताभ्यामाह—कफपित्तमित्यादि । स्वेन हेतुना गुरुमधुरादिना
कफः प्रकुपितः कटुम्लादिना पित्तं प्रकुपितमिति द्वयं स्वेन हेतुना प्रकुपितं
विसर्पहेतुभिर्बलवत् सत् शरीरस्यैकदेशे विसर्पति विसर्पं करोति । तत्र देशे-
ऽधिकं प्रक्लेदयति च ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—तस्येमानि रूपाणि—तद्विकार इत्यादि । शीतज्वर इत्यादि
लक्षणानि । प्रायशश्चामाशये नाभेरूर्ध्वमधस्ताद्वक्षसो विसर्पति न सर्वत्र
किन्तु एकदेशग्राही । यस्मिंश्चेति स विसर्पो भूत्वा यस्मिन्नङ्गावकाशेऽनुसर्पति
सोऽवकाशो रक्तवर्णादिपिङ्गकावकीर्ण इव भवति मेचकाभादिश्च स्विन्नक्लिन्न-

क्रान्तुं गन्तुम् । एवंविधमित्यनेन अग्निविसर्पस्य अनुपहते मर्मणि साध्यत्वे वक्ष्यमाणावस्था
उक्ता ॥ १९ ॥

चक्रपाणिः—कफपित्तमित्यादिना कर्द्दमविसर्पमाह ॥ २० ॥

चक्रपाणिः—प्रायश्चामाशये विसर्पतीति कर्द्दमस्य कफजन्यत्वात् कफपित्तयोश्च आमामाशय-
स्थितत्वादिति भावः । एकदेशग्राही न सर्वशरीरव्यापकः । मलिनो मलिनाङ्गचदनकः ।

पूतिमांसश्च क्रमेणाल्परुक् संज्ञास्मृतिहन्ता भवेत् पादपृष्ठश्चाव-
दीर्यते * स कर्दम इव चोपपीडितोऽन्तरं प्रयच्छत्युपाक्लृप्त-
मांसत्यागी सिरास्त्रायुसन्दर्शी कुणपगन्धिश्च भवति तं
कर्दमविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् ॥ २१ ॥

स्थिर-गुरु-कठिन-मधुर-शीत-स्निग्ध-मधुरान्नपानाभिव्यन्दि-
सेविनामव्यायामसेविनामप्रतिकर्मशीलानाश्च श्लेष्मा वायुश्च
प्रकोपमापद्यते । तावुभौ दुष्टप्रवृद्धावतिबलौ प्रदूष्य दूष्यान्
विसर्पाय कल्पेते । तत्र वायुः श्लेष्माणमनेकधा भिन्दन् क्रमेण
ग्रन्थिमालां कृच्छ्रपाकां † कफाशये संजनयति । उत्सन्नरक्तस्य
वा प्रदूष्य रक्तं सिरास्त्रायुमांसत्वगाश्रितानां ग्रन्थीनां मालां

पूतिमांसश्च सोऽवकाशो भवति क्रमेणैव । अयं विसर्पोऽल्परुक् संज्ञास्मृति-
हन्ता च । पादयोः पृष्ठं पादपृष्ठम् । स विसर्पः कर्दम इव हस्तादिनोपपीडित
उपलक्ष्यते । अन्तरमभ्यन्तरं प्रयच्छति । उपक्लिन्नमांसत्यागी पङ्क्तवच्छीर्ण-
मांसं स्खलति । तथा मांसपतने सिरादीनि दृश्यन्ते कुणपगन्धिश्च तथापचनेन
शववद्गन्धोऽस्य भवति । इति कफपित्तजः कर्दमविसर्प उक्तः ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—अथ ग्रन्थिविसर्पमाह—स्थिरेत्यादि । अप्रतिकर्मशीलाना-
मिति स्थिरगुर्वादिसेवनेन सञ्चिते कफे बाते च तदानीं तत्प्रतिकारकरणशील-
रहितानाम् । तावुभौ श्लेष्मवायू कथं विसर्पाय कल्पेते इत्यत आह—तत्र
वायुस्तयोर्मध्ये वायुः श्लेष्माणमनेकधा भिन्दन् क्रमेण ग्रन्थिमालां ग्रन्थीनां
समूहं जनयति कफाशये नाभेरुर्द्धमधस्ताद्वक्षसः । तत्रापरप्रकारमाह—
उत्सन्नेत्यादि । उत्सन्नरक्तस्य रक्तं रक्तलसीकालङ्मांसश्च दूषयन् वायुः

गम्भीरपाकः अन्तःपाकः । अन्तरं प्रयच्छति अवकाशं ददाति । कर्दमसारूप्याच्चास्य कर्दम-
संज्ञा ज्ञेया । कर्दमविसर्पपरीतम् अचिकित्स्यं विद्यात् यथोक्तसर्वलक्षणं कर्दममसाध्यं
विद्यात् । असम्पूर्णलक्षणं प्रति तु चिकित्सां वक्ष्यति ॥ २१ ॥

चक्रपाणिः—स्थिरेत्यादिना ग्रन्थिविसर्पमाह । दुष्टप्रवृद्धाविति परस्परदूषकत्वेन प्रवृद्धौ ।
कृच्छ्रपाकसाध्यां कृच्छ्रपाका कृच्छ्रसाध्या च । कृच्छ्रपाकता च विरेण पाको ज्ञेयः ।

* परामृष्टोऽवदीर्यते इति वा पाठः ।

† कृच्छ्रपाकसाध्यामिति चकस्वीकृतः पाठः ।

कुरुते तीव्ररुजानां ग्रन्थीनां स्थूलानामणूनां दीर्घवृत्तरक्तानाम् ।
तदुपतापात् ज्वरातिसार-हिक्का-श्रास-कास-शोष-प्रमोह-वैवर्ण्या-
रोचकाविपाकप्रसेकच्छर्दिमूर्च्छाङ्गभङ्गनिद्रारतिसदनानि प्रादु-
र्भवन्त्युपद्रवा एतैरुपद्रवरूपद्रुतः स च सर्वकर्मणां विषयमति-
पतितो वज्जनीयो भवतीति ग्रन्थिविसर्पः ॥ २२ ॥

उपद्रवस्तु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा
रोगात् पश्चाज्जायते इत्युपद्रवसंज्ञः । तत्र प्रधानं व्याधिव्याधेर्गुण-
विशेषेण तदुत्सन्नं रक्तं प्रदूष्य श्लेष्माणमनेकधा भिन्दन् स्थूलानामणूनां
दीर्घवृत्तरक्तानां तीव्ररुजानां ग्रन्थीनां सिराद्याश्रितं ग्रन्थिविसर्पं कुरुते, इमं
विसर्पं बाह्याभ्यन्तराश्रितं विद्यात् । तस्येमानि रूपाणि चाह—तदुपतापा-
दित्यादि । ज्वरादिसदनान्ता उपद्रवास्तेषां ग्रन्थीनामुपतापात् प्रादुर्भवन्ति ।
एतैरुपद्रवैर्वज्जनीयैरादिरुपद्रवतो ग्रन्थिविसर्पः सर्वकर्मणां साधनविषयमति-
पतितस्ततो विवज्जनीयो भवति । इति ग्रन्थिविसर्प उक्तः ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—ननु यथा वातादिविसर्पाणां रूपाणि भवन्ति यानि तानीवाग्नेय-
विसर्पादीनामुपतापाद् यानि भवन्ति किं तानि रूपाण्येवोपद्रवा उच्यन्त इत्यत-
आह—उपद्रवस्त्वित्यादि । यो यो मूलभूतस्य रोगस्य जन्मन उत्तरकालज
एव तद्रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽभिव्यक्तोऽणुर्वा व्यक्तत्वाभावात् सूक्ष्मः
पश्चान्मूलभूतरोगात् पश्चाज्जायते इति स उपद्रवसंज्ञः स्यात् । ननु स कथं
चिकित्स्य इत्यत आह—तत्रेत्यादि । तत्र प्रधानं व्याधिस्तस्य प्रधानस्य
उत्सन्नरक्तस्येति वृद्धरक्तस्य । शिरास्नायिवत्यादौ ग्रन्थिविसर्पं कुरुते इति योज्यम् । तेन
तीव्ररुजदियुक्तानां ग्रन्थीनां आश्रयं ग्रन्थिविसर्पं कुरुते इत्यर्थः । तदुपतापात् तेन ग्रन्थिविसर्पेण
पीडनात् । सर्वकर्मणां विषयमतिपतितो भवतीति सर्वचिकित्साविषयतामतिक्रान्तो
भवतीत्यर्थः । स च शब्देन यथोक्तोपद्रवयुक्त एव ग्रन्थिविसर्पः प्रत्यवमृश्यते । अयञ्च ग्रन्थि-
विसर्पस्तन्वान्तरे अपचीसंज्ञया कथ्यत इत्याहुः । विसर्पाणां रक्तोपद्रवतया उक्तज्वरादुप-
द्रवा ज्ञेयाः ॥ २२ ॥

चक्रपाणिः—उपद्रवस्वरूपं व्याकरोति—उपद्रवस्त्वित्यादि । रोगोत्तरकालजोऽपि रोग-
मध्यकालजः । एतेन रोगसहोत्थस्य लिङ्गस्य व्यवच्छेदः । यानि च लिङ्गान्यपि कदाचित्
रोगोत्तरकालजानि भवन्ति तानि रोगेण सह प्रायः उत्पद्यमानानि न रोगोत्तरकालजानित्युच्यन्ते
न तेषामुपद्रवत्वम् । रोगाश्रय इति रोगोत्पादकदोषप्रकोपजन्यतया रोगेण समं तुल्यकारणः ।

भूत उपद्रवस्तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति । स तु पोड़ाकरतरो भवति पश्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्लिष्टशरीर-धातुकत्वात् । तस्मादुपद्रवः * त्वरमाणोऽभि धावेत् ॥ २३ ॥

सर्वायतनसमुत्थं सर्व्वलिङ्गं व्यापिनं सर्व्वधात्वनुसारिणम् व्याधेर्गुणभूतोऽप्रधानभूत उपद्रवस्तस्य प्रायः प्रधानप्रशमात् प्रशमो भवति । प्राय इति वचनात् क्वचित् प्रधानोपशमेऽपि कस्यचिदुपद्रवस्यानुवृत्तिर्भवति । स तूपद्रवः पोड़ाकरो भवति व्याधितस्य व्याध्युत्पत्तेः पश्चादुत्पद्यमानः क्लेश-जनको भवति । कस्मात् ? व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वात् । पूर्व्वोत्पन्नव्याधिना परिक्लिष्टं हि तस्य शरीरं तदुपरि पुनर्वाध्यन्तरे जाते क्लेशोऽधिकतरो भवति । तस्माद् व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वात् तं व्याधितमभ्युपद्रवस्तु त्वरमाणो-धावेत् । इति कथमनुपक्रम इतिप्रश्नस्योत्तरम् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—सन्निपातजविसर्पमाह—सर्व्वेत्यादि । सर्व्वेषां वातादिपृथग्-दोषजानां यान्यायतनानि निदानानि तेभ्यः समुत्थं जातं विसर्पं सर्व्व-लिङ्गम् उक्तवातादिजविसर्पत्रयलिङ्गं सर्व्वलिङ्गव्यापिनं सर्व्वधात्वनुसारिणं एतेन गलगण्डोत्पन्नानां ज्वरादीनां रोगोत्तरकालजानामपि उपद्रवत्वं निषेधयति । रोग एवेत्यनेन मूलव्याधेः पृथक् रोगशब्देन व्यवहियमाणमुपद्रवं ग्राहयन्ति । तेन व्याध्यवस्थायाः रोगोत्तरकालजरोगाश्रयस्य च व्यवच्छेदं करोति । व्याधेरवश्यमावितया मूलव्याधेः स्वरूपत एव उपद्रवोऽवश्यं भवति । यद्यपि केचित् सहबलदोषा व्याधेरुपद्रवा युक्ताः सहोत्पन्नेन च उपद्रवार्थो नास्ति तथापि ये गदा उपद्रवरूपा जायन्ते ते सहोत्पन्नव्याधियोगतया उपद्रवा भवन्ते । परमार्थतस्तु सहभाविन उपद्रवा युक्ताः । किन्तु रोगसङ्करत्वेन तत्र जायन्त इति । एतदुपद्रववलक्षणार्थं सुश्रुतः—‘ततोपसर्गो नाम यः पूर्व्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजात-उपसर्पति, स न्यून एव, तेनोपद्रवसंज्ञः’ इति । उपद्रवप्रकारमाह—स्थूल इति । उपद्रवः संज्ञानिरुक्तिः पश्चाज्जायत इति व्याध्युत्पादसमीपे उपद्रवतीति उपद्रव इति निरुक्तेः । व्याधे-र्गुणीभूत इति मूलव्याध्यपेक्षया अप्रधानमित्यर्थः । गुणीभूतत्वे हेतुमाह—तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे शम इति । मूलव्याधिप्रशमाधीनशमत्वात् उपद्रवस्याप्राधान्यमित्यर्थः । प्रायः-शब्देन च व्यभिचारवाचिना क्वचिदुपद्रवस्य स्वतन्त्रा चिकित्सायुक्ता । उपद्रवस्य तु आशु-चिकित्स्यत्वं दर्शयति । उपद्रवे नितरां क्लेशो भवति । तस्मादित्यादि त्वरया चिकित्सेत् । सा चिकित्सा च मूलव्याधिप्रशमनेन तथा स्वतन्त्रापि भवतीति उक्तमेव ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति प्रक्रान्तं सन्निपातविसर्पमाह—सर्व्वेत्यादि । सर्वायतनसमुत्थमिति

* उपद्रवमिति पाठान्तरम् ।

आशुकारिणमत्ययकारिणमिति च मत्वा सन्निपातविसर्पम्
अचिकित्स्यं विद्यात् ॥ २४ ॥

तत्र वातपित्तश्लेष्मनिमित्ता विसर्पास्त्रयः साध्या भवन्त्यग्नि-
कर्ममाण्यौ पुनरनुपसृष्टौ मर्मण्यनुपहते वा सिरास्त्रायुमांसक्लेदे
साधारणक्रियाभिरुभावेवाभ्यस्यमानौ प्रशान्तिमापद्येयाताम् ।
अनादरोपक्रान्तः पुनस्तयोरन्यतरो दहेद् देहमाश्वेवाशोविष-
विषवत् । तथा ग्रन्थिविसर्पमजातोपद्रवमारभेत चिकित्सितुम् ।
उपद्रवेणोपद्रवत्वेन परिहरेत् । सन्निपातजन्तु सर्वधात्वनु-

रक्तादिवतुर्दातुदूषणपूर्वकजातं पश्चान्मेदःप्रभृतिधातुन् सरन्तम् आशुकारिणं
शीघ्रमारकप्रत्ययकारिणश्च मत्वा सन्निपातविसर्पमचिकित्स्यं विद्यादिति सन्नि-
पातविसर्प उक्तः ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—ननु के तर्हि विसर्पाः साध्या भवन्तीत्यत आह—तत्रेत्यादि ।
एकजात्यो विसर्पाः साध्याः । अग्निकर्ममाण्यौ तु विसर्पो यावच्चिकित्स्या-
वुक्तौ तयोरपवादोऽयम् । यदि तावन्नुपसृष्टौ ज्वरादुपसर्गरहितौ भवतः ।
मर्मणि वक्षसि वाऽनुपहते । सिरादिक्लेदे सति यदि साधारणक्रियाभि-
दैवव्यपाश्रययुक्तव्यपाश्रयक्रियाभिरुभौ तावन्निविसर्प-कर्ममाण्यविसर्पा-
वभ्यस्यमानौ सततमुपचर्यमाणौ भवतस्तदा प्रशान्तिमापद्येयाताम् । तयो-
रन्यतर आग्नेयो विसर्पः कर्ममाण्यो वा यद्यनादरत उपक्रान्तः स्यात्
साधारणक्रियाभिर्नोपक्रान्तो भवति, तदाश्वेवाशोविषविषवद्देहं दहेदिति ।
तथा ग्रन्थिविसर्पमजातोपद्रवं ज्वरातिसारादुपद्रवाणामजन्मनि चिकित्सितु-
मारभेत तदा प्रशाम्येत् । उपद्रवे जाते त्वेनं ग्रन्थिविसर्पं परिहरेत् । सन्नि-
सर्वहेतुभवम् । सर्वलिङ्गव्यापिनमिति वातादिजोक्तसर्वलक्षणयुक्तम् । सर्वधात्वनुसारिणमिति
विसर्पोऽश्रयत्वेनानुक्तानामपि धात्वामाश्रयित्वं दर्शयति । तथाहि मसूरिकायाः एवं तन्त्वान्तरे सकल-
धात्वाश्रयत्वमुक्तं तदुत्सर्गतो विसर्पाणां दोषातिमात्रदृष्ट्या सप्तधातुकेतरधातुदुष्टिर्भवतीति ॥ २४ ॥

चक्रपाणिः—मर्मणीति हृदयादिमर्मणि । साधारणक्रियाभिरिति आरम्भकदोषयोः
क्रियाभिः । अभ्यस्यमानाविति सततमुपचर्यमाणौ । अनादरोपक्रान्त इति तेन पूर्वं सर्वथा-
नुपक्रमे, अनुपक्रान्त इत्यनेन मारकत्वमुक्तम् । इह तु असम्यगुपक्रम इति विशेषः ।

सारित्वादाशुकारित्वाद्द्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चासाध्यं विद्यात् । तत्र
साध्यानां साधनविधिमनुव्याख्यास्यामः ।

लङ्घनोल्लेखने शस्तै तित्तकानाञ्च सेवनम् ।

कफस्थानगतै सामे रुक्षशीतैश्च लेपनम् ॥

पित्तस्थानगतैऽप्येतत् सामे कुर्याच्चिकित्सितम् ।

शोणितस्यावसेकश्च विरेकश्च विशेषतः ॥

मारुताशयसम्भूतैऽप्यादितः स्याद् विरुक्षणम् ।

रक्तपित्तान्वयेऽप्यादौ स्नेहनं न हितं मतम् ॥

वातोल्बणे तित्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते ।

लघुदोषे महादोषे पैत्तिके स्याद् विरेचनम् ॥

न घृतं बहुदोषाय देयं तश्च विरेचयेत् ।

तेन दोषो ह्यवष्टब्धस्त्वङ्मांसरुधिरं पचेत् ॥

पातजन्तु विसर्पमसाध्यं विद्यात् सर्वधातुनुसारित्वादिहेतुभ्यः । इति विसर्प-
निदानमुक्तम् । अथ किञ्च तत्र भेषजमिति प्रश्नस्योत्तरमाह—तत्र साध्याना-
मित्यादि । लङ्घनेत्यादि । उल्लेखनं वमनम् । सामे कफस्थानगते विसर्पे
रुक्षशीतैश्च वटादिवल्कलैर्लेपनम् । पित्तस्थानगतेऽपि सामे विसर्पे चिकित्सित-
मेतत् कुर्यात् । विशेषतस्तु शोणितस्यावसेकं मोक्षणं विरेकश्च कुर्यात् ।
मारुतेत्यादि । पकाशयसमुद्भूतेऽपि विसर्पे आदितः सामे विरुक्षणं स्यात् ।
तत्रादौ रक्तपित्तान्वयेऽपि स्नेहनं कर्म न हितं भवति । एषु कफदिजातेषु
सामत्वाद् यथोक्तमिदं हितम्, न तु दोषभेदेन व्यवस्था भवतीति । वातोल्बण-
इत्यादि । तित्तघृतं कुष्ठोक्तं लघुदोषे पैत्तिके वातोल्बणे विसर्पे प्रशस्यते ।
महादोषे पैत्तिकोल्बणे विसर्पे विरेचनं प्रशस्यते । न घृतमित्यादि । बहु-
दोषाय मानतो बहुदोषाय न तु सङ्ख्यातः । बहुपरिमितसञ्चितदोषाय

तत्र साध्यनामित्यादिना चिकित्सामाह । उल्लेखनं वमनम् । कफस्थानगत इति ऊर्ध्वकायगते ।
मारुताशयशब्देन च पकाशयादधःशरीरं गृह्यते । वातोल्बणे पैत्तिके च तित्तघृतं प्रशस्यते लघुदोषे
इति द्वेदः । तेन लघुदोषे पैत्तिके इति योज्यम् । बहुदोषायेति पित्तस्य प्रकृतत्वात् बहुपित्तायेत्यर्थः ।

तस्माद्विरेकमेवादौ शस्तं दद्याद्विसर्पिणः ।

शोणितस्यावसेकश्च तद्धस्याश्रयसंज्ञितम् ॥

इति वीसर्पिणामुक्तं समासेन चिकित्सितम् ।

एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः संप्रवक्ष्यते ॥ २५ । २६ ॥

मदनं मधुकं निम्बं वत्सकस्य फलानि च ।

वमनं संविधातव्यं विसर्पे कफपित्तजे ॥

पटोलपिचुमर्द्वाभ्यां पिप्पल्या मदनेन च ।

विसर्पे वमनं शस्तं तथा चेन्द्रयवैः सह ॥

यांश्च योगान् प्रवक्ष्यामि कल्पेषु कफपित्तिनाम् ।

विसर्पाणान्तु योज्यास्तै दोषनिर्हरणाः शिवाः ॥ २७ ॥

विसर्पिणे घृतं न देयं तच्च विरेचयेत् । कस्मात् ? तेनेत्यादि । हि यस्मात् बहु-
दोषविसर्पिणो घृतेनावष्टुब्ध आवद्धो दोषस्वगादीनि पचेत् । तस्मादादौ बहु-
दोषाय विरेकमेव दद्यात् । शोणितावसेकश्च दद्यात् । कस्मात् ? तद्धीत्यादि । हि
यस्मात्तच्छोणितमस्य विसर्पस्य आश्रयसंज्ञितम् । इतीत्यादि । इति वीसर्पिणां
चिकित्सितं समासेनोक्तम्, पुनरेवैतत् सर्वं व्यासतः सम्प्रवक्ष्यतेऽतः परमिति
शेषः ॥ २५ । २६ ॥

गङ्गाधरः—तत्रोल्लेखनयोगमाह—मदनमित्यादि । विसर्पे कफजे पित्तजे
कफपित्तजे च मधुकादीनां कषायं कृत्वा मदनफलबीजानि कल्कीकृत्य
मिश्रयित्वा वमनं संविधातव्यम् । पटोलेत्यादि । पटोलपिचुमर्द्वाभ्यां
कथिताभ्यां मदनेन प्रक्षिप्तेन वमनं पिप्पल्या मदनेन च वमनं शस्तम् ।
तथेन्द्रयवैः सह मदनेन वमनं शस्तम् । यांश्चेत्यादि । कल्पेषु कल्पस्थाने
मदनकल्पादिषु ॥ २७ ॥

तेनेति विरेचनघृतेन । तद्धस्याश्रयसंज्ञितमिति तत् शोणितमस्य विसर्पस्य आश्रयत्वेन
कथितम्, तेन शोणितावसेकात् आश्रयोच्छेदेन विसर्पोच्छेदो भवतीत्यर्थः । व्यासत इति
विस्तरेण ॥ २५ । २६ ॥

चक्रपाणिः—कफपित्तिनामिति व्यस्तसमस्तकफपित्तजानाम् ॥ २७ ॥

सर्प-
ना-
विसर्प-
सत-
र्पात् ।
गात् ।
नातेषु
श्वण-
यते ।
बहु-
षाय

यगते ।
लघुदोषे
त्यर्थः ।

मुस्तनिम्बपटोलानां चन्दनोत्पलयोरपि ।
 शारिवामलकोशोर-मुस्तानां वा विचक्षणः ॥
 कषायान् योजयेद् वैद्यः सिद्धान् वीसर्पनाशनान् ।
 किराततिक्तकं लोध्रं दुरालभां सचन्दनाम् ॥
 नागरं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलं सविभीतकम् ।
 मधुकं नागपुष्पञ्च दद्याद् वीसर्पशान्तये ॥
 प्रपौण्डरीकं मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम् ।
 नागपुष्पञ्च लोध्रञ्च तेनैव विधिना पिबेत् ॥ २८ ॥
 दुरालभां पर्पटकं गुडूचीं विश्वभेषजम् । *
 निशापर्युषितं दद्यात् तृष्णावीसर्पनाशनम् ॥
 पटोलं पिचुमर्दञ्च दाव्वीं कटुकरोहिणीम् ।
 यष्टाग्राहं त्रायमाणाञ्च दद्याद् वीसर्पशान्तये ॥ २९ ॥
 पटोलादिकषायं वा सर्पिस्त्रिवृतया सह ।
 मसूरविदलैर्युक्तं घृतमिश्रं प्रदापयेत् ॥

गङ्गाधरः—मुस्तेत्यादि । मुस्तादीनां त्रयाणां चन्दनाद्योर्द्वयोः शारिवा-
 दीनां चतुर्णां वा कषायांस्त्रीन् कषायान् विचक्षणो योजयेत् । किरातेत्यादि ।
 प्रकरणात् किराततिक्तकादीनां दशानां काथं दद्यात् । प्रपौण्डरीकमित्यादि ।
 तेनैव विधिना काथविधिना ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—दुरालभामित्यादि । विश्वभेषजान्तं निशापर्युषितं शीतकषाय-
 विधिना दद्यात् । पटोलमित्यादि । पटोलपत्रादिकं निशापर्युषितं प्रकरणात् ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—पटोलादीत्यादि । एतत् पटोलादिकषायं सर्पिस्त्रिवृच्चूर्णं तत्र

चक्रपाणिः—किराततिक्तकादिरपि कषायः । तेनैव विधिनेति मुस्तयोगोक्तकषायविधिना ॥ २८ ॥

चक्रपाणिः—निशापर्युषितमिति शीतकषायम् । अयञ्च शीतकषायविधिः पटोलमित्यादावपि

ग्राह्यः ॥ २९ ॥

* द्राक्षां पर्पटकं शुष्ठीं गुडूचीं धन्वयासकमिति पाठान्तरम् ।

पटोलपत्रमुद्गानां रसमामलकस्य च ।
 पाययेत् तु घृतोन्मिश्रं नरं वीसर्पपीडितम् ॥
 यच्च सर्पिर्महातक्तं पित्तकुष्ठनिवर्हणम् ।
 निर्दिष्टं तदपि प्राज्ञो दद्याद् वीसर्पशान्तये ॥
 त्रायमाणघृतं सिद्धं गौलिमके यदुदाहृतम् ।
 विसर्पाणां प्रशान्त्यर्थं दद्यात् तदपि बुद्धिमान् ॥ ३० ॥
 त्रिवृच्चूर्णं समालोद्य सर्पिषा पयसापि वा ।
 घर्माश्विना वा संयोज्य मृद्रीकानां रसेन वा ॥
 विरेकार्थं प्रयोक्तव्यं सिद्धं वीसर्पनाशनम् ।
 त्रायमाणशृतं वापि पयो दद्याद् विरेचनम् ॥
 त्रिफलारससंयुक्तं सर्पिस्त्रिवृतया सह ।
 प्रयोक्तव्यं विरेकार्थं विसर्पज्वरशान्तये ॥
 रसमामलकानां वा घृतमिश्रं प्रदापयेत् ।
 स एव गुरुकोष्ठाय त्रिवृच्चूर्णयुतो हितः ॥ ३१ ॥

रिवा-
 दि ।
 दि ।

षाय-

॥ २९

तत्र

॥ २८ ॥

दावपि

प्रक्षिप्य प्रदापयेत् । मसूरविदलैर्युक्तं पटोलादिक्षायं घृतमिश्रं प्रदापयेत् ।
 पटोलपत्रेत्यादि । पटोलपत्रमुद्गानां रसं क्वाथं घृतोन्मिश्रम् आमलकस्य
 वा रसं घृतोन्मिश्रं पाययेत् । यच्चेत्यादि स्पष्टम् । त्रायमाणेत्यादि स्पष्टम् ॥ ३० ॥
 गङ्गाधरः—त्रिवृच्चूर्णमित्यादि । त्रिवृच्चूर्णं सर्पिःपयउष्णाम्बुद्राक्षारसान्य-
 तमेन विरेकार्थं प्रयोक्तव्यमिति । त्रायमाणेत्यादि । त्रायमाणाकल्काष्टमांशं
 चतुर्गुणजले शृतं पयो दद्यात् । त्रिफलेत्यादि । त्रिवृतया सह सपि-
 त्त्रिफलारससंयुक्तं प्रयोक्तव्यम् । रसमित्यादि । स एवामलकानां रस
 एव ॥ ३१ ॥

चक्रपाणिः—मसूरविदलैरिति मसूराणां विदलैः । न चात्र विदला श्यामा, तस्याः स्त्रीलिङ्गत्वात् ॥ ३०

चक्रपाणिः—त्रिफलारसादिभिः समं घृतं देयम् । गुरुकोष्ठाय इति क्रूरकोष्ठाय । दोषपूर्ण-
 कोष्ठं गुरुकोष्ठमाहुः ॥ ३१ ॥

दोषे कोष्ठगतै भूय एतत् कुर्याद् भिषग्जितम् ।

शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत् ॥

भिषग् वातान्वितं रक्तं विषाणेनाभिनिर्हरेत् ।

पित्तान्वितं जलौकाभिरलावूभिः कफान्वितम् ॥

यथासन्नं विकारस्य व्यधयेदाशु वा सिराम् ।

त्वङ्मांसन्नायुसंक्लेदो रक्तक्लेदाद्धि जायते ॥

एवं निर्हृतदोषाणां दोषे त्वङ्मांससंश्रितै ।

आदितो वाल्पदोषाणां क्रिया बाह्या प्रचक्ष्यते ॥ ३२ ॥

उदुम्बरत्वङ्मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम् ।

नागपुष्पं प्रियङ्गुश्च प्रदेहः सघृतो हितः ॥

गङ्गाधरः—दोष इत्यादि । एतदामलकानां रसस्त्रिवृच्चूर्णयुतो भूयो बहुपरि-
माणं भेषजं कोष्ठगते दोषे कुर्यात् । शाखादुष्टे हस्तपादे दुष्टे रुधिरे रक्तम्
आदौ हरेत् । तत्र वातान्वितं रक्तं विषाणेन शृङ्गेण, पित्तान्वितं रक्तं जलौकोभिः,
कफान्वितं रक्तमलावूभिरादितो हरेत् । यथासन्नमित्यादि । व्याधेर्विसर्पस्य
यथासन्नमासन्नदेशमनतिक्रम्य सिरां वा व्यधयेत् । व्यधने हेतुमाह—त्वङ्-
मांसेत्यादि । हि यस्मात् यदि रक्तं न निर्हरेत् तदा तद्रक्तक्लेदात् त्वङ्मांसादि-
संक्लेदो जायते । एवमित्यादि । एवमनेन प्रकारेण । अल्पदोषाणामादौ
बाह्यक्रिया तूच्यते ॥ ३२ ॥

चक्रपाणिः—दोषे कोष्ठगते भूय इत्यत्र भूयःशब्दः शाखाश्रयदोष वाच्यः । इष्टरक्ते
चिकित्सामाह—शाखादुष्ट इत्यादि । शाखायां दोषे रक्ते च दुष्टे । दोषविशेषेण रक्ताव-
सेकोपायमाह—वातान्वितमित्यादि । रक्तावसेकविशेषविधानं चेह पराधिकारत्वान्नोक्तम् । तच्च
सुश्रुते ज्ञेयम् । यथासन्नमिति या विकारप्रत्यासन्ना तां संव्यधयेत् । सिराव्यधश्च सर्व्वसाधारणः ।
रक्तानपहरणे दोषमाह—त्वङ्मांसेत्यादि । त्वङ्मांसेत्यादौ आदित इति विरेचनशोणित-
मोक्षणाभ्यां । क्रिया बाह्या इति लेपसेकादिका आह ॥ ३२ ॥

न्यग्रोधपादास्तरुणाः कदलीगर्भसंयुताः ।
 विसग्रन्थिश्च लेपः स्याच्छतधौतघृतप्लुतः ॥
 कालेयं मधुकं हेम वन्यं चन्दनपद्मकौ ।
 पत्रं * मृणालं फलिनी प्रदेहः स्याद्दघृतप्लुतः ॥
 शालूकश्च † मृणालश्च शङ्खं चन्दनमुत्पलम् ।
 वेतसस्य च मूलानि प्रदेहः स्याद्दघृतप्लुतः ॥
 शारिवा पद्मकिञ्जल्कमुशीरं नीलमुत्पलम् ।
 मञ्जिष्ठा चन्दनं लोध्रमभया च प्रलेपनम् ॥
 नलदश्च हरेणुश्च लोध्रं मधुकमुत्पलम् ।
 दूर्वा सज्जरसश्चैव सघृतं स्यात् प्रलेपनम् ॥
 यावकाः सक्तवश्चोक्ताः सर्पिषा सह योजिताः ।
 प्रदेहा मधुकं वीरा सघृता यवसक्तवः ॥
 बलामुत्पलशालूकं वीरामगुरुचन्दनम् ।
 दद्यादालेपनं वैद्यो मृणालानि विसानि च ॥

गङ्गाधरः—उडुम्बरेत्यादि । उडुम्बरो यडुम्बरः । न्यग्रोधपादा इत्यादि ।
 तरुणा न्यग्रोधस्य पादा मूलानि कदलीगर्भः कदल्या वृक्षस्य मध्यस्थः । विस-
 ग्रन्थिमृणालग्रन्थिः । कालेयमित्यादि । कालेयं कालीयकाष्ठं हेम नाग-
 केशरपुष्पं वन्यं कैवर्त्तमुस्तकम् मृणालमुशीरम् । शालूकञ्चेत्यादि । शालूकं
 पद्मादीनां कन्दः मृणालमुशीरं शङ्खं शङ्खग्रन्थिः । वेतसस्य च मूलानीति ।
 शारिवेत्यादि स्पष्टम् । नलदमित्यादि । नलदमुशीरम् । यावका इत्यादि ।
 यावका यवानां सक्तवश्च सर्पिषा सह योजिताः प्रदेहा उक्ताः । मधुकं वीरा
 शालपर्णी यवसक्तवश्च सघृताः प्रदेहा उक्ताः । बलामित्यादि । उत्पल-

चक्रपाणिः—न्यग्रोधपादा इति न्यग्रोधप्ररोहाः । कदलीगर्भा गर्भस्था कदली । कालेयं
 कालेयकाष्ठमित्यर्थः । हेम इति नागकेशरचूर्णम् । वन्यं कैवर्त्तमुस्तकम् । शाद्वलं दूर्वा ।

यवचूण समधकं सघृतञ्च प्रलेपनम् ।

हरेणवो मसूराश्च समुद्राः श्वेतशालयः ॥

पृथक् पृथक् प्रदेहाः स्युः सव्वे वा सह सर्पिषा ।

पद्मिनीकर्दमः शीतो मौक्तिकं पिष्टमेव च ॥

शङ्खः प्रबालाः शुक्तिर्वा गैरिको वा घृतप्लुतः ।

पृथगेते प्रदेहाश्च हिता ज्ञेया विसर्पिणाम् ॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं बला शालूकमुत्पलम् ।

न्यग्रोधपत्रं दुग्धिका सघृतं स्यात् प्रलेपनम् ॥

विसानि च मृणालानि सघृताश्च कशेरुकाः ।

शतावरीविदार्योश्च कन्दौ धौतघृतं तथा ॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्च तथ-वेतसप्लक्षजाम्बवः ।

त्वक्कल्कैर्बहुसर्पिर्भिः शीतैरालेपनं हितम् ॥

शालूकं नीलोत्पलस्य कन्दः । वीरां शालपर्णीम् । चन्दनान्त एको योगः । मृणालानि विसानि चेति द्वितीयः । पद्मपुष्पघृतं मृणालं क्षुद्रमृणालं कन्द-प्रसूतमात्रं विसम् । यवचूर्णमित्यादि । घृतान्त एको योगः । हरेणवो वर्तुल-कलायाः श्वेतशालयो धवलवर्णशालिधान्यम् । पृथक् पृथक् सह सर्पिषा प्रदेहाः सव्वे वा मिलिताः सह सर्पिषा प्रदेहाः स्युः । पद्मिनीत्यादि । पद्मिनीकर्दमः पद्मश्रेणितलस्थकर्दमः शीत एव, पिष्टं पेपितं मौक्तिकम्, शङ्खादिश्च पिष्ट एव घृतप्लुतः प्रत्येकं प्रदेहः । प्रपौण्डरीकमित्यादि । प्रपौण्डरीकं पौण्डर्यम् । विसानीत्यादि । विसादिकन्दान्तं शतधौतघृतयुक्तं प्रलेपनम् । शतावरीत्यादि । धौतघृतं शतधौतघृतमित्यन्त एकयोगः । न्यग्रोधे-त्यादि । न्यग्रोधादीनां त्वक्पिष्टो बहुघृतमिश्रः शीतस्तेनालेपनं हितम् ।

मृणालमुशीरम् । वीरा विदारीकन्दः । हरेणवो वर्तुलकलायाः । श्वेतशालय अकुलित(?) -शुक्लधान्यानि । दुग्धिका स्वनामख्याता । मृणालं पद्मनालिका । वृषपर्णी मूषिकपर्णिका ।

शैवालं नलमूलानि गोजिह्वा वृषकर्णिका ।
 इन्द्राणिशाकं सघृतं * देयं वा दाहशान्तये ॥
 प्रदेहाः सर्व्व एवैतै रक्तपित्तोत्त्वणे हिताः ॥ ३३ ॥
 कफजे तु † प्रवक्ष्यामि प्रदेहानपरान् हितान् ।
 त्रिफलापद्मकोशोरं समङ्गा करवीरकम् ।
 नलमूलान्यनन्ता च प्रदेहमुपकल्पयेत् ॥
 खदिरं सप्तपर्णञ्च मुस्तमारग्वधं धवम् ।
 कुरुण्टकं देवदारु दद्यादालेपनं हितम् ॥
 आरग्वधस्य पत्राणि त्वचः श्लेष्मातकस्य च ।
 इन्द्राणिशाकं काकाह्वां शिरोषकुसुमानि च ॥
 शैवालं नलमूलानि वीरां गन्धप्रियङ्गुकाम् ।
 त्रिफलां मधुकं वीरां शिरोषकुसुमानि च ॥

शैवालमित्यादि । वृषकर्णिका सुदृशेना । इन्द्राणिशाकं सिन्धुवारपत्रम् ।
 उदुम्बरलगादीनामेतदन्तानामेते सर्व्वे प्रदेहा रक्तपित्तोत्त्वणे विसर्पे
 हिताः ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—कफजे तु विसर्पे प्रदेहान् प्रवक्ष्यामि । त्रिफलेत्यादि । समङ्गा
 मञ्जिष्ठा । त्रिफलादिभिः सर्व्वैः प्रदेहमुपकल्पयेत् । खदिरमित्यादि ।
 कुरुण्टको नीलझिण्टी । आरग्वधेत्यादि । श्लेष्मातकः शैलवृक्षः । इन्द्राणि-
 शाकं सिन्धुवारपत्रम् । काकाह्वा काकमाची । शिरोषकुसुमानि द्विरुत्तया
 खलपट्टहञ्जिरीषकुसुमानि । दाव्वीलक् चाभया चेति द्वन्द्वकवद्भावे नपुंसकम् ।

इन्द्राणिर्निगुण्डी । बलाघृतमिति त्रेदः । प्लक्षः अल्पदीर्घपत्रः । प्रदेहा इत्यनेन पूर्व्वोक्त-
 प्रदेहानां भिन्नविषयाणां कफेनधिकारात् अपरान् प्रदेहानाह—सकफे त्वित्यादि । अनन्ता-
 उत्पलसारिवा । कुरुण्टको म्लानकः । श्लेष्मातको बहुवारक इति प्रसिद्धः । इन्द्राणिशाकं
 केचित् मत्स्याक्षक इति आहुः । निगुण्डीति परे । काकाह्वा गोष्ठोदुम्बरिका गन्धप्रियङ्गुको इति

* शिरीषत्वग्बलाघृतमिति चक्रधृतः पाठः ।

† सकफे तु इति चक्रसम्मतः पाठः ।

प्रपौण्डरोकं ह्रीबेरं दार्वीत्वगभयं बलाम् ।
 पृथगालेपनं दद्याद् द्वन्द्वशः सर्वशोऽपि वा ॥
 प्रदेहाः सर्व एवैतै देयाः स्वल्पघृतप्लुताः ।
 वातपित्तोल्बणे ये तु प्रदेहास्तै घृताधिकाः ॥ ३४ ॥
 घृतेन शतधौतेन प्रदिह्यात् केवलेन वा ।
 घृतमण्डेन शीतेन पयसा मधुकाम्बुना ॥
 पञ्चवल्ककषायेण सेचयेच्छीतलेन वा ।
 वातासृक्पित्तबहुलं वीसर्पं बहुशः पृथक् ॥
 सेचना ये प्रदेहास्तै त एव घृतसाधनाः ।
 तच्चूर्णयोगा वीसर्प-व्रणानामवचूर्णनाः ॥
 दूर्वास्त्रससंसिद्धं घृतं स्याद्ब्रणरोपणम् ।
 दार्वीत्वङ्मधकं लोघ्रं केशरञ्चावचूर्णितम् ॥

एषां पृथक् पृथगेकश आलेपनं द्वन्द्वशो वैषामन्यतमयोर्द्वयोरालेपनं सर्वशोऽपि
 बालेपनं दद्यात् । यथा देयं तदाह—प्रदेहा इत्यादि । त्रिफलादय एतदन्ताः
 सर्व एव प्रदेहाः कफे स्वल्पघृतप्लुता देयाः । ये प्रदेहा वातपित्तोल्बणे
 विहितास्ते घृताधिका देयाः ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—घृतेनेत्यादि । वातरक्तपित्तोल्बणविसर्पं शतधौतघृतेन केवलेन
 प्रदिह्यात् । घृतमण्डशीतपयःप्रभृतिभिः सेचयेत् पृथगेतानि चत्वारि सेच-
 नानि । सेचना इत्यादि । ये ये सेचना योगास्ते प्रदेहास्त एव घृतसाधनाः ।
 तैर्घृतानि साध्यानि । तच्चूर्णयोगास्तेषां चूर्णयोगा विसर्पव्रणानामवचूर्णना
 भवन्ति । दूर्वेत्यादि । दूर्वास्त्रसे चतुर्गुणे कल्कहीनं पचेद् घृतम् । दार्वी-

व्यस्तसमस्तयोगः । सर्वैरेवेत्यत्र एते इति कफविहिताः प्रदेहाः । वातपित्तोल्बण इत्यत्र
 अद्यपि साक्षात् प्रदेहा न विहिताः तथापि इहैवाल रक्तपित्तोल्बणे विहितास्तत्रैव द्रव्यगुणतो
 वातहरद्रव्यकृताधिकाः अधिकसर्पियुताः वाते कर्त्तव्या इति ज्ञेयम् ॥ ३३ । ३४ ॥

चक्रपाणिः—घृतमण्डो घृतसन्तानिकः । पञ्चवल्कं तन्त्वान्तरे उक्तम्—‘न्यग्रोघोदुम्बराश्वत्थ-प्लक्ष-
 वेतसवलकलैः । सर्वैरेकलसंयुक्तैः पञ्चवल्कलमुच्यते’ । प्रदेहार्थद्रव्याण्येव परिषचने घृतसाधने

पटोलं पिचुमर्दश्च त्रिफलामधूकोत्पलम् ।

एतत् प्रक्षालनं सर्पिर्व्रणो चूर्णं प्रलेपनम् ॥ ३५ ॥

प्रदेहाः सर्व्व एवैतै कर्त्तव्याः संप्रधावनाः ।

क्षणे क्षणे प्रयोक्तव्याः सर्व्वमुद्धृत्य लेपनम् ॥

अधावनोद्धृतै पूर्व्वे प्रदेहा बहुशोऽघनाः ।

देयाः प्रदेहाः कफजे पर्याधानोद्धृतै घनाः ॥ † ३६ ॥

त्यादि । दाव्यादिचूर्णमवचूर्णितं व्रणरोपणम् । पटोलमित्यादि । पटोलपत्रा-
दीनां मिलितानां काथेन प्रक्षालनम् । काथकल्काभ्यां पक्वं सर्पिः । चूर्णश्चाव-
चर्णितम् । पिष्ट्वा च तैः प्रलेपनमिति । व्रणरोपणम् ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—प्रदेहा इत्यादि । यस्मिन् विसर्पे ये प्रदेहास्ते सर्व्व एव
काथयित्वा संप्रधावनाः कर्त्तव्यास्ते संप्रधावनाः सर्व्व प्रलेपनमुद्धृत्य क्षणे
क्षणे प्रयोक्तव्याः । पूर्व्वं प्रलेपने अधावनोद्धृतै धावनेनानुद्धृतै बहुशोऽघनाः
प्रदेहास्तनुद्रवप्रदेहा देयाः । कफजे विसर्पे पर्याधानस्य चतसृषु दिक्षु
लिप्तस्य लग्नस्योद्धृतै घनाः प्रदेहा देया इति क्रमः ॥ ३६ ॥

ऽवचूर्णनेऽपि विदध्यात् । दावीत्यादि एतैर्द्रव्यादिभिः प्रक्षालनकाथः कर्त्तव्यः । तथा घृतञ्च
अनेनैव तथा चूर्णञ्च प्रलेपनं कर्त्तव्यम् ॥ ३५ ॥

चक्रपाणिः—संप्रसादना इति सवर्णकराः सवर्णत्वे साध्ये कर्त्तव्या इत्यर्थः । किंवा संप्रसादना
इति रक्तपित्तप्रसादनाः । तेनायमर्थः । एते रक्तपित्ते प्रदेहाः कर्त्तव्याः य एते कर्त्तव्याः
प्रदेहाः उक्तास्ते क्षणे क्षणे पूर्व्वं लेपनमुद्धृत्य प्रयोक्तव्याः । न चिरेण नापि पूर्व्वंप्रलेपनोपरि
इत्यर्थः । पूर्व्वं च लेपनमुद्धृत्य कर्त्तव्याः तथा बहुशोऽघनाः प्रतनुका इत्यर्थः । कफप्रदेहानां
विशेषमाह—देया इत्यादि । पर्याधानोद्धृत इति शुष्कोद्धृतै ॥ ३६ ॥

* संप्रसादना इति चक्रसम्मतः पाठः ।

† इतः परं केषुचित् पुस्तकेष्वधिकः पाठो दृश्यते—

‘त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रः स्यात् प्रलेपः कल्कपेषितः । ना त स्निग्धो न रुध्रश्च न पिण्डो न द्रवः समः ॥
न च पर्य्येषितं लेपं कदाचिदवचारयेत् । न च तेनैव लेपेन पुनर्जातं प्रलेपयेत् ॥
हृद्दोषीसर्पशूलानि सोष्णभावात् प्रवर्त्तयेत् । लेपो ह्युपरि पट्टस्य कृतः स्वेदयति व्रणम् ॥
स्वेदजाः पिङ्गकास्तस्य कण्डूश्चैवोपजायते । उपर्य्युपरि लेपस्य लेपो यद्यवचारयते ॥
तानेव दोषान् जनयेत् पट्टयोपरि यान् कृतः । अति स्निग्धोऽतिद्रवश्च लेपो यद्यवचारयते ॥
त्वचि न श्लिष्यते सम्यङ् न दोषं शमयत्यपि । तन्वालिप्तं न कुर्वीत संशुष्को ह्यानुदायते ॥
न चौषधिरसो व्याधिं प्राप्नोत्यपि च शुष्यति । तन्वालिप्तेन ये दोषास्तानेव जनयेद् भृशम् ॥
संशुष्कः पीडयेद् व्याधिं निस्नेहो ह्यवचारितः ॥ इति

अन्नपानानि वक्ष्यामि विसर्पाणां निवृत्तये ।
 लङ्घितैभ्यो हितो मन्थो रुक्षः सक्षौद्रशर्करः ॥
 मधुरः किञ्चिदम्लो वा दाडिमामलकान्वितः ।
 सपरुषकमृद्वीकः सखज्जूरः शृताम्बुना ॥
 तर्पणैर्यवशालीनां सस्नेहा चावलेहिका ।
 जीर्णे पुराणशालीनां यूषैर्भुञ्जीत भोजनम् ॥
 मुद्गान् मसूरांश्चणकान् यूषार्थमुपकल्पयेत् ।
 अनम्लान् दाडिमाम्लान् वा पटोलामलकैः सह ॥
 जाङ्गलानाञ्च मांसानां रसांस्तस्योपकल्पयेत् ।
 रुक्षान् परुषकद्राक्षा-दाडिमामलकान्वितान् ॥
 रक्ताः श्वेता महाह्वाश्च शालयः षष्टिकैः सह ।
 भोजनार्थं प्रशस्यन्ते पुराणाः सुपरिप्लुताः ॥

गङ्गाधरः—अथान्नादीन्याह । अन्नेत्यादि । मन्थो द्रवेणालोडिताः सक्तवः ।
 रुक्षो घृतादिस्नेहरहितो रुक्षद्रव्यकृतसक्तवोऽपि । मधुरो मधुरद्रव्यकृतमन्थो
 वा दाडिमादिभिरन्वितः किञ्चिदम्लो वा मन्थो लङ्घितैभ्यो हितः । सपरुष-
 केत्यादि । परुषकद्राक्षाखज्जू रैः पिष्टैरेतैः सहितो मन्थः शृताम्बुनाऽर्द्धशिष्टजले-
 नालोडितः सक्तुर्लङ्घितैभ्यो हितः । तर्पणैरित्यादि । यवानां शालीनाञ्च
 तर्पणैर्द्रवद्रव्येणालोडितसक्तुभिरवलेहिका सस्नेहा च लङ्घितैभ्यो हितेति लिङ्ग-
 विपर्ययेण योजना । तस्मिन् मन्थावलेहे जीर्णे पुराणशालीनां भोजनमन्नं
 यूषैर्भुञ्जीत । यूषार्थमाह—मुद्गानित्यादि । मुद्गादीननम्लान् दाडिमाम्लान् वा
 पटोलफलामलकैः सह वा यूषार्थमुपकल्पयेत् । जाङ्गलानामित्यादि ।
 परुषाद्यन्वितान् रुक्षान् घृतादिस्नेहवर्जितान् जाङ्गलमांसरसान् तस्य भोजने
 चोपकल्पयेत् । भोजनार्थं शालीनाह—रक्ता इत्यादि । रक्ताः शालयः
 श्वेताः शालयो महाह्वा महाशालयः पुराणाः संवत्सरातीताः । सुपरिप्लुताः
चक्रपाणिः—अन्नपानमाह—जीर्णे इति । अवलेहिकारूपेण जीर्णे । जाङ्गलानामित्यादौ
 रुक्षानित्यनेन स्नेहविरहेण रुक्षमांसकृतत्वेन रुक्षत्वं ज्ञेयम् । रक्ताः श्वेता महाह्वा इति
 रक्तशालयः श्वेतशालयी महाशालयः । श्वेतशालिर्मागधे पुण्डरीकशालिरिति ख्यातः ।

यवगोधूमशालीनां सात्म्यमेव प्रदापयेत् ।

येषां नात्युचितः शालिर्नरा ये च कफाधिकाः ॥ ३७ ॥

विदाहीन्यन्नपानानि विरुद्धं स्वपनं दिवा ।

क्रोधव्यायामसूर्याग्नि-प्रवातांश्च * विवर्जयेत् ॥ ३८ ॥

कुय्याच्चिकित्सितादस्माच्छीतप्रायाणि पैत्तिके ।

रुक्षप्रायाणि कफजे स्नैहिकान्यनिलात्मके ॥

वातपित्तप्रशमनमग्निवीसर्पिणे हितम् ।

कफपित्तप्रशमनं प्रायः कर्दमसंज्ञके ॥ ३९ ॥

रक्तपित्तोत्खणं ज्ञात्वा ग्रन्थिवीसर्पमादितः ।

विरुक्षणैर्लङ्घनैश्च प्रदेहैः पाञ्चवल्कलैः ।

सिरामोक्षैर्जलौकाभिर्दमनैः सविरेचनैः ॥

शृतैः कषायतिक्तैश्च कालज्ञः समुपाचरेत् ॥

जलनाद्रीकृताः परिपक्वाः । यवेत्यादि । यवादीनां मध्ये यद् यस्य सात्म्यमभ्यस्तं तत् तेषां प्रदापयेत् । येषां शालिर्नात्युचितो नात्यभ्यस्तः, ये च नराः कफाधिकास्तेषां सात्म्यं प्रदापयेत् ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—वज्ज्यान्याह विदाहीनीत्यादि । विरुद्धं संयोगविरुद्धम् ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—कुय्यादित्यादि । दोषभेदेन चिकित्सामाह—अस्मादन्नपाना-
त्मकाच्चिकित्सिताच्छीतप्रायाणि त्वन्नपानानि पैत्तिके विसर्पे कुय्यात् । रुक्ष-
प्रायाण्यन्नपानानि कफजे कुय्यात् । अनिलात्मके स्नैहिकान्यन्नपानानि
कुय्यात् । अग्निविसर्पिणे वातपित्तप्रशमनं स्नैहिकशीतप्रायं चिकित्सितं
हितम् । कफपित्तप्रशमनं शीतरुक्षप्रायं कर्दमविसर्पे हितम् ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—रक्तपित्तेत्यादि । ग्रन्थिविसर्पं रक्तपित्तोत्खणं ज्ञात्वादितः
प्रथमतः विरुक्षणादिभिरुपाचरेत् । पाञ्चवल्कलैः प्रदेहैरिति योजना ।

यवगोधूमेत्यादि शालिमहाशालिः, यवगोधूमशालीनां यत् सात्म्यं तदेव प्रयोजयेत् । येषाञ्च
शालिर्नात्युचितः नाभ्यस्तः तेषां यवगोधूमावेव ज्ञेयौ । तयोः कफाविरुद्धत्वात् विसर्पहितत्वाच्च ।
उक्तं हि—‘सर्व्वं’ मधुरं कफकरम् अन्यत्र पुराणयवशालिगोधूमात्’ इति ॥ ३७ ॥

ऊर्ध्वश्चाधश्च शुद्धाय रक्ते चाप्यवसेचिते ।
 वातश्लेष्महरं कर्म ग्रन्थिवीसर्पिणे हितम् ॥ ४० ॥
 उत्कारिकाभिरुष्णाभिरुपनाहः प्रशस्यते ।
 स्निग्धाभिर्वेशवारैर्वा ग्रन्थिवीसर्पशूलिनाम् ॥
 दशमूलोपसिद्धेन तैलेनोष्णेन सेचयेत् ।
 कुष्ठतैलेन चोष्णेन पक्वक्षारयुतेन* वा ॥
 गोमूत्रः पत्रनिर्य्यूहै रूक्षोष्णैः परिषेचयेत् ॥ ४१ ॥
 सुखोष्णया प्रदिह्याद् वा पिष्टया चाश्वगन्धया ।
 शुष्कमूलककल्केन नक्तमालस्य चाथवा ।
 विभीतकस्य वा ग्रन्थिं कल्केनोष्णेन लेपयेत् ॥

एवमुक्तवमनविरेचनाभ्यामूर्द्धाधःशुद्धाय रक्ते चाप्यवसेचिते सति पित्तरक्तयोः
 प्रशमने जाते वातश्लेष्मणोः शेषयोर्द्वरणं कर्म ग्रन्थिवीसर्पे हितम् ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—उत्कारिकाभिरित्यादि । उत्कारिका यवगोधूमादिचूर्णं जल
 पक्त्वा लेहवद्भावे सति भवति । वेशवारो निरस्थिमांसं स्निग्धं कृत्वा
 पिष्ट्वा गुडघृतकणामरिचचूर्णयुक्तं कुर्यादित्येष वेशवार उच्यते । दशमूल-
 त्यादि । एवं दशमूलककचतुर्गुणजलेनोपसिद्धेन तैलेनोष्णेन ग्रन्थि-
 विसर्पशूले सेचयेत् । तथा पक्वक्षारयुतेन भस्मीभूतः क्षारः परिस्ताव्यः
 षड्गुणे जले, ततः पक्वः सन क्षारो भवति तेन युक्तेन कुष्ठतैलेन चोष्णेन
 शूलशान्त्यर्थं सेचयेत् । गोमूत्रेत्यादि । तथा गोमूत्रैः परिषेचयेत् । एवं रूक्षोष्णः
 पत्रनिर्य्यूहैः काथः परिषेचयेत् ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—अथ प्रसङ्गाद् ग्रन्थिचिकित्सामाह—सुखोष्णयेत्यादि । अश्व-
 गन्धयेत्यत्र कुष्णगन्धयेति क्वचित् पाठः । शुष्केत्यादि । शुष्कमूलककल्केनोष्णे-
 नाथवा नक्तमालस्य गोकरञ्जकल्केनोष्णेन । एवं विभीतकस्य कल्केनोष्णेन

चक्रपाणिः—विसर्पवज्र्यानाह—विद्राहीनीत्यादि ॥ ३८—४० ॥

चक्रपाणिः—उत्कारिकेत्यादिना उष्णोपनाहमाह—उष्णो बहलो लेपः । पाक्यक्षारयुतेनेति
 पाकेन सुश्रुतादुक्तविधानेन कृतः क्षारः पाक्यक्षारः, किंवा पाक्यं पूतिकरञ्जं लवणम् ।
 गोमूत्रैरित्यादौ पत्रम् एरण्डादिकं पत्रम् ॥ ४१ ॥

बलां नागबलां पथ्यां भूर्जग्रन्थिं विभीतकम् ।
 वंशपत्रायन्निमन्थं दद्याद् ग्रन्थिविलेपनम् ॥
 दन्तीचित्रकमूलत्वक् सुधार्कपयसी गुडः ।
 भल्लातकास्थि कासीसं लेपो भिन्द्याच्छिलामपि ।
 वहिर्मागार्गाश्रितं ग्रन्थिं किं पुनः कफसम्भवम् ॥ ४२ ॥
 दीर्घकालस्थितग्रन्थिं भिन्द्याद् वा भेषजैरिमैः ॥
 मूलकानां कुलत्थानां यूषैः सक्षारदाडिमैः ।
 गोधूमान्नैर्यवान्नैश्च ससीधुमधुशर्करैः ॥
 सक्षौद्रैर्वारुणीमण्डैर्मातुलुङ्गरसान्वितैः ।
 त्रिफलायाः प्रयोगैश्च पिप्पलीक्षौद्रसंयुतैः ॥
 देवदारुपटुव्योष-प्रयोगैर्गैरिकस्य च ।
 मुस्तभल्लातकसूनां प्रयोगैर्माक्षिकस्य च ॥

ग्रन्थिं लेपयेत् । बलामित्यादि । बलादिकं प्रत्येकं ग्रन्थिविसर्प-
 लेपनं दद्यात् । दन्तीत्यादि । दन्तीमूलत्वक् चित्रकमूलत्वक् स्नुहार्कयोः
 पयसी गुडः भल्लातकस्यास्थि कासीसं हिराकस् इति लोके । एषां
 समानानां लेपो बहल उष्णलेपः शिलामपि भिन्द्यात् कफसम्भवं ग्रन्थिं
 वहिर्मागार्गाश्रितं यत् भिन्द्यात् तत् पुनः किम् ? ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—दीर्घैत्यादि । इमैर्वक्ष्यमाणः । मूलकानामित्यादि । मूलक-
 कुलत्थयोयूषैः सक्षारदाडिमैरित्येकं भेषजम् । गोधूमान्नैः स्विन्नगोधूम-
 तण्डुलैर्यवान्नैस्तथाविधैः ससीधुमधुशर्करैरिति द्वितीयम् । सक्षौद्रैर्वारुणीमण्डैः
 मातुलुङ्गरसान्वितैरिति तृतीयम् । पिप्पलीक्षौद्रसंयुतैस्त्रिफलायाः प्रयोगैश्चतुर्थम् ।
 देवदारु पटु सन्धवं व्योषञ्चषां प्रयोगैरिति पञ्चमम् । गैरिकस्य प्रयोगैरिति
 षष्ठम् । मुस्तादीनां त्रयाणां प्रयोगैः सप्तमम् । माक्षिकस्य प्रयोगैरिति चाष्टमम् ।

चक्रपाणिः—नक्तमालं करञ्जकः । विभीतकस्य वेत्यल कल्केनेति योज्यम् । दन्तीत्यादौ
 लेपो भिन्द्यात् शिलामपि स कफग्रन्थिं नितरां भिन्द्यादिति भावः ॥ ४२ ॥

चक्रपाणिः—इमैरिति वक्ष्यमाणैः । गिरिजं शिलाजतु । गिरिजप्रयोगश्च रसायनोक्तो ज्ञेयः ।

धूमैर्विरेकैः शिरसः पूर्वोक्तगुल्मभेदनैः ।
 अयोलवणपाषाण-हेमतप्तप्रपीडनैः ॥ ४३ ॥
 क्रियाभिराभिः सिद्धाभिर्विविधाभिर्वली स्थितः ।
 ग्रन्थिः पाषाणकठिनो यदि नैवोपशाम्यति ॥
 अथास्य दाहः क्षारेण शरैर्हेम्नाश्च वा हितः ।
 पाकिभिः पाचयित्वा वा पाटयित्वा समुद्धरेत् ॥
 मोक्षयेद् बहुशश्चास्य रक्तमुत्क्लेशमागतम् ।
 पुनरस्य हृते रक्ते वातश्लेष्मजिदौषधम् ॥
 धूमो विरेकः शिरसः स्वेदनं परिमर्दनम् ।
 अप्रशाम्यति दोषे च पाचनं वा प्रशस्यते ॥
 प्रक्लिन्नं दाहपाकाभ्यां भिषक् शोधनरोपणैः ।
 वाहैश्चाभ्यन्तरैर्वापि व्रणवत् समुपाचरेत् ॥ ४४ ॥

प्रलेपविधानेन प्रयोगा एते ज्ञेयाः । पूर्वोक्तधूमैः शिरसो विरेकैस्तथा गुल्म-
 भेदनैरौषधस्तथायः पिण्डतप्तपीडनेन तथा लवणादीनामेकतमतप्तप्रपीडने-
 रिसैर्भेषजैर्ग्रन्थिं दीर्घकालस्थितं भिन्नादिति योजना ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—क्रियाभिरित्यादि । स्पष्टम् । अथास्येत्यादि । उक्तक्रियाभिर्ग्रन्थे-
 र्भेदाभावानन्तरं क्षारेण दाहः शरवा हेम्ना वा हितः । पाकिभिर्व्रणशोथोक्तः ।
 पुनर्बहुशोऽस्योत्क्लेशमागतश्च रक्तं मोक्षयेत् । पुनरित्यादि । एवमस्य पुनरपि
 रक्ते हृते वातश्लेष्मजिदौषधं धूमादिकं कार्यं प्रशस्यते । धूम इत्यादि ।
 शिरसो विरेको धूमः । परिमर्दनमुद्धर्तनम् । तथा च दोषेऽप्यप्रशाम्यति सति
 पाचनं व्रणशोथपाचनं वा प्रशस्यते । प्रक्लिन्नमित्यादि । दाहपाकाभ्यां
 युक्तं प्रक्लिन्नं ग्रन्थिं वाहैः शोधनरोपणैर्वाभ्यन्तरैर्वा शोधनरोपणैर्व्रणवत्
 समुपाचरेत् ॥ ४४ ॥

मुखसक्तवो मुखवोष इत्यादिना कुण्डोक्ताः । भ्रूतकसक्तवो रसायनोक्ताः । अयोलवणेत्यादि
 तप्तायःप्रभृतिभिः पीडनैरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

कम्पिल्लकविडङ्गानि त्वचो दाढ्यास्तथैव च ।
 पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं ग्रन्थिघ्नं चिकित्सितम् ॥
 द्वित्रणीयोपदिष्टेन कर्मणा वाप्युपाचरेत् ।
 देशकालविभागज्ञो व्रणान् वीसर्पजान् बुधः ॥ ४५ ॥
 य एव विधिरुद्दिष्टो ग्रन्थीनां निवृत्तये ।
 स एव गलगण्डानां कफजानां निवृत्तये ॥
 गलगण्डास्तु वातोत्था ये कफानुबला नृणाम् ।
 घृतक्षीरकषायाणामभ्यासान्न भवन्ति ते ॥ ४६ ॥
 यानीह कर्माण्युक्तानि विसर्पाणां निवृत्तये ।
 एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः ॥
 विसर्पो न ह्यसंस्पृष्टो रक्तपित्तेन लक्ष्यते ।
 तस्मात् साधारणं सर्वमेतदुक्तं चिकित्सितम् ॥

गङ्गाधरः—कम्पिल्लेत्यादि । कम्पिल्लकविडङ्गदाढ्यास्तथैव च । कल्कैश्चतुर्गुण-
 जले तैलं पक्त्वा ग्रन्थिघ्ने दद्यात् । अपरञ्चाह द्वित्रणीयेत्यादि । स्पष्टम् ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—चिकित्सिततुल्यत्वादाह—य एवेत्यादि । ग्रन्थीनां वीसर्पाणाम्
 एष य एव विधिरुद्दिष्टः, स एव विधिः कफजानां गलगण्डानां निवृत्तये कार्यः ।
 गलगण्डा इत्यादि । ये कफानुबला वातोत्था गलगण्डास्ते घृतादीनामभ्या-
 सात् न भवन्ति ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—यानीत्यादि । इह विसर्पाणां निवृत्तये यानि कर्माण्युक्तानि
 तानि सर्वाणि कर्माण्येकतः एकस्यां दिशि वर्तन्ते । एकं रक्तमोक्षणमेकतो
 वर्तते । कस्मात् ? विसर्पो न हीत्यादि । हि यस्माद् विसर्पो रक्तपित्तेनासंस्पृष्टो
 न लक्ष्यते सर्व एव विसर्पो रक्तपित्तेन संस्पृष्ट एव लक्ष्यते, तस्मात् साधारणं

चक्रपाणिः—पाकिभिरिति पाचनपिण्डैः । पुनश्चेत्यादिना उक्ता अपि धूमादयः पुनः अपनीत-
 ग्रन्थिविषयतया विधीयन्ते, तेन चेह न पुनरुक्तिः ॥ ४४ । ४५ ॥

चक्रपाणिः—ग्रन्थिघ्नं चिकित्सितं यदुक्तं तदेवातिदिशञ्चाह—य एवेत्यादिना । गलगण्डानामिति
 बहुवचनानि गलगण्डगण्डमालाऽपचीविवक्षितानि ॥ ४६ ॥

विशेषदोषवैशेष्यान्न च नोक्तः समासतः ।

समासव्यासनिर्देशैरुक्तञ्चैतच्चिकित्सितम् ॥ ४७ ॥

तत्र श्लोकाः ।

निरुक्ता नामभेदाश्च दोषा दूष्याश्च हेतवः ।

आश्रयो मार्गतश्चैव विसर्पगुरुलाघवम् ॥

लिङ्गान्युपद्रवा ये च यल्लक्षण उपद्रवः ।

साध्यत्वं न च साध्यत्वं साधनञ्च यथाक्रमम् ॥

इति पिप्रोषवे * सिद्धमग्निवेशाय धीमते ।

पुनर्व्वसुखाचेदं वीसर्पाणां चिकित्सितम् ॥ ४८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते

चिकित्सितस्थाने विसर्परोगचिकित्सितं नाम

एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

वातपित्तकफरक्तसाधारणमेतच्चिकित्सितमुक्तं दोषवैशेष्यान्न च विशेष उक्तः ।

न च समासतोऽप्युक्तः । समासव्यासनिर्देशैश्चिकित्सितञ्चैतदुक्तमिति ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमाह—तत्र श्लोका इति । निरुक्ता इत्यादि । पिप्रोषवे प्रेतुमिच्छवे ॥ ४८ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल प्रतिसंस्कृत एव च ।

चिकित्सिते विसर्पाणामध्याये त्वेकविंशके । वद्यगङ्गाधरकृते जल्पकल्पतरौ

पुनः । चिकित्सास्थानजल्पे तु षष्ठस्कन्धे विसर्पिणाम् ।

चिकित्सितजल्पो नाम शाखेयमैकविंशिकी ॥ २१ ॥

चक्रपाणिः—विसर्प रक्तमोक्षणस्तुतिमाह—यानीत्यादि । रक्तमोक्षणे एव कुतः प्राधान्यमित्याह—

विसर्पे नेत्यादि । साधारणमिति वातकफविसर्पे रक्तपित्तहरं चिकित्सितं युक्तमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

चक्रपाणिः—निरुक्तमित्यादिसंग्रहः । यल्लक्षण उपद्रव इति यादकलक्षणोनोपद्रवेण न साध्य-
मित्यर्थः । पिप्रक्षवे प्रेतुमिच्छवे ॥ ४८ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्व्वेददीपिकायां

चरकतात्पर्य्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां विसर्पचिकित्सितं

नाम एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः ।

अथातस्तृष्णाचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

ज्ञानप्रशमनगोभिः ख्यातोऽत्रिसुतो जगद्धितैऽभिरतः ।

तृष्णानां प्रशमार्थं चिकित्सितं प्राह पञ्चानाम् ॥ २ ॥

क्षोभाद् भयाच्छ्रमादपि शोकात् क्रोधाद् विलङ्घनान्मद्यात् ।

क्षाराम्ललवणकटुकोष्णरूक्षशुष्कान्नसेवाभिः ॥

धातुक्षयगदकर्षणवमनाद्यतियोगसूर्य्यसन्तापैः ।

पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यं धातुं विशोषयतः * ॥

गङ्गाधरः—उद्दिष्टक्रमादेतदध्यायानन्तरं तृष्णाचिकित्सितमाह—अथात इत्यादि । सर्व्वं पूर्व्ववद् व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—ज्ञानेत्यादि । अत्रिसुतः कृष्णात्रिपुत्रः पुनर्व्वसुः । पञ्चानां तृष्णानाम् । अष्टोदरीये प्रागुक्तं पञ्च तृष्णा इति । पञ्च तृष्णा इति वातपित्तामक्षयोपसर्गात्मिका इति । तासां पञ्चानां तृष्णानामिति ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—क्षोभादित्यादि । क्षुभसञ्चलने मनःशरीरयोः क्षोभः क्लेशजनक-
चालनम् । क्षाराम्लादिशुष्कान्नसेवाभिः । गदकर्षणं रोगान्तरेण कर्षणम् ।

चक्रपाणिः—विस्मै प्रायेण तृष्णा उपद्रवरूपा भवति इति विस्मयानन्तरं तृष्णाचिकित्सित-
मुच्यते ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—ज्ञानं विज्ञानम् । प्रशमः शान्तिः । तपश्चान्द्रायणादि । चिकित्सितं चिकित्सा-
विधायको ग्रन्थः । निदानाद्यभिधानञ्च चिकित्सार्थमेव निदानादिज्ञानपूर्व्वकत्वाच्चिकित्सायाः ।
पञ्चानामिति वचनेन पञ्चानामपि चिकित्सविषयत्वं दर्शयति । न हि कासश्वासवदस्यासाध्यत्वम् ।
तथा सुश्रुतोक्तनिरुक्तिः पञ्चस्वपि तृष्णासु भवति । उक्तं हि सुश्रुते—‘तिष्ठः स्मृतास्ताः क्षतजा-
चतुर्थी क्षयात् तथाह्यामसमुद्भवा च । स्यात् सप्तमी भक्तनिमित्तजा चे’ति ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—क्षोभादित्यादुक्तनिदानस्य योगात् वातपित्तकर्तृत्वं चोन्नेयम् । पित्तानिला-
विति सर्व्वतृष्णासम्प्राप्तग्रन्थः । सौम्यान् धातूनि च सोमगुणातिरिक्तान् । प्रदूषयतः इति

* सौम्यान् धातून् प्रदूषयतः इति चक्रसम्मतः पाठः ।

रसवाहिनोश्च धमनोर्जिह्वामूलगलतालुककूर्मनः ।

संशोष्य तृष्णां देहे कुरुतस्तृष्णामतिबलां तौ ॥

पीतं पीतं हि जलं शोषयतस्तावतिबलौ न याति शमम् । *

घोरा व्याधिकृशानां प्रभवत्युपसर्गभूता सा ॥ ३ ॥

प्राग्रूपं मुखशोषः स्वलक्षणं सर्व्वदाम्बुकामित्वम् ।

तृष्णानां सर्व्वसां लिङ्गानां लाघवमपायः ॥ ४ ॥

वमनादि वमनविरेचनादि संशोधनम् । सौम्यं धातुं कफरसादिकम् । रसवाहिनीधमनीर्जिह्वामूलदीर्घां शोषयतः पित्तानिलौ । क्लोम कण्ठोरसोः सन्धिः । एतान् सौम्यधातुरसवाहियमन्यादीन् संशोष्य तौ पित्तानिलौ तृष्णां देहेऽतिबलां तृष्णां कुरुतः । तावतिबलौ पित्तानिलौ तृभिः पीतं पीतं जलं हि यस्माच्छोषयतः । एवं जाता च सा तृष्णा न शमं याति । व्याधिकृशानां घोरा भयानिकोपसर्गभूता प्रभवति ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—तस्याः प्राग्रूपमाह—प्राग्रूपमित्यादि । मुखशोषः सर्व्वसां तृष्णानां प्राग्रूपं भवति । सर्व्वसां तृष्णानां स्वलक्षणं सर्व्वदाम्बुकामित्वम् । सर्व्वसां तृष्णानां लिङ्गानां स्वस्वलङ्गानां लाघवमपाय इति लाघवपदेन स्वाभाविकतृष्णात्यवच्छेदः ॥ ४ ॥

षोडशशेन दूषयतः । (द्वितीयावहुवचनान्तम् ।) देह इत्यनेन एतासां तृष्णानां शरीरद्वयं दर्शयति । या हि मानसी तृष्णा सा शरीरे इच्छाद्वेषात्मिका दुःखात् प्रवर्त्तते इति । या तु देहाश्रयदोषकारणा सा देहजेति भावः । स्वाभाविकतृष्णा यापि वातपित्ते आरम्भे एव, किं साप्यत्र न गृह्यते ? मैवम्, इह अस्वाभाविकव्याधिप्रकरणे नाधिकार इति कृत्वा स्वाभाविक-तृष्णाकरवातपित्ताभ्यां वक्ष्यमाणतृष्णाकरवातपित्तानां विशेषमाह—पीतं पीतमित्यादि । प्रकृत-तृष्णारम्भकौ पित्तवातौ पीतं पीतं जलं शोषयतः । अतो जलशोषणत्वात् शमं न याति । स्वाभाविक्यां जलं पीत्वा शान्तिमधिगच्छतीति भावः । उपद्रवरूपतृष्णोत्पादमाह—घोरेत्यादि । उपसर्गभूतेति उपद्रवरूपा ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—तृष्णाप्राग्रूपमाह—प्राग्रूपमित्यादि । प्राग्रूपकथने एव मध्ये तृष्णानामव्यभिचारिलक्षणमाह—स्वलक्षणमिति । अव्यभिचारिलक्षणं यथा उदरस्य सन्तापः । पुनः प्रकृतं प्राग्रूपमाह । लिङ्गानां लाघवमिति वक्ष्यमाणवातादिजतृष्णालिङ्गानां अल्पत्वम् । पूर्व्वरूपावस्थायां वक्ष्यमाणलक्षणानि कानिचिच्च न भवन्त्येव । उक्तञ्च—‘अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्व्वरूपमिति स्मृतम्’ इति । किंवा यदेतत् प्राग्रूपं मुखशोषः सर्व्वदाम्बुकामित्वम्, एतच्च स्वलक्षणं

मुखशोषस्वरभेदभ्रमसन्तापप्रलापसंस्तम्भान् ।

तालवोष्ठकण्ठजिह्वाकर्कशतां चित्तनाशञ्च ॥

जिह्वानिर्गममरुचिं बाधिर्यं मर्मदूयनं सादम् ।

तृष्णोद्भूता कुरुते पञ्चविधा लिङ्गतः शृणु ताः ॥ ५ ॥

अव्धातुं देहस्य कुपितः पवनो यदा विशोषयति ।

तस्मिन् शुष्के शुष्यत्यवलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन् ॥

निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्कविरसमुखता च ।

स्रोतोऽवरोध इति च स्याल्लिङ्गं वाततृष्णायाः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—तृष्णायाः प्राबल्ये सामान्यलक्षणमाह—मुखशोषेत्यादि । उद्भूता प्रबला तृष्णा मुखशोषादीन् ताल्वादिकर्कशतां चित्तनाशञ्च जिह्वानिर्गमं वहिर्निःसरणं मर्मदूयनं वक्षस उपतापं कुरुते पञ्चविधास्ताः प्रागभिहिताः वातपित्तामक्षयोपसर्गात्मिकास्तृष्णाः शृणु । ननु अन्यत्र सप्त तृष्णा अभिहिताः, तद्वया । तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी क्षयात् तथा ह्यामसमुद्भवा च । भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासां निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशश्चेति । कथमिह पञ्च तृष्णा इति ? उच्यते । वक्ष्यते ह्यत्रव प्रतितृष्णं कारणं ततो नाधिकास्ति तृष्णा ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—वाततृष्णालक्षणमाह—अव्धातुमित्यादि । कुपितः पवनो यदा देहस्याव्धातुं विशोषयति तदा तस्मिन्नाव्धातो शुष्के सति अवलः पुमान् शुष्यति चाथ विशुष्यन् तृष्यति । तस्य निद्रानाशादीनि च स्युः । स्रोतोऽन्-जलवहं तस्यावरोधः इति च वाततृष्णाया लिङ्गम् ॥ ६ ॥

तृष्णानां, तथा पूर्वरूपञ्च भवतः । ये तु प्रागरूपं मुखशोषः सर्व्वदाम्बुकासित्वमिति पठन्ति, तेषां मते तृष्णायाः स्वलक्षणं लोके स्यात् । उक्तञ्च—‘स्वलक्षणन्तु तृष्णानां सर्व्वदाम्बु-पिपासिते’ति । किंवा मुखशोषे एव सर्व्वदाम्बुकासित्वं लिङ्गानाञ्च लाघवं रोगरूपाया-स्तृष्णाया आगमनमित्यर्थः । तृष्णानां व्युपरमो वक्ष्यमागलिङ्गानामन्यथात्वम् । सर्व्वदोच्छेदो हि तृष्णालक्षणानां न भवत्येव । सहजतृष्णाग्रस्तत्वेन तल्लक्षणानां अल्पमात्रतयावस्थानात् । लिङ्गानां लाघवमाशूपादः । अपायो मरणमिति कृत्वा तृष्णानामसाध्यतालक्षणमिदमुच्यते ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—सर्व्वतृष्णानामुपद्रवानाह—मुखशोष इत्यादि । ये तु मुखशोषादीनि लक्षणा-न्याहुस्तन्मते तृष्णोपद्रवानभिधानं स्यात् । उपद्रवाश्चाध्यायसंग्रहे संगृहीताः तेनातिशयवृद्धाः मुखशोषादय उपद्रवाः । वृद्धास्तु लिङ्गानीति व्यवस्था ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—अव्धातुमित्यादिना पञ्चानां पृथक् सम्प्राप्तिमाह । कुपितः पवनः देहे नाना-रसादिरुपतया स्थितं अव्धातुं विशोषयति, शुष्केऽव्धातो शुष्यतीति योज्यम् । स्रोतोऽवरोध इति प्रत्युपघातः ॥ ६ ॥

पित्तं मतमाग्नेयं कुपितं चेत् तापयत्यब्धातुम् ।

सन्तप्तः संजनयेत् * तृष्णां दाहोल्बणां नृणाम् ॥

तिक्तास्यत्वं शिरसो दाहः शीताभिनन्दता मूर्च्छा ।

पाताक्षिमूत्रवर्चस्त्वमाकृतिः पित्ततृष्णायाः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—पित्ततृष्णालक्षणमाह—पित्तमित्यादि । आग्नेयमग्निस्तेजोनाम-
भूतं तद्वहुलपाञ्चभौतिकं मतम्, तच्चेत् कुपितमब्धातुं तापयति, स सन्तप्तो
ऽब्धातुनृणां दाहोल्बणां तृष्णां संजनयेत् । तेषां नृणां तिक्तास्यत्वादीनि
च स्युः । पित्ततृष्णाया आकृतिरिति । इह अब्धातुं चेत् कुपितं पित्तं तापयतीति
यदुक्तं तेन कुपितपित्तसन्तप्तः कफोऽप्यब्धातुस्तृष्णां संजनयेदिति ख्यापितम् ।
तस्याः सम्प्राप्तिरियमुक्तान्यत्र । वाष्पावरोधात् कफसंवृतेऽग्नौ तृष्णा वलाशेन
भवेत् तथा च । निद्रागुरुत्वं मधुरास्यता च तृष्णादितः शुष्यति चातिमात्रमिति ॥
न ततोऽधिकसङ्ख्यास्तृष्णायाः । एतदभिप्रायेणैव हारीतेनाप्युक्तम्—स्वाद्वम्ल-
लवणाजीर्णैः क्रद्धः श्लेष्मा सहोष्मणा । प्रपद्याम्बुवहं स्रोतस्तृष्णां संजनयेत्
तृष्णाम् । शिरसो गौरवं तन्द्रा माधुर्यं वदनस्य च । भक्तद्वेषः प्रसेकश्च
निद्राधिक्यं तथैव च । एतैर्लिङ्गैर्विजानीयात् तृष्णां कफसमुद्भवमिति ।
दोषतारतम्यन्तु नेह तन्त्रे विशेषेणोक्तम् । पित्तप्रधानत्वेऽब्धातुसन्तापे
दाहोल्बणादितृष्णा भवति । अप्रधानं पित्ततापितेऽब्धातौ खलु कफादौ
हारीतोक्तलक्षणा तृष्णा भवतीति कफजव्यपदेशो हारीतादिना कृतोऽस्मिंस्तु
तन्त्रे पित्तजायामन्तर्भाव इति अभिप्रायभेदान्न विरोधः ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—पित्तमित्यादिना पित्तजामाह—शरीरसंख्याशारीरे एवमुक्तम् यद् द्रव-सर-
मन्द-स्निग्ध-मृदु-पिच्छिलरसधिरवसाकफपित्तमूलस्वेदादि तदाप्यं रसो रसनञ्चेत्यनेन, तथा
तत्रैव यत् पित्तमित्यनेन द्वायात्मकत्वं पित्तस्य यद्यप्युक्तं तथाप्याग्नेयबाहुल्यात् पित्तमाग्नेयमेवेति
दर्शयन्नाह—पित्तं मतमाग्नेयमिति । द्वायात्मकत्वेऽपि च पित्तस्याग्नेयांशप्राधान्यात्, अन्यत्वापि
सौम्याग्नेयवायव्याधिकारभेदैः पैत्तिकविकाराः आग्नेयत्वेन गृहीता एव । सन्तप्तः स हीति
स अब्धातुः सन्तप्तः । सन्तप्तः समिति पाठपक्षे पित्तमेव जनयेदिति योज्यम् । यदाब्धातुजनयति
तदा पित्तसन्तप्त एव जनयतीति पित्तस्यैव कर्तृत्वम् ॥ ७ ॥

सन्तप्तः स हीति चक्रसम्मतः पाठः ।

तृष्णा यामप्रभवा साप्याग्नेयी न पित्तजनितत्वात् ।

लिङ्गं तस्याश्चारुचिराध्मानकफप्रसेकौ च ॥ ८ ॥

देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च तस्य क्षयाच्च तृष्येद्धि ।

दीनस्वरः प्रताम्यन् संशुष्कहृदयगलतालुः ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—आमजतृष्णामाह—तृष्णेत्यादि । उष्मणोऽस्पवल्त्वेन धातु-
माद्यमपाचितम् । दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते । इति । तस्मादामात्
प्रभवा तु या तृष्णा साप्याग्नेयी योऽन्नरस आग्नेयान्नज एवापाचित आमः स्यात्
तदामजा तृष्णा भवतीत्याग्नेयी न तु पित्तजनितत्वादाग्नेयी । तस्या लिङ्गम्
अरुच्यादित्रयमिति । वातजपित्तजाभ्यामतिरिक्तामजा पृथक् पठिता ।
अन्यत्रामतस्त्रिदोषकोपात् त्रिदोषलिङ्गामसमुद्भवा तु हृच्छूलनिष्ठीवनसाद-
कर्त्रीति पठ्यते ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—क्षयजतृष्णामाह—दह इत्यादि । मधुरादिषड्रसान्नगतषड्र-
रसजो गर्भिण्या रसो नामाद्यधातुस्तद्भवोऽपत्यानां देह एवं रसश्च स्फुट-
षड्रसान्नाहारजाम्बुभव इत्यतस्तस्य रसस्य क्षयाच्च नरस्तृष्यति । भवति खलु
प्रताम्यन् सन् दीनस्वरश्च दीनश्च संशुष्कहृदयगलतालुश्च । भ्रान्तो दीनस्वर-
इत्यादिकमुपसर्गजाया लक्षणतया व्याचष्टे, तन्न ; क्षयजलक्षणानुरूपाति-
रिक्तमिति । अन्यत्र चोक्तम् । रसक्षयाद् या क्षयसम्भवा सा तयाभिभूतश्च
निशादिनेषु । पेपीयतेऽम्भः सं सुखं न याति तां सन्निपातादिति केचिदाहुः ॥
रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि तस्यामशेषेण भिषग् व्यवस्येदिति ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—तृष्णेत्यादिनाऽऽमजामाह । आमशब्देन च समानलक्षणतया कफजाऽपि
गृह्यते । साप्याग्नेयित्यनेन पूर्वपरिज्ञातं सर्वासां वातपित्तजन्यत्वं समुच्यते । वातश्च
तृष्णाकरणेनोक्तोऽपि अत्र प्रधानम् । अन्यत्राप्युक्तम्—‘दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत् तृष्णा
देहमार्दवम् । प्रभावप्रसादौ मेधा पित्तकर्माधिकारज’मिति । आमपित्तजनितत्वादिति आमा-
वरोधवृद्धपित्तजनितत्वादित्यर्थः ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—देहो रसज इत्यादिना आहाररसात् सर्वधातुत्वमुच्यते । स च रसो देहपोषको-
ऽम्बुभव इति आप्यः, तस्य क्षयादिति रसक्षयात् अम्बुक्षयो भवति, तेन चाग्बुक्षयेण पुरुषः
पानीयप्रार्थनारूपतृष्णायां युक्तो भवतीति दर्शयति । उक्तं हि सुश्रुते—‘दोषधातुमलक्ष्णीणो
बलक्ष्णीणोऽपि मानवः । स्वयोनिवर्द्धनं यत् तदन्नपानं प्रकाङ्क्षतीति । इहापि चोक्तं रससंक्षये
तृष्यति ॥ ९ ॥

भवति खलु योपसर्गात् तृष्णा सा शोषिणी कष्टा ।

ज्वरमोहक्षयकासश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ॥

सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रसक्तानाम् ।

घोरोपद्रवयुक्ता तृष्णा मरणाय विज्ञेया ॥

नाग्नोर्विना * हि तर्षः पवनाद् वा तौ हि शोषणे हेतू ।

अध्यातोरतिवृद्धावपां क्षये तृष्यते नरो हि ॥

गङ्गाधरः—पारिशेष्यादुपसर्गात्मिकां तृष्णामाह—भवतीत्यादि । या तृष्णा भवत्युपसर्गा ज्वरादुपसृष्टदेहानां नराणां सा तृष्णा शोषिणी सुखादिशोषकारिणी कष्टा कष्टसाध्या कष्टदा च । ज्वरमोहक्षयकासश्वासादी-
त्यत्रादिशब्देन क्षतमद्यपानात्ययादिजा संश्रुता न त्वतिरिक्ता । कष्टत्वप्रसङ्गा-
दन्यासामपि कष्टत्वमाह—सर्वास्त्वत्यादि । अतिप्रसक्ताः सर्वा एव तृष्णाः
कष्टा भवन्ति । रोगान्तरकृशानाश्च सर्वाः तृष्णाः कष्टा वमिप्रसक्तानाश्च
सर्वाः तृष्णाः कष्टा भवन्ति । परे सर्वासामसाध्यतामाहुः, तन्न ; सर्वा इति
बहुवचनान्तस्य घोरेत्यादिप्रथमैकवचनान्तैरन्वयाभावात् । तस्मात् कष्टा इत्यनेन
वचनविपरिणामेनान्वयः । सर्वास्त्विति तुशब्देन कष्टा इत्यस्यानुकर्षात् ।
असाध्यामाह । घोरेत्यादि । घोरा भयानिका या तृष्णा भवत्युपद्रवयुक्ता
वातादुपसृष्टलिङ्गा सती तदुत्तरकालजातरोगयुक्ता, सा तृष्णा मरणाय
विज्ञेया । इति । नन्वाभ्योऽप्यतिरिक्तास्तृष्णाः दृश्यन्ते ताः कथं नोप-
दिश्यन्त इत्यत आह । नाग्नेरित्यादि । हि यस्मादग्नेस्तेजसो विना पवनाद् वा
विना तर्षो न भवति । कस्मात् ? तावित्यादि । हि यस्मादध्यातोरतिवृद्धौ
शोषणे हेतू तावन्निपवनौ भवतः, तस्मान्नरोऽपां क्षये तृष्यते । तथाहि चाह ।

चक्रपाणिः—भवतीत्यादिनोपसर्गाजामाह । ज्वरादुपद्रवरूपा भवति । कष्टेति कष्टसाध्या ।
एवं प्राक्सूचितवातपित्तामासृक्षयोपसर्गात्मिका पञ्च तृष्णा व्याहृताः । अत्रैव सुश्रुतोक्ता
कफजा सामजायामवरुद्धा, क्षतजा उपसर्गात्मिकायामवरुद्धा । अक्षजाया आमैनैवान्तर्भावनीया ।
इदानीं तृष्णाया असाध्याया लक्षणमाह—सर्वास्त्वित्यादि । घोरोपद्रवयुक्तेति पीडाकरोप-
द्रववती । सम्प्रति तृष्णान्तराणां उक्ततृष्णायामेवान्तर्भावं दर्शयन् उक्तवक्तव्यतृष्णानामपि
वातपित्तक्षयजन्यत्वमाह—नाग्निमित्यादि । कस्मात् पुनः अग्निवातौ विना तर्षो न भवतीत्याह ।
तौ हि अतिवृद्धौ पित्तरूपौ अग्निवातौ अध्यातुशोषणे हेतू । तस्मान्नाग्निवातौ विना तर्षः

गुर्वन्नपयःस्नेहैः सम्मूर्च्छद्भिर्विदाहकाले च ।

यस्तृषेद् वृत्तमार्गे तत्राप्यनिलानलौ हेतू ॥ १० ।

तीक्ष्णोष्णरुद्धभावात्म्यं पित्तानिलौ प्रकोपयति ।

शोषयतोऽपां धातुं तावेव हि मद्यशोलानाम् ॥

तप्तास्त्रिव सिकतासु हि तोयमाशु शुष्यति क्षिप्तम् ।

तेषां सन्तप्तानां हिमजलपानाद् भवति शर्मम् ॥

शिशिरस्नातस्योष्णो(ष्मा) रुद्धः कोष्ठं प्रपद्य तर्षयति ।

तस्माद् भजेत सहसा नोष्णः स्नाने जलं शीतम् ॥

गुर्वन्नेत्यादि । विदाहकाले पाककाले सम्मूर्च्छद्भिः परस्परं संयोगविभागाभ्यामेकीभावमापद्यमानैर्गुर्वन्नपयःस्नेहैर्वृत्तमार्गे पवनतेजसोर्गतिवत्मावरणे यः पुमांस्तृष्येत् तत्रापि पवनानिलौ हेतू भवतः । तस्मादन्नजा तृष्णा नातिरिक्ता ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—या चापरा मद्यजा तृष्णा तामाह—तीक्ष्णेत्यादि । मद्यं तीक्ष्णार्णौ पित्तानिलौ प्रकोपयति, मद्यकुपितौ तावेव पित्तानिलौ मद्यशीलान् पां धातुं शोषयतः । तप्तास्त्रिव यथा तप्तासु सिकतासु क्षिप्तं तोयमा शुष्यति । तेषां मद्यसन्तप्तानां नृणां हिमजलपानाच्छर्मं भवति । तस्माद् वातपित्तजतृष्णातिरिक्ता न मद्यजा तृष्णा । अपरा च या दृश्यते तामाह—शिशिरेत्यादि । शिशिरे स्नातस्य चोष्णो देहोष्मा रुद्धः सन् कोष्ठं जठरं प्रपद्य तर्षयति । तस्मादुष्णः सन्तप्तदेहः पुमान् स्नाने शीतं जलं सहसा न भजेत । अत्रापि देहोष्मा पित्तविशेष एव, तज्जातेयं तृष्णा नातिरिक्ता ।

इत्युक्तमित्यर्थः । एवमग्निवाताभ्यां कृतेऽपां क्षये स्वरूपादेव नरस्तृष्यति । एवं पित्तवात-हताब्धातुक्षयजत्वमभिधाय अन्तर्भावनीयतृष्णामाह—गुर्वन्नेत्यादि । सम्मूर्च्छद्भिरिति एकतां गच्छद्भिः । अत्र वातो वृद्धः सम्मूर्च्छने अमुष्य तृष्णाकरः विदाहकाले च तृष्णा तत्र पित्तं तृष्णाकरम् ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—भयजामपि अन्तर्भावयन्नाह—तीक्ष्णोष्णेत्यादि । सिकतासु हि तोयमिति प्रशमकथनम् । शर्मैति सुखम् । शीतजामन्तर्भावयन्नाह—शिशिरेत्यादि । शिशिरं शीतम् । उष्मा रुद्ध इति शीतस्पर्शं बलेन बहिर्निर्गच्छन् रोमकूपैः उष्मावरुद्धः प्रतीपीकृतः । एतेन एतस्यापि पित्तजत्वमुक्तम् । न सहसेत्यनेन विश्रमार्थं, शीतजलसेवायां न तथाविधा तृष्णा

लिङ्गं सर्वास्वेतास्वनिलक्षणात् पित्तजं भवत्यथ तु ।

पृथगागमाच्चिकित्सितमतः प्रवक्ष्यामि तृष्णानाम् ॥ ११ ॥

अप्संक्षयाच्च तृष्णा संशोष्य नरं मारयेदाशु ।

तस्मादैन्द्रं तोयं समधु पिवेद् तद्गुणं वान्यत् ॥

किञ्चित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतं सुगन्धि सुरसञ्च ।

अनभिष्यन्दि च यत् तत् क्षितिस्थितमथेन्द्रवज्ज्ञेयम् ॥

शृतशीतं ससितोषलमथवा शरपूर्वपञ्चमूलेन ॥ १२ ॥

आसां लिङ्गमाह—लिङ्गमित्यादि । एतासु गुर्वन्नजादिषु सर्वासु तृष्णासु यदाऽनिलक्षयो भवति, तदा पित्तजं लिङ्गं भवतीति तृष्णानिदानमुक्तम् । अथ तु निदानोपदेशादनन्तरं पृथगागमात् पृथग्वातादिजत्वेन तृष्णानामुपदेशात् तृष्णानां चिकित्सितमतः पृथक् प्रवक्ष्यामि ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अप्संक्षयादित्यादि । तृष्णा हि यस्मादव्यातुसंक्षयात् संशोष्य नरमाशु मारयति, तस्मादैन्द्रं वृष्टिसम्भवं जलं समधु पिवेत् तद्गुणमैन्द्रजलगुणवदन्यद् वा जलं समधु पिवेत् । दिवाक्किरणैर्जुष्टं जृष्टमिन्दुकरैर्निशि वायुनास्फालितं शश्वत् तत्तुल्यं गगनाम्बुनेति । तद्गुणमन्यज्जलमाह—किञ्चिदित्यादि । किञ्चित्कपायानुरसं तनु चाघनं लघु च शीतञ्च सुगन्धि च सुरसञ्चानभिष्यन्दि च यद्भूमिस्थितं जलं तदैन्द्रजलवज्ज्ञेयमिति । शृत-शीतमित्यादि । अर्द्धावशिष्टं जलं शृतं ससितोषलं शर्करामिश्रं पिवेत् । अथवा शरादिपञ्चमूलेन शृतं ससितोषलं पिवेत् ॥ १२ ॥

भवतीति दर्शयति । सम्प्रति भिन्नसंमूर्च्छनादीनां दथोक्तक्रमेण अनिलपित्तजावरोधमभिधाय सर्वास्वेतानिलक्षयपित्तजत्वम् उपदर्शयन्नाह—लिङ्गं सर्वास्वित्यादि । पृथगागमादिति पृथग्हेतुत्वात् । आगच्छत्यस्यादिति आगमो हेतुः । वातादिहेतुभेदाच्चिकित्सितभेदं वक्ष्यामीत्यर्थः । किंवा पृथक् हि चिकित्सितं वक्ष्यामि । आगमादिति आयुर्वेदागमप्रामाण्यात् । आगमे तृष्णानां भेदेन चिकित्साभिधानात् अहमपि पृथक् चिकित्सां वक्ष्यामीत्यर्थः ॥ ११ ॥

चक्रपाणिः—अप्संक्षयादित्यादिना चिकित्सामाह । ऐन्द्रमित्यान्तरिक्षम् । तद्गुणं वान्यदिति यदुक्तं तथाह—किञ्चिदित्यादि । तुवरोऽनुरसतया रस्यते आस्वाद्यते यस्मिन्निति तुवरानुरसम् । आन्तरिक्षं जलं अव्यक्तसर्व्वरसयुक्तम्, अव्यक्तीभावंस्तु गन्धरसानां प्रकृतो भवति । ऐन्द्रवदित्यनेन अन्तरिक्षानुकारि । शरेभुदर्भकुशकाशानां मूलमेव च इत्यतोक्तेन शरपञ्चमूलेन ॥ १२ ॥

लाजानां सक्तूनां समधुसितं मन्थमैन्द्रेण ।
 वाय्वश्चामयवानां शीतं मधुशर्करायुतं दद्यात् ।
 पेयां वा शालीनां दद्याद् वा कोरदूषाणाम् ॥ १३ ॥
 पयसा शृतैन भोजनमथवा मधुशर्करायुतं योज्यम् ।
 पारावतादिकरसैर्घृतभृष्टैर्वाप्यलवणाम्लैः ॥
 तृणपञ्चमूलमुञ्जातकैः पियालजैश्च जाङ्गलाः सुकृताः ।
 शस्ता रसाः पयो वा तः सिद्धं शर्करामधुमत् ॥
 शतधौतघृतैनाक्तः पयः पिबेच्छीततोयमवगाह्य ।
 मुद्गमसूरचणकजा रसाश्च घृतभर्जिता देयाः ॥ १४ ॥
 मधुरैः सजीवनीयैः शीतैश्च सतिक्तकैः शृतं क्षीरम् ।
 पानाभ्यञ्जनयोगेष्विष्टं मधुशर्करायुतम् ॥

गङ्गाधरः—लाजानां सक्तूनां समधुसितं समधुशर्करं मन्थमैन्द्रजलेन कृतं दद्यात् । आमयवानां वाय्वं मण्डं शीतं मधुशर्करायुतं दद्यात् । पेयां वेत्यादि । शालीनां पेयां वा कोरदूषाणां वा पेयां दद्यात् ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—अथवा पयसा शृतेन पक्वेन दुग्धेन मधुशर्करायुतं भोजनमन्नं योज्यम् । भोजने व्यञ्जनार्थमाह—पारावतेत्यादि । घृतभृष्टैः पारावतादि-मांसरसैर्वाप्यलवणाम्लैर्लवणाम्लवर्जितैर्भाजनं दद्यात् । रसांश्चाह तृणेत्यादि । मुञ्जातक औत्तरापथिकः कन्दः । तृणपञ्चमूलं कुशादिपञ्चमूलं मुञ्जातक-श्चेत्येतैः शृततायैः पियालफलरसैश्च सिद्धा जाङ्गलाः पारावतादीनां मांसरसाः शस्ताः । अथवा तैस्तृणपञ्चमूलमुञ्जातैः पियालैश्च सिद्धं पयः शर्करामधुमत् शस्तम् । शतधौतेत्यादि । तृष्णावान् नरः शतधौतघृतैनाक्तः सन् शीततोयम् अवगाह्य पयः पिबेत् । मुद्गादिरसाश्च घृतभर्जिता देयास्तृष्णावते ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—मधुरैरित्यादि । सजीवनीयैर्मधुरैर्द्रव्यैः शृतं क्षीरं तथा शीतैः सतिक्तकैर्द्रव्यैः शृतं क्षीरं मधुशर्करायुतं तृष्णावतां पानाभ्यञ्जनयोगेषु

चक्रपाणिः—आमयवानां वाय्वं ईषद्भृष्टयवमण्डः ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—तैरिति तृणपञ्चमूल्यादिभिः । मधुरैरिति मधुररसैः । शीतैरिति शीतवीर्यैः ॥ १४ ॥

तज्जं वा घृतमिष्टं पानाभ्यङ्गेषु नस्यमपि च स्यात् ।

नारीपयः सशर्करमुष्ट्रा अपि नस्यमिचुरसः ॥

क्षीरेक्षुरसगुडोदकसितोपलाक्षौद्रसीधुमाध्वीकैः * ।

वृक्षाम्लैर्मातुलुङ्गैर्गण्डूषास्तालुशोषघ्नाः ॥ १५ ॥

जम्बुवाम्नातकबदरीवेतसपञ्चपल्लवैश्चाम्लाः ।

हन्मुखशिरःप्रदेहाः संश्रितमूर्च्छाभ्रमतृष्णाघ्नाः ॥

दाडिमदधित्थलोध्रैः सविदारीबीजपूरकैः शिरसः ।

लेपो गौरामलकैर्घृत तारनालयुतैश्च हितः ॥

शैवलपङ्काम्बुरुहैः साम्लैः सघृतैश्च शक्तुभिलेपाः ॥ १६ ॥

मस्त्वारनालाद्रवसनकमलमणिहारसंस्पर्शाः ।

शिशिराम्बुचन्दनाद्रस्तनतटपाणितलगात्रसंस्पर्शाः ॥

इष्टमिति । तज्जं वेत्यादि । तथाविधमृतक्षीरजं घृतं तृष्णावतां पानाभ्यङ्गेषु स्यान्नस्यमपि च स्यात् । नारीपय इत्यादि । सशर्करं नारीपयस्तृष्णावतां नस्यं स्यात् । उष्ट्रा अपि पयः सशर्करं नस्यं स्यात् । इक्षुरसश्च नस्यमिष्टम् । क्षीरेत्यादि । क्षीरादीनामन्यतमेन गण्डूषारतालुशोषघ्नाः ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—जम्बुवाम्नेत्यादि । जम्बूफलादिभिरम्ला हृदादिषु प्रदेहाः संश्रितान् मूर्च्छादीन् घ्नन्ति । दाडिमेत्यादि । दाडिमादिभिः पञ्चभिः शिरसो लेपः संश्रितमूर्च्छादिषु हितः । गौरामलकैरारनालपिष्टैर्घृतयुतैः शिरसो लेपश्च तेषु हितः । गौरा हरिद्रा । शैवलेत्यादि । शैवलादिभिः सकृन्तैः षड्भिः षट् लेपास्तृष्णाघ्ना इति परेणान्वयः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—मस्त्वारनालान्यतरेणार्द्रवसनस्पर्श-कमल-मणिहारसंस्पर्शाश्च तृष्णाघ्नाः । शिशिराम्बुना चन्दनेन वार्दानां स्तनतटपाणितलगात्राणां

चक्रपाणिः—तज्जमिति मधुरादिशृतक्षीरजम् । मार्दीकं मृद्रीकारसः । गण्डूषो मुखपूरको द्रवः ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—पञ्चाम्लं 'कोलवृक्षाम्लचूकीकासंयुतश्चाम्लवेतसैः । चतुरम्लमिति प्रोक्तं पञ्चाम्लन्तु सदाडिम'मिति वचनाज्ज्ञेयम् । दधित्थः कपित्थः । गौरामलकैरिति आर्द्रतया गौरदण्डैरामलकैः ॥ १६ ॥

* मार्दीकैरिति चक्रसम्मतः पाठः ।

मौक्तिकचौमाद्रं निवसनानां वराङ्गनानां प्रियाणाञ्च ।

हिमवदरीवनसरित्सरोऽम्बुजवनोपवनपादपशिशिराणाम् । *

रम्योदकयुक्तानां स्मरं कथाश्च तृष्णाघ्नाः ॥ १७ ॥

वातघ्नमन्नपानं मृदु लघु शीतञ्च वाततृष्णायाः ।

क्षयकासनुद् घृतं क्षीरमूद्धं वाततृष्णाघ्नम् ॥ १८ ॥

स्याजीवनीयसिद्धं क्षीरं घृतं वातपित्तजे तर्षे ।

पैत्ते द्राक्षाचन्दनखज्जरोशीरमधुयुतं तोयम् ॥ †

लोहितशालिप्रस्थः सलोध्रमधुकाञ्जनोत्पलः चुराणः ।

पक्त्वामलोष्ठमधुजलसमायुतो मृन्मये पेयः ॥

संस्पर्शाः तृष्णाघ्नाः । मौक्तिकादीनाञ्च संस्पर्शाः तृष्णाघ्नाः । आद्रं-
निवसनं निवासस्थानम् । हिमवतां शीतलानां दरीप्रभृतीनां पादपा-
न्तानां शिशिराणां नीहारवारीणाम् एषां रम्योदकयुक्तानाञ्च संस्पर्शाः स्मरणं
कथाश्च तृष्णाघ्नाः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—सामान्यतस्तृष्णाचिकित्सितमुक्त्वा विशेषत आह—वातघ्ने-
त्यादि । वाततृष्णायां वातघ्नान्नपानं मृदु लघु शीतं न तु कठिनगुरुषणम् ।
क्षयकासनुद् यद् यद् घृतमुक्तं तत्तत् पीलोद्धं क्षीरं पीतं वाततृष्णाघ्नम् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—स्यादित्यादि । वातपित्तजे वातजे पित्तजे तदुभयजे च तर्षे ।
पैत्ते तर्षे द्राक्षादिशृतं तोयम् । लोहितेत्यादि । रक्तशालीनां प्रस्थः शरावद्वयम् ।
किञ्चिल्लोध्रमधुकनीलोत्पलसहितः क्षुण्णः कुट्टितः मृन्मये पात्रे जलेन पक्त्वा
अर्द्धशृतजलभूतः आमलोष्ठं मधु च जलञ्च तत्र प्रक्षिप्य स्थापितः स्वच्छोभूतः

चक्रपाणिः—हृन्दुपादाश्चन्द्रश्मयः ॥ १७ ॥

चक्रपाणिः—वातघ्नेत्यादि । तृष्णानां वैशेषिकचिकित्सितमाह—क्षयकासहरैः शृतं क्षय-
कासनुद् घृतम् । ऊर्द्धं वातः श्वासः ॥ १८ ॥

चक्रपाणिः—वातपित्तजे तर्षे इत्यत्र संसर्गाजा तृष्णा असूक्ष्मतापि असूक्ष्मतद्गन्धगुल्मन्याये-
नोच्यते । पैत्ते इत्यत्र तर्षे इति शेषः । लोहितशालिप्रस्थ इत्यादौ लोध्रदीनां मिलातानां
चतुःपलं प्रक्षेप्यन्यायात् पादिकं पक्वामलोष्ठप्रसादनञ्च दत्त्वा शालितण्डुलप्रस्थं क्षुब्धं स्थाप्यते,

* वनेन्दुपादशिशिराणामिति चक्रः ।

† इतः परं—लोहितकशालितण्डुलखर्जूरपुरुषकोत्पलद्राक्षाः । मधु पक्वलोष्ठमेव च जले शृतं
शीतलं पेयमित्यधिकः पाठः कश्चित् ।

वटमातुलुङ्गवेतसपल्लवकुशकाशमूलयल्याहः ।
 सिद्धेऽम्भस्यग्निनिभां कृष्णां मृदं कृष्णसिकतां वा ॥
 तप्तानि नवकपालान्यथवा निर्व्वाप्य पाययेताच्छम् ।
 * अल्पा पक्वशर्कराभृतवल्लीजलं वा तृषं हन्ति ॥
 क्षीरवतां मधुराणां शीतानां शर्करामधुमिश्राः ।
 शीतकषाया मृदभृष्टसंयुक्ताः क्षयतृष्णाघ्नाः ॥
 व्योषवचाभल्लातकतित्तकषायास्तथामतृष्णाघ्नाः ।
 यच्चोक्तं कफजायां छर्द्वां तथैव कार्यं स्यात् ॥ १६ ॥
 स्तम्भारुच्यविपाकालस्यछर्दिषु कफानुगां तृष्णाम् ।
 ज्ञात्वा दधिमधुतर्पणलवणोष्णजलेर्वमनमिष्टम् ॥

शीतः पेय इत्युपदेशः । वटेत्यादि । वटादीनां पल्लवं कुशकाशयोमूलं यष्ट्राहश्च
 जले पक्त्वाद्धृष्टमवतार्य्य पूते सिद्धेऽम्भसि तप्तमग्निनिभां कृष्णवर्णमृत्तिकाम्
 अथवा कृष्णवर्णसिकतामग्निनिभामथवा नवघटादीनां कपालानि तप्तानि
 प्रक्षिप्य निर्व्वाप्य शीतीकृत्याच्छं निर्म्मलं जलं पाययेत् । अथवा अल्पा क्षद्रा
 शर्करा कङ्गराख्या पकाऽग्निना तप्ता निर्व्वापिता अमृतवल्ली गुडूची तस्या जलं
 तथा शृतं जलं तृषं हन्ति । क्षीरवतामित्यादि । क्षीरवतां वटादीनां शीत-
 कषाया मृदभृष्टसंयुक्ताः भृष्टमृत्संयुक्ताः निर्व्वापिताः शर्करामधुमिश्राः क्षय-
 तृष्णाघ्नाः । एवं मधुराणां काकोल्यादीनां शीतकषाया भृष्टमृत्संयुक्ता
 निर्व्वापिताः शर्करामधुमिश्राः । तथा शीतानामामलकादीनां शीतकषाया
 भृष्टमृत्निर्व्वापिताः शर्करामधुमिश्राः । व्योषेत्यादि । व्योषादीनां कषाया
 आमतृष्णाघ्नाः । यच्च भेषजं कफच्छर्द्वामुक्तं तदपि तथैव तेन प्रकारेणैवाम-
 तृष्णायां कार्यं स्यात् ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—स्तम्भेत्यादि । देहस्तम्भादुत्पसर्गेषु कफानुगां तृष्णां ज्ञात्वा

तस्य पानयोग्या मात्रा मधुप्रक्षेपात् मृन्मये पात्रे पीयत इति वृद्धैरुपादर्शितम् । अल्पपक्व-
 शर्करमिति पाकनिमित्तमधुरसहितम् । अमृतवल्ली गुडूची । मृदभृष्टसंयुक्ता इति
 भृष्टमृदयुक्ता इत्यर्थः ॥ १९ ॥

दाडिममदनफलं वाप्यन्यतमकषायमथ लेहम् ।

पेयमथवा प्रदद्याद् रजनोमधुशकरायुतम् ॥ २० ॥

क्षयकासेन तुल्या क्षयतृष्णा सा गरीयसी नृणाम् ।

क्षीणक्षतशोषहितैस्तरमात् तां भेषजैः शमयेत् ॥ २१ ॥

पानतृड्गार्त्तः पानं त्वर्द्धादकमम्ललवणगन्धाढ्यम् ।

शिशिरस्नातः पानं मद्याम्बु गुडाम्बु वा तृषितः ॥

भक्तोपरोधतृषितः स्नेहतृष्णार्त्तोऽथवा तनुं यवागूम् ।

प्रपिबेद् गुरुणा तृषितो भक्तेन तदुद्धरेद् भक्तम् ॥

मद्याम्बु वाम्बु चोष्णं बलवान् तृषितः समुल्लिखेत् पीत्वा ।

मागधिकाविशदमुखः सशर्करं वा पिबेन्मन्थम् ॥ २२ ॥

दध्यादिभिर्वमनमिष्टम् । दाडिमेत्यादि । दाडिममदनफलं वा वमनम् । अन्यतम-
कषायं वमनौषधानामन्यतमकषायं रजनीमधुशर्करायुतं वा वमनं प्रदद्यात् ।
अथवा वमनकल्पोक्तं लेहं रजन्यादियुक्तं वमनं प्रदद्यात् । अथवा वमनोक्तं पेयं
रजन्यादियुक्तं वमनं प्रदद्यात् । इति स्तम्भादिछर्द्दन्तोपसर्गात्मकतृष्णा-
चिकित्सितश्रुतम् ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—अथ क्षयकासोपसर्गतृष्णाचिकित्सामाह—क्षयेत्यादि । क्षय-
कासेन या तृष्णा सा क्षयतृष्णा क्षयकासेन तुल्या, सा तृष्णा गरीयसी ।
तस्मात् क्षीणानां क्षतानां शोषाणाञ्च हितैर्भेषजैस्तां शमयेत् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—मद्यपानोपसर्गतृष्णाचिकित्सामाह—पानेत्यादि । पानं मद्य-
पानं तस्माज्जाततृष्णार्त्तः अम्ललवणगन्धाढ्यमर्द्धादकं पानं मद्यं पिबेदित्य-
ध्याहार्यम् । पानजतृषितः शिशिराम्बुना स्नातः मद्याम्बु मद्यमिश्रमम्बु
गुडाम्बुमिश्रं वा पानं पिबेत् । अन्नोपसर्गतृष्णाचिकित्सामाह—भक्तेत्यादि ।
क्षुधायामभोजनजतृषितः स्नेहपानतृषितो वा तनुमघनां यवागूं मण्डं
प्रपिबेत् । गुरुणा भक्तेन तृषितः तदुद्धरेत् भक्तमुल्लिखेद् वमेत् । तदुद्धरणायम्

चक्रपाणिः—अन्यतमकषायमिति आमलकादिकषायम् ॥ २० । २१ ॥

चक्रपाणिः—पानतृषार्त्त इति अतिशयपानजतृषोद्धितः । भक्तोपरोधो भक्तच्छेदः । मागधिका
पिप्पली ॥ २२ ॥

बलवांस्तु तालुशोषो पिबेद् घृतं वृष्यमनु मद्यम् ।
 सर्पिर्जुष्टं * क्षीरं मांसरसांश्चावलः स्निग्धान् ॥
 अतिरूक्षदुर्बलानां तृष्णां शमयेन्तृणामथाशु पयः ।
 छागो वा घृतभृष्टः शीतो मधुरो रसो हृद्यः ॥
 स्निग्धेऽन्ने भुक्ते या तृष्णा स्यात् तां गुडाम्बुना शमयेत् ।
 तर्षं मूर्च्छाभिहतस्य रक्तपित्तापहर्हेन्यात् ॥ २३ ॥
 छर्द्दाम्लदाहमूर्च्छाभ्रमक्लममदात्ययात्त्रिविषपित्ते ।
 शस्तं स्वभावशीतं शृतशीतं सन्निपातैऽम्भः ॥

आह—मद्याम्बु इत्यादि । बलवान् गुरुभक्तजतृषितः पुमान् मद्याम्बु पीत्वा
 अथवोष्णाम्बु पीत्वा समुल्लिखेत् । वान्तः सन् मार्गविकां चर्वयित्वा विशदमुखः
 सन् सशर्करं मन्थं वा पिबेत् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—तालुशोषचिकित्सामाह—बलवांस्त्वित्यादि । तृष्णायां तालु-
 शोषवान् बलवांस्तु वृष्यं वाजीकरणोक्तं घृतं पिबेत् तदनु मद्यं पिबेत् ।
 अवलस्तालुशोषी सर्पिर्जुष्टमनुद्धृतसर्पिः क्षीरं सर्पिःप्रक्षिप्तं वा क्षीरं
 पिबेत् । स्निग्धान् मांसरसांश्च पिबेत् । अतिरूक्षेत्यादि । अथातिरूक्षा
 दुर्बलाश्च ये तेषां या तृष्णा तामाशु शमयेत् पयः । छागो वा मधुरो
 हृद्यः शीतो मांसरसो घृतभृष्टः शमयेत् । स्निग्ध इत्यादि । वैद्य इति शेषः ।
 मूर्च्छाभिहतस्य या तृष्णा तां रक्तपित्तापहर्भेषजैर्हर्हेन्यात् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—छर्द्दित्यादि । छर्द्दादिषूपसर्गरूपा या तृष्णा तस्यां स्वभाव-
 शीतमम्भः शस्तम्, सन्निपाते त्रिदोषिकव्याधौ त्रिदोषहरद्रव्येण शृतशीतमम्भः

चक्रपाणिः—तालुशोषे यद्यपि घृतं निषिद्धं यदुक्तं 'तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यः तालुशोषिणः'
 न पिबेयुर्घृतम्' इति, तथापि बलवतो वृष्यघृतपानं बोध्यम् । किंवा वातोत्बणावस्थायाम-
 नेतद् घृतपानम् । गुडाम्बु स्निग्धं स्निग्धगुडसहितत्वान्नहितम् । उक्तं हि—'यदाहारगुणैः
 पानं विपरीतन्तु दृश्यते' । (१) तदा दृश्यत इति । तदा मधुरतया तृष्णाहरत्वात् तु प्रभावा-
 चोपयुज्यते । शीतमुष्णञ्च जलं कुक्षं देयं वर्ज्यं वा कुर्वेत्याह । तर्षं मूर्च्छेत्यादिना
 औपसर्गिकतृष्णाचिकित्सोच्यते । विषपित्ते इति विषे पित्ते च । सन्निपाते इति सन्निपाते

हिकाश्वासनवज्वरपीनसघृतपोतः श्वगलरोगे ।
 कफवातकृतौ स्त्याने सद्यः शुद्धे च हितमुष्णम् ॥
 पाण्डूदरपीनसमेहगुल्ममन्दानलातिसारेषु ।
 ग्रीहि च तोयं न हितं काममशक्ये बिबेदल्पम् ॥ २४ ॥
 पूर्वामयातुरः सन् दोनस्तृष्णाद्वितो जलं काङ्क्षन् ।
 न लभेत चेन्मरणमाश्वेव चाप्नुयाद्दीर्घरोगं वा ॥
 तस्माद्धान्याम्बु पिबेत्तृषण् रोगो सशर्कराक्षौद्रम् ।
 यद्वा तस्यान्यत् स्यात् सात्म्यं रोगस्य तच्चेष्टम् ॥
 तस्यां विनिवृत्तायां तज्जोऽन्य उपद्रवः सुखं जेतुम् ।
 तस्मात् पूर्वं तृष्णां जयेद् बहुभ्योऽपि रोगेभ्यः ॥ २५ ॥

शस्तमिति । हिकेत्यादि । हिकादिरोगे उपसर्गरूपा या तृष्णा कफवातकृते स्त्याने कफे शुद्धे च वमनविरेचनाभ्यां सद्यस्तत्र उष्णमात्रेण हितामात । पाण्डूदरेत्यादि । पाण्डूदिषु या तृष्णा ग्रीहि च या तृष्णा तत्र तोयं न हितम् । अशक्ये तृष्णासहने काममिष्टतस्त्वल्पं तोयं पिबेत् ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—पूर्वैत्यादि । पूर्वोत्पन्नामयेनातुरः सन् दोनादजलं काङ्क्षन् चेन्न लभेत, तदा शीघ्रमेव मरणं प्राप्नुयादथवा दाघरागं प्राप्नुयात् । तस्मादित्यादि । तस्मान्मरणदीर्घरोगान्यतरप्राप्तेर्हेतोस्तृष्यन् रोगी धान्याम्बु धन्याकजलं शर्कराक्षौद्रयुक्तं पिबेत् । तस्य रोगस्य यद्वा अन्यद्वाऽप्यन्यत् पानं सात्म्यं रोगिणः स्यात्तच्च पातुमिष्टं विद्यात् । तस्याभित्यादि । यस्माद् यस्य रोगस्योपद्रवस्तृष्णा तस्यामुपद्रवात्मिकायां तृष्णायां विनिवृत्तायां तद्रोगजोऽन्य उपद्रवो जेतुं सुखं यथा स्यात्तथा स्यात् । तस्मादन्योपद्रवस्य सुखजे यत्नाद्बहुभ्योऽन्येभ्योऽपि रोगेभ्यः पूर्वं तृष्णां जयादिति ॥ २५ ॥

ज्वरे रोगे च । उद्भूततृष्णायां हिमिति पाण्डूदिरोगे तृष्णायामपि तोयं न हितम् । असह्ये तर्ष इति शेषः ॥ २३ । २४ ॥

चक्रपाणिः—असह्यतृष्णामयेषु जलस्याप्रदाने दोषमाह—पूर्वैत्यादि । पूर्वामयातुर इति पूर्वोत्पन्नगदपीडितः । तज्जोऽन्योपद्रव इति तृष्णाप्रशमनार्थं पीयमानपानीयजः । सुखं जेतुमिति महात्ययकरीं तृष्णामपेक्ष्य जेतुं सुखोपायो भवतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

भवति चात्र ।

हेतू यथाग्निपवनौ कुरुतः सोपद्रवं पञ्चानाम् ।

तृष्णानां पृथगाकृतिरसाध्यता साधनञ्चोक्तम् ॥ २६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतैऽप्राप्तै दृढबलप्रतिसंस्कृते

चिकित्सितस्थाने तृष्णारोगकित्सितं नाम

द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायाथमाह—भवतीत्यादि । हेतू इत्यादि ॥ २६ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव च ।

तृष्णाचिकित्सिते द्वाविंशाध्याये भिषजा पुनः । गङ्गाधरेण च कृते

जल्पकल्पतरौ वरे । चिकित्सितस्थानजल्पे षष्ठस्कन्धे बृहत्तमे ।

तृष्णाचिकित्साजल्पाख्या शाखा द्वाविंशिका मता ।

तृष्णाचिकित्सा व्याख्या समाप्ता ॥ २६ ॥

हेतुरित्यध्यायसंग्रहः । अग्निपवनौ इति यथाग्निपवनौ कुरुतः सोपद्रवां तृष्णामिति शेषः ।
उपद्रवाश्च मुखशोषादयः पूर्वमुक्ताः ॥ २६ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां

चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां तृष्णाचिकित्सितं

नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः ।

अथातो विषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

प्रागुत्पत्तिं गुणान् योनिं वेगान् सिद्धानुपक्रमान् ।

विषस्य बुवतः सम्यगग्निवेश निबोध मे ॥ २ ॥

मथ्यमाने जलनिधावमृतार्थं सुरासुरैः ।

जज्ञे प्रागमृतोत्पत्तेः पुरुषो घोरदर्शनः ॥

दोततैजाश्चतुर्दष्टो हरिकेशो-ॐ-ऽनलेक्षणः ।

जगद्विषण्णं तद् दृष्ट्वा विषं तत्तु विषादनात् ॥

जङ्गमस्थावरायान्तु योनौ ब्रह्मा न्ययोजयत् ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—उद्दिष्टक्रमाद् विषचिकित्सितमाह—अथेत्यादि । सर्वं पूर्वं-
वद्व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—प्रागुत्पत्तिमित्यादि । उपक्रमानित्यस्य विशेषणं सिद्धानिति ॥ २

गङ्गाधरः—मथ्यमान इत्यादि । अमृतोत्पत्तेः पूर्वं घोरदर्शनादिरूपः
पुरुषो नदादिवद् द्रवविशेषनिस्त्राविशरीरो जज्ञे । तस्य शरीरात् स्तुतं द्रवं
विषं शम्भुः पतौ । शेषं किञ्चित् द्रवस्त्राविशरीरं तं विषपुरुषं ब्रह्मा
स्थावरयोनौ जङ्गमयोनौ न्ययोजयत् नियुक्तमकरोत् । विषादनादिति विषाद-
कारणम् । द्वे योनी ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—शीतोपशमप्राधान्यसामान्यात् तृष्णाचिकित्सितमनु विषचिकित्सितमुच्यते ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—प्रागिति । प्रागुत्पत्तिः आद्योत्पत्तिः । योनिरित्यधिष्ठानम् । लिङ्गानीति
देहसम्बन्धविषस्य लिङ्गान् । अत्र नाष्ट्या गुरवो वदन्तीति न्यायात् शिष्यप्रश्नो ज्ञातव्यः ।
विषश्च यद्यपि रोगाधिकारे न सूचितं साक्षात् तथापि विषगराभिधानात् तत्तत्कारणतया सूत्रित-
मेव रोगाधिकारे ज्ञेयम् । तेन नोत्सूचितमिह विषाभिधानमिति ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—मथ्यमाने इत्यादिना प्रागुत्पत्त्यभिधानं विषस्य महाप्रभावदर्शनार्थम् । हरित्-
केश इति कालकेशः । स पुरुषः विषमुच्यते विषादनादतोः । एवञ्च विषशब्दनिर्वाक्यमिति ॥ ३ ॥

• हरितकेश इति पाठान्तरम् ।

तदम्बुसम्भवं तस्माद् द्विविधं पावकोपमम् ।

अष्टवेगं दशगुणं चतुर्विंशत्युपक्रमम् ।

तद्वर्षास्वम्बूर्यानित्वात् संक्लेदं गुडवद् गतम् ॥

सपतम्बुधापाये तदगस्त्यो निहन्ति च ।

प्रयाति मन्दोर्व्यत्वं विषं तस्माद् घनात्यये ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—इति प्रागुत्पत्तियोनिवचनमुक्त्वा भेदमाह तदम्बु इत्यादि । यस्मात्तत् क्षीरोदाम्बुसम्भवं तस्माद्द्विविधमेव स्थावरजङ्गमयोनिर्कं पावकोपमं भवति । प्रागुत्पत्तावग्रिर्जलं सृज्यमानमनुप्राविशदिति तस्माज्जलादिवं जातमग्निरदभिव्यक्तमिति पावकोपमम् । अष्टेत्यादि । तदष्टवेगं दशगुणं चतुर्विंशत्युपक्रमं भवति । सुश्रुतेऽपि प्रागुत्पत्तिरुक्ता । तद्यथा । “प्रजामिमामात्मर्योने ब्रह्मणः सृजतः किल । अकरोदसुरोविघ्नं कैटभो नाम दपितः । ततः क्रद्धस्य वै वत्साद् ब्रह्मणस्तेजसोनिधेः । क्रोधो विग्रहवान् भूत्वा निष्पपाताथ दारुणः । स तं ददाह गर्जन्तमन्तकामं महाबलम् । ततोऽसुरं घातयित्वा तत् तेजोऽवर्द्धताद्भुतम् । ततो विषादो देवानामभवत् तं निरीक्ष्य वै । विषादजननात् तच्च विषमर्त्याभियायते । ततः सृष्ट्वा प्रजाः शेषं तदा तं क्रोधमीश्वरः । निर्यस्तवान् स भूषु स्थावरेषु चरेषु च” । इति । इत्येवं सुश्रुतोक्ताविषप्रागुत्पत्तिविरोधः पारहाय्यं एवं विद्वद्भिः । य एष ब्रह्मणः कोपपुरुषो विषाख्यः सर्गकाले जातो ब्रह्मणैव स्थावरजङ्गमेषु भूतेषु विन्यस्तः स एव पुनः कृतयुगे देवापुरैः क्षारोदे मथ्यमाने मन्थनदण्डीभूतमन्दरपर्वतस्य नानौषधिवृक्षप्राणजुष्टस्य मन्थनरज्जुभूतस्य वासुकेर्मन्थनवेगाकर्षणकान्तस्य सुखात् निःसृतं विषं नानौषधप्राणिस्थविषञ्चैकीभूतं पुनर्यो विषाख्यः पुरुषो जातः स उक्त इह तन्त्रे लाचार्येणेति न विरोधः । तदित्यादि । तद्विषमम्बुयोनित्वात् स्वभावेण वर्षासु प्रावृषि ऋतौ गुडवत् संक्लेदं गतं सपातं चलति ।

चक्रपाणिः—तदम्बुसम्भवं तस्मात् द्विविधमिति—तस्मात् सम्बन्धतः उत्पन्नत्वाद्गुणसम्भव तथा तस्माद् ब्रह्मणो यानिद्वयान्युक्तत्वात् द्विविधमित्यर्थः । अम्बुसम्भवावेन चास्य वर्षप्रकोपित्वं वक्ष्यमाणं युक्तं योनिभूतेन अस्य प्रभावप्रक्षमने क्रियेत इति ज्ञेयम् । उक्तं हि भगवता व्यासेन ‘अज्जोनेरुक्षतोत्पत्तिरश्मनो लोहमुत्थितम् । तस्मात् सर्वहगं तेज’ इति । अष्टवेगमिति मनुष्यापेक्षयाष्टवेगम् । दशगुणा इत्यग्रे वक्ष्यमाणाः । उपक्रमं चिकित्सानुष्ठानभेदः । सर्वविषविशेषप्रकोपे हेतुमाह—तद्वर्षास्त्विति । गुडो यथा अम्बुयोनित्वात् वर्षासूपक्लिन्नो भवति तथा विषमपि

सर्पाः कीटोन्दुरा लूता वृश्चिका गृहगोधिकाः ।

जलौका मत्स्यमण्डूकाः शलभाः सर्पकण्टकाः ॥

श्वसिंहव्याघ्रगोमायुतरक्षनकुलादयः ।

दंष्ट्रिणां ये विषं तेषां दंष्ट्रात्थं जङ्गमं मतम् ॥ ५ ॥

अम्बुधरापाये शरदि अगस्त्यो महर्षिः स्वाभावशक्त्या निहन्ति । तस्माद्
घनात्यये शरदि विषं मन्दवीर्यत्वं प्रयाति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—केषु जङ्गमेषु केषु च स्थावरेषु तद्विषं न्यस्तमित्यत आह—
सर्पा इत्यादि । सर्पादयो यावन्तः प्राणिनस्तेषां ये दंष्ट्रिणस्तेषां दंष्ट्रोत्थं
विषं जाङ्गमं विषं मतम् । यद्यपि सुश्रुतेनोक्तम्—“जङ्गमस्य विषस्योक्ता-
न्यधिष्ठानानि षोडश । समासेन मया यानि विस्तरस्तेषु वक्ष्यते ॥ तत्र
दृष्टिनिश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसन्दंशविशर्द्धितगुदास्थिपित्त-
शूकशवानोत् । तत्र दृष्टिनिश्वासविषास्तु दिव्याः सर्पाः । भौमास्तु दंष्ट्रा-
विषाः । मार्जारश्ववानरमकरमण्डूकपाकमत्स्यगोधाशम्बूकप्रचलाकगृहगोधिका-
चतुष्पादकीटास्तथान्ये दंष्ट्रानखविषाः । चिपिटपिच्छटककषायवासिकसर्षप-
वासिक तोटकवच्चर्चः कीटकौण्डिल्यकाः शकृन्मूत्रविषाः । मूषिकाः शुक्रविषाः ।
लूताश्च लालमूत्रपुरीषमुखसन्दंशनखशुक्रार्तवविषाः । वृश्चिकविश्वम्भरराजीव-
मत्स्योच्छिडङ्गाः समुद्रवृश्चिकाश्च लालाविषाः । चित्रशिरःसरावकुर्दिशतदारु-
कारिमेदकशारिकामुखा मुखसन्दंशविशर्द्धितमूत्रपुरीषविषाः । माक्षिकाकण-
भजलायुका मुखसन्दंशविषाः । विषहतास्थिसर्पकण्टकवरटीमत्स्यास्थिचेत्यस्थि-
विषाणि । शकुलीमत्स्यरक्तराजीचरकीमत्स्याश्च पित्तविषाः । सूक्ष्मतुण्डोच्छिडङ्ग-
वरटीशतपदी शूकवलभिका-गृङ्गीभ्रमराः शूकतुण्डविषाः । कोटसपदेहा गतासवः
शवविषाः । शेषास्त्वनुक्ता मुखसन्दंशविषेष्वेव गणयितव्याः” । इति तेषां
क्लिन्नञ्च विसर्पति उत्कृष्टशक्तिकं भवति । अतएवाशोविषाताः अतिपीडिता भवन्ति । अम्बुधराणां
वृद्धिकारणं वर्षागमः । अगस्त्यप्रभावाच्च न हिनस्ति पराधिकारित्वाद्विषस्य ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—सर्पा इत्यादिना जङ्गमस्थावरयोनिद्वयं विषस्य सङ्क्षेपदेवाह । यद्यपि विषगुणा
अत्र उद्दिष्टास्तथापि गुणानां गुण्यपेक्षत्वात् अत्र विषस्य गुणिनः स्थावरजङ्गमभेदभिन्नस्याभिधानं
विषस्य कार्यकारणगुणप्राधान्यव्यापनार्थम् । सर्पादीनां भेदा अत्रत एव वक्तव्याः । आदि-
ग्रहणात् तन्वान्तरोक्तानां ग्रहणम् । अत्र दंष्ट्रिसर्पप्राधान्याद् दंष्ट्रिण इत्युक्तम् । तथा दंष्ट्रोत्थस्य
सर्वविषप्राधान्यात् । अदंष्ट्रोत्थानामपि उन्दुरुविषादीनां ग्रहणम् । जङ्गमस्य विषस्य उक्ता-

मुस्तकं पुष्पकं क्रौञ्चवत्सनाभं बलाहकम् ।

कर्कटं कालकूटश्च कर्बोरकसंज्ञकम् ॥

पालकेन्द्रायुधं तैलं मेघकं कुशपुष्पकम् ।

रोहिषं पुण्डरीकश्च लाङ्गलकाञ्जनाभकम् ॥

सङ्कोचं मर्कटं शृङ्गोविषं हालाहलं तथा ।

एवमादीनि चान्यानि मूलजानि स्थिराणि च ॥ ६ ॥

दंष्ट्रोत्थमेव विषं जङ्गमं मतमित्यवधारणं नोक्तं प्राधान्यादंष्ट्रोत्थं विषं जङ्गम-
मुक्तम् । अन्यच्च जङ्गमसम्भवलाजङ्गममेव विषमिति ज्ञापनार्थं लूतादीनां
सविषत्वेनोक्तिः कृता ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—स्थावरयोनिविषमाह—मुस्तकमित्यादि । मुस्तकादिसंज्ञकानि
मूलानि स्थिराणि विषाणि । यद्यपि सुश्रुते चोक्तं—‘स्थावरं जङ्गमञ्चैव
द्विविधं विषमुच्यते । दशाधिष्ठानमाद्यन्तु द्वितीयं षोडशाश्रयम् । मूलं पत्रं
फलं पुष्पं त्वक्षीरं सार एव च । निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः
स्मृतः’ ॥ तत्र क्लीतकाश्वमारगुञ्जा-सुगन्धगर्गरककरघाटविदुःखविजयानि
इत्यष्टौ मूलविषाणि । विषपत्रिकालम्बावरदारुककरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च
पत्रविषाणि । कुमुद्वतीरेणुकाकरम्भमहाकरम्भकर्कटकरेणुखद्योतकचर्मरी-
भगन्धासर्पघातिनन्दनसारपाकाणीति द्वादश फलविषाणि । वेत्र-
कादम्बवल्बजकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पुष्पविषाणि । अन्त्रपाचककर्तरीय-
सौरीयककरघाटकरम्भनन्दनवराटकानि सप्त त्वक्षीरानिर्यासविषाणि । कुमु-
दघ्नीरनुहीजालक्षीर्याणि त्रीणि क्षीरविषाणि । फेनाश्मभष्म हारतालश्च
द्वे धातुविषे । कालकूटवत्सनाभसर्पकपालकवर्द्धमकवैराटव मुस्तकशृङ्गीविष-
प्रपौण्डरीकमूलकहालाहलमहाविषकर्कटकानीति त्रयोदश कन्दविषाणि । इत्येवं
पञ्चपञ्चाशत् स्थावरविषाणि भवन्ति । चत्वारि वत्सनाभानि मुस्तके द्वे
न्यधिष्ठानानि षोडश दंष्ट्रनिःश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्लालास्पर्शमुखरुन्दंशदिशद्विदुःखास्थि-
पित्तशूकशर्वाणि दंष्ट्रे पतितानि इत्याहुः ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—स्थावरजे विषे मूलजानीति पदं मूलजस्य बहुत्वात् प्राधान्याच्च । तेन पत्र-
पुष्पादिजानामपि विषाणां ग्रहणम् । यदुक्तं सुश्रुते—‘मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक्षीरं सार एव तु ।
निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृत इति । कन्दस्त्वह मूलशब्देनैव गृहीतः । एतेषाञ्च
संज्ञासम्बन्धे शबरकिरातादय एव तद्विद्याः प्रमाणं, ते हि गुरपरम्परया व्याख्यानयन्ति ॥ ६ ॥

गरं संयोगजश्चान्यत् गरसंज्ञं गदप्रदम् ।

कालान्तरविपाकित्वान्न तदाशु हरेदसृन् ॥ ७ ॥

निद्रां तन्नां क्लमं दाहमपाकं लोमहर्षणम् ।

शोथञ्चैवातिसारश्च कुरुते जङ्गमं विषम् ॥

स्थावरन्तु ज्वरं हिकां दन्तहर्षं गलग्रहम् ।

फेणछर्द्दरुचिश्चासान् मूर्च्छाश्च जनयेद्भृशम् ॥ ८ ॥

प्रकीर्तिते । षट् चैव सर्षपान्याहुः शेषाप्येकैकमेव च” इति तथापि
मुस्तकादि कन्दविषाणि, तथैवमादीनि चान्यानि मूलजानि स्थिराणि
चेत्युक्त्या पत्र-पुष्पादीनि संगृहीतानीह चान्यानीति पदेन ततो न
विरोधः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—गरमित्यादि । आभ्यामन्यद्विषं गरं तत् तु संयोगजं गरसंज्ञं
गदप्रदं भवेत् । गदप्रदत्वाद्विषं कालान्तरे विपाकित्वात् तद् गरमाशु नासृन्
हरेत् ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—निद्रामित्यादि । जङ्गमविषस्य निद्रादिकं सामान्यलिङ्गम् ।
स्थावरन्तित्यादि । स्थावरविषस्य ज्वरादिजननं सामान्यं कर्म ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—स्थावरजङ्गमसम्भवमेव तृतीयं विषमाह—गरसंयोगजमित्यादि । गरार्थः संयोग-
एषां ते गरसंयोगाः द्रव्यभेदास्तेभ्यो जातं गरसंयोगजम् । गरं तन्त्रे संज्ञा यस्य तत् गरसंज्ञं
क्षिरकारित्वाद्गोजनकं न आशुप्राणहरम् । एतदेवाह—कालान्तरेत्यादि । सुश्रुतेऽपि त्रिविधमेव
विषमुक्तम् ‘स्थावरं जङ्गमं चैव कृत्स्नं विषमित्यनेन । यत् तु दूषीविषमग्रे वक्ष्यति तत्
त्रिविधान्तर्गतं दर्शयिष्यामः । गरन्तु द्विविधं निर्दिष्टद्रव्यसंयोगकृतं तथा सविषद्रव्यसंयोग-
कृतम् । तन्नाद्यं गरसंज्ञं उत्तरं तु कृत्स्नमिति व्यवस्था । इमां व्यवस्थां गृहीत्वैवमुक्तं
रसायनीये । ‘दंष्ट्राविषे मूलाविषं सगरे कृन्निमे विषे’ इति । तथा बृद्धकाश्यपेऽप्युक्तं—
‘संयोगजञ्च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते । गरं स्यादविषं तत्र सविषं कृत्स्नं
मत्’ इति ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—निद्रामित्यादिना तथा ज्वरमित्यादिना जङ्गमस्थावरविषस्य लिङ्गानि, जङ्गम-
स्थावरयोः परस्परपरोधात् ॥ ८ ॥

जङ्गमं स्याद्दृढं भागमधोभागन्तु मूलजम् ।

तस्मादंष्ट्राविषं मौलं हन्ति मूलञ्च दंष्ट्रिजम् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—तथोर्गतिभेदमाह—जङ्गमं स्यादित्यादि । जङ्गममिह दंष्ट्राविषं दंष्ट्राविषमूलविषयोरेवोद्धृत्यधोगतिस्वभावात् परस्परोपघातित्वं नत्वन्येषां पुष्पादिलालादिविषाणां गतिभेदेऽपि परस्परोपघातित्वं तत्स्वभावात् । विशेषणमुक्तं सुश्रुते—“उद्वेष्टनं मूलविषं प्रलापो मोह एव च । जृम्भाङ्गोद्वेष्टन-
श्वासा ज्ञेयाः पत्रविषेण तु । मुष्कशोफः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च । भवेत् पुष्पविषश्छदिराध्मानं मोह एव च । लक्ष्सारनिर्यासविषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि । आस्यदौर्गन्ध्य-पारुष्य-शिरोरुक् कफसंस्त्रवाः । फेणागमः क्षीरावषे विद्भेदो जिम्भजिह्वता । हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि । प्रायेण कालघातीनि विपाप्येतानि निर्दिशेत् । कन्दजानि तु तीक्ष्णानि तेषां वक्ष्यामि विस्तरम् । स्पर्शाब्जानं कालकूटैर्वेपथः स्तम्भ एव च । ग्रीवाभङ्गो वत्सनाभे पीतविष्मूत्रनेत्रता । सर्षपे वातवैगुण्यमानाहो ग्रन्थिजन्म च । ग्रीवादाब्बल्य-
वाक्सङ्गो पालकेऽनुमताविह । प्रसेकः कदमाख्ये तु विद्भेदो नत्रपातता । वैराटकेनाङ्गदुःखं शिरोरोगश्च जायते । गात्रस्तम्भो वेपथुश्च जायत मुस्तकेन तु । शृङ्गीविषेणाङ्गसाददाहोदरविष्टद्वयः । पुण्डरीकेण रक्तलमक्षणाष्टाद्व-
स्तथोदरः । वैवर्ण्यं मूलकैश्छद्दाहिकाशोफप्रमूढताः । चिरेणाच्छासात श्यावो नरो हालाहलेन व । महाविषेण हृदये ग्रन्थिशूलोद्भवा भृशम् । कर्कटेनोत्पतत्यूढं हसन् दन्तान् दशत्यपि । कन्दान्युवाच्याण प्रयुक्तानि त्रयोदश । सर्वाणि कुशलैर्ब्रयान्येतानि दशाभुजैः । रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यव्याप्य च । विकाशं विशदञ्चैव लघ्वपाकं च तत् स्मृतमिति ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—तद्वतधर्ममभिधानं हेतुमत्परस्परोपघातकत्वमाह—जङ्गममित्यादि । तस्मा-
दिति परस्परं विरुद्धगामित्वात् । एतेन च यद्वक्ष्यति दंष्ट्राविषं मौलं हन्ति मौलञ्च दंष्ट्रिजम् । तदुपपन्नं भवति । ननु, विषं विषममुक्तम् यत् प्रभावस्तत्र कारणमिति—आलेयभद्रकाप्यीये प्रभावेण विषस्य विषहरणाभिधानात् इत्युपपत्तिविरुद्धं वणनम् । यदि प्रभावः कारणं न स्यात् तदा यत्किञ्चिद्दृढं भागं मदनफलाद तद् दंष्ट्राविषहरं स्यात् । यद्वाधोभागं त्रिवृतादि तत् मौलविषं हन्यात् । नचैतद्वद्वृत्तम्, तस्मात् प्रभावस्यैवानुगुणे ईषन्मात्रकारणमेतत् अधो-
भागत्वमूर्द्धभागत्वञ्चेति ॥ ९ ॥

तृणमोहदन्तहर्षप्रसेकवमथुक्कमा भवन्त्यादेः ।

वेगे रसप्रदोषादसृक्प्रदोषाद् द्वितीये तु ॥

वैवर्ण्यभ्रमवेपथजृम्भामूर्च्छाङ्गभङ्गचिमिचिमातङ्गाः ।

दुष्टपिशितात्तृतीये मण्डलकण्डूसहितकोठाः ॥

वातादिजाश्वतुर्थे दाहच्छर्द्वाङ्गशूलमूर्च्छाद्याः ।

नीलादीनां तमसश्च दर्शनं पञ्चमे वेगे ॥

षष्ठे हिक्का भङ्गः स्कन्धे स्यात्तु सप्तमेऽष्टमे मरणम् ।

नृणां चतुष्पदां स्याच्चतुर्विधः पक्षिणां त्रिविधः ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—पूर्वमष्टवेगमित्युक्तं तदाह । तृणमोहेत्यादि । स्थावरविषाणां उपयोगादादेः वेगे रसधातुप्रदूषणात् तृणादयो भवन्ति । सुश्रुते ह्युक्तम् । “स्थावरस्योपयुक्तस्य वेगे तु प्रथमे नृणाम् । श्यावा जिह्वा भवेत् स्तब्धा मूर्च्छा श्वासश्च जायते” । द्वितीये तु वेगेऽसृक्प्रदोषात् वैवर्ण्यादयो भवन्ति । सुश्रुते च ‘द्वितीये वेपथः स्वेदो दाहः पाण्डूरुजस्तथा । विषमामाशयप्राप्तं कुरुते हृदि वेदनाम्’ इति । तृतीये वेगे दुष्टपिशितान्मांसप्रदूषणान्मण्डलादयो भवन्ति । सुश्रुते च “तालुशोषं तृतीये तु शूलं चामाशये भृशम् । दुर्वर्णं हरिते शूने जायते चास्य लोचने” । इति । वातादिजाश्वतुर्थे वेगे वातादिप्रदूषणाद् दाहादयः स्युः । सुश्रुते च “पक्षाशयगते तोदो हिक्का कासोऽन्त्रकूजनम् । चतुर्थे जायते वेगे शिरसश्चातिगौरवम्” इति । नीलादीनामिति । पञ्चमे वेगे नीलादीनां दर्शनं तमसश्च दर्शनं स्यादिति । सुश्रुते च “कफप्रसेको वैवर्ण्यं पर्व्वभेदश्च पञ्चमे । सर्व्वदोषप्रकोपश्च पक्षाधानं च वेदना” इति । षष्ठे वेगे हिक्का स्यात् । सुश्रुते च “षष्ठे प्रज्ञापनाशश्च भृशं वाप्यतिसार्य्यते” इति । भङ्ग इत्यादि । सप्तमे वेगे स्कन्धे भङ्गः स्यात् । अष्टमे वेगे मरणं स्यादिति सप्तमवेगस्य चरमावस्थवेगोऽष्टम इष्ट इह तन्त्रे । सुश्रुते तु सप्तैव वेगा उक्तास्तत्र सप्तमे सन्निरोधो मरणं चरमावस्थामभिप्रेत्योक्तम् । “स्कन्ध-पृष्ठ-कटीभङ्गः सन्निरोधश्च सप्तमे” इति । इत्येवं लक्षणं नृणां स्यात् ।

चक्रपाणिः—तृणमोहेत्यादिना दंष्ट्रिविषवेगलक्षणमाह—सुश्रुते ‘एकैककलातिक्रमेण सप्तवेगा उदीरिताः । इह कलालङ्घन इति सप्तवेगाः, अष्टमे तु सप्तकलालङ्घनोत्तरकालं मारको वेग’

आदेः भ्रमति चतुष्पदोऽवसीदति ततः शून्यः ।

मन्दाहारो म्रियते श्वासेन चतुर्थवेगे तु ॥

ध्यायत्यादेः वेगे पक्षी प्रभ्राम्यति द्वितीये तु ।

स्तस्ताङ्गश्च तृतीये विषवेगे याति पञ्चत्वम् ॥ ११ ॥

लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकाशि सूक्ष्मश्च ।

उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः ॥

रौक्ष्याद् वातमशैत्यात् पित्तं सौक्ष्म्यादसृक् प्रकोपयति ।

कफमव्यक्तरसत्वादनुरसांश्चानुवर्त्तते ॥

अथ चतुष्पदां गानाह । चतुष्पदां चतुर्विधो वेगः स्यात् । पक्षिणां त्रिविधः ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—आद्य इत्यादि । चतुष्पदो विषोपयोगादादेः वेगे भ्रमति घूर्णते । ततो द्वितीये वेगेऽवसीदति । ततः तृतीये वेगे शून्य इव सन् मन्दा-
हारो भवति । चतुर्थवेगे तु श्वासेन म्रियते । ध्यायतीत्यादि । पक्षी स्थाव-
विषोपयोगादादेः वेगे ध्यायति । द्वितीये तु प्रभ्राम्यति घूर्णते । तृतीये विषवेगे
स्तब्धाङ्गः सन् पञ्चत्वं यातीति । इति विषाणां स्थावराणामष्टवेगा उक्ताः ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अथ दशगुणं विषमिति यदुक्तं तदाह—लघ्वित्यादि । आशु-
कारित्वमाशुगुणः । व्यवायीति । व्यवायी देहमखिलं व्याप्य पाकाय
कल्पते । विकाशीति । विकाशी विकसत्येवं सन्धिवन्धं विमोक्षयन् ।
प्रतिगुणतः कर्माण्याह—रौक्ष्यादित्यादि । विषमित्यनुवर्त्तते । विषं
रौक्ष्याद् वातं प्रकोपयति । अशैत्यादुष्णत्वात् पित्तं प्रकोपयति । सौक्ष्म्याद्
इति सुश्रुते विशेषः । वातादिजा इति यथायोग्यतया एकदोषद्विदोषत्रिदोषजाः, आदिशब्दः
प्रकारवाचो । सुश्रुतवचनास्त्रीलादीनामित्यत्र आदिशब्देन प्रधानवाचिना नीलप्रधानेतर-
वर्णदर्शनं भवति । षष्ठं हिक्केति छेदः । विषवेगप्रस्तावात् चतुष्पादपक्षिणोऽपि विषवेगानाह ।
एतद् वेगामिधानेन विषवेगहृतस्य मांसं नोपादेयम् । यतस्तस्य विषादितस्य सर्व्वं शरीरं
विषवद् भवति । चतुष्पादादीनां अन्यवेगत्वं सत्त्वान्यत्वात् । अवसीदतीत्यादि द्वितीये । शून्य
इत्यादि तृतीये ॥ १० । ११ ॥

चक्रपाणिः—विषगुणानाह—लघ्वित्यादि । प्रत्येकं गुणानां कार्य्यमाह । अशैत्यादिति
उष्णत्वात् । सौक्ष्म्यादसृक्प्रकोपणं असृजोऽपि सूक्ष्ममागानुसारित्वात् । अव्यक्तरसत्वात् कफम् ।

शीघ्रं व्यवयिभावादाशु व्याप्नोति केवलं कायम् ।

तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नं प्राणघ्नं तद् विकारित्वात् ॥

दुरुपक्रमं लघुत्वाद् शयात् स्यादसक्तगतिदोषात् ॥ १२ ॥

असृक् प्रकोपयति अव्यक्तरसत्वात् कफं प्रकोपयति अनुरसांश्चानुवर्त्तते । शीघ्र-
त्वाद् व्यवयित्वाच्च केवलं कृतस्नं कायमाशु व्याप्नोति । तीक्ष्णत्वान् मर्मघ्नं
विकारित्वात् तद्विषं प्राणघ्नमिति । लघुत्वाद् दुरुपक्रमं दुश्चिकित्स्यम् ।
कस्मात् ? वैशद्यात् असक्तगतिदोषात् । वैशद्यगुणतो विषेण दोषाः प्रकुपिताः
सक्तगतयो यतो न स्युरस्थिरगतय एव दोषाः स्युस्तस्माद्व्याघवाद् दुरुपक्रमं
भवति विषम् । इति दश गुणकर्मणि सुश्रुते चोक्तानि । “तद्रौक्ष्यात्
कोपयेद् वायुमौष्ण्यात् पित्तं सशोणितम् । मानसं मोहयेत् तैक्ष्ण्यादङ्गवन्धान
छिनत्त्यपि । शरीरावयवान् सौक्ष्म्यात् प्रविशेद् विकरोति च । आशुत्वादाशु
तद्वन्ति व्यवयात् प्रकृतिं भजेत् । क्षपयेच्च विकारित्वाद् दोषान् धातून्
मञ्जानपि । वैशद्यादतिरिच्येत दुश्चिकित्स्यश्च लाघवात् । दुर्जरश्चा-
विपाकित्वात् तस्मात् क्लेशयते चिरम् । स्थावरं जङ्गमं यच्च कृत्त्रिमं
चापि यद्विषम् । सद्यो व्यापादयेत् तत् तु ज्ञेयं दशगुणान्वितम्”
इति ॥ १२ ॥

अन्नग्रहणेन योगवाही भवति, विषमपि रसमांशानुयातं सर्व्वत्वानुगतं भवति । शीघ्रमित्यादौ
शीघ्रत्वादाशु व्याप्नोति, व्यवयित्वात् केवलं देहं व्याप्नोतीति विज्ञेयम् । व्यवयित्वं सर्व्वतः
प्रसरणशीलत्वं पानीयपतितैलवत् । तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नमिति । मर्मघ्नां सौम्यानां मृदूनां
तीक्ष्णेन विरुद्धत्वात् बोद्धव्यम् । विकारित्वादिति विकसनशीलत्वात् । सर्व्वत्र हि कस् हिंसार्थः ।
लघुत्वादित्यनवस्थितत्वात् । यस्य चानवस्थितत्वं तस्य भेषजेणोपक्रममकिञ्चित्करम् ।
असक्ता विश्रान्ता दोषेषु गतिर्यस्य तत् असक्तगतिदोषं लघुत्वादनवस्थितत्वम् । विशदं
पिच्छाभागरहितत्वात् क्वचिन्न सज्जति । अन्न च गुणानां प्रतिनियमेन विरुद्धकर्मकरणे
विषस्यासिद्धत्वमेव ज्ञेयम् । तेन रुक्षादिभिः श्लेष्मक्षयात् यद् द्रवाशङ्कनीयं सुश्रुते च
विषगुणे अपाकित्वमुक्तं तदाशुकारिविषे तु प्रयोजनमिति नेहोक्तम् । तथाहि विषिनस्तावन्तं
कालमपेक्षन्ते येन यावद्यस्य पाको भवत्यत्रिचार्य्यं । सुश्रुते च कालान्तरप्रकोपादि यद्द्रव्यमुक्तं
तदिहापि दूषीविषे चिन्तनीयमिति ॥ १२ ॥

दोषस्थानप्रकृतीः प्राप्यान्यतमं हृदोरयेत् ।
 स्याद्वातिकस्य वातस्थाने कफपित्तलिङ्गमीषत्तु ।
 तृणमोहारतिमूर्च्छागलग्रहच्छर्दिफेणादि ॥
 पित्ताशयस्थितं पैत्तिकस्य कफपित्तयो-ॐ-विषं तद्वत् ।
 तृट्कासज्वरवमथुक्लमदाहतमोऽतिसारादि ॥
 कफदेशगतं कफाधिकस्य + वातपित्तयोश्च दर्शयति ।
 लिङ्गं श्वासगलग्रहकरडूलालावमथ्वादि ॥ १३ ॥
 दूषोविषश्च शोणितदुष्टगारुकिटिमकोठलिङ्गश्च ।
 विषमेकैकं दोषं सन्दूषा हरत्यसूनेवम् ॥

गङ्गाधरः—दोषेत्यादि । दोषस्थानप्रकृतीनामन्यतमं प्राप्य हि यस्माद्
 विषं दोषस्थानप्रकृतीरुदीरयेत् । तद्यथा । स्यादित्यादि । वातिकस्य
 षड्विंशतिजातिदर्वीकरस्य सर्पस्य, वातस्थाने स्थितं ईषत् कफपित्तलिङ्गं
 तृणमोहादि फेनान्तमुदीरयेत् । पित्ताशयेत्यादि । पैत्तिकस्य द्वाविंशतिजाति-
 मण्डलिनः सर्पस्य विषं पित्ताशयस्थितं कफवातयोर्लिङ्गं तृट्कासादि तद्वत्
 किञ्चिदुदीरयेत् । कफेत्यादि । कफदेशगतं विषं, कफाधिकस्य दशविधस्य
 राजिमतः सर्पस्य विषं वातपित्तयोर्लिङ्गं श्वासादिकमीषत् दर्शयति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—दूषीविषश्चेत्यादि । दूषीविषश्च स्थावरजङ्गमकृत्रिमान्यतरं
 विषं विषग्नौषधादिभिर्हतवीर्यं देहादनिर्गतं विषं, शोणितदुष्ट्या खल्वरु-
 व्रणः, व्रणप्रभृतिलिङ्गश्च दर्शयति । दूषीविषत्वं यथा स्याद्विषं तदुक्तं

चक्रपाणिः—सम्प्रति स्थानविशेषप्राप्त्या लिङ्गविशेषानाह—वातिकस्येत्यादि । विषं
 मद्यं यद्यपि त्रिदोषकोपनं स्थानप्रकृतिविशेषप्राप्त्या तद्दोषप्रकोपमधिकं करोति । वातिकस्येति
 वातप्रकृतेः । वातस्थाने पकाशयादौ कफपित्तलिङ्गमीषदितिवचनेन वातलिङ्गानि बहूनि
 भवन्ति तानि तृणमूर्च्छेत्यादिनोक्तानि ज्ञेयानि । एवं उत्तरत्रापि योज्यम् । कफवातयोस्तद्वदिति
 ईषदित्यर्थः । कफस्येत्यादौ चकारात्कफप्रकृतेरित्यर्थः । ईषद्वातपित्तयोरिति योज्यम् ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—दूषीविषलक्षणमाह—दूषीत्यादौ । कोठो वरटीदंशशोथाकारः । कालान्तर-
 प्रकोपं दूषीविषम् । उक्तञ्चान्यत्र 'यस्माद् दूषयते धातून् तस्माद्दूषीविषं स्मृतं'मिति ।
 एवम्भूतञ्च गरमेव प्रायो भवति । तथा स्थावरं जङ्गमञ्च भवति । यदुक्तं सुश्रुते "जीर्णं

* कफवातयोरिति चक्रसम्मतः पाठः । † कफस्य दर्शयेद् वातपित्तयोश्चैतत् इति चक्रसम्मतः पाठः ।

क्षरति विषतेजसाऽसृक् तत् खानि निरुध्य मारयति जन्तुम् ।
पीतं मृतस्य हृदि तिष्ठति दष्टविद्वयोर्दंशदेशे स्यात् ॥
नीलौष्ठदंशदन्तशैथिल्यकेशरतनाङ्गभङ्गविक्षेपाः ।
शिशिरैर्न लोमहर्षो नाभिहतैर्दण्डराजी स्यात् ।

क्षतजं क्षताच्च नायात्येतानि भवन्ति मरणलिङ्गानि ॥ १४ ॥
सुश्रूते । “यत् स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिगतं तत् । जीर्णं
विषग्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा । स्वभावतो वा गुणविप्र-
हीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति ॥ वीर्याल्पभावान्न निपातयेत् तत् कफावृतं
वर्षगणानुबन्धि । तेनादितो भिन्नपुरीषवर्णो विगन्धवैरस्यमुखः पिपासी ।
मूर्च्छन् वमन् गद्गदवाग्निषन्नो भवेच्च दूष्योदरलिङ्गजुष्टः ॥ आमाशयस्थे कफ-
वातरोगी पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी । भवेन्नरो ध्वस्त-शिरोरुहाङ्गो विलून
पक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥ स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान्
विकारान् । कोपश्च शीतानिलदुर्दिनेषु यात्याशु पूर्वं शृणु तत्र रूपम् ॥
निद्रागुरुत्वश्च विजृम्भणश्च विश्लेषहर्षावथवाङ्गमर्दः । ततः करोत्यन्नमदा-
विपाकावरोचकं मण्डलकोठमोहान् ॥ धातुक्षयं पादकरास्यशोफं दकोदरं
छर्दिमथातिसारम् । वैवर्ण्यमूर्च्छाविषमज्वरान् वा कुर्यात् प्रवृद्धां प्रबलां तृषां
वा । उन्मादमन्यज्जनयेत् तथान्यदानाहमन्यत् क्षपयेच्च शुक्रम् । गादग्घ-
मन्यज्जनयेच्च कुष्ठं तांस्तान् विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥ दूषितं देशकालान्न-
दिवास्वप्नैरभीक्षणशः । यस्माद् दूषयते धातूस्तस्माद्दूषीविषं रमृतम्” इति ।
अथ विषं यथा मारयति तदाह—विषमित्यादि । विषं स्वत्वेकैकं दोषं
वातादिकं सन्दूष्यासून् हरति । एवं विषतेजसाऽसृक् रक्तं क्षरति तच्च
विषं खानि गलश्रोत्रनेत्रादीनां खानि रन्ध्राणि निरुध्य जन्तुं मारयति ।
अथ पीतादिविषस्थितिस्थानमाह—पीतमित्यादि । पीतं विषं मृतस्य
हृदि तिष्ठति । दष्टस्य विद्वस्य च मृतस्य दंशदेशे वेधदेशे च स्थितं
स्यात् । नीलौष्ठादयश्च दष्टविद्वयोः स्युः । शिशिरैरतिहिमैर्जलैर्लोमहर्षो न
विषग्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा । स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि
दूषीविषतामुपैति ।” इहापि दूषीविषाः क्रीडाः हीनवीर्यविषा वक्तव्याः । विषमेकैक-
मित्यादिना स्वाद्वातिकस्येत्यादिना यदुक्तं तस्यैकैकदोषस्यात्यर्थकोपमाह—संदूष्येति अत्यर्थं
दूषयित्वा । क्षरतीत्यादिना पीतविषलक्षणमाह । विषं मृतस्य हृदि तिष्ठति, दष्टविद्वयोः

स्याद, दण्डाभिहते दण्डराजी दण्डस्य रेखा न स्यात् । क्षताच्च दंशन-
 वेधनक्षताच्च क्षतजं रक्तं नायाति । एतानि पीतविषस्य दष्टविद्ययोर्मरण-
 लक्षणानि भवन्ति । अत्र सुश्रुते चोक्तम्—“जङ्गमस्य विषस्योक्तान्यधि-
 ष्टानानि षोडश । समासेन मया यानि विस्तरस्तेषु वक्ष्यते । तत्र दृष्टि-
 निश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्त्तव-मुखसन्दंशविशर्द्धितगुदास्थिपित्तशूक-
 शवानीति । तत्र दृष्टिनिश्वासविषा दिव्याः सर्पाः । भौमास्तु दंष्ट्राविषाः ।
 मार्जारश्वानरमकरमण्डूकपाकमत्स्यगोधाशम्बूकप्रचलाकगृहगोधिकाचतुष्पाद-
 कीटास्तथाऽन्ये दंष्ट्रानखविषाः । चिपिटपिच्छटककषायवासिकसर्पवासिक-
 तोटकवर्चःकीटकौण्डिल्यकाः शकृन्मूत्रविषाः । मूषिकाः शुक्रविषाः । लूताश्च
 लालामूत्रपुरीषमुखसन्दंशनखशुक्रार्त्तवविषाः । वृश्चिक-विश्वम्भर-राजीव-
 मत्स्योच्चिडिङ्गाः समुद्रवृश्चिकाश्च लालाविषाः । चित्रशिरःसरावकुर्द्विशतदारुकारि-
 मेदकशारिकामुखा मुखसन्दंशविशर्द्धितमूत्रपुरीषविषाः । मक्षिकाकणभजलायुका
 मुखसन्दंशविषाः । विषहतास्थिसर्पकण्टकवरटीमत्स्यास्थि चेत्यस्थिविषाणि ।
 शकुलीमत्स्यरक्तराजीचरकीमत्स्याश्च पित्तविषाः । सूक्ष्मतुण्डोच्चिडिङ्गवरटी-
 शतपदो-शूकवलभिका-शृङ्गी-भ्रमराः शूकतुण्डविषाः । कीटसर्पदहा गतासवः
 शवविषाः । शेषास्त्वनुक्ता मुखसन्दंशविषेष्वेव गणयितव्याः । भवन्ति चात्र ।
 राज्ञोऽरिदेशे रिपवस्तृणाम्बुमार्गान्नधूमश्वसनान् विषेण । सन्दूषयन्त्येभिरति-
 प्रदुष्टान् विज्ञाय लिङ्गैरभिशोधयेच्च ॥ दुष्टं जलं पिच्छिलमुग्रगन्धि फेनान्वितं
 राजिभिरावृतञ्च । मण्डूकमत्स्यं म्रियते विहङ्गा मत्ताश्च सानूपचरा भ्रमन्ति ॥
 मञ्जन्ति ये चात्र नराश्वनागास्ते छर्द्दिमोहस्वरदाहशोफान् । गच्छन्ति तेषा-
 मपहत्य दोषान् दुष्टं जलं शोधयितुं यतेत ॥ धवाश्वकर्णासनपारिभद्राः
 सपाटलाः सिद्धकमोक्षकौ च । दग्धाः सराजद्रुमसोमवल्कास्तद्भस्म शीतं वितरेत्
 सरःसु । भस्माञ्जलिञ्चापि घटे निधाय विशोधयेदीप्सितमेवमम्भः ॥ १ ॥
 क्षितिप्रदेशं विषदूषितन्तु शिवास्थिर्नीं तीर्थमथेरिणं वा । स्मृशन्ति गात्रेण तु
 येन येन गोवाजिनागोष्ट्रखरा नरा वा । तच्छूनतां यात्यथ दह्यते च विशीर्यते
 लोमनखास्तथैव ॥ तत्राप्यनन्तां सह सर्व्वगन्धैः पिष्ट्वा सुराभिर्विनियोज्य
 मार्गम् । सिञ्चेत् पयोभिस्तु मृदन्वितेस्तं विहङ्गपाठाकटभीजलैर्वा ॥ २ ॥
 तृणेषु भक्तेषु च दूषितेषु सीदन्ति मूर्च्छन्ति वमन्ति चान्ये । विद्भेद-
 दंशदेशे विषं स्यात् । विषमृतस्य विशेषज्ञानार्थं लक्षणमाह—नीलौष्ठेत्यादि । दण्डराजिः
 दण्डकारा रेखा ॥ १४ ॥

मुञ्चन्त्यथवा म्रियन्ते तेषां चिकित्सां प्रणयेद् यथोक्ताम् ॥ विषापहै-
 वाप्यगदैविलिप्य वाद्यानि चित्राण्यपि वादयेत् । तारः सुतारः ससुरेन्द्रगोपः
 सर्व्वश्च तुल्यः कुरुविन्दभागः । पित्तेन युक्तैः कपिलान्वयन वाद्यप्रलेपो विहितः
 प्रशस्तः ॥ वाद्यस्य शब्देन हि यान्ति नागं विषाणि घोराण्यपि यानि सन्ति ॥३॥
 धूमेऽनिले वा विषसम्प्रयुक्ते खगाः श्रमार्त्ताः प्रपतन्ति भूमौ । कासप्रतिश्याय-
 शिरोरुजश्च भवन्ति तीव्रा नयनामयाश्च ॥ लाक्षाहरिद्रातिविषाभयाब्दहरेणु-
 कैलादलवलककुष्ठम् । प्रियङ्गुकाश्चाप्यनले निधाय धूमानिलौ चाप विशो-
 धयेत् ॥ ४ ॥ इति । सवातं गृहधूमाभं पुरीषं योऽतिसाध्यते । आध्मातो-
 ऽत्यर्थमुष्णास्रो विवर्णः सादपीडितः । उद्वमत्यथ फेनश्च विषपीतं तमादिशेत् ॥
 न चास्य हृदयं वह्निर्विषदुष्टं दहत्यपि । तद्वि स्थानं चेतनायाः स्वभावाद्
 व्याप्य तिष्ठति ॥ स्वभावादेव तिष्ठेत् तु प्रहारादंशयोर्विषम् । व्याप्य सावयवं
 देहं दिग्धविद्धाहिदष्टयोः । लौल्याद्विषान्वितं मांसं यः खादेत् मृतमात्रयोः ।
 यथाविषं स रोगेण क्लिश्यते म्रियतेऽपि वा । अतश्चाप्यनयोर्मांसमभक्ष्यं
 मृतमात्रयोः । सुहृत्तात् तदुपादेयं प्रहारादंशवर्जितम् ॥ इति । असाध्यता
 चोक्ता । “अश्वत्थदेवायतनश्मशानवल्मीकसन्ध्यासु चतुष्पथेषु । याम्ये सापत्रे
 परिवर्जनीया ऋक्षे नरा मर्मसु ये च दष्टाः ॥ दर्व्वीकराणां विषमाशु-
 घाति सर्वाणि चोष्णैर्द्विगुणी भवन्ति । अजीणेपित्तातपपीडितेषु बाल-
 प्रमेहिष्वथ गर्भिणीषु । वृद्धातुरक्षीणबुभुक्षितेषु रूक्षेषु भोरुष्वथ दुर्दिनेषु ।
 शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति राज्यो लताभिश्च न सम्भवन्ति । शीताभिराग्निश्च
 न लोमहर्षो विषाभिभूतं परिवर्जयेत् तम् ॥ जिह्वा सिता यस्य च केशशतो
 नासावभङ्गश्च सकण्ठभङ्गः । कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे हन्वोः स्थिरत्वञ्च
 स वर्जनीयः ॥ वर्त्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्राद्रक्तं सवेदूढमथ यस्य । दंष्ट्रा-
 निपाताः सकलाश्च यस्य तश्चापि वैद्यः परिवर्जयेत् तु । उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रतं
 वा हीनस्वरं वाप्यथवा विवर्णम् । सारिष्टमत्यर्थमवेगिनश्च जह्याच्च तं कर्म
 न तत्र कुर्यादिति ।

अथ विषविज्ञानीये । धन्वन्तरिं महाप्राज्ञं सर्व्वशास्त्रविशारदम् ।
 पादयोरुपसंगृह्य सुश्रुतः परिपृच्छति ॥ सर्पसङ्ख्यां विभागञ्च दष्टलक्षणमेव
 च । ज्ञानञ्च विषवेगानां भगवन् वक्तमर्हसि ॥ तस्य तद् वचनं श्रुत्वा
 प्रात्रवीद् भिषजां वरः । असङ्ख्या वासुकिमुखा विख्यातास्तक्षकादयः ॥
 महीधराश्च नागेन्द्रा हुताग्निसमतेजसः । ये चाप्यजस्रं गज्जन्ति वर्षन्ति च

तपन्ति च ॥ ससागरगिरिद्वीपा येरियं धार्यते मही । क्रुद्धा
निःश्वासदृष्टिभ्यां ये हन्युरखिलं जगत् ॥ नमस्तेभ्योऽस्ति तेषां न कार्यं
किञ्चित् चिकित्सया । ये तु दंष्ट्राविषा भौमा ये दशन्ति च मानुषान् ।
तेषां सङ्ख्यां प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्व्वेशः ॥ अशीतिरेव सर्पाणां भिद्यते पञ्चधा
तु सा ॥ दर्व्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च । निर्व्विषा वैकरञ्जाश्च
त्रिविधास्ते पुनः स्मृताः । दर्व्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तश्च पन्नगाः ।
तेषु दर्व्वीकरा ज्ञेया विंशतिः षट् च पन्नगाः । द्वाविंशतिर्मण्डलिनो राजि-
मन्तस्तथा दश । निर्व्विषा द्वादश ज्ञेया वैकरञ्जास्त्रयस्तथा । वैकरञ्जोद्भवाः
सप्त चित्रामण्डलिराजिलाः । पदाभिमृष्टा दुष्टा वा क्रुद्धा ग्रासार्थिनोऽपि वा ।
ते दशन्ति महाक्रोधास्तेषां त्रैविध्यमुच्यते । सर्पितं रदितं वापि तृतीयमथ
निर्व्विषम् । सर्पाङ्गाभिहतं कैचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः । पदानि यत्र
दन्तानामेकं द्वे वा वहूनि च । निमग्नान्यल्परक्तानि यान्युद्वृत्त्य करोति हि ।
चञ्चुमालकयुक्तानि वंकृत्यकरणानि च । संक्षिप्तानि सशोफानि विद्यात्
तत् सर्पितं भिषक् ॥ राज्यः सलोहिता यत्र नीलाः पीताः सितास्तथा ।
विज्ञेयं रदितं तत् तु ज्ञेयमल्पविषश्च तत् ॥ अशोफमल्पदुष्टासृक् प्रकृतिस्थस्य
देहिनः । पदं पदानि वा विद्यादविषं तच्चिकित्सकः । सपस्पृष्टस्य भीरोद्धिं
भयेन कुपितोऽनिलः । कस्यचित् कुरुते शोफं सर्पाङ्गाभिहतं तु तत् ॥
व्याधितोद्विग्नदृष्टान् ज्ञेयान्यल्पविषाणि तु । तथातिदुष्टवालातिदष्टमल्पाविषं
स्मृतम् । सुपर्णदेवब्रह्मर्षियक्षसिद्धनिषेविते । विषघ्नौषधियुक्ते च देशे न
क्रमते विषम् ॥ रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वास्तिकाङ्कुशधारिणः । ज्ञेया दर्व्वीकराः
सर्पाः फणिनः शीघ्रगामिनः ॥ ज्ञेया मण्डालिनः सर्पा ज्वलनाकसमप्रभाः ।
मण्डलेर्व्विविधेश्चित्राः पृथवो मन्दगामिनः । स्निग्धाः विविधवर्णाभिस्तैर्यग्
ऊढन्तु राजिभिः । चित्रिता इव ये भान्ति राजिमन्तस्तु ते स्मृताः ॥
मुक्त्वारूप्यप्रभा ये च कपिला ये च पन्नगाः । सुगन्धिनः सुवर्णाभास्ते जात्या
ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ क्षत्रियाः स्निग्धवर्णास्तु पन्नगा भृशकोपनाः । सूर्य-
चन्द्राकृतिच्छत्रलक्ष्म तेषां तथाम्बुजम् ॥ कृष्णा वर्ज्जानभा ये च लोहता
वर्णतस्तथा । धूम्राः पारावताभाश्च वैश्यास्ते पन्नगाः स्मृताः ॥ महिषद्वीप-
वर्णाभास्तथैव परुषत्वचः । भिन्नवर्णाश्च ये केचिच्छूद्रास्ते परिकीर्त्तताः ॥
कोपयन्त्यनिलं जन्तोः फणिनः सर्व्व एव तु । पित्तं मण्डलिनश्चापि
कफश्चानेकराजयः ॥ अपत्यमसवर्णाभ्यां द्विदोषकरलक्षणम् । ज्ञेयौ दोषौ

च दम्पत्योर्विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥ रजन्याः पश्चिमे यामे सर्पाश्चित्राश्चरन्ति हि ।
 शेषेषूक्ता मण्डलिनो दिवा दर्वीकराः स्मृताः ॥ दर्वीकरास्तु तरुणा
 वृद्धा मण्डलिनस्तथा । राजिमन्तो वयोमध्ये जायन्ते मृत्युहेतवः ॥ नकुलाद्
 दलिता बाला वारिविप्रहताः कृशाः । वृद्धा मुक्तत्वचो भोताः सर्पास्त्वल्पविषाः
 स्मृताः ॥ तत्र दर्वीकराः कृष्णसर्पा महाकृष्णः कृष्णोदरः श्वेतकपोतो महा-
 कपोतो बलाहको महासर्पः शङ्खपालो लोहिताक्षो गवेधुकः परिसर्पः खण्डफणः
 ककुदः पद्मो महापद्मो दर्भपुष्पो दधिमुखः पुण्डरीको भ्रूकुटीमुखो विष्किरः
 पुष्पाभिकीर्णो गिरिसर्प ऋजुसर्पः श्वेतोदरो महाशिरा अलगर्द्ध आशीविष
 इति ॥ मण्डलिनस्तु । आदर्शमण्डलः श्वेतमण्डलो रक्तमण्डलश्चित्रमण्डलः
 पृषतो रोध्रपुष्पो मिलिन्दको गोनसो वृद्धगोनसः पनसो महापनसो वेणुपत्रकः
 शिशुको मदनः पालिंहिरः पिङ्गलस्तन्तुकः पुष्पपाण्डुः षड्गोऽग्निको वभ्रः
 कषायः कलुषः पारावतो हस्ताभरणश्चित्रक एणीपद इति ॥ राजिमन्तस्तु ।
 पुण्डरीको राजिचित्रोऽङ्गुलराजिर्बिन्दुराजिः कदम्बकस्तृणशोषकः सर्षपकः
 श्वेतहनुर्दर्भपुष्पश्चक्रको गोधूमकः किकिसाद इति ॥ निर्विषास्तु । गलगोलो
 शूकपत्रोऽजगरो दिव्यको वर्षाहिकः पुष्पशकली ज्योतीरथः क्षीरिकः पुष्पकः
 अहिपताकोऽन्धाहिको गोराहिको वृक्षेश इति ॥ वैकरञ्जास्तु त्रयाणां दर्वी-
 करादीनां व्यतिकराज्जाताः । तद यथा । माकुलिः पोदगलः स्निग्धराजिरिति ।
 तत्र कृष्णसर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलिः । राजिलेन गोनस्यां
 वैपरीत्येन वा जातः पोदगलः । कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जातः
 स्निग्धराजिरिति ॥ तेषामाद्यस्य पितृवद्विषोत्कर्षः, द्वयोर्मातृवदित्येके । त्रयाणां
 वैकरञ्जानां पुनर्दिव्येलकरोध्रपुष्पकराजिचित्रकाः पोदगलः पुष्पाभिकीर्णो
 दर्भपुष्पो वेल्लितकः सप्त तेषामाद्यास्त्रयो राजिलवत् । शेषा मण्डलिवत् । एव-
 मेषां सर्पाणामशीतिरिति ॥ तत्र महानेत्रजिह्वास्यशिरसः पुमांसः । सूक्ष्मनेत्र-
 जिह्वास्यशिरसः स्त्रियः । उभयलक्षणमन्दविषा अक्रोधा नपुंसका इति ॥ तत्र
 सर्वेषां सर्पाणां सामान्यत एव दष्टलक्षणं वक्ष्यामः । किं कारणम् ? विषं हि
 निशितनिस्त्रिंशानिहुतवहदेऽयमाशुकारि मुहूर्त्तमप्युपेक्षितमातुरमभिपातयति ।
 न चावकाशोऽस्ति वाक्समूहमनुसर्तुम् ॥ प्रत्येकमपि दष्टलक्षणेऽभिहिते सर्प-
 त्रैविध्यं भवति । तस्मात् त्रैविध्यमेव वक्ष्यामः । एतद्व्यातुरहितमसम्मोहकरञ्च ॥
 अपि चात्रैव सर्व्वसं व्यञ्जनावरोधः ॥ तत्र दर्वीकरविषेण खड्गनयननख-
 दशनमूत्रपुरीषदंशकृष्णत्वं रौक्ष्यं शिरसोगौरवं सन्धिवेदना कटीपृष्ठग्रीवा-

दौर्बल्यं जम्भणं वेपथुः स्वराक्सादो घुघुरको जड़ता शुष्कोद्गारः कासश्वासौ
 हिका वायोरुद्ध्वगमनं शूलोद्वेष्टनं तृष्णा लालास्रावः फेणागमनं स्रोतोऽवरोध-
 स्तास्ताश्च वातवेदना भवन्ति ॥ मण्डलिविषेण तृणादीनां पीतत्वं शीताभिलाषः
 परिधूपनं दाहस्तृष्णा मदो मूर्च्छा ज्वरः शोणितागमनमूर्द्धमधश्च मांसानामव-
 शातनं श्वयथर्दशकोथः पीतरूपदर्शनमाशुकोपस्तास्ताश्च पित्तवेदना भवन्ति ॥
 राजिमद्विषेण शुक्लत्वं तृणादीनां शीतज्वरो रोमहर्षः स्तब्धत्वं गात्राणामा-
 दंशशोफः सान्द्रकफप्रसेकश्छर्द्दिर्भीक्ष्णमक्ष्णोः कण्डूः कण्ठे श्वयथुर्घुर्गुरक
 उच्छ्वासनिरोधस्तमःप्रवेशस्तास्ताश्च कफवेदना भवन्ति ॥ पुरुषाभिदष्ट ऊर्द्ध
 प्रेक्षतेऽधस्तात् स्त्रिया, सिराश्चोत्तिष्ठन्ति ललाटे । नपुंसकदष्टस्तिर्य्यक्प्रेक्षी
 भवति । गभिण्या पाण्डमुखो ध्मातश्च । सूतिकया शूलार्त्ता रुधिरं मेहत्युप-
 जिह्विका चास्य भवति । ग्रासाथिनान्नं काङ्क्षति, वृष्टेन मन्दा वेगाश्च । बालेनाशु
 मृदवश्च । निर्व्विषेणाविषलिङ्गं । अन्धाहिकेनान्धत्वमित्येके ॥ ग्रसनादजगरः
 शरीरप्राणहरो न विषात् । तत्र सद्यःप्राणहराहिदष्टः पतति शस्त्राग्निहत
 इव भूमौ स्तब्धाङ्गः स्वपितीति ॥ तत्र सर्व्वेषां सर्पाणां विषस्य सप्त वेगा
 भवन्ति । तत्र द्वर्चीकराणां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति । तत् प्रदुष्टं
 कृष्णतामुपैति । तेन काष्ण्यं पिपीलिकापरिसर्पणमिव चाङ्गे भवति ॥ द्वितीये
 मांसं दूषयति तेनात्यर्थं कृष्णता शोफो ग्रन्थयश्चाङ्गे भवन्ति ॥ तृतीये मेदो
 दूषयति । तेन दंशक्लेदः शिरोगौरवं स्वेदश्चक्षुर्ग्रहणश्च ॥ चतुर्थे कोष्ठमनु-
 प्रविश्य कफप्रधानान् दोषान् दूषयति । तेन तन्द्राप्रसेकसन्धिविश्लेषा भवन्ति ॥
 पञ्चमेऽस्थीन्यनुप्रविशति । प्राणमग्निश्च दूषयति । तेन पर्व्वभेदो हिका
 दाहश्च भवति ॥ षष्ठे मज्जानमनुप्रविशति, ग्रहणीश्चात्यर्थं दूषयति । तेन
 गात्राणां गौरवमतिसारो हृत्पीडा मूर्च्छा च भवति ॥ सप्तमे शुक्रमनुप्रविशति ।
 व्यानश्चात्यर्थं कोपयति । कफश्च सूक्ष्मस्रोतोभ्यः प्रच्यावयति । तेन श्लेष्म-
 वत्तिप्रादुर्भावः कटीपृष्ठभङ्गश्च सर्व्वचेष्टाविघातो लालास्वेदयोरतिप्रवृत्ति-
 रुच्छासनिरोधश्च भवति ॥ १ ॥

तत्र मण्डलिनां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति । तत् तु प्रदुष्टं
 शीततामुपैति, तत्र परिदाहः पीतावभासता चाङ्गानां भवति ॥ द्वितीये मांसं
 दूषयति, तेनात्यर्थं पीतता-परिदाहौ दंशे श्वयथुश्च भवति । तृतीये मेदो दूषयति,
 तेन पूर्व्ववक्ष्यक्षुर्ग्रहणं तृष्णा दंशे क्लेदः स्वेदश्च भवति ॥ चतुर्थे कोष्ठमनु
 प्रविश्य ज्वरमापादयति ॥ पञ्चमे परिदाहं सर्व्वगात्रेषु करोति । षष्ठसप्तमयोः

पूर्ववत् ॥ २ ॥ राजिमतां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति । तत् प्रदुष्टं पाण्डुतामुपैति, तेन लोमहर्षः शुक्लावभासश्च पुरुषो भवति । द्वितीये मांसं दूषयति, तेन पाण्डुतात्यर्थं जाड्यं शिरःशोफश्च भवति । तृतीये मेदो दूषयति, तेन चक्षुर्ग्रहणं दन्तक्लेदः स्वेदो घ्राणाक्षिप्तावश्च भवति । चतुर्थे कोष्ठमनु-
प्रविश्य मन्यास्तम्भं शिरोगौरवश्चापादयति । पञ्चमे वाक्सङ्गं शीतज्वरश्च करोति । षष्ठसप्तमयोः पूर्ववदिति ॥ भवन्ति चात्र । “धात्वन्तरेषु याः सप्त कलाः सम्परिकीर्त्तिताः । तास्वेकैकामतिक्रम्य वेगं प्रकुरुते विषम् ॥ येनान्तरेण हि कलां कालकल्पं भिनत्ति हि । समीरणेनोद्यमानं तत् तु वेगान्तरं स्मृतम् ॥ शूनाङ्गः प्रथमे वेगे पशुर्ध्यायति दुःखितः । लालास्रावो द्वितीये तु कृष्णाङ्गः पीड्यते हृदि ॥ तृतीये च शिरोदुःखं कण्ठग्रीवश्च भज्यते । चतुर्थे वेपते मूढः खादनं दन्तान् जहात्यस्मन् ॥ केचिद्वेगत्रयं प्राहुरन्तश्चैतेषु तद्विदः ॥ ध्यायति प्रथमे वेगे पक्षी मुह्यत्यतः परम् । द्वितीये विह्वलः प्रोक्तस्तृतीये मृत्यु-
मृच्छति ॥ केचिदेकं विहङ्गेषु विषवेगमुशन्ति हि । मार्जारनकुलादीनां विषं नातिप्रवर्त्तते” ॥ इति । “पूर्वमुक्ताः शुक्रविषा मूषिका ये समासतः । नाम लक्षणभैषज्यैरष्टादश निबोध तान् ॥ लालनः पुत्रकः कृष्णो हंसिकश्चिकिर-
स्तथा । छच्छुन्दरोऽलसश्चैव कषायदशनोऽपि च । कुलिङ्गश्चाजितश्चैव चपलः कपिलस्तथा । कोकिलोऽरुणसङ्गश्च महाकृष्णस्तथोन्दुरः । श्वेतेन महता सार्द्धं कपिलेनाखुना तथा । मूषिकश्च कपोताभस्तथैवाष्टादश स्मृताः ॥ शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रघृष्टैः स्पृशन्ति वा । नखदन्तादिभिस्तस्मिन् गात्रे रक्तं प्रदुष्यति । जायन्ते ग्रन्थयः शोफाः कर्णिका मण्डलानि च । पिङ्गकोप-
चयश्चोग्रा विसर्पाः किटिमानि च । पर्वभेदोरुजस्तीव्रा ज्वरो मूर्च्छा च दारुणा । दौर्बल्यमरुचिः श्वासोवमथुर्लामहर्षणम् ॥ दष्टरूपं समासोक्तमेतद् व्यासेन वक्ष्यते ॥

अथातः कीटा उच्यन्ते—सर्पाणां शुक्रविष्मूत्रशवपूत्यण्डसम्भवाः । वाय्वन्यम्बुप्रकृतयः कीटास्तु विविधाः स्मृताः ॥ सर्व्वदोषप्रकृतिभिर्युक्ताश्चा-
परिणामतः । कीटत्वेपि सुघोरास्ते सर्व्व एव चतुर्विधाः ॥ कुम्भीनसस्तुण्डि-
केरी शृङ्गी शतकुलीरकः । उच्चिङ्गोऽग्निनासा च चिच्चिङ्गो मयूरिका ।
आवर्त्तकस्तथोरभ्रसारिका मुखवैदलौ । शरावकुर्दोऽभीराजी परुषश्चित्रशीर्षकः ।
शतबाहुश्च यश्चापि रक्तराजिः प्रकीर्त्तितः । अष्टादशेति वायव्याः कीटाः
पवनकोपनाः ॥ तैभवंतीह दष्टानां रोगा वातनिमित्तजाः ॥ कौण्डिल्यकः

कलभको वरटी पत्रवृश्चिकः । विनासिका ब्रह्मणिका विन्दुलो भ्रमरस्तथा ।
 बाह्यकी चिप्पिटः कुम्भी वच्चः कीटोऽरिमेदकः । पञ्चकीटो दुन्दुभिको
 मकरः शतपादकः । पञ्चालकः पाकमत्स्यः कृष्णतुण्डोऽथ गद्धभी । क्लीतः
 क्रिमिसरारी च यश्चाप्युत्क्लेशकः स्मृतः । एते ह्यग्निप्रकृतयश्चतुर्विंशति-
 रीरिताः । तैर्भवन्तीह दृष्टानां रोगाः पित्तनिमित्तजाः ॥ विश्वम्भरः पञ्चशुक्तः
 पञ्चकृष्णोऽथ कोकिलः । सरैयकः प्रचलको वलभः किटिमस्तथा । सूचीमुखः
 कृष्णगोधा यश्च काषायवासिकः । कीटगद्धभकश्चैव तथा त्रोटक एव च ।
 त्रयोदशैते सौम्याः स्युः कीटाः श्लेष्मप्रकोपणाः ॥ तैर्भवन्तीह दृष्टानां रोगाः
 कफनिमित्तजाः ॥३॥ तुङ्गीनासो विचिलकस्तालको बाहकस्तथा । कोष्ठागारी
 क्रिमिकरो यश्च मण्डलपुच्छकः । तुङ्गनाभः सर्षपिकोऽवल्लुली शम्बुकस्तथा ।
 अग्निकीटाश्च घोराः स्युर्द्वादश प्राणनाशनाः ॥ तैर्भवन्तीह दृष्टानां वेगबानानि
 सर्पवत् । तास्ताश्च वेदनास्तीव्रा रोगा वै सान्निपातिकाः । क्षाराग्निदग्ध-
 वदंशो रक्तपीतासितारुणः । ज्वराङ्गमर्दरोमाश्चवेदनाभिः समन्वितः । छर्द्दती-
 सारतृष्णाश्च दाहो मोहो विजृम्भिका । वेपथुश्वासहिकाश्च दाहः शीतश्च
 दारुणम् । पिङ्गकोपचयः शोफो ग्रन्थयो मण्डलानि च । दद्रवः कर्णिका-
 श्चैव विसर्पाः किटिमानि च । तैर्भवन्तीह दृष्टानां यथास्वश्चाप्युपद्रवाः ॥
 येऽन्ये तेषां विशेषास्तु तूष्णं तेषां समादिशेत् । दूषीविषप्रकोपाच्च तथैव विष-
 लेपनात् । लिङ्गं तीक्ष्णविषेष्वेतच्छृणु मन्दविषेष्वतः ॥ प्रसेकोऽरोचकश्छर्दि-
 शिरोगौरवशीतताः । पिङ्गकाकोठकण्डूनां जन्म दोषविभागतः ॥ योगैर्नाना-
 विधैरेषां चूर्णानि गरमादिशेत् । दूषीविषप्रकाराणां तथैवाप्यनुलेपनात् ॥
 एकजातीनत ऊर्द्ध्वं कीटान् वक्ष्यामि भेदतः । सामान्यतो दष्टलिङ्गैः साध्या-
 साध्यक्रमेण च ॥ त्रिकण्टकः कुणी चापि हस्तिकक्षोऽपराजितः । चत्वार
 एते कलभा व्याख्यातास्तीव्रवेदनाः ॥ तैर्दृष्टस्य श्वयथुरङ्गमर्दो गुरुता गात्राणां
 दंशश्च कृष्णो भवति ॥१॥ प्रतिसूर्यः पिङ्गभासो बहुवर्णो महाशिराः । तथा
 निरुपमश्चापि पञ्चगाधेरकाः स्मृताः ॥ तैर्भवन्तीह दृष्टानां वेगबानानि सर्पवत् ।
 रुजश्च विविधाकारा ग्रन्थयश्च सुदारुणाः ॥२॥ गलगोली श्वेता कृष्णा रक्तराजी
 रक्तमण्डला सर्व्वश्वेता सर्षपिकेत्येव षट् । ताभिर्दृष्टे सर्षपिकादज्जं दाह-
 शोफक्लेदा भवन्ति । सर्षपिकया हृदयपीडाऽतिसारश्च ॥३॥ शतपद्यस्तु परुषा
 कृष्णा चित्रा कपिलिका रक्ता श्वेताऽग्निप्रभाचेत्यष्टौ । ताभिर्दृष्टे शोफो वेदना
 दाहश्च हृदये । श्वेताग्निप्रभाभ्यामेतदेव दाहो मूर्च्छा चातिमात्रं श्वेतपिङ्गकोत्-

पत्तिश्च ॥४॥ मण्डूकाः । कृष्णः सारः कुहकोहरितो रक्तो यववर्णाभो भृकुटी-
कोटिकश्चेत्यष्टौ । तैर्दष्टस्य दंशकण्डूर्भवति । पीतफेणागमश्च वक्त्रात् । भृकुटी-
कोटिकाभ्यामेतदव दाहश्छर्दिर्मूर्च्छा चातिमात्रम् ॥५॥ विश्वम्भराभिर्दष्टे दंशः
सर्षपाकाराभिः पिङ्काभिश्चीयते शीतज्वरार्तश्च पुरुषो भवति ॥६॥ अहि-
तुण्डिकाभिर्दष्टे तोददाहकण्डूर्श्वयथवो मोहश्च ॥७॥ कण्डूमाभिर्दष्टे पीताङ्ग-
श्छर्दिसारज्वरादिभिरभिहन्यते ॥८॥ शूकवृत्तादिभिर्दष्टे कण्डूकोठाः प्रवर्द्धन्ते
शूकश्चात्र लक्ष्यते ॥९॥ पिपीलिकाः । स्थूलशीर्षा सम्बाहिका ब्राह्मणिका
अङ्गलिका कपिलिका चित्रवर्णेति षट् । ताभिर्दष्टे दंशे श्वयथुरग्निसर्पग्न्यवहाहशोफौ
भवतः ॥१०॥ मक्षिकाः । कान्तारिका कृष्णा पिङ्गलिका मधूलिका काषायी
स्थालिकेत्येवं षट् । ताभिर्दष्टस्य दाहशोफौ भवतः । स्थालिकाकाषायीभ्या-
मेतदव पिङ्काश्च सोपद्रवा भवन्ति ॥११॥ मशकाः । सामुद्रः परिमण्डलो हस्ति-
मशकः कृष्णः पार्वतीय इति पञ्च । तैर्दष्टस्य तीव्रकण्डूर्दंशशोफश्च । पार्व-
तीयस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः । नखावकृष्टेऽत्यर्थं पिङ्काः सदाहपाका
भवन्ति ॥ जलौकसां दष्टलक्षणमुक्तं प्राक् । तद्यथा । जलमासामायुरिति
जलायुकाः । जलमासामोक इति जलौकसः । ता द्वादश । तासां सविषाः षट्
तावत्य एव निर्विषाः ॥ तत्र सविषाः कृष्णा कम्बूरा अलगर्दा इन्द्रायुधा
सामुद्रिका गोचन्दना चेति । तास्तज्जनचूर्णवर्णा पृथुशिराः कृष्णा । वर्म्मि-
मतस्यवदायता छिन्नोन्नतकुक्षिः कम्बूरा । रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुख्यलगर्दा ।
इन्द्रायुधवदूर्द्धराजिभिश्चित्रिता इन्द्रायुधा । ईषदसितपीतिका विचित्रपुष्पाकृति-
चित्रा सामुद्रिका । गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरग्नमुखी गोचन्दनेति ॥
ताभिर्दष्टे पुरुषे दंशे श्वयथुरतिमात्रं कण्डूर्मूर्च्छा ज्वरो दाहश्छर्दिर्मदः सदनमिति
लिङ्गानि भवन्ति ॥ तत्र महागदः पानालेपननस्यकर्मादिषूपयोज्यः । इन्द्रा-
युधादष्टमसाध्यमिति षट् सविषा जलौकसः सचिकित्सा व्याख्याताः ॥
भवन्ति चात्र । गौधेरकः स्थालिका च ये च श्वेताग्निसंप्रभे । भृकुटी
कोटिकश्चैव न सिध्यन्त्येकजातिषु ॥ शवमूत्रपुरीषैस्तु सविषैरवमर्षणात् ।
स्युः कण्डूदाहकोठारुः पिङ्कातोदवेदनाः । प्रवलेदवास्तथा स्रावो भृशं सम्पा-
चयेत्त्वचम् ॥ त्रिविधा वृश्चिकाः प्रोक्ता मन्दमध्यमहाविषाः । गोशकृत्-
कोथजा मन्दा मध्याः काष्ठेष्टिकोज्जवाः । सर्पकोथोज्जवास्तीक्ष्णा ये चान्ये
विषसम्भवाः ॥ मन्दा द्वादश मध्यास्तु त्रयः पञ्चदशोत्तमाः । दशविंशति-
रित्येते सङ्ख्याया परिकीर्त्तिताः ॥ कृष्णः श्यावः कम्बूरः पाण्डवर्णो गोमूत्राभः

ककशो मेचकश्च । श्वेतोरक्तो रोमशः शाद्वलाभो रक्तश्चते मन्दवीर्या
मतास्तु ॥ एभिर्दष्टे वेदना वेपथुश्च गात्रस्तम्भः कृष्णरक्तागमश्च । शाखादष्टे
वेदना चोद्धमेति दाहस्वेदो दंशशोफो ज्वरश्च ॥१२॥ रक्तः पीतः कपिलेनोदरेण
सर्वे धूम्राः पर्वभिश्च त्रिभिः स्युः । एते सूत्रोच्चारपूत्यण्डजाता मध्या ज्ञेया-
स्त्रिभकारोरगाणाम् । यस्यैतेषामन्वयाद् यः प्रसूतो दोषोत्पत्तिं तत्स्वरूपाश्च
कुर्व्यात् ॥ जिह्वाशोफो भोजनस्यावरोधो मूर्च्छा चोग्रा मध्यवीर्याभिदष्ट ॥
श्वेतश्चित्रः श्यामलो लोहिताभो रक्तः श्वेतो रक्तनीलोदरौ च । पीतो
रक्तो नीलपीतोऽपरस्तु रक्तो नीलो नीलशुक्ररतथा च ॥ रक्तो दध्नः
पूर्ववच्चैकपट्वा यथापट्वा पट्वणी द्वे च यस्य । नानारूपा वर्णतश्चापि
घोरा ज्ञेयाश्चैते वृश्चिकाः प्राणचौराः ॥ जःमैतेषां सर्पकोथात् प्रदिष्टं
देहेभ्योवा घातितानां विषेण । एभिर्दष्टे सर्पवेगप्रवृत्तिः रफोटोत्पत्तिर्भ्रान्ति-
दाहौ ज्वरश्च ॥ खेभ्यः कृष्णं शोणितं चापि तीव्रं तस्मात् प्राणैस्त्यज्यते
शीघ्रमेव ॥ इति ॥ लूताविषं धोरतमं दुर्विज्ञेयतमन्तु तत् । दुश्चिकित्स्यतमं
वापि भिषग्भिर्मन्दबुद्धिभिः । सविषं निद्विषञ्चैतदित्येवं परिशङ्किते ।
विषघ्नमेव कर्त्तव्यमविरोधि यदौषधम् ॥ अगदानां हि संयोगो विषजुष्टस्य
युज्यते । निर्विषे मानवे युक्तोऽगदः सम्पद्यते सुखम् ॥ तस्मात् सर्व-
प्रयत्नेन ज्ञातव्यो विषनिश्चयः । अज्ञाता विषसद्भावं भिषग् व्यापादयेन्नरम् ॥
प्रोद्भिद्यमानस्तु यथाङ्कुरेण न व्यक्तजातिः प्रविभाति वृक्षः । तद्वद् दुरालक्ष्य-
तमं हि तासां विषं शरीरे प्रविकीर्णमात्रम् ॥ ईषच्च कण्डूः प्रचलं सकोटमव्यक्तवर्णं
प्रथमेऽहनि स्यात् । अन्तेषु शुनं परिनिष्क्रम्यं प्रव्यक्तरूपश्च दिने द्वितीये ॥ त्रहणे
तदर्शयतीह दंशं विषं चतुर्थेऽहनि कोपमेति । अतोऽधिकेऽह्नि प्रकरोति जन्तो-
र्विषप्रकोपप्रभवान् विकारान् ॥ षष्ठे दिने विप्रसूतश्च सर्वान् मर्मप्रदेशान्
भृशमावृणोति ॥ तत् सप्तमेऽत्यर्थपरीतगात्रं व्यापादयेन्मर्त्यमतिप्रवृद्धम् ॥ या-
स्तीक्ष्णचण्डोग्रविषा हि लूतास्ताः सप्तरात्रेण विनाशयन्ति ॥ अतोऽधिकेनापि
निहन्युरन्या यासां विषं मध्यमवीर्यमुक्तम् । यासां कनीयो विषवीर्यमुक्तं
ताः पक्षमात्रेण विनाशयन्ति । तस्मात् प्रयत्नं भिषगत्र कुर्व्यादादंशपाता-
द्विषघातियोगैः ॥ विषन्तु लालानखमूत्रदंष्ट्रारजःपुरीषैरथ चेन्द्रियेण । सप्त प्रकारं
विसृजन्ति लूतास्तदुग्रमध्यावरवीर्यमुक्तम् ॥ सकण्डूकोठं स्थिरमल्पमूलं
लालाकृतं मन्दरुजं वदन्ति ॥ शोफश्च कण्डूश्च पुलानिका च धूमायनं चैव
नखाग्रदंशे । दंशन्तु मूत्रेण सकृष्णमध्यं सरक्तपश्यन्तमवेहि दीर्घम् । दंष्ट्राभिरुग्रं

एभ्योऽन्यथा चिकित्सा तेषाञ्चोपक्रमान् शृणु मे ।

मन्त्रारिष्टोत्कर्त्तन-निष्पीडन-चूषणाग्निपार्षेकाः ।

अवगाहन-रक्तमोक्षण-वमन-विरेकोपधानानि ॥

हृदयावरणाञ्जननस्यधूपलेहौषधप्रधमनानि ।

प्रतिसारं प्रतिविषं संज्ञासंस्थापनं लेपः ॥

कठिनं विवर्णं जानीहि दंशं स्थिरमण्डलञ्च ॥ रजःपुरीषेन्द्रियजं हि विद्धि
स्फोटं विपकामलपीलुपाण्डुम् । एतावदेतत् समुदाहृतन्तु वक्ष्यामि लूताप्रभवं
पुराणम् । सामान्यतो दष्टमसाध्यसाध्यं चिकित्सितञ्चापि यथाविशेषम् ॥
विश्वामित्रो नृपवरः कदाचिद्विषसत्तमम् । वशिष्ठं कोपयामास गत्वाश्रमपदं
किल । कुपितस्य मुनेस्तस्य ललाटात् स्वेदविन्दवः । अपतन् दर्शनादेव-
मथस्तात्तीक्ष्णवर्चसः । लूने तृणे महर्षीणां धेनवर्थं सम्भूतेऽपि च । ततो
जातास्त्वमे घोरा नानारूपा महाविषाः । अपकाराय वर्तन्ते नृपसाधन-
वाहने । यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदविन्दवः । तस्माल्लूतेति भाष्यन्ते
सङ्ख्याया ताश्च षोडश ॥ कृच्छ्रसाध्यास्तथाऽसाध्या लूतास्तु द्विविधाः स्मृताः ।
तासामष्टौ कृच्छ्रसाध्या वर्ज्यास्तावत्य एव तु । त्रिमण्डला तथा श्वेता कपिला
पीतिका तथा । आलमूत्रविषा रक्ता कसना चाष्टमी स्मृता । ताभिर्दष्टे
शिरोदुःखं कण्ठदूर्दशे च वेदना । भवन्ति च विशेषेण गदाः श्लैष्मिकवातिकाः ॥
सौवर्णिका लाजवर्णा जालिन्येनीपदी तथा । कृष्णाग्निवर्णा काकाण्डा माला-
गुणाष्टमी स्मृता ॥ ताभिर्दष्टे दंशकोथः प्रवृत्तिः क्षतजस्य च । ज्वरो दाहोऽ-
तिसारश्च गदाः स्युश्च त्रिदोषजाः । पिङ्का विविधाकारा मण्डलानि महान्ति
च । शोफा महान्तो मृदवो रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा ॥ सामान्यं सर्व्वलूताना-
मेतदादंशलक्षणम् । विशेषलक्षणं तासां वक्ष्यामि सचिकित्सितमिति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अथ विषं गुणतो वेगतश्चोक्त्वा चतुर्विंशत्युपक्रममिति यदुक्तं
तद्वक्तुमाह—एभ्योऽन्यथेत्यादि । नीलौष्ठाद्यसाध्यलक्षणेभ्योऽन्यथा चत्तदा
चिकित्सा कार्या । तेन तेषां साध्यानां विषाणामुपक्रमान् शृणु ॥ चतु-
र्विंशतिमुपक्रमान् निर्दिशति—मन्त्रेत्यादि । मन्त्रेत्यादिमृतसञ्जीवनान्ताः

चक्रपाणिः—मन्त्रेत्यादिना मन्त्रस्य विषहरेषु श्रेष्ठत्वादग्रेऽभिधानात् । विषं तेजो-

मृतसञ्जीवनमेव च विंशतिरेतै चतुर्भिरधिकाः ।

स्युरूपक्रमा यथा ये यत्र योज्याः शृणु तथा तान् ॥ १५ ॥

दंशात्तु विषं दष्टस्य विस्तृतं वैलिकां * भिषग्बद्धा ।

निष्पीडयेद् द्रुतं दंशमुद्धरेन्मर्मवर्जं वा ॥

चतुर्भिरधिका विंशतिरूपक्रमास्तेषां ये यत्र योज्यास्तान् शृणु । सुश्रुते तूक्तम् ।
“यथाऽव्यक्तरसं तोयन्तरीक्षान्महीगतम् । तेषु तेषु प्रदेशेषु रसं तं तं प्रयच्छति ।
एवमेवं विषं यद् यद् द्रव्यं व्याप्यावतिष्ठते । स्वभावादेव तं तस्य रसं समनु-
वर्त्तते ॥ विषे यस्माद् गुणाः सर्व्वे तीक्ष्णाः प्रायेण सन्ति हि । विषं सर्व्वमतो
ज्ञेयं सर्व्वदोषप्रकोपणम् । ते तु वृत्तिं प्रकुपिता जहति स्वां विषादिताः ॥
नोपयाति विषं पाकमतः प्रागान् रुनद्धि च । श्लेष्मणावृतमार्गत्वादुच्छासोऽस्य
निरुध्यते । विसंज्ञः सति जीवेपि तस्मात्तिष्ठति मानवः ॥ शुक्रवत् सर्व्वसर्पाणां
विषं सर्व्वशरीरगम् । क्रुद्धानामेति चाङ्गेभ्यः शुक्रं निर्मन्थनादिव ॥ तेषां
वडिशवद् दंष्ट्रास्तासु सज्जति चागतम् । अनुद्वृत्ता विषं तस्मान्न मुञ्चन्ति च
भोगिनः ॥ यस्मादत्यर्थमुष्णन्तु तीक्ष्णश्च पठितं विषम् । अतः सर्व्वविषेषूक्तः
परिषेकस्तु शीतलः ॥ मन्दक्रीटेषु नात्युक्तं बहु वातकफं विषम् । अतः कीट-
विषे चापि स्वेदो न प्रतिषिध्यते ॥ कीटैर्दष्टानुग्रविषैः सर्पवत् समुपा-
चरेदिति ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—दंशात्तु इत्यादि । सर्पैर्दष्टस्य विषं दंशादेशाद्विस्तृतं बुद्ध्वा
भिषग् वैलिकामरिष्टां शाखायां द्रतं बद्ध्वा निपीडयेत् । शाखाभ्योऽन्यत्र दष्टस्य

मर्मैर्भ्रन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः । यथा निवार्य्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः” ॥ अरिष्टा द्विविधाः,
मन्त्रेण रज्ज्वादिभिर्वा विषोपरिबन्धः । उपधानं विषमं मस्तके भेषजदानम् । हृदयावरणं
हृदयरक्षकमौषधम् । प्रतिविषं विषान्तरप्रयोगः । मृतसञ्जीवनकरं भेषजम् । शेषं अग्नौ
ग्रन्थेन स्फुटं भविष्यति ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—अविमृतमित्यप्राप्तमरणं, वेणिकां बद्ध्वेति । एतेन सामान्याभिधानेन मन्त्र-
व्यापारेऽपि अभिधानं कल्पते । उक्तं चान्यत्र ‘अरिष्टानामपि मन्त्रैः बध्नीयान्मन्त्रकोविदः ।
साच बन्धादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता” । निष्पीडयेदिति निष्पीडनेन, उद्धरेदिति उत्-

तं दंशं वा चूषेन् मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णं ।

प्रच्छन् शृङ्गजलौकोव्यधनैः स्नाव्यं ततो रक्तम् ॥

रक्ते विषप्रदुष्टे दुष्येत् प्रकृतिस्ततस्त्यजेत् प्राणान् ।

तस्मात् प्रघर्षणैरसृग् वर्त्तमानं प्रवर्त्त्य स्यात् ॥ १६ ॥

त्रिकटुगृहधूमरजनीपञ्चलवणाः सवार्त्ताकाः ।

घर्षणमतिप्रवृत्ते वटादिभिः शीतलः प्रलेपः ॥

रक्तं हि विषाधानं वायुरिवाग्नेः प्रदेहसेकैस्तत् ।

शोतैः स्कन्दति तस्मिन् स्कन्ने व्यपयाति विषवेगः ॥

मर्मवर्जं दंशं दंशस्थानमुत्कृत्योद्धरेत् । दंशोद्धरणासम्भवे यवादचूर्णपूरित-
मुखेन तं दंशं विषवासस्थानं दंशं चूषेत् । सुश्रुते चोक्तम्—“सर्व्वैरेवादितः
सर्पैः शाखादष्टस्य देहिनः । दंशस्योपरि वध्नीयादरिष्टाश्चतुरङ्गले ॥ श्लोतचर्मन्त-
वल्कानां मृदुनान्यतमेन च । न गच्छति विषं देहमरिष्टाभिर्निवारितम् ॥ दहेद्
दंशमथोत्कृत्य यत्र बन्धो न जायते । आचूषणच्छेददाहाः सर्व्वत्रैव तु पूजिताः ॥
प्रतिपूर्य्य मुखं वस्त्रैर्हि तमाचूषणं भवेत् ॥ स दष्टव्योऽथवा सर्पो लोष्ट्रो वापि
हि तत्क्षणम् ॥ अथ मण्डलिना दष्टं न कथञ्चन दाहयेत् । स पित्तविष-
बाहुल्याद् दंशो दाहाद् विसर्पतीति । प्रच्छन्नित्यादि । दंशं प्रच्छन् शस्त्रेण प्रच्छन्
एवं शृङ्गादिभिस्ततो रक्तं स्नाव्यम् । कस्मात् ? रक्ते इत्यादि । विषप्रदुष्टे रक्ते
सति प्रकृतिदुष्येत् । ततः प्रकृतिदूषणात् प्राणान् त्यजेत् । यदि तु विषदुष्टं
रक्तं न प्रवर्त्तते तदा प्रघर्षणैः प्रवर्त्त्य स्यात् ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—घर्षणमाह—त्रिकटुत्वादि । वार्त्ताको गोष्ठवार्त्ताकुः । त्रिकटु-
दिकं समभागेन चूर्णं मिश्रयित्वा दंशस्थानघर्षणं कार्य्यम्, ततोऽप्रवर्त्तमान-
मसृक् प्रवर्त्तते । यदि प्रच्छनादिभिरतिप्रवर्त्तते रक्तं, तदा वटादिभिः शीतलै-
र्वल्कलैर्लेपः कार्य्यः । कस्मात् ? रक्तं हीत्यादि । हि यस्माद् रक्तं विषाधानं
कृत्यापहरेत् । मर्मवर्जमिति मर्मव्यभिधातं निषेधयति । यवचूर्णपांशुपूर्णं मुखेन चूषेत् ।
दंशमुखावरणं विषसम्बन्धपरिहारार्थम् । प्रच्छन्निति रक्तमोक्षणमुपक्रममाह । उपक्रमाणाञ्च
व्यातिक्रमाभिधानेन नियमेन क्रमयोगं निषेधयति । रक्तस्नावणोपपत्तिमाह—प्रकृतिरिति
देहभात्वादिस्वभावः । प्रघर्षणैरिति व्रणादिभिः प्रघर्षणेन चेत्यर्थः ॥ १६ ॥

चक्रपाणिः—प्रतिसारणमिति विवृत्तं प्रघर्षणमिति * । विषाधानमिति विषस्य प्रसारकम् । स्कन्दति

* व्याख्यानमिदं चतुर्विंशत्युपक्रमान्तर्गतस्य प्रतिसारणमिति पदस्य । अतस्तल्लैवैतत् पठितव्यम् ।

विषवेगान्मदमूर्च्छाविषादहृदयद्रवाः प्रवर्तन्ते ।

शीतैर्निवर्त्तयेत् तान् न वीज्यश्च लोमहर्षः स्यात् ॥

तरुरिव मूलच्छेदाद् दंशच्छेदान्न वृद्धिमेति विषम् ।

आचूषणमानयनं जलस्य सेतुर्यथा तथारिष्टाः ॥ १७ ॥

त्वङ्मांसगतो दाहो दहति विषं स्त्रावणं हरति रक्तात् ।

पीतं वमनैः सद्यो हरेद् विरेकैर्द्वितीये तु ॥

वायुरिवाग्नेरग्नेर्वायुरिव तत् तु शीतप्रदेहसेकैः स्कन्दति स्त्यानीभवति तस्मिन् विषाधाने रक्ते स्कन्ने स्त्याने सति विषवेगो व्यपयाति । इति रक्तमोक्षणफलं मुक्त्वा व्यजनमाह—विषवेगादित्यादि । मदादयो विषवेगात् प्रवर्तन्ते जायन्ते । तान् मदादीन् शीतैर्द्रव्यैः परिषेकादेभिः निवर्त्तयेत् । वीज्यश्च न लोमहर्षः स्यात् । तरुरिवेत्यादि । मूलच्छेदाद् यथा तरुर्न वृद्धिमेति तथा दंशच्छेदाद् दंशस्थानोत्कर्त्तनाद् विषं न वृद्धिमेति । आचूषणमानयनमतो न विषं देहे वर्त्तते । जलस्य वेगेन गच्छतो यथा सेतुर्गतिनिरोधकृत् तथाऽरिष्टा मन्त्रेण वद्धा विषगतिनिरोधिन्य इति । सुश्रुतेऽरिष्टाबन्धनमुक्तम् । “अरिष्टामपि मन्त्रैश्च वध्नीयान्मन्त्रकोविदः । सा तु रज्ज्वादिभिवद्धा विषप्रतिकरी मता ॥ देवब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ता मन्त्राः सत्यतपोमयाः । भवन्ति नान्यथा क्षिप्रं विषं हन्युः सुदुस्तरम् ॥ विषं तेजोमयैर्मन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः । यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः ॥ मन्त्राणां ग्रहणं कार्यं स्त्रीमांसमधुवर्ज्जिना । जिताहारेण शुचिना कुशास्तरणशायिना ॥ गन्धमाल्योपहारैश्च बलिभिश्चापि देवताः । पूजयेन्मन्त्रसिद्धयर्थं जपहोमैश्च यत्नतः ॥ मन्त्रास्तु विधिनाप्रोक्ता हीना वा स्वरवर्णतः । यस्मान्न सिद्धिमायान्ति तस्माद् योज्योऽगदक्रमः ॥ समन्ततः सिरा दंशाद् विध्येत् तु कुशलो भिषक् । शाखाग्रे वा ललाटे वा वेध्यास्ता विष्टते विषे । रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृच्छ्रं निर्ह्रियते विषम् । तस्माद् विस्रावयेद् रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया” इति ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—त्वङ्मांसत्यादि । त्वङ्मांसगतं विषं दाहो दहति । रक्तस्य स्त्रावणं रक्ताद् विषं हरति । पीतं विषं सद्यस्तत्क्षणं वमनैर्हरेत् । द्वितीये तु स्थिरं भवति । तरुरिवेत्यादिना च्छेदादीनां विषहरोपपत्तिमाह । सेतुर्यथेति विषविरोधक इत्यर्थः ।

आदौ हृदयं रक्ष्यं तस्यावरणं पिबेद् यथालाभम् ।

मधु सर्पिर्मज्जानं गैरिकमथ गोमयरसं वा ॥

इक्षुं सुपक्वमथवा काकं निष्पीड्य तद्रसं वामलम् ।

छागादीनां वासृग् भस्म मृदं वा पिबेदाशु ॥

क्षारोऽगदस्तृतीये शोथहरं छर्द्दनं समध्वम्बु ।

गोमयरसश्चतुर्थे वेगे सकपित्थमधुसर्पिर्भिः ॥

काकाण्डशिरीषाभ्यां स्वरसेनाश्चोतनाञ्जने नस्यम् ।

स्यात् पञ्चमेऽथ षष्ठे संज्ञासंस्थापनं कार्यम् ॥

वेगे विरेकहरेत् । एवमादौ पूर्वं हृदयं रक्ष्यम्, तस्य हृदयस्यावरणं विषवेग-
गमनबोधकरमावरणं यथालाभं पिबेत् । मधुप्रभृति । तत्र काकं सुपक्वं
निष्पीड्य तस्य रसम् । छागादीनामसृक् पिबेत् । भस्म मृदं वाथु पिबेत् ।
इति द्वितीये वेगे । सुश्रुते चोक्तम् । “समन्तादगदैर्दंशं प्रच्छयित्वा प्रलेपयेत् ।
चन्दनोशीरयुक्तेन वारिणा परिषेचयेत् ॥ पाययेतागदांस्तांस्तान्, क्षीरक्षौद्र-
घृतादिभिः । तदलाभे हिता वा स्यात् कृष्णा वल्मीकमृत्तिका ॥ कोविदार-
शिरीषार्क-कटभीर्वापि भक्षयेत् । न पिबेत् तैलकौलत्थ-मद्यसौवीरकाणि च ॥
द्रवमन्यत् तु यत् किञ्चित् पीत्वा पीत्वा समुद्रमेत् । प्रायो हि वमनेनैव सुखं
निर्द्ध्यते विषम् ॥ फणिनां विषवेगे तु प्रथमे शोणितं हरेत् । द्वितीये
मधुसर्पिर्भ्यां पाययेतागदं भिषक् ॥” इति । क्षार इत्यादि । तृतीये विषवेगे
क्षारोऽगदस्तथा समध्वम्बु शोथहरं वमनम् । चतुर्थे विषवेगे सकपित्थ-
मधुसर्पिर्भ्युक्तो गोमयरसः । पञ्चमे वेगे काकाण्डशिरीषाभ्यां स्वरसेन
चक्षुषि आश्च्योतनमञ्जनञ्च दद्यात्, तथा नस्यञ्च तयोः स्वरसेन कुर्यादिति ।
काकाण्डः कृष्णशिम्बी । अथ षष्ठे वेगे संज्ञास्थापनं हिङ्गुकैटर्यारिमेदवचा-
चोरक-वयस्था-गोलोमी-जटिला-पलङ्कषाशोकोहिणीनां संज्ञास्थापनीयानां

द्वितीयवेगे इति शेषः । आदाविति सर्वोपक्रमादौ । तस्येति हृदयस्य । यथालाभमिति
वक्ष्यमाणहृदयावरणयोगेषु यथाप्राप्तिहृदयावरणम् । क्षारोऽगदो वक्ष्यमाणं तद् विशेषेण श्लोकहरमिति

गोपित्तयुक्तरजनी-❁-मञ्जिष्ठामरिचपिप्पलीपानम् ।

विषपानं दृष्टानां विषपीतैर्दंशनं चान्तै ॥ १८ ॥

शिखिपित्तार्द्धयुतं स्यात् पलाशबीजमगदो मृतैषु वरः ।

वार्त्ताकफाणितागारधूमगोपित्तनिम्बं वा ॥

गोपित्तयुतैर्गुडिका सुरसोग्राद्विरजनीमधुककुष्ठैः । +

शस्तामृतैर्न तुल्या शिरीषपुष्पकाकाण्डरसैर्वा ॥

काकाण्डसुरसगवाक्षीपुननवावायसीशिरीषफलैः ।

तद्वदरिष्टजलमृतैर्लेपौषधनस्यपानानि ॥ १९ ॥

कषायपानादिकं कार्यम् । गोपित्तेत्यादि । गोपित्तयुक्तरजन्यादीनां कल्क-
कषायरूपेण पानञ्च संज्ञास्थापनम् । विषपानमिति । दृष्टानां सर्पदंष्ट्रादृष्टानां
मौलविषय पानं विषपीतेऽन्ते शेषवेगे दंष्ट्राविषैर्दंशनम् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—शिखीत्यादि । मृते विषेण मृत इव लक्षिते शिखिपित्तमर्द्धं
तद् द्विगुणं पलाशबीजं पानालपादौ वरोऽगदः, वार्त्ताकादिपञ्चकं वा वरोऽगदो
विषमृते । सुरसादिभिः षड्भिर्गोपित्तयुक्तैर्गुडिका विषमृते शस्ता । शिरीष-
पुष्पकाकाण्डरसैर्वा सुरसादिभिर्गुडिकाऽमृतैर्न तुल्या । काकाण्डः कृष्णशिम्वी ।
काकाण्डादिशिरीषफलान्तैस्तद्वद् गुडिका अरिष्टजलमृते लेपादीनि शस्तानि ।
सुश्रुते च । “नस्यकर्मज्जने युज्जगत् तृतीये विषनाशने । वान्तं चतुर्थे
पूर्वोक्तां यवागूमथ दापयेत् ॥” शीतोपचारं कृत्वादौ भिषक् पञ्चमषष्ठयोः ।
दापयेच्छोधनं तीक्ष्णं यवागूश्चापि कीर्त्तिताम् ॥ सप्तमे खवपीदेन शिररतीक्षणेन
शोधयेत् । तीक्ष्णमेवाञ्जनं दद्यात् तीक्ष्णशस्त्रेण मूर्द्धि च । कुर्यात्
काकपदं चर्म सासृग् वा पिशितं क्षिपेत् ॥ पूर्व्वं मण्डलिनां वेगे दर्व्वीकर-
वदाचरेत् । अगदं मधुसर्पिर्भ्यां द्वितीये पाययेत् च । वामयित्वा यवागूश्च
पूर्व्वोक्तामथ दापयेत् । तृतीये शोधितं तीक्ष्णैर्यवागू पाययेद्धिताम् ।

शेषः । काकाण्डा शुशुभेदः । गोपित्तयुक्ता रजनी आश्रयोतनादिषु ज्ञया । अन्ते इति सर्व्वोपक्रमशेषे
सप्तमे वेगे रूपेण दंशनं कार्यम् ॥ १७ । १८ ॥

चक्रपाणिः—अष्टमे वेगे शिखिपित्तेत्यादिना मृतसञ्जीवनयोगमाह—मृत इति उद्बन्धत्वादिभि-
स्त्रिभिः सम्बध्यते । लेपौषधनस्यपानानि इत्यादि उद्बन्धत्वादिषु यथायोग्यतया ज्ञयानि ॥ १९ ॥

* गोपित्तयुक्ता रजनीति पाठान्तरम् । + सुरसाम्रन्थिद्विरजनीमधुककुष्ठैरिति बहुषु ग्रन्थेषु पाठः ।
† उद्बन्धविषजलमृते इति चक्रसम्मतः पाठः ।

पृक्काप्रवस्थौण्यकाक्षीशैलेयरोचनातगरम् ।
 ध्यामककुङ्कुममांसीसुरसाग्रं लालकुण्डलम् ॥
 बृहतीशिरीषपुष्पश्रीवेष्टपद्मचारटोविशालाः ।
 सुरदारुपद्मकेशरसावरकमनःशिलाकौन्त्यः ॥
 जात्यर्कपुष्परसरजनोद्वयहिङ्गुपिप्पलीलाक्षाः ।
 जलमुद्गपर्णचन्दनमदनमधुकसिन्धुवाराश्च ॥
 शम्पाकलोधूमयूरकगन्धफलीनाकुलीविडङ्गाश्च ।
 पुष्ये संहृत्य समं पिष्ट्वा गुटिका विधेयाः स्युः ॥

चतुर्थे पञ्चमे वापि दर्वीकरवदाचरेत् । काकोल्यादाहृतः षष्ठे पयश्च
 मधुगो गणः । हितोऽवपोढे लगदः सप्तमे विषनाशनः ॥ अथ राजिमतां
 वेगे प्रथमे शोणितं हरेत् । अगदं मधुसर्पिभ्यां संयुक्तं पाययेत् च । वान्तं
 द्वितीये लगदं पाययेद् विषनाशनम् । तृतीयादिषु त्रिष्वेव विधिर्दर्वी-
 करोदितः । षष्ठेऽञ्जनं तीक्ष्णतममवपीड्य सप्तमे । गर्भिणीवालवृद्धानां
 सिराव्यधविवर्जितम् । विषात्तानां यथोद्दिष्टं विधानं शस्यते मृदु ॥ रक्ता-
 वसेकाञ्जनानि नरतुल्यान्यजाविके । गवाश्वयोश्च द्विगुणं त्रिगुणं महिषोष्टयोः ।
 चतुर्गुणन्तु नागानां केवलं सर्व्वपक्षिणाम् । परिषेकान् प्रदेहांश्च सुशीतान्
 अवचारयेत् । माषकं तञ्जनस्येष्टं द्विगुणं नस्यतो हितम् । पाने चतुर्गुणं पथ्यं
 वमनेऽष्टगुणं पुनः । देशप्रकृतिसात्म्यत्त विषवेगबलाबलम् । प्रधान्यं निपुणो बुद्ध्या
 ततः कर्म समाचरेत् । वेगाबुपूर्व्वमित्येतत् कर्मोक्तं विषनाशनम् ॥ इति ॥ १९

गङ्गाधरः—पृक्केत्यादिना मृतसञ्जीवनोऽगदः । पृक्का-विडङ्गान्तानि पुष्ये
 नक्षत्रे संहृत्य समं पिष्ट्वा जलेन गुटिका विधेयाः स्युः । तानि संहृत्य वा
 पुष्ये नक्षत्रे जलेन पिष्ट्वा गुटिका विधेयाः स्युः । अत्र पृक्का पिडङ्ग, पुवः
 कैवत्तं सुस्तकम् । स्थौण्यं ग्रन्थिपर्णम् । काक्षी सौराष्ट्रमृत् । शैलेयं शैलजम् ।
 रोचना गोरोचना । ध्यामकं गन्धतृणम् । सुरसाग्रं निगुण्डी-मञ्जरी । एला
 स्थूला । आलं हरितालम् । कुण्डलमैडगजा । श्रीवेष्टकं नवनीतखोटी । पद्मचारटी
 कुम्भाङ्गलता । सावरको धवललोध्रः । जात्यर्कयोः पुष्पं, तस्य रसः ।

चक्रपाणिः—पृक्केत्यादौ काक्षी सौराष्ट्रकी मृत् । कुण्डलः खदिरः । कौन्ती रेणुका । मयूरकः

सर्वविषघ्नो जयकृत् विषमृतसञ्जीवनो ज्वरनिहन्ता ।

घ्नो य-दिलेपन-धारण-धूमग्रहणैर्गृहस्थश्च ॥

भूतविषजन्तुलक्ष्मीकाम्मणमन्त्राग्न्यशन्यरीन् हन्यात् ।

दुःस्वप्न-स्त्रीदोषानकालमरणाम्बुचौरभयम् ॥

धनधान्यकार्यसिद्धिश्चापुष्ट्यायुर्विवर्द्धनो धन्यः ।

मृतसञ्जीवन एष प्रागमृताद् ब्रह्मणा विहितः ॥ २० ॥

मृतसञ्जीवनोऽगदः ।

मन्त्रैर्धमनीबन्धोऽपामार्जनं कार्यमात्मरक्षणञ्च ।

दोषस्य विषं यस्य स्थाने स्यात् तं जयेत् पूर्वम् ॥

वातस्थाने स्वेदो दध्ना नतकुष्ठकल्कपानञ्च ।

मधुघृतपयोऽम्बुपानावगाहसेकाश्च पित्तस्थे ॥

जलं बालकम् । सिन्धुवार इह निगुड्याकारशुक्लपुष्प इति भेदः । शम्पाकः
चतुरङ्गुलः । लोध्रमिह रक्तलोध्रम् । मयूरकमपामार्गः । गन्धफली प्रियङ्गुः ।
नाकूली रास्ना । काम्मणः परद्रोहोपायो मन्त्रः । विषमृतसञ्जीवनोऽगदः ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—नन्वरिष्टाबन्धनं कथं कुर्यादित्यत आह—मन्त्रैरित्यादि ।
धमनीबन्धो विषप्रसरणनिवृत्त्यर्थं धमनीबन्धः कार्यो दंशदेशाद्दुर्लभं चतुरङ्गुले
मन्त्रैः सिद्धैर्विषघ्नमन्त्रैस्तथाऽपामार्जनं मन्त्रैः कार्यमात्मरक्षणञ्च कार्यम् ।
यस्य दोषस्य स्थाने विषं स्यात् तं दोषं पूर्वं जयेत् । तद्यथा । वातस्थाने
विषे स्वेदः कार्यः, नतकुष्ठयोः कल्कं दध्ना पिबेत् । पित्तस्थे पित्तस्थानगते

अपामार्गः । गन्धफली प्रियङ्गुः । नाकूली रास्ना । धारणशब्देन शरीरे धारणम् ।
गृहस्थ इति गृहे तिष्ठन् । मन्त्रोऽभिचारमन्त्रः । स्त्रीदोषा इति स्त्रीदत्तगरादिदोषाः । प्राग-
मृतादिति अमृतोपपत्तेः प्राक्, एतेन चामृतसमानत्वञ्चास्य दर्शते ॥ २० ॥

चक्रपाणिः—मन्त्रैरित्यादौ अपामार्जनमिति प्रतिलोमेन मार्जनं मन्त्रैरेव कार्यम् । आत्मरक्षा
भूतवेशानपेक्षार्थम् । जयेदिति स्थानिनं दोषं जयेत् । स्वेदो यद्यपि निषिद्धत्वेनोक्तः तथापि
वातस्थानविशेषत्वाद् विधीयते । स्वेदस्तु प्रायो भोजनादिविधानवत्, अस्य प्रयोगश्चतुर्विंशत्युप-

क्षारोऽगदः कफस्थानगतै स्वेदस्तथा सिराव्यधनम् ।

दूषीविषेऽथ रक्तस्थिते सिराकर्म पञ्चविधम् ॥

भेषजमेवं कल्प्यं भिषजा विज्ञाय सर्वदा सर्वम् ।

स्थानं जयेत् पूर्वं स्थानस्थस्याविरुद्धञ्च ॥ २१ ॥

विषदूषितकफमार्गस्रोतःसंरोधरुद्धवायुस्तु ।

मृत इव श्वसेन्मर्त्यः स्यादसाध्यलिङ्गैर्विहीनश्च ॥

चर्मकषायाः कल्कं विल्वसमं मूर्च्छि काकपदमस्य ।

कृत्वा दद्यात् कटभीकटुकटफलप्रथमनश्च ॥

छागव्यमाहिषाविककौकु टाब्जमांसम् ।

दद्यात् काकपदोपरि मत्ते विषेणैव सहसा ॥

विषे मधुपानं घृतपानं पयःपानमम्बुपानमवगाहसेकौ चाम्बुभिरेव । कफ-
स्थानगते क्षारोऽगदः स्वेदश्च तथा सिरावेधश्च । रक्तस्थिते दूषीविषे पञ्चविधं
सिराकर्म पञ्च सिरावेधः । भिषजा एवमेतत् प्रकारं विज्ञाय सर्वदा
सर्वं भेषजं कल्प्यम् । पूर्वं स्थानं जयेत् । स्थानस्थस्य दोषस्याविरुद्धञ्च
कर्म कुर्यात् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—दूषितकफेन वायुगतिस्त्रोतसां रोधात् संरुद्धो वायुस्य
स मर्त्यो मृत इव मरणकाले यथा श्वसेत् तथा श्वसेत् । तदि किं म्रियते
न च म्रियते । असाध्यलिङ्गैर्विहीनश्च स्यात् । चर्मकषायाः कल्कं विल्वसमं
पलमात्रमस्य मूर्च्छि काकपदं त्रिरेखाकारं छेदनं कृत्वा कटभीकटुकीकटफलानां
प्रथमनं दद्यात् । छागेत्याति । विषेण सहसा मत्ते काकपदोपरि छागादमांसं

क्रमेणोक्तः । किंवा अग्निशब्देन स्वेदोऽपि गृह्यते । पित्तस्थ इति पित्तस्थानस्थे । दूषीविष
इत्यादौ पञ्चविधसिराकर्म इति पञ्चसिराव्यधः । स्थानस्थस्येति स्थानगतविषस्याविरुद्धञ्च
कुर्यादिति शेषः ॥ २१ ॥

चक्रपाणिः—स्रोतःसंरोधेन रुद्धो वायुर्यस्य सः । असाध्यलिङ्गैरिति प्रागुक्तनीलौष्ठादिभिः ।
चर्मकषाया इति चर्मचटकाषायाः । काकपदमिति काकपदकमिव व्रणम् । कटु इत्यस्य

नासाचिकर्णजिह्वाकण्ठनिरोधेषु कर्म नस्तः स्यात् ।
 वार्त्ताकवीजपूरकज्योतिष्मत्यादिभिः पिष्टैः ॥
 अञ्जनमक्ष्युपरोधे कर्त्तव्यं वस्तमूत्रपिष्टैस्तु ।
 दारुव्योषहरिद्राकरवीरकरञ्जनिम्बसुरसैस्तु ॥ २२ ॥
 श्वेतावचाश्वगन्धाहिङ्गमृताकुष्ठसन्धवं लसुनम् ।
 सर्षपकपित्थमध्यं दुग्दुकमूलकरञ्जवीजानि ॥
 व्योषं शिरीषपुष्पं द्वे च निशे वंशलोचनञ्च समम् ।
 पिष्ट्वाथ वस्तमूत्रेण च गोश्च पित्तेन * सप्ताहम् ॥
 व्यत्यासभावितोऽयं निहन्ति शिरसि स्थितं विषं क्षिप्रम् ।
 सर्व्वज्वरभूतग्रहविसूचिकाजीर्णमूर्च्छार्त्ति ॥
 उन्मादापस्मारौ काचपटलनीलकाशिरोदोषान् ।
 शुष्काक्षिपाकपित्वाव्वदार्म्मकगडूतमोदोषान् ॥
 क्षयदौर्बल्यमदात्ययपाण्डुगदांश्चाञ्जनात् तथा मोहान् ।
 लेपाद् दिग्धक्षतलीढदष्टाद्यष्टविधविषघाती ॥

खण्डीकृतं दद्यात् । नासादिनिरोधे नस्तः कर्म स्यात् । करित्यत आह—
 वार्त्ताकेत्यादि । वार्त्ताकं वीजपूरं ज्योतिष्मत्यादिकञ्च पिष्ट्वा नस्यं दद्यात् ।
 अक्ष्युपरोधेऽञ्जनं दारुप्रभृतिभिर्मूत्रपिष्टैर्दद्यात् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—श्वेतेत्यादि । श्वेता श्वेतापराजिता । कपित्थमध्यं शस्यम् ।
 टण्टकः श्योनाकस्तस्य मूलम् । वंशलोचनान्तं सर्व्वं समं वस्तमूत्रेण पिष्ट्वा
 भावनामेकां दत्त्वा गोपित्तेनापरां ततो वस्तमूत्रेण चैकामित्येवं सप्ताहं व्यत्यास-
 भावितोऽयमगदः शिरसि स्थितं विषं क्षिप्रं निहन्ति अञ्जनात् तथा लेपात् ।
 दिग्धाद्यष्टविधं दिग्धं शरादिषु लिप्तं क्षतं लीढं दष्टं पीतं विद्धं दूषीविषं

कटुकफला तिक्तालावु, किंवा कटु लिङ्गदु । ज्योतिष्मतीत्यादीनि षड्विरेचनशताश्रितयोक्तानि

* गोऽश्वपित्तेनेति वा पाठः ।

अर्शःस्नानच्छेषु च गुदलेपो योनिलेपनश्च स्त्रीणाम् ।
 मूढे गर्भे दुष्टे ललाटलेपः प्रतिश्याये ॥
 वृद्धौ किटिमे कुष्ठे श्वित्रे विचर्चिकादिषु च लेपः ।
 गज इव तरुन् विषगदान् निहन्त्यगदो गन्धहस्त्येषः ॥ २३ ॥
 गन्धहस्तीनामागदः ॥

पत्रागुरुमुस्तैला निर्यासाः पञ्च चन्दनं तथा पृक्का ।
 त्वङ् नलदोत्पलबालकहरेणुकोशीरव्याघ्रनखाः ॥
 सुरदारुकनककुङ्कुमध्यामकुष्ठप्रियङ्गवस्तगरम् ।
 पञ्चाङ्गानि शिरीषात् व्योषालमनःशिलाजाज्यः ॥
 श्वेता कटभी करञ्जो रक्षोघ्नः सिन्धुवारिका रजनी ।
 सुरसाञ्जनगैरिकमञ्जिष्ठानिम्बपत्रनिर्यासाः ॥
 वंशत्वगश्चगन्धाहिङ्गुदधित्थाम्लवेतसं वृक्षाः ।
 मधुमधुकसोमराजीवचारुहारोचनातगरम् ॥

गच्छेति । आनद्धेष्वशःस्वनेनागदेन गुदलेपः । स्त्रीणां मूढे गर्भे योनि-
 लेपनश्च । दुष्टे प्रतिश्याये ललाटलेपः । एष गन्धहस्तीनामागदः ।
 (गन्धहस्ती अगदः) ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—पत्रेत्यादि । पत्रं तेजपत्रमेलान्तं जसन्तं पदं, पञ्च निर्यासाः
 “सज्जैरसो गुग्गुलुश्चाप्यहिफेनश्च शिङ्गकम् । लोहवान इति त्रयेया निर्यासाः
 पञ्च कोविदैः” । लोहवान लोवान इति ख्यातः । पृक्का पिङ्गशाकम् । लक्
 गुडलक् । नलदं जटामांसी । व्याघ्रनखः कालाकङ्कः, हिंसा नाम । कनकं
 नागकेशरम् । प्रियङ्गव इति पदच्छेदः । शिरीषात् पञ्चाङ्गानि मूललक्ष्मण-
 पुष्पफलानि । आलं हरितालम् । अजाजी जीरकम् । श्वेता श्वेतापराजिता ।
 कटमी खल्पशिरीषः । करञ्जो गोकरञ्जः । रक्षोघ्नः सर्षपः । सिन्धुवारिका
 निसुन्दारः । सुरसा तुलसी । अञ्जनं रसाञ्जनम् । निम्बस्य पत्रं निर्यासश्च ।
 वंशस्य लक् नेली । वृक्षा राजवृक्षाः । रुहा दूर्वा । रोचनातगरं पीततगर-
 शिरोविरेचनानि । दाह्वित्यादौ श्वेता कटभी । व्यत्यासाज्जावित इति गोपितेन भावयित्वा
 अश्वपित्तेन भावितः ॥ २३।२३ ॥

अगदोऽयं वैश्रवणायख्यातस्त्राम्बकेण षष्ठ्यङ्गः ।
 अप्रतिहतप्रभावः स्मृतो महागन्धहस्तीति ॥
 पित्तेन गवां पेथ्या गुड़िका सिद्धा तु पुष्ययोगेण ।
 पानाञ्जनप्रलेपैः प्रसाधयेत् सर्वकर्मणि ॥
 पिल्लं कण्डूं तिमिरं रात्रान्धं काचमव्वुदं पटलम् ।
 हन्ति सततप्रयोगाद्धितमितपथ्याशिनां पुंसाम् ॥
 विषमज्वरानजीर्णान् दद्रु कण्डूविसूचिकापामाः ।
 कुष्ठं किटिमं श्वित्रं विचर्चिकां चोपहन्ति नृणाम् ॥
 विषमूषिकलूतानां सर्वेषां पन्नगानाञ्च ।
 आशु विषं नाशयते मूलजमथ कन्दजं सर्वम् ॥
 एतेन लिप्तगात्रः सर्पान् गृह्णाति भक्षयेच्च विषम् ।
 कालपरीतोऽपि नरो जीवति नित्यं निरातङ्गः ॥
 आनद्धे गुदलेपो योनिलेपश्च मूढगर्भाणाम् ।
 मूर्च्छार्त्तिषु च ललाटे लेपनमाहुः प्रधानतमम् ॥
 भेरीमृदङ्गपटहान् छत्राण्यमुना तथा ध्वजपताकाः ।
 लिप्त्वाऽहिविषनिरस्त्यै प्रध्वनयेद् दर्शयेन्मतिमान् ॥
 यत्र च सन्निहितोऽयं न तत्र बालग्रहा न रक्षांसि ।
 न चैव कार्मणमन्त्रा भजन्ति नाथवर्णो मन्त्राः ॥

पादुका । इति षष्ठ्यङ्गोऽयमगदो वैश्रवणाय कुबेराय त्राम्बकेण शिवेनाख्यातो
 महागन्धहस्तीति नाम्ना । पत्रादीनां षष्ठिर्गवां पित्ते पेथ्या, पुष्यनक्षत्रे
 पिष्ट्वा गुड़िका कार्या सिद्धा स्यात् । एतेनागदेन लिप्तगात्रः पुमान् सर्पान्
 गृह्णाति धारयितुं शक्तः स्यात्, तथा विषं भक्षयेच्च खादितुं शक्तः स्यान्नास्य
 व्यापत्त स्यात् । भेर्यादिकमनेन लिप्त्वाऽहिविषनिरस्त्यै निरासार्थं ध्वनयेत्,
 तद्वनिश्रवणेन विषं निरस्तं स्यात् । छत्राणि ध्वजपताकाश्च लिप्त्वाऽहिविष-
 निरस्त्यै मतिमान् वद्यो दर्शयेद् विपार्त्तम् । बालग्रहाः स्कन्दादयः । नचैवं

सर्वग्रहा न तत्र प्रभवन्ति नचाग्निशस्त्रनृपचौराः ।

लक्ष्मीश्च तत्र भजते यत्र महागन्धहस्त्यस्ति ॥

संपिष्यमाणे चात्रेमं सिद्धमन्त्रमुदाहरेत् ।

मम माता जया नाम जयो नामेति मे पिता ।

सोऽहं जय-जयापुत्रो विजयोऽथ जयामि च ॥

नमः पुरुषसिंहाय विष्णवे विश्वकर्म्मणे ।

सनातनाय कृष्णाय भवाय विभवाय च ॥

तैजो वृषाकपेः साक्षात् तैजो ब्रह्मेन्द्रयोर्यमे ।

यथाहं नाभिजानामि वासुदेवपराजयम् ॥

मातुश्च पाणिग्रहणं समुद्रस्य च शोषणम् ।

अनेन सत्यवाक्येन सिध्यतामगदो ह्ययम् ॥

निहिनिहि मिनिमिनि संसृष्टे

रक्ष सर्वं भेषजोत्तमे स्वाहा ॥ २४ ॥

महागन्धहस्तीनामागदः ॥

ऋषभकजीवकयष्टीमधुकोत्पलधान्यकेसराजाज्यः ।

ससितगिरिकोलमध्याः पेयाः श्वासज्वरादिहराः ॥

हिङ्गु च कृष्णायुक्तं कपित्थरसयुक्तमुग्रलवणञ्च ।

समधुसितौ पातव्यौ ज्वरहिकाकासश्चासघ्नौ ॥

काम्मणमन्त्राः परद्रोहोपायकुमन्त्रा भजन्ति द्रोहाय नाथर्व्वणोप्याभिचारिक-
मन्त्रा न भजन्ति । संपिष्यमाणेऽत्र निगदे सिद्धमन्त्रमिममुदाहरेत् । यो
वैद्यः पुष्ये नक्षत्रे गोपित्तेनागदमिमं पिष्यात्, स इमं वक्ष्यमाणं सिद्धमन्त्रं
पठन् पिष्यादिति । तन्मन्त्रमाह—मम मातेत्यादि । स्वाहान्तोऽयं मन्त्रश्चतुर्भिः
श्लोकैर्निहीत्यादुत्तरैरिति । महागन्धहस्त्यगदः ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—ऋषभकेत्यादि । ऋषभकादयः सितगिरिप्लुत्कोलमज्जसहिताः
पिष्टाः पेयाः श्वासज्वरादिहराः । हिङ्गित्यादि कृष्णायुक्तं हिङ्गु इत्येकः ।

चक्रपाणिः—ऋषभकेत्यादिना विषोपद्रवश्वासादिचिकित्सोच्यते । सितगिरिः श्वेत-

लेहः कोलास्थ्यञ्जनलाजोत्पलघृतवर्मिं हन्ति ।
 बृहतीद्वयादकीपत्रधूमवर्त्तिस्तु हिकाघ्नी ॥
 शिखिवर्हबलाकास्थीनि सर्षपाश्चन्दनञ्च घृतयुक्तम् ।
 धूमो गृहशयनासनवस्त्रादिषु शस्यते विषजित् ॥
 घृतयुक्ते नतकुष्ठे भुजगपतिशिरः शिरीषकुसुमं वा ।
 धूमोऽगदः स्मृतोऽयं सर्वविषघ्नः श्रयथुहृच्च ॥
 जतुसेव्यपत्रगुग्गुलुभल्लातकककुभपुष्पसज्जरसाः ।
 श्वेता धूमा उरगाखुकीटवस्त्रक्रिमिहराः स्युः ॥ २५ ॥
 तरुणपलाशक्षारं स्रुतं पचेच्चूर्णितः सह समांशैः ।
 लोहितमृद्रजनीद्वयमधुकसुरसशुक्रमञ्जरीभिः ॥

कपित्थरसयुक्तमुग्रलवणं सावर्चलमित्येकः । इति द्वौ समधुसितौ पातव्यौ ।
 लेह इत्यादि । कोलास्थिमज्जादिभिलहो विषे वर्मिं हन्ति । अत्र घृतेन
 लेहः । बृहत्यादीनां त्रयाणां पत्रं पिष्ट्वा धूमपानार्था वर्त्तिः कार्य्या
 हिकाघ्नी । शिखीत्यादि । शिखिनो बर्हं पुच्छं, वकस्यास्थीनि, शिखि-
 पुञ्जादिचतुष्कं कुट्टयित्वा घृतयुक्तं गृहादिषु धूपयेत् । स च धूमो विषजित्
 गृहादिषु शस्यते । घृतेत्यादि । नतं कुष्ठञ्चेति द्वे घृतयुक्ते धूपयेदयमेको धूमः ।
 भुजगपतिशिरो दर्व्वीकरादिसर्पस्य मस्तकं शुष्कीकृत्य शिरीषपुष्पञ्चैकी-
 कृत्य धूपयेदयञ्च धूमोऽगदः स्मृतः । जलित्यादि । जतु लाक्षा । सेव्यमुशीरम् ।
 ककुभोऽज्जुनस्तस्य पुष्पम् । श्वेता श्वेतापराजिता । एतान् पिष्ट्वा धूपयेत् ।
 प्रत्येकमेषां धूमा उरगादिहराः स्युः । वस्त्रक्रिमिर्वस्त्रे जाता यूकाः ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—तरुणेत्यादि । पलाशस्य तरुणं वृक्षं छित्वा पाटयित्वा संशोष्य
 क्षारं कृत्वा चतुर्गुणे षड्गुणे वा तोये गोलयित्वकविंशतिवारं परिस्त्राव्य
 स्रुतं तज्जलं चतुर्गुणं लोहितमृदादिभिः समांशैश्चूर्णितैः सह पचेत् ।

पराजिता । कोलमध्यं बदरमज्जा । भुजगपतिशिर इति द्विमुखसर्पशिरः । पलाशक्षारस्रुतमिति
 क्षारकल्पेन परिस्त्राव्य धारितम्, लोहितमृत् गौरिकम्, सुरसमञ्जरी पर्णासमेदः ॥ २५—२६ ॥

लाक्षासन्धवमांसीहरेणु हिङ्गद्विसारिवाकृष्ठः ।

सव्योषवाह्नीकैर्दर्वीलेपेन घटयेद् यावत् ॥

सर्वविषशोथगुल्मत्वग्दोषार्शोभगन्दरप्लीहः ।

शोथापस्मारक्रिमिभूतस्वरभेदकण्डुपाण्डुगदान् ।

मन्दान्नित्वं कासं सोन्मादं नाशयेयुरथ पुंसाम् ।

गुटिकाश्छायाशुष्काः कोलसमास्ताः समुपयुक्ताः ॥ २६ ॥

क्षारगुडिकाः ।

पीतविषदष्टविच्छेत्स्वेतद्विषे च वाच्यमुद्दिष्टम् ।

सामान्यतः पृथक्त्वान्निर्देशमतः शृणु यथावत् ॥ २७ ॥

रिपुयुक्तेभ्यो नृभ्यः स्वेभ्यः स्त्रीभ्योऽथवा भयं नृपतेः ।

आहारविहारगतं तस्मात् प्रेष्यान् परीक्षेत ॥ २८ ॥

अत्यर्थशङ्कितः स्याद् बहुबागथवाल्पवाग् विगतलक्ष्मीः ।

प्राप्तः प्रकृतिविकारं विषप्रदाता नरो ज्ञेयः ॥

यावद्दर्वीपलेपस्तावद्दर्वीपलेपेन घटयेत् । कोलप्रमाणा गुडिकाः कृत्वा
छायाशुष्काः कार्यास्ताः गुटिकाः समुपयुक्ताः सर्वविषादीन् नाशयेयुः ।
लोहितमृत् रक्तवर्णगिरिमृत् । रजनीद्वयम् सुरसस्य शुक्लनिगुण्ड्या मञ्जरी,
स्वेततुलसी-मञ्जरी वा । द्विसारिवा श्यामलताऽनन्तसूलश्च । वाह्नीकं हिङ्गु,
तेन हिङ्गुभागद्वयम् । क्षारगुडिका ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—पीतेत्यादि । पीतविषादिषु सामान्यतो विषे यद् वाच्यं तदेत-
दुद्दिष्टं, अतः परं पृथक्त्वान्निर्देशं यथावच्छृणु ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—तद्यथा—रिपुयुक्तेभ्य इत्यादि । नृपते राजमात्रस्य तथान्यस्य
रिपुयुक्तेभ्यो रिपुभावयुक्तेभ्यो नृभ्यो व्यभिचारादिदोषवतीभ्यः स्त्रीभ्यश्च
विषतो भयं भवति । आहारविहारगतं आहारद्रव्यमिश्रितं विषं ते नृपतये
प्रेष्येभ्यर्त्यर्ददति विहारद्रव्येषु च । तस्मात् प्रेष्यान् परीक्षेत ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—विषदाता ह्येवं ज्ञेयः । तद्यथा । अत्यर्थेत्यादि । विषदाता
नरोऽत्यर्थं शङ्कितः स्याद् अतिशङ्की स्वभावत एव स्यात् । बहुबागल्पवाग्

चक्रपाणिः—अतः शृण्वति विषस्य लक्षणं भेषजस्य पृथक् निर्देशं शृणु इति । (विषयुक्तमिति
विषयुक्तेत्यर्थः) । स्त्रीभ्य इति सौभाग्यार्थं प्रवृत्ताभ्यः । आहारविहारगतम् इति आहारविहारा

वाप्यसंवृतो भवति । विगतलक्ष्मीः शरीरकान्तिस्तस्य विगता भवति ।
 प्रकृतिविकारं प्राप्तः स्यात् । य एवम्भूतः स्यात् स नरो विषदाता ज्ञेयः ।
 सुश्रुते चोक्तम् । “धन्वन्तरिः काशिपतिस्तपोधर्मभृतां वरः । सुश्रुतमभृतीन्
 शिष्यान् शशासाऽहतशासनः ॥ रिपवो विक्रमाक्रान्ता ये च स्वे कृत्यतां
 गताः । सिसृक्षवः क्रोधविषं विवरं प्राप्य तादृशम् । विषैर्निहन्त्युर्निपुणं नृपतिं
 दुष्टचेतसः । स्त्रियो वा विविधान् योगान् कदाचित् सुभगेच्छया । विषकन्योप-
 योगाद् वा क्षणाज्जह्यादमून् नरः । तस्माद् वैदेन सततं विषाद्रक्ष्यो नराधिपः ॥
 यस्माच्च चेतोऽनित्यत्वमश्ववत् प्रथितं नृणाम् । न विश्वसेत् ततो राजा
 कदाचिदपि कस्यचित् ॥ कुलीनं धार्मिकं स्निग्धं सुभृतं सततोत्थितम् ।
 अलुब्धमशठं भक्तं कृतज्ञं प्रियदर्शनम् । क्रोधपारुष्यमात्सर्यमदालस्य-
 विवर्जितम् । जितेन्द्रियं क्षमावन्तं शुचिं शीलदयान्वितम् । मेधाविनम्
 असंश्रान्तमनुरक्तं हितैषिणम् । पटुं प्रगल्भं निपुणं दक्षं मायाविवर्जितम् ।
 पूर्वोक्तैश्च गुणैर्युक्तं नित्यं सन्निहिताऽगदम् । महानसे प्रयुज्जीत वैद्यं
 तद्विद्यपूजितम् ॥ प्रशस्तदिग्देशकृतं शुचिभाण्डं महच्छुचि । सजालकं
 गवाक्षाढ्यमात्मवर्गनिषेधितम् । विकक्षसृष्टसंसृष्टं सवितानं कृतार्चनम् ।
 परीक्षितस्त्रीपुरुषं भवेच्चापि महानसम् ॥ तत्राध्यक्षं नियुज्जीत प्रायो वैद्य-
 गुणान्वितम् ॥ शुचयो दक्षिणा दक्षा विनीताः प्रियदर्शनाः । संविभक्ताः
 सुमनसो नीचकेशनखाः स्थिराः । स्नाता दृढं संयमिनः कृतोष्णीषाः
 सुसंयताः । तस्य चाज्ञा विधेयाः स्युर्विविधाः परिकर्मिणः ॥ आहार-
 स्थितयश्चापि भवन्ति प्राणिनो यतः । तस्मान्महानसे वैद्यः प्रमादरहितो
 भवेत् । महानसिकबोदारः सौपौदनिकपौषिकाः । भवेयुर्वैद्यवशगा ये
 चाप्यन्ये तु केचन ॥ इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतः । विद्याद्
 विषस्य दातारमेभिर्लिङ्गैश्च बद्धिमान् ॥ न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षन् मोहमेति
 च । अपार्थं बहु सङ्कीर्णं भाषते चापि मूढवत् । स्फोटयत्यङ्गुलीभूमिम्
 अकस्माद् विलिखेद्धसेत् । वेपथुर्यायते तस्य त्रस्तश्चान्योऽन्यमीक्षते । क्षामो
 विवर्णवक्त्रश्च नखैः किञ्चिच्छिनत्त्यपि । आलभेतासकृद् दीनः करेण च
 शिरोरुहान् । निर्यियासुरपद्मरैर्वीक्षते च पुनःपुनः । वर्त्तते विपरीतस्तु
 विषदाता विचेतनः । केचिद् भयात् पार्थिवस्य तरिता वा तदाज्ञया । असता-
 मपि सन्तोऽपि चेष्टां कुर्वन्ति मानवाः । तस्मात् परीक्षणं कार्यं भृत्याना-
 मादितो नृपैः । अन्ने पाने दन्तकाष्ठे तथाभ्यङ्गेऽवलेखने । उत्सादने

दृष्ट्वैवं न तु सहसा भोज्यं न्यसेत् तदग्रमग्नौ तु ।
 सविषं हि प्राप्यान्नं बहून् विकारान् भजत्यग्निः ॥
 शिखिबर्हविचित्रार्चिस्तीक्ष्णः सरुक्षकुण्ठगन्धिश्च ।
 स्फुटति सशब्दमेकावर्त्तो विहताच्चिरपि च स्यात् ॥
 पात्रस्थश्च विवर्णं भोज्यं स्यान्मक्षिकाश्च मारयति ।
 क्षामस्वरश्च काकं कुर्याद् विरजेच्चकोराक्षि ॥ २६ ॥

कषाये च परिषेकेऽनुलेपने । सक्षु वस्त्रेषु शय्यासु कवचाभरणेषु च ।
 पादुका-पादपीठेषु पृष्ठेषु गजवाजिनाम् । विषजुष्टेषु चान्येषु नस्य-
 धूमाज्जनादिषु । लक्षणानि प्रवक्ष्यामि चिकित्सामप्यनन्तरम् ॥ इति ।
 परीक्षणमाह—दृष्ट्वैवमित्यादि । नृपेण सहसा न तु भोज्यमेवं दृष्ट्वा तग्नौ तद्
 भोज्यस्य परीक्षणं कुर्यात् । तद्यथा । सविषमित्यादि । सविषमन्नमग्नौ
 क्षिप्तं सम्प्राप्याग्निर्वहून् विकारान् भजति । शिखिबर्हविचित्रार्चिः स्यात्
 सरुक्षक्षुण्ठगन्धिश्च तीक्ष्णश्च सोऽग्निर्भवति । सशब्दं सोऽग्निः स्फुटति ।
 एकावर्त्तं एकस्मिन्नावर्त्तने भ्रमे विहताच्चिरपि स्यात् सोऽग्निरिति । पात्रस्थं
 तत् सविषं भोज्यं विवर्णं स्यात् । तच्च पतिता मक्षिका मारयति । काकं
 तत् सविषं भोज्यं दृष्ट्वन्तं क्षामस्वरं कुर्यात् । तत्सविषभोज्यदर्शनात्
 चकोराक्षि विरजेत् विरागयुक्तं स्यात् । सुश्रुते चोक्तम् । “नृपमक्ताद् बलिं
 न्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये । तत्रैव ते विनश्यन्ति मक्षिका वायसादयः । हुतशुक्
 तेन चान्तेन भृङ्गं चट्चटायते । मयूरकण्ठप्रतिमो जायते चापि दुःसहः ।
 भिन्नार्चिस्तीक्ष्णधूमश्च न चिराच्चोपशाम्यति । चकोरस्याक्षिवैराग्यं जायते
 क्षिप्रमेव तु । दृष्ट्वान्नं विषसंसृष्टं त्रियन्ते जीवजीवकाः । कोकिलः स्वरवैकृत्यं
 क्रौञ्चस्तु मदमृच्छति । हृष्येन्मयूर उद्विग्नः क्रोशतः शुक्-सारिके । हंसः क्ष्वेदति
 चात्यर्थं भृङ्गराजस्तु कूजति । पृषतो विसृजत्यम्भो विष्टां मुञ्चति मर्कटः ॥
 सन्निकृष्टांस्ततः कुर्याद्राक्षस्तान् गृहपक्षिणः । वेश्मनोऽथ विभूषार्थं रक्षार्थं
 चात्मनः सदा ॥” इति ॥ २९ ॥

सविषा इत्यनुवर्त्तते । विरजेत् चकोराक्षीति दृष्ट्वा सविषमन्नं, काकांश्च क्षामस्वरान् दर्शनेनैव
 कुर्यादिति ज्ञेयम् ॥ २७—२९ ॥

पाने नीला राजी वैवर्ण्य स्वाश्च नेक्षते छायायाम् ।

विकृतामथवा पश्यति लवणाक्ते फेनमाला स्यात् ॥ ३० ॥

पानान्नयोः सविषयोर्गन्धेन शिरोरुजा हृदि च मूर्च्छा च ।

स्पर्शेन पाणिशोथः सुप्त्यङ्गुलिदाहतोदनखभेदाः ॥

मुखतात्त्वोष्ठचिमिचिमा जिह्वा शूनवती जङ्घा विवर्णा च ।

द्विजहर्षहनुस्तम्भास्यदाहनानागलविकाराः ॥

गङ्गाधरः—पान इत्यादि । पाने पानीयजलादिद्रव्ये सविषे नीला राजी स्यात्, तत्पानीयस्य वैवर्ण्यश्च स्यात्, तत्र पानीये द्रव्ये पुमान् स्वां छायाश्च नेक्षते, अथ यदि पश्यति तदा विकृतां छायां छिद्रादिमतीं पश्यति । लवणाक्ते विषे फेनमाला फेनसमूहः स्यादिति । सुश्रुते चोक्तम् । “द्रवद्रव्येषु सव्वेषु क्षीरमद्योदकादिषु । भवन्ति विविधा राज्यः फेनबुद्बुदजन्य च ॥ छायाश्चात्र न दृश्यन्ते दृश्यन्ते यदि वा पुनः । भवन्ति यमलाश्छिन्नास्तन्व्यो वा विकृतास्तथा ॥ शाकसूपान्नमांसानि क्लिन्नानि विरसानि च । सद्यः पर्युषितानीव विगन्धानि भवन्ति च ॥ गन्धवर्णरसैर्हीनाः सव्वे भक्ष्याः फलानि च । पकान्याथु विशीर्यन्ते पाकमामानि यान्ति च ॥” इति ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—पानान्नयोरित्यादि । सविषयोः पानान्नयोर्गन्धेन शिरोरुजा हृदये च रुजा स्यात् । मूर्च्छा च भवति । स्पर्शेन तयोः सविषपानान्नयोः पाणिभ्यां संस्पर्शे पाणिशोथः पाणिमुप्तिः स्पर्शज्ञानं अङ्गुलिदाहतोदौ नखभेदश्च । सुश्रुते च । “पाणिप्राप्तं पाणिदाहं नखशतं करोति च । अत्र प्रलेपः श्यामेन्द्र-गोपासोमोत्पलानि च ॥” मुखेत्यादि । विषजृष्टेन द्रव्येण जिह्वानिलेखने कवले वा कृते मुखदिषु चिमिचिमा स्यात् । जिह्वा तु शूनवती शोफयुता जङ्घा विवर्णा च भवति । द्विजानां दन्तानां हर्षो हनुस्तम्भ आस्यदाहो नानागलविकारश्च । सुश्रुते च । “जिह्वानिलेखकवलौ दन्तकाष्ठवदादिशेत् । अथास्य धातकीपुष्पपथ्याजम्बूफलास्थिभिः । सक्षौद्रैः प्रच्छिते शोफे कर्त्तव्यं प्रतिसारणम् । अथवाङ्कोठमूलानि लघुः सप्तच्छदस्य च ।

चक्रपाणिः—पान इति मद्यादौ पेये । छायामिति प्रतिबिम्बम् । लवणाक्ते इति पान-विशेषणम् ॥ ३० ॥

आमाशयं प्रविष्टे वैवर्ण्यं स्वेदसदनमुत्क्लेदः ।
 दृष्टिहृदयोपरोधो बिन्दुशतैश्चीयते चाङ्गम् ॥
 पक्वाशयन्तु याते मूर्च्छामददाहमोहबलनाशाः ।
 तन्द्रा कार्श्यञ्च विषे पाण्डुत्वञ्चोदरस्थे स्यात् ॥ ३१ ॥
 दन्तौष्ठमांसशोफाः शीर्यन्ते दन्तपवने कूर्चास्तु ।
 केशच्युतिः शिरोरुक् ग्रन्थयो विशीर्णाश्च कूर्चः स्यात् ॥

शिरीषमाषका वापि सक्षौद्राः प्रतिसारणम् ॥” इति । आमाशयमित्यादि । प्रमादान्मोहाद् वा यदि विषजुष्टमन्नं सेवते तदा तस्यामाशयं प्रविष्टे विषे ववर्ण्यादयः, दृष्टिहृदयोपरोधश्च । बिन्दुरूपस्फोटशतैरङ्गमुपचीयते । सुश्रुते चान्यत् । “स चेत् प्रमादान्मोहाद् वा तदन्नमुपसेवते । अष्ठीलावत् ततो जिह्वा भवत्यरसवेदिनी । तुद्यते दह्यते चापि श्लेष्मा चास्यात् प्रसिच्यते । तत्र वाष्पेरितं कर्म यच्च स्याद् दान्तकाष्ठिकम् । मूर्च्छां छर्दिमतीसार-माध्मानं दाहवेपथू । इन्द्रियाणाञ्च वैकृत्यं कुर्यादामाशयं गतम् । तत्राशु मदनालावू-विम्बीकोषातकीफलैः । छर्दिनं दध्युदधिदभ्यामथवा तण्डुलाम्बुना ॥ उपक्षिप्तस्य चान्नस्य वाष्पेणोद्धुं प्रसर्पता । हृत्पीडा भ्रान्तनेत्रत्वं शिरोदुःखञ्च जायते । तत्र नस्याञ्जने कुष्ठं रामठं नलदं मधु । कुर्याच्चिरीष-रजनी-चन्दनैश्च प्रलेपनम् । हृदि चन्दनलेपन्तु तथा सुखमवाप्नुयात् ॥” इति । पक्वाशयन्तित्यादि । मोहात् प्रमादात् सविषान्नभक्षणात् पक्वाशयं याते विषे मूर्च्छादयः स्युः । उदरस्थे विषे तन्द्रा कार्श्यं पाण्डुत्वञ्चेति । उदर-गतमात्रे आमाशयगतं नोच्यते । अत्र सुश्रुते च । “दाहं मूर्च्छामतीसारं नृणामिन्द्रियवैकृतम् । आटोपं पाण्डुतां कार्श्यं कुर्यात् पक्वाशयं गतम् ॥ विरेचनं ससर्पिष्कं तत्रोक्तं नीलिनीफलम् । दध्ना दूषीविषारिश्च पेयो वा मधुसंयुतः ॥” इति ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—दन्तौष्ठेत्यादि । दन्तकाष्ठगते विषे दन्तौष्ठमांसशोफः । दन्तपवने कूर्चाश्च शीर्यन्ते । कूर्चाः कूँ चीति लोके । उक्तं सुश्रुते । “विशीर्यते

चक्रपाणिः—मुखेत्यादिना मुखसम्बन्धे विषलक्षणम् । दन्तेत्यादिना दन्तभावनकूर्चादीनां

दुष्टेऽञ्जनेऽक्षिदाहः स्नावोऽप्युपदेहशोथरागाश्च ।

आदैरादौ कोष्ठः स्पृश्यस्त्वग् दह्यते दुष्टैः ॥

स्नानाभ्यङ्गोत्सादनवस्त्रालङ्कारवर्णकैर्दुष्टैः ।

कण्डूर्त्तिकोठपिङ्कारोमोद्गमचिमिचिमाः शोफाः ॥

एतै च करचरणतोददाहक्लमाविपाकाश्च ।

भूपादुकाश्चगजचर्मकेतुशयनासनैर्दुष्टैः ॥

कूर्चकस्तु दन्तकाष्ठगते विषे । जिह्वादन्तौष्ठमांसानां श्वयथुश्चोपजायते ॥”
अथास्य धातकीपुष्पेत्याद्यौषधं जिह्वानिलेखकवले दर्शितम् । विषजुष्टेन द्रव्येण
शिरोलेपने कृते केशच्युतिः शिरसि रुक् ग्रन्थयो जायन्ते कूर्चश्च विशीर्णः
स्यात् । सुश्रुते च । “केशशातः शिरोदुःखं स्वेभ्यश्च रुधिरागमः । ग्रन्थि-
जन्मोत्तमाङ्गेषु विषजुष्टे तु लेपने ॥” इति । दुष्टे इत्यादि । विषेण दुष्टेऽञ्जने
नेत्रदत्तेऽक्षिदाहः । अक्षणोरेव स्नावश्चातिशयोपदेहशोथरागाः । सुश्रुते च ।
“अश्रूपदेहो दाहश्च वेदना दृष्टिविभ्रमः । अञ्जने विषसंसृष्टे भवेदान्ध्यमथापि
वा । तत्र सद्योघृतं पेयं तर्पणञ्च समागधम् । अञ्जनं मेषशृङ्गस्य निर्यासो
वरुणस्य च । मुष्कस्याजकर्णस्य फेनो गोपित्तसंयुतः । कपित्थमेषशृङ्गोश्च
पुष्पं भल्लातकस्य वा । एकैकं कारयेत् पुष्पं बन्धूकाङ्कोठयोरपि ॥”
इति । अथ विषेण दुष्टैरादैः स्वाद्यद्रव्यैः स्वादितैरादौ कोष्ठो दह्यते । एवं
विषेण दुष्टैः स्पृश्यद्रव्यैः स्पृष्टैरादौ त्वग् दह्यते । इति । स्नानेत्यादि । विषेण
दुष्टैः स्नानादिभिर्द्रव्यैः स्नानादिषु कण्डूप्रभृतयः शोफाश्च स्युः । तदुक्तं
सुश्रुते—“पिच्छिलो बहलोऽभ्यङ्गो विवर्णो वा विषान्वितः । स्फोटजन्म रुजा
स्नावस्त्वक्पाकः स्वेदनं ज्वरः । दरणाश्चापि मांसानामभ्यङ्गे विषसंयुते ॥ तत्र
शीताम्बु-सिक्तस्य कर्त्तव्यमनुलेपनम् । चन्दनं तगरं कुष्ठमुशीरं वेणुपत्रिका ।
सोमवल्ल्यमृता श्वेता पत्रं कालीयकं त्वचम् । कपित्थरसमूत्राभ्यां पानमेतच्च
युज्यते । उत्सादने परीषेके कषाये चानुलेपने । शय्यावस्त्रतनुत्रेषु ज्ञेयमभ्यङ्ग-
लक्षणैः ॥” इति । एते चेत्यादि । राशो भूपादुकादिभिविषेण दुष्टैरेते च
कण्डूर्त्तिकोठपिङ्कारोमोद्गमचिमचिमशोफाः करचरणतोदादयश्च स्युः । उक्तं
सुश्रुते । “अस्मास्थं कुञ्जरादीनां लालास्नावोऽक्षिरक्तता । स्फिक्पायु-
विषइष्टानामेव लक्षणं प्रकरणाज ज्ञेयम् । दन्तपवनस्य कूर्चः दन्तमलशोधनकूर्चः । विशीर्यणे

माल्यमगन्धं म्लायति शिरोरुजारोमहर्षकरम् ।

स्तम्भयति खानि नासामुपहन्त्यथ दर्शने धूमः ॥

कूपतङ्गागादिजलं दुर्गन्धं सकलुषं विवर्णञ्च ।

पीतं श्वयथुं कोठान् पिङ्काश्च करोति मरणञ्च ॥ ३२ ॥

मेद्मुष्केषु युक्तेषु स्फोटसम्भवः । तत्राभ्यङ्गवदेवेष्टा यावत्वाहनयोः क्रिया ॥ शोफः स्नावस्तथा स्वापः पादयोः स्फोटजन्म च । भवन्ति विषजुष्टाभ्यां पादुकाभ्यामसंशयम् ॥ उपानत्पादपीठानि पादुकावत् प्रसादयेत् । भूषणानि हताचींषि न विभान्ति यथा पुरा । खानि स्थानानि हन्युश्च दाहपाका-वदारणैः ॥” इति । माल्यमित्यादि । विषेण दुष्टं माल्यमगन्धं सत् म्लायति शिरोरुजादिकरञ्च । सुश्रुते च । “शिरोऽभ्यङ्गः शिरस्त्राणं स्नानमुष्णीषमेव च । स्रजश्च विषसंसृष्टः साधयेदनुलेपवत् ॥” इति । विषदुष्टो धूमः नासया पीतः खानि छिद्राणि स्तम्भयति । नासामुपहन्त्यथ दर्शने चक्षुषी उपहन्ति । सुश्रुते च । “शोणितागमनं खेभ्यः शिरोरुक् कफसंस्रवः । नस्यधूमगते लिङ्ग-मिन्द्रियाणान्तु वैकृतम् ॥ तत्र दुग्धैर्गवादीनां सर्पिः सातिविषैः शृतम् । पाने नस्ये च सश्वेतं हितं समदयन्तिकम् ॥” इति । अन्यच्च । “गन्धहानिर्विवर्णत्वं पुष्पाणां म्लानता भवेत् । जिघ्रतश्च शिरोदुःखं वारिपूर्णं च लोचने ॥ तत्र वाष्पेरितं कर्म मुखालेपे च यत् स्मृतम् ॥ मुखालेपे मुखं श्यावं युक्तमभ्यङ्ग-लक्षणैः । पद्मिनीकण्टकप्रख्यैः कण्टकैश्चोपचीयते । सक्षौद्रश्च घृतं पानं प्रलेप-श्चन्दनं घृतम् । पयस्या मधुकं फञ्जी बन्धुजीवपुनर्नवम् ॥ कर्णतैलगते श्रोत्र-वैगुण्यं शोफवेदने । कर्णस्नावश्च तत्राशु कर्त्तव्यं प्रतिपूरणम् । स्वरसो बहुपुत्रायाः सघृतः क्षौद्रसंयुतः । सोमवल्करसश्चापि सुशीतो हित इष्यते ॥” इति । कूपेत्यादि । राज्ञा स्वराष्ट्राक्रमनिवारणार्थं शत्रूणां स्वराज्ये कूप-तङ्गागादिजलं यदि विषयोगाद् दूषितं क्रियते अथवा शत्रुभिः क्रियत, तदा तज्जलं दुर्गन्धादि भवति । पीतञ्च श्वयथुकोठादीनि करोति ॥ ३२ ॥

इत्यल्ल शीर्णः स्यात् । खाद्यैरिति भोज्यैः । स्पृश्यैरित्यभ्यङ्गादिभिः । माल्यमिति विषदुष्टं

माल्यम् । नासामुपहन्तीति दर्शनमिति चक्षः ॥ ३१ । ३२ ॥

आदौ चामाशयगे वमनं त्वक्स्थे प्रदेहसेकादि ।

कुर्यात् भिषक् चिकित्सां दोषबलञ्च हि समीक्ष्य ॥३३॥

इति मूलविषविशेषाः प्रोक्ताः शृणु जङ्गमस्यातः ।

सविशेषचिकित्सितमेवादौ तत्रोच्यते तु सर्पाणाम् ॥

दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च ।

सर्पा यथाक्रमं वातपित्तश्लेष्मप्रकोपणाः ॥

दर्वीकरः फणी ज्ञो मण्डली मण्डलाः फणाः ।

बिन्दुलेखो हि चित्राङ्गः पन्नगः स्यात् स राजिमान् ॥

विशेषात् कटुकं रुक्षमम्लोष्णं स्वादु शीतलम् ।

विषं यथाक्रमं तेषां तस्माद् वातादिकोपनम् ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—तत्रादौ तज्जलमिश्रिते पीते विषे चामाशयगे वमनं भिषक् दोषबलं समीक्ष्य चिकित्सां कुर्यात् । त्वक्स्थे विषे प्रदेहसेकादि चिकित्सां कुर्यात् । इति मूलविषविशेषाः प्रोक्ताः व्याख्याताः । अत ऊर्ध्वं जङ्गमस्य विषस्य विशेषान् शृणु । सुश्रुते चोक्तम् । “युक्तसेनस्य नृपतेः परानभिजिगीषतः । भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदेक्ष्यते । विजिगीषुः सहामात्यैर्यात्रायुक्तः प्रयत्नतः । रक्षितव्यो विशेषेण विषादेव नराधिपः ॥ पन्थानमुदकं छायां भक्तं यवस-
मिन्धनम् । दूषयन्त्यरयो यस्माज्जानीयाच्छोधयेत्तथा ॥ तस्य लिङ्गं चिकित्सा च कल्पस्थाने प्रचक्ष्यते ॥” इति ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—दर्वीकरेत्यादि । दर्वीकरादयस्त्रिविधाः सर्पा यथाक्रमं वात-
पित्तश्लेष्मप्रकोपणाः । तत्र दर्वीकरो नाम सर्पः फणी फणावान् शीघ्रगामी
ज्ञेयः । मण्डली मण्डलमस्य फणा मण्डला मण्डलाकारा मन्दगामी पृथुश्च
स मण्डली सर्पः । यः पन्नगो बिन्दुलेखावान् चित्राङ्गश्च स्यात् स राजिमान्
सर्प उच्यते । यस्मात् तेषां दर्वीकरमण्डलराजिमतां विषं विशेषाद् यथाक्रमं
कटुक-रुक्षमम्लोष्णं स्वादुशीतलं तस्माद् वातादिकोपनम् । दर्वीकराणां विषं

चक्रपाणिः—मण्डलीति मण्डलयुक्तम् । बिन्दुना लेखया च विचित्रम् अङ्गं यस्य स तथा ।
दर्वीकरादीनान्तु प्रपञ्चस्त्विव पराधिकारत्वेन न कृतः । विशेषादित्यादौ कटुक-रुक्षमधिकं
दर्वीकराणाम्, अम्लोष्णं मण्डलीनाम्, स्वादुशीतं राजिमताम्, त्रिदोषकोपनत्वेन वातादिकोपनम् ।
विशेषादिह विषञ्च यद्यप्यव्यक्तसमुक्तं तथापीह कटुकादिरसविधानं अनुरसाभिप्रायेण ज्ञेयम् ।

दर्वीकरकृतो दंशः सूक्ष्मदंष्ट्रापदोऽसितः ।
 निरुद्धरक्तः कूर्माभो वातव्याधिकरो मतः ॥
 पृथुर्पितः सशोफश्च दंशो मण्डलिभिः कृतः ।
 पीताभः पीतरक्तश्च पित्तरक्तविकारकृत् ॥
 राजिमद्भिः कृतो दंशः पिच्छिलः स्थिरशोफकृत् ।
 स्निग्धः पाण्डुश्च सान्द्रासृक् श्लेष्मव्याधिसमीरणः ॥ ३५ ॥
 वृत्तभोगो महाकायः श्वसन् * ऊर्ध्वेक्षणः पुमान् ।
 समाङ्गः शिरसा स्थूलः स्त्रीत्वतः स्याद् विपर्ययात् ॥
 क्लीवः स्रस्तस्त्वधोदृष्टिः स्वरहीनः प्रकम्पते ।
 स्त्रिया दष्टो विपर्यस्तरेभिः पुंसा नरो मतः ॥

कटु-रूक्षं वातकोपनम्, मण्डलिनां विषमश्लोष्णं पित्तकोपनम्, राजिमतां विषं
 स्वादु-शीतलं श्लेष्मकोपनमिति ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—तेषां दंशलक्षणान्याह—दर्वीकराणां दंष्ट्रापदो दंष्ट्राचिह्नमसितः
 निरुद्धरक्तश्च कूर्माभ ऊर्ध्व मध्यदेशः वातव्याधिकरः । मण्डलिभिः कृतो दंशः
 पृथुरूपेणार्पितः सशोफश्च पीताभः पीतरक्तवर्णः पित्तरक्तविकारकृत् । राजि-
 मद्भिः सर्पैः कृतो दंशः पिच्छिलः स्थिरशोफकृत् स्निग्धश्च पाण्डुश्च सान्द्रासृक् च
 श्लेष्मरोगसमीरणकृत् ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—वृत्तेत्यादि । यः सर्पो वृत्तभोगः सुदृश्यफणः महाकायश्च श्वसन्
 भवत्यूर्ध्वेक्षणः समाङ्गः शिरसा स्थूलः स्थूलमस्तकः स पुमान् सर्पो ज्ञेयः ।
 अतो विपर्ययात् असम्यग्वृत्तभोगा अमहाकायाऽधोदर्शना अल्पं श्वसन्ती न च
 समाङ्गी अस्थूलमूर्द्धा च स्त्रीसर्पी स्यात् । अत आभ्यां विपर्ययात् क्लीवः सर्पः ।
 एषां मध्ये स्त्रिया दष्टो नरः स्रस्तो भ्रष्टगतिः स्वरहीनोऽधोदृष्टिः प्रकम्पते ।
 यथा भातपे कटुकत्वं तद्वदिहापि, किंवा अव्यक्तदशायामेव अम्लकटुकादीनामधिकत्वं ज्ञेयम् ।
 पृथ्वर्पित इति अवगाहदंष्ट्रार्पितः ॥ ३४ । ३५ ॥

चक्रपाणिः—वृत्तभोगीत्यादिना सर्पाणां तीव्रविषज्ञानार्थं पुनर्भेदमाह । तत्कृतचिकित्सा-
 भेद इहानुक्तोऽपि तन्त्रान्तरे ज्ञेयः । तथाहि 'सावित्रे पच्यते रात्रौ स्त्रियस्तीव्रविषाः सदा'
 तथा 'स्त्रीदष्टो भिषजा कार्यः सूपचारस्त्वनारभे' इति । क्लीवो नपुंसकः । स्वरहीन इत्यादि ।

* सर्पन् इति पाठान्तरम् ।

व्यामिश्रलिङ्गैरेतैस्तु शण्डदष्टं वदेन्नरम् ।
 इत्येतदुक्तं सर्पाणां स्त्रीपुंस्त्रीवनिदर्शनम् ॥
 पाण्डुवक्तुस्तु गर्भिण्या शूनौष्ठोऽप्यसितैक्षणः ।
 जृम्भाक्रोधोपजिह्वात्तो लूतया * रक्तमूत्रवान् ॥
 सर्पो गौधेरको नाम गोधायाः स्याच्चतुष्पदः ।
 कृष्णसर्पेण तुल्यः स्यान्नाना स्युर्मिश्रजातयः ॥
 गूढसम्पादितं वृत्तं पीडितं लम्बितार्पितम् ।
 सर्पितञ्च भृशावाधं दंशा येऽन्ये न ते भृशाः ॥
 तरुणाः कृष्णसर्पास्तु गोनसाः स्थविरास्तथा ।
 राजिमन्तो वयोमध्ये भवन्त्याशीविषोपमाः ॥ ३६ ॥

एभिर्विपर्यस्तैर्लक्षणैः पुंसा दष्टो नरो मतः, ऊर्द्ध्वं ह्ययं प्रेक्षते । न च स्वरहीनो भवति न च कम्पते । एतैर्व्यामिश्रलक्षणैस्तु ऊर्द्ध्वोऽधोदृष्टिरीषत्स्वरभङ्गो यः स्यात् तं नरं शण्डदष्टं वदेत् । गर्भिण्या सर्पा दष्टो नरः पाण्डुवक्तुः शूनौष्ठोऽसितैक्षणश्च स्यात् । (अथ कीटदष्टलक्षणमाह—जृम्भेत्यादि । ?) लूतया (सुतया) दष्टो नरो जृम्भाद्यार्त्तो रक्तमूत्रवान् भवति । गौधेरको गोधाया जातश्चतुष्पदः सर्पो गौधेरको नाम, स कृष्णसर्पेण तुल्यः स्यात् । मिश्रजातयस्तु नानाविधाः स्युः । यद् दंशनं गूढसम्पादितं तद् भृशावाधं यच्च वृत्तं वक्तुं लम्बितार्पितं लम्बिताकृतिदंशनं यच्च पीडितं यच्च सर्पितं तत् सर्वं भृशावाधं भृशमावाधं करोति । ये चान्ये दंशास्ते तु न भृशा न भृशावाधकाः । तरुणा इत्यादि । दर्वीकराः कृष्णसर्पास्तरुणा युवान आशीविषोपमा भवन्ति । गोनसा मण्डलिनः स्थविरा आशीविषोपमा भवन्ति । राजिमन्तस्तु वयोमध्ये यौवनादुत्तरवयस्काः प्राग्-वार्द्धक्याद् आशीविषोपमा भृशा भवन्ति ॥ ३६ ॥

गूढसम्पादितमन्त्रावगाढं वृत्तम् ऊर्द्ध्वं परिवृत्तं पीडितमतिमात्ररुजाकरम् । लम्बितार्पितम् अर्पितसकलदंष्ट्राप्राप्तलक्षणम् । वयोभेदेन दर्वीकरादीनां तीव्रतामाह—तरुणा इत्यादि कृष्णसर्पा इति । गोनसाः इति मण्डलिनः । आशीविषोपमा इति दृष्टिनिश्चासविषोपमाः ॥ ३६ ॥

* लूतयेत्यत्र सूत्रयेति बहुसम्मतः पाठः ।

तास
कृष्ण
रक्त
गोः
सर्प
मेक
द्वौ
चल
दंश
बहु
दक्षि
चतु
बहु
मपि
वर्ण
उक्त
लक्ष
स्थि
विरो

सर्पदंष्ट्राश्चतस्रस्तु तासां वामाधरासिता ।

पीता वामोत्तरा दंष्ट्रा रक्ता श्यावाधरोत्तरा ॥

यन्मात्रः पतते बिन्दुर्गोबालात् सलिलोद्धृतात् ।

वामाधरायां दंष्ट्रायां तन्मात्रं स्यादहेर्विषम् ॥

एकद्वित्रिचतुर्वृद्धिर्विषभागोत्तरोत्तरा ।

सवर्णास्तत्कृता दंशा बहूत्तरविषा भृशाः ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—सर्पदंष्ट्रा इत्यादि । सर्पाणां चतस्रो दंष्ट्रा बृहदन्ता वृत्तन्ते । तासां दंष्ट्रानां चतसृणां मध्येऽधरा वामा दंष्ट्रा अधस्ताद् या साऽसिता कृष्णा । या चोत्तरा ऊर्द्धा वामा दंष्ट्रा सा पीता । दक्षिणा त्वधरा दंष्ट्रा रक्ता उत्तरा दक्षिणा दंष्ट्रा श्यावा भवति । यन्मात्र इत्यादि । गोबालात् गोः पुच्छैकस्माद्बालात् सलिलोद्धृताद् यावन्मात्रो जलस्य बिन्दुः पतते अहेः सर्पस्य वामाधरदंष्ट्रायां तन्मात्रं विषं स्यात् । विषभागस्य उत्तरोत्तरदंष्ट्रायामेकद्वित्रिचतुर्वृद्धिः । तस्या एकस्या दंष्ट्राया एकभागस्तदूर्द्धं वामदंष्ट्रायां द्वौ भागौ तथाविधौ द्वौ बिन्दू दक्षिणायामधरदंष्ट्रायां त्रयो बिन्दव उत्तरायां चत्वारो बिन्दव इति । सवर्णा इत्यादि । सर्पो यया दंष्ट्रया दशति तया कृता दंशास्तदंष्ट्रायाः सवर्णाः स्युः । बहूत्तरविषा भृशा इति उत्तरोत्तरदंष्ट्रादंशा बहुविषा भृशाश्च भवन्ति ॥ ३७ ॥

चक्रपाणिः—सर्पदंष्ट्रा इत्यादिना दंष्ट्राभेदं दंशविशेषज्ञानार्थमाह । दंशस्याधरोत्तरैति दक्षिणाधरा रक्ता दक्षिणोत्तरा तु श्यावा । एकद्वित्रिचतुर्वृद्धिर्विषभागोत्तरोत्तरमिति एकद्वित्रिचतुरूपजातवृद्धिविषविभागे उत्तरोत्तरमिति वाक्यार्थः । सवर्णा यथास्वदंष्ट्रासमानवर्णाः । बहूत्तरविषा इति उत्तरोत्तरं बहुविषाः यथोत्तरं बहुविषाः । भृशा इति दुःखसाध्याः । दृश्यत्वमपि यथोत्तरं ज्ञेयम् । ननु पूर्व्वं दर्व्वीकरादीनां दंशल्य वर्णभेद उक्तः, इदानीन्तु दंष्ट्राभेदेन वर्णभेद उच्यते, तेन सर्व्वत्रैव दर्व्वीकरादौ सर्व्ववर्णोपपत्तिः, ततः पूर्व्वोक्तदंशवर्णविरोधः । उक्तञ्च भर्त्रैवार्थे आषाढवर्मणा—यत् तु दर्व्वीकरमण्डली असितः पीतश्च वर्णतो दंश इति लक्षणेन । यस्मात् अनेकवर्णास्तु दंशाः । भर्त्रोच्यते दंष्ट्रानुकारिवर्णानाम् उल्लेखो दंशमात्रस्थिते विषे भवति । दर्व्वीकरादिषु विहितो यः वर्णः स प्रविशते विषे भवतीति अवस्थाभेदान्न विरोधः । उक्तञ्च परिहारवाचित्ते ‘दंशस्त्वतः वर्णं दोषजे विसृजेद्’ इति ॥ ३७ ॥

सर्पाणामेव विण्मूत्रात् कीटाः स्युः कीटसम्मताः ।

दूषीविषाः प्राणहरा इति सङ्क्षेपतो मताः ॥

गात्रं रक्तं सितं कृष्णं श्यावं वा पिङ्गकायुतम् ।

सकण्डूरागवीसर्प-पाकि स्यात् कुथितं तथा ॥

कीटैर्दूषीविषैर्दष्टं लिङ्गं प्राणहरं शृणु ।

सर्पदष्टे तथा शोथो वर्द्धते सोऽग्रगन्धसूक् ॥

दंशेऽक्षिगौरवं मूर्च्छा स रुगार्तः श्वसित्यपि ।

तृष्णारुचिपरीतश्च भवेद् दूषीविषाद्वितः ॥ ३८ ॥

दंशमध्ये तु यत् कृष्णं श्यावं वा जालकान्वितम् ।

दद्राकृति भृशं पाक-क्लेदकोथज्वरान्वितम् ।

दूषीविषाभिर्लूताभिस्तं दष्टामिति निर्दिशेत् ॥

गङ्गाधरः—सपानुक्त्वा काटानाह—सपाणामित्यादि । सर्पाणामेव विण्मूत्रात् ये कीटाः स्युस्ते कीटा दूषीविषाः प्राणहरा इति द्विविधाः सविषकीटतया सम्मता इति सङ्क्षेपतः कीटा मताः, विस्तरस्त्वेषां सुश्रुतोक्तो दर्शितः प्राक् । तत्र दूषीविषकीटदष्टलक्षणमाह—गात्रमित्यादि । दूषीविषैः कीटैर्दष्टं गात्रं दष्टप्रदेशरूपं गात्रं रक्तादिकं स्यात् । प्राणहरं कीटं लिङ्गैः शृणु । प्राणहरकीटलक्षणमाह—सर्पदष्टे यथा शोथस्तथा प्राणहरकीटदष्टे शोफ उग्रगन्धसृग् वर्द्धते । दूषीविषकीटदंशलक्षणमुक्तम्, तद्वर्द्धितपुरुषलक्षणमाह—दंशेऽक्षीत्यादि । दूषीविषकीटदंशेऽक्षिगौरवं मूर्च्छा च स्यात् । स दूषीविषकीटाद्वितः पुरुषो रुगार्तः सन् श्वसित्यपि तृष्णारुचिपरीतश्च भवेदिति ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—दूषीविषकीटविशेषदष्टलक्षणमाह—दंशमध्ये सित्यादि । यस्य पुंसो दंशमध्ये कृष्णादि स्यात् तं दूषीविषाख्यलूताभिर्दष्टमिति निर्दिशेत् ।

चक्रपाणिः—कीटोत्पत्तिमाह—सर्पाणामित्यादि । कीटशब्दनिरुक्त्यर्थमनयोरुपादानम्, तेन अन्यान्यपि कीटकारणानि भवन्तीति ज्ञेयम् । उक्तं हि सुश्रुते—‘सर्पाणां शुक्रविष्मूलशवपूत्यण्ड-सम्भवाः । वाय्वगन्धभुप्रकृतयः कीटास्तु विविधाः स्मृताः’ इति । कीटाश्च यद्यपि सुश्रुते वातपित्तकफसन्निपातकोपनाः कुम्भीनसादयः सप्तषष्टिः प्रतिपादिताः, तथापीह दूषीविषाः प्राण-हरविषाः इति द्विविधाः । उग्रगन्धसूक् वर्द्धते इति उग्रगन्धलोहितम् ॥ ३८ ॥

चक्रपाणिः—दंशस्य मध्य इत्यादिना दूषीविषलूतादष्टलक्षणम् । लूताश्च अन्यसाद्यौ साध्याः

षोड
असा
मूत्रा
सुश्रु
श्वेत
अष्टौ
माल
पाण
सुश्रु
आर
उच्च
मूषि
वृश्चि
दह
असा
जलो

सर्वांसामेव तासांश्च दंशे लक्षणमुच्यते ।
 शोफः श्वेता सिता रक्ता पीता वा पिङ्का ज्वरः ।
 प्राणान्तको भवेद् दाहः श्वासहिक्राशिरोग्रहाः ॥
 आ दंशाच्छोणितं पाण्डु मण्डलानि ज्वरोऽरुचिः ।
 रोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषोविषादिते ॥
 मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्य-क्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः ।
 शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः ॥
 काष्ण्यं श्यावत्वमथवा नानावर्णत्वमेव च ।
 मोहोऽथ वर्चसो भेदो दष्टे स्यात् कृकलासकैः ॥
 दहत्वग्निरिवादौ तु भिनत्तीवोद्धृमाशु च ।
 वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात् तु तिष्ठति ॥

षोडशविधा लूतास्तासामष्टौ कृच्छ्रसाध्या दूषोविषाख्या इह तन्त्रे, शेषा
 असाध्याः प्राणहरास्तत्र आद्या अष्टौ त्रिमण्डला श्वेता कपिला पीतिका आलविषा
 मूत्रविषा रक्ता कसना चेति कृच्छ्रसाध्या आभिर्दष्टमिति निर्दिशेत् । शेषास्तष्टौ
 सुश्रुतोक्ताः प्राग् दर्शिताः । शोफ इत्यादिना तासां लक्षणमाह—दंशमध्ये शोफः
 श्वेतादिः पिङ्का ज्वरश्च दाहादिश्च प्राणान्तके लूतादष्टे भवेत् । प्राणान्तकलूता
 अष्टौ । सौवर्णिका लाजवर्णा जालिनी एणीपदी कृष्णा अग्निवर्णा काकाण्डा
 मालागुणा चेति ।

मूषिकदष्टमाह—आ दंशादित्यादि । आखुविषादिते आ दंशात् सर्वत्र
 पाण्डुवर्णं शोणितं भवति मण्डलादीनि च भवन्ति । अष्टादश मूषिकाः
 सुश्रुतोक्ता दर्शितास्तेषामेतानि लक्षणानि आखूनां येषां दष्टे भवन्ति त
 आखवो दूषोविषा उच्यन्ते । येषु वक्ष्यमाणलक्षणानि स्युस्तेऽसाध्यमूषिका
 उच्यन्ते । मूर्च्छेत्यादीन्यसाध्यमूषिकैर्दष्टलक्षणानि भवन्ति शुक्रविषा
 मूषिकाः । काष्ण्यमित्यादि । कृकलासकैर्दष्टे काष्ण्यादीनि भवन्ति ।
 वृश्चिकदष्टलक्षणमाह—दहतीत्यादि । वृश्चिकस्य विषमादौ दंशनमात्रेऽग्निरिव
 दहति । आशु च ऊर्ध्वं भिनत्तीव याति, पश्चाद् दंशे तिष्ठति ।

असाध्याश्चाष्टौ त्रिमण्डलाः सौवर्णिकादय उक्तास्तथा दूषिकत्वात् कण्टकवृश्चिकमण्डूकमत्स्य-
 जलौकाशतपदीमशकमक्षिकाणां सुश्रुतादिषु प्रपञ्चार्थिभिः प्रपञ्चोऽनुसरणीयः । इह तु तत्त्वकारेण

दष्टोऽसाध्यस्तु हृद्ग्राण-रसनोपहतो नरः ।
 मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनात्तो जहात्यसून् ॥
 विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिस्थापि च ।
 लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैव विशोर्य्यते ॥
 हृष्टरोमोच्चङ्किनेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्त्तिमान् ।
 दष्टः शीतोदकेनैव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥
 एकदंष्ट्रार्दितः शूनः सपीतः सरुजस्तथा ।
 छर्दिर्निद्रा च सविषैर्मण्डूकदंष्ट्रलक्षणम् ॥
 मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहशोथरुजस्तथा ।
 कण्डू शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः ॥
 विदाहं श्वयथुं तोदं स्वेदन्तु गृहगोधिका ।
 दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्याच्छतपदीविषम् ॥

असाध्यवृश्चिकदष्टलक्षणमाह—दष्ट इत्यादि । वृश्चिकैर्दष्टोऽसाध्यस्तु हृदि
 ग्राणे रसनायां वोपहतो नरः पतद्भिर्मसैरत्यर्थं वेदनात्तोः सन्नसून् जहाति ।
 विसर्प इत्यादि । कणभैर्भ्रमरविशेषैर्दष्टे विसर्पादीनि स्युर्दंशश्च विशोर्य्यते
 इति लक्षणम् । हृष्टेत्यादि । उच्चङ्किनेन दष्टः पुमान् हृष्टरोमादिः सन् शीतो-
 दकेन सिक्तानीवाङ्गानि मन्यते । एकेत्यादि । सविषैर्मण्डूकैर्दष्टस्य लक्षणं
 एकदंष्ट्रार्पितो दंशः स्याच्छूनश्च सपीतः सरुजश्च, छर्दिश्च निद्रा च भवति ।
 मत्स्या इत्यादि । सविषा मत्स्या दष्टवन्तो दाहादीनि कुर्युः । जलौकसरतु
 सविषाः कण्डादिकं कुर्युस्तत्र सुश्रुतोक्तविशेषः प्राग् दर्शितः । विदाहमित्यादि ।
 गृहगोधिका विदाहादीनि कुर्यात् । शतपदीविषं दंशे स्वेदादीनि कुर्यात् ।

प्रपञ्चो न क्रियते । आ दंशादित्यादि आसुविषलक्षणम् । कणभश्च कीटविशेष इति सुश्रुते कीट-
 विशेषे पठितः । एकदंष्ट्रार्दित इति एकया एव दंष्ट्रया कृतो दंश इत्यर्थः । अस्थिसारा-
 विषा उक्ता जलौकाश्च, षट्पदा य उक्ताः संदंशविषाः । गलगोलिकां ज्येष्ठामित्याहुः । अन्ये तु

कण्डूमान् मशकैरीषच्छोथः स्यान्मन्दवेदनः ।

असाध्यकीटसदृशमसाध्यमशकक्षतम् ॥

सद्यःप्रस्त्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता ।

पिङ्गका मक्षिकादंशे तासान्तु स्थगिकाऽसुहृत् ॥ ३६ ॥

कण्डूमानित्यादि । मशकैर्दंष्ट्रे पुमान् कण्डूमान् ईषच्छोथो यस्य स ईषच्छोथः । तत्रासाध्यमशकक्षतमसाध्यकीटसदृशं स्यात् । पञ्चधा मशकाः सामुद्रः परिमण्डलो हस्तिमशकः कृष्णः पर्वतीयश्चेति । तत्र पर्वतीया असाध्या इति । सद्यः इत्यादि । मक्षिका षड्विधा तासां पञ्चविधाभिः स्थगिकावर्जाभिर्दंशे सद्यः-स्त्राविणीप्रभृतिः पिङ्गका स्यात् । स्थगिका नाम मक्षिकाऽसुहृत् प्राणहृत् । मक्षिका तु कान्तारिका कृष्णा पिङ्गलिका मधुलिका काषायी स्थगिका चति । सुश्रुत चान्यच्च विषमुक्तम् । “शृगालश्चतरक्षश्च-व्याघ्रादीनां यदानिलः । श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः । तदा प्रस्रस्तलाङ्गूल-हनुस्कन्धोऽतिलालवान् । अत्यर्थवधिरोऽन्धश्च सोऽन्योऽन्यमभिधावति । तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु । सुप्तता जायते दंशे कृष्णश्चातिस्रवत्यसृक् । दिग्धविद्वस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः । येन चापि भवेदष्टस्तस्य चेष्टारुतं नरः । बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विनश्यति । दंष्ट्रिणा येन दष्टश्च तद्रूपं यदि पश्यति । अप्सु वा यदि वादश रिष्टं तस्य विनिर्दिशेत् ॥ त्रस्यत्यकस्माद् योऽभीक्ष्णं श्रुत्वा दृष्ट्वापि वा जलम् । जलत्रासन्तु विद्यात् तं रिष्टं तमपि कीर्तितम् ॥ अदृष्टो वा जलत्रासी न कथञ्चन सिध्यति । प्रसुप्तोऽथोत्थितो वापि स्वस्थस्त्रस्तो न सिध्यति ॥ त्रिस्राव्य दंशं तैर्दंष्ट्रे सपिषा परिदाहितम् । प्रदिह्याददंशैः सर्पिः पुराणं वापि पाययेत् । अर्कक्षीरयुतश्चास्य दद्याच्छोष-विरेचनम् । श्वेतां पुनर्नवाश्चास्य दद्याद् धुस्तूरकायुताम् । पललं तिलतैलञ्च रूपिकायाः पयो गुडः । निहन्ति विषमालकं मेघवृन्दमिवानिलः ॥ मूलस्य शरपुङ्खायाः कर्षं धुरतूरकार्ढिकम् । तण्डुलोदकमादाय पेषयेत् तण्डुलैः सह । उन्मत्तकस्य पत्रैस्तु संवेष्ट्याऽपूपकं पचेत् । स्वादेदौषधकाले तद् अलर्कविषदूषितः ॥ करोत्यन्यान् विकारांस्तु तस्मिन् जीर्यति चौषधे । विकाराः शिशिरे याप्या गृहे वारिविवर्जिते । ततः शान्तविकारस्तु स्नात्वा चैवापरेऽहनि । शालि-शरणमाहुः । शतपदी कारुण्डा । असाध्यमशकक्षतमिति पञ्चसु मशकेषु पर्वतीयमशकक्षत-मसाध्यमाहुः । उक्तं हि सुश्रुते “पर्वतीयस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः ।” स्थगिका असुहृत् इति कान्तारिकादिषु सुश्रुतोक्तपञ्चमक्षिकासु स्थगिकाख्या मक्षिका प्राणहरीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

श्मशानचत्यवल्मीक-यज्ञाश्रमसुरालये ।
 पक्षसन्धिषु मध्याह्ने सार्द्धरात्रेऽष्टमीषु च ।
 न सिध्यन्ति नरा दष्टाः पाषण्डायतनेषु च ॥
 दृष्टिश्चासमलस्पर्श-विषैराशीविषैस्तथा ।
 विनश्यन्ताप्रतिहता दष्टाः सव्वेषु मर्मसु ॥ ४० ॥
 येन केनापि सर्पेण सम्भवः सव्व एव च ।
 भीतमत्ताबलोष्णान्तुत्तृष्णात्ते वर्द्धते भृशम् ।

विषं प्रकृतिकालौ चेत् तुल्यौ प्राणाल्पमन्यथा ॥

षष्टिकयोभक्तं क्षीरेणोष्णेन भोजयेत् । दिनत्रये पञ्चमे वा विधिरेषोऽर्द्धमात्रम् ।
 कर्त्तव्यो भिषजाऽवश्यमलर्कविषनाशनः । कुप्येत् स्वयं विषं यस्य न स
 जीवति मानवः । तस्मात् प्रकोपयेदाशु स्वयं यावन्न कुप्यति । वीजरत्नौषधीगर्भैः
 कुम्भैः शीताम्बुपूरितैः । स्नापयेत् तं नदीतीरे समन्त्रैर्वा चतुष्पथे । बलिं
 निवेद्य तत्रापि पिण्याकपललं दधि । माल्यानि च विचित्राणि मांसं पकामकं
 तथा ॥ अलकाधिपते यक्ष सारमेयगणाधिप । अलर्कजुष्टमेतन्मे निर्व्विषं कुरु
 मा चिरात् । दद्यात् संशोधनं तीक्ष्णमेवं स्नातस्य देहिनः । अशुद्धस्य मुरुदेऽपि
 त्रणे कुप्यति तद् विषम् । श्वादयोऽभिहिता व्याला वातपित्तप्रकोपणाः । अतः
 करोति दष्टस्तेस्तेषां चेष्टां स्तं नरः । बहुशः प्रतिकुर्वाणो न चिरान् म्रियते च
 सः ॥ नखदन्तक्षतं व्यालैर्यत् कृतं तद् विमर्दयेत् । सिञ्चेत् तैलेन कोष्णेन
 ते हि वातप्रकोपणाः ॥” इति ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—श्मशानेत्यादि । श्मशानादिषु दष्टा न सिध्यन्ति । पाषण्डानां
 सन्न्यासिवेशधारिणामायतनेषु स्थानेषु । दृष्टिश्चासेत्यादि । दृष्टिविषादिभि-
 राशीविषैश्च सर्पैर्दष्टा न सिध्यन्ति । सव्वेषु मर्मसु दष्टाश्च विनश्यन्ति ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—भीतेत्यादि । भीते जने मत्ते चावले च उष्णात्ते क्षुधात्ते तृष्णात्ते
 च विषं भृशं वर्द्धते । विषमित्यादि । विषस्य प्रकृतिकालौ चेत् तुल्यौ तथा विषं

चक्रपाणिः—सम्प्रति स्थानकालस्वभावप्रदेशे दष्टानां सर्पाणामसाध्यतामाह—श्मशानेत्यादि ।
 चेत्यः ग्रामदेवताप्राप्तो महातृकः । पक्षसन्धिष्विति अमावास्यापौर्णमासीषु । पाषण्डाः कापाकिकादयः ।
 आक्षीविषविषैः इत्यस्यैव लक्षणं दृष्टिश्चासमलस्पर्शविषैरिति । उक्तं हि तन्त्रान्तरे—‘दृष्टिश्चासन्नद्विभि-
 ज्ञेयाः सर्पाः आक्षीविषाः, आशुघातित्वात्’ ॥ ४० ॥

चक्रपाणिः—विषवृद्धिहेतुमाह—भीतेत्यादि । प्रकृतिकालौ तुल्यौ यथा विषस्य प्रबलपित्त-

वारिविप्रहताः क्षोणा भीता नकुलनिर्जिताः ।

मुक्तत्वचो वृद्धबालाः सर्पा मन्दविषाः स्मृताः ॥ ४१ ॥

सर्व्वदेहाश्रितं क्रोधाद् विषं सर्पो विमुञ्चति ।

तदेवाहारहेतोर्वा भयाद् वा न प्रमुञ्चति ॥ ४२ ॥

प्रायो वातोल्बणविषा उच्चिद्भिन्नाः सर्व्वश्रिकाः ।

वातपित्तोल्बणाः कीटाः श्लैष्मिकाः कणभादयः ॥

यस्य यस्य तु दोषस्य लिङ्गाधिक्यं प्रतर्कयेत् ।

तस्य तस्यौषधैः कुर्यात् विपरीतगुणैः क्रियाम् ॥ ४३ ॥

हृत्पीडोद्ध्वानिलः स्तम्भः सिरायामोऽस्थिपर्व्वरुक् ।

धूर्णनोद्वेष्टनं गात्रे श्यावता वातिके विषे ॥

संज्ञानाशोष्णनिश्वासौ हृद्दाहः कटुकास्यता ।

दंशावदरणं शोथा रक्तपित्तञ्च पैत्तिके ॥

प्राणाल्पमल्पबलं तदा न वर्द्धते । वारीत्यादि । वारिबाहुल्येन प्रहताः सर्पाः क्षीणा व्याध्यनाहारादिना क्षीणा भीता विरोधिपक्षिदावान्यादिभ्यो भीता नकुलनिर्जिता एवं मुक्तत्वचो मुक्तनिर्मर्मास्तथा वृद्धा बालाश्च सर्पाः मन्दविषाः स्मृताः ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—सर्व्वेत्यादि । शुक्रवत् सर्व्वदेहगतं विषं सर्पः क्रोधाद् दंष्ट्रास्वागतं विमुञ्चति । तदेव विषमाहारहेतोर्न मुञ्चति भयाद् वा न मुञ्चति ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—प्राय इत्यादि । उच्चिद्भिन्ना वृश्चिकाश्च प्रायो वातोल्बणविषाः । कीटास्तु वातपित्तोल्बणाः । कणभादयः श्लैष्मिकाः । तेषां चिकित्सामाह—यस्येत्यादि । यस्य यस्य सर्पादिर्यदोषस्य लिङ्गाधिक्यं प्रतर्कयेत्, तस्य तस्य दोषस्य विपरीतगुणैरौषधैः क्रियां कुर्यात् ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—तेषां वातादिविषलिङ्गमाह—हृदित्यादि । वातिके वातोल्बण-विषोच्चिद्भिन्नाविषे हृत्पीडादि लिङ्गम् । संबेत्यादि । पैत्तिके वातपित्तोल्बण-

प्रकृतिः शरदृतुस्तु काल इति ज्ञेयम् । अल्पमन्यथेति भीतत्वादिविपर्य्यये अल्पं विषं भवति । वारीत्यादौ मन्दविषत्वमाह । प्रागुक्तं 'सर्व्वदेहाश्रितं क्रोधाद्' इति सर्व्वदेहाश्रितमपि दंष्ट्रिष्वेव विषं विशेषेण ज्ञेयम् ॥ ४१ । ४२ ॥

चक्रपाणिः—विषचिकित्सार्थं वातोल्बणत्वादिभेदमाह—वातोल्बणेत्यादि । विपरीतगुणैः

छर्द्दरोचकहृत्लास-प्रसेकोत्क्लेशगौरवैः ।
 सशैत्यमुखमाधुर्यैर्विद्यात् श्लेष्माधिकं विषम् ॥ ४४ ॥
 खण्डेन च त्रणालेपस्तैलाभ्यङ्गश्च वातिके ।
 स्वेदो नाड्योपुलाकादौर्वृहणश्च विधिर्हितः ॥
 सुशीतैः स्तम्भयेत् सेकैः प्रदेहैश्चापि पैत्तिकम् ।
 लेखनच्छेदनस्वेद-वमनैः श्लैष्मिकं जयेत् ॥
 विषेष्वपि च सर्वेषु सर्वस्थानगतैषु च ।
 अवृश्चिकोच्चङ्गिङ्गेषु प्रायः शीतो विधिः स्मृतः ॥ ४५ ॥
 वृश्चिके स्वेदमभ्यङ्गं घृतैर्न लवणेन च ।
 सेकांश्चोष्णान् प्रयुञ्जीत भोज्यं पानञ्च सर्पिषः ॥
 एतदेवोच्चङ्गिङ्गेषु प्रतिलोमञ्च पांशुभिः ।
 उद्धर्त्तनं सुखाम्बुष्णैस्तथावच्छादनं घनैः ॥ ४६ ॥

कीटविषे संज्ञानाशादि लिङ्गं स्यात् । छर्द्दीत्यादि । छर्द्दादिभिर्लिङ्गैः श्लेष्माधिकं विषं कणभादिदष्टं विद्यात् ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—तेषां क्रमेणौषधमाह—खण्डेनेत्यादि । खण्डं गुडमध्ये स्वयंजात-दृढरूपम् । नाडी कुष्माण्डनालादिका । पुलाकस्तुच्छधान्यम् । सुशीतैरित्यादि । सुशीतसेकप्रदेहैः पैत्तिकं जयेत् । लेखनादिभिः श्लैष्मिकं जयेत् । विषेष्वित्यादि । वृश्चिकोच्चङ्गिङ्गविषवर्जेषु सर्वेषु विषेषुष्णतीक्ष्णत्वात् सर्वस्थान-गतेषु च प्रायः शीतो विधिः स्मृतः ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—वृश्चिक इत्यादि । वृश्चिकोच्चङ्गिङ्गविषयोर्वतोल्बणत्वात् वृश्चिके विषे स्वेदाभ्यङ्गं घृतैर्न लवणेन च उष्णान् सेकान् प्रयुञ्जीत भोज्यं चोष्णं प्रयुञ्जीत सर्पिषः पानञ्च । एतदित्यादि । एतदेव विधानमुच्चङ्गिङ्गेषु कार्यम् । पांशुभिः प्रतिलोमञ्च उद्धर्त्तनम् । तथा सुखाम्बुष्णैः सुखाम्बुना उष्णीकृते घनैराच्छादनैरवच्छादनं कार्यम् ॥ ४६ ॥

रित्यादिना औषधैः । विषगताधिकवातादिलिङ्गमाह—द्वन्द्वपीडंति । वातादिभेदेन चिकित्सामाह—खण्डेनेत्यादि । पुलाकस्तुच्छधान्यम् । घनैरिति पांशुभिः ॥ ४३—४६ ॥

स्यात् त्रिदोष-॰-प्रकोपात् तु तथा धातुविपर्ययात् ।

शिरोऽभितापलास्तास्र-व्यथावक्रकृदेव च ॥

अन्येऽप्येवंविधा व्याङ्गाः कफवातप्रकोपणाः ।

हृच्छिरोरुगज्वरस्तम्भ-तृष्णामूर्च्छाकराः स्मृताः ॥

कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यं सुतिक्लेदोपशोषणम् ।

विदाहरागरूपाकाः शोथा ग्रन्थिनिकुञ्चनम् ॥

दंशावदरणं स्फोटाः कर्णिका मण्डलानि च ।

ज्वरश्च सविषे लिङ्गं विपरीतञ्च निर्विषे ॥

तत्र सर्वे यथादोषं प्रयोज्याः स्युरूपक्रमाः ।

पूर्वोक्तविधिमन्यञ्च यथावद् वदतः शृणु ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—स्यादित्यादि । उच्चिद्भिन्नविषं यस्मात् त्रिदोषप्रकोपात् तथा धातुविपर्ययात् शारीरधातुगुणविपरीतगुणत्वात् शिरोऽभितापादिकृत् । वक्रं वक्रीभावः शरीरस्य । अन्येऽपीत्यादि । एवंविधा उच्चिद्भिन्नप्रकाराः कफवात-प्रकोपणा व्याङ्गा हृद्दोगादिकराः स्मृताः । सविषनिर्विषजनतुलक्षणमाह—कण्डित्यादि । कण्डूदिज्वरान्तं सविषे प्राणिनि लिङ्गम्, निर्विषे दृष्टे कण्डूदि-विपरीतं लिङ्गम् । तत्र चिकित्सामाह—तत्र सर्वस्मिन् सविषव्यादृष्टे यथादोषं चतुर्विंशत्पुपक्रमेषु यो य उपक्रमो योग्यस्ते उपक्रमाः प्रयोज्याः स्युः । तत्र पूर्वोक्तं विधिमन्यञ्च विधिं यथावद् वदतो मत्तः शृणु ॥ ४७ ॥

चक्रपाणिः—आ त्रिदोषेत्यादि—सविषकुक्कुरादिलक्षणं, अत्रैव च शुनस्त्रिदोषप्रकोपो भवति । केचित्तु शिरोभितापत्वादि यथोक्तकुक्कुरे तद्दृष्टे च भवतीति वदन्ति । विस्तरश्चास्य सुश्रुत एव । अन्येऽप्येवंविधेति—अन्येऽपि शृगालतरक्ष्वादयः एवं सन्तः कृच्छरोगादिकरा भवन्तीत्यर्थः । उक्तं हि सुश्रुते—‘श्वशृगालतरक्ष्वृक्ष-व्याघ्रादीनां यदानिलः । श्लेष्मप्रदृष्टो मुष्णाति रुंज्ञां संज्ञा-वहाश्रितः ॥’ इति । कण्डूनिस्तोद इत्यादिना सामान्येन सविषकीटादिदंशल्लिङ्गं अविषप्राणिदंश-लिङ्गञ्चोच्यते । सर्वं इति चतुर्विंशतियथोक्तोपक्रमाः, पूर्वोक्तम् इत्यत्र वक्ष्यमाणचिकित्सितम्, पूर्वोक्ते विभावपि अवस्थाविशेषविभावयुक्तया कर्तव्या इत्यर्थः । यदा पूर्वोक्ता इति पाठः तदा उपक्रमा इत्यस्य विशेषणमेतत् ॥ ४७ ॥

हृदि दाहे प्रसेके च विरेकवमनं भृशम् ।
 यथावस्थं प्रयोक्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः ॥
 शिरोगतै विषे नस्तः कुर्यान्मूलानि बुद्धिमान् ।
 बन्धुजोवस्य भार्या वा सुरसस्यासितस्य च ॥
 दक्षकाकमयूराणां मांसासृङ् मस्तके क्षते ।
 मूर्द्धि देयमधो दष्टे मूर्द्धि दष्टस्य पादयोः ॥
 पिप्पलीमरिचक्षार-वचासैन्धवशिग्रु काः ।
 पिष्टा रोहितपित्तेन घ्नन्त्यक्षिगतमञ्जनात् ॥
 कपित्थमामं ससिताक्षौद्रं कण्ठगतै विषे ।
 लिह्यादामाशयगतै ताभ्यां चूर्णपलं नतम् ॥
 विषे पक्काशयगतै पिप्पलीरजनीद्वयम् ।
 मञ्जिष्ठाञ्च समं पिष्ट्वा गोपित्तेन पिबेन्नरः ॥

गङ्गाधरः—हृदीत्यादि । हृदि दाहे च मुखप्रसेके च भृशं विरेचनवमनं
 यथावस्थं प्रयोक्तव्यम् । शुद्धे सति विरेचनेन वमनेन च संसर्जनक्रमः पेयादि-
 पथ्यक्रमः काव्यः । शिरोगत इत्यादि । शिरोगते विषे बन्धुजीवाद्यन्यतमस्य
 मूलानि बुद्धिमान् नस्तः कुर्यात् नस्यं कुर्यात् । असितसुरसः कृष्णतुलसी ।
 दक्षेत्यादि । व्याडेन मस्तके क्षते दक्षादीनां मांसमसृक् च मूर्द्धि देयम् ।
 दक्षः कुक्कूटः । पादयोरधो दष्टे दष्टस्य मूर्द्धि दक्षादीनां मांसासृक् देयमिति ।
 पिप्पलीत्यादि । रोहितमत्स्यपित्तेन पिष्टाः पिप्पल्यादयोऽञ्जनादक्षिगतं
 विषं घ्नन्ति । कपित्थेत्यादि । आमं कपित्थफलशस्यं सिताक्षौद्रसहितं
 कण्ठगतै विषे लिह्यात् । आमाशयगतै विषे नतात्तगरपादुकाच्चूर्णपलं ताभ्यां
 सितामधुभ्यां लिह्यात् । विष इत्यादि । पक्काशयगतै विषे पिप्पल्यादि-

चक्रपाणिः—ऊर्द्धं दष्टस्य पादयोरित्येतापि क्षतयोरेव पादयोर्विशेषेण संक्रमणार्थं मांसासृक-
 दानं देयम् । ताभ्यामिति सिताक्षौद्राभ्याम् । नतं तगरम् ।

रक्तं मांसञ्च गोधायाः शुष्कचूर्णोक्तं हितम् ।
 विषे रसगते पानं कपित्थरससंयुतम् ॥
 शेलोर्मूलत्वग्ग्राणि बदरोडुम्बराणि च ।
 कटभ्याश्च पिबेद् रक्त-गते मांसगते पिबेत् ॥
 सक्षौद्रं खदिरारिष्टं कौटजं मूलमम्भसा ।
 सर्वेषु च बले द्वे च मधुकं मधुकं नतम् ॥
 पिप्पली मरिचं क्षारं नवनीतेन मूर्च्छितम् ।
 प्रवृद्धे श्लेष्मणि भिषक् प्रदद्यात् प्रतिसारणम् ॥ ४८ ॥
 मांसीकुङ्कुमपत्रत्वक्जनीनतचन्दनैः ।
 मनःशिलाव्याघ्रनख-सुरसैरम्बुपेषितैः ॥
 पाननस्याञ्जनालेपाः सर्वशोथविषापहाः ॥ ४९ ॥
 शिरोषपुष्पस्वरसे सप्ताहं मरिचं सितम् ।
 भावितं सर्पदष्टानां नस्यपानाञ्जने हितम् ॥
 द्विपलं नतकुष्ठाभ्यां घृतक्षौद्रं चतुष्पलम् ।

अपि तत्तददष्टानां पानमेतत् सुखप्रदम् ॥ ५० । ५१ ॥
 चतुष्कं समं गोपित्तेन पिष्ट्वा पिबेत् । रक्तमित्यादि । रसधातुगते गोधाया
 रक्तं मांसञ्च संशोष्य चूर्णोक्तं कपित्थरससंयुतं पानं हितम् । शेलोरित्यादि ।
 रक्तगते विषे शेलोश्चालित्रफलवृक्षस्य मूलत्वक् बदरादीनां शाखाया अग्राणि
 कटभ्याश्चाग्राणि पिष्ट्वा जलेन पिबेत् । मांसगते सक्षौद्रं खदिरारिष्टं पिबेत् ।
 तथा कौटजं मूलमम्भसा पिष्ट्वा पिबेत् । सर्वेषु सर्वधातुगते विषे द्वे बले मधुकं
 मधुकञ्च नतश्चाम्भसा पिष्ट्वा पिबेत् । पिप्पलीत्यादि । प्रतिसारणं घर्षणम् ॥ ४८ ॥
 गङ्गाधरः—मांसीत्यादि । मांस्यादिभिः सुरसान्तरम्बुपेषितैः पानादयः ॥ ४९ ॥
 गङ्गाधरः—शिरीषेत्यादि । सितं मरिचं श्वेतमरिचं शोभाञ्जनबीजं सप्ताहं
 शिरीषपुष्पस्वरसे भावितं नस्यपानाञ्जने सर्पदष्टानां हितम् । द्विपलमित्यादि ।

शेलुः श्लेष्मातकः । मांसगत इति उत्तरेण संबध्यते । खदिरश्चारिष्टश्चेति खदिरारिष्टः, किंवा
 खदिरकृतोऽरिष्टः । मधुकं नतमिति च्छेदः । पिप्पलीत्यादि प्रतिसारणम् । मरिचं सितमिति
 शोभाञ्जनकं बीजम् ॥ ४८—५१ ॥

सिन्धुवारस्य मूलञ्च श्वेता च गिरिकर्णिका ।
 पानं दर्वीकरैर्दष्टे नस्यं समधु पाकलम् ॥
 मञ्जिष्ठा मधुयष्टग्राह्या-जीवकर्षभकाः सिता ।
 काश्मर्यवटशुङ्गानि पानं मण्डलिनां विषे ॥
 व्योषं सातिविषं कुष्ठं गृहधूमो हरेणुका ।
 कटुका तगरं क्षौद्रं हन्ति राजीमतां विषम् ॥
 गृहधूमं हरिद्रे द्वे समूलं तण्डुलीयकम् ।
 अपि वासुकिना दष्टः पिबेद् दधिघृताप्लुतम् ॥
 क्षीरिवृक्षत्वगालेपः शुद्धे कीटविषापहः ।
 मुक्तालपो वरः शोथ-दाहतोदज्वरापहः ॥ ५२ ॥

नतस्य पलं कुष्ठस्य पलमिति नतकुष्ठाभ्यां द्विपलं घृतस्य द्विपलं क्षौद्रस्य
 द्विपलमिति घृतक्षौद्रचतुष्पलमिति चतुष्कं पिबेत् । एतत् तक्षकदष्टानामपि
 अन्यसर्पदष्टानाञ्च सुखप्रदमेतत् पानम् ॥ ५० । ५१ ॥

गङ्गाधरः—सिन्धुवारेत्यादि । सिन्धुवारमूलं श्वेतापराजितामूलं द्वयं
 जलेन पिष्ट्वा पानं दर्वीकरैर्दष्टे हितम् । पाकलं कुष्ठं समधु नस्यं हितम् ।
 मञ्जिष्ठेत्यादि । मञ्जिष्ठा च मधु च यष्टग्राह्या च जीवकश्च ऋषभकश्च सिता च
 काश्मर्यवटयोः शुङ्गानि सर्वं समं पिष्ट्वा जलेन मण्डलिनां विषे पानं हितम् ।
 व्योषमित्यादि । व्योषादि दशद्रव्यं पिष्ट्वा प्रकरणात् पानं राजिमतां विषं हन्ति ।
 गृहेत्यादि । गृहधूमादिसमूलतण्डुलीयान्तं समं पिष्ट्वा दधिघृताप्लुतं वासुकि-
 नापि अन्यैरपि सर्पदष्टः पिबेत् । क्षीरीत्यादि । कीटदष्टे वमनादिना
 शुद्धे नरे क्षीरिवृक्षाणां वटोद्भवादीनां त्वगालेपस्तत्कीटविषापहः । तस्मिन्
 कीटविषे मुक्तालपो मुक्तां जलेन पिष्ट्वा लेपो वरः श्रेष्ठः शोथाद्यपहः ॥ ५२ ॥

चक्रपाणिः—श्वेता चेति गिरिकर्णिकाविशेषणम् । तेन श्वेतापराजिता गृह्यते । केचित्
 गिरिकर्णिकां स्यन्दनमाहुः । पाकलं कुष्ठम् । मुक्ता मौक्तिकम् ॥ ५२ ॥

चन्दनं पद्मकोशीर-शिरीषाः सिन्धुवारकाः ।
 क्षीरशुक्ला नतं कुष्ठ-सारिवोदीच्यपाटलाः ॥
 शेलुस्वरसपिष्टोऽयं लूतानां सार्वकाम्मिकः ।
 यथायोगं प्रयोक्तव्यः समीच्यालेपनादिषु ॥
 मधुकं मधुकं कुष्ठं सारिवोदीच्यपाटलाः ।
 सनिम्बसारिवाक्षौद्रं पानं लूताविषापहम् ॥
 कुसुम्भपुष्पं गोदन्तः स्वर्णक्षीरी कपोतविट् ।
 दन्ती त्रिवृत् सैन्धवैले कर्णिकापातनं तयोः ॥
 कटभ्यज्जुनशरीष-शेलुक्षीरद्रुमत्वचः ।
 कषायकल्कचूर्णाः स्युः क्रीडलूताव्रणापहाः ॥ ५३ ॥
 त्वचश्च नागरञ्चैव समांशं श्लक्ष्णपेषितम् ।
 पेयमुष्णाम्बुना सर्वं मूषिकाणां विषापहम् ॥
 कुटजस्य फलं पिष्टं तगरं जालमालिनी ।
 तिक्तेद्वाकुश्च योगोऽयं पानप्रधमनादिभिः ॥

गङ्गाधरः—चन्दनमित्यादि । क्षीरशुक्ला क्षीरविदारी शुक्लनित्यास-
 भूमिकुष्माण्डः । चन्दनादिपाटलान्तं समं शेलुस्वरसे चालित्रफलस्वरसे पिष्टो-
 ऽयमगदो लूतानां विषे सार्वकाम्मिकः पाननस्याञ्जनलेपादिषु सर्वेषु कर्मसु
 हितस्तेषु लेपनादिषु यथायोगं प्रयोज्यः । मधुकमित्यादि । सारिवाद्यम्
 अनन्तमूलं श्यामलता च । सारिवान्तं जले पिष्ट्वा गोलयित्वा मधु मिश्रयित्वा
 पानं लूताविषापहम् । कुसुम्भपुष्पमित्यादि । कुसुम्भपुष्पादीनि एलान्तानि
 पिष्ट्वा दंशे लेपात् तयोः क्रीडलूतयोः कर्णिकाया आलस्य दंशस्थाने विद्ध-
 स्थितस्य पातनं स्यात् । कटभीत्यादि । कटभ्यादीनां त्वचः कषायादिविधिना
 क्रीडलूतादंशव्रणापहाः स्युः ॥ ५३ ॥

गङ्गाधरः—त्वचमित्यादि । त्वचं गुह्यत्वचम् । कुटजस्येत्यादि । जालमालिनी

चक्रपाणिः—क्षीरशुक्ला विदारी । कर्णिकापातनं तयोरिति क्रीडलूतादंशयोः या कर्णिका, तस्याः

वृश्चिकोन्दूरलूतानां सर्पाणाञ्च विषापहः ।

समानममृतैनेदं गराजोर्णञ्च नाशयेत् ॥

सर्वेऽगदा यथायोगं प्रयोज्याः स्युस्त्रिकण्टके ॥ ५४ ॥

कपोतविड् मातुलुङ्गं शिरीषकुसुमाद्रसः ।

शङ्खिन्याकपयः शुण्ठी करञ्जो मधु वार्श्चिके ।

स्तुक्क्षीरपिष्टं शैरीषं फलं दर्दुरजे हितम् ॥

मूलानि श्वेतभण्डादीनां व्योषं सर्पिश्च मत्स्यजे ।

कीटदष्टक्रियाः सर्वाः समानाः स्युर्जलौकसाम् ॥ ५५ ॥

वातपित्तहरीप्राया क्रिया प्रायः प्रशस्यते ।

वार्श्चिकस्योच्चिद्विड्गस्य कणभरयौन्दुरेऽगदः ॥ ५६ ॥

वचा वंशत्वचः पाठा नतं सुरसमञ्जरीम् ।

द्वे बले नाकुली कुष्ठं शिरीषो रजनीद्वयम् ॥

गुहामतिगुहां श्वेतां चाजगन्धां शिलाजतु ।

कतृणं कटभी चारो गृहधूमो मनःशिला ॥

जालिनी घोषकविशेषः । सर्वे इत्यादि । त्रिकण्टके त्रिकण्टकमत्स्यकण्टकविद्धे विषे सर्वे त्वगदा-यथायोगं प्रयोज्याः स्युः ॥ ५४ ॥

गङ्गाधरः—कपोतविट्प्रभृतिर्मध्वन्तो वार्श्चिके वृश्चिकविषे प्रयोज्यः । दर्दुरजे भेकविषे शैरीषं फलं स्तुक्क्षीरपिष्टं लेपनाद्वितम् । मूलानीत्यादि । श्वेतभण्डा मूलादिकं ससर्पिर्मत्स्यजे विषे लेपने हितम् । कीटदष्टे या या क्रिया प्रोक्ता ताः सर्वाः क्रिया जलौकसां दंशे समानाः स्युः ॥ ५५ ॥

गङ्गाधरः—वातेत्यादि । वातपित्तहरीप्राया क्रिया प्रायो वार्श्चिकस्य तथोच्चिद्विड्गस्य विषे प्रशस्यते । औन्दुरे विषेऽगदः प्रशस्यते ॥ ५६ ॥

गङ्गाधरः—तदगदमाह—वचेत्यादि । वंशत्वचो वंशनेली । सुरसमञ्जरी तुलसीमञ्जरी । गुहा शालपर्णी । अतिगुहा पृश्निपर्णी । श्वेता श्वेतापराजिता ।

पातनमित्यर्थः । जालमालिनी घोषकः । तित्तेक्ष्वाकु इति तित्कालाबुः । दर्दुरो भेकः । श्वेत-भण्डा अपराजिता । वार्श्चिकस्येत्यादि यो योग उक्तः स कर्त्तव्यः, एवं कणभस्यापि विषस्य । औन्दुरे उक्तो यो योगः स कर्त्तव्यः ॥ ५३—५६ ॥

रोहितमत्स्य-❁-पित्तेन पिष्टोऽयं परमोऽगदः ।
नस्याञ्जनादिलेपेषु हितो विश्वम्भरादिषु ॥ ५७ ॥

परमोऽगदः ॥

स्वर्जिकाजशकृत्क्षारः सुरसोऽथाक्षिपीडकः ।
मदिरामण्डसंयुक्तो हितः शतः दीविषे ॥
कपित्थमक्षिपीडोऽर्क-बीजं त्रिकटुकं तथा ।
करञ्जो द्वे हरिद्रे च गृहगोधाविषं जयेत् ॥
काकाण्डयुक्तः सर्व्वेषां विषाणां तण्डुलीयकः ।
प्रधानं वह्निपित्तेन तद्रु वायसपीलुकः ॥ ५८ ॥
शिरीषफलमूलत्वक्पुष्पपत्रैः समैर्घृतैः ।
श्रेष्ठः पञ्चशिरीषोऽयं विषाणां प्रवरो बधे ॥

अजगन्धा यमानी । क्षारो यवक्षारः कटभीक्षारो वा । वचादिमनःशिलान्तः
रोहितमत्स्यपित्तेन पिष्टः परमोऽयमगदः स्यात् । विश्वम्भरः कीटविशेषः ।
परमोऽगदः ॥ ५७ ॥

गङ्गाधरः—स्वर्जिकेत्यादि । स्वर्जिकाजशकृत् दग्ध्वा क्षारः कार्य्यः ।
अक्षिपीडकः पीडयित्वा यद्रसोऽक्षिण दीयते सोऽवपीडोऽक्षिपीडकः ।
मदिरामण्डसंयुक्तः शतपदीविषे लेपो हितः । कपित्थमित्यादि । कपित्थादिकं
पीडयित्वाऽक्षिण दत्तं गृहगोधाविषं जयेत्, तथाऽर्कबीजं त्रिकटुकमक्षिपीडः ।
एवं करञ्जो द्वे हरिद्रे चाक्षिपीडः । काकाण्डेत्यादि । काकाण्डः कुष्णशिम्बी
तद्युक्तस्तण्डुलीयकः सर्व्वेषां विषाणां प्रधानम् । वह्निपित्तेन वायसपीलुकः
काकजङ्घा तद्वत् सर्व्वेषां विषाणां प्रधानमौषधम् ॥ ५८ ॥

गङ्गाधरः—शिरीषेत्यादि । शिरीषस्य फलं मूलं त्वक् च पुष्पञ्च पत्रञ्च

चक्रपाणिः—नाकुली रास्त्रा, गुहा पृश्निपर्णी, अतिगुहा शालपर्णी, अजगन्धा फोकन्दीति
ख्याता । पित्तेनेति गोपित्तेन । विश्वम्भरादयः कीटा एव श्लेष्मकोपनाः सुश्रुतोक्ताः ॥ ५७ ॥

चक्रपाणिः—अक्षिपीडकः श्वेतपीतशिम्बीभेदः । वायसी काकमाची ॥ ५८ ॥

* रोहितकस्य इति वा पाठः ।

चतुष्पद्भिर्द्विपद्भिर्वा नखदन्तविषश्च यत् ।
शूयते पच्यते चापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥ ५६ ॥

पञ्चशिरीषोऽगदः ॥

सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च गोजिह्वा हंसपद्मपि ।
रजन्यौ गैरिकं लेपो नखदन्तविषापहः ॥
दुरन्धकारे दष्टस्य केनचित् विषशङ्कया ।
विषोद्रे गाज्ज्वरश्छद्भिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत् ।
ग्लानिर्मोहोऽतिसारो वाप्येतच्छङ्काविषं मतम् ॥
चिकित्सितमिदं तस्य कुर्यादाश्वासनं बुधः ।
सिता वैगन्धिको द्राक्षा पयस्या मधुकं मधु ।
पानं समन्तपूताम्बु-प्रोक्षणं सान्त्वहर्षणम् ॥ ६० ॥

घृतञ्चेति समं सर्वं पिष्टमयं पञ्चशिरीषोऽगदः सर्वविषाणां बधे प्रवरः ।
चतुष्पदादिभिर्नखदन्तविषं शूयत इत्यादि तेषां बधे च प्रवरः ॥ ५९ ॥

गङ्गाधरः—सोमेत्यादि । सोमवल्कः श्वेतखदिरः । सोमवल्कादि-
गैरिकान्तानां लेपः नखदन्तविषापहः । दुरन्धकार इत्यादि । घोरान्धकारे
दर्शनानर्हे केनचित् प्राणिना निर्विषेणापि दष्टस्य विषशङ्कया विषोद्रेगात्
ज्वरादिर्भवेदेतच्छङ्काविषं मतम् । तस्येदं चिकित्सितम्—बुध आश्वासनमाश्वास-
जनकं वाक्यं कुर्यात् । सितादिमध्वन्तानां पानं मन्त्रपूताम्बुप्रोक्षणं सान्त्वं
मनोजवचनं हर्षणञ्च वचनम् । तत्र वैगन्धिको गन्धकं शोधितम् ॥ ६० ॥

चक्राणिः—श्रेष्ठः पञ्चशिरीषोऽयमिति पदं शिरीषाद्यपेक्षया पञ्चशिरीषस्य श्रेष्ठत्वं ब्रूते ।
प्रवर इति पदं विषहरयोगान्तरेषु श्रेष्ठतामाह, तेन न पुनरुक्तिः । किंवा श्रेष्ठ इति श्रेष्ठशिरीष-
फलादिकृतः । द्विषदा वनमानुषमर्कटादयः ॥ ५९ ॥

चक्रपाणिः—अश्वकर्णः सज्जभेदः । दुरन्धकार इत्यादिना शङ्काविषमाह—केनचिदिति ।
निर्विषेणापि शङ्कया, विषोद्रेगात् इति विषशङ्कयैव प्राडुर्भावादित्यर्थः । शङ्का चेयं प्रभावादेव
विषजनिका । वैगन्धिकं कोरदूषः कोद्रवः ॥ ६० ॥

शालयः षष्टिकाश्चैव कोरदूषाः प्रियङ्गवः ।
 भोजनार्थं प्रशस्यन्ते लवणार्थञ्च सैन्धवम् ॥
 तण्डुलीयकजीवन्ती-वार्त्ताकसुनिषण्णकाः ।
 मण्डूकपर्णी कुलकं शाकं चुञ्चोश्च शस्यते ॥
 हरेणुमुद्गान् यूषार्थमम्लार्थं धात्रीदाडिमम् ।
 रसाश्चैणाश्च शिखिनां लावतैस्त्रिपार्षताः ॥
 अविदाहीनि चान्नानि विषार्त्तानां भिषग्जितम् ॥ ६१ ॥
 विरुद्धाध्यशनक्रोध-क्षुब्धयायासमैथुनम् ।
 वज्जयेद् विषमुक्तोऽपि दिवास्वप्नं विशेषतः ॥ ६२ ॥
 मुहुर्मुहुः शिरोन्यासः शोथः शुष्कौष्ठकण्ठता ।
 ज्वरोऽङ्गमर्दः स्तब्धाक्षि-गात्रत्वं हनुकम्पनम् ॥
 लोमापगमनं ग्लानिररतिर्वेपथुर्भ्रमः ।
 चतुष्पदां भवत्येतद् दष्टानामिह लक्षणम् ॥ ६३ ॥

गङ्गाधरः—विषार्त्तानामन्नार्थं द्रव्यमाह—शालय इत्यादि । प्रियङ्गुनाम
 धान्यविशेषः । लवणार्थं सैन्धवम् । शाकार्थं तण्डुलीयादिकम् । चुञ्चुशाकं
 पञ्चाङ्गुलवृक्षस्य पत्रम् । यूषार्थं हरेणवादिकम् । हरेणुवैतुलकलायः । अम्लार्थं
 धात्रीदाडिमम् । एणादीनां मांसस्य रसाः । अविदाहीनि सर्वाण्यन्नानि ।
 एतत् सर्वं सर्वविषार्त्तानां भिषग्जितमिति ॥ ६१ ॥

गङ्गाधरः—वज्जनीयमाह—विरुद्धेत्यादि । विषार्त्तो विषमुक्तोऽपि सर्वं
 विरुद्धाशनादिकं वज्जयेत् ॥ ६२ ॥

गङ्गाधरः—मुहुरित्यादि । चतुष्पदां गवादीनां सर्पादिदष्टानामेतल्लक्षणं
 भवति । मुहुर्मुहुः शिरोन्यासः शिरोविक्षपः । लोमापगमनं लोम्नां
 लुञ्छनम् ॥ ६३ ॥

चक्रपाणिः—कुलकं कारवेल्कम् । अन्ये पटोलभेदमाहुः ॥ ६१—६३ ॥

देवदारु हरिद्रे द्वे सुरसं चन्दनागुरु ।
 रास्ना गोरोचनाजाजो गुग्गुल्विचुरसो नतम् ॥
 चूर्णं ससैन्धवानन्तं गोपित्तमधुसंयुतम् ।
 चतुष्पदानां दष्टानामगदः साव्वेकार्मिकः ॥ ६४ ॥
 सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेद-रजोनानाङ्गजान् मलान् ।
 शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् प्रयच्छन्स्त्रिमिश्रितान् ॥
 तैः स्यात् पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गर्भश्चास्योपजायते ।
 मर्मप्रधमनाध्मानं श्रयथुर्हस्तपादयोः ॥
 जठरं ग्रहणीरोगो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः ।
 एवंविधानि चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥ ६५ ॥
 स्वप्ने मार्जारिगोमायु-व्यालान् सनकुलान् कपीन् ।
 प्रायः पश्यति नद्यादोन् शुष्कांश्च सवनस्पतीन् ॥

गङ्गाधरः—देवदार्वित्यादि । चतुष्पदानां गवादीनां सर्पादिदष्टानां
 साव्वेकार्मिकः पानालेपनसेकादिषु सर्वकर्मस्वयमगदः ॥ ६४ ॥

गङ्गाधरः—अथ वैरोधिकयोगमाह—सौभाग्यार्थमित्यादि । स्त्रियो मन्द-
 बुद्धय एव सौभाग्यार्थं वशीकरणाद्यर्थं स्वेदादीन् मलान्नमिश्रितान् प्रयच्छन्ति
 शत्रुप्रयुक्तान् गरान् शत्रूभिः सौभाग्यकरमिदमित्युक्त्वा दत्तान् गरान् स्त्रियः
 प्रयच्छन्ति । भुक्तैस्तैः पुरुषस्यास्य पाण्डादिरुपजायते । एवंविधस्य चान्यस्य
 व्याधेर्लिङ्गानि भुक्तं तन्मलादिकं दर्शयेत् ॥ ६५ ॥

गङ्गाधरः—स पुमान् स्वप्ने प्रायो मार्जारादीन् पश्यति । नद्यादीन्
 जलाशयान् शुष्कान् प्रायः स्वप्ने पश्यति । वनस्पतींश्च शुष्कान् प्रायः

चक्रपाणिः—भक्षमिश्रितानिति भक्ष्यमिश्रितान् । गरश्चास्योपजायत इति वक्ष्यमाणमर्म-
 प्रधमनादिलक्षणो व्याधिर्जायते ॥ ६४।६५ ॥

कालश्च गौरमात्मानं स्वप्ने गौरश्च कालकम् ।
 विकर्णनासिकं वापि प्रपश्येदहतेन्द्रियः ॥
 तमवेक्ष्य भिषक् प्राज्ञः पृच्छेत् किं कैः कदा सह ।
 जग्धमित्यवगम्याशु प्रदद्याद् वमनं बुधः ॥
 सूक्ष्मं ताम्ररजश्चास्मै सन्नौद्रं हृदविशोधनम् ।
 शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत् ॥
 हेम सर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति ।
 न सज्जते हेमपाङ्गे विषं पद्मदलेऽम्बुवत् ॥ ६६ ॥
 नागदन्तीत्रिवृदन्ती-द्रवन्तीस्नुक्पयःफलैः ।
 साधितं माहिषं सर्पिर्गोमूत्राढकपाचितम् ॥
 सर्पकोटविषार्त्तानामौषधश्च प्रशान्तये ॥ ६७ ॥

स्वप्ने पश्यति । कालः कृष्णवर्णः पुमान् स्वप्ने प्राय आत्मानं स्वं गौरं
 पश्यति, गौरश्च पुमान् स्वप्ने आत्मानं कालकं कृष्णवर्णं पश्यति । एवमहतेन्द्रियः
 स पुमान् स्वप्ने प्राय आत्मानं विकर्णनासिकं वा प्रपश्येत् । भिषक्
 प्राज्ञस्तमवेक्ष्य पृच्छेत्—भोः कदा कैः सह किं भवता जग्धम् ? इति । ततस्तदव-
 गम्य बुध आशु वमनं प्रदद्यात् । वमनन्तु सूक्ष्मं ताम्ररजः सन्नौद्रं हृद-
 विशोधनं प्रदद्यात् । हृदि शुद्धे सति हेमचूर्णस्य शाणं दापयेत् । कस्मात् ?
 यस्मात् हेम स्वर्णं सर्वविषाणि गरांश्चाशु नियच्छति । यतो हेमपस्याङ्गे विषं न
 सज्जते पद्मदलेऽम्बुवदिति ॥ ६६ ॥

गङ्गाधरः—नागदन्तीत्यादि । त्रिधा दन्ती । दीर्घमूला नागदन्ती ह्रस्वमूला
 त्रिवृदन्ती ह्रस्वमूलक्षुद्रवृक्षा द्रवन्ती । स्नुक्पयः । फलं मदनम् । एभिः कल्कैः
 पादिकं गोमूत्राढकपाचितं प्रस्थोन्मितं माहिषं पुराणं सर्पिः सर्पादिविषार्त्तानां
 प्रशान्तये औषधम् ॥ ६७ ॥

विहतेन्द्रिय इति रोगोपहतेन्द्रियः । पृच्छेदित्यादौ पृच्छायां गरावधारणमेव फलमवगम्यते ।
 सूक्ष्ममित्यादौ अमृतताम्रचूर्णं देयम् । अमृतेनैव वमनं भवति । हेमप इति हेम पिबतीति हेमपः ॥ ६६ ॥

चक्रपाणिः—नागदन्ती दन्तीभेदः । फलं मदनफलं न तु फलैरिति पाठः । अयं योगः

शिरीषत्वक् त्रिकटुकं त्रिफला चन्दनोत्पले ।
 द्वे बले सारिवे श्वेता-❀-सुरभीनिम्बपाटलाः ॥
 बन्धुजीवाढकीमूर्ध्वा-वासासुरसवत्सकान् ।
 पाठाङ्कोठाश्वगन्धार्क-मूलयष्टाह्वपद्मकान् ॥
 विशालां बृहतीं द्राक्षां कोविदारं शतावरीम् ।
 कटभीदन्तापामार्ग-पृश्निपर्णीरसाञ्जनम् ॥
 श्वेतौ † बालाश्वखुरकौ कुष्ठदारुप्रियङ्गुकान् ।
 विदारीं मधूकात् सारं करञ्जस्य फलत्वचौ ॥
 रजन्यौ लोध्रमक्षांशं पिष्ट्वा साध्यं घृताढकम् ।
 तुल्याम्बुच्छागगोभूत्र-त्राढके तद्विषापहम् ॥
 अपस्मारज्वरोन्माद-भूतग्रहगरोदरम् ।
 पाण्डुरोगान् क्रिमोन् गुल्मान् प्रीहोरुस्तम्भकामलाः ॥

गङ्गाधरः—शिरीषेत्यादि । द्वे बले द्वे च सारिवे । श्वेता श्वेतापराजिता । सुरभी
 सुगन्धा गन्धरास्त्रा । श्वेतौ श्वेतवर्णौ द्वौ बालाश्वस्य खुरकौ । मधूकात् सारं
 मधूकवृक्षस्य सारभूतकाष्ठम् । करञ्जस्य गोकर्ञ्जस्य फलश्च त्वक् च । एषामक्षांशं
 पिष्ट्वा घृताढकं षोडशशरावं घृतं तुल्याम्बु षोडशशरावजलं छागमूत्रसार्द्धाढकं
 गोमूत्रसार्द्धाढकमिति त्राढके छागगवयोर्मूत्रे चतुर्गुणद्वये साध्यं तद् घृतं विषा-
 पहम् । अमृतं घृतम् । अथात्र क्षारागद इति यत् प्राग्विहितं तत् तन्त्रान्तरोक्तमनु-
 मतम् । तदुक्तं सुश्रुते । “धवाश्वकर्णतिनिशपलाशपिचुमर्दपाटलिपारिभद्रकाम्रो-
 दुम्बरकरहाटकककुभसज्जं--कपीतनश्लेष्मातकाङ्कोटकामलक-प्रग्रहकुटज शमी-
 कपित्थाश्मान्तकार्कचिरविल्वमहावृक्षारुक्कारारलुमधुकमधुशिग्रशाकगोजीमूर्ध्वा-
 तिल्वकेक्षुरकगोपघण्टारिगेदानां भस्मान्याहृत्य गवां मूत्रेण क्षारकल्पेन
 परिस्ताव्य विपचेत् । दद्याच्चात्र पिप्पलीमूलतडुलीयक-वराङ्गचोचकमञ्जिष्ठा-
 जतुकण पच्यते । नागदन्ती लिबृदन्ती द्रवन्ती स्नुक्क्षीरफलं गोमूत्रसिद्धं माहिषं घृतं पायये-
 दिति ॥ ६७ ॥

हनुस्तम्भग्रहादींश्च पानाभ्यञ्जननावनैः ।

हन्यात् सञ्जोवयेच्चाशु विषोद्रे गमृतान् नरान् ।

नाम्नैतदमृतं सर्व-विषाणां स्याद् घृतोत्तमम् ॥ ६८ ॥

अमृतं घृतम् ।

तत्र श्लोकाः ।

छत्रो भृशरपाणिश्च चरेद् रात्रौ तथा दिवा ।

तच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यन्ति हि पन्नगाः ॥ ६९ ॥

दष्टमात्रो दशेदाशु तं सर्पं लोष्ट्रमेव च ।

उपय्यरिष्टान् बध्नीयाद् दंशं छित्वा दहेत वा ॥

करञ्जिकाहस्तिपिप्पलीपरिचोत्पलसारिवाविडङ्गगृहधूमानन्तासोमसरलावाहीक-
गुहाकोशाम्रञ्जैतसर्पपवरुणलवण-पुष्पनिचुलक वर्द्धमान वज्जुलपुत्रश्रेणीसप्तपर्ण-
दण्डकैलबालुकानागदन्त्यतिविषाभयाभद्रदारुण्डहरिद्रावचाचूर्णानि लोहा-
नाश्च समभागानि ; ततः क्षारचदागतपाकभवतार्य लौहकुम्भे निदध्यात् । अनेन
दुन्दुभिं लिम्पेत् पताकातोरणानि च । श्रवणाद् दर्शनात् स्पर्शात् विषात्
सम्प्रतिष्ठुच्यते । एष क्षारागदो नाम शर्करास्वश्मरीषु च । अर्गः सु वात-
गुल्मेषु कासशूलोदरेषु च । अजीर्णं ग्रहणीदोषे भक्तद्वेषे च दारुणे । शोफे
सर्व्वसरे चापि देयः श्वासे च दारुणे । एष सर्व्वविषाक्तानां सर्व्वथैवोपयुज्यते ।
तथा तक्षकमुख्यानामयं दर्पाङ्क शोऽगदः ।" क्षारागदः ॥ ६८ ॥

गङ्गाधरः—तत्र श्लोका इति । छत्रीत्मादि । पुमान् रात्रौ च दिवा च
छत्रपाणिः झर्झरशब्दकृद्गस्तुपाणिश्च सन् विचरेत् । कस्मात् ? यदि चाहस्यस्थाने
पथि सन्निकटे पन्नगा वर्त्तन्ते तेषां दंशसम्भवे ते पन्नगा हि यस्मात् तच्छत्रच्छाया-
झर्झरशब्दाभ्यां वित्रस्ताः सन्तो हि प्रणश्यन्ति दंशार्थोद्यमभङ्गाः स्युरिति ॥ ६९ ॥

गङ्गाधरः—यदेवं न चरेत् तदा चेत् सर्पो दशेत् तत्प्रतिकारमाह—
दष्टमात्र इत्यादि । दष्टमात्रो नरस्तं यदि साहसेन ग्रहीतुं शक्नोति तदाशु दशेत् ।

चक्रपाणिः—शिरीषत्वगित्यादौ आस्फोता अफरमल्लिका । सुरभी पर्णासभेदः । बन्धुजीवः
पुत्तजीवकः । खुरकः रुन्दनः किंवा कोकिलाक्षः ॥ ६८ ॥

चक्रपाणिः—छत्रीत्यादौ छत्री दिवा रात्रौ झर्झरपाणिश्चरेदिति वदन्ति । झर्झरिकः सुरसुखुर
इति ख्यातः । छायाशब्देः यथासंख्यं वित्रस्ताः ॥ ६९ ॥

वज्रं मरकतः सारः पिचुको विषमुष्टिका ।

कर्कोटकं सर्पमणिवैदूर्य्य गजमौक्तिकम् ॥

धार्य्यं वरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः ।

खगाश्च सारिकाः क्रौञ्चाः शिखिहंसशुकादयः ॥ ७० ॥]

इतीदमुक्तं द्विविधस्य विस्तरैर्बहुप्रकारैर्विषरोगभेषजम् ।

अधीत्य यः सम्यगिह प्रयोजयेद् व्रजेद्विषाणामविसृज्यतां भिषग् ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते

चिकित्सितस्थाने विषरोगचिकित्सितं नाम

त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

तदक्षत्तस्तु लोष्ट्रं दशेत् । उपरि दंशदेशादुपरि चतुरङ्गुले मन्त्रेणारिष्टां वध्नीयात्,
अरिष्टाबन्धनानर्हदेशे दंशं छित्वा दहेत् वा । वज्रमित्यादि । सर्पादिदंशन-
वारणार्थं वज्रादिकं पुंसा धार्य्यम् । वरमणिश्च धार्य्यः विषापहा वरौषध्यश्च
धार्य्याः । खगाश्च विषापहाः सारिकादयो विषतो रक्षणार्थं सविषान्नविज्ञानाथ
गृहे धार्य्या इति ॥ ७० ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहारेणाह—इतीदमित्यादि । द्विविधस्य स्थावर-
जङ्गमस्य । इति ॥ ७१ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव तु ।

चिकित्सिते विषाणान्तु त्रयोविंशेऽध्याये पुनः । वैद्यगङ्गाधरकृते जल्पकल्पतरौ

ततः । चिकित्सास्थानजल्पे तु षष्ठस्कन्धे विषस्य च । चिकित्सितजल्पो

नाम शाखा त्रयोदशी स्मृता ॥ २३ ॥

इत्यगदतन्त्रम् ॥

चक्रपाणिः—दंशकाले यत् कर्त्तव्यं तदाह—दष्टमात्र इत्यादि । धारणादेव विषापहमाह—
वज्रमित्यादि । सारमिति सबज्रम् । पिचुको मणिरुत्तरापथे प्रसिद्धः । विषमुष्टिका विषमणिः ।
कर्कोटकमणिः पद्मरागः । गरमणिश्चन्द्रेण नानामणीनां ग्रहणम् । वरौषध्य इति तन्त्रान्तरोक्ताः
अक्षीरा-जलपिप्पली-अजहहा-काकोलीप्रभृतयः । इतीदमित्यादिसंग्रहः । व्रजेद्विषाणांमिति
विषाणि सोढुं पारयन्तीति भावः ॥ ७० । ७१ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां

चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानध्याख्यायां विषचिकित्सितं

नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः ।

अथातो मदात्ययचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

सुरः सुरेशसहितैर्या पुरा प्रतिपूजिता ।

सौत्रामण्यां हूयते या कर्मभिर्या प्रतिष्ठिता ॥

यज्ञे हि या च शक्रस्य सोमोऽतिपतितो यया ।

नीरजस्तमसाविष्टस्तस्माद् दुर्गात् समुद्धृतः ॥

विधिभिर्वेदविहितैर्येज्यन्ते महात्मभिः ।

दृश्या स्पृश्या प्रकल्प्या च यज्ञे या यज्ञसिद्ध्ये ॥

गङ्गाधरः—उद्दिष्टक्रमाद् विषतुल्यगुणत्वाच्चानन्तरं मद्यविकारचिकित्सित-
माह—अथात इत्यादि । पूर्ववत् सर्वं व्याख्येयम् । मद्यविकारविशेषमदात्यय-
चिकित्सितमधिकृत्य कृतोऽध्याय इति मदात्ययचिकित्सितमिति ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—मदात्ययरोगे वाच्ये मद्यस्य गुणादय उच्यन्ते । तद्यथा—
सुरैरित्यादि । इन्द्रसहितः सुरः पुरा या सुरा प्रतिपूजिता । सौत्रामण्या-
मिष्टौ या सुरा हूयते । या कर्मभिर्वेदिकैः प्रतिष्ठिता प्रतिष्ठां गता ।
या च शक्रस्य यज्ञे प्रतिष्ठिता । नीरजोऽब्जः सोमः समुद्रमन्थने जला-
दुत्थितः सोमस्तमसाविष्टोऽतिपतितस्तस्मात् तमस आवेशाद् दुर्गाद् यया
सुरया समुद्धृतः । यया सुरया महात्मभिर्वेदविधिभिरिज्यन्ते । या यज्ञ-
सिद्ध्ये यज्ञे महात्मभिर्दृश्यादृश्यत्वेन प्रकल्प्या, स्पृश्यास्पृश्यत्वेन प्रकल्प्या च,

चक्रपाणिः—मोहजनकत्वसामान्यात् तथा विषसमानगुणजन्यत्वाच्च विषचिकित्सितमनु
मदात्ययस्य चिकित्सितमुच्यते सुरैरित्यादिना । मदिशस्तुत्या तथा वक्ष्यमाणनिन्दया विष-
समानसुरायाः सुतकलनशाश्रय अविधिपानञ्च अत्यर्थनिन्दितफलवत्वं दर्शयति । या सुरा
परिपूजिता इत्यनेन प्रथमं देवैरेवं परिपूजिता ततः सुरयोगात् सुरेति उपदिष्टा इति दर्शयति ।
सौत्रामणिर्यज्ञविशेषः तस्मिन् हूयते, या सुरा कर्मभिः प्रतिष्ठितेति याज्ञिकैः अभिसवनं सुरया
क्रियते इत्युच्यते । सौत्रामणिहोमे तु यत्रैवेयमङ्गमुच्यते शक्रस्य, सोमोऽतिपतित इति शुकस्याति-
पातेन सोमः क्षपितबलो निर्वीर्यो भूतः । स किल पुनरपि अनयापनीतक्षयः आपादि इत्येषा
श्रुतिः । अतिपातेन परीतः अतिपतितः । प्रकल्प्या इत्यभिषोतव्या सन्धानीयेति यावत् ।
यज्ञसिद्ध्य इति यज्ञविधौ कानिचित् यूपबर्ह्यादीनि कानिचित् तु पुरुषार्थानि अङ्गयादीनि कानिचित्

योनिस्संस्कारनामादर्विशेषैर्बहुधा च या ।

भूत्वा भवत्येकविधा सामान्यान्मदलक्षणात् ॥

या देवानमृतं भूत्वा स्वधा भूत्वा पितृंश्च या ।

सोमो भूत्वा द्विजातीन् या युङ्क्ते श्रेयोभिरुत्तमैः ॥

आश्विनं या महत्तेजो वीर्यं सारस्वतश्च या ।

बलमैन्द्रश्च या सिद्धा सोमे सौत्रामणौ च या ॥

शोकारतिभयोद्वेग-नाशिनी या महाबला ।

या प्रीतिर्या रतिर्या वाक् या पुष्टिर्या च निर्वृतिः ॥

या सुरासुरगन्धर्व-यक्षराक्षसमानुषैः ।

रतिः सुरेत्यभिहिता तां सुरां विधिना पिबेत् ॥ २ ॥

योन्यादिविशेषश्च बहुधा या यज्ञे प्रकल्प्या भूत्वापि सामान्यान्मदलक्षणादेक-
विधा भवति । या सुरा खल्वमृतं भूत्वा देवानुत्तमैः श्रेयोभिर्युङ्क्ते । या
च स्वधा पितृयजने कव्यरूपा भूत्वा पितृनुत्तमैः श्रेयोभिर्युङ्क्ते । या सोमो
भूत्वा यज्ञकर्मसूतमैः श्रेयोभिर्द्विजातीन् युङ्क्ते । या सुरा खल्व्वाश्विन-
मश्विनीकुमारयोर्महत्तेजः । या सारस्वतं वीर्यम् । या चैन्द्रं बलम् ।
या सोमे यागे सिद्धा सुरा नाम सौत्रामणियज्ञे या च सिद्धा सुरा नाम ।
या शोकादिनाशिनी महाबला । या प्रीतिप्रभृतिरूपा । या सुरासुरादिभिः
सर्वैरेव रतिः सा सुरेत्यभिहिता, तां सुरां विधिना पिबेदिति ॥ २ ॥

यज्ञार्थानि पुरुषार्थानि यथा सपिष्टकाख्यादीनि तदिह सुरा यज्ञीया इत्यनेन रसनादिवत् पुरुषार्थो
इत्युच्यते । यज्ञसिद्धये भवतीत्यनेन यूपदिवत् यज्ञार्थं सुरा उच्यते । योनीत्यादौ विशेषशब्दः
प्रत्येकमभिसम्बध्यते । योनिः कारणं तद्विशेषाः धान्य-फलपुष्पकाण्डपक्षत्तचः मूलसारशर्करा-
नवम्यः सूतस्थानोक्ताः । संस्कारोऽपि बहुप्रकारसंस्कारयोगः । नामविशेषाः सुरामधुमैरेयादयः ।
आदिग्रहणात् प्रभावगुणादीनां ग्रहणम् । मदो लक्षणं यस्य तस्मात् मदलक्षणात् । सामान्यात्
मद्यस्वरूपात् । अमृतं भूत्वेत्यादौ सुराधिष्ठात्री देवता अमृतादिरूपेण देवादीन् तर्पयतीति
दर्शयति । श्रेयोभिरिति महत्कल्याणैः । आश्विनं यन्महत्तेज इत्यादौ सुराधिष्ठातृदेवताया एव
तेजः वीर्यादिकारणत्वाद्वीर्यं ज्ञेयम् । तेजः सर्वदेवतादिनां तथा सारस्वतं वीर्यं मन्त्रबलं
तथा सौतामण्यां सूयते सोमः इत्यनेन सोमरूपत्वमुच्यते । या प्रीतिरित्यादौ प्रीत्यादिकारणत्वेन
प्रीत्यादिरूपतया निर्देशो ज्ञेयः ॥ १ । २ ॥

शरीरकृतसंस्कारः शुचिरुत्तमगन्धवान् ।
 उद्दामगन्धिभिर्वस्त्रैरमलैर्वा यथानुगैः ॥
 विचित्रविविधस्त्रग्वी रत्नाभरणभूषितः ।
 देवद्विजातीन् संपूज्य स्मृत्वा मङ्गलमुत्तमम् ॥
 देशे यथर्तुके शस्तैः कुसुमप्रकरोकृतैः ।
 संवाससम्मतैः मुख्ये भूपसम्मोदभूषितैः * ॥
 सूपधाने सुसंस्तीर्णे विहिते शयनासने ।
 उपविष्टोऽथवा तिर्यक् स्वशरीरसुखे स्थितः ॥
 सौवर्णे राजतैश्चापि तथा मणिमयैरपि ।
 भाजनैर्विविधैश्चित्रः सुकृतैश्च पिबेत् सदा ॥
 रूपयौवनमत्ताभिः शिञ्जिताभिर्विशेषतः ।
 वस्त्राभरणमाल्यैश्च भूषिताभिर्यथर्तुकैः ॥
 शौचानुरागरक्ताभिः प्रमदाभिरितस्ततः ।
 सञ्चार्यमाणमिष्टाभिः पिबेन्मद्यमनुत्तमम् ॥ ३ ॥
 मद्यानुकूलहरितैः फलैर्हरितकैः शुभैः ।
 लवणगन्धपिशुनरवदंशैर्यथर्तुकैः ॥
 भृष्टैर्मांसैर्बहुविधैः †-भूजलाम्बरचारिणाम् ।
 पौरोगवर्गविहितैर्भक्ष्यैश्च विविधात्मकैः ॥

गङ्गाधरः—विधिमाह—शरीरेत्यादि । यथर्तुके देशे यस्मिन् ऋतौ यो
 देश उपयुज्यते तस्मिन् देशे सदा यदा पातुकामस्तदा पिबेत् । रूपयौवन-
 मत्तादिभिः प्रमदाभिरिष्टाभिरितस्ततः सञ्चार्यमाणं नीयमानमुत्तमं मद्यं
 पिबेत् ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—विधिना पिबेदित्यत्र विधिमाह—शरीरेत्यादि । शरीरे स्नानवस्त्रादिभिर्बोध्यः
 अन्तश्च प्रकृत्याद्यपेक्षया स्निग्धोष्णान्नादिभिः कृतः संस्कारो येन स शरीरकृतसंस्कारः । स्वशरीर-

पिबेत् सम्पूज्य विबुधानां शिषः सम्प्रयुज्य च ।

प्रदाय यजनश्चाग्रे त्वर्थिभ्यः पृथिवीतले ॥ ४ ॥

अभ्यङ्गोत्सादनस्नान-वासोद्वृपानुलेपनैः ।

स्निग्धोष्णैर्भाविताश्चान्यैर्वातिको मद्यमाचरेत् ॥

शीतोपचारैर्विविधैर्मधुरस्निग्धशीतलैः ।

पैत्तिको भाविताश्चान्यैः पिबन् मद्यं न सोदति ॥

उपचारैश्चाशिशिरैर्यवगोधूमभुक् पिबेत् ।

श्लैष्मिको धन्वजैर्मांसैर्मद्यं मारीचकैः सह ॥

कफपित्तात्मकेभ्यश्च माध्वीकं * माधवञ्च यत् ।

बहुद्रवं बहुगुणं बहुकर्म मदात्मकम् ॥

विधिर्वसुमतामेष भविष्यद्विभवाश्च ये ।

यथोपपत्तिकैर्मद्यं पातव्यं मात्रया हितम् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—यैः सह पिबेत् तदाह—पिबेदित्यादि । विबुधान् देवान् सम्पूज्या-
शिषश्च सम्प्रयुज्य पृथिवीतले येषर्थिनस्तेभ्योऽर्थमेव यजनमर्चनं प्रदाय पिबेत् ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—प्रकृतिभेदे विधिमाह—अभ्यङ्गेत्यादि । स्निग्धोष्णैरभ्यङ्गादिभि-
स्तथाऽन्यैरपि स्निग्धोष्णैर्भक्ष्यैर्वातिको जनो मद्यं पिबेत् । शीतोपचारैरित्यादि ।
मधुरस्निग्धशीतवीर्यस्पर्शाभ्यङ्गादिभिस्तथान्यैः पित्तहरैर्भाविताः पैत्तिकः पुरुषो
मद्यं पिबन् न सोदति । उपचाररित्यादि । अशिशिरैरुष्णरूक्षादिभिरभ्यङ्गादिभिः
उपचारैर्धन्वमांसैर्मारीचकैर्मरिचप्रधानैः सह मद्यं यवगोधूमभुक् श्लैष्मिको
नरः पिबेत् । कफेत्यादि । कफपित्तात्मकेभ्यश्च नरेभ्यो हितं तन्मद्यं
यन्माध्वीकं यच्च माधवं बहुद्रवं बहुजलमिश्रितम् । तत् तु बहुगुणं बहुकर्म
पुष्ट्याद्यनेककर्मकरं मदात्मकञ्च । विधिरित्यादि । ये भविष्यद्विभवास्तेषां
यथोपपत्तिकैर्वर्त्तमानविभवानुरूपैर्मात्रया हितं मद्यं पातव्यमिति ॥ ५ ॥

सुखे स्थित इति यथाशरीरसुखं स्थितः । सुकृतैरिति संस्कृतैः । शिक्षिताभिरिति श्रम्यस्ताभिः ।
गन्धपिशुनैरिति गन्धाढ्यैः । पौरोगवर्गा इति अश्विनीबलदेवचण्डा इत्यर्थः, तैः ॥ ३।४ ॥

चक्रपाणिः—सामान्यं विधिमुक्त्वा वातिकादीनां पानविधिमाह—अभ्यङ्गेत्यादि ।
मरिचकैरिति मरिचसंस्कृतैः । वसुमतामिति धनवतां भविष्यद्विभवा उपपद्यमानधनाः ।

* माद्रीकमिति पाठान्तरम् ।

वातिकेभ्यो हितं मद्यं प्रायो गौड़िकपैष्टिकम् ।

गुणैर्दोषैश्च तन्मद्यमुभयञ्चोपलक्ष्यते ॥

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम् ।

प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतं यथा ॥

यथोपेतं पुनर्मद्यं प्रसङ्गाद् येन पीयते ।

रूक्षव्यायामनित्येन विषवद् याति तस्य तत् ॥ ६ ॥

मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरौजसो गुणान् ।

दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ॥

लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्ल-व्यवायाशुगमेव च ।

रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम् ॥

गङ्गाधरः—मद्यविशेषविधानमाह—वातिकेभ्य इत्यादि । वातिकेभ्यो नरेभ्यो हितं गौड़िकं पैष्टिकञ्च मद्यं यत् तदुभयं मद्यमपि गुणैश्च दोषैश्चोपलक्ष्यते । कथं गुणैरुपलक्ष्यते तदाह—विधिनेत्यादि । शरीरकृतसंस्कार इत्यादिना पृथिवीतले इत्यन्तेनोक्तेन विधिना । हितैर्गौड़िकपैष्टिकमद्याविरोधिभि-
रन्नैरिति गुणैरुपलक्ष्यते । कथं दोषैरित्यत आह—यथोपेतमित्यादि । यथा येन प्रकारेण यद् यदा उपेतं मद्यं भवति तत् तथैव मद्यप्रसङ्गादेव येन रूक्ष-
व्यायामनित्येन नरेण पीयते तस्य तन्मद्यं विषवद् याति विषवद्भावमेति ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—मद्यस्य मदनजननप्रकारमाह—मद्यमित्यादि । स्वगुणैर्दशभि-

यथोपपत्तिरिति यथापरिच्छेदोपपत्तिः । कफपित्तत्यादौ विपर्ययतन्त्रयुक्तया कफाधिक्येभ्यः माधवं पित्ताधिक्येभ्यो मार्द्रिकम् । मार्द्रिकं मृद्वीकाकृतं मधुकृतं माधवम् । बहुद्रवमिति नानाविधद्रव्यसम्पादितम् । बहुगुणमिति मूरिवक्ष्यमाणलव्हादिगुणं दोषकरञ्च द्वितीयमद इति भावः । विधिनेति यथोक्तविधिना । काल इति यस्य मद्यस्य य उचितगुणः कालः तस्मिन् । हितैरन्नैरिति मद्यहितैरन्नैः । यथोपेतमिति यदेव मद्यं तत् प्रसङ्गादिति अतियोगेन विषवदिति मोहाद्विकारकर्तृत्वात् ॥ ५ । ६ ॥

चक्रपाणिः—मद्यं यथा मद्यति तथा प्राह—मद्यमिति । दशभिरिति लव्हादिभिर्गुणैः

गुरु शीतं मृदु स्निग्धं मधुरं वहलं स्थिरम् ।

प्रसन्नं पिच्छलं श्लक्ष्णमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥ ७ ॥

गौरवं लाघवात् शैल्यमौष्यादम्लस्वभावतः ।

माधुर्यं माद्वं तैक्ष्ण्यात् प्रसादश्चाशुभावनात् ॥

रौक्ष्यात् स्नेहं व्यवयित्वात् स्थिरत्वं श्लक्ष्णतामपि ।

विकाशिभावात् पैच्छित्यं वैश्यात् सान्द्रतां तथा ।

सौदम्यान्मद्यं निहन्त्येवमोजसः स्वगुणैर्गुणान् ॥ ८ ॥

सत्त्वं तदाश्रयश्चाशु संक्षोभ्य कुरुते मदम् ॥

रसवातादि-मार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम् ।

प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥

रोजसो दश गुणान् संक्षोभ्य चेतो विक्रियां नयति । मद्यस्य दश गुणानाह—
लघूष्णमित्यादि । ओजसो दश गुणानाह—गुर्वित्यादि ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—मद्यं पीतं हृदयमाविश्य येन गुणेनौजसो यं गुणं संक्षोभयति
तदाह—गौरवमित्यादि । मद्यं पीतं हृदयमाविश्य स्वस्य लाघवादोजसो
गौरवं निहन्ति । इत्येवंप्रकारेण स्वगुणैर्मद्यमोजसो गुणान् निहन्ति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—कथं चेतो विक्रियां नयतीत्यत आह—सत्त्वमित्यादि । सत्त्वं
मनस्तदाश्रयं हृदयं चाशु संक्षोभ्य मद्यं मदं कुरुते । कस्मात् ? रसेत्यादि ।
दशानामपि गुणवादीनामोजोगुणानामवस्कन्दनकैः चेतः विक्रियां नयति । येन गुणेन मद्यस्य ओजो
गुणः क्षीणो भवति तदाह—गुरुत्वं लाघवादित्यादि । प्रसादश्चाशुभावनादिति प्रसादाख्यगुणं
आशुगत्वात् हन्ति । आशुगत्वञ्च यद्यपि प्रसादविरुद्धं न भवति तथापि प्रतिकूलतया ओजःप्रसादं
हन्ति । तत्राशुगुणत्वेन प्रसादो नश्यति इति ज्ञेयम् । व्यवयित्वात् स्थिरत्वमिति व्यवयित्वं
व्यापकं तच्च स्थिरत्वं तद्विपरीतत्वादेव हन्ति । आशुगत्वव्यवयित्वयोश्चायं विशेषः—आशुगं
शीघ्रं गच्छति, व्यवयि तु सर्वव्यापकम् । विकासित्वं विकसनशीलत्वं स्थिरत्वादेव । श्लक्ष्ण-
विपरीतत्वात् श्लक्ष्णतां हन्ति, एते विकासित्वाशुगत्वगुणा यद्यपि गुणगणनायां न पठितास्तथाप्य-
संख्येयत्वाद् गुणानाम् एषामपि गुणत्वं सिद्धम् । ये तु तत्र पठितास्ते तावत् सिद्धतमा ज्ञेयाः ॥७॥८॥

चक्रपाणिः—आश्रयोपघातात् आश्रितोपघातो भवतीति दर्शयन्नाह—सत्त्वमित्यादि । सत्त्वस्य
चेत आश्रयः । रसधात्वित्यादि । रसधात्वादिवहानां दशधमनीनां हृदयं स्थानम्, रसबहा एव

अतिपीतेन मदेन विहतैनौजसा च तत् ।

हृदयं विवृतिं याति तत्रस्था ये च धातवः ॥ ६ ॥

ओजस्यविहतै पूर्वो हृदि च प्रतिबाधिते ।

मध्यमो विहतैऽल्पे तु विहतै तूत्तरो मदः ॥

नैवं विघातं कुरुते मद्यं पैष्टिकमोजसः ।

विकाशिरुक्षविशदा गुणास्तत्राति नोल्बणाः ॥ १० ॥

रसादीनां ये मार्गा ये धमन्यस्तेषां सत्वादीनाञ्च तथौजसः सर्व्वधातूनां प्रधानस्य स्थानं हृदयं यस्मादुच्यते, तस्मात् तेषां स्थानस्य संक्षोभान्मदं मद्यं कुरुते । अतिपीतेनेत्यादि । अतिपीतमध्येन खल्वोजोविघातेन हृदयविवृतिर्भवति । तत्र हृदये स्थिता ये च रसवातादिधातवः सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मानश्च विवृतिं यान्ति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—तत्र प्रथमादिमदप्रकारमाह—ओजसीत्यादि । अनतिपीतेन मद्येन खल्वोजसि अविहते हृदयं प्रतिबुद्धं वर्त्तते, तस्मिन् प्रतिबोधिते सति पूर्व्वः प्रथमो मदो भवति । ओजसि अल्पे विहते हृदि च मध्यमप्रतिबोधितं मध्यमो मदः स्यात् । विहते ओजसि हृदि च उत्तरो मदः स्यात् । मद्यविशेषे विघातविशेषमाह—नैवमित्यादि । पैष्टिकं मध्यमोजस एवं विघातं न कुरुते । कस्मात् ? तत्र पैष्टिके मद्ये विकाशित्वादयो गुणा न सन्त्यत्युल्बणास्तस्मान्नैवं विघातं कुरुते ॥ १० ॥

या दश धमन्य उक्तास्ता एव वातादिवहाः । यदुक्तम्—वातपित्तश्लेष्मणां सर्व्वशरीरगाणां स्रोतांस्ययनभूतानि । धात्वादीनान्तु सर्व्वशरीरगाणामपि विशेषेण हृदयं स्थानमुक्तम् । 'षडङ्गमङ्गविज्ञानमिन्द्रियाणान्तु पञ्चगम्' । धातव इति सत्त्वबुद्धीन्द्रियादयः । सत्त्वं विहत्स्वं ओजसो गुणैः गुणानसत्त्वं नयतीत्युत्सर्गं नयति ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—प्रथमं मदमाह—ओजस्यविहते इति हृदयाश्रितबुद्ध्यादौ प्रतिबोधिते । हृदयशब्देन हि तत्स्थोपचाराद् हृदयाश्रिता बुद्ध्यादयोऽभिधीयन्ते । यथा मज्जाः कोशन्तीति न्यायेन बुद्ध्यादिबोधनम् । प्रथममदकार्य्यप्रभावात् मध्यमोत्तममदोपपत्तिसमग्रीमाह—विहत इति ओजसः अल्पे विघाते मध्यमो मदो भवति । विहत इति विशेषेण हते अत्यर्थं हते । उत्तम इति तृतीयः ॥ १० ॥

हृदि मद्यगुणाविष्टे हर्षस्तर्षो रतिः सुखम् ।
 विकाराश्च यथासत्त्वं चित्रा राजसतामसाः ॥
 जायन्ते मोहनिद्रार्त्ता मद्यस्यातिनिषेवणात् ।
 स मद्यविभ्रमो नाम्ना मद इत्यभिधीयते ॥ ११ ॥
 पीयमानस्य मद्यस्य विज्ञातव्यास्त्रयो मदाः ।
 प्रथमो मध्यमोऽल्पश्च लक्षणैस्तान् प्रचक्षते ॥ १२ ॥
 प्रहर्षणः प्रीतिकरः पानान्नगुणदर्शकः ।
 पाठगीतप्रभाष्याणां कथानाश्च प्रवर्त्तकः ॥
 न च बुद्धिस्मृतिहरो विषयेषु न चाक्षमः ।
 सुखं निद्राप्रबोधश्च प्रथमः सुखदो मदः ॥ १३ ॥
 मुहुः स्मृतिर्महुर्मोहो व्यक्ताऽव्यक्ता च वाङ् मुहुः ।
 युक्तयुक्तप्रलापश्च प्रपलायनमेव च ॥

गङ्गाधरः—हृदीत्यादि । हृदि मद्यगुणाविष्टे सति हर्षतर्षरतिसुखानि स्युः ।
 यथासत्त्वं यथा सात्त्विकादिमनस्तथा विकारा मनसो मदरूपा विकारा
 जायन्ते । स मदो नाम्ना मद्यविभ्रम इत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—मद्यमदाः कतिधेत्यत आह—पीयेत्यादि । त्रयो मदास्तत्र
 प्रथम इत्युत्तमः ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—एषां लक्षणमाह—प्रहर्षण इत्यादि । पानान्नगुणदर्शकः यत्
 पीयते यदद्यते तेषां गुणान् दर्शयति न तु लोपयति । इति प्रथमो मदः
 सुखदः ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—हृदीत्यादिना सामान्येन मदलक्षणमाह । तर्षोऽभिलाषः । यथासत्त्वमिति राजसे
 राजसाः तामसे तामसाः । चित्रा इति नानाप्रकाराः । मोहनिद्रान्ता इति मोहनिद्राव-
 सानाः ॥ ११ । १२ ॥

चक्रपाणिः—प्रथमादिमदानां लक्षणमाह—प्रहर्षण इत्यादि । पानान्नगुणदर्शक इति पानान्न-
 गुणान् बोधयतीत्यर्थः । विषयेषु तु विषयसेवासु । न चाक्षमः नासमर्थकर इत्यर्थः ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—युक्तयुक्तप्रलाप इति संज्ञासंज्ञिवचनः । प्रपलायनं घूर्णनम् । योजना

स्थानपानान्नसंकथ्य-योजनाः सविपर्ययाः ।

लिङ्गान्येतानि जानीयादाविष्टे मध्यमे मदे ॥ १४ ॥

मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमप्राप्य चोत्तरम् ।

न किञ्चिन्नाशुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः ॥

को मदं तादृशं विद्वानुन्मादमिव दारुणम् ।

कुर्यादध्वानमासन्नं * बहुदोषमिवाध्वगः ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—मध्यममदमाह—मुहुरित्यादि । स्थानं पानमन्नं संकथ्य परस्परभाष्यं यत् तेषां क्षणं योजनाश्च भवन्ति, क्षणं तेषां विपर्ययाश्च भवन्ति । मध्यमे मदे लिङ्गान्येतानि भवन्ति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अथात्र मध्यमोत्तरयोर्मदयोः सन्धौ मदे लक्षणमाह—मध्यम-मित्यादि । राजसतामसा नरा मध्यमं मदमुत्क्रम्य उत्तीर्य तृतीयमुत्तरं मदश्चाप्राप्य किञ्चिच्छुभं कर्म न कुर्युः किञ्चिदशुभं न कुर्युरेवं भवति । शुभाशुभकम्मवर्जं स्यात् । उन्मादमिव दारुणं तादृशं शुभाशुभाकारिणं मदं को जनः कुर्यात् ? कोऽपि न कुर्यात् । अध्वगो जनः को बहुदोषमध्वानमासन्नं कुर्यादिति विदिति राजसानां तामसानामेव च मध्यमोत्तरमदसन्धौ भवति न तु सात्त्विकानां तथाविधः सन्धिकाले मदो भवति । इमं सन्ध्यवस्थं मदं कश्चित् तृतीयं मदं प्रकल्प्य लक्षणमुक्तवान् । “गच्छेदगम्यां न गुरुंश्च मन्येत् स्वादेद-भक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः । ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतन्त्रः ॥” इति । सुश्रुते तु नैष सन्धिमद उक्तः । “त्रयस्थश्च मदो ज्ञेयः पूर्वो मध्योऽथ पश्चिमः । पूर्ववोर्यरतिप्रीति-हर्षभाष्यादिवर्द्धनम् । प्रलापो मध्यमे हर्षो युक्तायुक्ता क्रिया तथा । विसंज्ञः पश्चिमे शेते नष्टकर्मक्रियागुणः ॥” इति ॥ १५ ॥ सविपर्ययेति स्थानादीनां सम्यग् योजना कदाचिद् भवति, कदाचिच्च स्थानादियोजनाऽसम्यक्तया भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—मध्यममदमित्युत्तवा मद्यस्य त्रिविधो मद उक्तः । तथापि द्वितीयमदावसाने तृतीयमदाप्राप्यवस्थायामेव अत्यन्तनिन्दितां दर्शयन् तृतीयमदस्य अत्यन्तनिन्दितां दर्शयति । येन यस्य तृतीयमदस्य पूर्वरूपावस्थैव स्वर्वाशुभकरणादिहेतुतया नितान्तं निन्द्या इत्यर्थः । इयञ्च मध्यमदातिक्रमात् तृतीयमदप्राप्यवस्थामभिधाय परमार्थतः चतुर्थमदावस्थानुमिता भवति । अस्वन्तं अशोभनान्तम् ॥ १५ ॥

तृतीयन्तु मदं प्राप्य भग्नदार्विव निष्क्रियः ।
 बहुमोहावृतमना जीवन्नपि मृतैः समः ॥
 रमणीयान् स विषयान् न वेत्ति न सुहृज्जनम् ।
 यदर्थं पीयते मद्यं रतिं ताश्च न विन्दति ॥
 कार्याकार्यं सुखं दुःखं यच्च लोके हिताहितम् ।
 यदवस्थो न जानाति कोऽवस्थां तां व्रजेद् बुधः ॥
 स दूष्यः सर्वभूतानां निन्द्यश्चासह्य एव च ।
 व्यसनित्वादुदर्कं च स दुःखं व्याधिमश्नुते ॥ १६ ॥
 प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत् परम् ।
 मनःसमाधौ तत् सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम् ॥ १७ ॥
 मदेन मनसश्चास्य संक्षोभः क्रियते महान् ।
 महामारुतवेगेन तटस्थस्येव शाखिनः ॥

गङ्गाधरः—तृतीयमदलक्षणमाह—तृतीयन्त्वित्यादि । जीवन्नपि मृतैः समो विसंज्ञः स रमणीयान् विषयान् न वेत्ति न च सुहृज्जनं वेत्ति । यदर्थं मद्यं पीयते ताश्च रतिं न विन्दति । यदवस्थः सन् नरो न कार्याकार्यादिकं जानाति तामवस्थां को बुधो व्रजेत् । स तदवस्थां गतो नरो दूष्यः सर्वभूतानां निन्द्यश्चासह्यश्च । कस्मात् ? व्यसनित्वात् । “व्यसनं ह्रीवलिङ्गं स्याद्व्यापत्तौ काम-कोपजे । दोषे भ्रंशे च” इति । उदर्कं उत्तरकाले स दुःखं व्याधिमश्नुते ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—इह प्रेत्य च मोक्षे च यत् श्रेयस्तत् सर्वं सर्वदेहिनां मनः-समाधावायत्तं युक्ते मद्ये तु मनःसमाधिर्भवतीति भावः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—तृतीयमदकृन्मद्यपानदोषमाह—मदेनैत्यादि । मदेनान्ति-पीतेन पीतवतोऽस्य मनसो महान् संक्षोभः क्रियते । यथा तटस्थस्य शाखिनः

चक्रपाणिः—भग्नदार्विति भग्नवृक्ष इव पतितस्तिष्ठति । उदर्कं उत्तरकालः । स दुःखं व्याधि-मिति मदात्ययम् ॥ १६ ॥

चक्रपाणिः—प्रेत्य चेहेत्यादिना प्रेत्येति ज्ञःमांतरे । तटस्थस्येति वचनेन वातोऽक्षेप्यतां दर्शयति ।

मद्यप्रसङ्गं तं ज्ञात्वा महादोषं महागदम् ।
 सुखमित्यधिगच्छन्ति रजोमोहपराजिताः ॥
 मद्योपहतविज्ञानाद् विमुक्ताः सात्त्विकैर्गुणैः ।
 श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धा मद्यलालसाः ॥ १८ ॥
 मदेऽपि मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रितः ।
 सोन्मादमदमूर्च्छाद्याः सापस्मारापतानकाः ॥
 यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्ततः सर्व्वमसाधुवत् ।
 इत्येवं मद्यदोषज्ञा मद्यं निन्दन्ति तत्त्वतः ॥ १९ ॥
 सत्यमेतै महादोषा मद्यस्योक्ता न संशयः ।
 अहितस्यातिमात्रस्य पीतस्यातो * विवर्जितम् ॥
 किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम् ।
 अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथामृतम् ॥ २० ॥

महामास्तवेगेन महान् संक्षोभः क्रियते । तं मद्यप्रसङ्गं तृतीयमदासक्तिं महा-
 दोषं महागदं ज्ञात्वापि रजोमोहपराजिता नराः सुखमिति मत्वाऽधिगच्छन्ति ।
 सात्त्विकैर्गुणैर्विमुक्ता रजोमोहपराजिता मद्योपहतविज्ञानात् तृतीयमदेनान्धा
 मदान्धा मद्यलालसाः श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते विप्रयोगवन्तः स्युः ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—मद्य इत्यादि । मद्ये मोहादिः संश्रितः । सोन्मादमदादयश्च
 मद्ये संश्रिताः । यत्र मद्ये स्वस्वेको मुख्यः स्मृतिविभ्रंशस्ततः सर्व्वमन्यन्मद्ये
 ऽसाधुवदिति । इत्येवं मद्यदोषज्ञा मद्यं निन्दन्ति तत्त्वतः ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—सत्यञ्चैते महादोषा मद्यदोषज्ञै रसंशयं मद्यस्योक्ताः । अतिमात्रस्य
 मद्यस्य पीतस्याहितस्य विवर्ज्जनमत इष्टम् । किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं

मद्यमित्यादिना स्वमतमाह—एते दोषा मद्यस्य अहितादिधर्मयुक्तस्यैव भवन्ति न विपरीतस्यैति
 भावः । विधिवर्जितमिति क्रियाविशेषणम् । मद्यस्य विधिवदुपयोगे गुणवत्तां अविध्युप-
 योगे च दोषवत्तामाह—क्रित्वित्यादि । अयुक्तियुक्तमित्यविधिप्रयुक्तम् । उभयथा देशकालमात्रा-
 पेक्षया नपेक्षया योजनया उक्तं शुभमशुभञ्च कार्य्यकरं भवति ॥ १७—२० ॥

प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून् ।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम् ॥ २१ ॥
हर्षमूर्जो मुदं पुष्टिमारोग्यं पौरुषं बलम् ।
युक्त्या पातं करोत्याशु मद्यं मदसुखप्रदम् ॥
रोचनं दोषनं हृद्यं स्वरवर्णप्रसादनम् ।
प्रोणनं वृंहणं बल्यं भयशोकश्रमापहम् ॥
स्वापनं नष्टनिद्राणां मूकानां वाग्विशोधनम् ।
बोधनञ्चातिनिद्राणां विबन्धानां विबन्धनुत् ॥
बधबन्धपरिक्लेश-दुःखानाञ्चाप्यबोधनम् ।
मद्योत्थानाञ्च रोगाणां मद्यमेव प्रबाधकम् ॥

तथा स्मृतम् । कथमित्यत आह—अयुक्तीत्यादि । यथान्नमयुक्तियुक्त
रोगाय भवति, युक्तियुक्तं तदन्नं यथामृतं तथा भवति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—तथा कथं स्यादित्यत आह—प्राणा इत्यादि । यथा प्राण-
भृतामन्नं प्राणाः प्राणहेतुः । आयुष्टं तमितिवत् । तदन्नमयुक्त्या युक्तमसून्
निहन्ति । तर्हि विषतुल्यगुणं मद्यं कथमन्नवद् भवतीत्यत आह—प्राणा
इत्यादि । प्राणहरश्च विषं यत् तच्च युक्तियुक्तं रसायनं भवति ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—हर्षमित्यादि । यथा विषं युक्तियुक्त्या रसायनं तथा युक्त्या

चक्रपाणिः—तच्च शुभाशुभकार्यमाह—प्राणा इत्यादि । प्राणहेतुत्वात् प्राणाः । तदयुक्त्येति
अतिमात्रत्वादिना । युक्तियुक्तं रसायनमिति यथा 'विषस्य तु तिलं दद्यात्' इति रसायनप्रयोगे
तिलस्य रसायनत्वं ज्ञेयम् ॥ २१ ॥

चक्रपाणिः—विधिषीतमद्यगुणानाह—हर्षमूर्जं इत्यादि । हर्षं उत्साहकं शारीरम् । मुदमिति
मनःसन्तोषम् । पौरुषमिति शुक्रम् । आश्वितिवचनात् शीघ्रं हर्षादीनि करोति, न परिणाम-
क्रियामपेक्षते । मदसुखमिति सुखप्रदमदम्, प्रथमं मदमिति यावत् । अन्ये तु मदसुखप्रदा-
मिति पठन्ति । तेषांपि मदसुखं प्रथममदारम्भ एव । रोचनमित्यादिना मद्यगुणानाह—स्वापनं
नष्टनिद्राणां तथा बोधनञ्चातिनिद्राणामिति कार्यद्वयकारकम् । निद्राकरत्वप्रभावादेव,
किंवा नष्टनिद्राणां निद्राभिघातहेतुचिन्तनादिविस्मारकतया निद्राकरं भवति । अतिनिद्राणां
निद्राहेतुमनोबहस्रोतोरोगादिहन्तृतया प्रबोधकं भवतीति ज्ञेयम् । 'मद्योत्थानाञ्च रोगाणां मद्यमेव

रतिर्विषयसंयोगे प्रीतिसम्भोगवर्द्धनम् ।

अपि प्रवयसां मद्यमुत्सवामोदकारकम् ॥ २२ ॥

पञ्चस्वर्थेषु काम्येषु या रतिः प्रथमे मदे ।

यूनां वा स्थविराणां वा तस्य नास्त्युपमा भुवि ॥

बहुदुःखक्षतस्यास्य शोकैरुपहतस्य च ।

विश्रामो जीवलोकस्य मद्यं युक्त्या निषेवितम् ॥ २३ ॥

अन्नपानवयोव्याधि-बलकालत्रिकाणि षट् ।

ना दोषान् त्रिविधं सत्त्वं ज्ञात्वा मद्यं पिबेत् सदा ॥

एषां त्रिकाणामष्टानां योजना युक्तिरिष्यते ।

यया युक्त्या पिबन्मद्यं मद्यदोषैर्न युज्यते ॥

पीतं मद्यं हर्षादिकं करोति, तथाश्च मदमुखमदादि भवति । प्रवयसां यूनाम् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—पञ्चस्वर्थेषु शब्दादिषु यूनां वृद्धतमानां वा प्रथमे मद या रतिस्तस्या रतेरुपमा भुवि नास्ति । युक्त्या निषेवितं मद्यं बहुदुःखक्षतादे-
र्नरस्य विश्रामः ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—मद्यपाने का पुनर्युक्तिर्भवतीत्यत आह—अन्नेत्यादि । ना मद्यं पिपासुः पुमानन्नादीनष्टौ त्रिकान् ज्ञात्वा मद्यं पिबेत् । मद्यपानेऽष्टानां त्रिकाणां योजना युक्तिरिष्यते । त्रीण्यन्नानि अशितखादितलीढानि पार्थिवा-
प्यतैजसानि गुरुलघुमिश्राणि शीतोष्णमिश्राणीत्येवमादीनि । तथा त्रीणि प्रबाधकम् इति हेतुविपरीतार्थकारिताप्रभावाद् इत्यर्थः । रतिर्विषयसंयोगे प्रीतिसंयोगवर्द्धनमिति विषयाणां शब्दादीनां संयोगे प्रीतिं संयोगश्च वर्द्धयति । पीतमद्यः यदा विषयैः शब्दादिभिः संयुज्यते तदा तेष्वपि प्रीतिमान् भवति । प्रीतश्च सुखाकाङ्क्षी सन् पुनस्तेन संयुज्यते । प्रवयसामिति वृद्धानाम् । उत्सवः औत्सुक्यम् । आमोदो हर्षः ॥ २२ ॥

चक्रपाणिः—ननु विषयः स्वभावादेव प्रीतये भवति । तत् किं मद्येन तत् क्रियते इति आशङ्क्य प्रथममदस्य विशिष्टरतिकर्तृत्वमाह—पञ्चस्वित्यादि । रतिश्चह अत्यर्थसुखजनकत्वात् । विश्राम इति दुःखादिशमहेतुः । जीवलोक इति जीवमानलोकः ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—युक्त्या निषेधितमित्यसोक्तां मद्यपाने युक्तिमाह—अन्नपानेत्यादि । तन्नान्नं त्रिविधं वातपित्तकफकरम् । एवं पानमपि त्रिविधम् । बाह्यादिभेदाद् वयोऽपि त्रिविधम् । व्याधिरपि

मद्यस्य च गुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते ।

धर्मार्थयोरपीडायै नरः सत्त्वगुणोत्थितः ॥ २४ ॥

सत्त्वानि तु प्रबुध्यन्ते प्रायशः प्रथमे मदे ।

द्वितीये व्यक्ता यांति मध्ये चोत्तरमध्ययोः ॥

सत्त्वसम्बोधकं हर्ष-मोहप्रकृतिदर्शकम् ।

हुताश इव भूतानां मद्यन्तूभयकारकम् ॥

पानानि पार्थिवाप्यतैजसानि । तत्र पार्थिवमिक्षरसादि । आप्यं क्षीरजलादि । तैजसं घृतादि । वयांसि त्रीणि प्रथममध्यमवार्द्धक्यानि । व्याधयस्त्रयः वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकाः । त्रीणि बलानि प्रवरमध्यमावराणि । त्रयः कालाः शीतोष्णवर्षलक्षणाः । इति त्रिकाणि षट् । त्रीन् दोषान् वातादीन् त्रिविधं सत्त्वं मनः सात्त्विकं राजसं तामसञ्चेत्यष्टौ त्रिकाणि भवन्ति । एषां योजना युक्तिर्यथा युक्त्या मद्यं पिवन् मद्यपानदोषेन सत्त्वगुणान्वितो नरः पुमान् युज्यते । ये मद्यस्य गुणा उक्तास्तान् मद्यगुणांश्च तथा युक्त्या युक्तं मद्यं पिवन्नश्नुते धर्मार्थयोरपीडायै च भवति ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—सत्त्वानीत्यादि । प्रथमे मदे प्रायशः सत्त्वानि मनांसि प्रबुध्यन्ते । द्वितीये मध्यमे मदे सत्त्वानि व्यक्ता यांति । उत्तरमध्ययोर्मदयोर्मध्ये सन्धौ च शेषे च व्यक्ता सत्त्वानि यांति । कथं सत्त्वानि प्रबुध्यन्त इत्यत आह— सत्त्वेत्यादि । सर्वभूतानां हुताश इव मद्यन्तु सत्त्वसम्बोधकं सात्त्वादिमनः- मृदुमध्यतीव्रभेदेन त्रिविधः, किंवा सौम्याग्नेयवायव्यभेदेन त्रिविधः । बलं प्रवरावरमध्य- भेदात् त्रिविधम् । कालस्तु शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रिविधः । त्रिविधं सत्त्वं शुद्धं राजसं तामसञ्च । योजनेति सम्यग् योजनारूपा । सम्यग् युक्तिमवधारयति—यथा युक्तेत्यादिना । सत्त्वगुणोच्छिन्नः समश्नुते इति योज्यम् । तत्र वातापेक्षया युक्तिः, यथा—वातहरमन्नमुपयुज्य वातहरं मद्यं पेयम्, एवं पित्तहरकफहरत्वेऽपि पित्तकफहरान्नोपयोगे तद्वरं मद्यं योज्यम् । एवं पानाद्यपेक्षयापि योजना व्याख्याता भवति । बाह्ये स्थविरे चातीक्ष्णं मध्यं यौवने तीक्ष्णम् । सम्प्रति व्याध्य- पेक्षयापि योजना । यथा मृदुव्याधौ तीक्ष्णोष्णं, उष्णे च शीतमधुरं वर्षाकाले तु स्निग्धं दीपनञ्च मद्यम् । दोषभेदेन तु मद्यं वाते स्निग्धोष्णं गौडिकादि, पित्ते शीतमधुरं शार्करादि, कफे रुक्षं माधवादि । उक्तं हि 'वातिकेभ्यो हितं मद्यं प्रायो गौडिकपैष्टिकम् । कफपित्ताधिकेभ्यस्तु मद्यं माधवशार्करम्' इति । दोषग्रहणेनैव वातलादिप्रकृतिरपि गृहीता । सत्त्वभेदेनापि सात्त्विकेन तीक्ष्णं राजसतामसैर्मध्यमल्पञ्च ॥ २४ ॥

चक्रपाणिः—सत्त्वानीति मनांसि । अव्यक्तामीषद्व्यक्तां मध्ये चाव्यक्तां याति । उत्तमे

प्रधानावरमध्यानां रुक्माणां व्यक्तिदर्शकः ।

यथाग्निरेव सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम् ॥ २५ ॥

सुगन्धिमाल्यगन्धर्वा सुप्रणीतमनाकुलम् ।

मिष्टान्नपानविशदं सदा मधुरसंकथम् ॥

सुखप्रपानं सुमदं हर्षप्रीतिविवर्द्धनम् ।

स्वर्तु * सात्त्विकमापानं न चोत्तरमदप्रदम् ॥

वैगुण्यं सहसा यान्ति मद्ययोगात् † न सात्त्विकाः ।

सहसा न च गृह्णाति मदः सत्त्वबलाधिकम् ॥ २६ ॥

सम्बोधकं हर्षमोहप्रकृतिदर्शकञ्चेत्युभयकारकम् । कथं हुताश इव मद्यमित्यत आह—प्रधानेत्यादि । अग्निरेव यथा रुक्माणां स्वर्णानां प्रधानादीनां त्रिविधानां व्यक्तिदर्शकः स्वर्णमग्नौ क्षिप्तं दग्धं सदुत्तमं मध्यममधमञ्चाग्निरेव दर्शयति, तथा मद्यं पीतं सत्त्वानां सात्त्विकराजसतामसानां प्रकृतिदर्शकमिति ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—यथोत्तरं मदं न प्राप्नोति मद्यपः सात्त्विकादिभेदेन तदाह—सुगन्धीत्यादि । तत् सात्त्विकमापानं मद्यस्य यन्न चोत्तरमदप्रदं सुगन्धि यत् माल्यगन्धैर्वा युक्तं सुप्रणीतादिकञ्च यद् भवति, सुप्रणीतं मन्त्रसंस्कृतम् । मिष्टैर्मधुरैरन्नैः पानैश्च विशदं निर्मलम् । मधुरसंकथं परस्परं मधुरं मनोजमालापं कुर्वन्ति यत्र । स्वर्तु स्वस्य ऋतुर्यत्र तत् आपानम् । सात्त्विका हि नरा मद्ययोगात् सहसा वगुण्यं मनोवैगुण्यं न यान्ति । सत्त्वबलाधिकं नरं मद्यं न षड्रसान् गृह्णाति । द्विकर्मकोऽयं ग्रहिः ॥ २६ ॥

तु सर्वथापि अव्यक्तं भवतीति भावः । केचित् तु 'सत्त्वसम्बोधकं हर्ष' इत्यादिकं पठन्ति । प्रकृतिदर्शको हुताशो यथा सुवर्णस्य शुद्धाशुद्धतां दर्शयति मद्यं तथाकारकमिति मनःप्रबोधकं मनोगुणादर्शकञ्च । रुक्माणामिति हेमरूपाणाम् । व्यक्तिदर्शक इति आकारदर्शकः ॥ २५ ॥

चक्रपाणिः—सात्त्विकादिभेदेन पानं त्रिविधमाह—सुगन्धीत्यादि । शोभनो गन्धो यस्य तत् सुगन्धि । स्वन्तमिति स्वतन्त्रम् । न चोत्तममदप्रदमिति नोत्तममदकरम् । कदाचिदपि मद्यपानात् द्वितीयमदाशङ्क न भवति । उत्तममदः सात्त्विके न भवतीत्यर्थः । उत्तममदाप्राप्तौ हेतुमाह—वैगुण्यमित्यादि । सत्त्वयोगादिति सत्त्वाख्यगुणयोगात् । सत्त्वाख्यो हि गुणः प्रकाशकतया न मोहेनाभिभूयत इति भावः ॥ २६ ॥

* स्वर्तु इत्यत्र स्वन्तं शस्तमिति च पाठो दृश्यते ।

† सत्त्वयोगादिति चक्रसम्मतः पाठः ।

सौम्यासौम्यकथाप्रायं विशदाविशदं क्षणे ।
 चित्रं राजसमापानं प्रायेणाश्वन्तमाकुलम् ।
 हर्षप्रोतिकथोपेतमदुष्टं पानभोजने ॥ २७ ॥
 सम्मोहक्रोधनिद्रान्तमापानं तामसं स्मृतम् ॥ २८ ॥
 आपाने सात्त्विकान् बुद्धा तथा राजसतामसान् ।
 जह्यात् सहान्यैः पीत्वा तु मद्यदोषानुपाश्रुते ॥
 सुखशीलाः सुसम्भाषाः सुमुखाः सम्मताः सताम् ।
 कलासु वाक्यविषया विषयप्रवलाश्च ये ॥
 परस्परविधेया ये येषामैक्यं सुहृत्तया ।
 प्रहर्षप्रीतिमाधुर्यैरापानं वर्द्धयन्ति ते ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—राजसलक्षणमाह—सौम्यासौम्येत्यादि । क्षणे सौम्यकथा
 क्षणेऽसौम्यकथा यत्र तदापानं राजसं द्वितीयमदलक्षणयुक्तं राजसपुरुषस्य
 भवति । प्रायेणाशु शीघ्रमन्तो यस्य तत् । पानभोजने चादुष्टमिति
 राजसलक्षणम् ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—तामसस्य लक्षणमाह—सम्मोहेत्यादि । तामसमापानं मदरूपं
 सम्मोहक्रोधनिद्राभिरन्तमस्य भवति ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—एवं सात्त्विकादिज्ञानप्रयोजनमाह—आपान इत्यादि । मद्यस्य
 आपाने सम्यक्पाने प्रथमादिमदविशेषेण सात्त्विकान् नरान् तथा राजसान्
 तामसांश्च बुद्धा सात्त्विकादिः स्वेतरौ जह्यात् । कस्मात् ? अन्यैः सह मद्यं
 पीत्वा तु मद्यदोषानुपाश्रुते । सात्त्विको राजसतामसैः सह पीत्वा राजसः,
 सात्त्विकतामसैः सह पीत्वा तामसः, सात्त्विकराजसैः सह पीत्वा मद्यदोषान्

चक्रपाणिः—सौम्यासौम्येत्यादि राजसपानमाह—सौम्यासौम्यकथासम्बन्धान् । विशदावि-
 शदमिति प्रसन्नप्रसन्नम् । चित्रमिति नानाप्रकारकम् । सम्मोहेत्यादिना तामसमाह—क्रोधो
 निद्रा च अन्ते यस्य तत् क्रोधनिद्रान्तम् ॥ २७ । २८ ॥

चक्रपाणिः—यैरित्यनेन राजसतामसाः प्रत्यवमृश्यन्ते, तैरिव समं पिबन् तत्प्रसक्त्या स्वयमपि
 अतिपिबन् माद्यंश्च द्वितीयतृतीयमददोषान् प्राप्नोति । उपादेयान् सात्त्विकान् आह—सुखशीला
 इत्यादि । सुमुखा इति प्रियाः । कलासु विशदाः कलाकुशलाः । आपानं वर्द्धयन्तीति आपाने
 प्रसादं वर्द्धयन्ति न पानप्रसक्तिं वर्द्धयन्तीत्यर्थः । तस्याऽनिन्दितत्वात् ॥ २९ ॥

उत्सवादुत्सवतरं येषाञ्चान्योऽन्यदर्शनम् ।
 ये सहायाः सुखं पाने तैः पिबन् सह मोदते ॥
 रूगन्धरसस्पर्शैः शब्दैश्चाति मनोहरैः ।
 पिबन्ति सुसहाया ये तै व सुकृतिभिः समाः ॥
 पञ्चभिर्विषयैरिष्टैरुपेतैर्मनसः प्रियैः ।
 देशे काले पिबेन्मद्यं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥
 स्थिरसत्त्वशरीरा ये पुराणा मद्यपान्वयाः ।
 बहुमद्योचिता ये च माद्यन्ति सहसा न तै ॥ ३० ॥
 क्षुत्पिपासापरीताश्च दुर्बला वातपैत्तिकाः ।
 रूक्षाल्पप्रमिताहारा विश्रब्धाः सत्त्वदुर्बलाः ॥
 क्रोधिनोऽनुचिताः क्षीणाः परिश्रान्ता मदक्षताः ।
 स्वल्पेनापि मदं शीघ्रं यान्ति मद्येन मानवाः ॥ ३१ ॥

उपाश्रुते । समानैः सह पाने यथा स्यात् तदाह—सुखशीला इत्यादि ।
 ये सुखशीलादयस्ते खल्वापानं वर्द्धयन्ति ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—कस्माद् वर्द्धयन्ति ते इत्यत आह—उत्सवादित्यादि । येषा-
 मन्योऽन्यदर्शनमुत्सवादुत्सवतरं ये च सुखं पाने सहायाः स्युस्तैः सह
 पिबन् मोदते । हर्षान्तरहेतुमाह—रूपेत्यादि । मनोहरै रूपादिभिः सुसहाया
 ये मद्यं पिबन्ति, ते सुकृतिभिः समा भवन्ति । पञ्चभिर्विषयैरित्यादि ।
 देशे काले प्रहृष्टेनान्तरात्मना मनसा इष्टैः पञ्चभिरर्थैरुपेतैः सह मद्यं पिबेत् ।
 स्थिरेत्यादि । स्थिरे सारभूते सत्त्वशरीरे येषां ते पुराणाः पुराभवा मद्यपान्वयाः
 मद्यपानां वंशाः । बहुमद्योचिता अभ्यस्तबहुमद्यास्ते सहसा न माद्यन्ति ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—क्षुदित्यादि । क्षुत्पिपासापरीतादयो ये ते स्वल्पेनापि मद्येन
 शीघ्रं मदं यान्ति । इति मद्यस्य पाने कृत्स्नं शुभाशुभादिकमुक्तम् ॥ ३१ ॥

चक्रपाणिः—मनोरमैरित्यत्र साधीयांस इति शेषः । एवं पानस्य प्रकृत्यनवद्यत्वात् । स्थिर-
 सत्त्वेत्यादौ पुराणा इति पूर्वमुपयुक्तमद्याः । मद्यपान्वया इति मद्यपवंशजाः । तेषां मद्यपानं
 विकारकरं न भवति विषकन्याविषमिव ॥ ३० । ३१ ॥

ऊर्द्धं मदात्ययस्यातः सम्भवं सखलक्षणम् ।

अग्निवेश चिकित्साञ्च प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ॥ ३२ ॥

स्त्रीशोकभयभाराध्व-कर्मभिर्योऽतिकर्षितः ।

रूक्षात्पप्रमिताशी च यः पित्त्यतिमात्रया ॥

रूक्षं परिणतं मद्यं निशि निद्रां निहत्य च ।

करोति तस्य तच्छीघ्रं वातप्रायं मदात्ययम् ॥

हिकाश्वासशिरःकम्प-पार्श्वशूलप्रजागरैः ।

विद्याद् बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥ ३३ ॥

तोदणोष्णं मद्यमम्लञ्च योऽतिमात्रं निषेवते ।

अम्लोष्णतीक्ष्णभोजी च क्रोधनोऽन्यातपप्रियः ॥

तस्योपजायते पित्ताद् विशेषेण मदात्ययः ।

लक्षणानि भवन्त्यस्य यानि तानि निबोध मे ॥

तृष्णादाहज्वरस्वेद-मोहातिसारविभ्रमैः ।

विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—ऊर्द्धं मित्यादि । अत ऊर्द्धं मदात्ययस्य सम्भवादिकं प्रवक्ष्याम्यग्निवेश ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—तत्रादौ सम्भवमाह—स्त्रीत्यादि । एषां पीतं तन्मद्यं वातप्रायं मदात्ययं करोति । तस्य लक्षणं हिककेत्यादि ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—तीक्ष्णोष्णमित्यादि । तीक्ष्णोष्णादीनामतिसेवनात् पित्ताद् विशेषेण मदात्यय उपजायते । तस्य लिङ्गं तृष्णादि ॥ ३४ ॥

चक्रपाणिः—मद्यपानदोषगुणमभिधाय मदात्ययकरं हेत्वादिमाह—ऊर्द्धमित्यादि । सम्भव-मिति कारणम् ॥ ३२ ॥

चक्रपाणिः—वातप्रायमित्यादौ प्रायशब्देन वक्ष्यमाणानां सर्वमदात्ययानां सिद्धोषजन्यत्वं

तरुणं मधुरप्रायं गौडं पष्टिकमेव वा ।
 मधुरस्निग्धगुर्वाशी यः पिबत्यतिमात्रया ॥
 अव्यायामदिवास्वप्न-शय्यासनसुखे रतः ।
 मदात्ययं कफप्रायं प्राप्नोति स परं पुमान् ॥
 छर्द्दरोचकहृल्लास-तन्द्रास्तैमित्यगौरवैः ।
 विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ॥ ३५ ॥
 विषस्य ये गुणा दृष्टाः सन्निपातप्रकोपकाः ।
 त एव मदेन दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः ॥
 हन्त्याशु हि विषं किञ्चित् किञ्चिद्रोगाय कल्पते ।
 यथा विषं तथैवान्त्यो ज्ञेयो मद्यकृतो मदः ॥
 तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गं सर्वत्रापि मदात्यये ।
 दृश्यते रूपवैशेष्यात् पृथक्त्वञ्चापि लक्ष्यते ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—तरुणमित्यादि । कफप्रायं कफप्रधानम् । सर्व्वो हि मदात्यय-
 स्त्रैदोषिकः । छर्द्दादिकं तस्य लिङ्गम् ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—वातप्रायादिकं कुत उच्यते, इत्यत आह—विषस्येत्यादि ।
 ये गुणा विषस्य तेऽपि मद्यस्य दश गुणा दृश्यन्ते, ते च सन्निपातप्रकोपकाः ।
 कुतो न मद्येन म्रियन्त इत्यत आह । विषे त्विति । तत्तुल्यतां दर्शयति ।
 हि यस्माद् विषे गुणा बलवत्तरास्तस्मात् यथा किञ्चिद् विषमाशु हन्ति किञ्चिद्
 विषं रोगाय कल्पते, तथैवान्त्यो मद्यस्य तृतीयो मद आशुघातको ज्ञेयः ।
 तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गं सर्व्वत्रापि मदात्यये दृश्यते, रूपवैशेष्यादुल्बणदोषेण
 पृथक्त्वञ्च लक्ष्यते ॥ ३६ ॥

दर्शयति—स तु वात इति । पैत्तिकः वातोल्बणस्यैव मदात्ययः वातपित्तसंयोगतया
 भवति ॥ ३३—३५ ॥

चक्रपाणिः—मद्यस्य त्रिदोषकरत्वे हेतुमाह—विषस्येत्यादि । यद्यपि मद्यमूलं विषं त्वन्यत्तमधुरं
 तथापि बहुगुणसामान्यात् त एव मद्य दृश्यन्ते इत्युक्तम् । तथैवान्त्यो मद इति—प्राणहरो मद-
 करश्चेत्यर्थः । पृथक्त्वमिति वातिकत्वादिना पार्थक्यम् ॥ ३६ ॥

शरीरदुःखं बलवत् प्रमोहो हृदयव्यथा ।
 अरुचिः प्रतता तृष्णा ज्वरः शीतोष्णलक्षणः ॥
 शिरःपार्श्वस्थिसन्धीनां वेदना विक्षते यथा ।
 जायतेऽतिबला जृम्भा स्फुरणं वेपनं श्रमः ॥
 उरोविबन्धः कासश्च श्वासो हिक्का प्रजागरः ।
 शरीरकम्पः कर्णाक्षि-मुखरोगस्त्रिकग्रहः ॥
 छर्दिर्विड्भेद उत्क्लेशो वातपित्तकफात्मकः ।
 भ्रमः प्रलापो रूपाणामसताश्चैव दर्शनम् ॥
 तृणभस्मलतापर्ण-पांशुभिश्चावपूरणम् ।
 प्रधर्षणं विहङ्गैश्च भ्रान्तचेताः स मन्यते ॥
 व्याकुलानामशस्तानां स्वप्नानां दर्शनानि च ।
 मदात्ययस्य रूपाणि सर्वाण्येतानि लक्षयेत् ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—विशेषलक्षणमुक्तम् । सामान्यलक्षणमाह—शरीरदुःखमित्यादि ।
 शीतोष्णलक्षणो ज्वरः क्षणे शीतं क्षणे चौष्ण्यम् । यथा विक्षते क्षते जाते
 वेदना तथा शिरःप्रभृतिवेदना । जृम्भा चातिबला । वातपित्तकफात्मको
 मदात्ययः सर्व एव । असतां मिथ्याभूतानां दर्शनम् । स्वप्ने तृणादिभिः
 अवपूरणं स मन्यते । विहङ्गैश्च प्रधर्षणं स्वप्ने स मन्यते, भ्रान्तचेताश्च भवति ।
 एतानि सर्वाणि मदात्ययस्य रूपाणि लक्षयेत् ॥ ३७ ॥

चक्रपाणिः—शरीरदुःखमित्यादि सर्वमदात्ययस्य सामान्यं लक्षणं ब्रुते । किंवा त्रिदोष-
 मदात्ययस्यैव लक्षणम् । यतो रोगसंग्रहे वातपित्तकफसन्निपातैश्चत्वारो मदात्यया उक्ताः । 'पुनश्च
 पञ्चमः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः । सर्व एते मदाः प्रोक्ता वातपित्तकफलयात्' इत्यनेन मदात्ययस्य
 वातादित्वेन चातुर्विध्यमुक्तम् । मद एव आत्ययिको गदो मदात्यय इत्युच्यते । स्फुरणं किञ्चित्-
 कम्पनम् । वेपनं एकदेशकम्पनम् । वातपित्तकफात्मक इति उत्प्लेबाविशेषण समसर्वदोषः ।

सर्व मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषमधिकन्तु यम् ।

दोषं मदात्यये पश्येत् तमादौ प्रतिकारयेत् ॥

कफस्थानानुपूर्व्या वा क्रिया कार्या मदात्यये ।

पित्तमारुतपर्यन्तं प्रायेण हि मदात्ययः ॥ ३८ ॥

मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते ।

सम्यक्पीतेन * तेनैव स मद्येनोपशाम्यति ॥ ३९ ॥

जीर्णाय मद्यदोषाय मद्यमेव प्रदापयेत् ।

प्रकाङ्क्षालाघवे जाते मदमस्मै हितं भवेत् ॥

सौवर्चलानुसंविद्धं शोतं सविडुसैन्धवम् ।

मातुलुङ्गाद्रकोपेतं जलयुक्तं प्रमाणवत् ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—कस्मात् ? सर्वमित्यादि । यस्मात् सर्वं मदात्ययं त्रिदोषं विद्यात्, तत्र मदात्ययेऽधिकन्तु यं दोषं पश्येत् तं दोषमादौ प्रतिकारयेत् । अथवा कफस्थानानुपूर्व्या पित्तमारुतपर्यन्तं मदात्यये क्रिया कार्या । हि यस्मात् प्रायेण मदात्ययः पित्तमारुतपर्यन्तं स्यात् ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—मिथ्येत्यादि । यो मदात्ययो व्याधिर्मिथ्यातिहीनयोगेन पीतेन मद्येनोपजायते, स मदात्ययः सम्यक्पीतेन तेनैव मद्येन प्रशाम्यति ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—जीर्णेत्यादि । जीर्णान्ने न त्वजीर्णान्ने । किं शुद्धं मद्यमस्मै हितं स्यादित्यत आह—सौवर्चलेत्यादि । सौवर्चलादियुक्तं मद्यमस्मै हितमिति ॥ ४० ॥

कफस्थानेत्यादि । कफस्थानानुपूर्व्या चात्र कफस्थानोद्भूततया प्रथमकफसम्बन्धात् सन्निपातञ्चर इव ज्ञेयः । आदौ कफप्रबलतामेवाह । पित्तमारुतपर्यन्त इत्यनेन कफादित्वं लभ्यति ॥ ३७।३८ ॥

चक्रपाणिः—समपीतेन तेनैवेति यजातीयेन मद्येन मदात्ययो जलितस्तजातीयेनैव शाम्यति । यथा विषं मौलं दंष्ट्रीयेण शाम्यति तथा मद्यमपि विजातीयेन मद्येन शाम्यतीत्येके, किन्तु तेनैवेत्यत्र मद्यजातिं परामृशति । तेनावश्यं तजातीयमेव मद्यं ज्ञेयम् । यतोऽनन्तरं वक्ष्यति 'यच्च यस्मै हितं भवेत्' इति । तथा 'दद्यात् सलवणं मद्यं पैष्टिकं वातशान्तये' इत्यनेन येन केनचिन्मद्येन उद्धृते वातमदात्यये पष्टिकयुक्तं तथा सशर्करञ्चेत्यादि विशेषविधानं बहु करिष्यति ।

तीक्ष्णोष्णोनातिमात्रेण पीतैनाम्लविदाहिना ।
 मदेनान्नरसोत्क्लेदो विदग्धः क्षारतां गतः ॥
 अन्तर्दाहं ज्वरं तृष्णां प्रमोहं विभ्रमं मदम् ।
 जनयत्याशु तच्छान्त्यै मद्यमेव प्रयोजयेत् ॥
 क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः ।
 श्रेष्ठमम्लेषु मद्यश्च यैर्गुणैस्तान् प्रवक्ष्यते ॥ ४१ ॥
 मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्मृताः ।
 मधुरश्च कषायश्च कटुकस्तिक्त एव च ॥
 गुणाश्च दश पूर्वोक्तास्तैश्चतुर्दशभिर्गुणैः ।
 सर्वेषां मद्यमम्लानामुपयुं परि वर्त्तते ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—तीक्ष्णेत्यादि । तीक्ष्णादिना मदेनोत्क्लिद्यतेऽन्नरसः स चान्न-
 रसस्योत्क्लेदो विदग्धः सन् क्षारतां क्षाररसं गच्छति । क्षारतां गतस्त्वन्तर्दाहा-
 दिकं जनयति । तच्छान्त्यै मद्यमेव प्रयोजयेत् । कस्मात् ? क्षारो हीत्यादि ।
 क्षारतां गतः अन्नरसः पुनरम्लेन मदेन माधुर्यं गच्छति, हि यस्मात् क्षारो
 भावः खल्वम्लोपसंहितः शीघ्रं माधुर्यं याति । ननु मद्यमुष्णं तीक्ष्णश्च
 तेन क्षारो न कथं वर्द्धते अन्यमम्लं वा न कुतः प्रयुज्यते इत्यत आह—
 श्रेष्ठमित्यादि । अम्लेषु मध्ये मद्यं श्रेष्ठम्, यैर्गुणैस्तु श्रेष्ठं तान् गुणान्
 प्रवक्ष्यते व्याख्यास्यति ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—मद्यस्येत्यादि । अम्लस्वभावस्य मद्यस्यानुरसाश्चत्वारो लवण-
 वर्जम् । गुणाश्च दश पूर्वोक्ता लघूष्णादयस्तन्नाम्लसहितत्वेन दश गुणा इत्येते
 चतुर्दशगुणा मिलिता मद्ये सन्ति नान्येष्वम्लेषु, तस्मात् तैश्चतुर्दशभिर्गुणैः
 सर्वेषामम्लानामुपयुं परि मद्यं वर्त्तते ॥ ४२ ॥

तेन तज्जातीयं मद्यजातीयञ्च मद्यं मदात्प्रये देयम् । अन्नरसोत्क्लेद इत्यन्नाम्लरसोत्क्लेदेति पठन्ति ।
 क्षारमाधुर्याय यदा म्लमद्यदानं तदा किमिति अन्यमम्लं न दीयते इत्याह—क्षारो
 हीत्यादि ॥ ३९—४१ ॥

मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण क्रुद्धः स्रोतःसु मारुतः ।
 वेदनां कुरुते तीव्रां शिरःस्वस्थिषु सन्धिषु ॥
 विष्यन्दनार्थं दोषस्य तस्य मद्यं विशेषतः ।
 व्यवायितोद्गोष्णतया देयमम्लेषु सत्स्वपि ॥
 स्रोतोविबन्धनुन्मद्यं मारुतस्यानुलोमनम् ।
 रोचनं दीपनश्चाग्नेरभ्यासात् सात्म्यमेव च ॥
 उरःस्रोतःसु शुद्धेषु मारुतै चानुलोमितै ।
 निवर्तन्तै विकाराश्च सात्म्यस्तस्य मदोदयः ॥ ४३ ॥
 बीजपूरकवृक्षाम्ल-कोलदाडिमसंयुतम् ।
 यमानोहवुषाजाजी-शृङ्गवेरावचूर्णितम् ॥
 सस्नेहः सक्तुभिर्युक्तमवदंशैश्चिरोत्थितम् ।
 दद्यात् सलवणं मद्यं पैष्टिकं वातशान्तये ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—मद्यं त्यादि । मद्योत्क्लेषदोषेण स्रोतःसु क्रुद्धो मारुतो वर्तते ।
 शिरःप्रभृतिषु च वेदनां कुरुते । तस्य स्रोतःस्थमद्योत्क्लिष्टदोषस्य विष्यन्दनार्थं
 द्रवीकृत्य स्नावनार्थं व्यवायित्वादिमत्त्वान्मद्यं सत्स्वप्यन्येष्वम्लेषु विशेषतो
 देयमिति । स्रोत इत्यादि । मद्यं स्रोतोविबन्धनुदित्येवमादिकं तस्य सम्यक्
 पानेन उरःस्रोतःसु शुद्धेषु मारुते चानुलोमिते मद्यकृता विकारा निवर्तन्ते
 सात्म्यश्च मदोदयस्तस्य स्यादिति ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—तत्र दोषभेदे मद्यप्रयोगमाह । बीजपूरकेत्यादि । शृङ्गवेरं शुण्ठी ।
 सक्तुभिरेवावदंशैर्युक्तं चिरोत्थितं पुराणं पैष्टिकं मद्यम् । बीजपूरकादेः तदन्त
 एकयोगः ॥ ४४ ॥

चक्रपाणिः—उपर्युपरीति अत्यर्थं श्रेष्ठ इत्यर्थः । मदोदय इति मदनिमित्तास्तर्षादयः ।
 केचित् तु ज्वरप्रधानास्तर्षादय इत्यर्थं उन्नेय इत्याहुः । अवदंशो यमुपयुज्य मद्यं पीयते ।

दृष्ट्वा वातोल्बणं लिङ्गं रसैश्चैनमुपाचरेत् ।
 लावतित्तिरिदक्षाणां स्निग्धाम्लैः शिखिनामपि ॥
 पक्षिणां मृगमत्स्यानामानूपानाञ्च संस्कृतैः ।
 भूशयप्रसहानाञ्च रसैः शाल्योदनेन च ॥ ४५ ॥
 स्निग्धोष्णलवणाम्लैश्च वेश्वारैर्मखप्रियैः ।
 स्निग्धैर्गोधूमकैश्चान्यैर्वारुणीमण्डमिश्रितैः ॥
 सितामाद्र्कगर्भाभिः स्निग्धाभिः पूषवर्त्तिभिः ।
 माषपूपलिकाभिश्च वातिकं समुपाचरेत् ॥ ४६ ॥
 नातिस्निग्धैर्न चाम्लेन सिद्धं समरिचार्द्रकम् ।
 मेध्यं प्रकटितं मांसं दाडिमस्य रसेन वा ॥
 पृथङ्मुञ्जातकोपेतं * सधान्यमरिचार्द्रकम् ।
 रसप्रलेहयूषैश्च सुखोष्णैः सह दापयेत् ॥
 भक्तेन वारुणीमण्डं ददयात् पातुं पिपासवे ।
 दाडिमस्य रसं वापि जलं वा पाञ्चमूलिकम् ॥

गङ्गाधरः—दृष्ट्वात्यादि । वातोल्बणं लिङ्गं दृष्ट्वा वक्ष्यमाणैर्मांसरसैरेन
 वातमदात्ययिनमुपाचरेत् । रसार्थं मांसान्याह । लावेत्यादि । शाल्योदनेन
 चोपाचरेत् ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—स्निग्धोष्णेत्यादि । सिता चाङ्गार्द्रकश्च गर्भे यासां ताभिः
 पूषवर्त्तिभिर्माषपूपलिकाभिश्च ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—नातिस्निग्धैरित्यादि । अतिस्निग्धैर्न सिद्धं न चाम्लेन सिद्धं
 प्रकटितं व्यक्तं मेध्यं मांसं दापयेत् । अथवा दाडिमस्याम्लेन रसेन
 प्रकटितं मेध्यं मांसं दापयेत् । मुञ्जातकोपेतं मेध्यं मांसं सधान्यमरिचार्द्रकं
 पृथग् दापयेत् । रसादिभिः सुखोष्णैः सह मेध्यं मांसं दापयेदिति ।

दक्षः कुक्कुटः । वेश्वारः स चोक्तलक्षणः । रसप्रलेपनमिति रसप्रलेपनरूपतया निर्वृत्तरस-

धान्यनागरतोयं वा दधिमण्डमथाऽपि वा ।
 अम्लकाञ्जिकमण्डं वा शुक्तोदकमथापि वा ॥
 कर्मणा तेन सिद्धेन विकार उपशाम्यति ।
 मात्राकालप्रयुक्तेन बलं वर्णश्च वर्द्धते ॥ ४७ ॥
 रागषाड्वसंयोगविविधैर्भक्तरोचनैः ।
 पिशितैः शाकपिष्टान्नैः क्लिप्तैर्गोधूमशालिभिः * ॥
 अभ्यङ्गोत्सादनलानैरुष्णैः प्रावरणैर्धनैः ।
 घनैरगुरुपक्कैश्च धूपैश्चागुरुजैर्धनैः ॥
 नारीणां यौवनोष्णानां निर्दयैरुपगूहनैः ।
 श्रोण्यद्व्यकुचभारैश्च संरोधोष्णसुखप्रदैः ॥
 शयनाच्छादनैरुष्णैरुष्णैश्चान्तर्गृहैः सुखैः ।
 मारुतप्रबलः शीघ्रं प्रशाम्यति मदात्ययः ॥ ४८ ॥
 मद्यं खज्जूरमृद्वीका-परुषकरसैर्युतम् ।
 सदाङ्गिरसं शीतं सक्तुभिश्चावचूर्णितम् ॥

भक्तनेत्यादि । दधिमण्ड दधिमस्तु । अम्लकाञ्जिकमण्डमल्लोभूतकाञ्जिक-
 स्योपरित्तनभागः । मात्राकालप्रयुक्तन तेन यथोक्तेन कर्मणा विकारो
 वातमदात्ययः ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—रागषाड्वेत्यादि । अगुरुपक्कैर्धनैर्धनघृष्टैः । अगुरुजैर्धनै-
 र्निविद्धैर्धूपैश्च । यौवनोष्णानां नारीणां श्रोण्यादिभारैः संरोधोष्णतया
 सुखप्रदैर्निर्दयैरुपगूहनैर्गदिरुपगूढीकरणैः मारुतप्रबलो मदात्ययः शीघ्रं
 प्रशाम्यति ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—मद्यमित्यादिना पित्तमदात्ययचिकित्सितमाह—खज्जूरारिस-
 युतं मद्यं शीतं पैष्टिकं सदाङ्गिरसं सक्तुभिरवचूर्णितं अक्षितं पित्तमदात्यये
 प्रलेपमिति यावत् । अगुरुपक्कैरिति अगुरुलेपः । घनैरिति बहलैः । संरोधोष्णसुखावहैरिति
 संरोधजनितोष्मणा सुखकारकः ॥ ४२—४८ ॥

सशर्करं वा माध्वीक-संयुक्तमथवापरम् ।
 दद्याद् बहुदकं काले पातुं पित्तमदात्यये ॥ ४६ ॥
 शशान् कपिञ्जलानेणान् लावानसितपुच्छकान् ।
 मधुराम्लान् प्रयुञ्जीत भोजने शालिषष्टिकान् ॥
 पटोलयूषमिश्रं वा छागलं कल्पयेद्रसम् ।
 सतीनमुद्रमिश्रं वा दाडिमामलकान्वितम् ॥
 द्राक्षामलकखज्जूर-परुषकरसेन वा ।
 कल्पयेत् तर्पणान् यूषान् रसांश्च विविधात्मकान् ॥ ५० ॥
 आमामशयस्थमुत्क्लिष्टं कफपित्तं मदात्यये ।
 विज्ञाय बहुदोषस्य तृड् विदाहान्वितस्य च ॥
 मदनं द्राक्षारसं तोये दत्त्वा तर्पणमेव वा ।
 निःशेषं वामयेच्छीघ्रमेवं रोगाद् विमुच्यते ॥ ५१ ॥

दद्यात् । अथवा सशर्करं मद्यं पित्तमदात्यये दद्यात् । अथवा माध्वीकमद्य-
 संयुक्तमपरं मद्यं दद्यात् । काले पिपासाकाले बहुदकं वा मद्यं पातुं
 दद्यात् ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—भोजनार्थमाह—शशानित्यादि । असितपुच्छकान् कालपुच्छकान्
 गण्डरिकान् मधुराम्लान् भोजने प्रयुञ्जीत । अन्नार्थं शाल्यादीन् । पटोले-
 त्यादि । छागलं मांसरसं पटोलयूषमिश्रं, पक्वपटोलद्रव इह पटोलयूषः ।
 अथवा सतीनमुद्रमिश्रं छागलं मांसरसं दाडिमामलकान्वितं कल्पयेत् ।
 द्राक्षेत्यादि । विविधात्मकान् तर्पणादीन् प्रत्येकम् ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—आमामशयस्थमित्यादि । मदात्यये त्रयो दोषाः कुप्यन्ति ।
 तत्र बहुदोषस्य तृडादियुक्तस्य कफपित्तमामामशयस्थमुत्क्लिष्टं विज्ञाय तोये
 मद्यं द्राक्षारसञ्च दत्त्वाऽथवा तर्पणं सक्तुकादिकृतं दत्त्वा निःशेषं वामयेत् ।
 एवं शीघ्रं पित्तमदात्ययरोगाद् विमुच्यते ॥ ५१ ॥

चक्रपाणिः—मद्यमित्यादिना पैत्तिके विधिमाह । सतीनो बर्तुलकलायः । रोगाद् विमुच्यत
 इति प्रकृतमदात्ययाद् विमुच्यत इत्यर्थः ॥ ४९—५१ ॥

काले पुनस्तर्पणञ्च क्रमं कुर्यात् प्रकाङ्क्षिते ।
 तेनाग्निर्दीप्यते तस्य दोषशेषान्नपाचकः ॥ ५२ ॥
 कासे सरक्तनिष्ठीवे पार्श्वस्तनरुजासु च ।
 तृष्यते सविदाहे च सोत्क्लेशे हृदयोरसि ॥
 गुडूचीभद्रमुस्तानां पटोलस्याथवा भिषक् ।
 रसं सनागरं दद्यात् तैत्तिरैः प्रतिभोजनम् ॥ ५३ ॥
 तृष्यते चातिबलवद्वातपित्तसमुद्भवे ।
 दद्याद् द्राक्षारसं पातुं शीतं दोषानुलोमनम् ॥
 जीर्णं च मधुराम्लेन छागमांसरसेन तम् ।
 भोजनं भोजयेन्मदामनुतर्षञ्च पाययेत् ।
 अनुतर्षस्य मात्रा सा यया नो हन्यते * मनः ॥
 तृष्यते मदामल्पाल्पं प्रदेयं स्याद् बहूदकम् ।
 तृष्णा येनोपशाम्येत मद्यं येन च नाप्नुयात् ॥

गङ्गाधरः—वमनानन्तरं कर्तव्यमाह—काल इत्यादि । पुनर्बुध्नुक्षया-
 माहारप्रकाङ्क्षितं तस्मिन् वामिते आहारकाले तर्पणञ्च कुर्यात् । ततः
 पेयादिक्रमं कुर्यात्, तेन तस्य नरस्य दोषशेषस्यान्नस्य च पाचकोऽग्नि-
 र्दीप्यते ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—कास इत्यादि । सरक्तनिष्ठीवकासादिषु गुडूच्यादीनां रसं काथं
 पटोलपत्रस्य वा रसं सनागरं दद्यात् । तैत्तिरैर्मांसरसैः प्रतिभोजनं
 दद्यात् ॥ ५३ ॥

गङ्गाधरः—तृष्यत इत्यादि । अतिबलवद्वातपित्तसमुद्भवे मदात्यये
 तृष्यते नराय शीतं द्राक्षारसं पातुं दद्यात् । तद्द्राक्षारसे जीर्णं भोजना-
 दनुतर्षं मद्यं पाययेत् । अनुतर्षस्य मद्यमात्रा सा, यया मात्रया मनो न
 हन्यते । तृष्यत इत्यादि । अम्लेनाम्लीकृतं मद्यं बहूदकं तृष्यते देयम् ।

चक्रपाणिः—क्रममिति । दोषशेषः कोष्ठलेपकोऽत ज्ञेयः । गुडूचीत्यादौ रसमिति काथम् ।
 तित्तिरिप्रतिभोजनं जीर्णं भोजने यस्मिन् तित्तिरिः प्रतिभुज्यते तत् । अनुतर्षञ्च पाययेदिति

परूषकाणां पीलूनां रसं शीतमथाम्बु वा ।
 पर्णिनीनां चतसृणां पिबेद् वा शीतलं जलम् ।
 मुद्गगदाडिमलाजानां तृष्णाघ्नं वा पिबेद् रसम् ॥
 कोलदाडिमवृक्षाम्ल-चुक्रीकाचुक्रिकारसः ।
 पञ्चाम्लको मुखालेपः सदस्तृष्णां नियच्छति ॥ ५४ ॥
 शीतानि चान्नपानानि शीतशय्यासनानि च ।
 शीतवातजलस्पर्शाः शीतान्युपवनानि च ॥
 क्षौमपद्मोत्पलानाञ्च मणीनां मौक्तिकस्य च ।
 चन्दनोदकशीतानां स्पर्शाश्चन्द्रांशुशीतलाः ॥
 हैमराजतकांस्यानां पात्राणां शीतवारिभिः ।
 पूर्णानां हिमपूर्णानां दृतीनां पवनाहतः ॥

तेन येन मदेन तृष्णोपशाम्येत येन च मदं नाप्नुयात् । परूषेत्यादि । अथवा
 परूषकाणां शीतमम्बु अर्द्धशृतं काथं तथा पीलूनाम् । तथा मिलितानां
 चतसृणां पर्णिनीनां शीतलमर्द्धशृतं जलं वा, मुद्गादीनां वा रसमर्द्धशृतं
 तृष्णाघ्नं पिबेत् । कोलेत्यादि । कोलादिरसः पञ्चाम्लकः पञ्चभिरम्बुनिर्ष्पा-
 दितो मुखालेपः । वृक्षाम्लं तिन्तिडीकफलम् । चुक्रीका नाम शाकविशेषः ।
 चुक्रिका अम्लोटकम् ॥ ५४ ॥

गङ्गाधरः—शीतानीत्यादि । पित्तमदात्यये दाहादिषु प्रयोज्या भवन्त्येते ।
 क्षौमादीनां चन्दनोदकशीतानां स्पर्शाश्चन्द्रांशुशीतलाश्च स्पर्शाः । वारिभिः
 पूर्णानां हमादिपात्राणां स्पृशाः । हिमपूर्णानां दृतीनां स्पर्शः पवनाहतश्च

भोजनसमये तृष्णां लक्ष्मीकृत्य पाययेत् । अनुपानस्य मातामाह—अनुतर्षेत्यादि । मुहुर्मुहुर्दीयमानस्य
 मनो न दूष्यत इति न विकृतिं याति । एतेन तृषायां मनोहन्तृ यन्मद्यं न भवति तदनुतर्षसंज्ञं
 भवतीत्यर्थः । तृष्णाघ्नमिति कषायरूपं रसम् । चुक्रिका चाङ्गेरी ॥ ५२—५४ ॥

संस्पर्शाश्चन्दनार्द्राणां स्त्रीणां पित्तमदात्यये ।
 शोतवीर्यं यदन्यच्च तत् सर्वं विनियोजयेत् ॥
 जलयन्त्राणि वर्षाणि वातयन्त्रवहानि च ।
 कल्पनीयानि भिषजा दाहे धारागृहाण्यपि ॥
 परिषेकावगाहेषु व्यजनानाञ्च सेचने ।
 शस्यते शिशिरं तोयं तृष्णादाहोपशान्तये ॥ ५५ ॥
 फलिनीलोद्वसेव्याम्बु-हेमपत्रं कुटन्नटम् ।
 कालीयकरसोपेतं दाहे शस्तं प्रलेपनम् ॥
 कुमुदोत्पलपत्राणां सिक्तानां चन्दनाम्बुना ।
 हितः स्पर्शो मनोज्ञानां दाहे मद्यसमुत्थिते ॥
 कथाश्च विविधाश्चित्राः शब्दाश्च शिखिनां शुभाः ।
 तोयदानाञ्च संशब्दा नाशयन्ति मदात्ययम् ॥
 बदरीपल्लवोत्थश्च यश्चैवारिष्टकोद्भवः ।
 फेनिलायाश्च यः फेनस्तैर्दाहे लेपनं हितम् ॥
 सुरा समण्डा दध्यम्लं मातुलङ्गरसो मधु ।

सेके प्रदेहे शस्यन्ते दाहघ्नाः साम्लकाञ्जिकाः ॥

स्पर्शः । चन्दनार्द्राणां स्त्रीणां संस्पर्शः पित्तमदात्यये हितः । यच्चान्यच्छीतवीर्यं
 तत् सर्वं विनियोजयेत् । जलेत्यादि । जलयन्त्राणि जलानां यन्त्राणि
 वातस्य यन्त्रवहानि वर्षाणि च धारागृहाण्यपि दाहे भिषजा कल्पनीयानि ।
 परिषेकेत्यादि । शिशिरं स्वतः शीतलं तोयम् ॥ ५५ ॥

गङ्गाधरः—फलिन्यादि । फलिन्यादिकं कालीयकरसोपेतम् ।
 कुटन्नटं कैवर्त्तमुस्तकम् । कुमुदेत्यादि । चन्दनाम्बुना सिक्तानां कुमुदा-
 दीनां स्पर्शो हितः । कथाश्चेत्यादि । तोयदानां संशब्दाः सुशब्दा न तु
 कुशब्दाः । बदरीत्यादि । अरिष्टकोद्भवः निम्बपत्रस्वरसोद्भवः फेनः ।
 फेनिलायाः फेनावत्या ओषध्याः । सुरेत्यादि । समण्डा सुरा दधि चाम्लं

चक्रपाणिः—बदरीत्यादौ बदरीपत्राणि मथित्वा तज्जः फेनो ग्राह्यः । अरिष्टको निम्बः ।

कर्मणानेन सिद्धेन विकार उपशाम्यति ।

धीमतो वैद्यवश्यस्य शीघ्रं पित्तमदात्ययः ॥ ५६ ॥

उल्लेखनोपवासाभ्यां जयेत् कफमदात्ययम् ।

तृष्यते सलिश्चास्म दद्याद्धीवेरसाधितम् ॥

बलया पृश्निपर्ण्या वा कण्टकार्यार्थवा शृतम् ।

सनागराभिः सर्वाभिराभिर्वा शृतशीतलम् ॥

दुःस्पर्शेन समुस्तैन शृतं पर्पटकैः वा ।

जलं मुस्तैः शृतं वापि दद्याद् दोषविपाचनम् ॥

एतदेव च पानीयं सर्वत्रापि मदात्यये ।

निरत्ययं पीयमानं पिपासाज्वरनाशनम् ॥ ५७ ॥

निरामं काङ्क्षितं काले पाययेद् बहुमाक्षिकम् ।

शार्करं मधु वा * जीर्णमरिष्टं सीधुमेव वा ॥

रूक्षं तर्पणसंयुक्तं यवान्नं वा प्रदापयेत् ।

व्योषयूषमथाम्लं वा सिद्धं वा साम्लवेतसम् ॥

मातुलङ्गरसो मधु च मिलिताः साम्लकाङ्जिका एते सेके प्रदेहे दाहघ्नाः ।

कर्मणेत्यादि । पित्तमदात्ययचिकित्सोपसंहार एषः ॥ ५६ ॥

गङ्गाधरः—कफमदात्ययचिकित्सितमाह—उल्लेखनेत्यादि । कफमदात्ययं भिषगुल्लेखनोपवासाभ्यां जयेत् । तृष्यते चास्मै कफमदात्ययवते ह्रीवेर-बलापृश्निपर्णीकण्टकारीणामेकतमेन शृतं समुस्तेन वा शृतं शीतलं जलं दद्यात् । दुःस्पर्शेनेत्यादि । दुरालभासुस्तकशृतं पर्पटशृतं वा सुस्तकशृतं वा शीतलं जलं दोषपाचनं दद्यात् । एतदेवेत्यादि । एतदेव सर्व्वं ह्रीवेरसाधितादिकम् ॥ ५७ ॥

गङ्गाधरः—एतेन दोषपाचनेन जलेन काले च निरामं मदात्ययवन्तं काङ्क्षितं पातुं बहुमाक्षिकं जलं पाययेत् । शार्करं शकरामिश्रितं वा जलं जीर्णं वा मधु पाययेत् । अरिष्टं वा सीधुं वा पाययेत् । भोक्तुं काङ्क्षितं रूक्षं तर्पणसंयुक्तं तर्पणञ्च यवान्नं वा प्रदापयेत् । व्योषयूषं व्योषसाधितं उल्लेखनेत्यादिना—कफमदात्ययचिकित्सितम् । तृष्यते सलिलमित्यादौ षडङ्गविभिना

छागमांसरसं रुक्षमम्लं वा जाङ्गलं रसम् ।
 स्थाल्यामथ कपाले वा भृष्टं नीरसवर्त्ति तम् ॥
 कटुम्ललवणं मांसं भक्षयन् वृणुयान्मधु ।
 व्यक्तमारोचकं मांसं मातुलुङ्गरसायुतम् ॥
 प्रभूतकटुसंयुक्तं यमानीनागरान्वितम् ।
 यवगोधूमकश्चान्नं रुक्षं यूषेण भोजयेत् ॥
 कुलत्थानाञ्च शुष्काणां मूलकानां रसेन वा ।
 भृष्टं दाडिमपञ्चाम्ल-मुद्गयूषं यवाष्टमम् ॥
 यथाग्निं भक्षयेत् काले प्रभूतार्द्रकपेषितम् ।

पिवेच्च निगदं मद्यं कफप्राये मदात्यये ॥ ५८ ॥

यूषं अथाम्बं वा सिद्धं मुद्गादियूषं साम्लवेतसं प्रदापयेत् । रुक्षं घृतादि-
 स्नेहभर्जनरहितं छागमांसरसं प्रदापयेत् । अम्बं वा जाङ्गलमांसरसं
 प्रदापयेदिति । स्थाल्यामित्यादि । छागं वा जाङ्गलं वा मांसं स्थाल्यां भृष्टमथवा
 कपाले भृष्टं नीरसवर्त्ति कटुम्ललवणयुतं तं नरं भक्षयन् भिषक् मधु पिवेस्त्व-
 मिति वृणुयात् । व्यक्तेत्यादि । छागजाङ्गलानां मांसं पक्वं व्यक्तमरिच-
 युक्तं मातुलुङ्गरसेन पुनरायुतं प्रभूतकटुसंयुक्तं तिक्तबहुद्रव्ययुक्तं यमानी-
 नागरान्वितं भक्षयन् मधु वृणुयात् । यवेत्यादि । रुक्षं यवगोधूमकमन्नं यूषेण
 कुलत्थानां भोजयेत् । शुष्काणां मूलकानां रसेन वा भोजयेत् । भृष्टमित्यादि ।
 दाडिमलक् कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रिकाचुक्रिकाश्चेति पञ्चाम्बं मुद्गयूषश्च
 यवश्चाष्टमो यत्र तद्दाडिमादियवाष्टमं भृष्टं प्रभूतार्द्रकपेषितं काले भोजना-
 काङ्क्षायां यथाग्निं भक्षयेत् । पिवेच्च तदनु निगदं नाम यदौषधं तच्च मद्यं
 पिवेत् ॥ ५८ ॥

जलसाधनं स्मारयति । मधुकृतं माधवम् । व्योषप्रधानो यूषः । निर्द्रववर्त्तितमिति । निर्द्रव-
 रसवर्त्तितम् । वृणुयादिति ध्यानुयात् । आद्र कपेषितमिति आद्रं रुण्वानि पेषितानि ॥ ५५—५८ ॥

सौवर्चलमजाज्यश्च वृक्षाम्लं साम्लवेतसम् ।

त्वगेलामरिचाद्धांशं शर्कराभागयोजितम् ॥

एतल्लवणमष्टाङ्गमग्निसन्दीपनं परम् ।

मदात्यये कफप्राये दद्यात् स्रोतोविशोधनम् ॥

एतदेव पुनर्युक्त्या मधुराम्लैर्द्रवीकृतम् ।

गोधूमाम्नयवान्नानां मांसानाश्चातिरोचनम् ॥ ५६ ॥

पेषयेत् कटुकैर्युक्तां श्वेतां वीजविवर्जिताम् ।

मृद्रीकां मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा ॥

सौवर्चलैलामरिचैरजाजीमृद्वदीप्यकैः ।

स रागः क्षौद्रसंयुक्तः श्रेष्ठो रोचनदीपनः ॥ ६० ॥

मृद्रीकाया विधानेन कारयेत् कारवीमपि ।

शुक्तं मत्स्यण्डिकोपेतं रागं रोचनदीपनम् ॥

गङ्गाधरः—सौवर्चलेत्यादि । एकैकं भागं सौवर्चलादीनां चतुर्णामेक-
भागापेक्षयाद्धांशं त्वगेलामरिचानां प्रत्येकं शर्करायाश्चैकभाग इत्यष्टाङ्गलवणं
नाम । एतदेवेत्यादि । एतदेवाष्टाङ्गलवणं युक्त्या यथायोग्यं मधुराम्लैर्दाडिमा-
दिभिर्मधुरैर्मृद्वैर्द्रवीकृतं सत्, गोधूमाम्नस्य यवान्नस्य मांसानाश्चातिरोचनं
भवति ॥ ५९ ॥

गङ्गाधरः—पेषयेदित्यादि । श्वेतां मृद्रीकां वीजविवर्जितां कटुकैर्युक्तां
यथायोग्यमरिचादियुक्तां मातुलुङ्गस्य रसेन पेषयेत् । अथवाम्लस्य दाडिमस्य
रसेन वा पेषयेत् । तत्र सौवर्चलादिकचूर्णं यथायोग्यं दत्त्वा मधु च दत्त्वा
मिश्रीकृतो यः स रागो नाम श्रेष्ठो रोचनदीपनः ॥ ६० ॥

गङ्गाधरः—मृद्रीकेत्यादि । एतन्मृद्रीकारागविधानेन कारवीं क्षुद्रकृष्ण-
जीर्णं रागं कारयेत् । मत्स्यण्डिकोपेतं शुक्तं चुक्तं नाम सन्धानं रागं कारयेत् ।

चक्रपाणिः—सौवर्चलमित्यादौ त्वगेलामरिचादीनां प्रत्येकमेव भागाद्वत्त्वम् । शर्कराभागाः
पूर्वैकद्रव्यभागाः ॥ ५९ ॥

चक्रपाणिः—श्वेतामिति मृद्रीकाम् । श्वेता च द्राक्षा काश्मीरभवा ज्ञेया । कारवीति

आम्रामलकपेशीणां रागान् कुर्यात् पृथक् पृथक् ।
 धान्यसौवर्चलाजाजी-कारवोमरिचान्वितान् ॥
 गुडेन मधुशुक्तेन व्यक्ताम्लमधुरीकृतान् ।
 तैरन्नं रुच्यते दिग्धं भुक्तं सम्यक् च जीर्यति ॥ ६१ ॥
 रुक्षाम्लेनान्नपानेन सोष्णेन शिशिरेण वा ।
 व्यायामलङ्घनाभ्याश्च युक्त्या जागरणेन च ॥
 कालयुक्तेन रुक्षेण स्नानेनोद्वर्त्तनेन च ।
 प्राणवर्णकराणाञ्च प्रहर्षाणाञ्च सेवया ॥
 सेवया वसनानाञ्च गुरुणामगुरोरपि ।
 सङ्कोचोष्णसुखाङ्गानामङ्गनानाञ्च सेवया ॥
 सुखशिक्षितहस्तानां स्त्रीणां संवाहनेन च ।
 मदात्ययः कफप्रायः शीघ्रं समुपशाम्यति ॥ ६२ ॥

आम्रेत्यादि । आम्रपेशीणामामलकपेशीणाञ्च रागान् धान्यादियुक्तान् गुडेन
 मधुशुक्तेन वा व्यक्ताम्लान् मधुरांश्च कृतान् पृथक् पृथक् रागान् कुर्यात् ।
 आहारद्रव्यमन्नव्यञ्जनादीनि भोक्तुं रज्यन्ते अनेनेति रागः । आचार इति
 प्राकृतम् । तै रागैर्दिग्धं भक्तमन्नं रुच्यते भुक्तञ्च सम्यक् जीर्यति ॥ ६१ ॥

गङ्गाधरः—रुक्षेत्यादि । रुक्षादिकान्नपानादिना कफप्रायो मदात्ययः
 शीघ्रं समुपशाम्यति । प्राणकराणां वर्णकराणाञ्च सेवया । गुरुणां वसना-
 नाम् । अद्भुरोः कृष्णागुर्व्वनुलेपनस्य । अङ्गनानां सङ्कोचोष्णसुखाङ्गानाम् ।
 सङ्कोचेनोष्णतया सुखमङ्गं यासां तासां सेवया । हस्तपादाद्यङ्गमर्दने
 सुखशिक्षितौ हस्तौ यासां तासां स्त्रीणां संवाहनेन शरीरमर्दनेन समुप-
 शाम्यतीति ॥ ६२ ॥

अल्पद्राक्षा । आम्रामलकयोः पेशीति अन्तःफलगतं सम्यग् गृह्यते । सङ्कोचोष्णसुखाङ्गीनां
 सङ्कोचेन संश्लेषेण उष्णसुखमङ्गं यासां तासाम् । केचित् तु सङ्कोचं कुसुममाहुः ॥ ६०—६२ ॥

यदिदं कर्म निर्दिष्टं पृथग् दोषोल्बणं प्रति ।
 सन्निपाते दशविधे तद्विकल्प्यं भिषग्विदा ॥
 यश्च दोषविकल्पज्ञो यश्चौषधविकल्पवित् ।
 स साध्यान् साधयेद् व्याधीन् साध्यासाध्यविभागवित् ॥ ६३
 वनानि रमणीयानि पद्मिन्यः सलिलाशयाः ।
 विशदान्यन्नपानानि सहायाश्च प्रहर्षणाः ॥
 माल्यानि गन्धयोगाश्च वासांसि विविधानि च ।
 गन्धर्वशब्दाः कान्ताश्च गोष्ठाश्च हृदयप्रियाः ॥
 सङ्गथा-हास्य-गीतानां विशदाश्चैव योजनाः ।
 प्रियाश्चानुमता नार्यो नाशयन्ति मदात्ययम् ॥ ६४ ॥
 नाक्षोभ्य हि मनो मद्यं शरीरमविहत्य च ।
 कुर्यान्मदात्ययं तस्मादेष्टव्या हविणी क्रिया ॥

गङ्गाधरः—यदिदमित्यादि । दशविधे सन्निपाते एकैकोल्बणसन्निपाते यदिदं कर्म निर्दिष्टं तदेव दुःखल्वणत्रय-हीनमध्याधिकदोषजपट्क-समत्रिदोषजैका इति दश ये सन्निपातास्तत्र भिषजा विकल्प्यम् । यश्चेत्यादि । स्पष्टम् ॥ ६३ ॥

गङ्गाधरः—वनानीत्यादि । रमणीयवनादीनि मदात्ययं सर्वं नाशयन्ति । विशदान्यनाविलानि प्रहर्षणाः सहायाः वयस्याः । गन्धर्वशब्दाः सङ्गीतशब्दाः कान्ताः मनोभाः गोष्ठीजना हृदयप्रियाः । संकथादीनां योजनाः । स्वानुमताः प्रिया नार्यः ॥ ६४ ॥

गङ्गाधरः—कस्मादित्यत आह—नाक्षोभ्येत्यादि । हि यस्मान्मद्यं मनो-
 ऽक्षोभ्य अक्षोभयित्वा “छन्दसि बहुलमिति”त्यप्, शरीरश्चाविहत्य न मदात्ययं

चक्रपाणिः—यदिदमित्यादिना सान्निपातिकमदात्ययचिकित्सासाह । यद्यपि त्रयोदशविधः सन्निपातो वृद्धदोषाणां युक्तस्तथापि सर्वमदात्ययानां त्रिदोषजत्वात् यदेतद् वातादिमदात्यय-चिकित्सितमुक्तं तदेकदोषोल्बणसन्निपातजमदात्ययचिकित्सितं भवति । तेन हीनमध्याधिकभेद-सन्निपातैः यद्दशावशिष्टाः सन्निपातास्तान् अभिप्रेत्यैवमुक्तम् । सन्निपाते दशविधे तद्विकल्प्यमिति हीनमध्याधिकदोषतयोञ्ज तमदात्ययेषु हीनमध्याधिकदोषभेदेन विकल्प्य चिकित्सा कर्तव्या ॥ ६३ ॥

चक्रपाणिः—मदात्ययस्य प्रहर्षिणी चिकित्सासाह—वनानीत्यादि ॥ ६४ ॥

चक्रपाणिः—यस्मात् पुनर्मदात्यये प्रहर्षिणी चिकित्सा कार्या, तद्वेदुमाह—नाक्षोभ्य इति ।

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः शमं याति मदात्ययः ।

न चेन्मद्यक्रमं मुक्त्वा क्षीरमस्य प्रयोजयेत् ॥ ६५ ॥

लङ्घनैः पाचनैर्दोष-शोधनैः शमनैरपि ।

विमदस्य कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे ॥

तस्य मदाविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य च ।

ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः ॥

पयसा विहते रोगे बले जाते निवर्त्तयेत् ।

क्षीरप्रयोगं मदाश्च क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत् ॥ ६६ ॥

विच्छिन्नमदाः सहसा योऽतिमदां निषेवते ।

ध्वंसो विक्षेपकश्चैव * रोगस्तस्योपजायते ॥

व्याध्युपक्षीणदेहस्य दुश्चिकित्स्यतमौ हि तौ ।

तयोर्लिङ्गं चिकित्सा च यथावदुपदेक्ष्यते ॥ ६७ ॥

कुर्यात्, तस्माद् हृषजननी क्रिया एष्टव्या भवति । आभिरित्यादि । आभि-
मद्ययोगयुक्ताभिः क्रियाभिश्चेन्न मदात्ययः शमं याति, तदा मद्यक्रममस्य
मुक्त्वा क्षीरं प्रयोजयेत् ॥ ६५ ॥

गङ्गाधरः—कथं पयोऽत्र युज्यते तदाह—लङ्घनैरित्यादि । विमद्यस्य
मद्यात् विगतस्य मदात्यये लङ्घनादिभिः कफक्षये दौर्बल्यलाघवे जाते मद्य-
विदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य पयस्तथा स्यात् यथा ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्वर्षं
जलवृष्टिः स्यादिति । पयसेत्यादि । मदात्यये रोगे पयसा विहते सति बले च
जाते क्षीरप्रयोगं निवर्त्तयेत् । क्रमेणाल्पाल्पं मद्यश्चाचरेत् ॥ ६६ ॥

गङ्गाधरः—किमर्थं क्रमेणाल्पाल्पमाचरेदित्यत आह—विच्छिन्नेत्यादि । क्षीर-
प्रयोगे क्रियमाणे मद्यं विच्छिद्यते । ततो विच्छिन्नमद्यः सन् योऽतिमद्यं सहसा
निषेवते ध्वंसको विक्षेपकश्चैव नाम रोगस्तस्योपजायते । व्याध्युपेत्यादि ।
तयोर्ध्वंसकविक्षेपयोरिति ॥ ६७ ॥

क्षीरप्रयोगस्य विषयमाह—लङ्घनैरित्यादि । तत् कार्यक्षीरवृत्तिक्रमं पुनर्मद्याभ्यासक्रमञ्चाह—
पयसाभिहत इत्यादि । क्रमेणेति कालक्रमेण । अल्पाल्पमिति स्तोकं स्तोकम् ॥ ६५ । ६६ ॥

चक्रपाणिः—एतद्विपर्ययेण मद्यसेवायां दोषमाह—विच्छिन्नेत्यादि । ध्वंसकविक्षयौ

श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्य-शोषः शब्दासहिष्णुता ।

मोहस्तन्द्रातियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् ॥

हृत्कण्ठरोगः सम्मोहश्छर्द्दिरङ्गरुजा ज्वरः ।

तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद् विक्षेपलक्षणम् ॥ ६८ ॥

गङ्गाधरः—श्लेष्मेत्यादि । शब्दानां श्रवणे सहिष्णुता न भवति । हृत्-
कण्ठेत्यादि । एतद्विक्षेपलक्षणमिति ध्वंसकविक्षेपयोर्भेदोऽपि । सुश्रुते—विच्छिन्न-
मद्यपानस्य सहसातिमद्यपाने मदात्ययोक्तलिङ्गमितिदिष्टमिति । तद् यथा—
विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते । तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः
सम्भवन्ति हि ॥ इति । मदात्ययात् पृथगेव विच्छिन्नमद्यस्यातिमद्यपानजविकार
उक्तो न नाम्नाभिहितः, इह तु तन्त्रे नाम्ना द्वौ रोगावैतावुक्तौ ; न ततो विरोधः ।
ये च पुनः सुश्रुते परमदपानाजीर्णपानविभ्रमास्त्रयोऽपरे रोगा उक्ताः पाना-
त्ययैककारणास्ते पुनरिह तन्त्रे नोक्ताः, तत्रायमभिप्रायः—सुश्रुते पानात्ययस्य
वातपित्तकफसन्निपातस्य चतुर्विधस्य लक्षणान्युक्तानि, तत्र वातादिलक्षणानि
उक्त्वाऽतिदेशेन सन्निपातलक्षणमुक्तम् । तद् यथा—सर्वात्मके भवति सर्व-
विकारसम्पदिति । द्रव्यस्वणहीनमध्याधिकसमदोषाणां दशविधानां सन्निपातानां
लक्षणं कल्पनीयमिति ख्यापितम्, तत्र नामविशेषज्ञापनार्थं परमदादयस्त्रयो
विशेषणोक्ताः । तद् यथा—उष्मा शरीरगुरुता विरसाननत्वं, श्लेष्माधिकत्व-
मरुचिर्मलमूत्रसङ्गः । लिङ्गं परस्य तु मदस्य वदन्ति तज्ज्ञास्तृष्णा रुजा शिरसि
सन्धिषु चापि भेदः ॥ इति कफवातोल्बणसन्निपातजोऽयम् । आध्मानमुद्गिरण-
मम्लरसो विदाहोऽजीर्णस्य पानजनितस्य वदन्ति लिङ्गम् । ज्ञेयानि तत्र
मिषेजा सुविनिश्चितानि, पित्तप्रकोपजननानि च कारणानीति पानाजीर्णं च
वातपित्तोल्बणसन्निपातजमाध्मानादिदर्शनात् चकाराद् वातप्रकोपजननानि
कारणानीति । हृद्गात्रतोदवमथुज्वरकण्ठधूम-मूर्च्छाकफस्रवणमूर्द्धरुजो विदाहः ।
द्वेषः सुरान्नविकृतेषु च तेषु तेषु तं पानविभ्रममुशन्त्यखिलेन धीराः ॥
इति पित्तकफोल्बणसन्निपातज एष इति न विरोधः । नायं पानविभ्रमो रोगः
स य इह पूर्वमुक्तः । जायन्ते मोहनिद्रार्त्ता मद्यस्यातिनिषेवणात् । स

मध्यमाणलक्षणौ सुश्रुतेनाप्युक्तौ । केचित् तु 'विच्छिन्नमद्यः सहसा यस्तु मद्यं निषेवते ।
तस्य पानस्यातियोगाद् विकारः सम्भवेदिति' ग्रन्थेन ध्वंसकल्यावरोधं वर्णयन्ति ॥ ६७-६८ ॥

तयोः कर्म तदेवेष्टं वातिके यन्मदात्यये ।
 तौ हि प्रक्षीणदेहस्य जायेतां दुर्वलस्य वै ॥
 वस्तयः सर्पिषः पानं प्रयोगाः क्षीरसर्पिषोः ।
 अभ्यङ्गोत्सादनस्नानान्यन्नपानञ्च वातनुत् ॥
 ध्वंसको विक्षेपश्चैव कर्मणानेन शाम्यतः ॥ ६६ ॥
 युक्तमद्यस्य मद्योत्थो न व्याधिरुपजायते ।
 निवृत्तः सर्वमदेभ्यो नरो यः स्याजितेन्द्रियः ।
 शारीरमानसैर्धीमान् विकारैर्न स युज्यते ॥ ७० ॥

मद्यविभ्रमो नाम्ना मद इत्यभिधीयत इति मदविशेषत्वेनोक्त्या रोगलाभावात् ।
 सुश्रुते च असाध्यतालक्षणञ्चोक्तम् । तद्यथा—हीनोत्तरोष्ठमतिशीतममन्ददाहं
 तैलप्रभास्यमपि पानहतं विजह्यात् । जिह्वौष्ठदन्तमसितं त्वथापि नीलं पीते च
 यस्य नयने रुधिरप्रभे वा । हिका ज्वरो वमथुवेपथुपाश्वशूलाः कासभ्रमावपि
 च पानहतं भजन्ते ॥ ६८ ॥

गङ्गाधरः—ध्वंसकविक्षेपयोश्चिकित्सामाह—तयोरित्यादि । वातिकमदात्यये
 यदुक्तं कर्म तत्तयोर्ध्वंसकविक्षेपयोरिष्टम् । कस्मात् ? तौ हीत्यादि । कर्मान्तर-
 आह—वस्तय इत्यादि । कर्मणानेन वातमदात्ययोक्तकर्म वस्त्यादिकर्म
 च यदिहोक्तमिति ॥ ६९ ॥

गङ्गाधरः—युक्तेत्यादि । सम्यग्योगतो युक्तमद्यस्य नरस्य न मद्योत्थो
 व्याधिर्जायते । तर्हि किं युक्त्या सर्व एव मद्यं पिबेदित्यत आह—निवृत्त
 इत्यादि । सर्वमदेभ्यो युक्तयुक्तसर्वमदेभ्यो यो निवृत्तते जितेन्द्रियः सन्
 स शारीरमानसैर्विकारैर्न युज्यते इति मद्यनिवृत्तौ महाफलं युक्तपाने दोषो
 नास्ति । एतदभिप्रायेण मनुना चोक्तम्—न मांसभक्षणे दोषो न मदेन न च
 मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफलेति ॥ ७० ॥

चक्रपाणिः—एतयोश्चिकित्सामाह—तयोरित्यादि । कर्म इति चिकित्सा । तौ हीत्यादिना
 दुर्वलतया वातप्रधानतां दर्शयति । युक्तमद्यस्येति यथोक्तविधिना मद्यमाचरतः । सर्व्वथा-
 मद्यपत्तिर्यागफलमाह—निवृत्त इत्यादि । जितेन्द्रिय इति विशेषणं मद्यनिवृत्तावेव प्रयोजनीयम् ।
 शारीरमानसैर्विकारैरिति मद्यव्यापत्तिजन्यैरेव शारीरमानसैर्विकारैः । न युज्यत इति शारीर-
 मानसविकारमद्यनिवृत्त्या न युक्तो भवति ॥ ६९ । ७० ॥

तत्र श्लोकाः ।

यत्प्रभावा भगवतो सुरा पेया यथा च सा ।
 यद्द्रव्या यस्य या चेष्टा योगश्चापेक्षते यथा ॥
 यथा मदयते यैश्च गुणैर्युक्ता महागुणा ।
 यो मदो मदभेदाश्च ये त्रयः स्वस्वलक्षणाः ॥
 ये च मद्यकृता दोषा गुणा ये च मदात्मकाः ।
 यच्च त्रिविधमापानं यथासत्त्वञ्च लक्षणम् ॥
 ये सहायाः सुखाः पाने विरज्यत्प्रमदा नराः ।
 मदात्ययस्य यो हेतुर्लक्षणञ्च यथायथम् ॥
 मद्यं मद्योत्थितान् रोगान् हन्ति यश्च क्रियाक्रमः ।
 सर्व्वं तदुक्तमखिलं मदात्ययचिकित्सितै ॥ ७१ ॥
 इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतैः प्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते
 चिकित्सितस्थाने मदात्ययचिकित्सितं नाम
 चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति । तत्र श्लोका इत्यादि ॥ ७१ ॥
 अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव च ।
 मदात्ययचिकित्सिते चतुर्विंशोऽध्याये पुनः । वैद्यगङ्गाधरकृते जल्पकल्पतरौ
 पुनः । चिकित्सितस्थानजल्पे षष्ठस्कन्धे मदात्यये । चिकित्सित-
 जल्पो नाम शाखा चतुर्विंशी स्मृता ॥ २४ ॥

चक्रपाणिः—यत्प्रभावेत्यादि अध्यायसंग्रहः । संग्रहार्थो व्यक्त एव ॥ ७१ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां
 चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां मदात्ययचिकित्सितं
 नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः ।

अथातो द्विव्रणायचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

परावरजमात्रेयं गतमानमदव्यथम् ।

अग्निवेशो गुरुं काले पूजयन्निदमब्रवीत् ॥

भगवन् पूर्वमुद्दिष्टौ द्वौ व्रणौ रोगसंग्रहे ।

तयोर्लिङ्गं चिकित्साश्च वक्तुमर्हसि शर्मद ॥ २ ॥

हुताश्वेशस्य वचस्तत्श्रुत्वा गुरुरब्रवीत् ।

यौ व्रणौ पूर्वमुद्दिष्टौ निजश्चागन्तुरेव च ॥

श्रूयतां विधिवत् सौम्य तयोर्लिङ्गं समेषजम् ।

निजः शरीरदोषोऽथ आगन्तुर्वाह्यहेतुजः ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टक्रमाद् द्विव्रणीयचिकित्सितमाह—अथात इत्यादि ।
पूर्ववत् सर्वं व्याख्येयमिति ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—परावरजमित्यादि । परं यतो यत् परमुत्कृष्टं यतो यदवरमपकृष्टं
तदुभयञ्चम् । कठवल्ल्यामुक्तम्—“इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिरिति ॥” इदं किमब्रवीत्—
भगवन्नित्यादि । रोगसंग्रहेऽष्टोदरीये पूर्वमुद्दिष्टौ द्वौ व्रणाविति निर्दिष्टौ च
तत्रैव । द्वौ व्रणाविति निज आगन्तुश्चेति । तयोर्लिङ्गं चिकित्साश्च
वक्तुमर्हसीत्यब्रवीदग्निवेशः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—हुताशेत्यादि । निजश्चागन्तुरेव चेति निर्दिष्टौ द्वौ व्रणौ, तयोर्लिङ्गं

चक्रपाणिः—मद्यमत्तस्य सम्प्रहारादिना व्रणोत्पत्तौ व्रणचिकित्सार्थं द्विव्रणीय उच्यते । परो
मोक्षः अवरं तजानातीति परावरजम् ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—लिङ्गं चिकित्साञ्चेत्यत्र हेतोरपि ग्रहणम् । दोषाः शारीरा एव, तथापीह शरीरपदं
स्नायुदोषादिषु नियुक्तदोषव्युदासार्थम् । निजआगन्तुव्रणभेदमाह—मन्हेत्यादि । निजैः समम्

तत्र श्लोकाः ।

यत्प्रभावा भगवती सुरा पेया यथा च सा ।

यद्द्रव्या यस्य या चेष्टा योगश्चापेक्षते यथा ॥

यथा मदयते यैश्च गुणैर्युक्ता महागुणा ।

यो मदो मदभेदाश्च ये त्रयः स्वस्वलक्षणाः ॥

ये च मद्यकृता दोषा गुणा ये च मदात्मकाः ।

यच्च त्रिविधमापानं यथासत्त्वञ्च लक्षणम् ॥

ये सहायाः सुखाः पाने विरज्यत्प्रमदा नराः ।

मदात्ययस्य यो हेतुर्लक्षणञ्च यथायथम् ॥

मद्यं मद्योत्थितान् रोगान् हन्ति यश्च क्रियाक्रमः ।

सर्वं तदुक्तमखिलं मदात्ययचिकित्सिते ॥ ७१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतैऽप्राप्तौ दृढबलप्रतिसंस्कृतै

चिकित्सितस्थाने मदात्ययचिकित्सितं नाम

चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति । तत्र श्लोका इत्यादि ॥ ७१ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव च ।

मदात्ययचिकित्सिते चतुर्विंशोऽध्याये पुनः । वैद्यगङ्गाधरकृते जल्पकल्पतरौ

पुनः । चिकित्सितस्थानजल्पे षष्ठस्कन्धे मदात्यये । चिकित्सित-

जल्पो नाम शाखा चतुर्विंशी स्मृता ॥ २४ ॥

चक्रपाणिः—यत्प्रभावेत्यादि अध्यायसंग्रहः । संग्रहार्थो व्यक्त एव ॥ ७१ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां

चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां मदात्ययचिकित्सितं

नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः ।

अथातो द्वित्रणायचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

परावरज्ञमात्रेयं गतमानमदव्यथम् ।

अग्निवेशो गुरुं काले पूजयन्निदमब्रवीत् ॥

भगवन् पूर्वमुद्दिष्टौ द्वौ व्रणौ रोगसंग्रहे ।

तयोर्लिङ्गं चिकित्साश्च वक्तुमर्हसि शर्मद ॥ २ ॥

हुताश्वेशस्य वचस्तत्श्रुत्वा गुरुब्रवीत् ।

यौ व्रणौ पूर्वमुद्दिष्टौ निजश्चागन्तुरेव च ॥

श्रूयतां विधिवत् सौम्य तयोर्लिङ्गं समेषजम् ।

निजः शरीरदोषोत्थ आगन्तुर्वाह्यहेतुजः ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टक्रमाद् द्वित्रणीयचिकित्सितमाह—अथात इत्यादि ।
पूर्ववत् सर्वं व्याख्येयमिति ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—परावरज्ञमित्यादि । परं यतो यत् परमुत्कृष्टं यतो यदवरमपकृष्टं
तदुभयम् । कठवल्ल्यामुक्तम्—“इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिरिति ॥” इदं किमब्रवीत्—
भगवन्नित्यादि । रोगसंग्रहेऽष्टोदरीये पूर्वमुद्दिष्टौ द्वौ व्रणाविति निर्दिष्टौ च
तत्रैव । द्वौ व्रणाविति निज आगन्तुश्चेति । तयोर्लिङ्गं चिकित्साश्च
वक्तुमर्हसीत्यब्रवीदग्निवेशः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—हुताशेत्यादि । निजश्चागन्तुरेव चेति निर्दिष्टौ द्वौ व्रणौ, तयोर्लिङ्गं

चक्रपाणिः—मध्यमत्तस्य सम्प्रहारादिना व्रणोत्पत्तौ व्रणचिकित्सार्थं द्वित्रणीय उच्यते । परो
मोक्षः अवयवं तज्ज्ञानातीति परावरज्ञः ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—लिङ्गं चिकित्सान्वेष्यत्र हेतोरपि ग्रहणम् । दोषाः शारीरा एव, तथापीह शरीरपदं
स्नानादुदोषादिषु नियुक्तदोषव्युदासार्थम् । निजागन्तुव्रणभेदमाह—मन्त्रेत्यादि । निजैः समम्

बध्वन्धप्रपतनाद् दंष्ट्रादन्तनखक्षतात् ।
 आगन्तवो व्रणास्तद्वद् विषस्पर्शान्निशस्त्रजाः ॥
 मन्त्रागदप्रलेपाद्यैर्भेषजैर्हेतुभिश्च ते ।
 लिङ्गैकदेशैश्चोद्दिष्टा विपरीता निजैर्व्रणाः ॥
 व्रणानां निजहेतूनामागन्तूनामशाम्यताम् ।
 कुर्याद् दोषबलावेक्षी निजानामौषधं यथा ॥
 यथास्वैर्हेतुभिर्दुष्टा वातपित्तकफा नृणाम् ।
 वहिर्भागं समाश्रित्य जनयन्ति निजान् व्रणान् ॥ ३ ॥

समेषजं श्रूयतामिति । निज इत्यादि । शारीरदोषवातपित्तकफेभ्यो व्रणो
 निज उच्यते । बाह्यहेतुजो व्रण आगन्तुज उच्यते । तत्र बाह्यहेतूनाह ।
 बध्वेत्यादि । यथा बध्नादिभ्यो व्रणा जायन्ते तद्वद् विषादिजाश्च । ते व्रणा
 मन्त्रादिभिरुद्दिष्टास्तभ्यो विपरीता निजैर्वातादिभिर्हेतुभिर्जाता व्रणाः ।
 व्रणानामित्यादि । निजहेतूनामागन्तूनाश्च व्रणानामशाम्यतां दोषबलावेक्षी
 निजानां व्रणानामौषधं यथा कुर्यात् तदाह—यथास्वैरित्यादि । यथास्वैर्वाह्य-
 हेतुभिर्व्यायामादिभिर्दुष्टा वातादयः ॥ ३ ॥

आगन्तवो व्रणाः विपरीताः मन्त्रादिभिर्भेषजैश्च तथा हेतुभिश्च बध्वन्धनादिभिस्तथा लिङ्गैकदेशैश्च ।
 स वै लिङ्गैकदेशः यथा आगन्तुः पूर्वमुदेति पश्चाद् वातादीन् कोपयति । निजे तु पूर्व-
 वातादयः प्रकुप्यन्ति पश्चाद् व्याधय उत्पद्यन्ते । आगन्तुर्व्यथापूर्वमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्त-
 श्लेष्मणां वैषम्यमापादयति इत्यादि, आगन्तुव्रणस्य भिन्नविषयतया विशिष्टतेह वक्तव्या ।
 तेन तस्याः चिकित्सामपि समासादेव तावदाह—व्रणानामित्यादि । आगन्तूनां व्रणानां मन्त्रादि-
 चिकित्सया अशाम्यतां तथा निजानां वक्ष्यमाणैरौषधैः दोषबलावेक्षी सन् कुर्यादिति योजना ।
 आगन्तूनां चेह चिकित्सया प्रशमनं निजदोषानुबन्धादेव ज्ञेयम् । अतएवेह निजहेतूनामिति कृतम् ।
 यथास्वैरित्यादिना निजव्रणहेतुसंप्राप्त्यादिकथनम् । अत्र यथास्वैर्हेतुभिरिति वचनेन वातादीनां
 स्वातन्त्र्येण प्रकोपं दर्शयति । अहेतुदृष्टो दोषः स्वतन्त्रो भवति । किञ्च यथास्वैर्हेतुभिरिति वचनेन
 य एव वातादिकोपहेतवस्त एवात्र निजव्रणकारका भवन्ति । न पुनरत्र व्रणानां विशिष्टो हेतुरस्ति,
 सामान्यवातादिहेतुस्तु विशिष्टव्रणलक्षणकार्योत्पत्तिः सम्प्राप्तिभेदाद् भवतीति ज्ञेयम् ॥ २।३ ॥

स्तब्धः खरोऽग्निसंस्पर्शो * मन्दस्त्रावो महारुजः ।

तुद्यतै स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसम्भवः ॥

सम्पूरणैः स्नेहपानैः स्निग्धैः स्वेदोपनाहनैः ।

प्रदेहपरिषेकैश्च वातव्रणमुपाचरेत् ॥ ४ ॥

तृष्णामोहज्वरक्लेद-दाहदुष्टावदारणैः ।

व्रणं पित्तकृतं विद्यात् गन्धैः स्त्रावैश्च पूतिकैः ॥

शीतलैर्मधुरैः स्निग्धः प्रदेहपरिषेचनैः ।

सर्पाः पानैर्विरेकैश्च पैत्तिकं शमयेद् व्रणम् ॥ ५ ॥

बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः ।

पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरकारी कफव्रणः ॥

कषायकटुरुक्षोष्णैः प्रदेहैः परिषेचनैः ।

कफव्रणं प्रशमयेत् तथा लङ्घनशोधनैः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—तत्र वातादिव्रणलक्षणमाह । स्तब्ध इत्यादि । अग्निसंस्पर्शा-
ऽग्निरिव स्पृश्यते । तस्य चिकित्सामाह—सम्पूरणैरित्यादि । सम्पूरणानि
वातहराणि द्रवद्रव्याणि ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—पित्तव्रणलक्षणमाह । तृष्णेत्यादि । पूतिकैर्गन्धैः पूतिकैश्च
स्त्रावैरिति । अस्य चिकित्सामाह । शीतलैरित्यादि । प्रदेहादिविशेषणानि
शीतादीनि ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—बहुपिच्छेत्यादिना कफव्रणः । चिरकारी चिरेण जायते
प्रशाम्यति च । तस्य चिकित्सामाह । कषायेत्यादि । प्रदेहपरिषेचन-
विशेषणानि कषायादीनि ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—स्तब्धः कठिनेत्यादिना वातादिव्रणानां लक्षणानि तथा चिकित्सासूत्रञ्चाह ।
प्रदेहैः परिषेकैश्चेत्यत्र स्निग्धैरित्यनुवर्तते । चिरकारीति चिरं करोतीति चिरकारी । चिकित्सा-
समासाभिधानञ्च सुखमहणार्थमेव ॥ ४—६ ॥

तौ द्वौ नानात्वभेदेन भिन्नाः स्युर्विंशतिर्त्रिणाः ।
 तेषां परीक्षा त्रिविधा प्रदुष्टा द्वादश स्मृताः ॥
 स्थानान्यष्टौ तथा गन्धाः परिस्त्रावाश्चतुर्दश ।
 षोडशोपद्रवा दोषाश्चत्वारो विंशतिस्तथा ॥
 तथा चोपक्रमाः सिद्धाः षट्त्रिंशत् समुदाहृताः ।
 विभज्यमानान् शृणु मे सर्वानेतान् यथेरितान् ॥ ७ ॥
 कृत्योऽकृत्यस्तथा दुष्टस्तथा मम्मस्थितो नवः ।
 संवृतो दारुणोत्सन्नः सविषो विषमस्थितः ॥
 अस्त्राव्युत्सङ्ग एवैषां व्रणान् विद्यात् विपर्ययात् ।
 इति नानात्वभेदेन निरुक्ता विंशतिर्त्रिणाः ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—अथ द्वयोर्भेदान्तरमाह । तौ द्वावित्यादि । तौ द्वौ निजागन्तू
 व्रणौ नानात्वभेदाद् विंशतिर्त्रिणाः स्युः । तेषां त्रिविधा परीक्षा इत्येवमादीन्
 विभज्यमानान् शृणु ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—नानात्वभेदेन विंशतिं व्रणानाह । कृत्य इत्यादि । कृत्यः
 सुखेन क्रियासाध्यस्तद्विपरीतो दुःखेन क्रियासाध्यः । अकृत्योऽसाध्यः
 तद्विपरीतो याप्यः । दुष्टस्तद्विपरीतस्त्वदुष्टः । मम्मस्थितस्तद्विपरीतस्त्वमम्म-
 स्थितः । नवस्तद्विपरीतः पुराणः । संवृतस्तद्विपरीतस्त्वसंवृतः । दारुणोत्-
 सन्नस्तद्विपरीतस्त्वदारुणोत्सन्नः । सविषस्तद्विपरीतो निर्विषः । विषमस्थितः
 तद्विपरीतः समस्थितः । अस्त्राव्युत्सङ्गस्तद्विपरीतः स्त्राव्युत्सङ्गः । इत्येवं कृत्या-
 दीनामेषां दशानां विपर्ययाद् दश व्रणान् विद्यादिति नानात्वभेदेन विंशति-
 व्रणा निरुक्ताः ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—तौ द्वावित्यादि । नानात्वकारको भेदः नानात्वभेदः । प्रकण्डण इष्टाः प्रदुष्टाः ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—कृत्योत्कृत्येत्यादिना व्रणभेदा व्याक्रियन्ते । तत्र कृत्यः छेदनेनोपरमणीयः ।
 उत्कृत्यस्तु नात्र किञ्चित्करणीयमस्ति परं रोपणीय एव । किंवा कृत्यः साध्यः उत्कृत्य-
 स्त्वसाध्यः । कृत्यादयः षट् सविपर्यया एवोक्ताः, संवृतादयस्तु सप्तोद्दिष्टाः सविपर्ययाः सन्तः
 चतुर्दश । उत्सन्न उद्भूतमांसः किंवा व्रणाद् बहिः पूयस्योत्सर्गात् विषमस्थितः । सुश्रुते तु
 तन्नाभिसंवृतो अभिविवृत्तत्वादिना यद् इष्टव्रणलक्षणमुक्तं तद्वत्संवृतादिविषयम् । इह तु
 संवृतत्वमात्रमुच्यते । तेनेह इष्टव्रणेन संवृतस्य ग्रहणमुद्रावनीयम् ॥ ८ ॥

दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृता ।

वयोऽवस्थाशरोराणामिन्द्रियाणाञ्च दर्शनात् ॥

हेत्वर्त्तिसात्म्याग्निबलं परीक्ष्यं वचनाद् बुधैः ।

स्पर्शान्मादवशैत्ये च परीक्ष्ये सविपर्यये ॥ ६ ॥

श्वेतोऽवसन्नचर्म्माति-स्थूलचर्म्मातिपिञ्जरः ।

नीलः श्यावोऽतिपिङ्गको रक्तः कृष्णोऽतिपूतिकः ॥

रोप्यः कुम्भीमुखश्चेति प्रदुष्टा द्वादश व्रणाः ॥ १० ॥

त्वक्सिरामांसमेदोऽस्थि-स्नायुमर्म्मान्तराश्रयाः ।

व्रणस्थानानि निर्दिष्टान्यष्टावेतानि संग्रहे ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—तेषां त्रिधा परीक्षामाह—दर्शनेत्यादि । दर्शनेन परीक्षामाह—
वय इत्यादि । वय-आदीनां दर्शनात् परीक्षा । वचनात् प्रश्नाद् बुधैर्हेत्वादि
परीक्ष्यम् । स्पर्शान्मादवादि परीक्ष्यम्, काठिन्यमुष्णत्वञ्च तद्विपरीतम् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—अथ द्वादश प्रदुष्टानाह—श्वेत इत्यादि । श्वेतोऽवसन्नचर्म्मा
च अतिस्थूलचर्म्मा च । अतिपिञ्जरश्च नीलश्च श्यावश्चातिपिङ्गकश्च रक्तश्च
कृष्णश्चातिपूतिकश्च रोप्यश्च कुम्भीमुखश्च । इति द्वादश प्रदुष्टा व्रणाः ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—अथाष्टौ स्थानान्याह—त्वगित्यादि । अन्तरमभ्यन्तरम् ॥ ११ ॥

चक्रपाणिः—परीक्षातैर्विध्यं विभज्यते—दर्शनेत्यादि । इन्द्रियाणि च यद्यपि अतीन्द्रियत्वात्
अनुमानगम्यानि, तथापिह तदधिष्ठानानां हान्द्रयशब्देनोपादानम् । अग्निश्च यद्यपि अग्निं जरण-
शक्त्येति वचनादनुमानविषयोक्तस्तथापि प्रश्नेनाग्निरवगम्यते एवेति कृत्वा इह वचनपरीक्षणोप-
तैवोक्ता । सविपर्यये इति काठिन्यौष्ण्ययुक्ते । अनुमानञ्च यद्यपि परीक्षाधिकारे प्रोक्तं “द्विविधा
परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानञ्चेत्यादिना तथाप्यनुमानस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वम्,” किन्तु
दर्शनपूर्वकत्वादनुमानस्य दर्शनादिना अनुमानमपि इन्द्रियादिग्राहकं संगृहीतमुक्तमिति पश्यामः ।
दर्शनेनशब्दश्चात्र साक्षादुपलब्धिवचनः । तेन व्रणगतगन्धेनापि व्रणपरीक्षणं संगृहीतं भवति ।
दर्शनेनशब्देन च गृहीतोपदर्शनेति भूयसा व्याप्रियमाणत्वात् ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—श्वेतोपसन्नेत्यादिना प्रदुष्टव्रणानाह । रोप्यलक्षणं तन्स्नान्तरादवगन्तव्यम् ।
तथाह भोजः—“रूढा व्रणाः प्रकुप्यन्ति अन्तर्दोषाः पुनःपुनः । बहिर्दृष्टा भवन्त्येव रोप्यास्ते तु
प्रकीर्त्तिताः” इति । एतेषामेव श्वेतादीनां भेदानां चतुर्विंशतित्वं दर्शयन्नाह—कल्पेनानेनेति ।
व्रणदुष्टिकारककारणयोगभेदेन भिद्यमानाः चतुर्विंशतिभेदा भवन्तीत्यर्थः । त्वगित्यादि स्थान-

* इतः परं चक्ष्यमाणः ‘चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा’ इत्यादिपाठः कचिद् दृश्यते ।

सर्पिस्तैलवसापूय-रक्तश्यावाम्लपूतिकाः ।

व्रणानां व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्त्तिताः ॥ १२ ॥

लसीकाजलपूयासूग्घरिद्रारुणपिञ्जराः ।

कषायनीलहरित-स्निग्धरुक्षसितासिताः

इति रूपैः समुद्दिष्टा व्रणस्त्रावाश्चतुर्दश ॥ १३ ॥

विसर्पः पक्ष्मातश्च शिरःस्तम्भाऽपतानकः ।

मोहोन्मादव्रणरुजा ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥

कासश्छर्द्दिरतीसारो हिक्रा श्वासः सवेपथुः ।

षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकः ॥ १४ ॥

चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा दोषाः कल्पान्तरेण च ।

स्नायुक्लेदाच्चिराच्छेदाद् गाम्भीर्यात् क्रिमिभक्षणात् ॥

गङ्गाधरः—अथाष्टौ गन्धानाह—सर्पिरित्यादि । सर्पिर्गन्धादयोऽष्टौ गन्धाः ।
श्यावगन्धिर्मगन्धिः ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—अथ चतुर्दश परिस्त्रावानाह । लसीकेत्यादि । लसीकादयः
चतुर्दश व्रणस्त्रावाः ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—अथ व्रणानामुपद्रवान् षोडशाह । विसर्प इत्यादि । व्रणानां
रुजाऽतिवेदना । विसर्पादयः षोडशोपद्रवाः ॥ १४ ॥

माङ्गाधरः—अथ चत्वारश्च विंशतिश्चेति चतुर्विंशतिर्दोषा व्रणानामुच्यन्ते ।
चतुर्विंशतिरित्यादि । कल्पान्तरेण च न तु वातादिभेदेन । तत् कल्पान्तरं
दर्शयति । स्नायुक्लेदादित्यादि । व्रणानामप्रशमहेतवो भवन्ति चतुर्विंशति-
र्दोषाः । तद्व्यथा । स्नायुक्लेदश्च चिराच्छेदश्च गाम्भीर्यश्च क्रिमिभक्षणश्च

निदृशाः । सर्पिरित्यादिना गन्धनिर्द्देशः । श्यावगन्धं दध्यादेः समानं गन्धमाहुः । केचित् तु
शवेस्य गन्धः क्षयः, अम्लसहचरितगन्धोऽम्लगन्ध इति वदन्ति ॥ १०—१२ ॥

चक्रपाणिः—लसीकेत्यादिना स्त्रावानाह । प्रकारान्तरोद्दिष्टान् चतुर्विंशतिदोषानाह—

अस्थिभेदात् सशल्यत्वात् सविषत्वादतर्कणात् ।
 नखकाष्ठाववाधाच्च मर्मलोमाभिघट्टनात् ॥
 मिथ्याबन्धादतिस्नेहादतिभैषज्यकर्षणात् ।
 अजीर्णादतिभुक्ताच्च विरुद्धासात्म्यभोजनात् ॥
 शोकात् क्रोधाद् दिवास्वप्नाद् व्यवायात् क्षोभणात् तथा ।
 व्रणा न प्रशमं यान्ति निष्क्रियत्वाच्च देहिनाम् ॥ १५ ॥
 परिस्त्रावाच्च गन्धाच्च दोषाच्चोपद्रवैः सह ।
 व्रणानां बहुदोषाणां कृच्छ्रत्वञ्चोपजायते ॥ १६ ॥
 त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः ।
 धीमतोऽभिनवः काले सुखे साध्यः सुखव्रणः ॥
 गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः ।
 सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो निरुपक्रमः ॥ १७ ॥

अस्थिभेदश्च सशल्यत्वञ्च सविषत्वञ्च अतर्कणश्च नखाववाधश्च काष्ठाववाधश्च
 मर्माभिघट्टनश्च लोमाभिघट्टनश्च मिथ्याबन्धश्च अतिस्नेहश्च अतिभैषज्य-
 कर्षणश्च अजीर्णश्च अतिभुक्तश्च विरुद्धभोजनश्च असात्म्यभोजनश्च शोकश्च
 क्रोधश्च दिवास्वप्नश्च व्यवायश्च क्षोभणञ्चेति चतुर्विंशतिदोषाद् व्रणा न प्रशमं
 यान्ति । न चैतावता दोषेण व्रणानां कृच्छ्रसाध्यत्वमस्त्यन्यभावाच्च ।
 निष्क्रियत्वाच्च देहिनां व्रणा न प्रशमं यान्ति ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—परिस्त्रावाद् गन्धाद् दोषादुपद्रवाद् बहुदोषत्वाद् व्रणानां कृच्छ्रत्व-
 ञ्चोपजायते ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—सुखसाध्यत्वमाह—त्वङ्मांसज इत्यादि । सुखे देशे यत्र
 क्लेशातिशयो न स्यादौषधदानादिषु च सुखं स्यात् । तरुणस्य यूनः । अनुपद्रवो
 विसर्पादुपद्रवहीनः । धीमत इति क्रियाकरणे पथ्यसेवायां रतिमतः । सुखे काले
 हिमशिशिरे । गुणैरित्यादि । त्वङ्मांसजत्वादियुगलानामन्यतमैर्बहुभिर्गुणैर्हीनो
 स्नायुक्लेदेत्यादि । अत्र नखकाष्ठप्रभेद एकं कारणम् । चर्मलोमातिघट्टनं द्वितीयं कारणम् ।
 तृतीयं निष्क्रियत्वम् । असाध्यो निष्प्रतीकार इत्यर्थः । असाध्यत्वमभिधायापि निरुपक्रमताभि-
 भानेन सोपक्रममसाध्यं याप्यं निषेधयति ॥ १३—१७ ॥

त्रणिनामादितः कार्यं यथासत्त्वं विशोधनम् ।

ऊर्द्ध्वाभागैरधोभागैः शस्त्रैर्वस्तिभिरेव च ॥

सद्यः शुद्धशरीराणां प्रशमं यान्ति हि व्रणाः ।

यथाक्रममतश्चोर्द्ध्वा शृणु सर्वानुपक्रमान् ॥ १८ ॥

व्रणस्ततः कृच्छ्रसाध्यः स्मृतः । सर्वैरित्यादि । त्वङ्मांसजत्वादिसर्व्वगुणैः विहीनो व्रणोऽसाध्यो ज्ञेयः । तर्हि किं याप्य इति । निरुपक्रमो न तु याप्यः । सुश्रुते चासाध्यलक्षणादिकश्चोक्तम् । तद्यथा—“अत ऊर्द्ध्वमसाध्यान् वक्ष्यामः । मांसपिण्डवदुद्गताः प्रसेकिनोऽन्तःपूया वेदनावन्तोऽश्वापानवदुद्धृतौष्ठाः । केचित् कठिना गोशृङ्गवदुन्नतमृदुमांसप्ररोहाः । अपरे दुष्टरुधिरास्त्राविणस्तनुपिच्छिलास्त्राविणो वा मध्योन्नताः । केचिदवसन्नशुषिरपर्य्यन्ताः । शणतूलवत् स्नायुजालवन्तो दुर्दृशा वसामेदोमज्जमस्तुलुङ्गस्त्राविणश्च दोषसमुत्थाः । पीतासितमूत्रपुरीषवातवाहिनश्च कोष्ठस्थाः क्षीणमांसानाश्च सर्व्वतोगतयश्चाणमुखा मांसबुद्बुदवन्तः सशब्दवातवाहिनश्च शिरःकण्ठस्थाः । क्षीणमांसानाश्च पूयरक्तनिर्व्वाहिणोऽरोचकाविपाककासश्वासोपद्रवयुक्ताः । भिन्ने वा शिरःकपाले यत्र मस्तुलुङ्गदशनं त्रिदोषलिङ्गप्रादुर्भावः कासश्वासौ वा यस्येति । भवन्ति चात्र । वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गश्च यः स्रवेत् । आगन्तुजो व्रणः सिध्येन्न सिध्येद्दोषसम्भवः ॥ अमर्म्मर्पहिते देशे सिरासन्ध्यस्थिवर्ज्जिते । विकारो योऽनुपप्येति तदसाध्यस्य लक्षणम् ॥ क्रमेणोपचयं प्राप्य धातूननुगतः शनैः । न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः ॥ स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धातुनक्रमेण च । निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा ॥ अतो यो विपरीतः स्यात् सुखसाध्यः स उच्यते । अबद्धमूलः क्षुपको यद्बुद्धुत्पाटने सुखः” इति ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—अथ षट्त्रिंशत्तमुपक्रमानाह—व्रणिनामित्यादि । आदितौ व्रणिनां यथासत्त्वं यादृशबलवत्पुरुषस्तादृशमूर्द्ध्वादिविशोधनं कार्य्यम् । कस्मात् ? हि यस्मात् सद्यो व्रणाः शुद्धशरीराणां प्रशमं यान्ति । यथाक्रममित्यादि । सर्व्वान् षट्त्रिंशत्तम् ॥ १८ ॥

शोथघ्नं षड्विधञ्चैव शस्त्रकर्मविपीडनम् ।

निर्व्वापणं ससन्धानं स्वेदः शमनमेव च * ॥

शोधनरोपणौ चैव कषायौ सप्रलेपनौ ।

द्वे तैले तद्वृत्तौ पत्र-च्छादनं + द्वे च बन्धने ॥

आद्यमुत्सादनं दाहो द्विविधः सावसादनः ।

काठिन्यमार्दवकरे धूपने लेपने शुभे ॥

व्रणावचूर्णनं वर्यं रोपणं लोमरोहणम् ।

इति षट्त्रिंशतं विद्याद् व्रणानां समुपक्रमान् ॥ १६ ॥

पूर्वरूपं भिषग् बुद्ध्वा व्रणानां शोथमादितः ।

रक्तावसेचनं कुर्यादजातव्रणशान्तये ॥

गङ्गाधरः—षड्विधं शोथघ्नं वक्ष्यमाणव्रणशोथघ्नं कर्म । शस्त्रकर्म चावपीडनञ्च निर्व्वापणञ्च सन्धानञ्च स्वेदश्च शमनञ्च शोधनकषायश्च रोपण-कषायश्च शोधनप्रलेपनञ्च रोपणप्रलेपनञ्च शोधनतलञ्च रोपणतैलञ्च शोधन-घृतञ्च रोपणघृतञ्च पत्रच्छादनञ्च सध्यबन्धनञ्च दक्षिणबन्धनञ्च आद्यञ्चोत्-सादनञ्च दाहश्च द्विविधः अवसादनञ्च काठिन्यकरधूपनञ्च मार्दवकरधूपनञ्च काठिन्यकरलेपनञ्च मार्दवकरलेपनञ्च व्रणावचूर्णनञ्च वर्यञ्च रोपणञ्च लोमरोहणञ्चेति । इति षट्त्रिंशतं व्रणानामुपक्रमान् विद्यात् ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—तत्र यदा यो यत्र कार्यस्तदाह । पूर्वरूपमित्यादि । व्रणानां पूर्वरूपं शोथं व्रणशोथं भिषगादितो दोषलक्षणेन बुद्ध्वा अजातव्रणशान्तये प्राधान्योपदर्शनार्थं पृथगभिधानम् । व्रणानामित्यादि उपक्रमानाह—शोफघ्नमित्यादिना । शोफघ्न उपक्रमो वक्ष्यमाणः । षट्शस्त्रकर्मैति पाटनादि शल्यतन्त्रोक्तं कर्मान्तर्भावनीयम् । किंवैषणं शस्त्र-कर्म तत् पृथगेव । अवपीडनं कल्कादीनां वासीपूयनिर्गमनार्थं वक्ष्यति । निर्व्वापणं दाहोष्ण्य-शमनम् । ‘शोधनौ रोपणीयौ च कषायौ संप्रलेपनौ’ इति शोधनरोपणकषायौ भेदाद् वक्ष्यति, तथापि शोधनरोपणकर्मद्वयकर्तृकतया द्वित्वमेव । अत्र तैलघृतयोस्तदगुणीयत्वम् । काश्मीरास्तु “द्वौ स्नेहौ तदगुणाविति” पठन्ति । पत्रच्छेदने इति पत्रमेकमुपक्रमः । छेदनञ्च द्विविधं बाह्यान्तरभेदेन वक्ष्य-माणम् । उत्सादनञ्च व्रणोत्थापनम् । अवसादनमुत्सन्नव्रणमांसक्षयकरम् । काठिन्यमार्दवकरे धूपनोन्मर्दने इति काठिन्यकरं धूपनम्, एवमुन्मर्दनमपि ज्ञेयम् । व्रणावचूर्णनं द्विविधम् । एवं षट्त्रिंशदुपक्रमा भवन्ति । शल्यतन्त्रे तु षष्टिरुपक्रमा ये उक्तास्तेष्वन्तर्भावनीयाः ॥ १६। १९ ॥

चक्रपाणिः—यथावस्थमुपक्रममाह—पूर्वरूपमित्यादि । त्रिशोफीये व्रणपूर्वरूपशोथचिकित्सा-

* एषणेति पाठान्तरम् ।

+ पत्रच्छेदने इति चक्रधृतः पाठः ।

शोधयेद् बहुदोषान् वै ह्यणुदोषान् विलङ्घयेत् ।

पूर्वं कषायसर्पिर्भिर्जयेद् वा मारुतोत्तरम् ॥ २० ॥

रक्तावसेचनं जलौकादिभिः कुर्यात् न छेदनं कुर्यादिति षड्विधेषु व्रण-
शोथक्ष्नेषु उपक्रमेषु प्रथम उपक्रमो रक्तावसेचनम् । बहुदोषान् शोधयत ऊर्द्धाधः
शोधयेत् । अणुदोषान् अल्पदोषवतः शोधिनो विलङ्घयेदिति । पूर्वरूप-
व्रणशोथविज्ञानमुक्तं सुश्रुते । तद्यथा—“शोफसमुत्थाना ग्रन्थिविद्रध्यलजीप्रभृतयः
प्रायेण व्याधयोऽभिधास्यन्ते अनेकाकृतयस्तैर्विलक्षणः पृथुग्रंथितः समो विषमो
वा लङ्मांसस्थायी दोषसङ्घातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते, स षड्विधो
वातपित्तकफशोणितसन्निपातागन्तुनिमित्तः । तस्य दोषरूपव्यञ्जनैर्लक्षणानि
व्याख्यास्यामः । तत्र वातशोफोऽरुणः कृष्णो वा परुषो मृदुरनवस्थितास्तोदा-
दयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति । पित्तशोफः पीतो मृदुः सरक्तो वा शीघ्रानुसारी
चोषादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति । श्लेष्मशोफः पाण्डुः शुक्लो वा कठिनः
शीतः स्निग्धो मन्दानुसारी कण्डादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति । सर्व्वव्रण-
वेदनः सन्निपातजः । पित्तवच्छोणितजोऽतिकृष्णश्च । पित्तरक्तलक्षण
आयुन्तुर्लोहितावभासश्च । स यदा बाह्याभ्यन्तरैः क्रियाविशेषैर्न सम्भावितः
प्रशमयितुं क्रियाविपर्य्यादाद् बहुत्वाद् वा दोषाणां तदा पाकाभिमुखो भवति ।
तस्यामस्य पच्यमानस्य पक्वस्य च लक्षणमुच्यमानमवधारय । तत्र मन्दोष्मता
त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्य्यं मन्दवेदनताऽल्पशोफता चामलक्षणमुद्दिष्टम् ।
सूचीभिरिव निस्तुद्यते दृश्यत इव पिपीलिकाभिस्ताभिश्च संस्पृश्यत इव छिद्यते
इव शस्त्रेण भिद्यत इव शक्तिभिस्ताड्यत इव दण्डेन पीड्यत इव पाणिना घट्ट्यत
इव चाङ्गुल्या दह्यते पच्यते इव चाग्निक्षाराभ्यामोषचोषपरिदाहाश्च भवन्ति ।
वृश्चिकविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति । आध्मातवस्तिरिवाततश्च
शोफो भवति । लग्नवैपर्य्यं शोफाभिवृद्धिर्ज्वरदाहपिपासाभक्तारुचिश्च
पच्यमानलिङ्गम् । वेदनोपशान्तिः पाण्डुताऽल्पशोफता बलीप्रादुर्भावस्त्वक्परि-
पोटनं निम्नदर्शनमङ्गुल्यावपीडिते प्रत्युन्नमनं वस्ताविवोदकसञ्चरणं पूयस्य
प्रपीडयत्येकमन्तमन्ते वावपीडिते मुहुर्मुहुस्तोदः कण्डूरनुन्नतता च व्याधेरुपद्रव-
शान्तिर्भक्ताभिकाङ्क्षा च पक्वलक्षणम् । कफजेषु तु रोगेषु मग्भीरगतित्वादभि-
घातजेषु वा केषु चिदसमस्तं पक्वलक्षणं दृष्ट्वा पक्वमपक्वमिति मन्यमानो भिषक्
मोहमुपैति । यत्र हि त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थौल्यमल्परुजताऽश्मवदघ्नता

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ-प्लक्षवेतसवल्कलैः ।
 ससर्पिष्कैः प्रदेहः स्याच्छोथनिर्वापणः परः ॥
 विजया मधुकं वीरा विसग्रन्थिः शतावरी ।
 नीलोत्पलं नागपुष्पं प्रदेहः स्यात् सचन्दनः ॥
 सक्तवो मधुकं सर्पिः प्रदेहः स्यात् सशर्करः ।
 अविदाहीनि चान्नानि शोथभेषजमुत्तमम् ॥ २१ ॥
 स चेदेवमुपक्रान्तः शोथो न प्रशमं व्रजेत् ।
 तरयोपनाहैः पक्वस्य पाटनं हितमुच्यते ॥

न तत्र मोहमुपेयादिति । भवन्ति चात्र । आमं विपच्यमानश्च सम्यक्
 पक्वश्च यो भिषक् । जानीयात् स भवेद् वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः ॥
 वाताहते नास्ति रुजा न पाकः पित्ताहते नास्ति कफाच्च पूयः । तस्मात्
 समस्ताः परिपाककाले पचन्ति शोफांस्त्रय एव दोषाः ॥ कालान्तरेणा-
 भ्युदितन्तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य । पचत्यतः शोणितमेष पाको
 मतोऽपरेषां विदुषां द्वितीयः ॥ तत्रामच्छेदे मांससिरास्नायवस्थिसन्धि-
 व्यापादनमतिमात्रं शोणितातिप्रवृत्तिर्वेदनाप्रादुर्भावोऽवदरणमनेकोपद्रवदर्शनं
 क्षतविद्रधिर्वा भवति । स यदा भयमोहाभ्यां पक्वमपक्वमिति मन्यमानश्चिर-
 मुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा गम्भीरानुगतो द्वारमलभमानः पूयः स्वमाश्रयमव-
 दीर्योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा नाडीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो
 वेति । भवन्ति चात्र । यश्छिनत्त्याममन्नानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते । श्वपचाविव
 मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ ॥” इति । अत्र वातशोथनिर्वापणार्थमाह—
 पूर्वमित्यादि । मारुतोत्तरं व्रणशोथं रक्तावसेचनलङ्घनाभ्यामृते कषाय-
 सर्पिर्भिर्वा पूर्वं जयेत् ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—न्यग्रोधेत्यादि । न्यग्रोधादीनां वल्कलं जलेन पिष्ट्वा घृतं
 मिश्रयित्वा प्रदेहः कार्यः सर्वशोफे । विजयेत्यादि । विजया शक्राशनपत्रम् ।
 एषां प्रदेहोऽपि सर्वशोथनिर्वापणः । सक्तव इत्यादि । यवादीनां सक्तवः ।
 अविदाहीनि चान्नपानानि आमशोथनिर्वापणे भेषजमिति ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—स चेदित्यादि । स आमव्रणशोथः । तस्योपनाहैः पाकं

तैलेन सर्पिषा वापि ताभ्यां वा सक्तुपिण्डिका ।
 सुखोष्णा शोथपाकार्थमुपनाहः प्रशस्यते ॥
 सतिला सातसीबीजा दध्नाम्ला सक्तुपिण्डिका ।
 सकिण्वकुष्ठलवणा शस्ता समुपनाहने ॥ २२ ॥
 रुग्दाहरागतोदश्च विदग्धं शोफमादिशेत् ।
 जलवस्तिमस्पर्शं सुपक्वं पीडितोन्नतम् ॥
 उमाथ गुग्गुलुः सौधं पयो दक्षकपोतयोः ।
 विट् पलाशभवः क्षारो हेमक्षीरी मुकूलकः ॥
 इत्युक्तो भेषजगणः पक्वशोथप्रभेदनः ।
 सुकुमारस्य कृष्टस्य शस्त्रन्तु परमुच्यते ॥ २३ ॥

कृता पाटनं हितं कुर्यात् । पाकार्थमाह—तैलेनेत्यादि । यवादिसक्तून् जलेन पक्त्वा तिलतैलेन घृतेन वा तैलघृताभ्यां वा मेलयित्वा कृता पिण्डिका सुखोष्णा व्रणशोफे उपनाहो देयः पाकार्थं प्रशस्यते । सतिलेत्यादि । कृष्ण-तिलातसी सुराकिण्वकुष्ठसैन्धवयुक्ता यवादिसक्तुपिण्डिका दध्नाम्लेनाम्ला सम्यगुपनाहने व्रणशोथपाकार्थं शस्ता ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—रुगित्यादि । यदा व्रणशोफे रुक् च दाहश्च रागश्च तोदश्च पिपी-लिकादिदंशादिवत् तदा शोफं विदग्धं पच्यमानमादिशेत् । यदा शोफं जल-वस्तिमस्पर्शं पीडितं सन्तमुन्नतं जानीयात् तदा सुपक्वं शोफमादिशेत् । इति रक्तावसेचनसंशोधनलङ्घनकषायसर्पिर्निर्व्वापणपाचनानीति षट् शोथघ्नानि कर्माणि । अथ पाटनार्थं शस्त्रकर्माह । तत्र सुकुमारादीनां पाटनमाह—उमेत्यादि । उमा क्षुमा सौधं सुधायाः पयः । दक्षस्य कुक्कुटस्य कपोतस्य पारावतस्य विट् । पलाशक्षारः । हेमक्षीरी स्वर्णक्षीरी । मुकूलको दन्ती । इत्येषामेकैकस्य पक्वशोथे मुखकरणयोग्यमात्रस्थाने लेपः प्रभेदनः । सुकुमाररोगान्तरकर्षितशस्त्रभीरु-बालादीनां परमं शस्त्रमिदम् ॥ २३ ॥

नागतव्रणोपक्रमे चोक्ताः कषायास्तैः सर्पिर्भिश्चेति कषायसर्पिर्भिः । उपनाहैरिति सोष्ण-बहल्लेपैः । किंवं सुराबीजम् । उमा अतसी । सौधं पयः स्नुहीक्षीरम् । हेमक्षीरी कङ्कटम् । मुकूलको दन्ती । सुकुमारस्येति । कृच्छ्रस्येत्यत्र सुकुमारस्य शस्त्रं परं भेदनमिति सम्बन्धः ॥ २०—२३ ॥

पाटनं व्यधनञ्चैव छेदनं लेखनन्तथा ।
 प्रच्छन्नं सीवनञ्चैव षड्विधं शस्त्रकर्म सत् ॥
 नाडीव्रणाः पक्वशोथास्तथा क्षतगुदोदरम् ।
 अन्तःशल्याश्च ये शोफाः पाट्यास्तै तद्विधाश्च ये ॥
 दकोदराणि सम्पक्वा गुल्मा ये ये च रक्तजाः ।
 व्यध्याः शोणितरोगाश्च विसर्पपिड्कादयः ॥
 अर्शःप्रभृत्यधीमांसं छेदनेनोपपादयेत् ॥
 तद्वृत्तान् स्थूलपर्यन्तानुत्सन्नान् कठिनान् व्रणान् ।
 किलासानि सकुष्ठानि लिखेत्लेख्यानि बुद्धिमान् ॥
 वातासृग्ग्रन्थिपिड्काः सकोठा रक्तमण्डलाः ।
 कुष्ठान्यभिहतश्चाङ्गं शोफांश्च प्रच्छयेद् भिषक् ॥
 कुक्ष्युदरादिकं सीव्यं गम्भीरं यद् विपाटितम् ।
 इति षड्विधमुद्दिष्टं शस्त्रकर्म मनीषिभिः ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—इत्येकं शस्त्रमुक्त्वा शस्त्रकर्माण्याह—पाटनमित्यादि । पाटना-
 दिकं षड्विधं शस्त्रकर्म सत् साधु भवति । तत्र पाटनक्रियार्हानाह । नाडीव्रणा
 इत्यादि । क्षतगुदोदरं तद्विधा येऽन्ये शोफास्ते पाट्या व्रयाः । व्यधार्हानाह ।
 दकोदराणीत्यादि । सम्पक्वा गुल्मा ये ये वा रक्तगुल्माः शोणितरोगाश्च विसर्पा-
 दयो व्यध्याः । छेदनाह । अर्श इत्यादि । अर्शःप्रभृतीनि प्रभृतिशब्देनाल्प-
 मूलान्वदादीनि । लेख्यानाह । तद्वृत्तानित्यादि । अर्शःप्रभृतीन् वृत्तान्
 वर्तमान् स्थूलपर्यन्तानुत्सन्नान् उच्चैर्भूतान् कठिनान् व्रणांश्च किलासादीनि
 च लेखनेन तीक्ष्णशस्त्राग्रेण किञ्चित् किञ्चिद् विदरणेनोपपादयेत् । प्रच्छनमाह ।
 वातासृगित्यादि । अभिहतमनिर्गतं रक्तमङ्गं प्रच्छयेत् । पाटीनमत्स्यदन्तादिना
 किञ्चिद् विधेत् । सीवनमाह । कुक्ष्युदरादिकं यद् गम्भीरं विपाट्यते तत् पुनः
 सीव्यं स्यात् । इति षड्विधं शस्त्रकर्म ॥ २४ ॥

चक्रपाणिः—पाटनमित्यादिना प्रोक्त षड्विधशस्त्रकर्मणि पृषणीशस्त्रशस्त्रोक्तकर्माविरोधोऽत्र
 बोद्धव्यः । पाटनादीनां पृथग्विषयमाह—नाडीव्रणा इत्यादि । सम्पक्वा गुल्मा ये ते व्यध्याः ।
 तथा रक्तजा इति रक्तगुल्माः विधिशोणितयोक्ताः विसर्पादयः व्यध्याः स्नाव्यसिराव्यध्याः ।

सक्तून्
 ण्डिका
 कुष्ण-
 नाम्ला

पिपी-
 जल-
 इति
 ग्रानि
 यादि ।
 विट् ।
 शोथे
 भीरु-

सोष्ण-
 दृष्टम् ।
 नमिति

सूक्ष्माननाः कोषवन्तो ये व्रणास्तान् प्रपीडयेत् ॥
 कलायाश्च मसूराश्च गोधूमाः सहरेणवः ।
 कल्कीकृताः प्रशस्यन्ते निःस्नेहा व्रणपीडने ॥ २५ ॥
 शाल्मलीत्वग्बलामूलं तथा न्यग्रोधपल्लवाः ।
 न्यग्रोधादिकमुद्दिष्टं बलादिकमथापि वा ॥
 आलेपनं निर्व्वापणं तद्विधान्यैश्च सेचनम् ।
 सर्पिषा शतधौतेन पयसा मधुकाम्बुना ॥
 निर्व्वापयेत् तु शीतेन रक्तपित्तोत्तरान् व्रणान् ॥ २६ ॥
 लम्बानि व्रणमांसानि प्रलिप्य मधुसर्पिषा ।
 सन्दधीत समं वैद्यो बन्धनैश्चोपपादयेत् ॥
 तान् मांससंस्थितान् ज्ञात्वा फलिनीलोद्विग्नफलैः ।
 समङ्गाधातकीयुक्तश्चूर्णितैरवचूर्णयेत् ॥

गङ्गाधरः—अथ प्रपीडनमाह—सूक्ष्मानना इत्यादि । सूक्ष्माननादीन् व्रणान् प्रपीडयेत् । कैरित्यतः प्रपीडनद्रव्यमाह । कलाय इत्यादि । कलायो वक्तुं लत्रिपुटकलायः । हरेणवश्चातिवर्तुलकलायाः । निःस्नेहा घृतादिरहिता रुक्षा एव ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—शाल्मलीत्वगित्यादि । शाल्मलीत्वक् च बलामूलश्च न्यग्रोध-पल्लवाश्चेति । एवं पूर्वमुद्दिष्टं न्यग्रोधादिकं न्यग्रोधोदुम्बरेत्यादिना, बलादिकं वा बलागुडू चीत्यादिना वक्ष्यमाणं तद्विधैरन्यैर्वा सेचनम् । शतधौत-सर्पिषा केवलेन पयसा मधुकाम्बुना वा सेचनम् ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—निर्व्वापणमुक्त्वा सन्धानमाह—लम्बानीत्यादि । छेदादितो मांसानि यानि लम्बन्ते तानि सन्दधीत मधुसर्पिषा प्रलिप्य बन्धनैश्च उप-पादयेत् । ततो लम्बमानानि मांसानि संस्थितान् व्रणांस्तान् ज्ञात्वा

लेख्यानीति लेखनावस्थां प्राप्तानि । व्रणपीडन इति व्रणपीडनश्च लेपो निःस्नेहः व्रणमुखं वर्जयित्वा कर्तव्यः ॥ २४ । २५ ॥

चक्रपाणिः—न्यग्रोधादिकमिति । न्यग्रोधोदुम्बराश्चैत्यादिभोक्तम् । अत्रैव बलादिकं

पञ्चवल्कलचूर्णैर्वा शुक्तिचूर्णसमायुतैः ।

धातकोलोध्रचूर्णैर्वा तथा रोहन्ति तैः व्रणाः ॥ २७ ॥

अस्थि भग्नं च्युतं सन्धिं सन्दधीत समं पुनः ।

समेन सममङ्गेन कृत्वान्येन परीक्षकः ॥

स्थिरैः काकनिकाबन्धैः * कुशिकाभिश्च संस्थितम् ।

पट्टः प्रभूतसर्पिष्कैर्बध्नीयादचलं सुखम् ॥ २८ ॥

अविदाहभिरन्नैश्च पौष्टिकैः समुपाचरेत् ।

ग्लानिर्हि न हिता चास्य सन्धिविश्लेषकारिका ॥ २९ ॥

विच्युताभिहताङ्गानां विसर्पादोनुपद्रवान् ।

उपक्रमेद् यथाकालं कालज्ञः स्वाच्चिकित्सितात् ॥ ३० ॥

फलिन्यादिचूर्णैर्वचूर्णयेत् । अथवा शुक्तिचूर्णसमन्वितैः पञ्चवल्कलचूर्णै-
रवचूर्णयेत् । धातक्यादिचूर्णैर्वचूर्णयेत् तथा सति व्रणा रोहन्ति ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—अस्थि भग्नमित्यादि । भग्नमस्थि । च्युतं विश्लिष्टं सन्धिं
समं सन्दधीत । कथमिति तदाह । समेनेत्यादि । यदस्थि भग्नं तत्
समेनान्येनाङ्गेन समं कृत्वा स्थिरैः काकनिकानामबन्धैः कुशिकाभिः
कुशावेष्टनैः संस्थितमस्वलितं कृत्वा प्रभूतसर्पिष्कैः पट्टैः पट्टनिम्मितधटापट्टैः
अचलं यथा स्यात्तथा सुखं बध्नीयात् ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—अविदाहिभिः पौष्टिकैः पिष्टकृतैरन्नैः समुपाचरेत् । किमर्थमेवं-
विधैरन्नैः समुपाचरेदित्यत आह—ग्लानिरित्यादि । हि यस्मादस्यास्थिभग्नस्य
च्युतसन्धेश्चाहाराभावेन ग्लानिनं हिता, यतः सन्धिविश्लेषकारिका ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—विच्युतेत्यादि । विच्युतमभिहतं वाङ्गं येषां तेषां व्रणे विसर्पादीन्
उपद्रवानुक्तान् स्वात् स्वाच्चिकित्सिताद् यथाकालमुपक्रमेत् । परस्मैपद-
मुत्सर्गोऽपि कचिद्भवतीति नात्मनेपदमिति ॥ ३० ॥

शोथहरोपक्रमोपदिष्टम् । लम्बानीत्यादिना सन्धानोपक्रममाह । शुक्तिर्वदरिका । समेन सममङ्गेनेति
समेन समं सदृशं कृत्वा सन्दधीतेति योज्यम् । कवलिकाकुशिकाबन्धौ सुश्रुते द्रष्टव्यौ ॥ २६—२९ ॥

चक्रपाणिः—विच्युताभिहताङ्गानामिति आनाहार्हितेति केचित् पठन्ति । स्वाच्चिकित्सिता-

* कवलिकाबन्धैरिति पाठान्तरम् ।

शुष्का मारुजः स्वेद्या ये व्रणा मारुतोत्तराः ।

स्वेद्याः शङ्करकल्पेन तै स्युः कृशरपायसैः ॥

ग्राम्यवैलाम्बुजानूपैर्वेश्वारैः सुसंस्कृतैः ।

उत्कारिकाभिश्चोष्णाभिः सुखी स्याद् व्रणितस्तथा ॥३१॥

सदाहा वेदनावन्तो ये व्रणा मारुतोत्तराः ।

तेषां तिलानुमाञ्चैव भृष्टान् पयसि निर्वृतान् ।

तेनैव पयसा पिष्ट्वा दद्यादालेपनं बुधः ॥

बला गुडूची मधुकं पृश्निपर्णी शतावरी ।

जीवन्ती शर्करा क्षीरं तैलं मत्स्यवसा घृतम् ।

संसिद्धा समधूच्छिष्टा शूलघ्नी स्नेहशर्करा ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—इति सन्धानमुक्त्वा स्वेदमाह । शुष्का इत्यादि । शुष्कादयो मारुतोत्तरा ये व्रणास्ते शङ्करस्वेदकल्पेन स्वेद्याः स्युः, कैः ? कृशरपायसैः कृशरैस्तिलकल्कैः पायसैश्च । ग्राम्यादिमांसैः वेङ्गवारीकृतैर्वा स्वेद्याः । तथा उष्णाभिरुत्कारिकाभिर्यवादीनां स्वेद्याः स्युः, तथा सति व्रणितः सुखी स्यात् ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—इति स्वेदमुक्त्वा व्रणानां शमनलेपनमाह । सदाहा इत्यादि । सदाहादिवातोत्तरव्रणेषु भृष्टांस्तिलानुमाञ्च भृष्टां पयसि क्षिप्त्वा शीत्तीकृत्य तेनैव पयसा पिष्ट्वा लेपनं व्रणेषु दद्यात् । दाहादिशान्तिर्भवति । बलेत्यादि । क्षीरं गव्वम्, तैलं तिलस्य । मत्स्यवसा रोहितादिमत्स्यतैलम् । घृतं गव्यम् । तलमत्स्यवसाघृतानि समानानि मिलितानां पादिकं कल्कं बलादीनां क्षीरं चतुर्गुणं पत्त्वा वस्त्रेण पूत्वा तस्मिन् स्नेहे उष्णे सति मधूच्छिष्टमष्टमांशं शर्करां तत्समां प्रक्षिपेदियं संसिद्धा स्नेहशर्करा व्रणशूलघ्नी प्रलेपनात् । स्नेहशर्करेति वचनादत्र प्रक्षप्या शर्करा मधूच्छिष्टं मिलित्वा पादिकमिति ॥३२॥

इति विसर्पीदिचिकित्सितात् । बला गुडूचीत्यादि । अत्र बलादीनि पिष्टानि तथा शर्करा-क्षीरमधूच्छिष्टतैलादिभिः उत्कारिकां कृत्वा, अन्ये तु बलादिकल्केन तलादिस्नेहं चतुर्गुणं साधयित्वा स्नेहपानादिकं मधूच्छिष्टप्रक्षेपं प्राहुः । स्नेहस्यार्द्रसंहतावस्थितत्वात् मधुशर्करावत्

॥३१॥

शुष्कादयो
शरपायसैः
तथा
तः सुखी

इत्यादि ।
क्षिप्त्वा
तर्भवति ।
मृत् । घृतं
बलादीनां
मृष्टमांशं
लेपनात् ।
ति ॥३२॥

शर्करा-
चतुर्गुणं
शुष्करावत्

द्विपञ्चमूलोत्कथितेनाम्भसा मस्तुनाथवा * ।

सर्पिषा वा सतैलेन कोष्णेन पार्ष्वेचयेत् ॥ ३३ ॥

यवचूर्णं समधुकं सतिलं सह सर्पिषा ।

दद्यादालेपनं कोष्णं दाहशूलोपशान्तये ॥ ३४ ॥

उपमाहश्च कर्तव्यः सतिलो मुद्रपायसः ।

रुग्दाहयोः प्रशमनो ब्रणेष्वेवं विधिः स्मृतः ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मानना बहुस्त्रावाः कोषवन्तश्च ये ब्रणाः ।

न च मर्मस्थितास्तैषामेषणं हितमुच्यते ॥

द्विविधामेषणां विद्यान्मृद्वोश्च कठिनामपि ।

औद्भिदैर्मृदुभिर्नालैर्लोहानां वा शलाकया ॥

गम्भीरं मांसले देशे पाठ्यं लोहशलाकया ।

एवंविधाद् ब्रणं नालैर्विपरीतमतो भिषक् ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—द्विपञ्चेत्यादि । सदाहादिवातोत्तरव्रणान् दशमूलकाथेन मस्तुना वा कोष्णेन सतैलसर्पिषा वा परिषेचयेत् ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—यवचूर्णमित्यादि । सतिलं कृष्णतिलम् । त्रीणि समानानि जलेन पिष्ट्वा घृतेन मिश्रयित्वा प्रलेपनम् ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—उपमाह इत्यादि । कृष्णतिलान् मुद्रांश्च समानान् दुग्धेन पक्त्वा पायसः कृतः प्रलेपाद् रुग्दाहप्रशमन इत्येवं विधिः प्रशमनः स्मृतः ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—इति शमनमुक्त्वा शोथनादीनि वक्तुं तद्विषयमाह—सूक्ष्मानना इत्यादि । कोषवन्तोऽभ्यन्तरे मांसादिशून्याः नाडीवद्वृत्तिमन्तः । न च मर्मस्थिता मर्मस्थानजान् विहाय ये तेषामेषणं हितम् । कथमेषणं स्यादित्यत आह—द्विविधमित्यादि । मृद्वीमेषणां कठिनाश्च विद्यात् । कैर्मृद्वी कैश्च कठिना स्यात् ? औद्भिदैर्मृदुभिर्नालैर्मृद्वी एषणा । लोहानां शलाकया कठिनैषणा । तयोर्विषयमाह—गम्भीरमित्यादि । गम्भीरं मांसले देशे स्नेहशर्करेति व्यपदेशात् । द्विपञ्चमूलकथितेनेति अम्भसा पयसा सर्पिस्तैले योजनीये इति ।

पूतिगन्धान् विवर्णांश्च बहुस्त्रावान् महारुजः ।
 व्रणानशुद्धान् विज्ञाय शोधनैः समुपाचरेत् ॥
 त्रिफला खदिरो दावर्वा न्यग्रोधादिर्वला कुशाः ।
 निम्बकूलकपत्राणि कषायाः शोधने हिताः ॥
 तिलकल्कः सलवणो द्वे हरिद्रे त्रिवृद्ध घृतम् ।
 मधुकं निम्बपत्राणि लेपः स्याद् व्रणशोधनः ॥ ३७ ॥
 नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्यावो न चातिरुक् ।
 न चोत्सङ्गो न चोत्सङ्गी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः ॥
 न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ-कदम्बप्रक्षवेतसाः ।
 करवीरार्ककुटजाः कषाया व्रणरोपणाः ॥
 चन्दनं पद्मकिञ्जल्कं दावर्वीत्वङ् नालमुत्पलम् ।
 मेदे मूर्वा समङ्गा च यष्ट्याह्वं व्रणरोपणम् ॥

लौहशलाकयान्वेष्य पाठ्यम् । एवंविधाद् गम्भीरान्मांसलदेशाद् विपरीत-
 मगम्भीरममांसले देशे व्रणं नालैरन्वेष्य पाठयेत् ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—तत्र शोधनार्हानाह । पूतिगन्धानित्यादि । पूतिगन्धादीन्
 व्रणान् खल्वशुद्धान् विज्ञाय शोधनैः समुपाचरेत् । शोधनयोगानाह । त्रिफले-
 त्यादि । न्यग्रोधादिः पूर्वमुक्तः । एषां कषायेण व्रणं धौतं कुर्यात् । शोधन-
 लेपमाह । तिलेत्यादि । तिलेत्यादयोऽष्टौ ह्येको लेपो मिलितः । तिलाष्टकः ॥ ३७

गङ्गाधरः—शोधनकषायलेपावुत्तवा रोपणकषायलेपावाह । तद्विषयमाह—
 नादीत्यादि । उत्सङ्गो व्रणस्थाने चेन्न वत्तते, व्रणश्च चतुर्दिक्षु च नोत्-
 सङ्गवान् चेन्न स्यात्, तदा शुद्धो व्रण इति ज्ञात्वा स व्रणो रोप्यः । रोपणकषाय-
 माह—न्यग्रोधेत्यादि । न्यग्रोधादिनामेषां कषायेण व्रणधौतं कुर्याद्रोपणार्थ-
 मिति । रोपणप्रलेपनमाह—चन्दनमित्यादि । चन्दनादिभिर्लेपनं व्रणरोपणम् ।

द्विविधमिति औज्जिदैर्मृदुभिर्नालैः मृद्वीं लौहशलाकया कटिनाम् । पाठ्यमिति एषणीयम् । निम्ब एव
 वृद्धनिम्ब उच्यते । किंवा कूलकेति पाठः । कूलकः पटोलः ॥ ३०—३७ ॥

चक्रपाणिः—नातिरक्त इत्यादिना शुद्धव्रणलक्षणमभिधाय रोपणमाह—न्यग्रोधेत्यादि ।

प्रपौण्डरीकं जीवन्तीं गोजिह्वां धातकीं बलाम् ।
 रोपणं सतिलं दद्यात् प्रदेहं सघृतं व्रणे ॥
 कम्पिल्लकं विडङ्गानि वत्सकं त्रिफलां बलाम् ।
 पटोलं पिचुमर्दश्च लोध्रं मुस्तं प्रियङ्गुकम् ॥
 धातकीं खदिरं सज्जमेलामगुरुचन्दनम् ।
 पिष्ट्वा साध्यं भवेत् तैलं तत् परं व्रणरोपणम् ॥
 प्रपौण्डरीकं मधुकं काकोल्यौ द्वे च चन्दने ।
 सिद्धमेतैः समैस्तैलं परं स्याद् व्रणरोपणम् ॥
 दूर्वास्वरससिद्धं वा तैलं कम्पिल्लकेन वा ।
 दाव्वीत्वचश्च कल्केन प्रधानं व्रणरोपणम् ॥
 येनैव विधिना तैलं घृतं तेनैव साधयेत् ।
 रक्तपित्तोत्तरं ज्ञात्वा रोपणे घृतमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

वपरीत-

धादीन्

त्रिफले-

शोधन-

॥३७

माह—

नोत्-

कषाय-

पणार्थ-

पणम् ।

निम्ब एव

वेत्यादि ।

प्रलेपान्तरमाह । प्रपौण्डरीकमित्यादि । प्रपौण्डरीकादितिलान्तं सघृतं प्रदेहं
 व्रणरोपणं दद्यात् । अथ शोधनतैलमाह । कम्पिल्लकमित्यादि । कम्पिल्लका-
 दीनि पादिकानि पिष्ट्वा कल्कं दत्त्वा चतुर्गुणजले तैलं साध्यम् । तत्
 तैलं परं व्रणशोधनं भवेत् । रोपणतैलमाह । प्रपौण्डरीकमित्यादि । काकोल्यौ
 द्वे चन्दने च द्वे । प्रपौण्डरीकादिकं कल्कं चतुर्गुणं जलम् । रोपणतैलान्तर-
 माह । दूर्वास्वत्यादि । दूर्वास्वरसे चतुर्गुणे कल्कहीनमेकं तैलम् । कम्पिल्लक-
 कल्केन चतुर्गुणजलेऽपरं तैलम् । दाव्वीत्वक्कल्केन चतुर्गुणजलेन सिद्धमपरं
 तैलम् । अथ शोधन-रोपणे घृते आह—येनेत्यादि । कम्पिल्लकादिचन्दनान्तैः
 कल्कैः घृतं चतुर्गुणजले पक्वं व्रणशोधनम् । प्रपौण्डरीकादिकल्कसिद्धं घृतं
 चतुर्गुणजले व्रणरोपणम्, तथा दूर्वास्वरसे चतुर्गुणे त्वक्कल्कं घृतं सिद्धम् ।
 कम्पिल्लककल्केन चतुर्गुणजले सिद्धं घृतमपरम् । दाव्वीत्वक्कल्केन
 चतुर्गुणजलेनापरं सिद्धं घृतं रोपणमिति । घृतं रक्तपित्तोत्तरं ज्ञात्वा साधयेत् ।
 तैलं वातकफोत्तरे साधयेदिति ख्यापितम् ॥ ३८ ॥

कषाया इति बहुवचननिर्देशात् समस्तप्रयोगान् सूचयति । दाव्वीति दारुहरिद्रा । व्रणशोधनोर्थं
 तैलं साधयेत् । यथोक्ततैलद्वयैरेव घृतं साधयेदिति । घृतविषयमाह—रक्तपित्तोत्तरमित्यादि ।

कदम्बाज्जुनजम्बूनां पाटल्याः पिप्पलस्य च ।

व्रणप्रच्छादने विद्वान् पत्राण्यर्कस्य चादिशेत् ॥ ३६ ॥

वामोऽथवाप्यवामश्च * पट्टो व्रणहितः परः ।

बन्धश्च द्विविधः शस्तो व्रणानां सव्यदक्षिणः ॥ ४० ॥

लवणाम्लकटूष्णानि विदाहीनि गुरुणि च ।

वर्जयेदन्नपानानि व्रणो मैथुनमेव च ॥ ४१ ॥

नातिशीतगुरुस्निग्धमविदाहि यथाव्रणम् ।

अन्नपानं व्रणहितं हितश्चास्वपनं दिवा ॥ ४२ ॥

स्तन्यानि जीवनीयानि वृंहणीयानि यानि च ।

उत्सादनार्थं निम्नानां व्रणानां तानि कल्पयेत् ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—अथ व्रणच्छादने शोधनरोपणे पत्राण्याह । कदम्बेत्यादि ।
कदम्बादीनां पत्रं व्रणप्रच्छादने आदिशेत् ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—बन्धनद्वयमाह । वाम इत्यादि । वामः पट्टोऽथवाप्यवामो
दक्षिणः पट्ट इति द्विविधो बन्धो व्रणहितः सव्यदक्षिणः शस्तः ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—अथाद्यमिति स्वाद्यं वर्जयेत्माह—लवणेत्यादि । मैथुनवर्जनं
प्रसङ्गादुक्तम्, आद्यशब्देन पथ्यापथ्ययोर्विवक्षितत्वात् ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—नातीत्यादि । नातिशीतादिकं स्वाद्यम् । दिवा चास्वपनं
हितमिति मैथुनवत् ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—अथोत्सादनमाह—स्तन्येत्यादि । स्तन्यजननानि दश ।
जीवनायानि दश । वृंहणीयानि दश । निम्नानां व्रणानामुत्सादनार्थं
कल्पयेत् ॥ ४३ ॥

रोपणीयमिति वचनात् रोपणमेव घृतं कर्तव्यं नतु शोधनार्थं घृतं कर्तव्यमित्यर्थः । सव्यदक्षिण
इति वामदक्षिणः । अत्रैव शल्योक्तचतुर्दशबन्धावरोधः कार्यः ॥ ३८—४२ ॥

चक्रपाणिः—स्तन्यानि षड्विरेचनाशताश्रित्योक्तानि । अश्मकासीसं धातुकासीसम् ।
अधोभागानि त्रिवृतादीनि विरेचनद्रव्याणि ।

रुधरेऽतिप्रवृत्ते तु भिन्ने छेदेऽधिमांसके ।
 कफग्रन्थिषु गरङ्गेषु वातस्तम्भेषु रुद्धु च ॥
 गूढपूयलसीकेषु गम्भीरेषु व्रणेषु च ।
 सुप्तैषु चाङ्गदेशेषु कर्म्मग्नेः संप्रशस्यते ॥
 मधूच्छिष्टेन तैलेन मज्जद्वौद्रवसाघृतः ।
 तप्तैर्वा विविधलोहैर्दहेद् दाहविशेषवित् ॥
 रुक्षाणां सुकुमाराणां गम्भीरान्मारुतोत्तरान् ।
 दहेत् स्नेहमधूच्छिष्टैर्लोहः क्षौद्रैस्ततो घृतैः ॥ ४४।४५ ॥
 बालदुर्बलवृद्धानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम् ।
 तृष्णाज्वरपरीतानामबलानां विषादिनाम् ।
 नाशिकर्म्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च ।
 सविषेषु सशल्येषु नेत्रकोष्ठव्रणेषु च ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—द्विविधदाहविषयमाह—रुधरेऽतीत्यादि । वातस्तम्भेषु रुजासु च
 सुप्तेषु स्पर्शान्नरहितेषु अग्नेः कर्म्म दाहः संप्रशस्यते । यथा दहेत् तदाह ।
 मधूच्छिष्टेनेत्यादि । दाहविशेषवित् मधूच्छिष्टादौषकैकं तप्तं कृत्वा रुधिराति-
 प्रवृत्तव्रणच्छेद्यभेद्यादिषु सिञ्चेत् ततो दाहः स्यादित्येकः, अपरस्तु तथा
 विविधैर्दाहस्थानानुरूपैर्लोहैरग्निना तप्तैर्दहेत् । रुक्षाणामित्यादि । रुक्षादीनां
 गम्भीरान् वातोत्तरान् स्नेहमधूच्छिष्टैर्दहेत् । ततोऽन्यान् लोहैः क्षौद्रै-
 र्घृतैर्दहेदिति ॥ ४४।४५ ॥

गङ्गाधरः—अदाहानाह—बालेत्यादि । बालादीनामशिकर्म्म दाहो नोप-
 देष्टव्यम्, स्नाय्वादिव्रणेषु च नाशिकर्म्मोपदेष्टव्यमिति ॥ ४६ ॥

छद्ये इति छेदनाह । तप्तैरिति रुक्षस्निग्धदाहभेदविषयं दर्शयन्नाह—सुकुमाराणा-
 मित्यादिना । दाहविशेषविदिति स्निग्धरुक्षादिरूपं तथा बिन्दुबलयादिरूपं जानातीति
 दाहविशेषवित् । विषादिनामिति भक्षितविषाणाम् ॥ ४३—४६ ॥

रोगदोषवलापेक्षी मात्राकालाग्निकोविदः ।

शस्त्रकर्ममृत्कृत्येषु क्षारमप्यवचारयेत् ॥ ४७ ॥

भूर्जग्रन्थिश्मकाशीशं समभागानि गुग्गुलुः ।

व्रणावसादनं तद्वत् कलविङ्ककपोतविट् ॥

कठिनत्वं व्रणा यान्ति गन्धसारैश्च धूपिताः ।

सर्पिर्मज्जवसातैलैः शैथिल्यं यान्ति हि व्रणाः ॥

रुजः स्नावाश्च गन्धश्च क्रिमयश्च व्रणाश्रिताः ।

काठिन्यं माद्वैवश्चापि धूपनेनोपशम्यति ॥ ४८ ॥

लोध्रन्यग्रोधशुङ्गाश्च खदिरं त्रिफला घृतम् ।

प्रलेपो व्रणशैथिल्य-सौकुमार्यप्रसाधकः ॥ ४९ ॥

सरुजः कठिनाः स्तब्धा निरास्नावाश्च ये व्रणाः ।

यवचूर्णैः ससर्पिष्कैर्बहुशस्तान् प्रलेपयेत् ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—दाहवद्गुणत्वात् क्षारदाहमाह—रोगेत्यादि । रोगाद्यपेक्षी मात्रादिकोविदः । शस्त्रकर्मयोग्येष्वग्निकर्मकृत्येषु क्षारमप्यवचारयेत् । क्षारविधानमिह विस्तरत्नान्नोक्तं कायप्रधानचिकित्सितशास्त्रत्वादस्य तन्त्रस्य शल्यतन्त्रालपवचनं न दुष्यति ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—अथ व्रणावसादनमाह—भूर्जत्यादि । भूर्जग्रन्थिश्म च काशीशश्च गुग्गुलुश्च समानि प्रलेपो व्रणावसादकरः, तद्वदवसादनः कलविङ्क-विट् कपोतविट् च । कलविङ्कश्चटकः । अथ काठिन्यकरमाद्वैवकरधूपने आह । कठिनत्वमित्यादि । गन्धसारः श्वेतचन्दनम् । तेन धूपिता व्रणाः कठिनत्वं यान्ति । सर्पिरादिभिर्धूपिताः कठिना व्रणाः शैथिल्यं माद्वैवं यान्ति । अनयोर्धूपनयोः कर्म्मन्तरमाह—रुज इत्यादि ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—काठिन्यमाद्वैवकरे आलेपने चाह—लोध्रेत्यादि । लोध्रशुङ्गादीनां प्रलेपः व्रणशैथिल्ये काठिन्यस्य सौकुमार्यस्य च प्रसाधकः ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—सरुजः कठिनाश्चैवमादयो ये व्रणास्तान् ससर्पिष्कैर्बहुशः प्रलेपयेत् ॥ ५० ॥

चक्रपाणिः—यद्यपि शस्त्रकर्मसु क्षारः पृथक् पठितस्तथापि शस्त्रादीनां उपक्रमगृहीतत्वात्

मुद्गषष्टिकशालीनां पायसैर्वा यथाक्रमम् ।
 सघृतैर्जीवनोयैर्वा तर्पयेत् तानभीक्ष्णशः ॥ ५१ ॥
 ककुभोडुम्बराश्वत्थ-लोध्रकट्फलजाम्बवैः ।
 त्वचमाशु निगृह्णाति त्वक्चूर्णैश्चूर्णिता व्रणाः ॥ ५२ ॥
 मनःशिलाले मज्जिष्ठा शताह्वा रजनीद्रयम् ।
 प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वग्निशुद्धिकरः परः ॥ ५३ ॥
 अयोरजः सकाशीशं त्रिफलाकुसुमानि च ।
 प्रलेपः कुरुते कार्ण्यं सद्य एव नवत्वचि ॥
 कालीयकनताम्रास्थि-हेमकालरसोत्तमैः ।
 लेपः सगोमयरसः सवर्णकरणः परः ॥
 ध्यामकाश्वत्थनिचुल-मूलं लाक्षाथ गैरिकम् ।
 सहेम सामृतासंज्ञं काशीशञ्चेति वर्णकृत् ॥ ५४ ॥

गङ्गाधरः—मुद्गादीनामन्यतमस्य पायसैर्वा तान् व्रणांस्तर्पयेत्तलेपयेत् ।
 अथवा सघृतैर्जीवनीयैर्दशभिस्तान् व्रणांस्तर्पयेत् । तेन मृदवो नीरुगादयश्च
 व्रणा भवन्ति ॥ ५१ ॥

गङ्गाधरः—अथ व्रणावचूर्णनमाह—ककुभेत्यादि । ककुभादीनां त्वक्-
 चूर्णैश्चूर्णिता अवगुण्ठिता व्रणा आशु त्वचं निगृह्णाति निश्चयेन गृह्णाति ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—अथ वण्यमाह—मनःशिलेत्यादि । आलं हरितालम् । त्वग्निशुद्धि-
 गात्रसवर्णता । अयोरज इत्यादि । त्रिफलानां कुसुमानि नवत्वचि व्रणस्य
 गात्रसवर्णकृष्णत्वं कुरुते । कालीयकेत्यादि । कालीयककाष्ठं नतमाम्रास्थि
 हेम नागकेशरं कालः कृष्णागुरु रसोत्तमः पारदः, एभिः सगोमयरसो लेपः ।
 ध्यामकेत्यादि । ध्यामकं गन्धद्वयं ध्यामकादीनां मूलं हेम नागकेशरं
 अमृतासंज्ञा गुडं च । ध्यामकादीनां लेपो वर्णकृत् ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

क्षारमप्यवचारयेदिति वचनेन क्षारोऽपि विहितः । तर्पयेदिति तर्पणार्थं लेपं कारयेत् ॥ ४७—५१ ॥

चक्रपाणिः—ककुभेत्यादिप्रकरणेन त्वगजननं तथा वर्णकरणं तथा रोमजननमिति उपक्रम-
 लयमाह । त्वचमाश्वेव गृह्णन्ति इति सद्यो भवन्ति । त्रिफलाकुसुमानीति त्रिफलापुष्पाणि ।
 नता प्रियङ्गुः । हेमकाला मज्जिष्ठा । रसोत्तमः पारदः घृतं वा । अमृतासङ्गः कपिकच्छः ॥ ५२—५४ ॥

चतुष्पदानां त्वग्रोम-खुरशृङ्गास्थिभस्मना ।

तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेद्रोमवती पुनः ॥ ५५ ॥

षोडशोपद्रवा ये च ब्रणानां परिकीर्त्तिताः ।

तेषां चिकित्सा निर्दिष्टा यथा स्वस्वचिकित्सिते ॥ ५६ ॥

तत्र श्लोकौ ।

द्वौ ब्रणौ ब्रणभेदाश्च परीक्षा दुष्टिरेव च ।

स्थानानि गन्धाः स्नावाश्च सोपसर्गाः क्रियाश्च याः ॥

ब्रणाधिकारे संप्रश्नमेतन्नवकमुक्तवान् ।

मुनिर्व्याससमासाभ्यामग्निवेशाय धोमतै ॥ ५७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतैऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते

चिकित्सितस्थाने द्विब्रणीयचिकित्सितं नाम

पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—वर्ण्यमुक्त्वा रोषणलोमरोहणे आह—चतुष्पदानामित्यादि ।
चतुष्पदानां लगादीनां भस्मना तलाक्ता ब्रणभूमिश्चूर्णिता घर्षिता पुनर्लोमवती
भवेदिति ॥ ५५ ॥

गङ्गाधरः—षट्त्रिंशदुपक्रमानुत्तया उपद्रवाणां विसर्पादीनां चिकित्सामाह—
षोडशेत्यादि । स्वस्वचिकित्सिते यथा निर्दिष्टाश्चिकित्सास्तथा चिकित्साः
परिकीर्त्तिताः ॥ ५६ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति । तत्र श्लोकाविति । द्वौ ब्रणावित्यादि ॥
इति ॥ ५७ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव च ।

द्विब्रणीयचिकित्सिते त्रध्याये पञ्चविंशके । वैद्यगङ्गाधरकृते जलषकल्पतरौ

पुनः । चिकित्सितस्थानजल्पे षष्ठस्कन्धे द्विब्रणीये । चिकित्सितजल्पो

नाम शाखेयं पञ्चविंशिका ॥ २५ ॥ शल्याङ्गं समाप्तम् ।

चक्रपाणिः—द्वौ ब्रणावित्याद्यध्यायसंग्रहः व्यक्तः ॥ ५५—५७ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां

चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां द्विब्रणीयचिकित्सितं

नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः ।

अथातस्त्रिमर्मीयचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसङ्ख्यामधिकृत्य तेभ्यः ।

मर्माणि वस्तिं हृदयं शिरश्च प्रधानभूतानृषयो वदन्ति ॥

प्राणाशयात् तानि हि पीडयन्तो वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति ।

तत्संश्रितानामनुपालनार्थं महागदानां शृणु सौम्य रक्षाम् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टानुक्रमात् त्रिमर्मीयचिकित्सितमाह—अथात इत्यादि ।
सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—सप्तोत्तरमित्यादि । शरीरसङ्ख्याशरीरे सप्तोत्तरं मर्मशतमिति
यदुक्तं तेभ्यस्त्रीणि मर्माणि प्रधानभूतानृषयो वदन्ति वस्तिश्च हृदयश्च
शिरश्चेति । कस्मात् प्रधानभूतानि ? प्राणाशयात् । प्राणानामाशया हि वस्त्या-
दयः प्रधानतया इति । तानि वस्तिहृदयशिरांसि पीडयन्तो वातादयोऽसूनपि
पीडयन्ति । तस्मात् ततोऽनुपालनार्थं प्राणरक्षणार्थं तत्त्रिमर्मेसंश्रितानां
महागदानां सम्बन्धे रक्षां सौम्य शृणु ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—द्विजणीये द्विसंख्यावच्छिन्नरोगचिकित्साभिधानानन्तरं द्विसंख्यावच्छिन्नशिरोहृदय-
वस्तिचिकित्साभिधानार्थं त्रिमर्मीयचिकित्सोच्यते । त्रिमर्मीयेण हि त्रिमर्माश्रिता रोगा
अभिधीयन्ते । तेन त्रिमर्मीयरोगानधिकृत्य कृतं चिकित्सितं त्रिमर्मीयचिकित्सितमवधारयति
सप्तोत्तरमित्यादि । शरीरसंख्यामधिकृत्येति शरीरसङ्ख्याशरीरे उक्तमधिकृत्येत्यर्थः ।
हृदयादिमर्मप्राधान्ये हेतुमाह—प्राणाश्रयानिति । हृदयादीनां प्राणाश्रयत्वे उपपत्तिमाह—
तानिति । हृदयादुपघातेन यस्माद् विशेषतः प्राणोपघातो भवति तस्मात् हृदयाद्याश्रिताः
प्राणा उच्यन्ते । यथा भित्त्युपघातोपहन्यमानं चित्तं भित्त्याश्रयमुच्यते । तत्संश्रितानामिति
प्राणाश्रयाणां हृदयादीनां महान्तो गदा येषां भवन्ति तेषां महागदानां वस्त्यादीनां रक्षां
शृणु किंवा तत्संश्रितानामिति वस्त्यादिसंश्रितानां महागदानां रक्षामिति चिकित्साम् ॥ १ । २ ॥

कषायतिक्तोषणरूक्षभोज्यैः सन्धारणोदोरणमथुनैश्च ।

पकाशये कुप्यति चेदपानः स्रोतांस्यधोगानि बली स रुद्धा ॥

करोति विण्मासुतमूत्रसङ्गं क्रमादुदावर्तमतश्च घोरम् ॥ ३ ॥

रुग् वस्तिहृत्कुक्ष्युदरेष्वभीक्ष्णं सपृष्ठपार्श्वेष्वतिदारुणा स्यात् ॥

आध्मानहृल्लासविकर्त्तिकाश्च तोदोऽविपाकश्च सवस्तिशोफः ।

वर्च्चोऽप्रवृत्तिर्जठरे च गण्डो

ह्यूर्ध्वश्च वायौ विहते गुदे स्यात् ।

कृच्छ्रेण शुष्कस्य चिरात् प्रवृत्तिः

स्याद् वा तनुः सा खररूक्षशीता ॥ ४ ॥

ततश्च रोगा ज्वरमूत्रकृच्छ्र-प्रवाहिकाहृद्ग्रहणीप्रदोषाः ।

छर्द्दान्ध्यवाधिर्यशिरोभितापा वातोदराष्टीलमनोविकाराः ॥

तृष्णास्त्रपित्तार्दितगुल्मकास-श्वासप्रतिश्यारुचिपार्श्वरोगाः ।

अन्ये च रोगा बहवोऽनिलोत्था भवन्त्युदावर्तकृताः सुघोराः ।

चिकित्सितश्चास्य यथावदूर्ध्वं प्रवक्ष्यते तच्छृणु चाग्निवेश ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—कषायेत्यादि । कषायादिभिर्हेतुभिरपानवायुर्यदि पकाशये कुप्यति, तदा बली सोऽपानः खल्वधोगानि स्रोतांसि रुद्धा विडादिसङ्गं करोति ततः क्रमाद् विडादिसङ्गाद् घोरमुदावर्त्तं करोति ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—तदुदावर्त्तलक्षणमाह—रुगित्यादि । वस्त्यादिष्वभीक्ष्णमति-
दारुणा रुक् स्यात् । विकर्त्तिका गुदे कर्त्तनवत् पीडा । जठरे वर्च्चोऽप्रवृत्तिः
स्यात् । वायावूर्ध्वं विहते गुदे गण्डः स्यात् । शुष्कस्य वर्च्चसः कृच्छ्रेण
चिरात् प्रवृत्तिः, सा प्रवृत्तिस्तनुरल्पा स्यात् खररूक्षशीता च ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—ततो वर्च्चस एवं प्रवृत्तितः ज्वरादयो रोगा भवन्ति ।
अन्ये चानिलोत्था बहवो रोगा उदावर्त्तकृता भवन्ति । इति । तस्य
नवेगानधारणीये वेगसन्धारणजरोगचिकित्सा विशेषेणोक्ता ॥ ५ ॥

चक्रपाणिः—वस्त्यादिजानां यथाक्रमं हेत्वादिमाह—कषायेत्यादि । उपणः कटकः ।
पकाशय इत्यादिना उदावर्त्तसम्प्राप्तिलिङ्गचिकित्सितानि ग्राह । ननु कथमपानः कुपितः
अपानस्यैव सङ्गं करोतीति ? ब्रूमः । आत्मनैवायं दृष्टः सम्यगप्रवर्त्तमानः आत्मनः सङ्गं करोति ।

तं तैलशीतज्वरनाशनाक्तं स्वेदैर्यथोक्तैः प्रविलीनदोषम् ।
 उपाचरेद् वृत्तिनिरुहवस्ति-स्नेहैविरकरनुलोमनानैः ॥ ६ ॥
 श्यामात्रिवृन्मागधिकां सदन्तीं गोमूत्रपिष्टां दशमाषभागाम् ।
 सनीलिकां द्विलवणां गुडेन वृत्तिं कराङ्गुष्ठनिभां विदध्यात् ॥
 पिण्याकसौवर्चलहिङ्गुभिर्वा ससर्षपत्रूषणयावशूकैः ।
 क्रिमिघ्नकम्पिल्लकशङ्खिनीभिः सुधार्कजक्षीरगुडैर्युताभिः ।
 स्यात् पिप्पलीसर्षपराठवेश्म-धूमैः सगोमूत्रगुडैश्च वृत्तिः ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—पुनरिह कषायादिसर्वहेतुजोदावर्त्तचिकित्सामाह—तमित्यादि ।
 तमुदावर्त्तिनं नरं तैलमिश्रितेन शीतज्वरनाशनागुर्वदितैलेनाक्तं यथोक्तस्वेदैः
 प्रविलीनदोषं वृत्त्यादिभिरुपाचरेत् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—तत्र वृत्तिमाह—श्यामेत्यादि । श्यामात्रिवृतादीनां प्रत्येकं
 दशमाषान् द्विलवणां द्विगुणितसैन्धवान् गोमूत्रेण श्लक्ष्णं पिष्ट्वा गुडेन
 यथार्हेण पिष्ट्वा कराङ्गुष्ठनिभां वृत्तिं विदध्यात् । तां वृत्तिं घृताक्तां घृताक्ते
 गुदे यथायोग्यं प्रवेशयदिति । अथवा पिण्याकादियावशूकान्तैर्गुडेन
 वृत्तिं विदध्यादिति पूर्व्वेणान्वयः । क्रिमिघ्नेत्यादि । क्रिमिघ्नो विडङ्गः ।
 सुधा स्नुही, सुधार्कजक्षीरं सुधाक्षीरमर्कक्षीरच्चेति क्रिमिघ्नादिगुडान्तैरेका
 वृत्तिः स्यात् । अथवा पिप्पल्यादिगुडान्तैश्च वृत्तिः स्यात् । अत्र राठो
 मदनफलतण्डुलः ॥ ७ ॥

यथा मन एव मनोनिग्रहं करोति । उक्तं 'इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः' इति ।
 ऊर्द्धश्चेति ऊर्द्धगमनस्वभावः । तलं उवरनाशनोक्तमिति शीतज्वरनाशनमगुर्वदितम् ।
 वृत्तिः फलवृत्तिः ॥ ३—६ ॥

चक्रपाणिः—श्यामेत्यादि । फलवृत्तौ श्यामा त्रिवृद्धेदः । दश भागा माषा यस्यां सा
 दशभागमाषा । द्विलवणेति द्विभागलवणा । गुडेनेति वचनेन यावता गुडन वृत्तिः कर्तुं युज्यते

श्यामाफलेद्वाकु सपिप्पलीकं नाड्याथवा तत् प्रधमेत चूर्णम् ।
 रक्षोघ्नतुम्बीकरहाटकृष्णा-चूर्णं सजीमूतकसैन्धवं वा ।
 स्निग्धे गुदे तान्यनुलोमयन्ति नरस्य वृच्चोऽनिलमूत्रसङ्गम् ॥ ८ ॥

तेषां विघातेषु भिषग् विदध्यात्
 स्वभ्यक्तसुखिन्नतनोर्निरूहम् ।
 ऊर्ध्वानुलोमौषधमूत्रतैल-
 क्षाराम्लवातघ्नयुतं सुतीक्ष्णम् ॥
 वातेऽधिकेऽम्लं लवणं सतैलं
 क्षीरेण पित्ते तु कफे समूत्रम् ।
 समूत्रवृच्चोऽनिलसङ्गमाशु
 गुदं सिराश्च प्रगुणीकरोति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—श्यामेत्यादि । श्यामा श्याममूला त्रिवृत् । फलं मदनफलम् ।
 श्यामादीनां चूर्णं नाड्या नलिकायां निक्षिप्य नलिकाग्रं गुदे प्रवेश्य फुत्कारेण
 जठरे प्रवेशयेदित्येवं प्रधमेत् । रक्षोघ्नेत्यादि । अथवा रक्षोघ्नः सर्षपः । सर्षपादि-
 चूर्णं नाड्या प्रधमेत् । वर्त्तिचूर्णानां प्रदानक्रमफले आह—स्निग्धे इत्यादि ।
 घृतादिस्नेहेनाभ्यक्ते गुदे तानि वर्त्तिचूर्णानि ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—यदेवं वर्त्तिचूर्णप्रयोगे प्रशमनं न स्यात् तत्राह—तेषामित्यादि ।
 तेषां वर्त्तिचूर्णानां विघातेषु स्वभ्यक्तसुखिन्नतनोस्तस्योदावर्त्तिनो निरूहं
 विदध्यात् । निरूहन्तूर्ध्वानुलोमौषधादियुतं सुतीक्ष्णम् । वाते इत्यादि । वाते
 अधिकेऽम्ललवणतैलं निरूहं, पित्तेऽधिके क्षीरेण निरूहम्, अथ कफेऽधिके
 समूत्रमानुलोमिककफघ्नद्रव्ययुतं विदध्यात् । स निरूहो मूत्रादिसङ्गं गुदं
 सिराश्च प्रगुणीकरोति । विगुणभावाभावः प्रगुण इति ॥ ९ ॥

तावन्मानो गुडो देयः । यावश्चकैरित्यन्तेन द्वितीया वर्त्तिः माषगुडनैव कर्तव्या । शङ्खिनी
 श्वेतबुन्दा, वेदमधुमोऽगारधूमः, फलं मदनफलम्, रक्षोघ्नः सर्षपः, करहाटो मदनः ॥ ७।८ ॥

चक्रपाणिः—तेषां विघात इति फलवर्त्तिचूर्णानामुक्तानां कार्याकरणे ऊर्ध्वानुलोमौषधं वमन-
 विरेचनौषधम् । वातेऽधिक इत्यादिना दोषभेदेन साधनमाह । उदावत् पित्तकफौ वातकोपितावेव

त्रिवृतसुधापत्रतिलादिशाक-ग्राम्यादकानूपरसैर्यवान्नम् ।
 अन्यैश्च सृष्टानिलमूत्रविड्भिरद्यात् प्रसन्नागुडसोधुपायो ॥
 भूयोऽनुबन्धे तु भवेद् विरेच्यो मूत्रप्रसन्नादधिमण्डशुक्तैः । *

स्वस्थन्तु पश्चादनुवासयेत् तं

रौक्ष्याद्धि सङ्गोऽनिलवर्चसोः स्यात् ॥ १०—१३ ॥

द्विरुत्तरं हिङ्गु वचा सकृष्णा सुवर्चिका चैव विडङ्गचूर्णम् ।

सुखाम्बुनानाहविसूचिकार्त्ति-हृद्रोगगुल्मोर्द्ध समीरणघ्नम् ॥

वचाभयाचित्रकयावशूकान् सपिण्डलोन् सातिविषान् सकुष्ठान् ।

कोष्णाम्बुनानाहविमूढवातान् पीत्वा जयेदाशु रसौदनाशी ॥

गङ्गाधरः—आहारद्रव्यमाह । त्रिवृदित्यादि । त्रिवृतपत्रादिशाकं ग्राम्यादि
 मांसरसः । अन्ये च सृष्टानिलादयः, तैर्यवान्नमद्यात् । प्रसन्नादिक-
 श्वानु पिबेत् । एवंकृते यद्यनुबन्धो वर्त्तते तत्राह । भुय इत्यादि । एषंकृतेऽपि
 भूयोऽनुबन्धे सति मूत्रादिभिर्विरेच्यः । तथा विरेचनेन स्वस्थं तमुदावर्त्तिनं
 पश्चादनुवासयेत् स्नेहनार्थम् । कस्मात् ? रौक्ष्याद्धीत्यादि । हि यस्मात् रौक्ष्यात्
 पुनरनिलवर्चसोः सङ्गः स्यात् तस्मादनुवासयेत् ॥ १०—१३ ॥

गङ्गाधरः—अथात्र वेगसन्धारणादिनाप्यानाहः स्यात्, तस्य च चिकित्सा-
 माह—द्विरुत्तरमित्यादि । हिङ्गुपभृतीनामुत्तरोत्तरं द्विगुणं चूर्णं सुखाम्बुना
 पीतमानाहादिघ्नम् । वचेत्यादि । वचादिकुष्ठान्तं चूर्णं कोष्णाम्बुना पीत्वा

जेयौ । प्रसन्ना मद्योपरि स्तुच्छो भागः । गुडकृतः सीधुः गुडसीधुः । भूयोऽनुबन्ध इति उदावर्त्तानु-
 बन्धे । एतच्च विरेचनं वस्तिदानञ्च सप्ताहादूर्द्धम् । यदुक्तं 'नरो विरिक्तस्तु निरुहदानं विवर्जयेत्

* इतः परं कचिदधिकः पाठो दृश्यते । यथा—गुल्मोदरव्रध्नाशः श्लीहोदावर्त्तयोनि-
 शुक्रगदे । मेदःकफसंसृष्ट माहतरक्तेऽवगादे च ॥ गृध्रसीपक्षवधादिषु विरेचनाहपु
 वातरोगेषु । वाते विवद्वमाग मेदःकफपित्तरक्तेन ॥ पयसा मांसरसैर्वा त्रिफलारसयूपमूत्र-
 मदिराभिः ॥ ११ ॥ दोषानुबन्धयोगात् प्रशस्तमेरण्डजं तैलम् । तद्वातानुत् स्वभावात्
 संयोगवशाद् विरेचनाच्च जयेत् ॥ मेदोऽसृक्पित्तकफोन्मिश्रानिलरोगजित् स्यात् । बलकोष्ठ-
 व्याधिवशादापञ्चपला भवेन्मात्रा । मृदुकोष्ठबलानां सह भोज्यं तत् प्रयोज्यं स्यात् ॥ १२ ॥

हिङ्गुप्रगन्धाविड्शुण्ठप्रजाजी-हरीतकीपुष्करमूलकुण्ठम् ।

यथोत्तरं भागविवृद्धमेतत् ग्रीहोदराजोर्णविसूचिकासु ॥ १४ ॥

स्थिरादिवर्गस्य पुनर्नवायाः श्यामाकपूतककरञ्जयोश्च ।

सिद्धः कषायो द्विपलांशिकानां प्रस्थो घृतात् स्यात् प्रतिबन्धवाते ।

फलञ्च मूलञ्च विरेचनोक्तं हिंस्रार्कमूले दशमूलमग्रम् ।

स्तुक् चित्रकश्चैव पुनर्नवा च तुल्यानि सर्वैर्लवणानि पञ्च ॥

स्नेहैः समूत्रैः सह जज्जराणि शरावसन्धौ विपचेत् सुलिप्ते ।

पक्वं सुपिष्टं लवणं तदन्नैः पानैस्तथानाहरुजाघ्नमद्यात् ॥ १५ ॥

रसौदनाशी त्वानाहादीन् जयेत् । हिङ्गुग्रेत्यादि । हिङ्गुप्रभृतिकं यथोत्तरं भागवृद्धं पुष्करं स्वनामख्यातवृक्षविशेषस्तस्य मूलं तदभावे कुण्ठमपि द्विवारं ग्राह्यम् ॥ १४ ॥

—गङ्गाधरः—स्थिरादीत्यादि । स्थिरादिवर्गः शालपर्ण्यादिपञ्चमूली । द्वि-
पलांशिकानां शालपर्ण्यादीनामष्टानां षोडशशरावजले पक्वानां चतुर्थांशावशिष्टः
कषायः प्रस्थः, प्रस्थश्च घृतात् सिद्धः पक्वः प्रतिबन्धवाते हितः स्यात् ।
फलञ्चैत्यादि । विरेचनोक्तं फलिनीमूलिनीषु विरेचनोक्तं फलञ्च मूलञ्च
हिंस्रामूलमर्कमूलञ्च । पुनर्नवान्तानि यावन्ति तैः सर्वैस्तुल्यानि पञ्च लवणानि ।
स्नेहैश्चतुर्भिर्यथालाभं मूत्रैश्च यथालाभं सह जज्जरीकृतानि कुट्टयित्वैव शराव-
मध्ये स्थापयित्वाऽन्येन शरावेण पिधाय सन्धौ सुलिप्ते धूमनिर्गमाभावो यथा
स्यात् तथा सुलिप्ते विपचेत् । पक्वं सुपिष्टं तल्लवणं पानैरन्नेः सहाद्यात् । आनाह-
लक्षणमुक्तं सुश्रुते—“आमं शकुद् वा निचितं क्रमेण दूयो विवृद्धं विगुणानिलेन ।
प्रवत्तेमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति । तस्मिन् भवत्यामसमुद्भवे
तु तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहाः । आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृल्लास उद्गार-

सप्तदिनान्यवश्यम् । शुद्धो निरुहेण विरेचनञ्चेति । द्विरुत्तरमित्यादौ यथोत्तरद्वयानां द्वैगुण्यम् ।

सुवर्चिका स्वर्जिकाक्षारः । सुखाम्बुना पीतमिति शेषः । उग्रगन्धा अजमोदा ॥ ९—१४ ॥

चक्रपाणिः—स्थिरादिवर्गस्येति अल्पपञ्चमूलस्य । श्यामाकपूतककरञ्जयोश्चेत्यत्र पूतिकद्वन्द्वः
करञ्जविशेषणम् । तथाहि जतुकर्णः—“सर्पप उग्रपूतिकः पुनर्नवा स्थिराद्यमित्यादि ।” फलञ्च
मूलञ्च विरेचनोक्तमिति दोषञ्जीवितीये मूलिनीविरेचनकर्मण्युक्तम् । किंवा कल्पे विरेचन-

हृत्स्तम्भमूर्च्छामयगौरवाभ्यामुद्गारसङ्गेन सपीनसेन ।

आनाहमामप्रभवं जयेत् तु प्रच्छेदनैर्लङ्घनपाचनैश्च ॥ १६ ॥

इत्युदावर्तः ।

व्यायामतीक्ष्णौषधरुक्षमद्य-प्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात् ।

आनूपमांसाध्यशनादजीर्णात् स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि तृणां तथाष्टौ ॥ १७ ॥

विघातनञ्च । स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे शूलोऽथ मूर्च्छा च शकृद्विश्व ।
श्वासश्च पक्षाशये भवन्ति लिङ्गानि चात्रालसकोदितानि ।” अलसकलक्षणानि
तत्रैव यथा । “कुक्षिरानस्रतेऽत्यर्थं ताम्यत्यथ च कूजति । निरुद्धो मारुतश्चापि
कुक्ष्यावुपरि धावति । वातवर्चोनिरोधश्च कुक्षौ यस्य भृगं भवेत् । तस्या-
लसकमाचष्टे हिकोद्गारौ च यस्य तु ॥” इति ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—इह शकृज्जातानाहलक्षणं नोक्त्वा चिकित्साश्चाभिधायामजानाह-
लक्षणमाह—हृत्स्तम्भेत्यादि । हृत्स्तम्भश्च मूर्च्छा आयुगौरवश्च ताभ्या-
मुद्गारविघातेन पीनसेन चामप्रभवमानाहं ज्ञात्वा प्रच्छेदनादिभिर्जयेत् । सुश्रुते
तूदावर्त्तस्यासाध्यलक्षणमुक्तम् । “तृष्णादितं परिक्रिष्टं क्षीणं शूलरूपद्रुतम् ।
शकृद्वमन्तं मतिमानुदावर्त्तनमुत्सृजेत् ॥” इति ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—इत्युदावर्त्तानाहरोगो वस्तिगतावुक्त्वाऽपरान् वस्तिगतानाह ।
व्यायामेत्यादि । स्युर्मूत्रकृच्छ्राणीति मूत्रस्य कृच्छ्रेण प्रवृत्तिर्विघात इत्य-
नर्थान्तरम् । तेन सुश्रुते मूत्राघातविकृच्छ्रयोरिति रोगद्वयमुद्दिष्टं कृत्वा
मूत्रोपघातशब्देन द्वयोरवरोधः कृतः । तद्यथा । “वातेन पित्तेन कफेन
सर्व्वैस्तथाऽभिघातैः शकृद्वमरीभ्याम् । तथाऽपरः शर्करया सुकष्टो मूत्रोप-
घातः कथितोऽष्टमस्तु ॥” इति शकृत्प्रतिघातज इहोक्तः, नोक्तः शुक्रप्रतिघातज
इति । इहापि निर्देशाद्वातादिलक्षणानां वातजपित्तजकफजसन्निपातजाश्मरीज-
शर्कराजाभिघातजानि व्याहृतशुक्रजश्चात्रोक्तं शकृत्प्रतिघातजं नोक्तमिति
विरोधो नाशङ्क्यः । सुश्रुते ह्यश्मरीजकृच्छ्रे शुक्रजावरोधमभिप्रेत्य शुक्रजमूत्र-
कृच्छ्रं नोक्तमिह तु तन्त्रे शकृत्प्रतिघातजं वातमूत्रकृच्छ्रेऽवरोधान्न पृथगुक्त-
मिति यस्तु व्याख्यातवान् सुश्रुते शर्कराजमूत्रकृच्छ्रं न पठितमिह तु पठितम्—

योगेषु वक्ष्यमाणम् । हृदित्यादिना उदावर्त्तस्यैव हेतुलक्षणविशेषेण आनाहसंज्ञां प्रदर्श्य तस्य
भेषजमाह ॥ १५।१६ ॥

पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य वस्तौ ।
 मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥१८॥
 तीव्रा हि रुग् वङ्क्षणवस्तिमेद्वे स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात् ।
 पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥

वस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ

मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे ।

सर्वाणि रुपाणि च सन्निपातात्

भवन्ति तत् कृच्छ्रतमञ्च कृच्छ्रम् ॥ १९ ॥

“एषाश्मरी मारुतभिन्नमृत्तिः स्याच्छकरा मूत्रपथात् क्षरन्तीति ।” सुश्रुते च
 “अश्मरी शर्करा चैव तुल्ये सम्भवलक्षणै” रिति, ततोऽश्मरीजेन शर्कराज-
 ग्रहणमिति, तद्भ्रान्त्या व्याख्यातवान् । सुश्रुते हि—“तथाऽपरः शर्करया
 सुकृष्टो मूत्रोपघातः कथितोऽष्टमस्तु” इत्युक्तम्, अन्यथाष्टलव्याघातः स्यात् ।
 इहापि तन्त्रे शर्कराजसहितान्येवाष्टौ पूर्यन्ते तच्च विना सप्त स्युरिति ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—सम्प्राप्तिमाह । पृथङ्मला इत्यादि । इति चत्वारि दोषजानि ॥१८॥

गङ्गाधरः—एषां लक्षणान्याह । तीव्रा हीत्यादि । इह वातजे मूत्रकृच्छ्रे
 शकृत्प्रतिघातस्यावरोधः, सुश्रुते हि वातप्रकोपस्तत्रोक्तः । “शकृत्स्तु प्रती-
 घाताद् वायुर्विगुणतां गतः । आध्मानश्च सशूलश्च मूत्रसङ्गं करोति हि ॥” इति ।
 पीतमित्यादिना पित्तमूत्रकृच्छ्रलक्षणम् । वस्तेरित्यादिना कफमूत्रकृच्छ्र-
 लक्षणम् । सर्वाणीत्यादिना सन्निपातजम् कृच्छ्रलक्षणमिति । सुश्रुतेऽप्युक्तम् ।
 अल्पमल्पं समुत्पीड्य मुष्कमेहनवस्तिभिः । फलद्भिरिव कृच्छ्रेण वाताघातेन
 मेहति । हारिद्रमुष्णं रक्तं वा मुष्कमेहनवस्तिभिः । अग्निना दह्यमानाभैः
 पित्ताघातेन मेहति । सिग्धं शुक्लमनुष्णञ्च मुष्कमेहनवस्तिभिः । संहृष्टरोमा
 गुरुभिः श्लेष्माघातेन मेहति । दाहशीतरुजाविष्टो नानावर्णं मुहुश्चुहुः ।
 ताम्यमानः सुकृच्छ्रेण सन्निपातेन मेहति ॥ १९ ॥

चक्रपाणिः—व्ययामेत्यादिना निदानमुक्त्वा वातपित्तकफसन्निपातजानां मूलकृच्छ्राणां सम्प्राप्ति-

माह—पृथगित्याति । तीव्रा हि रुगित्यादिना चतुर्णां रूपमाह ॥ १७—१९ ॥

विशोषयेद् वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा ।
 यदा तदाश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥
 कदम्बपुष्पाकृतिरश्मतुल्या श्लक्षणा त्रिपुट्यप्यथवाऽपि मृद्वी ।
 मूत्रस्य चेन्मार्गमुपैति रुद्धा मूत्रं रुजं तस्य करोति वस्तौ ॥
 मृद्वनाति मेढ्रं स तु वेदनात्तो मुहुः शकृन्मुञ्चति वेपते च ।
 ससेवनीमेहनवस्तिशूलं विशोर्णधारश्च करोति मूत्रम् ॥

गङ्गाधरः—अथाश्मरीजमूत्रकृच्छ्रे वक्तव्येऽश्मरीजन्मप्रकारमाह—विशोषयेदित्यादि । इयन्तु सम्प्राप्तिः सामान्याश्मरीणाम् । यदा पवनो रिरंसोर्मेथुनविघातादप्येथुनाद्वा वस्तिगतं शुक्रं विशोषयेत् तदा शुक्राश्मरी जायते, यदा च वस्तिगतं मूत्रं सपित्तं विशोषयेत् तदा पित्ताश्मरी स्यात्, यदा वा स्वयुक्तं वस्तिगतं कफं विशोषयेत् तदा वाताश्मरी स्यात् । यदा स्वयुक्तं वस्तिगतं समूत्रं कफं विशोषयेत् तदा कफाश्मरी स्यात् । यथा क्रमेण शुष्केषु गोः पित्तेषु रोचना भवति । इति । शुक्रजा वातजा पित्तजा कफजा चेति चतस्रोऽश्मर्यः स्युः । तस्या रूपाध्याह । कदम्बेत्यादि । काचित् कदम्बपुष्पदलाकृतिः काचिदश्मतुल्या काचित् श्लक्षणा अथवा काचित् त्रिपुटी त्रिकोणा अथवा काचिन्मृद्वीति, अपिशब्दादन्यादृशी चाश्मरी स्यात् । तज्जमूत्रकृच्छ्रमाह—मूत्रस्य चेदित्यादि । साश्मरी चेन्मूत्रस्य मार्गमुपैति तदा तस्य वस्तौ मूत्रं रुद्धा रुजं करोति । स तु पुमान् वेदनात्तो मेढ्रं मृद्वनाति मुहुः । शकृन्मुञ्चति वेपते च मुहुः । सेवन्यादिवेदनासहितं विशोर्णधारं मूत्रं स करोति । शिश्ने

चक्रपाणिः—विशोषभेदित्यादिना चतुःप्रकारानप्यश्मरीरोगानाह । तन्नाम्नरे अश्मर्यस्तु वातपित्तकफशुक्रजा उक्ताः, यद्यपि सर्वाश्मरीषु दोषतयजन्यत्वमस्ति 'रुहन्त्यपो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैदुतः । तद्वद् बलासं बस्तिस्थमुष्मा संहन्ति सानिलः' इति सुश्रुते प्रतिपादितम्, तथाप्येकदोषाभिप्रायेण वातजादिव्यपदेशो ज्ञेयः । वातजायामश्मर्यां प्रबलेन वायुना मूलशोषे क्रियमाणे तत्कृतः कफ एवाश्मरीरूपः क्रियते । एवं पित्ताश्मर्यामपि ज्ञेयम् । अतएव सुश्रुते श्लेष्माषिष्ठानाः सर्व्व एवाश्मर्य्य उक्ताः । अश्मर्युत्पादे दृष्टान्तमाह—पित्तेष्विव रोचना गोरिति । पित्तेष्विव बहुवचनं पित्तबहुत्वापेक्षया । कदम्बपुष्पाकृत्यादयो विशेषाः दोषभेदत्वेनोन्नेयाः ।

क्षोभात् क्षते मूत्रयतीह सास्त्रं तस्याः सुखं मूत्रयति व्यपायात् ।

एषाश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती ॥२०॥

लग्नायाश्मर्या मूत्रस्यानिर्गमनेन क्षोभात् शिश्नमध्ये क्षते सति सास्त्रं कृच्छ्रेण मूत्रयति । तस्या अश्मर्या व्यपायात् सुखं मूत्रयति । इति । सुश्रुते चोक्तम्—
“चतस्रोऽश्मर्या भवन्ति श्लेष्माधिष्ठानाः । तद्यथा—श्लेष्मणा वातेन पित्तेन शुक्रेण चेति । तत्रासंशोधनशीलस्यापथ्यकारिणः प्रकुपितः श्लेष्मा मूत्र-सम्पृक्तोऽनुप्रविश्य वस्तिमश्मरीर्जनयति । तासां पूर्वरूपाणि वस्तिपीडा-रोचकौ मूत्रकृच्छ्रं वस्तिशिरोमुष्कशेषां वेदना कृच्छ्रा ज्वरावसादौ वस्त गन्धित्वं मूत्रयेति । यथास्वं वेदनावर्णं दुष्टं सान्द्रमथाविलम् । पूर्ववर्णे-
ऽश्मनः कृच्छ्रान्मूत्रं सृजति मानवः । अथ जातासु नाभिवस्तिसेवनीमेहनेष्वन्य-तमस्मिन् मेहतो वेदना मूत्रधारासङ्गः सरुधिरमूत्रता मूत्रविकिरणश्च गोमेढक-प्रकाशमनाविलं ससिक्तं विसृजति । धावनलङ्घनपुवनपृष्ठयानाध्वगमनैश्चास्य वेदना भवति । तत्र श्लेष्माश्मरी श्लेष्मलमन्त्रमभ्यवहरतोऽत्यर्थमुपलिप्याधः परिवृद्धिं प्राप्य वस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतिघाताद् दाल्यते भिद्यते निस्तुद्यत इव च वस्तिर्गुरुः शीतश्च भवति । अश्मरी चात्र श्वेता स्निग्धा महती कुक्कुटाण्डप्रतीकाशा मधूकपुष्पवर्णा वा भवति, तां श्लेष्मिकीमिति विद्यात् । पित्तयुक्तस्तु श्लेष्मा सङ्घातमुपगम्य यथोक्तां परिवृद्धिं प्राप्य वस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि तस्य मूत्रप्रतिघातादुप्यते चप्यते दह्यते पच्यते इव च वस्तिरुष्णवातश्च भवति । अश्मरी चात्र सरक्ता पीतावभासा कृष्णा भल्लातकास्थिप्रतिमा मधुवर्णा वा भवति, तां पैत्तिकीमिति विद्यात् । वातयुक्तस्तु श्लेष्मा सङ्घातमुपगम्य यथोक्तां परिवृद्धिं प्राप्य वस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुणद्धि तस्य मूत्रप्रतीघातात् तीव्रा वेदना भवति तथात्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् खादति नाभिं पीडयति मेढ्रं मृदनाति पायुं स्पृशति विशर्द्धते विदहति वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण वारय मेहतो निःसरन्ति । अश्मरी चात्र श्यामा परुषा विषमा खरा वदम्बपुष्पवत् कण्टकाचिता भवति, तां वातिकीमिति

तत्र वातेन कदम्बपुष्पाकृतिः त्रिपुटी च, पित्तनाशयतुल्या श्लक्ष्णा, मृद्वी कर्पेन शुक्रेण च । क्षोभात् क्षत इति अश्मरीक्षोभात् मूलमार्गे वस्तौ । तस्या इत्यश्मर्याः । व्यपायादिति मूलमार्गापगमात् । सुखमिति निर्वेदनम् । एषेत्यादिना शर्करामाह—भिन्नमूर्तिरिति भेदितमूर्तिः अतएव मूल-पथात् क्षरन्तीत्युक्तम् । तेन वातेन द्विधा भिन्ना अश्मरी मूलपथेन क्षरन्ती शर्करेव भवति ॥२०॥

विद्यात् । प्रायेणैतारितस्रोऽश्मर्या दिवास्वप्नसमशनाध्यशनशीतस्निग्धगुरु-
मधुराहारप्रियत्वाद् विशेषेण बालानां भवन्ति । तेषामेवाल्पवस्तिकायत्वादनुप-
चितमांसत्वाच्च वस्तेः सुखग्रहणाहरणा भवन्ति । महतान्तु शुक्राश्मरी शुक्र-
निमित्ता भवति । मैथुनाभिघातादमैथुनाद् वा शुक्रं चलितमनिगच्छद् विमार्ग-
गमनादनिलोऽभितः संगृह्य वेदवृषणयोरन्तरे संहरति संहृत्य चोपशोषयति सा
मूत्रमार्गमावृणोति मूत्रकृच्छ्रं वस्तिवेदनां वृषणयोश्च श्वयथुमापादयति पीडित-
मात्रे च तस्मिन्नेव प्रदेशे प्रविलयमापद्यते, तां शुक्राश्मरीमिति विद्यात् । भवन्ति
चात्र । शर्करासिकतामेहो भस्माख्योऽश्मरिर्वैकृतम् । अश्मर्याः शर्करा ब्रूया
तुल्यव्यञ्जनवेदना । पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः । या भिन्नमूर्तिर्वातेन
शर्करेत्यभिधीयते । हृत्पीडा सक्थिसदनं कुक्षिशूलः सवेपथुः । तृष्णोर्द्धगो-
ऽनिलः काश्यं दौर्बल्यं पाण्डुगात्रता । अरोचकाविपाकौ तु शर्करार्त्तं
भवन्ति च । मूत्रमार्गप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान् । दौर्बल्यं सदनं काश्यं
कुक्षिशूलमरोचकम् । पाण्डुमुष्णवातश्च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम् । नाभिपृष्ठ-
कटीमुष्क-गुदवङ्कणशेफसाम् । एकद्वारस्तनुत्सको मध्ये वस्तिरधोमुखः । अलाव्वा
इव रूपेण सिरास्नायुपरिग्रहः । वस्तिर्वस्तिशिरश्चैव पौरुषं वृषणौ गुदम् । एक-
सम्बन्धिनो ह्येते गुदास्थिविवरस्थिताः । मूत्राशयो मलाधारः प्राणायतनमुत्त-
मम् । पक्काशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः । तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः
सागरं यथा । सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः । नाडीभिरुपनीतस्य
मूत्रस्यामाशयान्तरात् । जाग्रतः स्वपतश्चैव स निःस्यन्देन पूर्यते । आमुखात्
सलिले न्यस्तः पाद्वेभ्यः पूर्यते नवः । घटो यथा तथा विद्धि वस्तिर्मूत्रेण
पूर्यते । एवमेव प्रवेशेन वातः पित्तं कफोऽपि वा । मूत्रयुक्त उपस्नेहात् प्रविश्य
कुरुतेऽश्मरीम् । अप्सु स्वच्छास्वपि यथा निषिक्तानु नवे घटे । कालान्तरेण
पङ्कः स्यादश्मरीसम्भवस्तथा । संहन्त्यापो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैदुषतः ।
तद्वद् बलासं वस्तिस्थमुष्मा संहन्ति सानिलः । मारुते प्रगुणे वस्तौ मूत्रं सम्यक्
प्रवर्त्तते । विकारा विविधाश्चापि प्रतिलोमे भवन्ति हि । मूत्राघाताः प्रमेहाश्च
शुक्रदोषास्तथैव च । मूत्रदोषाश्च ये केचिद् वस्तेरेव भवन्ति हि ॥” इति ।
अथाश्मरीशर्करयोर्भेदमाह—एषेत्यादि । येषाश्मरी नामाभिहिता सा यदा
मारुतभिन्नमूर्तिर्मारुतेन पित्तपच्यमाना भिन्ना भिन्ना क्षत्रीकृता मूर्तिर्भवत्यस्याः
सा तदा शर्करा नामोच्यते, मूत्रपथात् क्षरन्ती सतीति अश्मरीतोऽन्या शर्करा न
त्वश्मरीग्रहणेन गृह्यते, ततः शर्कराजमूत्रकृच्छ्रमश्मरीजमूत्रकृच्छात् पृथगिति ।

शुक्रं मलाश्चैव पृथक् पृथग् वा मूत्रायणस्थाः परिपोडयन्ति ।

तदुव्याहतं मेहनवस्तिशूलं मूत्रं सशुक्रं कुरुते विबद्धम् ॥

स्तब्धश्च शूनो भृशवेदनश्च तुदेत वस्तिवृषणौ च तस्य ॥ २१ ॥

क्षताभिघातात् क्षतजं क्षयाद् वा प्रकोपितं वस्तिगतं विबद्धम् ।

तीव्रार्त्ति मूत्रेण सहाश्मरीत्वमायाति तस्मिन्नतिसञ्चिते च ।

आध्मातता वस्तिमुगौरवश्च वस्तेर्लघुत्वश्च विनिःसृतै स्यात् ॥ २२ ॥

सुश्रुते च—“अश्मरो शर्करा चैव तुल्ये सम्भवलक्षणैः । शर्करायां विशेषन्तु शृणु कीर्तयतो मम । पच्यमानस्य पित्तेन भिद्यमानस्य वायुना । श्लेष्मणो-
ऽवयवा भिन्नाः शर्करा इति संज्ञिताः । हृत्पीडा वेपथुः शूलं कुक्षौ वह्निः
सुदुर्बलः । ताभिर्भवति मूर्च्छा च मूत्राघातश्च दारुणः । मूत्रवेगनिरस्तासु
तासु शाम्यति वेदना । यावदन्या पुनर्नैति गुटिका स्रोतसो मुखम् ।
शर्करासम्भवस्येतन्मूत्राघातस्य लक्षणम् ॥” इति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—शर्कराजमूत्रकृच्छ्रलक्षणमुक्त्वा शुक्रजमूत्रकृच्छ्रमाह—शुक्र-
मित्यादि । शुक्रं मलाश्च वातादयः समस्ताः पृथग् वा मूत्रायणस्था यदा
परिपीडयन्ति, तदा तद् वातादिमलव्याहतं मेहनवस्तिशूलं यथा स्यात् तथा
सशुक्रं मूत्रं विबद्धं कुरुते, पुमान् मूत्रयतीत्यर्थः । तस्य नरस्य वस्तिस्तब्ध-
श्चेत्यादिः स्यात् । वृषणौ च स्तब्धावित्येवमादी स्यातामिति शुक्रप्रतिघातज-
मूत्रकृच्छ्रमिदं सुश्रुतेन न पठितं शुक्राश्मरीजेऽवरोधात् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—आगन्तुमूत्रकृच्छ्रमाह—क्षताभिघातादित्यादि । शल्यादिभिः
क्षताद् दण्डादिभिरभिघाताद् वा वस्तिगतं क्षतजं रक्तं प्रकोपितमथवा क्षयाद्
रसादीनां प्रकोपितं वस्तिगतं क्षतजं विबद्धं सत् मूत्रेण सह तीव्रार्त्ति
सदश्मरीत्वमायाति । तस्मिन् क्षतजेऽतिसञ्चिते आध्मातता भवति वस्तावेव,

चक्रपाणिः—शुक्रं मला इत्यादिना शुक्रमूलकृच्छ्रलक्षणम् । शुक्राशयस्था इति शुक्रमार्ग-
स्थिताः ॥ २१ ॥

चक्रपाणिः—क्षतेत्यादिना रक्तजं मूत्रकृच्छ्रमाह । क्षतजमिति रक्तम् । क्षयाद् वा प्रकोपित-
मिति अतिव्यवायात् शुक्रक्षये सति वायुनोदीर्घं वस्तिमान्नीतम् । आध्माततामिति वस्तिपूर्णताम् ।
तस्मिन्निति वस्तिस्त्रितरक्त । एवं सूत्रस्थानोद्दिष्टाष्टौ मूलाघाता मूलकृच्छ्रशब्देनेह निर्दिश्य
व्याकृताः । ये तु त्रिमूर्तीयसिद्धौ त्रयोदश मूलाघाता वक्तव्यास्ते सूत्रस्थानेऽसूक्ष्मिता अपि
एकादशक्षुद्रकुष्ठवदन्तर्भावनीयाः । मूलाघातमूलकृच्छ्रयोश्चायं विशेषो यन्मूत्रकृच्छ्रे मूत्रं कृच्छ्रेण

अभ्यञ्जनरुहेनिरुहवस्ति-स्वेदोपनाहोत्तरवस्तिसेकान् ।
 स्थिरादिभिर्वातहरैश्च सिद्धानद्याद्रसांश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे ॥ २३ ॥
 पुनर्नवरैरुडशतावरीभिः पत्तूरवृश्चोरवलाश्मभिर्द्भिः ।
 द्विपञ्चमूलेन कुलत्थकोल-यवैश्च तोयोत्कथिते कषाये ॥
 तैलं वराहर्क्षवसा घृतं तैस्तैरेव कल्कैर्लवणैश्च साध्यम् ।
 तन्मात्रयाशु प्रतिहन्ति पीतं शूलान्वितं मारुतमूत्रकृच्छ्रम् ॥ २४ ॥

वस्तिमुगौरवश्च । विनिःसृते तस्मिन्नपरीभूते क्षतजे वस्तेर्लघुत्वं स्यादिति
 आगन्तुजमष्टमं मूत्रकृच्छ्रमिति । सुश्रुते चोक्तम् । “मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वभिहतेषु
 च । स्रोतःसु मूत्राघातस्तु जायते भृशवेदनः । वातवस्तेस्तु तुल्यानि तस्य लिङ्गानि
 लक्षयेत्” ॥ इति । वातवस्त्यादयो मूत्राघातसंज्ञकाः सुश्रुतोक्ता दर्शयिष्यन्तेऽत
 ऊर्द्धमिति । इति मूत्रकृच्छ्राख्यमूत्राघातनिदानमुक्तं भवति ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—अथातश्चिकित्सितमाह—अभ्यञ्जनेत्यादि । अनिलमूत्रकृच्छ्रे
 अभ्यञ्जनादयः सेकान्ताः कार्याः । स्थिरादिभिः शालपर्ण्यादिभिः पञ्चमूलै-
 र्वातहरैश्चान्यैः सिद्धान् रसांश्चाद्यादिति ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—पुनर्नवेत्यादि । पुनर्नवादिभिस्तोयोत्कथिते कषाये चतुर्गुणे
 तैस्त्रिभिः कल्कैः पञ्चभिश्च लवणैः पादिकैस्तेलं साध्यम्, तथा वराहवसा
 साध्या, तथा ऋक्षस्य हरिणस्य वसा साध्या, तथा गव्यं घृतं साध्यमिति । एवं
 पत्तूरादिभिश्चतुर्भिस्तोयेनाष्टगुणेनोत्कथिते कषाये चतुर्गुणे तैरेव चतुर्भिः
 पञ्चभिर्लवणैः पादिकैः कल्कैस्तेलादिकं साध्यम् । पत्तूरः शालिश्च । अश्मभित्
 अम्ललोटिका अश्मान्तको वा । तथा द्विपञ्चमूलेन दशमूलेनाष्टगुणतोयोत्कथिते
 चतुर्भागावशिष्टे चतुर्गुणे कषाये तैर्दशमूलैः पञ्चभिर्लवणैः पादिकैः कल्कैः
 तैलादिकं साध्यम् । तथा कुलत्थकोलयवैश्चाष्टगुणतोयोत्कथिते चतुर्भागशेषे
 कषाये चतुर्गुणे तरेव त्रिभिः पञ्चभिर्लवणैश्च कल्कैः पादिकैस्तेलादिकं साध्य-

ब्रूति मूलाघाते मूत्रं शोष्यते प्रविहन्त्यते । सुश्रुतेऽपि च मूत्रकृच्छ्रमूलाघातयोर्विशेषोऽध्याय-
 भेदेनोक्तः । श्रन्ये तु मूलकृच्छ्राविशेषेणैव मूलाघातानाहुः । यथायोग्यतया वातपित्तजादिचतुर्षु
 मूलकृच्छ्रेषु मूलाघातान् अन्तर्भावयन्ति, तेन न पृथङ्मूत्राघाताभिधानम् ॥ २२ ॥

चक्रपाणिः—मूलकृच्छ्रचिकित्सामाह—अभ्यञ्जनेत्यादि । स्थिरादिभिः पञ्चमूलैर्वातहरैरिति

एतानि चान्यानि वरौषधानि हितानि पिष्टान्यपि चोपनाहे ।
 स्युर्लाभतस्तैलफलानि चैव स्नेहाम्लयुक्तानि सुखोष्णवन्ति ॥ २५ ॥
 सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहा ग्रैष्मो विधिर्वस्तिपयोविरेकाः ।
 द्राक्षाविदारीक्षुरसैर्घृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः ॥ २६ ॥
 शतावरीकाशकुशश्चदंष्ट्रा-विदारिशालीक्षुकशेरुकाणाम् ।
 काथं सुशीतं मधुशर्कराभ्यां युक्त्या पिबेत् पौष्टिकमूत्रकृच्छ्रं ॥
 पिबेत् कषायं कमलोत्पलानां शृङ्गाटकानामथवा विदार्याः ।
 दण्डोत्पलानामथवापि मूलं पूर्व्वेण कल्पेन तथाम्बु शीतम् ॥ २७ ॥

मिति । तत् तलादिकं मात्रया पीतमाशु शूलान्वितं मारुतमूत्रकृच्छ्रं
 प्रतिहन्ति ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—एतानीत्यादि । एतानि पुनर्नवादीनि पत्तूरादीनि द्विपञ्चमूलानि
 कुलत्थादीनि च तथान्यानि तन्त्रान्तरोक्तानि हितानि वरौषधानि पिष्टान्युपनाहे
 हितानि स्युर्यथालाभतः । तैलफलानि च तिलक्षमादीनि स्नेहघृतादिभि-
 र्मलैस्तन्तिङ्गीकादिभिश्च युक्तानि पिष्टानि सुखोष्णवन्ति उपनाहे हितानि
 स्युरिति । वातमूत्रकृच्छ्रचिकित्सितमुक्तम् ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—अथ पित्तमूत्रकृच्छ्रचिकित्सितमाह—सेकेत्यादि । शिशिराः
 सेकादयः । तथा तस्याशितोक्तो ग्रैष्मो विधिः । तथा वस्तिश्च पयश्च
 विरेकश्चेति त्रयो द्राक्षादिभिः कार्याः ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—शतावरीत्यादि । शतावर्यादीनां मूलकाथं सुशीतं मधु-
 शर्कराभ्यां युक्तं युक्त्या पिबेत् । पिबेदित्यादि । कमलादीनां कषायं पूर्व्वकल्पेन
 मधुशर्कराभ्यां युक्तं पिबेदथवा दण्डोत्पलाया मूल कार्यायित्वा मधुशर्कराभ्यां
 युतं पिबेत्, तथा शीतमम्बु मधुशर्कराभ्यां युतं पिबेत् ॥ २७ ॥

वातहरत्वेन प्रतिपादितः । पत्तूरः सालिञ्जिका । अश्मभिन् पाषाणभेदः । अन्यानि
 चैवङ्गुलिनि आस्फोतादीनि ॥ २३—२५ ॥

चक्रपाणिः—ग्रैष्मो विधिरिति । तस्याशितोक्तग्रैष्मविधिः, तस्य शिशिरावेव सेकावगाहौ
 यद्यप्युक्तौ तथापि विशेषेण शिशिरसेकावगाहकरणार्थं पुनरभिधानम् । दण्डोत्पलं अश्म इति
 ख्यातम् । पूर्व्वेण कल्पेनेति काथेन मधुशर्करयोयोगेन च ॥ २६ । २७ ॥

एव्वारुबीजं त्रपुषात् कुसुम्भात् सकुङ्कुमः स्याद् वृषकश्च पेयः ।
 द्राक्षारसेनाश्मरिशर्करासु कृच्छ्रेषु सर्वेष्वपि शस्तमेतत् ॥ २८ ॥
 एव्वारुबीजं मधुकं सदाविषं पैत्ते पिबेत् तण्डुलधावनेन ।
 दाव्वीं तथवामलकोरसेन समाक्षिकां पित्तकृतै तु कृच्छ्रे ॥ २९ ॥
 क्षारोष्णतीक्ष्णोषणमन्नपानं स्वेदो यवान्नं वमनं निरुहाः ।
 तक्रं सतिक्तौषधसिद्धतैलमभ्यङ्गपानं कफमूत्रकृच्छ्रे ॥ ३० ॥
 व्योषं श्वदंष्ट्रा क्रिमिमारसास्थि-०-कोलप्रमाणं मधुमूत्रयुक्तम् ।
 पिबेत् त्रुटिं क्षौद्रयुतां कदल्या रसेन कैटर्यरसेन वापि ॥
 तक्रेण युक्तं शितिमारकस्य बीजं पिबेत् कृच्छ्रविघातहेतोः ।
 पिबेत् तथा तण्डुलधावनेन प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे ॥

गङ्गाधरः—एव्वारुबीजमित्यादि । एव्वारुबीजं कर्कटीबीजं द्राक्षारसेन
 पिष्ट्वा पेयम्, त्रपुषं कुष्माण्डवद् बृहत् फलं मायाम्बुफलमुच्यते तस्य बीजम्,
 कुसुम्भबीजम्, वृषको वासकः सकुङ्कुमो द्राक्षारसेन पेयः ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—एव्वारुबीजमित्यादि । एव्वारुबीजादित्रयं तण्डुलधावनजलेन
 पिष्ट्वा पिबेत्, तथा दाव्वीमामलकोरसेन पिष्ट्वा गोलयित्वा समाक्षिकां पित्तकृतै
 कृच्छ्रे पिबेत् ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—पित्तकृच्छ्रे उक्त्वा कफकृच्छ्रचिकित्सितमाह—क्षारोष्णत्यादि ।
 सतिक्तौषधसिद्धं तैलमभ्यङ्गश्च पानञ्च स्यात् । ऊषणं मरिचमुष्णतीक्ष्णत्वेऽपि
 प्राधान्यात् पुनरुक्तम् ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—व्योषमित्यादि । क्रिमिमारं विडङ्गं सास्थिकोलं सत्रीजवदरफलं
 तेषां प्रमाणं मात्रां मधुमूत्रयुतं पिबेदित्यन्वयः । त्रुटिं सूक्ष्मैलां क्षौद्रयुतां
 कदल्या मूलरसेनाथवा कैटर्यस्य कैवर्त्तमुस्तकस्य काथेन पिबेदिति
 पूर्ववणान्वयः । तक्रेणेत्यादि । शितिमारकः शालिश्चस्तस्य बीजं कफेन

चक्रपाणिः—त्रपुषात् कुसुम्भादित्यत्र बीजमिति सम्बध्यते ॥ २८ । २९ ॥

चक्रपाणिः—क्षारोष्णेत्यादि । कफकृच्छ्रे भेषजे क्षारादिभिर्युक्तमन्नपानं प्रयोज्यम् । ऊषणं
 कटुकम् । त्रुटिरेला । सारसः पक्षी स्वनामख्यातः । कोलप्रमाणमिति अष्टमाषकमाणम् । कैटर्यः

* त्रटिसारसास्थि इति पाठान्तरम् ।

सप्तच्छदारग्वधकेवुकैला-धवाः करञ्जः कुटजो गुडूची ।

साध्या जले तेन पिबेद् यवागूं सिद्धां कषायं मधुसंयुतं वा ॥३१॥

सर्वं त्रिदोषप्रभवे तु वायोः स्थानानुपूर्व्या प्रसमीक्ष्य कार्यम् ।

त्रिभ्योऽधिके प्राग् वमनं कफे स्यात् पित्ते विरेकः पवने तु वस्तिः ॥३२॥

क्रिया हिता त्वश्मरीशर्कराभ्यां या मूत्रकृच्छ्रे कफमारुतोत्थे ।

कार्याश्मरीभेदनपातनाय विशेषयुक्तं शृणु कर्म सिद्धम् ॥३३॥

पाषाणभेदं वृषकं श्वदंष्ट्रा-पाठाभयाव्योषशटीनिकुम्भाः ।

हिंस्त्राखराह्वाशितिमारकाणामेव्वारुकाच्च त्रपुषाच्च बीजम् ॥

कृच्छ्रस्य । प्रवालचूर्णं तण्डुलधावनेन जलेन । सप्तेत्यादि । सप्तच्छदादि-
गुडूच्यन्तानां कषमात्रा प्रस्थमात्रे जले साध्या, अर्द्धशिष्टेन तेन जलेन
सिद्धां यवागूं पिबेत् । तेषां कषायमष्टगुणे जले चतुर्भागावशिष्टं मधुयुतं वा
पिबेत् ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः— कफमूत्रकृच्छ्रचिकित्सितमिदमुक्त्वा सन्निपातमूत्रकृच्छ्र-
चिकित्सामाह—सर्वमित्यादि । त्रिदोषप्रभवे तु मूत्रकृच्छ्रे वायोः स्थानानु-
पूर्व्या प्रसमीक्ष्य सर्वं वातादिप्रत्येकोक्तं मेलयित्वा कार्यम् । तत्र त्रिभ्यो
दोषेभ्यो मध्ये कफेऽधिके सन्निपातजे पूर्वं वमनं पित्तेऽधिके विरेकः
पवनेऽधिके वस्तिः स्यात् ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—अथाश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्रचिकित्सामाह—क्रियेत्यादि । कफ
मारुतोत्थे कफोत्थे मारुतोत्थे च मूत्रकृच्छ्रे या क्रिया उक्ता सा अश्मरीशर्करा-
जाभ्यां मूत्रकृच्छ्राभ्यां हिता कार्या । अश्मरीभेदनाय पातनाय च विशेषयुक्तं
कर्म शृणु ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—पाषाणेत्यादि । पाषाणभेदं चाङ्गेरी अश्मान्तको वा । कश्चित् तु
प्रस्तरचूर इत्याह । वृषकं वासकं निकुम्भो दन्ती खराह्वा यमानी पारशीय-
पावन्तो निम्बः । शितिमारकः शालिञ्जः । सर्वमित्यादि । एतदेव वातादिभेजं मिलितं
त्रिदोषप्रभवे कृच्छ्रे कर्तव्यम् । तच्च समेष्वपि दोषेषु वायोः स्थानानुपूर्व्या कर्तव्यम् ॥ ३०—३२ ॥

चक्रपाणिः—क्रिया हिता सेति या कफमारुतोत्थे कृच्छ्रे विहिता सा शर्करायामश्मर्याञ्च
कर्त्तव्या । खराह्वाजमोदा, चूर्णं पिबेदित्यत्र जलेनैव पानम् । इक्षुरकः कोकिलाक्षः, कुन्दरुकः

उत्कुञ्चिका हिङ्गु सवेतसाम्लं स्याद् द्वे वृहत्यौ हवुषा वचा च ।
 चूर्णं पिबेदश्मरिभिद् विषक्वं सर्पिश्च गोमूत्रचतुर्गुणं तैः ॥ ३४
 मूलं श्वदंष्ट्राक्षुरकोरुकात् क्षीरेण पिष्टं वृहतोद्वयाच्च ।
 आलोड्य दध्ना मधुरेण पेयं दिनानि सप्ताश्मरिभेदनार्थम् ॥ ३५
 पुनर्नवायोरजनीश्वदंष्ट्रा-फलगुप्रवालाश्च सदर्भपुष्पाः ।
 क्षीराम्बुमदेक्षुरसप्रपिष्टं पेयं भवेदश्मरिश्कर्णसु ॥ ३६ ॥
 एला शताह्वा लवणानि पञ्च कम्पिल्लकं गोक्षुरकस्य बीजम् ।
 यवाग्रजं कुन्दुरुकाश्मभेदावेवोरुकाच्च त्रपुषाच्च बीजम् ।
 चूर्णीकृतं चित्रकहिङ्गुमांसी-यमानोतुल्यं त्रिफलाद्विरंशम् ।
 अम्लैरनुष्णै रसमद्ययूषैः पेयानि गुल्माश्मरिभेदनानि ॥ ३७ ॥

देशजा । हिंसादीनां पञ्चानां बीजं उत्कुञ्चिका कृष्णजीरकं हवुषा आउच
 इति लोके । एषां चूर्णमश्मरीभित् । तः पाषाणभेदादिभिः कल्कैर्गोमूत्र-
 चतुर्गुणं सर्पिर्विषक्ञ्चाश्मरीभित् ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—मूलमित्यादि । श्वदंष्ट्रादीनां मूलं क्षीरेण पिष्टं सप्तदिन-
 मश्मरीभेदनार्थं पेयम् । वृहतोद्वयाच्च मूलं मधुरेणानम्लेन दध्ना पिष्टमालोड्य
 पेयमिति ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—पुनर्नवेत्यादि । अयो मारितपुटितलौहरजः । फलु कोठो-
 डुम्बरफलम् । प्रवालश्च चूर्णितः । दर्भपुष्पं उल्लाकपुष्पम् । सर्व्वमिदं क्षीरा-
 द्यन्यतमेन पिष्टं पेयमिति ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—एलेत्यादि । एव्वोरुत्रपुषयोर्व्वीजम् । त्रपुषबीजान्तं सर्व्वं समं
 नीत्वा चूर्णीकृतं यावन्मितं भवति तत् सर्व्वं चित्रकादीनां चतुर्णां प्रत्येकं
 समानानां मिलितानां तुल्यं त्रिफलाद्विरंशं त्रपुषबीजान्तसर्व्वचूर्णाद् द्विगुणं
 त्रिफलाचूर्णमेकीकृत्य सर्व्वानि मात्रयानूष्णरम्लैः पेयानि मांसरसमद्ययूषैर्व्व
 पेयानि ॥ ३७ ॥

शितिमारकः कुन्दकुसुमख्यातः । त्रिफलाद्विभागमिति त्रिफलायाः प्रत्येकं मूलभागात् भागद्वयम् ।
 अम्लैरिति काञ्जिकादिभिः । अशुक्तैरिति शुक्तवर्जितैः । मद्यग्रहणात् तस्य वस्तिशोधनत्वं अश्मरी-
 भेदकप्रकर्षख्यापनार्थं पुनरुच्यते ॥ ३३—३७ ॥

विल्वप्रमाणो घृततैलभृष्टो यूषः कृतः शिशुकमूलकल्कात् ।
 शीतोऽश्मभित् स्याद् दधिमण्डयुक्तः पेयः प्रकामं लवणेन युक्तः ॥
 जलेन शोभाञ्जनमूलकल्कः शीतो हितश्चाश्मरिशर्करासु ॥ ३८ ॥
 सितोपला वा समयावशूका कृच्छ्रेषु सव्वेष्वपि भेषजं स्यात् ॥ ३९ ॥
 पीत्वा च मद्यं निगदं रसेन हयेन वा शीघ्रजवेन यायात् ।
 तैः शर्करा प्रच्यवतैऽश्मरी च शाम्येन्न चेत् शल्यविदुद्धरेत् ताम् ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—विल्वेत्यादि । शिशुमूलकल्ककर्षः । मुद्गादिविदलं प्रास्थिक-
 जलाचतुर्दशभागैकभागं पक्त्वा चतुर्थभागशिष्टो यूषः कृतो घृततैले मिलिते
 सम्भृष्टस्तस्माद् विल्वप्रमाणः पलप्रमाणो यूषः शीतः प्रकाममिच्छानुरूपं लवण-
 युक्तो दधिमण्डयुक्तो दधिमस्तुना युक्तः पेयोऽश्मभित् । जलनेत्यादि ।
 शोभाञ्जनमूलकल्कः शीत एव जलेन पिष्ट्वा पेयः ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—समयावशूका सितोपला वा जलेन पीता ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—पीत्वेत्यादि । निगदसंज्ञं मद्यं मांसरसेन पीत्वा शीघ्रजवेन
 हयेनाश्वेन यायाद् गच्छेत् । तैरिति एतदन्तैः पूर्वोक्तेः शर्कराश्मरी च
 प्रच्यवते । चेदेतैर्न शर्करा चाश्मरी च शाम्येत्, तदा शल्याङ्गायुर्वेदविद्
 वैद्यस्तां शर्कराश्मरीञ्चोद्धरेत् । शल्याङ्गप्रधानमुश्रुते चोक्तम् । “घृतैः क्षारैः
 कषायैश्च क्षीरैः सोत्तरवस्तिभिः । यदि नोपशमं गच्छेत् छेदस्तत्रोत्तरो
 विधिः । कुशलस्यापि वैद्यस्य यतः सिद्धिरिहाध्रवा । उपक्रमो जघन्यो-
 ऽयमतः सम्पर्किर्त्तितः । अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् ।
 तस्मादापृच्छ्य कर्त्तव्यमीश्वरं साधुकारिणा । अथ रोगान्वितमुपस्तिग्ध-
 मपकृष्टदोषमीषत्कणितमभ्यक्तस्विन्नशरीरं भुक्तवन्तं कृतबलिमङ्गलस्वस्ति-
 वाचनमग्नोपहरणीयोक्तेन विधानेनोपकल्पितसम्भारमाश्वस्य, ततो बलवन्त-
 मविक्रवमाजानुसमे फलके प्रागुपवेश्य पुरुषश्च, तस्योत्सङ्गे निषण्णपूर्वकाय-
 मुत्तानमुन्नतकटीकं वस्त्रधारकोपविष्टं सङ्कुचितजानुकूपरमितरेण सहावबद्धं
 सूत्रेण शाटकेर्वा । ततः स्वभ्यक्तनाभिप्रदेशस्य वामपार्श्वं विमृद्य मुष्टिनाव-
 पीडयेद्धानोभेर्यावदश्मर्यधः प्रपन्नेति । ततः स्नेहाभ्यक्ते क्लृप्तनखे वामहस्त-
 प्रदेशिनीमध्यमे पायौ प्रणिधायानुसेवनीमासाद्य प्रयत्नबलाभ्यां पायुमेद्वान्त-

चक्रपाणिः—अश्मभिदिति अश्मरिभेदी । सितोपला शर्करा । शल्यवित् हरेदिति शल्यवित्

मानीय निर्व्वलीकमनायतमविषमश्च वस्तिं सन्निवेश्य भृशमुत्पीडयेदङ्गुलीभ्यां
 यथा ग्रन्थिरिवोन्नतं शल्यं भवति । स चेद् गृहीतशल्ये तु विवृताक्षो विचेतनः ।
 हतवल्लम्बशीर्षश्च निर्व्विकारो मृतोपमः ॥ न तस्य निर्हरेच्छल्यं निर्हरेत् तु
 म्रियेत सः । विना त्वेतेषु रूपेषु निहत्तुं समुपाचरेत् ॥ सच्ये पाश्व
 सेवनीं यवमात्रेण मुक्त्वाऽवचारयेत् शस्त्रमश्मरीप्रमाणं, दक्षिणतो वा क्रिया-
 सौकर्यहेतोरित्येके । यथा च न भिद्यते चूर्ण्यते वा तथा प्रयतेत । चूर्णमल्प-
 मप्यवस्थितं हि पुनः परिवृद्धिमेति । तस्मात् समस्तामप्रवक्तृणाददीत ।
 स्त्रीणान्तु वस्तिपाश्वगतो गर्भाशयः सन्निकृष्टस्मान्नासामुत्सङ्गवच्छस्त्रं
 पातयेदतोऽन्यथा खल्वासां मूत्रस्रावी व्रणो भवेत् । पुरुषस्य वा मूत्रप्रसेकक्षणना-
 न्मूत्रक्षरणम् । अश्मरीव्रणादृते भिन्नो वस्तिरेकधा न भवति, द्विधाभिन्न-
 वस्तिराश्मरिको न सिध्यति । अश्मरीव्रणनिमित्तमेकधाभिन्नवस्तिर्जीवति
 क्रियाभ्यासात् शास्त्रविहितच्छेदान्निःस्यन्दपरिवृद्धत्वाच्च शल्यस्येति । उद्धृत-
 शल्यन्तूष्णोदकद्रोण्यामवतार्य्य स्वेदयेत् तथा हि वस्तिरसृजा न पूर्य्यते । पूर्णे वा
 क्षीरिवृक्षकषायन्तु पुष्पानेत्रेण विदध्यात् । भवति चात्र । क्षीरिवृक्षकषायन्तु
 पुष्पानेत्रेण योजितम् । निर्हरेदश्मरीं तूर्णं रक्तं वस्तिगतञ्च यत् ॥ मूत्रमार्ग-
 विशोधनार्थञ्चास्मै गुडसौहित्यं वितरेत् । उद्धृत्य चैनां मधुघृताभ्यक्तव्रणं
 मूत्रविशोधनद्रव्यसिद्धामुष्णां सघृतां यवागूं पाययेदुभयकालं त्रिरात्रम् ।
 त्रिरात्रादूर्ध्वं गुडप्रगाढेन पयसा मृद्वोदनमल्पं भोजयेद् दशरात्रं मूत्रासृग्विशुद्धार्थं
 व्रणक्लेदनार्थञ्च दशरात्रादूर्ध्वं फलाम्लैर्जाङ्गलरसरुपाचरेत् । ततो दशरात्रं चैन-
 मप्रमत्तः स्वेदयेत् स्नेहेन द्रवस्वेदेन वा । क्षीरिवृक्षकषायेण वास्य व्रणं
 प्रक्षालयेत् । लोभ्रमधुकमज्जिष्ठाप्रपौण्डरीककल्केन व्रणं प्रतिग्राहयेत् । एतेष्वेव
 हरिद्रायुतेषु तैलं घृतं वा विपक्वं व्रणाभ्यञ्जनमिति । स्त्यानशोणितं चोत्तर-
 वस्तिभिरुपाचरेत् । सप्तरात्राच्च स्वमार्गमप्रतिपद्यमाने मूत्रे व्रणं यथोक्तेन
 विधिना दहेदग्निना । स्वमार्गमप्रतिपन्ने चोत्तरवस्त्यास्थापनानुवासनैरुपाचरेत्
 मधुरकषायैरिति । यदृच्छया वा मूत्रमार्गमप्रतिपन्नामन्तरासक्तां शुक्राश्मरीं
 शर्करां वा स्रोतसापहरेत् । एवञ्चाशक्ये विदार्य्य वा नाडीं शस्त्रेण वडिशे-
 नोद्धरेत् । रुद्धव्रणश्चाङ्गनाश्वनगनागरथद्रमान् नारोहेत वर्षम्, नाप्सु पुवेत,
 शुज्जीत वा गुरु । मूत्रवहशुक्रवहमुष्कस्रोतोमूत्रप्रसेकसेवनीयोनिगुदवस्तीन्
 परिहरेत् । तत्र मूत्रवहच्छेदान्मरणं मूत्रपूर्णवस्तेः । शुक्रवहच्छेदान्मरणं क्लेश्यं
 वा । मुष्कस्रोत-उपघाताद् ध्वजभङ्गः । मूत्रप्रसेकक्षणनान्मूत्रप्रक्षरणम् । सेवनी-

रेतोविघातप्रभवे तु कृच्छ्रे समोक्ष्य दोषं प्रतिकर्म कुर्यात् ।
 कार्पासमूलं वसुकाश्मभेदौ बला स्थिरादीनि गवेषुका च ॥
 वृश्चोरमैन्द्री च पुनर्नवा च शतावरी मध्वशनाखुपण्यौ ।
 तत्काथसिद्धं पवने नरस्य पित्ताधिके क्षीरमथाऽपि सर्पिः ॥
 कफे तु यूषादिकमन्नपानं संसर्गजे सर्व्वहितः क्रमः स्यात् ॥४१॥
 एवं न चेच्छाम्यति तस्य दद्यात् सुरां पुराणां मधु माध्विकं वा ।
 विहङ्गमांसानि च वृंहणार्थं वस्तिश्च शुक्राशयशोधनार्थम् ।
 शुद्धस्य तृप्तस्य च वृष्ययोगाः प्रियानुकूलाः प्रमदा विधेयाः ॥४२॥
 रक्तोद्भवो तूत्पलनालताल-काशेक्षुवालेक्षुकशेरुकाणि ।
 पिबेत् सिताक्षौद्रयुतानि खादेदिक्षुं त्रिदारौ त्रपुषाणि चैव ॥
 योनिच्छेदाद् रुजः प्रादुर्भावः । वस्तिगुदविद्वलक्षणं प्रागुक्तमिति । भवतश्चात्र ।
 मर्म्माण्यष्टावसम्बुध्य स्रोतोजानि शरीरिणाम् । व्यापादयेद् बहून् मर्त्यान्
 शस्त्रकर्म्मापटुर्भिषक् । सेवनी मुष्क(शुक्र)हरणी स्रोतसी फलयोर्गुदम् । मूत्रसेकं
 मूत्रवहं मूत्रवस्तिस्तथाष्टमः ॥ इति ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—अथ शुक्रविघातजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सामाह—रेत इत्यादि ।
 कार्पासमूलादीनां काथसिद्धं क्षीरमथवा सर्पिः पित्ताधिके पवने । कफेऽधिके तु
 तेषां काथसिद्धं यूषव्यञ्जनादिकं यवाभाद्यन्नपानञ्च । संसर्गजे सर्व्वेषु वातादिषु
 त्रिषु हितो यः क्रमः स विहितः स्यात् ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—एवमित्यादि । एवमुक्तक्रमेण चेद्रेतोविघातजमूत्रकृच्छ्रं न
 शाम्यति, तदा तस्य पुराणां सुरां दद्यात् । मधु वा पुराणं माध्विकं वा
 पुराणमेव । विहङ्गमांसेन तृप्तस्य वस्तिना शुद्धशुक्राशयस्य च वृष्ययोगा
 वाजीकरणोक्ताः प्रिया अनुकूलाश्च प्रमदा विधेयाः । इति ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—रक्तजमूत्रकृच्छ्रचिकित्सामाह—रक्तोद्भवे इत्यादि । शल्या-
 दिभिः क्षतेऽभिघाते वा क्षयाद् वा जाते रक्तोद्भवे मूत्रकृच्छ्रे उत्-
 पलनालादीनि समानि पिष्ट्वा सिताक्षौद्रयुतानि पिबेत् । इक्षुं खादेत्
 उक्तविधानेनाश्मरीमाकषत् । समीक्ष्येति दोषमुत्बणं समीक्ष्य । मध्वशनाखुपण्यौ मधुपर्णी
 गुडूची, अशानपर्णी अपराजिता । संसर्गज इति त्रिदोषज ॥ ३८—४१ ॥

घृतं श्वदंष्ट्रास्वरसेन सिद्धं क्षीरेण चैवाष्टगुणेन पेयम् ।

स्थिरादिकानां कतकादिकानामेकैकशो वा विधिनैव तेन ॥४३॥

क्षीरेण वस्तिर्मधुरौषधैः स्यात् तैलेन वा स्वादुफलोत्थितैः ।

यन्मूत्रकृच्छ्रे विहितन्तु पैत्ते तत् कारयेच्छोणितमूत्रकृच्छ्रे ॥४४॥

व्यायामसन्धारणशुष्कभक्ष-पिष्टान्नवातार्ककरव्यवायान् ।

खज्जूरशालूककपित्थजम्बू-विसं कषायं न रसं भजेत ॥ ४५ ॥

विदारीमूलं त्रिपुषफलानि च खादेत् । घृतमित्यादि । श्वदंष्ट्रास्वरसेनाष्टगुणेन क्षीरेण चाष्टगुणेन सिद्धं घृतं पेयम् । स्थिरादिकानां शालपण्यादिपञ्च-मूलानामेकैकशालपण्यादीनामेकैककतकादीनां सर्वेषां स्थिरादीनां सव्वषां कतकादीनां वा तेनैव विधिनाष्टगुणेन स्वरसेनाष्टगुणेन क्षीरेण सिद्धं घृतं पेयमिति ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—क्षीरेणेत्यादि । क्षीरेण वस्तिः स्यादथवा मधुरौषधैर्जीवनीयै-र्वस्तिः स्यात् । स्वादुफलानां बीजोत्थितेन तैलेन वा वस्तिः स्यात् । पैत्ते मूत्रकृच्छ्रे यदौषधं विहितं तदपि शल्यादिक्षते रक्तजमूत्रकृच्छ्रे कारयेदिति ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—सर्वेषु वज्ज्याभ्याह—व्यायामेत्यादि । सन्धारणं मूत्रादि-वेगानाम्, शुष्कद्रव्यभक्षणञ्च पिष्टान्नञ्च वातश्चार्ककरञ्च व्यवायञ्च खज्जूर-ादीनि च, कषायं रसञ्च मूत्रकृच्छ्री न भजेत । इह मूत्रकृच्छ्रे मूत्राघातानां हेतुत्वादवरोधमभिप्रेत्य नोक्तिः । सुश्रुते च पृथङ्मूत्राघात उक्तः, तद्यथा—
“वातकुण्डलिकाऽऽढीला वातवस्तिस्तथैव च । मूत्रातीतः सजठरो मूत्रोत्सङ्गक्षयौ तथा । मूत्रग्रन्थिर्मूत्रशुक्रमुष्णवातस्तथैव च । मूत्रौकसादौ द्वौ चापि रोगा द्वादश कीर्त्तिताः । रौक्ष्याद् वेगविघाताद् वा वायुर्वस्तौ सवेदनम् । मूत्रं संगृह्य चरति विगुणः कुण्डलीकृतः । सृजेदल्पाल्पमथवा सरुजञ्च शनःशनैः । वात-

चक्रपाणिः—खादेदिति सिद्धान्त्येव खादेत् । घृतं श्वदंष्ट्राद्यादौ साहचर्यात् केचित् श्वदंष्ट्रा-स्वरसं अष्टगुणं वदन्ति । तत्र स्नेहसम एव स्नेहेषु भवति । उक्तं हि जतूकर्णं ‘कल्काच्चतुर्गुणः स्नेहः स्वरसः स्नेहसम्मितः’ इति । तेन क्षीरवत् सर्वस्नेहेषु स्वरसामिधानं ज्ञेयम् । स्थिरादि-कानां मधुररसपाकानां कतकादिमर्यादादीनां उक्तो गणो ज्ञेयः । विधिनैव तेनेति पूर्वघृतविधानैः

कुण्डलिकां तान्तु व्याधिं विद्यात् सुदारुणम् । शकुन्मार्गस्य वस्तेश्च वायुरन्तर-
माश्रितः । अष्ठोलावध्वनं ग्रन्थं करोत्यचलमुन्नतम् । विष्मत्रानिलसङ्गश्च
तत्राध्मानश्च जायते । वेदना जायते वस्तौ वाताष्ठीलेति तां विदुः । वेगं
विधारयेद् यस्तु मूत्रस्याकुशलो नरः । निरुणद्धि मुखं तस्य वस्तेर्वस्तिगतो-
ऽनिलः । मूत्रसङ्गो भवेत् तेन वस्तिकुक्षिनिपीडितः । वातवस्तिः स विबो यो
व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः । सन्धाद्य वेगं मूत्रस्य यो भूयः स्रष्टुमिच्छति ।
तस्य नाभ्येति यदि वा कथञ्चित् सम्प्रवर्त्तते । प्रवाहतो मन्दरुजमल्पमल्पं
पुनःपुनः । मूत्रातीतन्तु तं विद्यान्मूत्रवेगविघातजम् । मूत्रस्य विहते वेगे
तदुदावत्तहेतुना । अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद् भृशम् । नाभेरधस्तादाध्मानं
जनयेत् तीव्रवेदनम् । तं मूत्रजठरं विद्यादधोवस्तिनिरोधजम् । वस्तौ वाप्यथवा
नाले मणौ वा यस्य देहिनः । मूत्रं प्रवृत्तं सजेत सरक्तं वा प्रवाहतः ।
स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं बाध नीरुजम् । विगुणानिलजो व्याधिर्मूत्रसङ्गः
स संज्ञितः । रुक्षस्य क्लान्तदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ । सदाहवेदनं
कृच्छ्रं कुर्यातां मूत्रसंक्षयम् । अभ्यन्तरे वस्तिमुखे वृत्तोऽल्पः स्थिर एव च ।
वेदनावाननिष्पन्दो मूत्रमार्गेनिरोधनः । जायते सहसा यस्य ग्रन्थिरश्मरि-
लक्षणः । स मूत्रग्रन्थिरित्येवमुच्यते वेदनादिभिः । प्रत्युपस्थितमूत्रस्तु मैथुनं
योऽभिनन्दति । तस्य मूत्रयुतं रेतः सहसा सम्प्रवर्त्तते । पुरस्ताद् वापि मूत्रस्य
पश्चाद् वापि कदाचन । भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते । व्यायामाध्वातपैः
पित्तं वस्तिं प्राप्यानिलावृतम् । वस्तिमेद्रगुदञ्चैव प्रदहन् स्रावयेदधः । मूत्रं
हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा । कृच्छ्रात् प्रवर्त्तते जन्तोरुष्णवातं वदन्ति तम् ।
विशदं पीतकं मूत्रं सदाहं बहलं तथा । शुष्कं भवति यच्चापि रोचनाचूण-
सन्निभम् । मूत्राकसादनं विद्याद्रोगं पित्तकृतं बुधः । शुक्रं भवति यच्चापि
शङ्खचूर्णप्रपाण्डरम् । पिच्छिलं संहतं श्वेतं तथा कृच्छ्रं प्रवर्त्तते । मूत्राकसादं
तं विद्यादामयं चापरं कफात् । कषायकल्कसर्पींषि भक्ष्यान् लेहान् पयांसि
च । क्षारमध्वासवस्वेदान् वस्तींश्चोत्तरसंज्ञितान् । विदध्यात् मतिमांस्तत्र विधि-
श्चाश्मरिनाशनम् । मूत्रोदावर्त्तयोगांश्च कार्त्स्न्येनात्र प्रयोजयेत् । इत्यादि ।
इति त्रिमर्मीये वस्तिगता रोगाः सनिदानचिकित्सिता व्याख्याताः ॥ ४५ ॥

श्वदंष्ट्रास्थाने स्थिरादीनि प्रत्येकं कल्पनीयानि । स्वादुफलोत्थितेनेति मधुराक्षोटादिफलनिष्पन्नेन ।

व्यायामेत्यादिना मूत्रकृच्छ्रे पथ्यान्त्याह ॥ ४२—४५ ॥

वस्तिरोगचिकित्सितं समाप्तम् ।

व्यायामतीक्ष्णातिविरेकवस्तिच्छर्दामसन्धारणकर्षणानि ।
चिन्ताभयत्रासगदाभिचारा हृद्रोगकर्तृणि तथा विघातः ॥ ४६ ॥

वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिका-

श्वासास्यवैरस्यतृषाप्रमोहाः ।

छर्दिः कफोत्कृशरुजोऽरुचिश्च

हृद्रोगजाः स्युर्विविधास्तथान्ये ॥ ४७ ॥

हृच्छून्यभावद्रवशोषभेदस्तम्भाः समोहाः पवनाद् विशेषः ।

पित्तात् तमोदूयनदाहमोहाः सन्त्रासतापज्वरपोतभावाः ॥

स्तब्धं गुरु स्यात् स्तिमितश्च मर्म

कफात् प्रसेकज्वरकासतन्त्राः ।

विद्यात् त्रिदोषन्त्वपि सर्व्वलिङ्गं

तीव्रात्तितोदं क्रिमिजं सकण्डुम् ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—अथ हृदयमर्मजा रोगा व्याख्यायन्ते । कियन्तःशिरसीये प्रागुक्तं पञ्चैव हृदयामया इति, तेषाञ्च शोकोपवासेत्यादिना सनिदानलक्षणा-
न्युक्तानि । पुनरिह चिकित्सार्थं सनिदानलक्षणान्याह—व्यायामेत्यादि । व्याया-
माद्यभिचारान्तानि तथा विघातश्चेत्यन्तानि हृद्रोगकर्तृणि भवन्ति ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—हृद्रोगसामान्यलक्षणमाह—वैवर्ण्येत्यादि । हृद्रोगजा हृद्रोगे जायन्त
इति ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—विशेषलक्षणमाह । हृच्छून्येत्यादि । हृदयस्य शून्यभावश्च
द्रवश्च धक्धक्करणं शोषश्च भेदश्च स्तम्भश्च, पवनादेष विशेषः । पित्तादाह—
पित्तादित्यादि । स्तब्धमित्यादि कफहृद्रोगलक्षणम् । मर्म प्रकरणादिह
हृदयम् । विद्यादित्यादिना त्रिदोषहृद्रोगलक्षणम् । तीव्रात्तितोदं क्रिमिजमितीह

चक्रपाणिः—निदानादिक्रमेण हृद्रोगचिकित्सामाह—गदातिचार इत्यसम्यगुपचारः । वैवर्ण्या-
दिषु हृद्रोगजेषु हृद्रोगजा इति वचनं हृद्रोगोऽपत्तिसमकालमेव वैवर्ण्यादयो भवन्तीति ज्ञापनार्थम् ।
यस्मान् तरुणकासे वैवर्ण्यादय उपद्रवा भवन्ति इह तु वैवर्ण्यादयः हृद्रोगमुत्पादयन्ति ।
हृद्रोगश्च कियन्तःशिरसीये विस्तरेणोक्तः । चिकित्साप्रकरणात् इह सङ्क्षेपेणाभिधीयते । मर्ममिति
हृदयम् ॥ ४६—४८ ॥

तैलं ससौवीरकमस्तुतक्रं वातै प्रपेयं लवणं सुखोष्णम् ।
 मूत्राम्बुसिद्धं लवणैश्च तैलमानाहगुल्मार्तिहृदामयघ्नम् ॥
 पुनर्नवां दारु सपञ्चमूलं रास्नां यवान् कोलकुलतथविल्वम् ।
 पक्त्वा जले तैन पचेत् तु तैलमभ्यङ्गपानेऽनिलहृद्दघ्नम् ॥४६॥
 हरीतकीनागरपुष्कराह्वैर्वयःकयस्थालवणैश्च कल्कैः ।
 सहिष्णुभिः साधितमग्रासर्पिर्गुल्मे सहत्पार्श्वगदेऽनिलोत्थे ॥५०॥
 सपुष्कराह्वं फलपूरमूलं महौषधं शठभया च कल्काः ।
 क्षाराम्बुसर्पिलवणैर्विमिश्राः स्युर्वातहृद्रोगविकर्त्तिकाम्नाः ॥ ५१ ॥
 काथः कृतः पौष्करमातुलुङ्ग-पलाशपूतीकशटीसुराह्वैः ।
 सनागराजाजिवचायमानिः सक्षार उष्णो लवणश्च पेयः ॥ ५२ ॥
 सङ्घ पवचनम् । कियन्तःशिरसीये विस्तरेण दर्शितं “त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो
 दुरात्मा निषेवते” इत्यादि ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—अथैषां चिकित्सितमाह—तैलमित्यादि । वातहृद्रोगे सौवी-
 रादियुक्तं तैलं प्रपेयम् । मूत्राम्बुभ्यां समाभ्यां सिद्धं सैन्धवं लवणं सुखोष्णं
 प्रपेयम् । लवणैश्च पञ्चभिस्तैलं प्रपेयमानाहादिघ्नम् । पुनर्नवेत्यादि । पुनर्नवा-
 दीनि जलेऽष्टगुणे पक्त्वा, पादावशेषे काथे चतुर्गुणे सति तेन तैलं पचेत् ।
 अभ्यङ्गार्थं पानार्थश्च ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—हरीतकीत्यादि । वयःस्थामलकी कयस्था सूक्ष्मैला । एभिः
 कल्कैश्चतुर्गुणे जलेऽग्रासर्पिर्गव्यसर्पिः ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—सपुष्कराह्वमित्यादि । फलपूरमूलं मातुलुङ्गमूलं पुष्करादीनां
 पञ्चानां कल्काः पञ्च पृथगेव क्षाराम्बुना सर्पिषा सैन्धवलवणेन मिश्राः ॥५१॥

गङ्गाधरः—काथ इत्यादि । पौष्करादिसुराह्वान्तैः कृतः काथः नागरादियमा-
 न्यन्तचूर्णयुक्तः पेयः । लवणः सैन्धवाख्यः सयवक्षार उष्णः सह जलेन पेयः ॥५२॥

चक्रपाणिः—तैलमित्यादिना चिकित्सामाह । तैलादीनाम् अन्न समभागत्वं ज्ञेयम् । वयः-
 कयस्थेति गुहूचीस्वरसग्रहणम् । अग्रासर्पिरिति अन्नाग्रापदं सम्यक् सर्पिषः प्राधान्यख्यापनार्थम् ।
 विकर्त्तिकेह हृदयपरिकर्त्तिककारा वेदना । काथः कृत इत्यादौ नागरादीनां कल्कं पौष्करादीनां
 काथमाहुः ॥ ४९—५२ ॥

पथ्याशटीपौष्करपञ्चकोलात् समातुलुङ्गाद् यमकेन कल्कः ।
 गुडप्रसन्नालवणैश्च भृष्टो हृत्पाश्वर्षपृष्ठोदरयोनिशूले ॥ ५३ ॥
 स्यात् त्रूषणं द्वे त्रिफले सपाठे निदिग्धिकागोक्षुरकौ बले द्वे ।
 मेदे त्रुटिस्तामलकी खगुप्ता त्रुटिर्मधुकं मधुकं स्थिरा च ॥
 शतावरी जीवकपृश्निपर्ण्यौ द्रव्यैरिमैरक्षसमैः सुपिष्टैः ।
 प्रस्थं घृतस्य प्रपचेद् विधिज्ञः प्रस्थेन दध्ना त्वथ माहिषेण ॥
 मात्रां पलं चार्द्धपलं पिचुं वा प्रयोजयेन्मात्रिकसंप्रयुक्तम् ।
 श्वासे सकासे त्वथ पाण्डुरोगे हलीमके हृद्ग्रहणीप्रदोषे ॥ ५४ ॥
 शीतः प्रदेहः परिषेचनश्च तथा विरेको हृदि पित्तदुष्टे ।
 द्राक्षासिताक्षौद्रपरूषकैः स्यात् कृच्छ्रं च पित्तापहमन्नपानम् ॥ ५५ ॥

गङ्गाधरः—पथ्येत्यादि । पथ्यादिमातुलुङ्गान्तानां कल्कः गुडादिभिः सह
 मिश्रितः यमकेन घृततैलाभ्यां भृष्टः हृदादिशूले हितः ॥ ५३ ॥

गङ्गाधरः—स्यादित्यादि । द्वे त्रिफले । हरीतकी चामलकी विभीतकमिति
 त्रयी । त्रिफलाऽथापरा—द्राक्षा काश्मर्य्य सपरूषकमिति । द्वे बले मेदे च द्वे ।
 त्रुटिः सूक्ष्मैला, पुनः पाठात् स्थूलैला च, भागद्वयं वा । जीवकपृश्निपर्ण्या-
 वित्येकं पदम् । एषामक्षसमैः कल्कैर्माहिषदध्ना प्रस्थेन घृतप्रस्थं विपचेत् ।
 शीते मधु पादिकं प्रक्षिपेत् । तस्य पलमर्द्धपलं कर्षमाणश्च क्रमेणोत्तमादिमात्रां
 प्रयोजयेत् श्वासादौ । त्रूषणादिघृतम् ॥ ५४ ॥

गङ्गाधरः—वातहृद्रोगचिकित्सितमुत्त्वा पित्तहृद्रोगचिकित्सितमाह—शीत
 इत्यादि । शीतस्य सर्व्वत्रान्वयः । द्राक्षादिभिरर्द्धश्रुतैर्जलैरन्नपानं स्यात् ॥ ५५ ॥

चक्रपाणिः—पथ्याशटीत्यादीनां कल्कः यमकेन भृष्टः गुडप्रसन्नालवणैश्च पेय इति व्याख्ये-
 यम् ॥ ५३ ॥

चक्रपाणिः—द्वे त्रिफले इत्यत्र द्राक्षाकाश्मर्य्यपरूषकाणि द्वितीया त्रिफला । तुटी पला
 सूक्ष्मैला ॥ ५४ ॥

चक्रपाणिः—शीत इति पित्तहृद्रोगचिकित्सिते ॥ ५५ ॥

पिष्टा पिवच्चापि सिताजलेन

यष्ट्राह्वयं तिक्तकरोहिणीश्च ।

क्षतैषु सर्पींषि हितानि सर्पि-

गुडाश्च ये तान् प्रसमीक्ष्य सम्यक् ॥ ५६ ॥

दद्याद् भिषक् धन्वरसान्नगव्य-क्षीराशिनां पित्तहृदामयेषु ।

तैरेव सर्वे प्रशमं प्रयान्ति पित्तामयाः शोणितसंश्रया ये ॥ ५७ ॥

द्राक्षाबलाश्रेयसिश्कर्काभिः खज्जूरवीरर्षभकोत्पलैश्च ।

काकोलिमेदायुगजीवकैश्च क्षीरेण सिद्धं महिषीघृतं स्यात् ॥

कशेरुकाशैवलशृङ्गवेर-प्रणौखरीकं मधुकं विसस्य ।

ग्रन्थिश्च सर्पिः पयसा पचेत् तैः क्षौद्रान्वितं पित्तहृदामयघ्नम् ॥

स्थिरादिकल्कैः पयसा च सिद्धं द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वापि ।

सर्पिर्हितं स्वादुफलेक्षुजाश्च रसाः सुशीता हृदि पित्तदुष्टे ॥ ५८ ॥

गङ्गाधरः—पिष्टत्वादि । यष्ट्राह्वयादिद्वयं सिताजलेन पिष्ट्वा पिवेत् ॥ ५६ ॥

गङ्गाधरः—उरसः क्षतेषु यानि सर्पींषि ये च सर्पिर्गुडा उक्तास्तान् धन्वरसान्नगव्यक्षीराशिनां दद्यात् ॥ ५७ ॥

गङ्गाधरः—द्राक्षेत्यादि । द्राक्षादिभिः कल्कैरेकं घृतम्, खज्जूरं रादिभिरेकम्, काकोल्यादिभिरेकमिति घृतत्रयम् ; सर्वत्र क्षीरं चतुर्गुणम् । कशेरुकेत्यादि । विसस्य मृणालस्य ग्रन्थिः । एतदन्तैः कल्कैः पयसा चतुर्गुणेन सर्पिः पचेत् । शीते मधु पादिकम् । स्थिरादीत्यादि । स्थिरादः शालपर्ण्यादिः कल्कः पयश्चतुर्गुणमथवा द्राक्षारसश्चतुर्गुणः किंवा चतुर्गुण इक्षुरस इति घृतत्रयं हितम् । एवं स्वादुफलजा द्राक्षादिफलजा रसा इक्षुरसाश्च सुशीता हिताः ॥ ५८ ॥

चक्रवाणिः—क्षतेष्विति क्षतक्षीणचिकित्सिते । श्रेयसी रास्ना । खज्जूरं खज्जूरफलम् । क्षौद्रान्वितमिति साधनोत्तरकालं पादिकमधुयुक्तम् । स्वादुफलेत्यादौ रसा इति स्वरसाः ॥ ५६—५८ ॥

स्विन्नस्य वान्तस्य विलङ्घितस्य क्रिया कफघ्नी कफमर्मरोगे ।
 कौलत्थधान्यैश्च रसैर्यवान्न-पानानि तीक्ष्णानि सशर्कराणि * ॥
 मूत्रे शृताः कटफलशृङ्गवेर-पीतद्रुपथ्यातिविषाः प्रदेयाः ।
 तथा शटोशुण्ठिवचोपकुल्या-रास्नावचापुष्करमूलचूर्णम् ॥
 उडुम्बराश्वत्थवटार्जुनाख्ये पालाशरौहीतकखादिरे च ।
 काथे त्रिवृत्त्र्यूषणचूर्णसिद्धो लेहः कफघ्नी युत उष्णतोयैः ॥
 शिलाह्वयं वा भिषगप्रमत्तः प्रयोजयेत् कल्पविधानदृष्टम् ।
 प्राश्याथवागस्त्यहरीतकी† च रसायनं ब्राह्मणमथामलक्याः ॥५६॥
 त्रिदोषजे लङ्घनमादितः स्यादन्नञ्च सर्व्वेषु हितं विधेयम् ।
 हीनातिमध्यत्वमवेक्ष्य चैव कार्य्यं त्रयाणामपि कर्म शस्तम् ॥

गङ्गाधरः—पित्तहृद्गोचिकित्सितमुक्त्वा कफहृद्गोचिकित्सितमाह—
 स्विन्नस्येत्यादि । कौलत्थधान्ययो रसैः पक्वं यवान्नं तैरुद्धृतञ्च पानमित्येवं
 तीक्ष्णान्यन्नपानानि सशर्कराणि हितानि । मूत्रे इत्यादि । कटफलदयो-
 ऽतिविषान्ता गोमूत्रे शृताः काथरूपा देयाः । तथा शट्यादीनां चूर्णं प्रदेयम् ।
 उडुम्बरेत्यादि । उडुम्बरादिकाञ्जुनान्तकाथे पालाशखादिरान्ते काथे त्रिवृ-
 तादिचूर्णं दत्त्वा सिद्धो लेहः पक्त्वा लेहः कार्य्यः, स चोष्णसलिलयुक्तः पेयः ।
 शिलाह्वयमित्यादि । शिलाजतुनामकं लेहं भिषक् प्रयोजयेत् । तथा अगस्त्य-
 हरीतकीलेहं प्रयोजयेत् । ब्राह्मणं रसायनं तथा मलकीरसायनं प्रयोजयेत् ॥५९॥

गङ्गाधरः—अथ त्रिदोषजहृद्गोचिकित्सितमाह—त्रिदोषज इत्यादि । सर्व्वेषु
 वातादिजेषु प्रत्येकं विहितं मिलित्वा विधेयम् । तत्र हीनादिदोषमवेक्ष्य तथानु-

चक्रपाणिः—स्विन्नस्येत्यादि कफजहृद्गोचिकित्साधिकारः । शङ्कराणीति कल्याणकराणि ।
 कल्पशब्देन च क्षुद्ररसायनमुच्यते । प्राश इति च्यवनप्राशः । अगस्त्येति वेदविशेषणम् ॥ ५९ ॥

चक्रपाणिः—त्रिदोषज इत्यादौ आदौ लङ्घनविधानं हृदयस्य कफस्थानतया, तदगदे त्रिदोषजेऽपि
 कफ एवादौ लङ्घनेन जेष्य इति मत्वा कृतम् । त्रिदोषजे उल्वणदोषचिकित्सासूत्रमाह—
 हीनाधीत्यादि । हीनत्वमधिकत्वं मध्यमत्वञ्चदोषाणामवेक्ष्य यत् कर्म शस्तं अधिकदोषः

भुक्तेऽधिकं जीर्यति शूलमल्पं
 जीर्णे स्थितं स्यात् सुरदारु कुष्ठम् ।
 सतित्वकं द्वे लवणे विडङ्ग-
 मुष्णाम्बुना सातिविषं पिबेत् सः ॥
 जीर्णेऽधिके स्नेहविरेचनं स्यात्
 फलैर्विरेच्यो यदि जीर्यति स्यात् ।
 त्रिष्वेव कालेष्वधिके तु शूले
 तीक्ष्णं हितं मूलविरेचनं स्यात् ॥ ६० ॥

प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः प्रकुप्यत्यामाशये शोधनमेव तस्मात् ।
 कार्यं तथा लङ्घनपाचनञ्च सर्वं क्रिमिघ्नं क्रिमिहृद्दे च ॥ ६१ ॥
 रूपेण त्रयाणामपि कर्म शस्तं स्यात् । भुक्त इत्यादि । त्रिदोषजे हृद्रोगे
 भुक्ते भुक्तमात्रे शूलमधिकं स्यात्, अन्ने जीर्यति तल्पं शूलम्, जीर्णेऽन्ने शूलं
 स्थितं स्यात् । तत्र स हृद्रोगी सुरदारुप्रभृतीनामतिविषान्तानां चर्णमुष्णाम्बुना
 पिबेत् । जीर्ण इत्यादि । यस्मिन् हृद्रोगे त्रिदोषजेऽन्ने जीर्णेऽधिकं शूलं स्यात् तत्र
 रनेहविरेचनमेरण्डतैलादिना हितं स्यात् । तत्रान्ने जीर्यति सति यद्यधिकं
 शूलं स्यात् तदा फलैर्विरेचनोक्तफलनीनां फलैर्विरेच्यः स स्यात् । त्रिषु
 भुक्तमात्रजीर्यज्जीर्णेषु कालेषु शूलेऽधिके तीक्ष्णं मूलं विरेचनं मूलिनीषु मध्ये
 यत् तीक्ष्णं मूलं विरेचनं तद्धितं स्यात् ॥ ६० ॥

गङ्गाधरः—क्रिमिहृद्गोचिकित्सामाह—प्राय इत्यादि । क्रिमिहृद्गोचे च
 यस्मादनिलो रुद्धगतिः सन्नामाशये प्रायः प्रकुप्यति तस्मादेवैवं शोधनं कार्यम्,
 अपकतया तत् कार्यमिति वाक्यार्थः । भुक्तेऽधिकमित्यादिना सान्निपातिकहृद्गोचे प्रायो भावि-
 शूलं लक्षणभेदेन विभजन् चिकित्सति । भुक्तेऽधिकमित्यादिना श्लेष्मशूलमुच्यते । स्थित-
 मिति प्रशान्तम् । जीर्णेऽधिकमित्यादिना अनिलशूलम् । जीर्यति अधिकमित्यनेन पैत्तिकं
 ब्रूते । फलैरिति द्राक्षाकाशमर्यादिभिः । त्रिष्वेवेत्यादिना सान्निपातिकशूलमाह । मूल-
 विरेचनं त्रिवृन्मूलादिभिर्विरेचनम् ॥ ६० ॥

चक्रपाणिः—विरेचनोपपत्तिमाह—प्रायोऽनिल इत्यादि । अत्र चानिलकोपे यद्यपि वस्तिरुचिता
 तथापि आमाशयशोधनं विरेचनमेव ज्ञेयम् । कृमिघ्नमिति व्याधितरूपायै कृमिहरत्वेनोक्तं
 विधानम् ॥ ६१ ॥
 इति हृद्गोचिकित्सितम् ।

सन्धारणाजीर्णरजोऽतिभाष्य-क्रोधर्तुवैषम्यशिरोऽभितापैः ।
 प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतैरवश्यया मैथुनवाष्पधूमैः ।
 संस्त्यानदोषे शिरसि प्रदुष्टो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत् तु ॥
 घ्राणार्त्तितोदौ क्षवधुर्जलाभः स्नात्रोऽनिलात् सस्वरशोषरोगः ।
 नासाग्रपाकज्वरवक्तृशोषास्तृष्णास्त्रगीतस्त्रवणानि पित्तात् ॥
 कासारुचिस्त्रावघनप्रसेकाः कफाद् गुरुः स्रोतसि चापि कण्डूः ।
 सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात्
 स्युः पीनसेऽतीव रुजोऽतिदुःखे ॥ ६२ ॥

तथा लङ्घनपाचनञ्च कार्यम् । सर्वं क्रिमिघ्नं भेषजं यद् यत् प्रागुक्तं तत् सर्वं
 कार्यमिति । इति त्रिमर्मीये हृदयमर्म्भविकाराः सनिदानचिकित्सिता
 व्याख्याता भवन्ति ॥ ६१ ॥

गङ्गाधरः—अथ शिरोमर्म्मगतानां चिकित्सिते वक्तव्ये प्रथममल्पस्नानासा-
 रोगमाह—सन्धारणेत्यादि । अथार्यवेगानां प्रवर्त्तमानानां सन्धारणमजीर्णञ्च
 रजोधूलिर्नासया प्रविष्टं प्रजागरो रात्रिजागरणम् अम्बुशीतैरम्बुनः शैत्यसेवनेन,
 अवश्यया अवश्याशब्दो निहारवाची । संस्त्यानो दोषः कफादिर्यत्र तस्मिन्
 शिरसि सति । एभिः प्रदुष्टो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत् । तस्य लक्षणं घ्राणेत्यादि ।
 घ्राणस्यार्त्तितोदौ स्वररोगः स्वरभङ्गः शीर्षरोगः शिरःपीडा, वातात् प्रतिश्याये
 भवन्ति । पित्तात् प्रतिश्याये नासाग्रपाकादीनि स्युः । कफात् प्रतिश्याये
 कासादिकण्ड्वन्तानि स्युः । सन्निपातात् पीनसे प्रतिश्यायेऽतिदुःखेऽतीव रुजो
 भवन्ति, सर्वाणि च घ्राणार्त्तितोदादिकण्ड्वन्तानि भवन्ति ॥ ६२ ॥

चक्रपाणिः—क्रमागतशिरोरोगचिकित्सायां वक्तव्यायां शिरोरोगहेतुं प्रतिश्यायेमेव तावदाह ।
 शालाक्ये उक्तम्—‘भूयिष्ठं व्याधयः सर्वे प्रतिश्यायनिमित्तजाः । तस्मात् रोगः प्रतिश्यायः
 पूर्वमेवोपदिश्यते’ इति । यद्यपि राजयक्ष्मचिकित्सिते प्रतिश्याय उक्त एव, तथापि तत्र यक्ष्म-
 पूर्वतया तथोक्तः । इह तु स्वतन्त्रः प्रतिश्याय उच्यत इति विशेषः । रजो धूलिः । अति-
 स्वप्नो दिवास्वप्नः । अवश्यायः तुषारः । संस्त्यानदोष इति निश्चृतदोषे । घ्राणार्त्तित्यादिना
 वातादिप्रतिश्यायानां चतुर्णां क्रमाल्लक्षणमाह । सस्वरमूर्द्धरोग इति स्वररोगः स्वरभेदः । कफात्

सर्वोऽतिवृद्धोऽहितभोजनात् तु दुष्टप्रतिश्याय उपेक्षितः स्यात् ॥

ततश्च रोगाः क्ष्वथुश्च नासा-शोषः प्रतीनाहपरिस्त्रवौ च ।

घ्राणस्य पूतित्वमपीनसश्च सपाकशोथोऽवुदपूयरक्तः ॥

अरूषि शीर्षश्रवणाक्षिरोगाः खालिलहय्यर्जुनलोमभावाः ।

तृट्श्वासकासज्वररक्तपित्त-वैवर्यशोषाश्च ततो भवन्ति ॥ ६३ ॥

रोधाभिघातस्त्रवशोषपाकैर्घ्राणं युतं यस्य न वेत्ति गन्धम् ।

दुर्गन्धि चास्यं बहुशः प्रकोपि-दुष्टप्रतिश्यायमुदाहरेत् तम् ॥

गङ्गाधरः—सर्वे इत्यादि । सर्व एव प्रतिश्यायः पुनरहितभोजनादति-
वृद्धश्चेदुपेक्ष्यते तदा दुष्टप्रतिश्यायः स्यात् । ततश्चेत्यादि । ततो दुष्टप्रतिश्याया-
द्रोगा इमे भवन्ति क्ष्वथुश्चेत्यादयः । सुश्रुते चोक्तम् । “अपीनसः पूतिनस्यं
नासापाकस्तथैव च । तथा शोणितपित्तश्च पूयशोणितमेव च । क्ष्वथुर्भ्रंशथु-
र्दीप्तो नासानाहः परिस्त्रवः । नासाशोषेण सहिता दशैकश्चेरिता गदाः ।
क्त्वार्यर्शांसि चत्वारः शोफाः सप्तावुदानि च । प्रतिश्यायाश्च ये पञ्च
वक्ष्यन्ते सचिकित्सिताः । एकत्रिंशन्मितास्ते तु नासारोगाः प्रकीर्त्तिताः ॥”
इति ॥ ६३ ॥

गङ्गाधरः—तत्र दुष्टप्रतिश्यायलक्षणमाह—रोधेत्यादि । घ्राणं नासिका
रोधादिभिर्युक्तं यस्य नरस्य गन्धं न वेत्ति । आस्यञ्च दुर्गन्धि तस्य तं
बहुशः प्रकोपिणं दुष्टप्रतिश्यायमुदाहरेत् । सुश्रुते चोक्तम् । “दुर्गन्धोच्छ्वास-
वदनस्तथा गन्धं न वेत्ति च । सूर्च्छन्ति चात्र क्रिमयः श्वेताः कृष्णा
स्तथाणवः । क्रिमिमूढेविकारेण समानश्चास्य लक्षणम् । प्रकृष्यति पुनर्नासा
पुनश्च परिशुष्यति । मुहुरानवृते चापि मुहुर्वित्रियते तथा । निश्वासोच्छ्वास-
दोर्गन्ध्यं तथा गन्धान् न वेत्ति च । एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्र-
साधनम् । सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः । कालेन रोगज्जनना
जायन्ते दुष्टपीनसाः । वाधिर्यमान्ध्यमघ्राणं घोरांश्च नयनामयान् । कासाग्नि-
गुरुत्वाद्गौ गुरुशब्दः कण्डूविशेषणम् । स्रोतसीति नासास्रोतसि । सर्वोऽतिवृद्ध इत्यादिना
दुष्टप्रतिश्यायलक्षणमाह । अत्र मुखरोगं ये न पठन्ति ते शिरोरोगग्रहणेनैव मुखरोगस्य ग्रहणमिति
मन्यन्ते । एतेषां दुष्टप्रतिश्यायक्षवधादीनां शालाक्यादिषु दिस्तरः । अत्र तु पराधिकारत्वात्
सङ्क्षेप एव ॥ ६२ । ६३ ॥

संस्पृश्य मर्म्माण्यनिलस्तु मूर्द्धि विश्वक्पथस्थः क्षवथुं करोति ।
 क्रुद्धः स संशोष्य कफन्तु नासा-शृङ्गाटकघ्राणविशोषणञ्च ॥
 उच्छ्वासमार्गञ्च कफः सवातो रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत् तम् ।
 यो मस्तुलुङ्गाद् घनपीतपक्वः कफः स्रवेदेष परिस्रवस्तु ।
 वैवर्ण्यदौर्गन्धामुपेक्षया तु स्यात् पूतिनस्यं श्वयथुर्भ्रमश्च ॥

सादशोफांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः ॥” इति । प्रतिश्यायपीनसावेकपय्यायौ ।
 क्षवथुप्रभृतयो रोगा नासारोगाः स्वतन्त्राश्च वृद्धप्रतिश्यायजाश्च भवन्ति । सुश्रुते
 शोणितजप्रतिश्यायः पञ्चम उक्तः । “रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्त्तते ।
 ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरोघातप्रपीडितः ॥” इति । न स तन्त्रेऽस्मिन्नुक्तः, पित्तप्रति-
 श्याये रक्तयोगे रक्तस्राववचनात् तत्रावरोधः कृतः, ऋते हि दोषान्न रक्तं व्याधि-
 करणे प्रभवतीत्यभिप्रायः । क्षवथुप्रभृतीनां क्रमेण लक्षणान्याह—संस्पृश्येत्यादि ।
 मूर्द्धि विश्वक्पथस्थोऽनिलो नासास्थमर्म्माणि संस्पृश्य क्षवथुं करोति । सुश्रुते
 तु—“घ्राणाश्रिते मर्म्माणि संप्रदुष्टे यस्यानिलो नासिकया निरेति । कफानुयातो
 बहुशः सशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः । तीक्ष्णोपयोगादतिजिघ्रतो वा भावान्
 कटूनर्कनिरीक्षणाद् वा । सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्म्मण्युदघाटितेऽन्यः क्षवथु-
 निरेति” ॥ इति । नासाशोषमाह । क्रुद्धः स वायुः कफं संशोष्य नासाशृङ्गाटके
 नासापुटके घ्राणे च विशोषणञ्च करोति । सुश्रुते च—“घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि
 मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च । समुच्छ्वसित्यूद्धमथश्च कृच्छ्राद् यस्तस्य
 नासापरिशोष उक्तः ॥” इति । नासाप्रतिनाहमाह—उच्छ्वासेत्यादि । यस्य
 सवातैः कफ उच्छ्वासमार्गं रुन्ध्यात् तस्य तं प्रतिनाहमुदाहरेत् । सुश्रुते च—
 “कफावृतो वायुरुदानसंज्ञो यदा स्वमार्गं विगुणः स्थितः स्यात् । घ्राणं
 वृणोतीव तदा स रोगो नासाप्रतीनाह इति प्रदिष्टः ॥” परिस्रवमाह—य
 इत्यादि । मस्तुलुङ्गाद्घनश्च पीतश्च पक्वश्च यः कफः स्रवेत् स एष नासा-
 परिस्रवः । सुश्रुते चोक्तः—“अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं यस्याविवर्णं स्रवतीह
 नासा । रात्रौ विशेषेण च तं विकारं नासापरिस्रावमिति व्यवस्येदिति”
 द्विधैव परिस्रवो घनकफश्च जलवच्चेति न विरोधः । घ्राणपूतिलमाह—
 ववर्ण्यमित्यादि । प्रतिश्यायस्योपेक्षया वैवर्ण्यदौर्गन्धं नासायां स्यात्

चक्रपाणिः—रोधाभिघातेत्यादिना इष्टप्रतिश्यायादीनां क्रमेण लक्षणान्याह—क्रुद्ध इत्यादौ

आनद्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति यस्य नासा ।
 न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येत् तमपोनसेन ।
 तश्चानिलश्लेष्मभवं विकारं ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् ॥६४
 सदाहरागः श्वयथुः सपाकः स्यात् घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्तात् ।
 घ्राणाश्रितासृक्प्रभृतीन् प्रदूष्य कुर्वन्ति नासाश्वयथुं मलाश्च ॥
 घ्राणे तथोच्छ्वासगतिं निरुध्य मांसप्रदोषादपि चाव्वुदानि ।
 घ्राणात् स्रवेद् वा श्रवणान्मुखाद् वा पित्ताक्तमस्रन्त्वपि पूयरक्तम् ॥
 कुर्यात् सपित्तः पवनः कफादीन् सन्दूष्य चारुं षि सदाहपाकम् ॥६५
 श्वयथुश्च भ्रमश्च स्यात्, तत् पूतिनस्यं विद्यात् । अपीनसमाह—आनद्यत
 इत्यादि ॥ ६४ ॥

गङ्गाधरः—नासापाकमाह—सदाहेत्यादि । पाकवान् श्वयथुः स्फोटविशेषः ।
 सुश्रुते च—“घ्राणाश्रितं पित्तमरुं षि कुर्याद् यस्मिन् विकारे बलवांश्च पाकः ।
 तं नासिकापाकमिति व्यवस्येत् विकलेदकोथावपि यत्र दृष्टौ ॥” इति । नासा-
 श्लेष्माह—घ्राणाश्रितेत्यादि । असृक्प्रभृतीन् शोथोक्तान् दूष्यान् घ्राणाश्रितान्
 मला वातादयः प्रदूष्य चतुर्विधं नासाश्वयथुं कुर्वन्ति । सुश्रुते च—“दोषै-
 स्त्रिभिस्तैः पृथगेकश्च ब्रूयात् तथागींति तथैव शोफान् ।” इति । नासाव्वुद-
 माह—घ्राणे इत्यादि । घ्राणे मांसप्रदोषादुच्छ्वासगतिं निरुध्य सप्तधाव्वुदानि
 भवन्ति । सुश्रुते च—“शालाक्यसिद्धान्तमवेक्ष्य वापि सत्त्वात्मकं सप्त-
 विधाव्वुदन्तु ।” पूयरक्तमाह । घ्राणादित्यादि । पित्ताक्तमस्रं पीतरक्तम् ।
 सुश्रुते च—“दोषैर्विदग्धैरथवापि जन्तोर्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तैः । नासा
 स्रवेत् पूयमसृग्निमिश्रं तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥” इति । अथारुं षि चाह—
 कुर्यादित्यादि । सपित्तः पवनः कफादीन् कफरक्तादीन् सन्दूष्य सदाहपाक-
 मरुं षीति नाम कुर्यात् । सुश्रुते—द्वौ नासारोगावपराशुक्तौ भ्रंशथुर्दीप्तश्चेति ।
 तदर्थथा—“प्रभ्रंश्यते नासिकयैव यश्च सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु ।
 प्राक् सञ्चितं मूढि च पित्ततप्तं तं भ्रंशथुं व्याधिमुदाहरन्ति ॥ घ्राणे भृशं
 स इत्यनिलः । मस्तुलुङ्गादिति मस्तिष्कात् । सपित्त इत्यादिना अरुं षिकामाह—सा तु
 शिरोभवा ज्ञेया ॥ ६४ । ६५ ॥

भृशार्त्तिशूलं स्फुरतीह वातात्
 पित्तात् सदाहार्त्तिं कफाद् गुरु स्यात् ॥
 सर्वैस्त्रिदोषं क्रिमिजं सकण्डु
 दौर्गन्ध्यतोदार्त्तियुतं शिरः स्यात् ॥ ६६ ॥

मुखामये मारुतजे तु शोथः कार्कश्यरौक्ष्येऽतिबला रुजश्च ।
 कृष्णारुणं निष्पतनं सशीतं प्रस्रंसनस्यन्दनतोदभेदाः ॥
 तृष्णाज्वरस्फोटकदाहपाका धूमायनश्चाप्यवदोर्णता च ।
 पित्तात् समूर्च्छां विविधा रुजश्च वर्णाश्च शुक्लारुणपाण्डुवर्जाः ॥
 कण्डूर्गुरुत्वं सितविज्जलत्वं स्वेदोऽरुचिर्जाड्यकफप्रसेकौ ।
 उत्क्लेशमन्दानलता च तन्द्रा रुजश्च मन्दाः कफवक्त्ररोगे ॥

दाहसमन्विते तु विनिःसरेद् धूम इवेह वायुः । नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तो-
 र्व्याधिन्तु तं दीप्सुदाहरन्ति ॥ ६५ ॥

गङ्गाधरः—अथ शीर्षास्यकर्णाक्षिरोगाः क्रमेणोच्यन्ते । भृशार्त्तित्यादि ।
 पञ्च शिरोरोगाः कियन्तः शिरसीये विस्तरेणोक्ताः, इह चिकित्सार्थं संग्रहेणाह ।
 वातात् शिरो भृशार्त्तिशूलं स्फुरतीव । पित्तात् सदाहार्त्तिं सत् शिरः स्फुरतीव ।
 कफात् गुरु सत् शिरः स्फुरतीव । त्रिदोषं शिरः सर्वै रूपैः स्फुरति ।
 क्रिमिजशिरोरोगयुतं शिरः सकण्डु स्याद् दौर्गन्ध्यादियुतश्च स्यादिति पञ्च
 शिरोरोगाः ॥ ६६ ॥

गङ्गाधरः—अथास्यरोगा उच्यन्ते । मुखामय इत्यादि । मारुतजे मुखरोगे
 शोफादयस्तोदभेदान्ता भवन्ति । कार्कश्यरौक्ष्ये द्विवचनान्तत्वेन प्रगृह्यमपि
 उत्सर्गविधिः संहिता विवक्षिता न तु प्रकृतिभाव इति । तृष्णेत्यादि । शुक्ला-
 ऽरुणपाण्डुवर्णभिन्ना वर्णाः । पित्तान्मुखामये तृष्णादयः स्युः । कण्डूरित्यादि ।
 कफवक्त्ररोगे कण्डूप्रभृतयः स्युः । सितं श्वेतं विज्जलं पिच्छिलं मुखम् ।

चक्रपाणिः—भृशार्त्तित्यादिना यद्यपि प्रतिश्यायोत्पन्नत्वेन शिरोरोगाणां लक्षणमुच्यते, तथापि
 स्वतन्त्रोत्पन्नानामपि शिरोरोगाणामेतदेव लक्षणं ज्ञेयम् । एवं मुखरोगादिषु लक्षणेषु वाच्यम् ।
 सर्वैस्त्रिदोषमिति वातादिमिलितैर्लक्षणैस्त्रिदोषं स्यादित्यर्थः ॥ ६६ ॥

चक्रपाणिः—निष्पतनमिति मुखेनैव । तृष्णेत्यादि पित्तजमुखरोगलक्षणम् । यद्यपि शालाक्ये

सर्वाणि रूपाणि तु वक्त्ररोगे

भवन्ति यस्मिन् स तु सन्निपातात् ॥ ६७ ॥

संस्थानदूष्याकृतिनामभेदाच्चैतै चतुःषष्टिविधा भवन्ति ॥

शालाक्यतन्त्रे विहितानि तेषां निमित्तरूपाकृतिभेषजानि ।

यथाप्रदेशश्च चतुर्विधस्य चिकित्सितं वक्त्रगदस्य वक्ष्ये ॥ ६८ ॥

सर्वाणीत्यादि । सन्निपाताद् वक्त्ररोगः स तु यस्मिन् वक्त्ररोगे सर्वाणि शोथादीनि मन्दरुजान्तानि रूपाणि भवन्ति ॥ ६७ ॥

गङ्गाधरः—इति चत्वारो ये मुखामयास्तत्र ते संस्थानदूष्याकृतिनामभेदाच्चैश्चतुःषष्टिधा चेति पञ्चषष्टिधा भवन्ति । तेषां शालाक्यप्रधानतन्त्रे निमित्तादीनि विस्तरेण विहितानि । कायप्रधानतन्त्रे त्वस्मिन् न विस्तरेणोक्तानि भवन्ति । अथ चतुर्विधस्य तु वक्त्रगदस्य यथाप्रदिष्टं चिकित्सितमहं वक्ष्ये । सुश्रुते तु ते पञ्चषष्टिधा मुखरोगा उक्ताः । तद् यथा । “मुखरोगाः पञ्चषष्टिः सप्तस्वायतनेषु, तत्रायतनानि ओष्ठौ दन्तमूलानि दन्ता जिह्वा तालु कण्ठः सर्वाणि चेति । तत्राष्टावोष्ठयोः पञ्चदश दन्तमूलेषु अष्टौ दन्तेषु पञ्च जिह्वायां नव तालुनि सप्तदश कण्ठे त्रयः सर्व्वेष्वायतनेषु । तत्रौष्ठप्रकोपा वातपित्तश्लेष्मसन्निपातरक्तमांसमेदोऽभिघातनिमित्ताः । कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ कृष्णौ तीव्ररुगन्वितौ । दाल्येते परिपाटेयते औष्ठौ मारुतकोपतः ॥ आचितौ पिङ्काभिस्तु सर्षपाकृतिभिर्भृशम् । सदाहपाकसंज्ञावौ नीलौ पीतौ च पित्ततः ॥ सवर्णाभिस्तु चीयेते पीङ्काभिरवेदनौ । कण्डूमन्तौ कफाच्छूनौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरु ॥ सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छेतौ तथैव च । सन्निपातेन विबलेयवनेकपिङ्काचितौ ॥ खज्जूरफलवर्णाभिः पिङ्काभिः समाचितौ । रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥ मांसदुष्टौ गुरु स्थूलौ मांसपिण्डवदुन्नतौ । जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति नरस्योभयतो मुखात् ॥ मेदसा घृतमण्डाभौ कण्डूमन्तौ स्थिरौ मृदू । अच्छस्फटिकसङ्काशमास्रावं स्रवतो गुरु ॥

मुखरोगाणां प्रपञ्चः, तथाप्यत्रैव सर्व्वेषां चतुर्विधमुखरोगेऽन्तर्भावं दर्शयन्नाह—संस्थानेत्यादि । संस्थानं महारोगः दूष्यं रक्तादि आकृतिर्लिङ्गं इत्यादिभेदाः चतुःषष्टिविधा भवन्ति, ते च शालाक्ये एवोन्नेयाः । मुखरोगाणान्तु चतुःषष्टिष्वैव वैदेहमतानुसारेणोक्तम् । सुश्रुते तु पञ्चषष्टिमुखरोगा उक्तास्तथापीह चतुर्विधेष्वेव यथाप्रदेशं अन्तर्निवेशः कृतः ॥ ६७ । ६८ ॥

क्षतजाभौ विदीर्यते पाटेयते चाभिघाततः । ग्रथितौ च समाख्यातावोष्ठौ
 कण्डूसमन्वितौ ॥ दन्तमूलगतास्तु शीतादो दन्तपुष्पुटको दन्तवेष्टकः शौषिरो
 महाशौषिरः परिदर उपकुशो दन्तवैदर्भो वर्द्धनोऽधिमांसो नाड्यः पञ्चेति ।
 शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात् प्रवर्त्तते । दुर्गन्धोनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि
 मृदूनि च । दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम् । शीतादो नाम स
 व्याधिः कफशोणितसम्भवः ॥ दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य श्वयथुः सरुजो महान् ।
 दन्तपुष्पुटको ज्ञेयः कफरक्तनिमित्तजः ॥ स्रवन्ति पूयरुधिरं चला दन्ता
 भवन्ति च । दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसम्भवः ॥ श्वयथुर्दन्तमूलेषु
 रुजावान् कफरक्ततः । लालास्रावी स विज्ञेयः कण्डूमान् शौषिरो गदः ॥
 दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते । दन्तमांसानि पच्यन्ते मुखश्च
 परिपीड्यते । यस्मिन् स सर्व्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञकः ॥ दन्तमांसानि
 शीर्यन्ते यस्मिन् ष्ठीवति चाप्यसृक् । पित्तासृक्कफजो व्याधिश्च यः परिदरो हि
 सः ॥ वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्योदन्ताश्चलन्ति च । आघट्टिताः प्रस्रवन्ति
 शोणितं मन्दवेदनाः । आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते । यस्मिन्
 उपकुशः स स्यात् पित्तरक्तकृतो गदः ॥ घृष्टेषु दन्तमूलेषु संरम्भो जायते
 महान् । भवन्ति च चला दन्ता स वैदर्भोऽभिघातजः ॥ मारुतेनाधिको दन्तो
 जायते तीव्रवेदनः । वद्धनः स मतो व्याधिर्जाते रुक् च प्रशाम्यति ॥ हानव्ये
 पश्चिमे दन्ते महान् शोथो महारुजः । लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः
 सोऽधिमांसकः ॥ दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः ॥ दन्तगतास्तु
 दालनः क्रिमिदन्तको दन्तहर्षो भञ्जनकः शर्करा कपालिका श्यावदन्तको
 हनुमोक्षश्चेति । दालयन्ते बहुधा दन्ता यस्मिंस्तीव्ररुगन्विताः । दालनः स इति
 ज्ञेयः सदागतिनिमित्तजः ॥ कृष्णच्छिद्री चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः ।
 अनिमित्तरुजो वाताद् विज्ञेयः क्रिमिदन्तकः ॥ दशनाः शीतमुष्णश्च सहन्ते
 स्पर्शनं न च । यस्य तं दन्तहर्षन्तु व्याधिं विद्यात् समीरणात् ॥ वक्त्रं वक्रं भवेद्
 यस्मिन् दन्तभङ्गश्च तीव्ररुक् । कफवातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञितः ॥
 शर्करेव स्थिरीभूतो मलो दन्तेषु यस्य वै । सा दन्तानां गुणघ्नी तु विज्ञेया दन्त-
 शर्करा ॥ दलन्ति दन्तवलकानि यदा शर्करया सह । ज्ञेया कपालिका सैव
 दशनानां विनाशिनी ॥ योऽसृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः । श्यावतां
 नीलतां वापि गतः स श्यावदन्तकः ॥ वातेन तैस्तैर्भावस्तु हनुसन्धिर्विसंहतः ।
 हनुमोक्ष इति ज्ञेयो व्याधिरर्दितलक्षणः ॥ जिह्वागतास्तु कण्टकास्त्रिविधा-

स्त्रिभिर्दोषैरलास उपजिह्विका चेति । जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च
 शाकच्छदनप्रकाशा । पित्तेन पीता परिदहते च चिता सरक्तैरपि कण्टकैश्च ।
 कफेन गुर्वी बहला चिता च मांसोद्गमैः शाल्मलकण्टकाभैः ॥ जिह्वातले यः
 श्वयथुः प्रगाढः सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्त्तिः । जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो
 मूले तु जिह्वा भृशमेति पाकम् ॥ जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नाम्य
 जातः कफरक्तयोनिः । प्रसेककण्डूपरिदाहयुक्ता प्रकथ्यतेऽसावुपजिह्विकेति ॥
 तालुगतास्तु गलशुण्डिका तुण्डिकेर्यऽध्रुषो मांसकच्छपोऽव्वुदं मांससङ्घात-
 स्तालुपुपुटस्तालुशोषस्तालुपाकश्चेति । श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूलात् प्रवृद्धो
 दीर्घः शोफो ध्मातवस्तिप्रकाशः । तृष्णाकासश्वासकृत् सम्प्रदिष्टो व्याधिर्वैद्यै-
 र्गलशुण्डीति नाम्ना ॥ शोफः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी प्राशुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी
 मता तु ॥ शोफः स्तब्धो लोहितस्तालुदेशे रक्ताज्ज्ञेयः सोऽध्रुषो रुग्ज्वराद्यः ।
 कूर्मार्तसन्नोऽवेदनः शीघ्रजन्माऽरक्तो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणा स्यात् ॥ पद्माकारं
 तालुमध्ये तु शोफं विद्याद् रक्तादव्वुदं प्रोक्तलिङ्गम् ॥ दुष्टं मांसं श्लेष्मणा
 नीरुजश्च ताल्वन्तःस्थं मांससङ्घातमाहुः ॥ नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात्
 स्यान्मेदोयुक्तात् पुपुटस्तालुदेशे ॥ शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालु श्वासो
 वातात् तालुशोषः सपित्तात् ॥ पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं तालुन्येनं तालुपाकं
 वदन्ति ॥ कण्ठगतास्तु रोहिण्यः पञ्च कण्ठशालूकमधिजिह्वो बलयो बलास
 एकवृन्दो वृन्दः शतघ्नी शिलायुर्गलविद्रधिर्गलौघः स्वरघ्नो मांसतानो विदारी
 चेति । गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम् ।
 प्रदूष्य मांसं गलरोधिनोऽङ्क रान् सृजन्ति यान् सामुहरा तु रोहिणी ॥ जिह्वां
 समन्ताद् भृशवेदना ये मांसाङ्कुराः कण्ठनिरोधिनः स्युः । तां रोहिणीं वातकृतां
 वदन्ति वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ताम् । क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका तीव्रज्वरा
 पित्तनिमित्ततः स्यात् । स्रोतोनिरोधिन्यपि मन्दपाका गुर्वी स्थिरा सा
 कफसम्भवा वै ॥ गम्भीरपाकाऽप्रतिवार्यवीर्या त्रिदोषलिङ्गा त्रयसम्भवा
 स्यात् । स्फोटचिता पित्तसमानलिङ्गा साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिकेयम् ॥
 कोलास्थिमात्रः कफसम्भवो यो ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः । स्वरः स्थिरः
 शस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥ जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात् तु
 जिह्वाप्रबन्धोपरि रक्तमिश्रः । ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष विवर्जयेदागत-
 पाकमेनम् ॥ बलास एवायत्समुन्नतश्च शोफं करोत्यन्नगतिं निवार्य । तं
 सर्व्वथैवाप्रतिवार्यवीर्यं विवर्जनीयं बलयं वदन्ति ॥ गले च शोफं कुरुतः

वातादिभिः शोक्रभयातिलोभ-क्रोधैर्मनोघ्राशनरूपगन्धैः ।

अरोचकाः स्युः परिहृष्टदन्तः कषायवक्त्रं मतोऽनिलेन ।

कटुम्लमुष्णं विरसञ्च पूति पित्तेन विद्याल्लवणञ्च वक्त्रम् ।

माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्य-विवन्धसम्बन्धयुतं कफेन ॥ ६६ ॥

प्रवृद्धा श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम् । मर्मच्छिदं दुस्तरमेतदाहुर्वलाससंज्ञं
निपुणा विकारम् ॥ वृत्तोन्नतो यः श्वयथुः सदाहः कण्डूष्वितोऽपाक्य-
ऽमृदुर्गुरुश्च । नाम्नैकवृन्दः परिकल्पितोऽसौ व्याधिर्बलासक्षतजप्रसूतः ॥
समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति । तश्चापि पित्तक्षतजप्रकोपाद्
विद्यात् सतोदं पवनात्मजं तम् ॥ वर्त्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या चितातिमात्रं
पिशितप्ररोहैः । नानारुजोच्छ्वासकरी त्रिदोषा ज्ञेया शतघ्नीव शतघ्न्यसाध्या ॥
ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः स्थिरोऽल्परुक् स्यात् कफरक्तमूर्त्तिः । संलक्ष्यते
सक्तमिवाशनञ्च सशस्त्रसाध्यस्तु शिलायुसंज्ञः ॥ सर्व्वं गलं व्याप्य समुत्थितो
यः शोफो रुजा यत्र भवन्ति सर्व्वाः । स सर्व्वदोषो गलविद्रधिस्तु तस्यैव
तुल्यः खलु सर्व्वजस्य ॥ शोफो महानन्नजलावरोधी तीव्रज्वरो वातगतेर्निहन्ता ।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौघः परिकीर्त्यतेऽसौ ॥ योऽतिप्रताम्यन्
श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्डः । कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु
ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः ॥ प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकण्ठो गलोपरोधं
कुरुते क्रमेण । स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत् सर्व्वकृतो विकारः ॥
सदाहतोदं श्वयथं सरक्तमन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम् । पित्तेन विद्याद् वदने
विदार्य पाश्व विशेषात् स तु येन शेते ॥ सर्व्वसंज्ञस्तु वातपित्तकफशोणित-
निमिच्छाः । स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्तात् यस्याचितं सर्व्वसरः स वातात् ।
रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतैर्यस्याचितश्चापि स पित्तकोपात् । कण्डूयुतैरल्परुजैः
सर्व्वैर्यस्याचितं चापि स वै कफेन ॥ रक्तेन पित्तोदित एक एव कैश्चित्
प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः ॥ इति पञ्चषष्टिधा मुखरोगाः ॥ ६८ ॥

गङ्गाधरः—अथ मुखगतत्वादरुचिमाह—वातादिभिरित्यादि । वातादि-
जारोचकलक्षणानि क्रमेणाह—परिहृष्टेत्यादि । अरोचकोऽनिलेन मतः ।
कटुम्लादिवक्त्रं पित्तेनारोचके विद्यात् । कफेन वक्त्रं लवणं माधुर्यादि-
सम्बन्धयुतं विद्यात् ॥ ६९ ॥

अरोचके शोकभयात्तलोभ-क्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात् ।
 स्वाभाविकं वक्तृमथारुचिश्च त्रिदोषजे नैकरसं भवेत् तु ॥७०॥
 नादोऽतिरुक् कर्णमलस्य शोषः स्नावस्तनुश्चाश्रवणश्च वातात् ।
 शोथः सरागो दरुणं विदाहः सपीतपूतिस्रवणश्च पित्तात् ॥
 वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशोफशुक्ल-स्निग्धश्रुतिः श्लेष्मभवेऽल्परुक् च ।
 सर्वाणि लिङ्गानि तु सन्निपातात् स्नावश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥७१॥

गङ्गाधरः—शोकादिजेश्रोचके स्वाभाविकं वक्तृं भवेदथ चारुचिः स्यात् ।
 त्रिदोषजेश्रोचके त्वनेकरसं वक्तृं भवेदिति । मुखगता रोगा व्याख्याता
 भवन्ति ॥ ७० ॥

गङ्गाधरः—अथ कर्णरोगा उच्यन्ते । नाद इत्यादि । वातात् कर्णे नादो-
 ऽतिरुक् कर्णमलस्य शोषः स्नावश्चापोऽश्रवणश्च स्यात् । पित्तात् सरागः
 शोथादिः कर्णे स्यात् । श्लेष्मभवे वैश्रुत्यादि स्यात् । सन्निपातात् कर्णरोगे
 सर्वाणि वातादिजकर्णरोगलिङ्गानि स्युः स्नावस्तत्र यो दोषोऽधिकस्तद्वर्णः स्यात् ।
 एत एव कर्णरोगाः शालाक्येऽष्टाविंशतिविधा उक्ताः । तद् यथा सुश्रुते—
 “कर्णशूलं प्रणादश्च वाधिर्यं क्षवेड एव च । कर्णस्नावः कर्णकण्डूः कर्णगूथस्तथैव
 च । क्रिमिकर्णप्रतीनाहौ विद्रधिर्द्विविधस्तथा । कर्णपाकः पूतिकर्णस्तथै-
 वार्शश्चतुर्विधम् । तथावर्बुदं सप्तविधं शोफश्चापि चतुर्विधः । एते कर्णगता
 रोगा अष्टाविंशतिरीरिताः ॥ समीरणः श्रोत्रोगतोऽन्यथाचरः समन्ततः शूल-
 मतीव कर्णयोः । करोति दोषेश्च यथास्वमावृतः स कर्णशूलः कथितो दुराचरः ॥
 यदा तु नाडीषु विमार्गमागतः स एव शब्दाभिवहासु तिष्ठति । शृणोति
 शब्दान् विविधांस्तदा नरः प्रणादमेनं कथयन्ति चामयम् ॥ स एव शब्दाभि-
 वहा यदा सिराः कफानुयातो व्यनुसृत्य तिष्ठति । तदा नरस्याप्रतिकार-
 सेविनो भवेत् तु वाधिर्यमसंशयं खलु ॥ श्रमात् क्षयात् रुक्षकषायभोजनात्

चक्रपाणिः—वातादिभिरित्यनेनारोचकानाह—अतिलोभेनारुचिरुच्यते । अतिलोभेनारुचि-
 कर्णं दर्शयति ॥ ६९ । ७० ॥

चक्रपाणिः—नाद इत्यादिना कर्णरोगानाह—एते च शालाक्ये अष्टाविंशतिरुक्ताः । तथापीह
 चतुर्विधं कर्णरोगेषु शेषाणामपि कर्णरोगाणामवरोधो व्याख्येयः, शेषाणामपि वातादि-
 जन्यत्वात् ॥ ७१ ॥

समी
 हि क्ष
 विद्र
 कफे
 श्लेष्
 यदा
 भवे
 पत्य
 क्रि
 पुन
 प्रपा
 पित्
 सवे
 लिङ्
 इति

राग
 रोग
 पात
 अति

स्वादि
 प्राह
 योड

अल्पस्तु रागोऽनुपदेहवांश्च सतोदभेदोऽनिलजाक्षिरोगः ।

पीतोपदेहश्च भृशोष्णब्राह्मी पित्तात् सदाहोऽतिरुजः सरागः ॥

शुक्लोपदेहो बहुपिच्छिलास्तु नेत्रं कफात् स्यात् गुरुता सकण्डूः ।

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात्

षट्सप्ततिर्नेत्रगदास्तु भेदात् ॥ ७२ ॥

समीरणः शब्दपथे व्यवस्थितः । विरिक्तशीर्षस्य च शीतसेविनः करोति हि क्ष्वेदमतीव कर्णयोः ॥ शिरोऽभिघातादथवा निमज्जतो जले प्रपाकादथवापि विद्रधेः । स्रवेत् तु पूयं श्रवणोऽनिलावृतः स कर्णसंस्त्राव इति प्रकीर्तितः ॥ कफेन कण्डूः प्रचितेन कर्णयोर्भृङ्गं भवेत् स्रोतसि कर्णसंज्ञिते । विशोषिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा नृणां भवेत् स्रोतसि कर्णगूथकः ॥ स कर्णगूथो द्रवतां यदा गतो विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते । तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो भवेद् विकारः शिरसोऽभेतापनः ॥ यदा तु मूर्च्छन्त्यथवापि जन्तवः सृजन्त्य-
पत्यान्यथवाऽपि मक्षिकाः । तद्वज्रजनत्वाच्छ्रवणो निरुच्यते भिषग्भिरादैरः क्रिमिकर्णकस्तु सः ॥ क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत् तथा दोषकृतोऽपरः पुनः । स रक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत् प्रतोदधुमायनदाहचोषवान् । भवेत् प्रपाकः खलु पित्तकोपतो विकोथविकलेदकरश्च कर्णयोः ॥ स्थिते कफे स्रोतसि पित्ततेजसा विलाप्यमाने भृशसम्प्रतापनात् । अवेदनो वाप्यथवा सवेदनो घनं स्रवेत् पूति स पूतिकर्णकः ॥ अर्गोसि षट् चाप्युपदिष्टलिङ्गान्यथैव शोफाव्बुद-
लिङ्गमीरितम् । मया पुरस्तात् प्रसमीक्ष्य योजयेदिहैव तानि प्रयतो भिषग्वरः ॥ इति । अष्टाविंशतिः कर्णरोगा व्याख्याताः ॥ ७१ ॥

गङ्गाधरः—अथाक्षिरोगा उच्यन्ते अल्पस्त्वित्यादि । अनिलजाक्षिरोगोऽल्पो रागः उपलेपाभाववान् सतोदभेदश्च । पित्तादक्षिरोगः पीतोपदेहादिः । कफादक्षिरोगः शुक्लोपदेहः नेत्रं बहुपिच्छिलास्तु । नेत्रे सकण्डूगुरुता स्यात् । सन्निपातादक्षिरोगे सर्वाणि वातादित्रिदोषोक्तानि रूपाणि भवन्ति । ते वातादिजा अक्षिरोगाः संस्थानदृष्याकृतिनामभिर्भेदात् षट्सप्ततिर्भवन्ति ॥ ७२ ॥

चक्रपाणिः—अल्पस्त्वित्यादिना चत्वारोऽक्षिरोगाऽभिधीयन्ते । उपदेहो दूषिकम् अत्यथोष्ण-
खावि । अनुक्तनेत्रामयेषु आचार्याणां विप्रतिपत्तिश्चेन्न । रोगाणां षट्सप्ततिः विदेहः, प्राह करालस्तु षण्णवतिः, अशीतिं कौशीतिकः प्राह । उक्तं 'तत्र षट्सप्ततिर्विधं स्थानासन्ने तु षोडश । त्रयोदश तु शुक्लस्थाः षड् रोगाः कृष्णभागजाः । पञ्चविंशतिर्दृष्टिस्थाः षोडशेति

तेषामभिव्यक्तिरतिप्रदिष्टा शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सितश्च ।
पराधिकारेषु न विस्तरोक्तिः शस्तैति तेनात्र न नः प्रयत्नः ॥ ७३

गङ्गाधरः—ते कीदृशा इत्यत आह—तेषामित्यादि । तेषां षट्सप्ततरक्षि-
रोगाणामतिप्रदिष्टा अतिशयेन शालाक्याङ्गप्रधानतन्त्रेषु उपदिष्टा, तेषां चिकित्-
सितश्चातिप्रदिष्टम् । अस्मिन् कायचिकित्साङ्गप्रधाने तन्त्रे पराधिकारेषु
विस्तरोक्तिर्न प्रशस्ता भवतीत्यस्मान्नोऽस्माकं विस्तरोक्तौ न प्रयत्न इति ।
सुश्रुते च ते विस्तरेणोक्ताः । तद् यथा—“विद्याद् द्राङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदर-
सम्मितम् । द्राङ्गुलं सर्व्वतः सार्द्धं भिषङ्नयनबुद्धदम् । सुवृत्तं गोस्तनाकारं
सर्व्वभूतगुणोद्भवम् ॥ पलं भुवोऽग्नितो रक्तं वातात् कृष्णं सितं जलात् ।
आकाशादथ मार्गाश्च जायन्ते नेत्रबुद्धबुदे ॥ दृष्टिश्चात्र तथा वक्ष्ये यथा ब्रूयाद
विशारदः । नेत्रायामत्रिभागन्तु कृष्णमण्डलमुच्यते । कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति
दृष्टिं दृष्टिविशारदाः ॥ मण्डलानि च सन्धींश्च पटलानि च लोचने । यथाक्रमं
विजानीयात् पञ्च षट् च षडेव च ॥ पक्ष्मवर्त्मश्चेतकृष्ण-दृष्टीनां मण्डलानि च ।
अनुपूर्व्वन्तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम् ॥ पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिर्वर्त्मशुक्ल-
गतोऽपरः । शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतोऽपरः ॥ ततः कनीनकगतः
षष्ठश्चापाङ्गः स्मृतः ॥ द्वे वर्त्मपटले विद्याच्चत्वार्यन्यानि चाक्षणि । जायते
तिमिरं येषु व्याधिः परमदारुणः ॥ तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिता-
श्रितम् । मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितन्त्वस्थि चापरम् । पञ्चमांशसमं दृष्टे-
स्तेषां बाहुल्यमिष्यते ॥ सिराणां कण्डराणाञ्च मेदसः कालकस्य च । गुणाः
कालपरः श्लष्मा बन्धनेऽक्ष्णोः सिरायुतः । सिरानुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूद्ध-
मागतैः । जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः ॥ तत्राविलं ससंरम्भ-
मश्रुपूर्णपदेहवत् । गुरुषाचोषरागाद्यर्ज्जुश्चाव्यक्तलक्षणैः । सशूलं वर्त्म-
कोशेषु शूकपूर्णभमेव च । विहन्यमानं रूपे वा क्रियास्वस्थि यथा पुरा ॥
दृष्ट्वैव धीमान् बुध्येत दोषेणाधिष्ठितश्च तत् ॥ तत्र सम्भवमासाद्य यथादोषं
भिषग्जितम् । विदध्यान्नेत्रजा रोगा बलवन्तः स्युरन्यथा ॥ सङ्घतः
क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् । वातादीनां प्रतीघातः प्रोक्तो विस्तरतः

च सर्व्वगाः’ इति । एतेषां ज्ञानोपायमाह—तेषामित्यादि । अभिव्यक्तिरिति लक्षणम् । नेत्र-
रोगानभिधाने कारणमाह पराधिकारेष्विति ॥ ७२ । ७३ ॥

पुनः ॥ उष्णाभितप्तस्य जले प्रवेशाद् दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च । प्रसक्तसंरोदन-
 शोककोप-क्लेशभिघातादतिमैथुनाच्च ॥ शुक्तरनालाम्लकुलत्थमाष-निषेवणाद्
 वेगविनिग्रहाच्च । स्वेदाद् रजोधूमनिषेवणाच्च छर्द्देर्विघाताद् वमनातियोगात् ।
 बाष्पग्रहात् सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च नेत्रे विकारान् जनयन्ति दोषाः ॥ वाताद् दश तथा
 पित्तात् कफाच्चैव त्रयोदश । रक्तात् षोडश विज्ञेयाः सर्व्वजाः पञ्चविंशतिः ।
 तथा बाह्यौ पुनर्द्वौ च रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः ॥ हताधिमन्थो निमिषो
 दृष्टिगम्भीरिका च या । यच्च वातहतं वर्त्म न ते सिध्यन्ति वातजाः ॥
 याप्योऽथ तन्मयः काचः साध्याः स्युः स्यन्दमारुताः । शुष्काः पिपाकाधिमन्थ-
 स्यन्दमारुतपर्य्याः ॥ असाध्यो ह्रस्वजाड्यो यो जलस्रावश्च पैत्तिकः ।
 परिम्लायी च नीलश्च याप्यः काचोऽथ तन्मयः ॥ अभिष्यन्दोऽधिमन्थोऽम्ला-
 ध्युषितं शुक्तिकाह्वया । दृष्टिः पित्तविदग्धा च पोथक्यो लग्नश्च यः ॥
 क्रिमिग्रन्थिपरिक्लिन्न-वर्त्मशुक्लार्मपिष्टकाः । श्लेष्मोपनाहः साध्यास्तु कथिताः
 श्लेष्मजेषु तु ॥ रक्तस्रावोऽजकाजातं शोणितार्शोऽवलम्बितम् । शुक्रं न साध्यं
 काचश्च याप्यस्तज्जः प्रकीर्तितः ॥ मन्थस्यन्दौ क्लिष्टवर्त्म हर्षोत्पातौ तथैव च ।
 सिराजा व्यञ्जनारुखा च सिराजालश्च यत् स्मृतम् । पर्व्वण्यथाव्रणं शुक्रं
 शोणितार्मोऽज्जुनश्च यः । एते साध्या विकारेषु रक्तजेषु भवन्ति हि ॥
 पूयस्रावो नाकुलान्ध्रमक्षिपाकात्ययोऽलजी । असाध्याः सर्व्वजा याप्याः
 काचः कोपश्च पक्ष्मणः ॥ वर्त्मावबन्धो यो व्याधिः सिरासु पिडका च या ।
 प्रस्तार्य्यर्माधिमांसार्म-स्नायवर्मात्सङ्गिनी च या । पूयालसश्चावुर्दश्च श्याव-
 कर्द्दमवर्त्मनी । तथाशौवर्त्मशुक्रार्गः शर्करावर्त्म यच्च वै । सशोफश्चाप्यशोफश्च
 पाको बहलवर्त्म च । अक्लिन्नवर्त्म कुम्भीका विसवर्त्म च सिध्यति ॥ सनिमित्तो-
 ऽनिमित्तश्च द्वावसाध्यौ तु बाह्यजौ । षट्सप्ततिर्विकाराणामेषा संग्रहकीर्त्तना ॥
 नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः । शुक्रभागे दशैकश्च चत्वारः
 कृष्णभागजाः । सर्व्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु । बाह्यजौ द्वौ
 समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ । भूय एतान् प्रवक्ष्यामि सङ्गारूपचिकित्सितै
 रिति ॥ अथातः सन्धिगता व्याख्यास्यन्ते । पूयालसः सोपनाहः स्रावाः
 पर्व्वणिकाऽलजी । क्रिमिग्रन्थिश्च विज्ञेया रोगाः सन्धिगता नव ॥ पक्वः शोथः
 सन्धिजः संस्रवेद्यः सान्द्रं पूयं पूतिपूयालसः सः । ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्धा-
 वपाकः कण्डूप्रायो नीरुजस्तूपनाहः ॥ गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः कुर्य्युः
 स्रावान् रुग्णविहीनान् स्खलिद्धान् । तान् वै स्रावान् नेत्रनाडीमथैके तस्या लिङ्गं

कीर्त्तयिष्ये चतुर्द्धा ॥ पाकः सन्धौ संसवेद्यस्तु दूयं पूयास्त्रावो नकरूपः प्रदिष्टः ।
 श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं यः स्रवेच्च श्लेष्मास्त्रावो नीरुजः स प्रदिष्टः । रक्तास्त्रावः
 शोणितोत्थः सरक्तं कोष्णं नाल्पं संसवेन्नातिसान्द्रम् । पीताभासं नीलमुष्णं
 जलभं पित्तास्त्रावः संसवेत् सन्धिमध्यात् ॥ ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना रक्ताज्
 ज्ञेया पर्व्वणी वृत्तशोफा । जाता सन्धौ कृष्णशुक्लेऽलजी स्यात् तस्मिन्नेवा-
 ख्यापिता पूर्व्वलिङ्गे । त्रिमिश्रन्ध्वर्मनः पक्ष्मणश्च कण्डूः कुर्युः क्रिमयः
 सन्धिजाताः । नानारूपा वर्त्मशुक्लस्य सन्धौ चरन्तोऽन्तर्नयनं दूषयन्तः ॥
 अथातो वर्त्मगता व्याख्यास्यन्ते । पृथग्दोषा समस्ताश्च यदा वर्त्मव्याप्राश्रयाः ।
 सिरा व्याप्यावतिष्ठन्ते वर्त्मस्वधिकमूर्च्छिताः । विवर्त्य (द्वयं) मांसं रक्तञ्च तदा
 वर्त्मव्याप्राश्रयान् । विकारान् जनयन्त्याथु नामतस्तान् निबोधत ॥ उत्सङ्गिन्यथ
 कुम्भीका पोथक्यो वर्त्मशर्करा । तथाशौर्वर्त्मशुष्कार्शस्त्रथैवाञ्जननामिका ।
 बहलं वर्त्म यच्चापि व्याधिवर्त्मविवन्धकः । क्लिष्टकर्मवर्त्माख्यौ श्याववर्त्म
 तथैव च । प्रक्लिन्नमपरिक्लिन्नं वर्त्म दातहतश्च यत् । अव्वुदं निमिषश्चापि
 शोणितार्शश्च यत् स्मृतम् । लगणो विसनामा च पक्ष्मकोपस्तथैव च ।
 एकविंशतिरित्येते विकारा वर्त्मसंश्रयाः । नामभिस्ते समुद्दिष्टा लक्षणैस्तान्
 प्रचक्ष्महे ॥ पिङ्काभ्यन्तरमुखी बाह्याऽधोवर्त्मसंश्रया । विज्ञेयोत्सङ्गिनी नाम
 तद्रूपपिङ्कान्विता ॥ कुम्भीकवीजप्रतिमाः पिङ्काः पक्ष्मवर्त्मनोः । आध्मायन्ते
 तु भिन्ना याः कुम्भीकपिङ्कास्तु ताः ॥ कण्डूस्त्रावान्विता गुर्व्यौ रक्तसर्षप-
 सन्निभाः । पिङ्काश्च रुजावत्यः पोथक्य इति संज्ञिताः ॥ पिङ्काभिः
 सुसूक्ष्माभिर्धनाभिरभिसंवृता । पिङ्का या खरा स्थूला सा ज्ञेया वर्त्मशर्करा ॥
 सूक्ष्माः खराश्च वर्त्मस्था तदर्शौर्वर्त्म कीर्त्त्येते । दीर्घाऽङ्कुरः खरः स्तब्धो
 दारुणो वर्त्मसम्भवः । व्याधिरेष समाख्यातः शुष्कार्श इति संज्ञितः ॥
 दाहतोदवती ताम्रा पिङ्का वर्त्मसम्भवा । मृद्री मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया स्त्राञ्जन-
 नामिका ॥ वर्त्मापचीयते यस्य पिङ्काभिः समन्ततः । सवर्णाभिः समाभिश्च
 विद्याद् बहलवर्त्म तत् ॥ कण्डूमताऽल्पतोदेन वर्त्मशोफेन यो नरः । न समं
 छादयेदक्षि भवेद् बन्धः स वर्त्मनः ॥ मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद्वर्त्म सममेव च ।
 अकस्माच्च भवेद्रक्तं क्लिष्टवर्त्म तदादिशेत् ॥ क्लिष्टं पुनः पित्तयुक्तं विदहेच्छोणितं
 यदा । तदा क्लिन्नलमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्मम् ॥ यद् वर्त्म बाह्यतोऽन्तश्च श्यावं
 शुभं सवेदनम् । दाहकण्डूपरिवलेदि श्याववर्त्मेति तन्मतम् ॥ अरुजं बाह्यतः
 शुभमन्तःक्लिन्नं सवत्यपि । कण्डनिस्तोदभूयिष्ठं क्लिन्नवर्त्म तदुच्यते ॥

यस्य धौतानि धौतानि संबध्यन्ते पुनःपुनः । वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्याद-
 क्तिन्नवर्त्म तत् ॥ विमुक्तसन्धिनिश्चेष्टं वर्त्म यन्न निमील्यते । एतद् वातहतं
 विद्यात् सरुजं यदि वाऽरुजम् ॥ वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम् ।
 विज्ञयमध्वुदं पुंसं सरक्तमवलम्बितम् ॥ निमेषिणीः सिरा वायुः प्रविष्टो
 वर्त्मसंश्रयाः । चालयेदक्षिवर्त्मानि निमेषः स गदो मतः ॥ छिन्नाश्छिन्ना
 विवर्द्धन्ते वर्त्मस्था मृदवोऽङ्कुराः । दाहकण्डूरुजोपेतास्तेऽर्जाः शोणितसम्भवम् ॥
 अपाकः कठिनः स्थूलो ग्रन्थिर्वर्त्मभवोऽरुजः । सकण्डूः पिच्छिलः कोल-
 प्रमाणो लगणस्तु सः ॥ शूनं बद्धवैर्म् बहुभिः सूक्ष्मैश्छिद्रैः समन्वितम् । विसमन्त-
 ज्जलमिव विसवर्त्मति तन्मतम् ॥ पक्ष्माशयगता दोषास्तीक्ष्णाग्राणि खराणि
 च । निर्व्वर्त्तयन्ति पक्ष्माणि तैर्जुष्ट्वाक्षि दूयते । उत्पाटितैः पुनः शान्तिः
 पक्ष्मभिश्चोपजायते । वातातपानलद्वेषी पक्ष्मकोपः स उच्यते ॥ इति । अथ
 शुक्लगता व्याख्यास्यन्ते । प्रस्तारिशुक्लक्षतजाधिमांस-स्नायवर्मसंज्ञाः खलु पञ्च
 रोगाः । स्युः शुक्तिका चाज्जुनपिष्टकौ च जालं सिराणां पिङ्काश्च याः स्युः ॥
 रोगा बलासग्रथितेन सार्द्धमेकादशाक्षणोः खलु शुक्लभागे ॥ प्रस्तारि ग्रथितमिहार्म्म
 शुक्लभागे विस्तीर्णं तनु रुधिरप्रभं सनीलम् ॥ शुक्लाख्यं मृदु कथयन्ति
 शुक्लभागे सश्वेतं सममिह बर्द्धते चिरेण ॥ यन्मांसं प्रचयमुपैति शुक्लभागे
 पद्माभं तदुपदिशन्ति लोहितार्म ॥ विस्तीर्णं मृदु बहलं यकृतप्रकाशं श्यावं
 वा तदधिकमांसजार्म्म विद्यात् ॥ शुक्ले यत् पिशितमुपैति वृद्धिमेतत्
 स्नायवर्मस्यभिपठितं खरं प्रपाण्डु ॥ श्यावाः स्युः पिशितनिभास्तु बिन्दवो
 ये शुक्त्याभाः सितनियताः स शुक्तिसंज्ञः ॥ एको यः शशरुधिरपमस्तु
 बिन्दुः शुक्लस्थो भवति तमज्जुनं वदन्ति ॥ उत्सन्नः सलिलनिभोऽथ
 पिष्टशुक्लो बिन्दुर्यः स भवति पिष्टकः सुवृत्तः ॥ जालाभः कठिनशिरो
 महान् सरक्तः सन्तानः स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु ॥ शुक्लस्थाः सित-
 पिङ्काः सिरावृता यास्ता विद्यादसितसमीपजाः सिराजाः ॥ कांस्याभो
 भवति सिरावृतः सिते यो बिन्दुर्वा स तु निरुजो बलासकाख्यः ॥ इति ।
 अथातः कृष्णगता व्याख्यास्यन्ते । यत् सत्रणं शुक्रमथाव्रणं वा पाकात्यय-
 श्चाप्यजका तथैव । चत्वार एतेऽभिहिता विकाराः कृष्णाश्रयाः संग्रहतः
 पुरस्तात् ॥ निमग्ररूपं हि भवेत् तु कृष्णे सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद् वै । स्नावं
 स्रवेदुष्णमतीव रुक् च तत् सत्रणं शुक्रमुदाहरन्ति ॥ दृष्टेः समीपे न भवेत् तु
 यच्च न चावगाढं न च संस्रवेद्धि । अवेदनावन्न च युग्मशुक्रं तत् सिद्धिमायाति

कदाचिदेव ॥ सितं यदा भात्यसितप्रदेशे स्यन्दात्मकं नाति रुग्णश्रुयुक्तम् ।
विहायसीवाभ्रदलानुकारि तद्व्रणं साध्यतमं वदन्ति ॥ गम्भीरजातं बहलञ्च
शुक्रं चिरोत्थितञ्चापि वदन्ति कृच्छ्रम् ॥ विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं वा
चलं सिरासक्तमदृष्टिकृच्च । द्विलग्नं लोहितमन्ततश्च चिरोत्थितञ्चापि
विवर्जनीयम् ॥ उष्णाश्रुपातः पिङ्गका च कृष्णे यस्मिन् भवेन्मुद्गनिभश्च
शुक्रम् । तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचिदन्यच्च यत् तित्तिरिपक्षतुल्यम् ॥ सञ्छाद्यते
श्वेतनिभेन सर्व्व-दोषेण यस्यासितमण्डलन्तु । तमक्षिपाकात्ययमक्षिकोप-
समुत्थितं तीव्ररुजं वदन्ति ॥ अजापुरीषप्रतिमो रुजावान् सलोहितो लोहित-
पिच्छिलास्रः । विदार्य्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति तञ्चाजकाजातमिति व्यवस्येत् ॥
इति । अथातः सर्व्वगता व्याख्यास्यन्ते । स्यन्दास्तु चत्वार इहोपदिष्टा-
स्तावन्त एवेह तथाधिमन्थाः । शोफान्वितोऽशोफयुतश्च पाकावित्येवमेते
दश सम्प्रदिष्टाः ॥ हताधिमन्थोऽनिलपर्य्ययश्च शुष्काक्षिपाकोऽन्यत एव वातः ।
दृष्टिस्तथाम्लाध्युषिता सिराणामुत्पातहर्षावपि सर्व्वभागाः । प्रायेण सर्व्व
नयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमूलाः । तस्मादभिष्यन्दमुदीर्य्यमाण-
मुपाचरेदाशु हिताय धीमान् ॥ निस्तोदनस्तम्भनरोमहर्ष-सङ्घर्षपारुष्यशिरोऽभि-
तापाः । विशुष्कभावाः शिशिरास्रता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ दाह-
प्रपाकौ शिशिराभिनन्दा धूमायनं वाष्पसमुच्छ्रयश्च । उष्णाश्रुता पीतक-
नेत्रता च पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ उष्णाभिनन्दा गुरुताक्षिशोफः कण्डू-
देहौ सिततातिशैत्यम् । स्रावो मुहुः पिच्छिल एव चापि कफाभिपन्ने नयने
भवन्ति ॥ ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च राज्यः समन्तादतिलोहिताश्च । पित्तस्य
लिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ वृद्धैरेतैरभिष्यन्दै-
र्नराणामक्रियावताम् । तावन्तस्त्वधिमन्थाः रयुनेयने तीव्रवेदनाः ॥ उत्-
पात्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा । शिरसोऽर्द्धन्तु तं विद्यादधिमन्थं
स्वलक्षणैः ॥ नेत्रमुत्पात्यत इव मथ्यतेऽरणिवच्च यत् । संघर्षतोदनिर्भेद-मांस-
संरब्धमाविलम् ॥ कुञ्चनास्फोटनाध्मान-वेपथुव्यथनैर्युतम् । शिरसोऽर्द्धञ्च
येन स्यादधिमन्थः स मारुतात् ॥ रक्तराजितं स्रावि वह्निनेवावदह्यते ।
यकृतपिण्डोपमं दाहि क्षारेणाक्तमिव क्षतम् । प्रपकोच्छूनवर्णान्तं सरवेदं
पीतदर्शनम् । मूर्च्छाशिरोदाहयुतं पित्तेनाक्ष्यधिमन्थितम् ॥ शोफवन्नाति-
संरब्धं स्रावकण्डूसमन्वितम् । रूपं पश्यति दुःखेन पांशुपूर्णमिवाविलम् ।
नासाध्मानशिरोदुःखयुतं श्लेष्माधिमन्थितम् ॥ बन्धुजीवप्रतीकाशं ताम्यति

स्पर्शनाक्षमम् । रक्तास्त्रावं सनिस्तोदं पश्यत्यग्निनिभा दिशः । रक्तमग्नारिष्टवच्च
 कृष्णभागश्च लक्ष्यते । यद् दीप्तं रक्तपर्यन्तं तद्रक्तेनाभिमन्थतिम् ॥ हन्याद्
 दृष्टिं ससरात्रात् कफोत्थोऽधीमन्थोऽसृक्स्मभवः पञ्चरात्रात् । षड्रात्राद्
 वा मारुतोत्थो निहन्यान्मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥ कण्डूपदेहाश्रुयुतः
 पकोडुम्बरसन्निभः । दाहसंहर्षताम्रत्व-शोफनिस्तोदगौरवैः । जुष्टो मुहुः
 स्रवेद् वास्रमुष्णशीताम्बु पिच्छिलम् । संरम्भी पच्यते यश्च नेत्रपाकः स
 शोफजः ॥ शोफहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोफजे ॥ अन्तःसिराणां
 श्वसनः स्थितो दृष्टिं प्रतिक्षिपन् । हताधिमन्थं जनयेत् तमसाध्यं विदुर्बुधाः ॥
 पक्ष्मद्रयाक्षिभ्रुवमाश्रितस्तु यत्रानिलः सञ्चरति प्रदुष्टः । पर्यायशश्चापि
 रुजः करोति तं वातपर्यायमुदाहरन्ति ॥ यत् कूणितं दारुणरुक्षवर्त्म
 विलोकने वाविलदर्शनं यत् । सुदारुणं यस्य निरोधने च शुष्काक्षिपाकोप-
 हतं तदक्षि ॥ यस्यावटू कर्णं शिरोहनुस्थो मन्यागतो वाप्यनिलोऽन्यतो
 वा । कुर्याद्भ्रजोऽति भ्र वि लोचने वा तमन्यतोवातमुदाहरन्ति ॥ अम्लेन
 भुक्तेन विदाहिना वा सञ्छाद्यते सर्व्वत एव नेत्रम् । शोफान्वितं लोहितकैः
 सनीलैरेतादृगम्लाध्युषितं वदन्ति ॥ अवेदना वापि सवेदना वा यस्याक्षि-
 राज्यो हि भवन्ति ताम्राः । मुहुर्विरज्यन्ति च ताः समन्ताद् व्याधिः
 सिरोत्पात इति प्रदिष्टः ॥ महान् सिरोत्पात उपेक्षितस्तु जायेत रोगस्तु
 सिराग्रहर्षः । ताम्राञ्छमस्रं स्रवति प्रगाढं तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुञ्च ॥
 इति । अथातो दृष्टिगता व्याख्यास्यन्ते । मसूरदलमात्रान्तु पञ्चभूतप्रसाद-
 जाम् । खद्योतविस्फुलिङ्गाभां सिद्धां तेजोभिरव्ययैः । आवृतां पटलेनाक्षो-
 र्वाह्येन विवराकृतिम् । शीतसात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः । रोगान्
 तदाश्रयान् घोरान् षट् च षट् च प्रवक्षमहे । पटलानुप्रविष्टस्य तिमिरस्य च
 लक्षणम् ॥ सिराभिरभिसंप्राप्य विगुणोऽभ्यन्तरे भृशम् । प्रथमे पटले दोषो
 यस्य दृष्टो व्यवस्थितः । अव्यक्तानि स रूपाणि सव्वाण्येव प्रपश्यति ॥ दृष्टि-
 भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते । मक्षिकामशकान् केशान् जालकानि च
 पश्यति । मण्डलानि पताकाश्च मरीचीः कुण्डलानि च । परिप्लवांश्च विविधान्
 वर्षमभ्रं तमांसि वा । दूरस्थान्यपि रूपाणि मन्यते च समीपतः । समीपस्थानि
 दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् । यत्रयानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति ॥
 ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात् तृतीयं पटलं गते । महान्त्यपि च रूपाणि छादितानीव
 वाससा । कर्णनासाक्षियुक्तानि विपरीतानि चेक्षते । यथादोषश्च रज्येत

दृष्टिर्दोषे बलीयसि । अधःस्थिते समीपस्थं दूरस्थञ्चोपरिस्थिते । पार्श्वस्थिते
 तथा दोषे पार्श्वस्थानि न पश्यति ॥ समन्ततः स्थिते दोषे सङ्कुलानीव पश्यति ।
 दृष्टिमध्यगते दोषे स एकं मन्यते द्विधा । द्विधास्थिते त्रिधा पश्येद् बहुधा
 चानवस्थिते ॥ तिमिराख्यः स वै दोषश्चतुर्थं पटलं गतः । रुग्णद्वि सर्व्वतो
 दृष्टिं लिङ्गनाशः स उच्यते । तस्मिन्नपि तमोभूते नातिरुद्धे महागदे । चन्द्रा-
 दित्यौ सनक्षत्रावन्तरीक्षे च विद्युतः । निर्म्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णूनि च
 पश्यति । स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिकाकाचसंज्ञितः ॥ तत्र वातेन रूपाणि
 भ्रमन्तीव स पश्यति । आविलान्यरूपाभानि व्याविद्धानि च मानवः ॥
 पित्तेनादित्यखद्योत शक्रचापतड्ढिगुणान् । शिशिवर्द्धविचित्राणि नीलकृष्णानि
 पश्यति ॥ गौरचामरगौराणि श्वेताभ्रप्रतिमानि च । पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं व्यभ्रे
 चैवाभ्रसंग्रहम् । सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि मानवः । कफेन पश्येद्
 रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च ॥ तथा रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च ।
 हरितश्यावकृष्णानि धूमधूमाणि चेक्षते ॥ सन्निपातेन चित्राणि विप्लुतानीव
 पश्यति । बहुधा वा द्विधा वापि सर्व्वान्येव समन्ततः । हीनाधिकाङ्गान्यथवा
 ज्योतींष्यपि च पश्यति । पित्तं कुर्यात् परिम्लायि मूर्च्छितं रक्ततेजसा । पीता
 दिशस्तथोद्यन्तमादित्यमिव पश्यति । विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजो-
 भिरेव च । लिङ्गनाशः षट् सर्व्वथादृष्टिरोधवातपित्तकफशोणितसन्निपातजाः
 तिमिराणि चेति षट् । वक्ष्यामि षड्विधं रागलिङ्गनाशमतः परम् । रागोऽरूणो
 मारुतजः प्रदिष्टः पित्तात् परिम्लाय्यथवापि नीलः । कफात् सितः शोणितजस्तु
 रक्तः समस्तदोषस्तु विचित्ररूपः ॥ रक्तजं मण्डलं दृष्टौ स्थूलकाचारुणप्रभम् ।
 परिम्लायिनि रोगे स्यात् म्लाय्यानीलञ्च मण्डलम् । दोषक्षयात् कदाचित् स्यात्
 स्वयं तत्र च दशनम् ॥ अरुणं मण्डलं वाताच्चञ्चलं परुषं तथा । पित्तात् मण्डल-
 मानीलं कांस्याभं पीतमेव वा । श्लेष्मणा बहलं स्निग्धं शङ्कुन्देन्दुपाण्डरम् ।
 चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लविन्दुरिवाम्भसः । मृज्यमाने च नयने मण्डलं तद्
 विसर्पेति ॥ प्रवालपद्मपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम् । दृष्टिरागो भवेच्चित्रो
 लिङ्गनाशे त्रिदोषजे । यथास्वदोषलिङ्गानि सर्व्वेष्वेव भवन्ति हि ॥ इति
 वातजपित्तजद्विविधकफजरक्तजसन्निपातजाः षडरागास्तत्र दृष्टमध्ये मण्डलानि
 षड्विधानि पित्तादेव परिम्लायिरोगस्तत्र रक्तजकाचप्रभं म्लायि चानीलञ्च
 मण्डलं वातादरूणादि पित्तादानीलकांस्याभं श्लेष्मणा बहलादि रक्तात्
 प्रवालादिरूपम् विचित्रः सन्निपातादिति । तद् दृढयति । षडलिङ्गनाशः

तेजः सवातं खलु केशभूमिं

दग्ध्वा तु कुर्यात् खलिति नरस्य ।

किञ्चित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्

हरित्प्रभत्वञ्च शिरोरुहाणाम् ॥ ७४ ॥

षडिमे च रागा दृष्ट्याश्रया षट् च षडेव च स्युः । तथा नरः पित्तविदग्धदृष्टिः
कफेन चान्यस्त्वथ धूमदर्शी । यो ह्रस्वजाड्यो नकुलान्धता च गम्भीरसंज्ञा च
तथैव दृष्टिः ॥ पित्तेन दुष्टेन गतेन दृष्टिं पीता भवेद्यस्य नरस्य दृष्टिः ।
पीतानि रूपाणि च मन्यते यः स मानवः पित्तविदग्धदृष्टिः ॥ प्राप्ते तृतीयं
पटलन्तु दोषे दिवा न पश्येन्नशि वीक्षते च ॥ तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टि-
स्तान्येव शुक्लानि हि मन्यते तु । त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषो नक्तान्ध्यमा-
पादयति प्रसह्य । दिवा स सूर्यानुगृहीतदृष्टिर्वीक्षेत रूपाणि कफाल्पभावात् ॥
शोकज्वरायासशिरोऽभितापैरभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः । स धूमकान् पश्यति
यो हि भावांस्तं धूमदर्शीति वदन्ति रोगम् ॥ स ह्रस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छ्रात्
ह्रस्वानि रूपाणि च यो न पश्येत् । रात्रौ स शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्ताल-
भावादपि तानि पश्येत् ॥ विद्योतते येन नरस्य दृष्टिदोषाभिपन्ना नकुलस्य
यद्वत् । चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत् स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः ॥
दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा सङ्कच्यतेऽभ्यन्तरतश्च याति । रुजावगाढा च
तमक्षिरोगं गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ बाह्यौ पुनर्द्वाविह सम्प्रदिष्टौ
निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च । निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापात् ज्ञेयस्त्वभिष्यन्द-
निदर्शनैश्च ॥ सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां सन्दर्शनेनापि च भास्वराणाम् ।
हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स लिङ्गनाशस्तन्निमित्तसंज्ञः ॥ तत्राक्षि विस्पष्ट-
मिवावभाति वैदूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः । विदीर्यते सीदति हीयते वा
नृणामभीघातहता तु दृष्टिः ॥ इत्येते नयनगता महाविकाराः सङ्ख्याताः
पृथगिह षट् च सप्ततिश्च । एतेषां पृथगिह विस्तरेण सर्व्वं वक्ष्येऽहं तदनु
चिकित्सितञ्च तावत् ॥ इति ॥ ७३ ॥

गङ्गाधरः—इत्येवमक्षिरोगानन्तरं खालित्यमाह—तेज इत्यादि । सवातं
तेजः केशभूमिं दग्ध्वा नरस्य खलिति कुर्यात् । केशभूमिं किञ्चिदल्पं दग्ध्वा

चक्रपाणिः—तेज इत्यादिना खालित्यलक्षणमाह । तेजःशब्देन देहोष्माभिमतः, स वातायै-
युक्तः खालिक्यं करोतीति योजनीयम् । केचित् तु तेजःशब्देन पित्तमपि वर्णयन्ति । हरित्-

इत्यूर्द्ध्वजत्रुस्थगदकदेशः

प्रोक्तश्चिकित्साश्च परं निबोध ।

अतःपरं भेषजसंग्रहन्तु

निबोध सङ्क्षेपत उच्यमानम् ॥ ७५ ॥

वातात् सकासवैस्वर्ये सक्षारं पीनसे घृतम् ।

पिबेद्रसं पयश्चोष्णं स्नेहिकं धूममेव वा ॥

शताह्वात्वग्बलामूलं श्योनाकैरण्डमूलजम् ।

आरग्वधं पिबेहवर्त्ति मधूच्छिष्टवसाघृतैः ॥

अथवा सघृतान् सक्तून् कृत्वा मल्लकसम्पुटे ।

नवप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥ ७६ ॥

पलितानि अर्ज्जनवर्णानि शिरोलोमानि कुर्यात् । धवलोज्जन उच्यते ।
एवं केशभूमिं किञ्चित् दग्ध्वा शिरोरुहाणां हरित्प्रभत्वं हरितवर्णत्वं
कुर्यादिति ॥ ७४ ॥

गङ्गाधरः—तृट्श्वासादयो ये प्रतिश्यायाज्जायन्ते ते प्रागभिहिताः । उप-
संहरति । इतीत्यादि । ऊर्द्ध्वजत्रुस्थगदानामेकदेशः कियान् प्रोक्तः, न तु
कार्त्तस्येन ॥ ७५ ॥

गङ्गाधरः—तत्र नवप्रतिश्यायचिकित्सितमाह—वातादित्यादि । वातात्
पीनसे नवप्रतिश्याये कासवैस्वर्ययुते सक्षारं घृतं पिबेत् । मांसरसश्च
पिबेदेवमुष्णं पयश्च पिबेन्न तु शीतं पयः, तथा स्नेहिकं धूमं वा पिबेत् । धूममाह
—शताह्वा ह्यादि । त्वक् गुडत्वक् । शताह्वादित्रयं मधूच्छिष्टवसाघृतैर्वर्त्ति कृत्वा
धूमं पिबेत् । एवं श्योनाकैरण्डमूलजं चूर्णं मधूच्छिष्टवसाघृतैर्वर्त्ति कृत्वा धूमं
पिबेत् । एषमारग्वधमूलं पिष्ट्वा मधूच्छिष्टवसाघृतैर्वर्त्ति कृत्वा धूमं पिबेत् ।
अथवा यवादीनां सक्तून् सघृतान् मल्लकपुटे शरावपुटेऽङ्गाराग्रौ प्रक्षिप्य नव-
प्रतिश्यायवतां वैद्यो धूमं प्रयोजयेत् ॥ ७६ ॥

प्रभत्वमिति कपिलत्वम् । शिरोरुहाणामिति वेज्ञानाम् । भेषजसंग्रहमिति भेषजाभिधायकं
ग्रन्थम् ॥ ७४ । ७५ ॥

चक्रपाणिः—अथातः क्रमात् चिकित्साभिधीयते । प्रतिश्याये धूमस्य बोधनात् स्नेहिकधूमम्

शङ्खमूर्च्छललाटान्तै पाणिस्वेदोपनाहनम् ।

स्वभ्यक्ते क्षवथुस्त्राव-रोधादौ सङ्करादयः ॥ ७७ ॥

घ्रेया रोहिषतर्कारी-वचाजोरकचोरकाः ।

त्वक्पत्रमरिचैलानां चूर्णा वा सोपकुश्विकाः ॥ ७८ ॥

स्रोतःशृङ्गाटनासाक्षि-शोषे तैलञ्च नावनम् ।

प्रभाव्याजे तिलान् क्षीरे तेन पिष्टान् तदुष्मणा ।

मन्दस्विन्नान् सयष्ट्राह्वान् चूर्णांस्तैनैव पीडयेत् ॥

दशमूलस्य निकाथे रास्त्रामधुककल्कवत् ।

सिद्धं ससैन्धवं तैलं दशकृत्वोऽणु तत् स्मृतम् ॥ ७९ ॥

गङ्गाधरः—शङ्खादिषु स्वेदोपनाहनं वैद्यः प्रयोजयेत् । तत्र स्वेदानाह । स्वभ्यक्त इत्यादि । क्षवथुस्त्रावयो रोधादौ सङ्करादयः स्वेदास्तैलाभ्यक्ते देहे प्रयोज्याः ॥ ७७ ॥

गङ्गाधरः—रोहिषादिचोरकान्ताश्चर्णिता घ्रेया नस्यं कार्यम् । रोहिषं गन्धतृणं तर्कारी जयन्ती तस्या मूलं चोरकः पिडङ्ग इति लोके । अथवा सोप-कुश्विकास्तगादीनां चूर्णा घ्रेया नस्यं कार्यमिति ॥ ७८ ॥

गङ्गाधरः—एवं वातप्रतिशयाये स्रोतःशृङ्गादिशोषे तैलमतः परं वक्ष्यमाणं नावनं कार्यमिति । तैलमाह—प्रभाव्येत्यादि । आजे क्षीरे कृष्णान् तिलान् प्रभाव्य भावयित्वा तेनाजेन क्षीरेण पिष्टांस्तांस्तिलांस्तदुष्मणा तस्यैवाजक्षीरं हण्डिकायां प्रक्षिप्य मुखं वस्त्रेण बद्धा तद्वस्त्रोपरि तांस्तिलान् विन्यस्य चुल्बामारोप्याधस्तादग्निना ज्वाला देया, तदुष्मणा मन्दस्विन्नांस्तांस्तिलान् यष्ट्राह-चूर्णमिश्रितान् तेनैवाजदुधेन पीडयेत् । तत् तिलतैलं दशमूलकाथ चतुर्गुणे पादिकरास्त्रादिसैन्धवान्तकल्कयुक्तं सिद्धं पक्वमित्येवंप्रकारेण दशकृत्वः सिद्धमणु अज्जेऽभिधाय पाणिस्वेदोपनाहनं पाणिस्वेदश्च उपनाहनञ्च पाणिस्वेदोपनाहनम् । अवरोध इत्यत्र अवरोधशब्देन प्रतीनाहोऽभिधीयते । सङ्करादयः प्रच्छानकादयः स्वेदाध्यायोक्ताः स्वेदाः ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

चक्रपाणिः—तर्कारी जीवन्ती । शृङ्गाटनासाक्षिशोष नावनं तैलं युक्तम् । तत् तैलमाह—प्रभाव्याजे इत्यादि । तदुष्मणेति क्षीरोष्मणा, मन्दस्विन्नानिति मन्दं स्विन्नान् । सयष्ट्राह-चूर्णनिति यष्ट्राहचूर्णस्याप्रधानत्वात् तिलचूर्णात् पादिकत्वम् । तेनैव पीडयेदिति अजाक्षीरेण । एवं तैलस्य दशमूलनिकाथादिभिः दशकृत्वो पाकात् सिद्धं तैलं वातपीनसे युज्यात् ।

स्निग्धस्यास्थापनदोषं निर्हरेद् वातपीनसे ।

स्निग्धाम्लोष्णैश्च लघ्वन्नं ग्राम्यादीनां रसैर्हितम् ॥

उष्णाम्बुना स्नानपानं निवातोष्णप्रतिश्रयः ।

चिन्ताव्यवायव्यायाम-वाक्चेष्टाविरतो भवेत् ।

वातजे पीनसे धोमानिच्छन्नेवात्मनो हितम् ॥ ८० ॥

पित्ते सर्पिः पिबेत् सिद्धं शृङ्गवेरशृतं पयः ।

पाचनार्थं पिबेत् पक्वे कार्यं मूर्द्धविरेचनम् ॥

पाठाद्विरजनीमूर्वा-पिप्पलीजातिपल्लवैः ।

दन्त्या च सिद्धं तत् तोयं नश्यं स्यात् पक्वपीनसे ॥ ८१ ८२

पूयास्त्ररक्तपित्तघ्नाः कषाया नावनानि च ।

पाकदाहाढ्यरुक्षेषु शीताः सेकाः प्रलेपनाः ।

स्नेहनस्योपचाराश्च कषायाः स्वादुशीतलाः ॥ ८३ ॥

तत् अणुतैलं स्मृतमिति । प्रतिश्यायस्यामतालक्षणमुक्तमन्यत्र । “शिरोगुरुत्वमरुचि-
र्नासास्त्रावस्तनुस्वरः । क्षामः ष्ठीवत्यथाभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् । आमलिङ्गा-
न्वितः श्लेष्मा घनः स्वेष्टु निमज्जति । स्वरवर्णविशुद्धिश्च पक्वपीनसलक्षणम् ॥”
इति । स्निग्धस्येत्यादि । पक्वे पीनसे स्निग्धस्यास्थापनदोषं निर्हरेत् । स्निग्धा-
दिभिर्ग्राम्यादिमांसरसैर्लघ्वन्नं हितम् । उष्णाम्बुना स्नानं पानञ्चोष्णाम्बुनः ।
निवाते चोष्णे च गृहे प्रतिश्रयः । चिन्तादिभ्यश्च विरतो भवेत् ॥ ८० ॥

गङ्गाधरः—अथ पित्तप्रतिश्यायचिकित्सामाह—पित्ते इत्यादि । सिद्धं पक्वं
पित्तहरेर्द्रव्यः सर्पिः पिबेत् । शृङ्गवेरशृतं पयश्च पिबेत् । पक्वे पीनसे मूर्द्धविरेचनं
कार्यम् । मूर्द्धविरेचनार्थं नस्यमाह—पाठेत्यादि । पाठादिदन्तान्तैः कल्कैः
सिद्धं तोयं पक्वपीनसे पित्तजे नश्यं स्यात् ॥ ८१ । ८२ ॥

गङ्गाधरः—पूयेत्यादि । पूयासुग्रा रक्तपित्तघ्नाश्च ये कषाया यानि
नावनानि च तानि शीताः सेकाः प्रलेपनाश्च शीताः नासापाकादिषु हिताः स्युः ।
स्नेहस्य नस्यमुपचाराश्च कार्य्याः । स्वादुशीतलाः कषायाश्च हिताः ॥ ८३ ॥

स्निग्धाम्लेत्यादिना आचारमाह—निवातोष्णप्रतिश्रय इति निवातोष्णगृहस्थाया । दैत्ते सर्पिः
पिबेत् सिद्धमित्यत्र शृङ्गवेरसिद्धमेव सर्पिर्द्रव्यम् । रक्तपित्तघ्ना इति रक्तपित्तचिकित्सोक्ताः ॥ ७८—८३ ॥

मन्दपित्ते प्रतिश्याये स्निग्धैः कुर्याद् विरेचनम् ।
 घृतं क्षीरं यवाः शालिर्गोधूमा जाङ्गला रसाः ।
 शोताम्लास्तिकशाकानि यूषा मुद्गादिभिर्हिताः ॥ ८४ ॥
 गौरवारोचकैश्चादौ लङ्घनं कफपीनसे ।
 स्वेदाः सेकाश्च पाकार्थं लिप्ते शिरसि सर्पिषा ॥
 लसुनं मुद्गचूर्णेन व्योषचारघृतैर्यतम् ।
 देयं कफघ्नवमनमुत्क्रिष्टश्लेष्मणौ हितम् ॥
 अपीनसे पूतिनस्ये घ्राणस्त्रावे सकण्डुके ।
 धूमः शस्तोऽवपीडश्च कटुभिः कफपीनसे ॥
 मनःशिलावचाव्योष-विडङ्गं हिङ्गु गुग्गुलुः ।
 चूर्णैः प्रायः प्रथमनः कटुभिस्त्रिफलैः सह ॥
 भार्गीमदनतर्कारी-सुरसादिविपाचितम् ।
 तैलं सर्षपजं बल्यं कफपीनसशान्तये ॥

गङ्गाधरः—मन्दपित्त इत्यादि । स्निग्धैरेरण्डतैलादिभिः । घृतादयश्च
 भोजने हिताः ॥ ८४ ॥

गङ्गाधरः—अथ कफामपीनसचिकित्सामाह । गौरवेत्यादि । आदौ
 कफपीनसे गौरवारोचकेषु लङ्घनम् । कफपाकार्थं सर्पिषा लिप्ते शिरसि
 स्वेदाश्च सेकाश्च । लसुनमित्यादि । उत्क्रिष्टश्चेत् श्लेष्मा भवति तदा मुद्ग-
 चूर्णव्योषचूर्णयवक्षारघृतयुतं लसुनं कफघ्नं वमनं हितं देयम् । अपीनस
 इत्यादि । अपीनसादिषु धूमोऽवपीडश्च शस्तः । कफपीनसे कटुभिस्त्रि-
 पीडश्च शस्तः । मनःशिलेत्यादि । मनःशिलादीनां चूर्णैः प्रायः प्रथमनो
 द्विमुखनलिकया फूत्कारेण नासिकापुटे देयः, त्रिफलैः सह कटुभिर्मरिचा-
 दिभिः कटुद्रव्यैः प्रथमनः । भार्गीत्यादि । तर्कारी जयन्ती । सुरसादिर्गणः । एतै-

चक्रपाणिः—मन्दपित्ते इति ईषत्पित्ते देयम् । कफघ्नवमनमिति कफघ्नद्रव्यकृतं वमनं देयमित्यर्थः ।

आर्तकालवचालं वा विडङ्गं कुष्ठपिप्पली ।
 कृत्वा कल्कं करञ्जश्च तैलं तैः सार्षपं पचेत् ॥
 पाकान्मुक्ते घने नस्यमेतन्मेदोऽन्विते कफे ।
 स्निग्धस्य व्याहृते वेगे छर्दनं कफपीनसे ॥
 वमनीयशृतक्षीर-तिलमाषयवागुना ।
 यवाग्वा मदनक्षीर-तिलमाषोपसिद्धया ॥ ८५ ॥
 कफघ्नमन्नं वार्त्ताक-कुलत्थादृक्किमुद्गजाः ।
 यूषाः सकुलकव्योषाः शस्तास्तोयोष्णसेविनः ॥ ८६ ॥
 सर्वजित् पीनसे दुष्टे कार्यं शोफे तु शोफनुत् ।
 क्षारोऽर्बुदाधिमांसेषु क्रिया सर्वेष्ववेद्य च ॥ ८७ ॥

विपाचितं तैलं मेदोऽन्विते कफे नस्यम् । तथा आर्तकालादिकरञ्जान्तं कल्कं
 कृत्वा सार्षपतैलं पचेत् । पाकान्मुक्ते परिपके पीनसे मेदोऽन्विते कफे क्षरिते
 एतत्तैलं नस्यं स्यात् । आर्तः कुष्ठं काला अगुरु आलं हरितालम् । स्निग्धस्ये-
 त्यादि । कफपीनसे वेगे व्याहृते स्निग्धस्य छर्दनं वमनं कार्यम् । छर्दनमाह—
 वमनीयेत्यादि । फलिनी-मूलिनीवमनीयद्रव्यैः शृतं क्षीरश्च तिलाश्च माषाश्च
 यवागश्च तेन छर्दनम् । समाहारात् क्लीबम् । मदनदुग्धपसिद्धया यवाग्वा वा
 छर्दनमिति ॥ ८५ ॥

गङ्गाधरः—भोजनमाह—कफघ्नमित्यादि । कफघ्नधान्यकृतमन्नं वार्त्ता-
 कादियूषाः सव्योषाः शस्ताः तोयश्चोष्णम् । इति कफपीनसचिकित्सा ॥ ८६ ॥

गङ्गाधरः—सन्निपातपीनसचिकित्सामाह—सर्वजित् इत्यादि । त्रिदोषजे
 पीनसे सर्वजित् सर्वदोषजित् वातादिदोषजिद् यद् यदुक्तं तत् त्रयाणां मिश्रं
 कार्यम् । दुष्टे पीनसे च सर्वजित् कर्म कार्यम् । रक्तजे पित्तजित्
 कार्यमिति । प्रतिश्यायचिकित्सामुक्त्वा प्रतिश्यायाज्जातशोफादिविकित्सा-
 माह—शोफे त्वित्यादि । प्रतिश्यायाज्जाते शोफे शोफजित् कर्म कार्यम् ।
 प्रतिश्यायाज्जातेष्वर्बुदादिषु क्षारो देयः । सर्वेष्वपीनसादिषु नासारोगेषु
 अवैक्ष्य रोगविशेषं क्रिया कार्या ॥ ८७ ॥

कटुभिः फलैरिति मरीचपिप्पल्यादिभिः । पाकान्मुक्त इति पाकावसानाच्चयुते । व्याहृते
 वेगे इति पीनसस्य वेगे मन्दीभूते । शोफे चेति नासाशोफे ॥ ८४—८७ ॥

वातिके शिरसो रोगे स्नेहस्वेदान् सनावनान् ।
 पानान्नमुपहारांश्च कुर्याद् वातामयापहान् ॥
 तैलभृष्टैरगुर्वादैः सुखोष्णैश्चोपनाहनम् ।
 जीवनीयैः सुमनसां मतस्यमांसैश्च शस्यते ॥ ८८ ॥
 रास्नास्थिरादिभिः सिद्धं सक्षीरं नस्यमर्त्तिनुत् ।
 तैलं रास्नादिकाकोली-शर्कराभिरथापि वा ॥ ८९ ॥
 बलामधुकयष्टाह-विदारीचन्दनोत्पलैः ।
 जीवकर्षभकद्राक्षा-शर्कराभिश्च साधितः ॥
 प्रस्थस्तैलस्य सक्षीरो जाङ्गलाञ्छितुलारसे ।
 नस्यं सर्वोद्धृजत्रुघ्नं वातपित्तामयापहम् ॥ ९० ॥
 दशमूलबलारास्ना-त्रिफलामधुकैः सह ।
 मायूरं पक्षपित्तान्त्र-शकृत्पादास्यवर्जितम् ॥

गङ्गाधरः—इति नासारोगचिकित्सितमुक्त्वा प्रतिश्यायाज्जाते शिरो-
 रोगास्यरोगकर्णरोगाक्षिरोगचिकित्सितमाह । वातिके इत्यादि । उपहारा
 आहारोपयोगिनः । तैलभृष्टैरित्यादि । अगुर्वादिगण उक्तोऽगुर्वादितैले
 ज्वरचिकित्सिते । शिरस उपनाहनम् । जीवनीयैर्दशभिरुपनाहनञ्च सुमनसां
 मालत्यादिपुष्पाणामुपनाहनञ्च मतस्यमांसैश्चोपनाहनं शिरसि शस्यते ॥ ८८ ॥

गङ्गाधरः—रास्नेत्यादि । स्थिरादिः शालपण्यादिपञ्चमूलम् । नस्यमेत-
 वातिके शिरोरोगेऽर्त्तिनुत् । अथवा रास्नादिकाकोलीशर्कराभिः सिद्धं तैलं
 नस्यं शिरोऽर्त्तिनुत् । रास्नादिरिह पूर्वो रास्ना स्थिरादिपञ्चमूलञ्च ॥ ८९ ॥

गङ्गाधरः—बलेत्यादि । बलादिभिः शर्करान्तैः कल्कैः तैलप्रस्थस्य पादिकैः
 समक्षीरं तत् तैलं जाङ्गलमांसरसोऽर्द्धतुला । सिद्धमिदं तैलं नस्यं सर्वोद्धृ-
 जत्रुजरोघ्नमिति ॥ ९० ॥

गङ्गाधरः—दशमूलेत्यादि । पक्षादिवर्जितं मायूरं मांसमस्थि च दशमूला-

चक्रपाणिः—दशमूलादीनां प्रत्येकं क्षिपलमानम् । समं मयूरं पक्षादिवर्जितं

जले पक्त्वा घृतप्रस्थं तस्मिन् क्षीरसमं पचेत् ।

मधुकैः कार्षिकैः कल्कैः शिरोरोगार्दितापहम् ॥

कर्णनासाक्षिजिह्वास्थ-गलरोगविनाशनम् ।

मायूरमिति विख्यातमूर्च्छजत्रुगदापहम् ॥ ६१ ॥

दिभिः सह जलेऽष्टगुणे पक्त्वा चतुर्थांशशेषं तस्मिन् काथे क्षीरसमं घृतप्रस्थं पचेत् मधुरैर्जीवनीयैर्दशभिः कल्कैः कार्षिकैर्घृतस्य पादिकैः । अत्र क्वचित् पाठः । “दश-मूलबलारासनामधुकैस्त्रिपलैः सह” इति । तेन दशमूल्यादीनां प्रत्येकं त्रिपलग्रहणेन त्रयोदशद्रव्याणामेकोनचत्वारिंशत् पलानि भवन्ति पक्षादिवज्जितमायूरमांसास्थि च तत्सममष्टगुणे जले पचेदिति कश्चित् । अन्ये तु दशमूल्यादिकमेकोन-चत्वारिंशत्पलं मायूरमांसास्थि चाकृतिमानादेकमेव मयूरं पक्षादिवज्जं यावत् स्यात् तावद् गृह्णन्ति । जलञ्चाष्टगुणमेव सत्त्वंद्रव्यापेक्षया ददति । “त्रिफला मधुकैः सह” इति पाठे दशमूल्यादीनां मानानुक्तेरुत्सर्गं तश्चतुर्गुणद्रव्यसाध्यत्वात् स्नेहस्यात्र समक्षीरविधानात् त्रिगुणः काथः कार्यो यावता दशमूल्यादि-मायूरमांसास्थिसमुदायेन तावदत्र ग्राह्यं तत्र दशमूल्यादिद्रव्यं यावत् तावन्मायूरं मांसमस्थि च ग्राह्यं न त्वाकृतिमानेनैकस्य मयूरस्य काथाल्पत्वापत्तेः । एतदभि-प्रायेणाखुभिः कुक्कुटैर्हंसैरिति वक्ष्यमाणवचनेऽनेन कल्पेन काथसाधने बहुवचनान्तप्रयोगा आखुभिरित्यादयः कृताः । अन्यथाखुरप्याकृतिमानेनैकः कुक्कुटश्च हंसश्च शशश्च गृह्यतां बहुवचनमनर्थकं स्यात् । तथा च दश-मूल्यादीनां मानानुक्तौ षोडशानां प्रत्येकं सार्द्धं पलं मिलित्वा चतुर्विंशति-पलं, मायूरमांसास्थि चतुर्विंशतिपलं, तत्र मांसस्यास्थिनो नियमो नास्ति नास्ति पक्षादिवज्जनाच्छेषं यावन्मांसमस्थि च लभ्यते तावदेव चतुर्विंशति-पलमिति दशमूल्यादिमांसास्थ्यन्तं षट् शरावमष्टचत्वारिंशच्छरावमिते जले पक्त्वा द्वादशशरावावशेषे काथे घृतात् त्रिगुणे समक्षीरे घृतप्रस्थं पचेत् । स्वल्पमायूरघृतम् ॥ ९१ ॥

जलद्रोणे एव पचेत् । जलद्रोणो हि यत् काथार्थं घृतप्रस्थात् पादावशेषत्वम् समचतुर्गुणो भवति । किञ्च दशमूलादीनाम् उनचत्वारिंशत्पलेन मयूरेण च चतुःषष्टिपले काथे द्रोणमानं जलं देयम् । किंवा दशमूलादीनां मयूरेण च मिलित्वा यावत् काथ्यं भवति तच्चतुर्गुणजलमुत्-सर्गपरिभाषयैव देयम् । मधुरैरिति जीवनीयगणोक्तैर्दशभिः । जीवनीयानि मधुरत्वप्रकर्षादिह मधुरशब्देनोच्यन्ते ॥ ८८—९१ ॥

एतेनैव कषायेण घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
 चतुर्गुणेन पयसा कल्कैरेभिश्च कार्षिकैः ॥
 जीवन्तीत्रिफलामेदा-मृद्वोर्द्धिपरुषकैः ।
 समङ्गाचविकाभार्गी-काश्मरीकर्कटाह्वयैः ॥
 आत्मगुप्तामहामेदा-तालखज्जूरमस्तकैः ।
 मृणालविसखज्जूर-मधुकैश्च सजीरकैः ॥
 शतावरोविदारीक्षु-वृहतीसारिवायुगैः ।
 मूर्वार्श्वदंष्ट्रभक्त-शृङ्गाटककशेरुकैः ॥
 रास्त्रास्थिरातामलकी-सूक्ष्मैलाशठीपौष्करैः ।
 पुनर्नवातुगाक्षीरो-काकोलीधन्वयासकैः ॥
 मधुकाक्षोड्वादाम-मुञ्जाताभिषुकैरपि ।
 द्रव्यैरेभिर्यथालाभं पूर्वकल्पेनसाधितम् ॥
 पाने नस्ये तथाभ्यङ्गे वस्तौ चैतत् प्रदापयेत् ।
 शिरोरोगेषु सर्वेषु कासे श्वासे च दारुणे ॥

गङ्गाधरः—एतेनैवेत्यादि । जीवन्त्यादीनां प्रत्येकं यथालाभं कार्षिकैः कल्कैर्यथालाभे कल्कस्य न्यूनाधिक्यमाने दोषाभावः । तालखज्जूरयोर्मस्तकं तथा खज्जूरस्य फलम् । आक्षोडः कर्परालः, आखरोट इति लोके । वादामश्च लोके तन्नाम्ना प्रसिद्ध एव । मुञ्जात उत्तरदेशे कन्दविशेषः । अभिषुकः फलविशेषः । एभिर्यथालाभं द्रव्यैः कार्षिकैः कल्कैः एतेनैव दशमूल्यादिमयूरान्तकाथेन चतुर्गुणेन पयसा तु समेन क्षीरं स्नेहसमं मतमित्युक्तैः । अथवा चतुर्गुणेन पयसेति दशमूल्यादिमयूरान्तकाथेन त्रिगुणेनेति घृतप्रस्थं

चक्रपाणिः—एतेनैवेति दशमूलादिमयूरकाथेन यथोक्तविधानकृतेन । द्वितीयखज्जूरशब्देन खज्जूरफलं गृह्यते । अक्षोडवातामादीनि औत्तरपथिकानि । पूर्वयोक्तकाथविधानं यद्यप्ये-

मन्यापृष्ठग्रहे शोषे खरभेदे तथादितै ।

योन्यसृक्शुक्रदोषेषु शस्तं बन्ध्यासुतप्रदम् ॥

महामायूरमित्येतत् घृतमात्रेयपूजितम् ॥ ६२ ॥

(चतुःप्रयोगमेवेदमश्विवेशप्रकाशितम् ।)

महामायूरघृतम् ॥

आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चापि हि बुद्धिमान् ।

कल्पेनानेन विपचेत् सर्पिरुद्धं गदापहम् ॥ ६३ ॥

पैत्ते घृतं पयः सेकाः शीता लेपाः सनावनाः ।

जीवनीयानि सर्पींषि पानान्नश्चापि पित्तनुत् ॥

चन्दनोशीरयष्टाह्व-बलाव्याघ्रनखोत्पलैः ।

क्षीरपिष्टैः प्रदेहः स्यात् शृतैर्वा परिषेचनम् ॥

विपाचयेत् । इति पूर्वकल्पेन साधितं घृतमेतत् पानादौ प्रयोजयेत् ।
महामायूरं घृतम् ॥ ९२ ॥

गङ्गाधरः—आखुभिरित्यादि । कल्पेनानेन मायूरमहामायूरघृतसाधन-
कल्पेन । आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्च पक्षादिवर्जितैर्मांसास्थिभिदश-
मूल्यादिभिः सह काथेन त्रिगुणेन समक्षीरेण मधुकैः कार्ष्णिकैः कल्कैर्घृतप्रस्थं
पचेदिति । आखुघृतम् । जीवन्त्यादिभिः कल्कैः कार्ष्णिकैश्चतुर्गुणेन पयसा
चतुर्गुणेन च पित्तादिवर्जिताखुसहितदशमूल्यादिकाथेन घृतप्रस्थं पचेदिति ।
महाखुघृतम् । एवं कुक्कुटघृतं महाकुक्कुटघृतं हंसघृतं महाहंसघृतं शशकघृतं
महाशशकघृतञ्च पचेत् । इति वातजशिरोरोगचिकित्सा ॥ ९३ ॥

गङ्गाधरः—अथ पित्तजशिरोरोगचिकित्सामाह—पैत्ते घृतमित्यादि । पैत्ते
शिरोरोगे घृतं सेकाः शीता लेपाश्च शीता नावनञ्च शीतम् । जीवनीयानि
सर्पींषि पित्तनुत् पानान्नञ्च । शीतप्रदेहमाह—चन्दनेत्यादि । क्षीरपिष्टैश्चन्द-
नादिभिः शिरसि । शृतैर्वा जले कार्याविधिना पक्वैश्चन्दनादिभिः कथितैः

तेनैव कषायेणत्यादिना सिद्धम्, तथापि पुनः पूर्वकल्केनेति वचनेन यथालाभमिति च पदेन यथा-
लामं कर्त्तव्यत्वं दर्शयति ॥ ९२ ॥

चक्रपाणिः—अत्र मयूरस्थाने मूषकादीन् दर्शयन्नाह—आखुभिरित्यादिना । आखुना मयूरा-

त्वक्पत्रशर्कराकल्कः सुपिष्टस्तण्डुलाम्बुना ।

कार्योऽवपीडः सर्पिश्च नस्यं तस्यानु पैत्तिके ॥

यष्ट्याह्वचन्दनानन्ता-क्षीरसिद्धं हितं घृतम् ।

नावनं शर्कराद्राक्षा-मधुकैश्चापि पित्तजे ॥ ६४ ॥

कफजे स्वेदितं नस्य-धूमप्रधमनादिभिः ।

शुद्धं प्रलेपपानान्नैः कफघ्नैः समुपाचरेत् ॥ ६५ ॥

पुराणसर्पिषः पानैस्तीक्ष्णैर्वस्तिभिरेव च ।

कफानिलोद्भवे दाहः शेषयो रक्तमोक्षणम् ॥

एरण्डनलदक्षौम-गुग्गुल्वगुरुचन्दनैः ।

धूमवर्त्तिं पिबेद् गन्धैरकुष्ठतगरैस्तथा ॥ ६६ ॥

सन्निपातोद्भवे कार्य्या सन्निपातहरी क्रिया ।

क्रिमिजे चापि कर्त्तव्यं तीक्ष्णं मूर्द्धविरेचनम् ॥ ६७ ॥

शिरसः परिषेचनम् । शीतनावनमाह । त्वक्पत्रेत्यादि । तण्डुलाम्बुपिष्टं
लगादिकं पोष्टलीकृत्यावपीड्य नासापुटे नस्यं देयम् । तस्यानु पश्चात् सर्पिश्च
नस्यं देयमित्येकयोगः । यष्ट्याह्वेत्यादि । घृतात् पादिकं यष्ट्याह्वयनन्तान्तं
कल्कं दत्त्वा चतुर्गुणे क्षीरे सिद्धं घृतं नावनं हितम् । शर्करादिभिश्च नावनं
हितमिति केचित् । तैः कल्कैः सिद्धं घृतं नावनमित्यपरे । इति पित्तज-
शिरोरोगचिकित्सा ॥ ९४ ॥

गङ्गाधरः—अथ कफजशिरोरोगचिकित्सामाह—कफज इत्यादि ।
कफजे शिरोरोगे प्रथमं स्वेदेनोपपन्नं ततो नस्यादिभिः शुद्धं कफघ्नैः
प्रलेपादिभिः समुपाचरेत् । तथा पुराणसर्पिःपानैस्तथा तीक्ष्णैर्वस्तिभिः
समुपाचरेत् । कफानिलोद्भवे शिरोरोगे दाहः । शेषयोः सन्निपात-
क्रिमिजयो रक्तमोक्षणमिति सूत्रम् । धूममाह । एरण्डेत्यादि । अकुष्ठतगरैर्गन्ध-
पेक्षया अल्पमानेनाप्यत्रैकेनापि साधनं कर्त्तव्यम् । श्रुतैर्वा इत्यत्र क्षीरश्रुतैः । सर्पिश्च
नस्यमित्यत्र अवपीड्य पश्चात् सर्पिषा नस्यं देयम् ॥ ९३—९५ ॥

चक्रपाणिः—कफानिलोद्भवे दाह इत्यत्र कफोद्भवे अनिलोद्भवे च । सुश्रुतवचनात् कलाद-
वाङ्मन्त्रे दाहः कर्त्तव्यः । उक्तं हि सुश्रुते—शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु कलादप्रदेशे दाहः ।

त्वग्दन्तीव्याघ्रकरज-विडङ्गनवमालिकाः ।

अपामार्गफलं वीजं नक्तमालशिरीषयोः ।

क्षवकोऽश्मन्तको बिल्वं हरिद्रा हिङ्गु यूथिका ।

फणिज्झकश्च तैस्तैलमवीमूत्रे चतुर्गुणे ।

सिद्धं स्यान्नावनं चूर्णञ्चैषां प्रथमनं भवेत् ॥ ६८ ॥

फलं शिग्रु करञ्जाभ्यां सव्योषं चावपीडकः ।

कषायः स्वरसः क्षारश्चूर्णं कल्कोऽवपीडकः ।

शुक्ततित्तकटुचौद्र-कषायैः कवलग्रहः ॥ ६९ ॥

धूमः प्रथमनं शुद्धिरधश्छर्दनलङ्घने ।

भोज्यश्च मुखरोगेषु यथास्वं दोषनुद्धितम् ॥ १०० ॥

द्रव्यैरुक्तां वर्त्ति धूमं पिबेत् । सन्निपाते सन्निपातहरी क्रिया च कार्य्या । क्रिमिजे शिरोरोगे तीक्ष्णं शिरोविरेचनं कार्य्यम् ॥ ९५—९७ ॥

गङ्गाधरः—त्वगित्यादि । त्वग् गुडत्वक् । व्याघ्रकरजो व्याघ्रनखः । नवमालिका नवमल्लिका । नक्तमालशिरीषयोर्वीजम् । क्षवको द्रुचिका । अश्मन्तक अम्ल-लोटकः । फणिज्झकः पर्णासभेदः । त्वगादिभिरेतैः कल्कैः पादिकैश्चतुर्गुणे मेषीमूत्रे सिद्धं तैलं नावनं भवेदेवमेषां त्वगादीनां चूर्णं प्रथमनं द्विमुखनलिका-च्छिद्रे क्षिप्त्वा नासापुटे दद्यात् फूत्कारेण ॥ ९८ ॥

गङ्गाधरः—फलमित्यादि । शिग्रु करञ्जाभ्यां फलं सव्योषं गृहीत्वा जलेन पिष्ट्वाऽवपीडको देयः । तथा तेषां शिग्रु फलादीनां कषायः स्वरसः क्षारश्चूर्णश्च कल्कश्चावपीडो देयः । कवलग्रहश्च शुक्तादिभिः कार्य्य इति सङ्क्षेपेण शिरोरोगचिकित्सितमुक्तम् ॥ ९९ ॥

गङ्गाधरः—अथ मुखरोगचिकित्सितमाह—धूम इत्यादि । अधःशुद्धि-विरेचनम् । यथास्वं दोषनुद्भोज्यश्च मुखरोगेषु हितम् ॥ १०० ॥

भकुष्ठतगररिति अगुर्व्वीदिगन्धैः । कुष्ठतगरवर्जनञ्चात्र मस्तुलुङ्गस्त्राववर्जनार्थम् । उक्तञ्च शालाक्ये—‘न तु कुष्ठं स्नाययतो धूमवर्त्तिं प्रयोजयेत् । मस्तुलुङ्गं प्रकर्षेण तस्मात् तं नैव योजयेत्’ इति शिरोरोगचिकित्सा ॥ ९६—९९ ॥

यवक्षारं पिप्पलीञ्च सदाव्वीत्वग् रसाञ्जनम् ।
 पाठां तैजोवतीं पथ्यां समभागानि चूर्णयेत् ॥
 सक्षौद्रं धारयेदेतत् मुखरोगेषु बुद्धिमान् ।
 सोधुमाधवमाध्वीकैः श्रेष्ठोऽयं कवलग्रहः ॥
 तैजोह्वामभ्यां मूर्व्यां समङ्गां कटुकीं घनम् ।
 पाठां रसाञ्जनं लोध्रं दाव्वीं कुष्ठञ्च चूर्णयेत् ।
 दन्तानां घर्षणं रक्त-स्त्रावकण्डूरुजापहम् ॥
 पञ्चकोलकतालीश-पत्रैलामरिचत्वचः ।
 पलाशमुष्ककक्षार-यवक्षाराश्च चूर्णिताः ॥
 गुडे पुराणे द्विगुणे कथिते गुड़िकाः कृताः ।
 कर्कन्धुमात्राः सप्ताहं स्थिता मुष्ककभस्मनि ।
 कण्ठरोगेषु सर्वेषु धार्याः स्युरमृतोपमाः ॥ १०१ ॥
 गृहधूमो यवक्षारः पाठा व्योषं रसाञ्जनम् ।
 तैजोह्वा त्रिफला लोध्रं चित्रकञ्चेति चूर्णितम् ॥
 सक्षौद्रं धारयेदेतद् गलरोगविनाशनम् ।
 काणकं * नाम तच्चूर्णं दन्तास्यगलरोगनुत् ॥ १०२ ॥

गङ्गाधरः—यवक्षारमित्यादि । यवक्षारादिकं समभागेन चूर्णीकृत्य क्षौद्रेण
 गोलयित्वा मुखे धारयेत् । सीधुप्रभृतिभिः कवङ्ग्रहः श्रेष्ठः । तैजोह्वादिकं
 चूर्णयित्वा दन्तवेष्टेभ्यो रक्तस्त्रावकण्डूरुजापहं तेन दन्तानां घर्षणम् । पञ्च-
 कोलेत्यादि । पलाशादीनां क्षाराः पञ्चकोलादीनां चूर्णाद् द्विगुणे पुराणगुडे
 कथिते पक्वे गुड़िकाः कर्कन्धुमात्राः कृताः मुष्ककस्य भस्मनि सप्ताहं
 स्थितास्ततः परं सर्वेषु कण्ठरोगेषु धार्याः स्युः ॥ १०१ ॥

गङ्गाधरः—गृहेत्यादि । गृहधूमादिकं समं सर्वं चूर्णितं कृत्वा क्षौद्रेणा-
 लोच्य मुखे धारयेदिति । काणकं चूर्णम् ॥ १०२ ॥

चक्रपाणिः—शुद्धिरधः इति विरेचनम् । दाव्वीत्वगिति दाव्वीस्त्वग् । रुजापहमिति

मनःशिला यवचारो हरितालं ससैन्धवम् ।
 दाव्वीत्वक् चेति तच्चूर्णं माक्षिकेण समायुतम् ॥
 मूर्च्छितं घृतमण्डेन कण्ठरोगेषु धारयेत् ।
 मुखरोगेषु च श्रेष्ठं पीतकं नाम कीर्तितम् ॥ १०३ ॥
 मृद्वीका कटुका व्योषं दाव्वीत्वक् त्रिफला घनम् ।
 पाठा रसाञ्जनं मूर्वा तेजोह्वा चेति चूर्णितम् ॥
 क्षौद्रयुक्तं विधातव्यं गलरोगे भिषग्जितम् ।
 योगास्त्वेते त्रयः प्रोक्ता वातपित्तकफापहाः ॥ १०४ ॥
 कटुकातिविषापाठा-दारुमुस्तकलिङ्गकाः ।
 गोमूत्रकथिताः पेयाः कण्ठरोगविनाशनाः ॥
 स्वरसः कथितो दाव्व्या घनीभूतो रसक्रिया ।
 सक्षौद्रा मुखरोगासृग्-दोषनाडीव्रणापहा ॥ १०५ ॥

गङ्गाधरः—मनःशिलेत्यादि । मनःशिलादिदाव्वीत्वगन्तं चूर्णयित्वा माक्षिकेणालोड्य घृतमण्डेन मूर्च्छितं मर्दितं कण्ठरोगेषु धारयेदिति । पीतकं चूर्णम् ॥ १०३ ॥

गङ्गाधरः—मृद्वीकेत्यादि । मृद्वीकादिकं समांशं चूर्णयित्वा क्षौद्रयुक्तं गलरोगे धार्यम् । योगास्तु य एते त्रयः काणक-पीतक-मृद्वीकादिचूर्णास्ते वातपित्तकफापहाः प्रोक्ताः ॥ १०४ ॥

गङ्गाधरः—कटुकेत्यादि । कटुकादयः षट् गोमूत्रे कथिताः पेया एक एव योगः । स्वरस इत्यादि । दाव्व्याः स्वरसः कथित एव पुनः पक्त्वा घनीकृतो रसक्रिया नाम भवति । सा रसक्रिया सक्षौद्रा मुखरोगाद्यपहा ॥ १०५ ॥

रोगपीडाहरम् । पञ्चकोलेत्यादौ चूर्णसमुदायात् गुडो द्विगुणः । कर्कशधूम्राणां इत्यष्टमाषकसानाः । केचित् रोधस्थाने लोहं पठति । तथोक्तं हि सुश्रुते—‘पाठां रसाञ्जनं व्योषं तेजोह्वात्रिफलाश्विक्कम् । गृहभूमयवक्षारं शस्तं चूर्णं तु कालकमिति । वातपित्तकफापहा इति प्रत्येकम् । कालक-पीतक-मृद्वीकादयस्त्रयो योगास्त्रिदोषहराः । रसक्रियेति घनीभूतरसस्य संज्ञा ॥ १००—१०५ ॥

तालुशोषे सतृष्णस्य सर्पिरौत्तरभक्तिकम् ।

नावनं मधुराः स्निग्धाः शोताश्चैव रसा हिताः ॥ १०६ ॥

मुखपाके सिराकर्म शिरःकायविरेचनम् ।

मूत्रतैलघृतक्षीर-क्षौद्रैश्च कवलप्रहाः ॥

सक्षौद्रपाठामृद्वोका-त्रिफलाजातिपल्लवाः ।

कषायतिक्तकाथाश्च शीताः स्युर्मुखधावनाः ॥ १०७ ॥

तुलां खदिरसारस्य द्वितुलामरिमेदसः ।

प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥

द्रोणशेषं कषायञ्च पक्त्वा भूयः पचेच्छनैः ।

ततस्तस्मिन् धनीभूते चूर्णीकृत्याक्षभागिकम् ॥

गङ्गाधरः—तालुशोष इत्यादि । औत्तरभक्तिकं सपिः पीत्वा भक्तं भुञ्जीत ।

एवं नावनं हितम् । मधुरस्निग्धशीता मांसरसा भोजने हिताः ॥ १०६ ॥

गङ्गाधरः—मुखपाक इत्यादि । सिराकर्म सिरावेधः । शिरोविरेचनम्, कायविरेचनञ्च द्विविधं वमनं विरेचनञ्च । गोमूत्रादीनामेकैकेन कवद्वग्रहश्च मुखपाके कार्यः । सक्षौद्रेत्यादि । जात्याः पल्लवाः पाठादयः कथिता मधुयुक्ता मुखधावनाः स्युस्तथा कषायतिक्तद्रव्याणां काथाश्च शीता मुखधावनाः स्युः ॥ १०७ ॥

गङ्गाधरः—तुलामित्यादि । खदिरसारस्य श्वेतखदिरसारस्य तुलां न तु वज्जोलस्य । अरिमेदसो विट्खदिरस्य सारस्य द्वितुलाम् । तिस्रस्तुलास्त्रिषु द्रोणेषु अम्भसः पक्त्व्याः स्युः 'तुलाद्रव्ये जलद्रोण' इत्युक्तेस्तत्राह चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेदिति । द्रोणशेषं तं कषायं पूत्वा भूयः शनैः पचेत् । धनीभूते तस्मिन्

चक्रपाणिः—तालुशोष इत्यादौ सतृष्णस्येतिपदेन तृष्णायुक्तस्य तालुशोष औत्तरभक्तिकमपि सर्पिःपानं न निषेधयति । तालुशोषे च तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिण इत्यादिना यद्यपि स्नेहपानं विधिद्वयं, तथापिह औत्तरभक्तिकं सर्पिश्च विशेषविधानात् कर्तव्यमेव । सिरा-कर्मस्ति सिराव्यधनम् । तच्च सुश्रुतवचनात् तालुनि जिह्वायाञ्च कर्तव्यम् ॥ १०६ । १०७ ॥

चक्रपाणिः—तुलामित्यादिना खदिरादिगुटिकामाह । द्वितुलामरिमेदसो विट्खदिरस्य खदिर-

चन्दनं पद्मकोशीरं मञ्जिष्ठाधातकीघनम् ।
 प्रपौण्डरीकं यष्ट्याह्वं त्वगेलापद्मकेशरम् ॥
 लाक्षारसाञ्जनं मांसी-त्रिफलालोध्रबालकम् ।
 रजन्यौ फलिनीमेलानां समङ्गां कट्फलं वचाम् ॥
 यवासागुरुपत्तङ्ग-गैरिकाञ्जनमावपेत् ।
 लवङ्गजातीकक्कोल-जातीकोषान् पलोन्मितान् ॥
 कर्पूरकुड्मवश्चापि क्षिपेत् शीतैऽवतारितैः ।
 ततस्तु गुड़िकाः कार्याः शुष्काश्चास्येन धारयेत् ॥
 तैलश्चानेन कल्केन कषायेण च साधयेत् ।
 दन्तानां चालनध्वंस-सौषिर्यक्रिमिरोगनुत् ॥
 मुखास्यपाकदौर्गन्ध्य-जाड्यारोचकनाशनम् ।
 स्वावोपलेपपैच्छिल्य-वैस्वर्यगलशोषनुत् ॥
 दन्तास्यगलरोगेषु सर्वेष्वेतत् परायणम् ।
 खदिरादिगुड़िकेयं तैलञ्च खदिरादिकम् ॥ १०८ ॥

खदिरादिगुड़िका खदिरादितैलञ्च ।

काथ चन्दनादिकमक्षमात्रं चूर्णयित्वावपेत् । ततोऽवतार्य स्थापयेत् शीते
 सति लवङ्गादीनां प्रत्येकं पलं चूर्णं कर्पूरस्य कुड्मं पुनरावपेत् । ततो गुड़िकाः
 कार्याः शुष्काश्चास्येन धारयेदिति । खदिरगुड़िका । तैलञ्चेत्यादि ।
 अनेन चन्दनाद्यञ्जनान्तेन कल्केन पादिकेन । खदिरविट्खदिरयोः सारस्य
 कषायेण चतुर्गुणेन तैलञ्च साधयेदिति कश्चिदाह । परिमाणमपि खदिरसारस्य
 तुला विट्खदिरसारस्य द्वितुलेति पूर्वोक्तं तुलात्रयं चतुर्द्रोणजले काथयेत्
 पादशेषे तस्मिन् काथे चतुर्गुणे तलाढकम्, चन्दनादीनामञ्जनान्तानामक्षमात्रं
 प्रत्येकं कल्कं दत्त्वा पचेत्, लवङ्गादीनां पलमात्रं कर्पूरस्य कुड्ममानश्च पूते शीते
 तत्र कल्क इत्याह । इति खदिरतलम् । अनयोर्गुणानाह दन्तास्येत्यादि ॥ १०८ ॥

सारस्य तु तुला विभक्ता एव । पत्तङ्गं रक्तचन्दनम् । लवङ्गादीनाम् अल पलमानत्वम् ।
 दन्तास्यगदरोगा पृथक् शालाक्योक्ता ज्ञेयाः । परायणमिति परमयनं श्रेष्ठं भेषजार्मात यावत् ।
 इति मुखरोगचिकित्सा ॥ १०८ ॥

अरुचौ कवलग्रहाः धूमाः समुखधावनाः ।

मनोज्ञमन्नपानञ्च हर्षणाश्वासनानि च ॥

कुष्ठसौवर्चलाजाजी-शर्करामरिचं विडम् ।

धात्रां लापन्नकोशीर-पिप्पलीचन्दनोत्पलम् ॥

लोध्रं तैजोवती पथ्या त्रूषणं सयवाग्रजम् ।

आर्द्रदाडिमनिर्यासश्चाजाजीशर्करायुतः ॥

सतैलमाक्षिका एते चत्वारः कवलग्रहाः ।

चतुरोऽरोचकान् हन्युर्वातादेरकजसर्वजान् ॥ १०६ ॥

कारव्यजाजीमरिचं द्राक्षावृक्षाम्लदाडिमम् ।

सौवर्चलं गुडः क्षौद्रं सर्वारोचकनाशनम् ॥ ११० ॥

वस्तिः समीरणे पित्ते विरेको वमनं कफे ।

कुर्याद् हृद्यानुकूलानि हर्षणञ्च मनोग्नजे ॥ १११ ॥

ञ्च ।

पयेत् शीते
तो गुडिकाः
ञ्चेत्यादि ।
ोः सारस्य
दिरसारस्य
छे काथयेत्
नामक्षमात्रं
धूते शीते
दि ॥ १०८ ॥

लमानत्वम् ।
मात यावत् ।

गङ्गाधरः—अथारुचिचिकित्सितमाह—अरुचावित्यादि । कवङ्ग्रहादयः
कार्या मनोज्ञमन्नपानं कार्यम् । कुष्ठेत्यादि । कुष्ठादिविद्वान्त एकः
कवङ्ग्रहः । धात्रादुत्पलान्तोऽपरः । लोधादियवाग्रजान्तस्तृतीयः । आर्द्र-
दाडिमनिर्यासादिशर्करान्तश्चतुर्थः । चतुर्वेव तैलमाक्षिके देये भवतः । चतुर
इति यथाक्रमं वाताद्यरोचकान् ॥ १०९ ॥

गङ्गाधरः—कारवीत्यादि । कारवी कृष्णजीरकमजाजी जीरकम् । वृक्षाम्लं
तिन्त्रिहीकम् । क्षौद्रान्तानि सर्वाणि समानि ॥ ११० ॥

गङ्गाधरः—वस्तिरित्यादि । मनोग्नजेऽरोचके हृद्यान्यनुकूलानि कम्पाणि
(चतुरोचकचिकित्सा) ॥ १११ ॥

चक्रपाणिः—अरोचकचिकित्सामाह—कुष्ठेत्यादिना । अर्द्धश्लोकोक्ताश्चत्वारो योगाः वातपित्त-
कफसन्निपातजेषु अरोचकेषु क्रमात् ज्ञेयाः ॥ १०९—१११ ॥

सर्पीं व्युपरिभक्तानि स्वरभेदेऽनिलात्मके ।
 चतुष्प्रयोगैस्तैस्तैश्च बलारास्नामृताह्वयैः ॥
 बर्हितित्तिरिदक्षाणां पञ्चमूलीशृतान् रसान् ।
 मायूरक्षीरसर्पिर्वा पिबेत् त्रूषणमेव वा ॥
 पैत्तिके तु विरेकः स्यात् पयश्च मधुरैः शृतम् ।
 सर्पिर्गुडो घृतं तिक्तं जीवनीयं वृषस्य वा ॥
 कफजे स्वरभेदे तु तीक्ष्णं मूर्ध्वविरेचनम् ।
 विरेको वमनं धूमो यवान्नकटुसेवनम् ॥
 भार्गीवचाभयाव्योष-क्षारमाक्षिकचित्रकान् ।
 लिह्यात् पिप्पलीपथ्ये वा तीक्ष्णं मद्यं पिबेच्च सः ॥
 रक्तजे स्वरभेदे तु संस्कृता जाङ्गला रसाः ।
 द्राक्षाविदारीक्षुरसाः सक्षौद्रघृतशर्कराः ॥

गङ्गाधरः—सुखरोगविशेषत्वात् स्वरभेदरोगचिकित्सितमाह—सर्पींषी-
 त्यादि । अनिलात्मके स्वरभेदे उपरिभक्तानि सर्पींषि तथा बलारास्ना-
 मृताह्वयैस्तैस्तैः काथचूर्णलेहकवद्ग्रहैश्चतुःप्रयोगैरुपाचरेदिति । बर्हीत्यादि ।
 पञ्चमूलीकाथशृतान् बर्हिप्रभृतीनां मांसरसान् पिबेत् । मायूरसर्पिः क्षीरसर्पिर्वा
 पिबेदथवा त्रूषणं पिबेत् । पैत्तिक इत्यादि । मधुरैर्मधुरवर्गैः । सर्पिर्गुड
 इत्यादि । सर्पिर्गुडः क्षतरोगचिकित्सितोक्तः । तिक्तं घृतं जीवनीयं घृतं
 वृषस्य घृतम् । कफज इत्यादि । यवान्नकटुसेवनं यवान्नसेवनं कटुद्रव्यसेवनञ्च ।
 भार्गीत्यादि । भार्ग्यादिचित्रकान्तं चूर्णीकृत्य मधुना लिह्यात् । अथवा
 पिप्पलीपथ्ये चूर्णीकृत्य पिबेत् । तीक्ष्णं वा मद्यं पिबेत् । रक्तज इत्यादि ।
 संस्कृताः घृते सम्भृष्टा जाङ्गला रसाः एवं द्राक्षादिस्वरसाः प्रत्येकं क्षौद्रघृतशर्करा-

चक्रपाणिः—सर्पीं व्युपरिभक्तानीत्यादिना स्वरभेदचिकित्सामाह । वातादिस्वरभेदलक्षणं यद्यपीह
 नोक्तम्, तथापि राजयक्ष्मचिकित्सोक्तमेव बोद्धव्यम् । यद्यपि तत्र चिकित्सोक्ता, तथापि इह स्वरभेद-
 स्याधिकृतत्वात् पुनरप्युच्यते । चतुष्प्रयोगैरिति अभ्यङ्गगण्डूषलेहमस्तुप्रयोगैः । बलारास्नामृताह्वयैः
 वातव्याधौ वक्ष्यमाणैः । जीवनीयघृतं वातरक्ते वक्ष्यमाणम् । वृषघृतं रक्तपित्तचिकित्सोक्तम् ।

यच्चोक्तं क्षयकासघ्नं तच्च सर्वं चिकित्सितम् ।

रक्तजस्वरभेदघ्नं सिराव्यधनमेव च ॥

सन्निपाते हिताः सर्वाः क्रिया न तु सिराव्यधः ।

इत्युक्तं स्वरभेदस्य समासेन चिकित्सितम् ॥ ११२ ॥

अथ वक्ष्ये समासेन कर्णरोगचिकित्सितम् ।

कर्णशूले तु वातघ्नी हिता पीनसवत् क्रिया ।

प्रदेहाः पूरणं नस्यं पाके स्नावे व्रणक्रिया ।

भोज्यानि च यथादोषं दद्यात् स्नेहांश्च पूरणान् ॥ ११३ ॥

बालमूलकशुण्ठानां चारो हिङ्ग सनागरम् ।

शतपुष्पा वचा कुष्ठं दारु शिग्रु रसाञ्जनम् ॥

सौवर्चलं यवक्षारः स्वर्ज्जिकोद्भिदसैन्धवम् ।

भूर्जग्रन्थिर्विडं मुस्तं मधुशुक्तं चतुर्गुणम् ॥

युक्ताः । यच्च क्षयकासघ्नमुक्तं तत् सर्वं रक्तजस्वरभेदघ्नं तथा सिराव्यधनमपि । सन्निपाते स्वरभेदे सर्वाः क्रियाः कार्य्या, न तु सिराव्यधः कार्य्य इति । (स्वरभेदचिकित्सा) ॥ ११२ ॥

गङ्गाधरः—इति मुखरोगचिकित्सितमुक्त्वा कर्णरोगचिकित्सामाह— कर्णशूल इत्यादि । वातपीनसे या वातघ्नी क्रियोक्ता सा कर्णशूले हिता । प्रदेहादिनस्यान्तश्च वातघ्नं हितम् । कर्णस्य पाके स्नावे च व्रणवत् क्रिया कार्य्या । यथादोषं भोज्यानि च दद्यात् कर्णपूरणान् स्नेहांश्च दद्यात् ॥ ११३ ॥

गङ्गाधरः—पूरणस्नेहमाह—बालेत्यादि । बालमूलकं शुष्कीकृत्य दग्ध्वा क्षारः कार्य्यः स च हिङ्ग च नागरश्च । स्वर्ज्जिकाक्षार औद्भिदं लवणमुत्कारिका लवणम् । मुस्तान्तः कल्कः, मधुशुक्तं मधुप्रधानं शुक्तं चतुर्गुणम्, मधुशुक्तं

रक्तजे स्वरभेदे च इति रक्तघ्नं स्वरभेदघ्नं चिकित्सितमिति सम्बन्धः । इति स्वरभेद-चिकित्सा ॥ ११२ ॥

चक्रपाणिः—बालमूलकशुण्ठीत्यत्र क्षारवत् तैलम् । मधुशुक्तं चतुर्गुणमिति मधुप्रधानं शुक्तं चतुर्गुणम् । शुक्तञ्च शुचौ भाण्डे द्रवनागरधान्ययुक्तं तिरासस्थं तत्र शुक्तमुच्यते ।

मातुलुङ्गरसश्चैव कदल्या रस एव च ।
 तैलमेभिर्विपक्तव्यं कर्णशूलहरं परम् ॥
 बाधिर्यं कर्णनादश्च पूयस्त्रावश्च दारुणः ।
 पूरणादस्य तैलस्य क्रिमयः कर्णमाश्रिताः ॥
 क्षिप्रं प्रणाशं गच्छन्ति कृष्णात्रेयस्य शासनात् ।
 क्षारतैलमिदं श्रेष्ठं मुखदन्तामयापहम् ॥ ११४ ॥
 हिङ्गुतुम्बुरुशुण्ठीभिः साध्यं तैलन्तु सार्षपम् ।
 कर्णशूले प्रधानन्तु पूरणं हितमुच्यते ॥ ११५ ॥
 देवदारुवचाशुण्ठी-शताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ।
 तैलं सिद्धं वस्तमूत्रे कर्णशूलनिवारणम् ॥ ११६ ॥
 वराटकान् समाहृत्य दध्वा मृद्भाजने शुभे ।
 तद्भस्म स्त्रावयित्वा तु गन्धतैलं विपाचयेत् ॥

यथा—“जम्बीराणां फलरसः प्रस्थैकः कुडवोन्मितम् । माक्षिकं तत्र दातव्यं
 पलैका पिप्पली मता । एतदेकीकृतं सर्वं मधुभाण्डे विनिक्षिपेत् । धान्यराशौ
 स्थितं मासं मधुशुक्तं तदुच्यते ॥” मातुलुङ्गरसश्च तैलाच्चतुर्गुणः कदल्याः
 कन्दस्य रसश्च तैलाच्चतुर्गुणः, एभिस्तैलं विपक्तव्यम् । क्षारतैलम् ॥ ११४ ॥

गङ्गाधरः—हिङ्गित्यादि । हिङ्गुादित्रयं कल्कश्चतुर्गुणश्च जलम् ॥ ११५ ॥

गङ्गाधरः—देवदार्वित्यादि । देवदार्वीदिसैन्धवान्तः कल्कश्चतुर्गुणे वस्त-
 मूत्रे सिद्धं तैलम् ॥ ११६ ॥

गङ्गाधरः—वराटकानित्यादि । मृद्भाजने स्थापयित्वा वराटकान् दध्वा
 तेषां भस्म चतुर्गुणे जले षड्गुणे वा एकविंशतिवारान् स्त्रावयित्वा चतुर्गुणे

मातुलुङ्गकदलीरसौ तैलसमौ । यच्चोक्तं जतूकण—‘मधुनः शुक्तग्रहणेनैव गृहीतत्वाद् शुक्ल-
 मूलकशताह्वाद्विधारवचाचतुर्लवणकुष्ठदारुसाजननागरशोभाजनहिङ्गुघनभृङ्गैः मातुलुङ्गकदली-
 रसैश्चतुर्गुणैः शुक्तैस्तैलं विपक्तं बाधिर्यशूलजन्तुघ्नम् ॥ ११३—११६ ॥

तत् तैलं भिषजा योज्यं विधिना कर्णपूरणे ।

रसाञ्जनस्य शुण्ठाश्च कल्काभ्यां कर्णशूलनुत् ॥ ११७ ॥

मुखकर्णाक्षिरोगेषु यथोक्तं पीनसे विधिम् ।

कुर्याद् भिषक् समीक्ष्यादौ दोषकालबलावलम् ॥ ११८ ॥

उत्पन्नमात्रे तरुणे नेत्ररोगे विडालकः ।

कार्यो दाहोपदेहाश्रु-शोफरागनिवारणः ॥

नागरं सैन्धवं सर्पिर्मण्डेन च रसक्रिया ।

निघृष्टं वातजे तद्वन्मधुसैन्धवगैरिकम् ॥

तथा सावरकं लोधं घृतभृष्टं विडालकम् ।

कार्या हरीतकी तद्वत् घृतभृष्टा रुजापहा ॥ ११९ ॥

तस्मिन् क्षारजले गन्धतैलं गान्धिकैः कृतं पुष्पवासितं तैलं रसाञ्जनशुण्ठाः
कल्काभ्यां विपाचयेत् । गन्धतैलम् ॥ ११७ ॥

गङ्गाधरः—मुख्यादि । पीनसे यथोक्तं यस्य दोषस्य यो विधिरुक्तस्तं
विधिं मुख्यादिरोगेषु दोषकालबलावलमादौ समीक्ष्य भिषक् कुर्यात् ।
इति कर्णरोगचिकित्सा ॥ ११८ ॥

गङ्गाधरः—इति कर्णरोगचिकित्सितमुत्तमा क्रमिकलादक्षिरोगचिकित्-
सितमाह—उत्पन्नमात्र इत्यादि । विडालकः “शालाक्याङ्गोऽक्ष्णोर्वहिलैपो
विडालकसंज्ञः” । नागरमित्यादि । नागरचूर्णं यावत् तावच्च सैन्धवं यावता
सर्पिर्मण्डेन द्रवीभूय निघृष्ट्यते तावता निघृष्टं रसक्रिया वातजे नेत्ररोगे विडालकं
दद्यादेधं मधु च सैन्धवश्च गैरिकश्च निघृष्टं रसक्रिया नेत्रे विडालकं दद्यात् ।
तथा सावरकं पट्टिकाख्यं श्वेतलोध्रं घृतभृष्टं विडालकं दद्यात् । तथा हरीतकी
घृते भृष्टा कार्या विडालकं दद्यात् ॥ ११९ ॥

चक्रपाणिः—वराटकानित्यत् तदभस्मेति वराटकदाहभस्म गालयेत् । गन्धतैलमिति सुगन्ध-
द्रव्यकल्कयुक्तं तैलम्, किंवा गन्धद्रव्याधिवासितं तैलम् ॥ ११७ ॥ ११८ ॥ इति कर्णरोगचिकित्सा ।

चक्रपाणिः—उत्पन्नमात्रे इत्यादिना नेत्ररोगचिकित्सितमाह । विडालकः नेत्रवहिलैपः
शालाक्ये उच्यते । निघृष्टमित्यादौ तद्वदिति रसक्रियावदित्यर्थः । हरीतत्वात् हरीतकीघृतयुक्तो

पैत्तिके चन्दनानन्ता-मञ्जिष्ठाभिर्विडालकः ।

कार्यः पद्मकयष्टाह-मांसोकालीयकैस्तथा ॥

रोचनामुस्तलवण-गैरिकैश्च रसक्रिया ।

कफे कार्यस्तथा दौद्रं प्रियङ्गुः समनःशिला ॥

सन्निपाते तु सर्वैः स्याद् वहिरक्षणोः प्रलेपनम् ।

प्रक्षाल्य स्पृशता कार्यं सम्यक् नेत्राञ्जनं त्रहात् ॥ १२० ॥

आश्च्योतनं मारुतजे काथो बिल्वादिभिर्हितम् ।

कोष्णः सैरण्डवृहतो-तकारीमधुशिग्रुभिः ॥

द्राक्षादाव्वीसमञ्जिष्ठ-लाक्षाद्रिमधुकोत्पलैः ।

काथः सशर्करः शीतः पूरणं रक्तपित्तनुत् ॥

गङ्गाधरः—अथ पैत्ते नेत्ररोग आह—पैत्तिके इत्यादि । जलन पिष्टाभिश्चन्द-
नादिभिर्विडालकः पैत्तिकेऽक्षिरोगे कार्यः । तथा पद्मकादिभिर्विडालकः
कार्यः । तथा रोचनादिभिस्तु रसक्रिया कार्या । द्रवेण घृष्ट्वा पक्त्वा घनी-
कृता रसक्रियोच्यते । अथ कफजेऽक्षिरोगे लाह—कफ इत्यादि । प्रियङ्गु-
मनःशिले द्वे समे मधुना पिष्ट्वा विडालकः कार्यः । सन्निपाते तु नेत्ररोगे
सर्वैर्वातादिप्रत्येकदोषोक्तैर्मिलितैरक्ष्णोर्वहिः प्रलेपनं स्यात् । प्रक्षाल्येत्यादि ।
एवं वहिरालेपनं त्रहं दत्त्वा त्रहात् परं प्रक्षाल्य चक्षुषी सम्यक् स्पृशता
नेत्राञ्जनं कार्यम् ॥ १२० ॥

गङ्गाधरः—तदञ्जनमाह—आश्च्योतनमित्यादि । मारुतजे सैरण्डादिभि-
र्विल्वादिभिः पञ्चमूलैः कृतः काथः कोष्ण आश्च्योतनं चक्षुःपूरणं हितम् ।
तकारी जयन्ती । द्राक्षेत्यादि । द्राक्षादिभिः कृतः काथः सशर्करः शीतश्चक्षुषोः

विडालकः । सन्निपाते तु सर्वैरिति प्रत्येकमुक्तविडालकद्रव्यैः प्रलेपनं कार्यमित्यर्थः । नेत्राञ्जनं
त्रहादित्यत्र प्रायोऽक्षिरोगाणां त्रहेण पाकात् त्रहादित्युक्तम् । पाकलक्षणं तन्वान्तरे—
प्रशस्तवर्त्मता चाक्ष्णोः संरम्भाश्रुप्रशान्तता । मन्दवेदनता कण्डूः पक्काक्षिगदलक्षणम् ॥ ११९।१२० ॥

नागरत्रिफलानिम्ब-त्रासालोधरसः कफे ।

कोष्णमाश्च्योतनं मिश्रैर्भेषजैः सान्निपातिके ॥ १२१ ॥

वृहत्पेरण्डमूलत्वक् शिग्रोर्मूलं ससैन्धवम् ।

अजाक्षीरेण पिष्टा स्याद् वृत्तिर्वाताक्षिरोगनुत् ॥

सुमनःक्षारकं शङ्खं त्रिफलां मधुकं बलाम् ।

पित्तरक्तापहा वृत्तिः पिष्ट्वा दिव्येन वारिणा ॥

सैन्धवं त्रिफला व्योषं शङ्खनाभिः समुद्रजः ।

फेनः शैलेयकं सज्जो वृत्तिः श्लेष्माक्षिरोगनुत् ॥

अमृताह्वा विसं बिल्वं पटोलं छागलं शकृत् ।

प्रपौण्डरीकं यष्ट्राहं दाव्वीं कालानुसारिवा ॥

सुधौतं जज्जरीकृत्य हृत्वा चार्द्धपलांशिकान् ।

कर्षश्च शुक्लमरिचाज्जातीपुष्पात् नवात् पलम् ।

चूर्णं कृत्वा त्रिदोषघ्नी वृत्तिर्दृष्टिप्रसादनी ॥ १२२ ॥

पूरणमाश्च्योतनं रक्तपित्तनुत् । द्विमधुकम् अनूपजं (जलजं) स्थलजञ्च । नागरे-
त्यादि । नागरादीनां रसः काथः कोष्णं कफे आश्च्योतनं चक्षुषोः पूरणमिति ।
सान्निपातिकेऽक्षिरोगे मिश्रैरेभिः प्रत्येकदोषोक्तैर्भेषजैराश्च्योतनं कार्यम् ॥ १२१ ॥

गङ्गाधरः—अञ्जनमाह—वृहतीत्यादि । वृहत्पेरण्डशिग्रूणां मूलत्वचः सैन्धवञ्च
अजाक्षीरेण पिष्ट्वा वृत्तिः कार्य्या वाताक्षिरोगनुद् भवत्यञ्जनेन । सुमन
इत्यादि । सुमना मालती तस्याः क्षारं शङ्खं शङ्खनाभिः । सुमनःक्षारकादीनि
दिव्यवारिणा पिष्ट्वा वृत्तिः कार्य्या पित्तरक्ताक्षिरोगापहा । सैन्धवमित्यादि ।
समुद्रजः फेनः समुद्रफेनः शैलेयकं शैलजं सज्जो धूनकः, एभिर्वृत्तिः कार्य्या
श्लेष्माक्षिरोगनुदञ्जनेन । अमृतेत्यादि । अमृताह्वा गुडचो विसं मृणालं छागलं
शकृत् छागपुरीषं कालानुसारिवा अनन्तमूलम् । सर्व्वं सुधौतं कृत्वा

चक्रपाणिः—आश्च्योतनमक्षिसेकः । सुमनसः क्षारं जातीसुमनःक्षारः । श्वेतमरिचं

* शृङ्गं पिष्ट्वा तु मिषजा वृत्तिः कार्य्या प्रयत्नतः । प्रयोक्तव्या त्रिदोषघ्नी वृत्तिर्दृष्टिप्रसादनी ॥

इति पाठान्तरम् ।

शङ्खविद्रुमवैदूर्य-लोहताम्रप्रवास्थिभिः ।
 स्रोतो जश्वेतमरिचैर्वर्त्तिः सर्वाक्षिरोगनुत् ॥
 शाणार्द्धं मरिचाद् द्वौ च पिप्पल्यर्णवफेनयोः ।
 शाणार्द्धं सन्धवाच्छाणं कृत्वा सौवीरकाञ्चनात् ॥
 पिष्टं सुसूक्ष्मं चित्रायां चूर्णाञ्जनमिदं शुभम् ।
 काचकण्डूकफार्त्तानां मलानाञ्च विशोधनम् ॥
 वस्तमूत्रे त्रहं स्थाप्यं विडचूर्णं सुभावितम् ।
 चूर्णाञ्जनं हि तैमिर्य-क्रिमिपित्तमलापहम् ॥
 सौवीरमञ्जनं तुल्यं ताप्यो धातुर्मनःशिला ।
 चक्षुष्या मधुकं लोह-मणयः पौष्पमञ्जनम् ॥
 सैन्धवं शौकरी दंष्ट्रा कण्टकं चाञ्जनं शुभम् ।
 तिमिरादिषु चूर्णं वा वर्त्तिर्वेद्यमनुत्तमा ॥

जर्जरीकृत्य कुट्टयित्वा प्रत्येकमर्द्धपलांशिकान् हत्वा शुक्लमरिचात् शोभाञ्जन-
 वीजात् कर्षश्च हत्वा नवात् नूतनाज्जातिपुष्पात् पलं हत्वा चूर्णं कृत्वा वर्त्तिः
 कार्यो त्रिदोषघ्नी ॥ १२२ ॥

मन्नाधरः—शङ्खेत्यादि । शङ्खः प्रसिद्धः शङ्खनाभिः । लोहरजस्ताम्र-
 रजश्चातिसूक्ष्मं प्लवो भेकस्तस्यास्थि । स्रोतो जो रसाञ्जनं श्वेतमरिचं शोभाञ्जन-
 वीजम् । शाणार्द्धमित्यादि । मरिचाच्छाणार्द्धं पिप्पलीसमुद्रफेनयोर्द्वौ शाणौ
 मिलितयोः प्रत्येकमेकशाणः, सैन्धवाच्छाणार्द्धं सौवीराञ्जनाच्छाणं हत्वा चित्रायां
 नक्षत्रे सुसूक्ष्मं सर्वं पिष्टमिदं चूर्णाञ्जनं शुभम् । चूर्णाञ्जनम् । वस्तमूत्र-
 इत्यादि । विडलवणचूर्णं छागमूत्रे त्रहं स्थाप्यं सुभावितं तच्चूर्णाञ्जनं
 तैमिर्याद्यपहम् । चूर्णाञ्जनम् । सौवीरमित्यादि । सौवीरं सुवीरा यमुना
 तत्र जातमञ्जनं ताप्यं स्वर्णमाक्षिकं धातुः मधुकं लोहमणयः अयस्कान्त-
 मणयः पौष्पमञ्जनं पुष्पकाशीशम्, एते सन्ध चक्षुष्याः । सैन्धवमित्यादि ।

शोभाञ्जनवीजं पुष्पं पुष्पाञ्जनं प्लवः पक्षिविशेषः द्वौ च पिप्पल्यर्णवफेनौ शाणावित्यर्थः । त्रिनाशाय

कतकस्य फलं शङ्खः सन्धवं त्रूषणं सिता ।
 फेनो रसाञ्जनं क्षौद्रं विडङ्गानि मनःशिला ॥
 कुक्कुटाण्डकपालानि वर्त्तिरेषा व्यपोहति ।
 तिमिरं पटलं काचं मलञ्चाशु सुखावती ॥ १२३ ॥

सुखावती वर्त्तिः ।

त्रिफला कुक्कुटाण्डत्वक् काशीशमयसो रजः ।
 नोलोत्पलं विडङ्गानि फेनश्च सरितां पतेः ॥
 आजेन पयसा पिष्ट्वा भावयेत् ताम्रभाजने ।
 सप्तरात्रं स्थितं भूयः पिष्ट्वा क्षीरेण वर्त्तयेत् ॥
 एषा दृष्टिप्रदा वर्त्तिरन्धस्याभिन्नचक्षुषः ।
 नेत्राञ्जनेन विधिना भिषजा संप्रयोजिता ॥ १२४ ॥

दृष्टिप्रदा वर्त्तिः ।

वदने कृष्णसर्पस्य निहितं मासमञ्जनम् ।
 ततस्तस्मात् समुद्धृत्य सुशुष्कं चूर्णयेद् बुधः ॥

शौकरी दंष्ट्रा शूकरस्य दंष्ट्रा । कण्टकं शाल्मल्याः, तिमिरादिषु एतच्चूर्णं
 शुभमञ्जनमेवञ्चेषां वर्त्तिरुत्तममञ्जनम् । कतकस्येत्यादि । कतकं जल-
 शोधनफलं निम्मीलीति लोके । शङ्खः शङ्खनाभिः । फेनः समुद्रफेनः ।
 कतकफलादीनि जलेन पिष्ट्वा वर्त्तिः कार्या । सुखावती वर्त्तिः ॥ १२३ ॥

गङ्गाधरः—त्रिफलेत्यादि । काशीशं धातुकाशीशं सरितां पतेः फेनः समुद्र-
 फेनः । आजेनैव पयसा सप्तरात्रं ताम्रभाजने भावयेत् । भूयश्चाजेन क्षीरेण
 पिष्ट्वा वर्त्तयेत् । दृष्टिप्रदा वर्त्तिः ॥ १२४ ॥

गङ्गाधरः—वदनं इत्यादि । कृष्णसर्पस्य वदने रसाञ्जनं मासमेकं निहितं

सुमनःचारकैः शुष्कैरर्द्धांशैः सैन्धवेन च ।
 एतन्नेत्राञ्जनं कार्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम् ॥
 पिप्पल्यः किंशुकसो वसा सर्पस्य सैन्धवम् ।
 घृतञ्च जीर्णं सर्वाक्षि-रोगघ्नो स्याद्रसक्रिया ॥
 शस्ता सर्वाक्षिरोगेषु काचाव्वुदमलेषु च ।
 धात्रीरसाञ्जनचौद्र-सर्पिर्भिस्तु रसक्रिया ।
 पित्तरक्ताक्षिरोगघ्नो तैमिर्यपटलापहा ॥ १२५ ॥
 खालित्ये पलिते बल्यां हरिलोम्नि च साधितुम् ।
 तैलैर्नस्यैः शिरोवक्त्र-प्रदेहैश्चाप्युपाचरेत् ॥ १२६ ॥
 सिद्धं विदारिगन्धाद्यैर्जीवनीयैरथापि वा ।
 नस्यं स्यादणुतैलं वा खालित्यपलितापहम् ॥

स्थापयेत् । ततो मासादूर्द्ध्वं समुद्धृत्य सुशुष्कं चूर्णयेत् । तस्य रसाञ्जन-
 चूर्णस्यार्द्धांशैर्मालतीपुष्पस्य क्षारः सैन्धवेन चार्द्धांशेन मिश्रितमेतन्नेत्राञ्जनं
 कार्यम् । पिप्पल्य इत्यादि । पलाशस्य मूलछेदोद्भवो रसः सर्पस्य वसा
 स्नेहः जीर्णं पुराणं घृतं सर्वमेकीकृत्य घृष्टं रसक्रियानाम नेत्राञ्जनम् ।
 धात्रीत्यादि । धात्र्या आमलक्या रसस्तत्र रसाञ्जनक्षौद्रसर्पींषि दत्त्वा घृष्टं
 रसक्रियानाम नेत्राञ्जनम् । इति नेत्ररोगचिकित्सा ॥ १२५ ॥

गङ्गाधरः—इति नेत्ररोगचिकित्सितमुत्त्वा खालित्यादिचिकित्सित-
 माह । खालित्ये पलिते बल्यां श्लथचर्मणि हरिलोम्नि च साधितुं खालि-
 त्यादिसाधनार्थं तैलादिभिस्तं तं पुरुषमुपाचरेत् ॥ १२६ ॥

गङ्गाधरः—तत्रादौ तैलमाह—सिद्धमित्यादि । विदारिगन्धादिभिः शाल-
 पर्ण्यादिभिः पञ्चमूलैः कल्कैश्चतुर्गुणजले सिद्धं तैलमथवा जीवनीयैर्दशभिः
 कल्कैश्चतुर्गुणजले सिद्धं तैलं तस्याशीतीयोक्तमणुतैलं वा खालित्यपलितापहं

इति विज्ञानक्षत्रे । ताप्यो धातुः तापीनदीभवः । चक्षुष्या वनकुलस्थिका । पौष्पमञ्जनं
 पुष्पाञ्जनम् । अभिज्ञचक्षुष इति अभिज्ञपाकस्य ॥ १२१—१२५ ॥ इति नेत्ररोगचिकित्सा ।

चक्रपाणिः—खालित्ये इत्यादिना खालित्यादिचिकित्सितमाह । हरिलोम्नीति कपिललोम्नि ।

लाक्षाकालारसालोह-वराभृङ्गरजोरसात् । *

प्रस्थस्तु कुड्मवस्तेलात् यष्टग्राह्यप(फ)लकल्कितः ॥

सिद्धः शिलासमे पात्रे मेषशृङ्गादिषु स्थितः ।

नस्यं स्याद् भिषजा सम्यग् योजितं पलितापहम् ॥१२७॥

भिषजा क्षीरपिष्टौ वा दुग्धिकाकरवीरकौ ।

उत्पाद्य पलिते देयौ तावुभौ पलितापहौ ॥ १२८ ॥

क्षीरात् समार्कवरसात् द्विप्रस्थं मधुकोत्पले ।

विपचेत् तैलकुड्मं तन्नस्यं पलितापहम् ॥ १२९ ॥

आदित्यवन्द्यमूलानि कृष्णसरोयकस्य च ।

सुरसस्य च पत्राणि पत्रं कृष्णशणस्य च ॥

मार्कवः काकमाची च मधुकं देवदारु च ।

पृथग् दशपलांशानि पिप्पली त्रिफलाञ्जनम् ॥

नस्यं भवति । लाक्षत्यादि । लाक्षा च कालारसा शिङ्करसः लोहमयुरु
वरा त्रिफला भृङ्गराजरसः । एषां प्रत्येकं रसप्रस्थः तैलात् कुड्मः यष्टग्राह्यस्य
प(फ)लं पादिकः कल्कः । पत्तवा सिद्धस्तत्तैलकुड्मः शिलासमे द्दु पात्रे
मेषमहिषशृङ्गादिषु वा स्थितः । तत् तलं खालित्यादिषु नस्यं स्यात् ॥१२७॥

गङ्गाधरः—भिषजेत्यादि । अथवा दुग्धिकाकरवीरौ क्षीरपिष्टौ पलितं
शुक्लकेशं सव्वैमुत्पाद्य तस्मिन् पलिते प्रलेपौ देयौ ॥ १२८ ॥

गङ्गाधरः—क्षीरादित्यादि । क्षीरस्य प्रस्थं मार्कवस्य भृङ्गराजस्य रस-
प्रस्थमिति द्विप्रस्थं यष्टीमधुनीलोत्पलश्च द्वे कल्के पादिके तैलकुड्मं विपचेत्
तत् तैलं पलितापहं नस्यम् ॥ १२९ ॥

गङ्गाधरः—आदित्येत्यादि । आदित्यवन्द्यं सूर्यभक्ता तस्या मूलं
कृष्णसैरीयकस्य नीलझिण्ठीमूलं सुरसस्य कृष्णस्यैव कृष्णतुलसीपत्राणि
कृष्णपुष्पशणस्य च पत्रम् । मार्कवः भृङ्गराजः । पृथगेषां दश दश पलानि ।
शिलासमे पात्रे इति अत्रमये पात्रे । आदित्यवल्ल्या मूलानीति आदित्यवल्लो सूर्यभक्ता । कृष्ण-

* क्षीरात् सहचरात् भृङ्गराजाच्च सुरसात् रसात् इति पाठान्तरम् ।

रसाञ्जन-
मेतन्नेत्राञ्जनं
सर्पस्य वसा
नेत्राञ्जनम् ।
दत्त्वा घृष्टं

चेकित्सित-
वतुं खालि-

भिः शाल-
नीयैर्दशभिः
स्यपलितापहं

। पौष्पमञ्जनं

कित्सा ।

कपिललोमि ।

प्रपौण्डरीकं मञ्जिष्ठा लोध्रं कृष्णागुरुत्पलम् ।
 आम्रास्थि कर्दमः कृष्णो मृणालं रक्तचन्दनम् ॥
 नीली भल्लातकास्थीनि काशीशं मदयन्तिका ।
 सोमराज्यसनः शस्त्रं कृष्णौ पिण्डीतचित्रकौ ॥
 * पुष्करार्ज्जुनकाशमर्याण्याम्रजम्बूफलानि च ।
 पृथक् पञ्चपलैर्भागैः सुपिष्टैराढकं पचेत् ॥
 वैभीतकस्य तैलस्य धात्रीरसचतुर्गुणम् ।
 कुर्यादादित्यपाकं वा यावच्छुष्को भवेद्रसः ॥
 लौहपात्रे ततः पूतं संशुद्धमुपयोजयेत् ।
 पाने नस्तःक्रियायाश्च शिरोऽभ्यङ्गे तथैव च ॥
 एतच्चक्षुष्यमायुष्यं शिरसः सर्वरोगनुत् ।
 महानीलमिति ख्यातं पलितघ्नमनुत्तमम् ॥ १३० ॥

महानीलतैलम् ।

पिप्पल्यादीनां पृथक् पञ्च पलानि । पिष्टरेतः कल्कवभोतकस्य तलस्याढकं
 षोडशशशवं तच्चतुर्गुणं धात्रीरसं लौहपात्रे पचेत् । अथवा यावत् तद्रसः शुष्कः
 स्यात् तावदादित्यकिरणे लोहपात्रे स्थापयित्वा आदित्यपाकं कुर्यात्, ततः पूतं
 वस्त्रपूतं तैलं संशुद्धं केवलमुपयोजयेत् पानादिषु । अत्रार्ज्जनं रसाञ्जनं कृष्णागुरु
 च नीलोत्पलञ्च । आम्रास्थिमध्यं कृष्णवर्णः कर्दमः पङ्कः । नीली मीलिनी-
 पत्रं भल्लातकस्यास्थीनि काशीशं हिराकस् इति लोके । मदयन्तिका मल्लिका ।
 असनः शीतशालः । कृष्णः पिण्डीतो मदनफलं कृष्णश्च चित्रकः । पुष्करं
 पद्मपुष्पं आम्रजम्बूफलानि चामानि । इति महानीलतैलम् ॥ १३० ॥

सरीयकः कृष्णा शिष्टी । सोमराजी । शस्त्रं कृष्णं लोहम् । कृष्णपिण्डितचित्रकाविति कृष्णमदन-
 कृष्णचित्रकौ । आदित्यपाकमिति आदित्यरश्मिसम्बन्धादेव पक्वम् । अत्र भागैरिति बहुवचनात्
 पृथग्भागे सिद्धेऽपि पृथगितिपदं सिद्धस्यापि त्रिफलापृथग्भागस्य द्योतनार्थं कल्क-
 भूयस्त्वात् ॥ १२६—१३० ॥

* पुष्पाभ्यर्ज्जुनकाशमर्याण्योऽस्त्यन्यः पाठः ।

प्रपौण्डरीकमधुक-पिप्पलीचन्दनोत्पलैः ।

काषिकैस्तैलकुडवो द्विगुणामलकोरसः ॥

सिद्धः स प्रतिमर्षः स्यात् सर्व्वशीर्षगदापहः ।

पलितघ्नो विशेषेण कृष्णात्रेयेण भाषितः ॥ १३१ ॥

क्षीरं पियालं यष्ट्राह्वं जीवकाद्यो गणस्तिलाः ।

कृष्णा * वक्तप्रलेपः स त्वचि रोमवलीहितः ॥

तिलाः सामलकाश्चैव किञ्जल्को मधुकं मधु ।

रञ्जयेद् बृंहयेच्चैतत् केशान् मूर्द्धप्रलेपनात् ॥

पचेत् सैन्धवयुक्ताम्लैरयश्चूर्णं सतण्डुलम् ।

तेनालिप्तं शिरः शुद्धमस्निग्धमुषितं निशि ॥

तत् प्रातस्त्रिफलाधौतं स्यात् कृष्णस्निग्धमूर्द्धजम् ।

अयश्चूर्णोऽम्लपिष्टश्च रागः सत्रिफलो वरः ॥ १३२ ॥

गङ्गाधरः—प्रपौण्डरीकेत्यादि । प्रपौण्डरीकादिभिः प्रत्येकं काषिकैः कल्कः ॥ १३१ ॥

गङ्गाधरः—क्षीरमित्यादि । जीवकाद्यो गणो जीवनीयदशकः । कृष्णास्तिलाः स एष वक्तप्रलेपः । तिला इत्यादि । कृष्णास्तिला आमलकफलानि किञ्जल्कः पत्रस्य मधुकं मधु चैतत् सर्व्वं पिष्ट्वा मूर्द्धि प्रलेपनात् केशान् रञ्जयेत् बृंहयेच्च । पचेदित्यादि । सैन्धवं चाम्लद्रवञ्चायसश्चूर्णञ्च तण्डुलञ्च पचेत् । अम्लद्रव्यद्रवं पाकोपयुक्तं देयम् । प्रलेपयोग्यमवतार्य्यम् । तेन प्रलेपेन अस्निग्धं रुक्षं तैलादिवर्जितं शिर आलिप्तं निशि चोषितं प्रातःकाले त्रिफला-काथेन धौतं तत्र कृष्णं स्निग्धञ्च मूर्द्धजं स्यात् । अयश्चूर्णं इत्यादि । अम्लद्रवद्रव्यपिष्ट एवायसश्चूर्णस्त्रिफलासहितः प्रलेपः वरो राग उत्तमः केशरञ्जनमिति ॥ १३२ ॥

चक्रपाणिः—सामलका इत्यादियोगाः केशरञ्जकाः । पचेत् सैन्धवेत्यादौ सैन्धवायश्चूर्ण-

* वक्त्रे प्रलेपः स्यात् हरिलोमनिवारणः इति तथा यष्ट्राह्वतिलकिञ्जल्क-क्षौद्रमामलकानि च इति च पाठान्तरं कचिद् दृश्यते ।

कुर्याच्छेषेषु रोगेषु क्रियां स्वां स्वाचिकित्सितात् ।

शेषेष्वदौ च निर्दिष्टा सिद्धौ चान्या प्रवक्ष्यते ॥ १३३ ॥

तत्र श्लोकाः ।

वातपित्तकफा नृणां वस्तिहन्मूर्च्छसंश्रयाः ।

तस्मात् तत्स्थानसामीप्यात् हर्त्तव्या वमनादिभिः ॥

अध्यात्मलोको वातादौर्लोको वातरवीन्दुभिः ।

पीड्यते धार्यते चापि विकृताविकृतैस्तथा ॥

विरुद्धरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् ।

दोषाः सहजसात्म्यत्वाद् घोरं विषमहीनिव ॥ १३४ ॥

गङ्गाधरः—उपसंहरति । कुर्यादित्यादि । शेषेषु रोगेषु स्वात् चिकित्सितात् स्वां क्रियां कुर्यात् । शेषेषु रोगेष्वदौ खल्वितः पूर्वं क्रिया निर्दिष्टा, सिद्धौ सिद्धिस्थाने चान्या क्रिया प्रवक्ष्यते इति ॥ १३३ ॥

गङ्गाधरः— श्लोका इत्यादि । वातेत्यादि । नृणां वस्त्यादिसंश्रया वातादयस्तद्वस्त्यादिस्थानसामीप्याद् वमनादिभिर्हर्त्तव्याः । अध्यात्मेत्यादि । अध्यात्मलोक आत्मानमधिकृत्य लोक एकैकः प्राणी वातादौ विकृताविकृतैः पीड्यते धार्यते च तथा, यथा वातरवीन्दुभिर्विकृताविकृतरयं वाह्यो लोकः पीड्यते धार्यते च । ननु तर्हि शारीरा वातादयो विकृतिमापन्ना वातरवीन्दव इव लोकं प्राणिनं पीडयन्तु अविकृतास्तु धारयन्तु, ते हि परस्परं विरुद्धगुणाः परस्परं कथं न पीडयन्तीत्याशङ्क्यामविकृता विकृताश्च दोषा यथा न पीडयन्ति वातरवीन्दव इव तथा उच्यते । विरुद्धैरित्यादि । तण्डुलानां समत्वं सिद्धमिति । शेषेषु रोगेष्विति आसकासज्वररक्तपित्तशोषेषु पीनसोपद्रव-तथोक्तेषु । शेषेषु रोगेष्वित्यादौ शेषशब्दनिर्देशेन अनुक्तत्रिमर्मजरोगग्रहणम् । आदौ निर्दिष्टा इति सामान्यादिहैव त्रिमर्मजरोगादिष्टा चिकित्सा ज्ञेया । सिद्धौ चान्या प्रवक्ष्यते इति त्रिमर्मजायां सिद्धौ वक्ष्यते ॥ १३१—१३३ ॥

चक्रपाणिः—उक्तानुक्तचिकित्सार्थमाह—वातपित्तकफा इत्यादिषु वमनादीनां कर्मणां मध्ये यस्य कर्मणः समीपदोषहरणसामर्थ्यं भवति, तेन कर्मणा हर्त्तव्येति । वातादीनामेव विकृता-विकृतानां देहपीडकत्वमाह—अध्यात्मेत्यादि । अध्यात्मलोकश्चेतनलोकः । लोक इति जगत् । अत्र दृष्टान्ते इन्द्रस्थानीयः श्लेष्मा रविस्थानीयं पित्तम्, विकृतैः पीड्यते अविकृतैर्धार्यते इति व्यवस्था । दोषाणां यस्य गुणविरोधात् सम्भूय कार्यकरणे यथा विरोधो न भवति तदाह—विरुद्धैरपीति । परस्परविरुद्धैरपि यथा श्लेष्मणः स्नेहपैष्ठिक्यगौरवादीनां वातगुणै रौक्ष-

३३३ ॥

॥

४ ॥

चिकित्सा
निर्दिष्टा,

यादिसंश्रया
मात्मेत्यादि ।
कृताविकृतैः
पर्यं बाह्यो
कृतिमापन्ना
न्तु, ते हि
ता विकृताश्च
द्धेरित्यादि ।

पीनसोपद्रव-
आदौ निर्दिष्टा
ति क्षिप्तर्मजायां

कर्मणां मध्ये
नामेव विकृता-
क इति जगत् ।
कृतैर्धीर्यते इति
वति तदाह—
यातगुणै रौक्ष्य-

एते वातपित्तकफा विरुद्धैरपि गुणैर्दोषा अविच्छेदाः शरीरधातून् न पीडयन्तो
धारयन्ति तत्र परस्परं नोपघ्नन्ति । कस्मात् ? सहजसात्म्यत्वात् सहजतया
सात्म्यत्वात् । यावन्तो भावाः शरीरे जायमाने सदैकत्र जायन्ते केचित्
तुल्यगुणाः केचिद् विरुद्धगुणाः सर्व्व एव ते सात्म्या आत्मना सदैकीभाव-
मापन्नाः । शरीरारम्भे ह्यारम्भका विरोधिगुणैर्विरोधमावहन्तो यो यस्य
यावद् हासं कर्त्तुं शक्तस्तावद् हासं कुर्व्वन्नेव शारीरतत्तद्वस्तुरूपेण
निष्पद्यते सहात्मीभावश्चापद्यते विरोधश्च नावहतीति । स्थितिकाले निदान-
विशेषैः प्रकुपितास्तु शरीरधातून् दूषयन्त एव पीडयन्ति न परस्परमुपघ्नन्ति
सहजसात्म्यत्वान्मरणकाले तु घ्नन्त एव पीडयन्तीति । अध्यात्मलोकस्थितिकाले
वातादयो विरुद्धैरपि गुणैर्दोषा अकुपिताः परस्परं नोपघातकाः । सहज-
सात्म्यत्वात् शरीरधातुधारकतया त्रिविकृतभूतप्रकृतिरूपेण शरीरेण सहजाता
एवैकात्मीभावात् शरीरधातुपीडकत्वम् । परस्परं नोपघ्नन्तीति परस्पररोपघातक-
त्वाभावस्तु साध्यते तत्र हेतुः सहजसात्म्यत्वादिति । सहजसात्म्यत्वञ्च जाय-
मानानां शरीरधातुधारकतया दोषा दोषानुशयिप्रकृतिरूपेण शरीरेण
सहजाततया त्वात्मना सदैकीभूतत्वं न त्रघातकत्वमतो न साध्याविशिष्टत्वम् ।
न ह्यनुपघातकत्वमवाधकत्वं सहजसात्म्यत्वञ्चावाधकत्वमिति । यथा घोरं
विषमहीन् नोपहन्ति । यथा च शरीरेण सहजाततया विषमहीनां सात्म्यं
तथा वातादयो देहेन सह जाततया सात्म्यास्तस्मात् परस्परं नोपघ्नन्तीति ।
निदानविशेषैस्तु प्रकुपिता वातादयः ज्वरादिषु व्याधिषु रसरक्तादीन् दूषयन्त
एव ज्वरादिना प्राणिनः पीडयन्ति । विशेषयेद् वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं
पवनः कफं वा । यदा तदाश्मयुर्पजायते त्विति मूत्रपित्तादिविशोषणेन
दूषयन्नेव वायुः अश्मयुर्पजननेन पीडयति न हन्ति स्थितिकाले असाध्यतायां
मरणकाले हन्ति च । तथा च । सहजत्वात् सात्म्यत्वाच्चेत्येवं न हेतुद्वयम् ।
रसरक्तादयो हि यथा सहजास्तथा वातादयोऽपि सहजा यथा च वातादयः
सात्म्याः परस्परं तथा वातादेरपि रसरक्तादयः सात्म्या इति रसरक्तादुप-
घातकत्वं वाताद्यनुपघातकत्वं नोपपद्यत इति । तत्र दृष्टान्तः । घोरमित्यादि ।
यथा घोरं विषमहीन् न हन्ति सहजसात्म्यत्वात् । विषं हि शरीरे जायमाने
लाघवादिभिः विपरीतानाञ्च परस्पररोपघातकत्वं यद् दृष्टं तदिह दोषसंसर्गं न भवति । कुतो न
घ्नन्तीति ? आह—सहजसात्म्यत्वादिति । स्वाभाविकसात्म्यभावोऽनुपघातकत्वम् । अयञ्च स्वभावः
कर्मजन्यो वा भवतु उभयथाप्यचिन्त्य एव । नात्र युक्तिबाधा भवति तेन परस्परगुणोपघात-

भवति चात्र ।

त्रिमर्म्जानां रोगाणां निदानाकृतिभेषजम् ।

विस्तरेण पृथग् दिष्टं त्रिमर्मीयचिकित्सितम् ॥ १३५ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते
चिकित्सितस्थाने त्रिमर्मीयचिकित्सितं नाम

षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

तैरेवाङ्गः सह जायते प्राणहरमप्यन्येषां सहजतया सर्पस्य सात्म्यं सहात्मनेकी-
भूतं तथा वातादयस्तस्मात् स्वास्थ्यावस्थाविषयमिदमुक्तं न तु कुपिता-
वस्थवातादिविषय इति ॥ १३४ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमाह—भवति चात्र । त्रिमर्म्जानामित्यादि ॥ १३५ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव च ।
चिकित्सिते त्रिमर्मीये षड्विंशोऽध्याय एव च । वैद्यगङ्गाधरकृते जल्पकल्प-
तरो पुनः । चिकित्सितस्थानजल्पे षष्ठस्कन्धे चिकित्सिते । त्रिमर्मीय-
जल्पो नाम शाखेयं षड्विंशिका ॥ २६ ॥ शालाक्याङ्गं समाप्तम् ।

व्यभिचारः चन्द्रिकाकृतः सुश्रुते प्रपञ्चितः स न भवति । विरुद्धस्याप्यनुपघाते दृष्टान्तमाह—
घोरं विषमहीनिव ॥ १३४ ॥

चक्रपाणिः—त्रिमर्म्जानामिति संग्रहो व्यक्तः ॥ १३५ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्व्वेददीपिकायां
चरकतात्पर्य्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां त्रिमर्मीयचिकित्सितं
नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः ।

अथात ऊरुस्तम्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

श्रिया परमया ब्राह्मया परया च तपःश्रिया ।

अहीनपूर्वं चन्द्रार्कादिभ्यो मेरुमिवाचलम् ॥

धीधृतिस्मृतिविज्ञान-ज्ञानकीर्त्तिक्षमालयम् ।

अग्निवेशो गुरुं काले संशयं परिपृष्टवान् ॥

भगवन् पञ्चकर्माणि निर्दिष्टानि पृथक् त्वया ।

निर्दिष्टान्यामयानां हि सर्वेषामेव भेषजम् ॥

दोषजोऽस्त्यामयः कश्चिद् यस्यैतानि भिषग्वर ।

न स्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सतः ॥

अस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्तो गुरुणा तस्य कारणम् ।

सलिङ्गभेषजं भूयः पृष्टस्तैनाब्रवीद् गुरुः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टानुक्रमदूरुस्तम्भचिकित्सितमाह—अथेत्यादि । सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—श्रियेत्यादि । अहीनपूर्वं पूर्वं चन्द्रार्कादिभ्यो न हीनं मेरु-
मचलमिव धीधृत्याद्यालयं गुरुमात्रेयं कालेऽग्निवेशः संशयं पृष्टवान् । भगवन्नि-
त्यादि । हे भगवन् त्वया पृथक् पञ्चकर्माणि निर्दिष्टानि सर्वेषामामयानां
कर्माणि निर्दिष्टानि । भेषजञ्च निर्दिष्टम् । कश्चिद्दोषजस्त्वाभयोऽस्ति यस्य
साध्यस्य सतो वर्त्तमानस्यामयस्य शमने खल्वैतानि कर्माणि न शक्तानि ।
हे भिषग्वर ! भगवता गुरुणा भवताऽस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्तोऽष्टोदरीये एक

चक्रपाणिः—त्रिमूर्तीयानपि बहून् रोगान् पञ्चकर्मसाध्यान् दृष्ट्वा पञ्चकर्मसाध्ये ऊरुस्तम्भे
जातस्मरण आचार्यः ऊरुस्तम्भचिकित्सितमाह, भवति हि विरोधदर्शनात् तद्विरोधस्मरणम् ।
अहीनमिति सर्व्वदा युक्तम् । समस्तानीति मिलितानि । दोषज इतिपदं मानसागन्तु-
निरासार्थम् । तन्निरासस्तु तयोः पञ्चकर्मोविषयतया प्रसिद्धत्वात् । तथा दोषजस्याप्यसाध्यस्य

भवति चात्र ।

त्रिमर्म्जानां रोगाणां निदानाकृतिभेषजम् ।

विस्तरेण पृथग् दिष्टं त्रिमर्मीयचिकित्सितम् ॥ १३५ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतैऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते
चिकित्सितस्थाने त्रिमर्मीयचिकित्सितं नाम

षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

तैरेवान्नः सह जायते प्राणहरमप्यन्येषां सहजतया सर्पस्य सात्म्यं सहात्मनेकी-
भूतं तथा वातादयस्तस्मात् स्वास्थ्यावस्थाविषयमिदमुक्तं न तु कुपिता-
वस्थवातादिविषय इति ॥ १३४ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमाह—भवति चात्र । त्रिमर्म्जानामित्यादि ॥ १३५ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव च ।
चिकित्सिते त्रिमर्मीये षड्विंशोऽध्याय एव च । वैद्यगङ्गाधरकृते जल्पकल्प-
तरौ पुनः । चिकित्सितस्थानजल्पे षष्ठस्कन्धे चिकित्सिते । त्रिमर्मीय-
जल्पो नाम शाखेयं षड्विंशिका ॥ २६ ॥ शालाक्याङ्गं समाप्तम् ।

व्यभिचारः चन्द्रिकाकृतः सुश्रुते प्रपञ्चितः स न भवति । विरुद्धस्याप्यनुपधाते दृष्टान्तमाह—
घोरं विषमहीनिव ॥ १३४ ॥

चक्रपाणिः—त्रिमर्म्जानामिति संग्रहो न्यक्तः ॥ १३५ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्व्वेददीपिकायां
चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां त्रिमर्मीयचिकित्सितं
नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः ।

अथात ऊरुस्तम्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

श्रिया परमया ब्राह्मया परया च तपःश्रिया ।

अहीनपूर्वं चन्द्रार्कादिभ्यो मेरुमिवाचलम् ॥

धीधृतिस्मृतिविज्ञान-ज्ञानकीर्त्तिक्षमालयम् ।

अग्निवेशो गुरुं काले संशयं परिपृष्टवान् ॥

भगवन् पञ्चकर्माणि निर्दिष्टानि पृथक् त्वया ।

निर्दिष्टान्यामयानां हि सर्वेषामेव भेषजम् ॥

दोषजोऽस्त्यामयः कश्चिद् यस्यैतानि भिषग्वर ।

न स्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सतः ॥

अस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्तो गुरुणा तस्य कारणम् ।

सलिङ्गभेषजं भूयः पृष्टस्तैनाब्रवीद् गुरुः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टानुक्रमादूरुस्तम्भचिकित्सितमाह—अथेत्यादि । सर्व्वं पूर्व्ववद् व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—श्रियेत्यादि । अहीनपूर्वं पूर्वं चन्द्रार्कादिभ्यो न हीनं मेरु-
मचलमिव धीधृत्याद्यालयं गुरुमात्रेयं कालेऽग्निवेशः संशयं पृष्टवान् । भगवन्नि-
त्यादि । हे भगवन् त्वया पृथक् पञ्चकर्माणि निर्दिष्टानि सर्व्वेषामामयानां
कर्माणि निर्दिष्टानि । भेषजञ्च निर्दिष्टम् । कश्चिद्दोषजस्तामयोऽस्ति यस्य
साध्यस्य सतो वर्त्तमानस्यामयस्य शमने खल्वैतानि कर्माणि न शक्तानि ।
हे भिषग्वर ! भगवता गुरुणा भवताऽस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्तोऽष्टोदरीये एक

चक्रपाणिः—त्रिमर्म्मायानपि बहून् रोगान् पञ्चकर्मसाध्यान् दृष्ट्वा पञ्चकर्मसाध्ये ऊरुस्तम्भे
जातस्मरण आचार्य्यः ऊरुस्तम्भचिकित्सितमाह, भवति हि विरोधदर्शनात् तद्विरोधस्मरणम् ।
अहीनमिति सर्व्वदा युक्तम् । समस्तानीति मिलितानि । दोषज इतिपदं मानसागन्तु-
निरासार्थम् । तन्निरासस्तु तयोः पञ्चकर्मोविषयतया प्रसिद्धत्वात् । तथा दोषजस्याप्यसाध्यस्य

स्निग्धोष्णगुरुशीतानि जीर्णाजीर्णेः * समश्नतः ।

द्रवशुष्कदधिक्षीर-ग्राम्यानूपौदकामिषैः ॥

पिष्टान्यपक्वमद्याति-दिवास्वप्नप्रजागरैः ।

लङ्घनाध्यशनायास-भयवेगविधारणैः ॥

स्नेहाच्चासं चितं कोष्ठे वातादीन् मेदसा सह ।

रुद्धा सुगौरवादूरु यात्यधोगः सिरादिभिः ॥

पूरयेत् सकृथिजङ्घोरु दोषो मेदोबलोत्कटः ।

अविधेयपरिस्पन्दं जनयत्यल्पविक्रमम् ॥ ३ ॥

महासरसि गम्भीरे पूर्णे ऽम्बु स्तिमितं यथा ।

तिष्ठति स्थिरमक्षोभ्यं तद्वदुरुगतः कफः ॥

ऊरुस्तम्भ इत्युक्तस्तस्योस्तम्भस्य कारणं सलिलभेषजं भूयः पृष्ठोऽग्निवेशेन
गुरुरात्रेयोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—तत्र कारणमाह—स्निग्धेत्यादि । स्निग्धाशनादिवेगविधारणान्तै-
र्हृत्तुभिः स्नेहाच्च चितमामपक्वं कोष्ठे मेदसा सह वातादीन् रुद्धाऽधोगः
सिरादिभिः सुगौरवादूरु याति । ततो मेदोबलोत्कटो दोषः सकृथिजङ्घोरु
पूरयेत् । तज्जङ्घादिकर्माविधेयपरिस्पन्दं विधातुमशक्यः परिस्पन्दो यस्य
तदल्पविक्रमश्च जनयति ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—यथा पूण जलेर्महासरसि गम्भीरे स्तिमितं सदम्बु तिष्ठति ।
साधने पञ्चकर्माणि न समर्थानि, तन्निरासार्थमाह—साध्यस्य सतः इति सम्बन्धः । भूयो ऊरुस्तम्भस्य
कारणादीनि पृष्ठो गुरुः ॥ १ । २ ॥

चक्रपाणिः—जीर्णाजीर्णः प्रमृतजीर्णः स्तोकशेषाजीर्ण इति । आसं चितमिति रसशेषरूपम् ।
कोष्ठे वातादीन् मेदसा सहेति मेदःसहितमामं वातादीनां रोधकं ज्ञेयम् । आमश्च क्षिदोषसहितमेव
शिरादिभिः ऊरु याति । दोषो मेदोबलोत्कट इति दोषः आमसंरुद्धवातादिः । यदा दोषो
मलोत्कट इति पाठः, तदामस्य विशेषणम् । तद्विग्रहेणैव यद्यपि जङ्घोर्वाग्रहणं प्राप्तं तस्मापि
तयोरभिधानं विशेषेण तत्पूरणोपदर्शनार्थम् । अविधेयपरिस्पन्दमिति अस्वाधोनेन्द्रियम् ।
अल्पविक्रमम् इति वातेनाल्पक्रियम् अक्रियं वा करोतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—महासरसीत्यादि दृष्टान्तेन ऊरुस्तम्भारम्भकप्रधानस्य कफस्य प्रबलतामाह ।

* जीर्णाजीर्णैरिति क्वचित् पाठः ।

गौरवायाससङ्कोच-दाहरुक्सुप्तिकम्पनैः ।

सतोदभेदस्फुरणैर्युक्ता देहं निहन्त्यसून् ॥ ४ ॥

गुरुः श्लेष्मा * समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु ।

स्तम्भयेत् स्थैर्यशैत्याभ्यामूरुस्तम्भस्ततो मतः ॥ ५ ॥

प्राग्रूपं तस्य निद्राति-ध्यानं स्तिमितता ज्वरः ।

लोमहर्षोऽरुचिश्छर्दिर्जङ्घोर्व्वोः सदनं तथा ॥

वातशङ्किभिरज्ञानात् तस्य स्यात् स्नेहनात् पुनः ।

पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥ ६ ॥

तद्वदूरुगवः कफः स्थिरमसंक्षोभ्यं यथा स्यात् तथा तिष्ठति । स पुनर्गौरवा-
दिभिर्देहं युक्त्वाऽमृन् निहन्ति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—कस्मादूरुस्तम्भ उच्यते गुरुरित्यादि । समेदस्को गुरुः श्लेष्मा
वातपित्त अभिभूय च स्थैर्यशैत्याभ्यामूरु यस्मात् स्तम्भयेत् तत ऊरुस्तम्भो
मतः । वातपित्तेऽभिभूयेति प्रगृह्यस्य न प्रकृतिभावोऽपवादविषयेऽप्युत्-
सर्गाभिनिवेशात् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—तस्य पूर्वरूपमाह—प्राग्रूपमित्यादि । जङ्घोर्व्वोः सदनमवसादः ।
इत्येवं पूर्व्वरूपे खलूरुस्तम्भपूर्वरूपतया ज्ञानाभावात् वातव्याधिरयमित्येव-
माशङ्किभिस्तस्य नरस्य स्नेहक्रियाकरणात् तु पादयोः सदनादि स्यात् ॥ ६ ॥

यद्यपि ऊरुस्तम्भस्य सिद्धोषजनितत्वमिहोक्तं तथा सूत्रस्थानेऽपि एकोरुस्तम्भः सिद्धोषमात्रजन्य
इत्यनेनोक्तस्तथापि कफप्राधान्यादत्र कफ एवोपदिष्टः । अतएवाग्रे ऊरुश्लेष्मेत्यादिना ऊरुस्तम्भ-
शब्दनिरुक्तिं उत्पादसामग्रीञ्चाह ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—स्थैर्यशैत्याभ्यामित्यनेन स्तम्भनक्रियामाह । तथाच स्थैर्यशैत्ययोः कफगुणयोः
स्तम्भनकरणे कारणतां दर्शयति । ऊरुस्तम्भे स्नेहप्रयोगजं दोषमाह—वातशङ्किभिरित्यादि ।
वातशङ्का चारिमन् सुप्तिसङ्कोचादिना वातसमानलिङ्गदर्शनाद् भवति । अस्य संस्नेहेन दोषाः
कृच्छ्रादुद्धरणमित्यन्तोक्ताः ॥ ५ । ६ ॥

जङ्घोरुग्लानिरित्यर्थं शश्वच्चानाहवेदना ।

पदञ्च व्यथतै न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥

संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः ।

अन्यनेयौ हि संभग्नावूरु पादौ च मन्यते ॥ ७ ॥

यदा दाहार्त्तितोदात्तो वेपनः पुरुषो भवेत् ।

ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात् साधयेदन्यथा नवम् ॥ ८ ॥

तस्य न स्नेहनं कार्यं न वस्तिर्न विरेचनम् ।

न चैव वमनं यस्मात् तन्निबोधत कारणम् ॥

वृद्धये श्लेष्मणो नित्यं स्नेहनं वस्तिकर्म च ।

तत्स्थस्योद्धरणे चैव न समर्थं विरेचनम् ॥

गङ्गाधरः—रूपमाह—जङ्घोरुग्लानिरित्यादि । अन्यनेयौ संभग्नाविवोरु पादौ च स मन्यते ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—असाध्यलक्षणमाह—यदेत्यादि । अन्यथा दाहार्त्याद्यभावे साधयेद्, यदि नवः स्यादिति साध्यलक्षणम् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—तस्येत्यादि । तस्योरुस्तम्भनः स्नेहनादिकं यस्मान्न कार्यं तत्कारणमाह—वृद्धय इत्यादि । स्नेहनं वस्तिकर्म च श्लेष्मणो वृद्धये नित्य-मव्यभिचारि, तस्मान्न स्नेहनं वस्तिकर्म च कार्यं स्यात् । एवं तत्स्थस्य खलूरुस्थस्य श्लेष्मण उद्धरणे विरेचनं न समर्थं तस्मान्न विरेचनं कार्यम् ।

चक्रपाणिः—जङ्घोरुग्लानिरित्यादि तु लक्षणं भिन्नसामग्रीकं ब्रूते, अन्ये तु दोषप्रयोगकृतं असाध्यलक्षणमेतदाहुः ॥ ७ । ८ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति स्नेहवस्त्यादिकप्रतिषेधोपपत्तिमाह—तस्येत्यादि । स्नेहस्य दोषो यद्यपि पूर्वं उक्तः, तथापीदानीं यथा दोषकारकं स्नेहनं भवति तथा प्रतिपाद्यते । शिरोविरेचनञ्चात्र सर्व्वथैवासम्भाव्यमानत्वादेव नोपन्यस्तमिति ज्ञेयम् । स्नेहनमिति स्नेहनं वस्तिकर्म च श्लेष्मवृद्धि-करत्वाच्च युक्तम् । किंवा वस्तिकर्मविशेषणं स्नेहनमिति पदम् । तेनानुवासनमिति लभ्यते । निरुहस्तु विरेचनशब्देनैव शोभनाभिप्रायिना गृहीत एव, अतएव ऊरुस्तम्भदोषोद्धरणासमर्थाशोधन-

श्लेष्मस्थानगतः श्लेष्मा पित्तञ्च वमनात् सुखम् ।
 हर्तुमामाशयस्थौ च स्रंसयेत् तावुभावपि ॥
 पकाशयस्थाः सर्वेऽपि वस्तिभिर्मूलनिर्ज्जयात् ।
 शक्या न त्वाममेदोभ्यां स्तब्धा जङ्घोरुसंस्थिताः ॥
 वातस्थाने हि तच्छैत्यात् तयोः स्तम्भाच्च तद्गताः ।
 न शक्याः सुखमुद्धर्तुं जलं निम्नादिव स्थलात् ॥
 तस्य संशमनं कुर्यात् क्षपणं शोधनं तथा ।
 आधिक्यादामकफयोर्युक्त्यपेक्षः सदा भिषक् ॥ ६ ॥

श्लेष्मस्थानगतो यः श्लेष्मा पित्तञ्च स्वस्थानञ्च यत् तद् वमनाद् हर्तुं सुखं
 भवति, तस्मादामाशयस्थौ तावुभौ पित्तश्लेष्माणौ वमनेन स्रंसयेत् ।
 पकाशयस्थाः सर्वेऽपि वातपित्तकफा वस्तिभिर्मूलनिर्ज्जयात् जेतुं शक्या
 भवन्ति, न तु जङ्घोरुसंस्थिता आममेदोभ्यां स्तब्धा जेतुं शक्याः । कस्मात् ?
 वातस्थाने हीति । हि यस्मादस्मिन्नूरुस्तम्भे तच्छैत्याद् वातशैत्याद् वातस्थाने
 दोषास्तयोर्यङ्घ्र्योर्वीः स्तम्भाच्च न सुखं हर्तुं शक्या यथा निम्नात् स्थलाज्जलं
 हर्तुं न सुखं शक्यमिति । तस्माद् वमनं न कार्यमिति । स्नेहनवस्ति-
 कर्मविरेचनवमनप्रतिषेधाद् यत् कार्यं तदाह—तस्येत्यादि । क्षपणं शोधनं
 क्षपणेन यच्छोधयति तच्छोधनं कुर्यात् । कस्मात् ? आमकफयोराधिक्यात् ।
 कथं क्षपयेदित्यत उक्तं युक्त्यपेक्ष इति । युक्त्या क्षपणशोधनं कुर्यात् ॥ ९ ॥

विवरणे एव निरुहोऽप्युक्तः । उक्तद्रोषहरणासामर्थ्यं वमनविरेचननिरुहाणां क्रमेण विवृण्वन्नाह—
 श्लेष्मस्थानगत इत्यादि । हर्तुं शक्यमिति विभक्तिलिङ्गविपरिणामाद् योजनीयम् । तावुभौ
 निर्हर्तुमशक्यौ । सर्वे हि वातपित्तश्लेष्माणः । मूलनिर्ज्जयादितिपदं वमनमित्यनेन तथा
 वस्तिरित्यनेन योज्यम् । मूलनिर्ज्जयादिति मूलच्छेदात् । वमनादीनां साध्यं विषयं दर्शयित्वा
 भसाध्यं विषयमाह—शक्येत्यादि । तथा मेदसः स्तब्धत्वेन वमनादीनां जङ्घोरुस्थानेऽसमर्थत्वं
 ज्ञेयम् । ऊरुस्तम्भदोषस्य वमनादीनामसामर्थ्यं हेत्वन्तरमाह—वातस्थान इति । जङ्घोरु रूपे
 वातस्थाने । तच्छैत्यादिति वातशैत्यात् । चिकित्सा माह—तस्येत्यादि । तस्योरुस्तम्भस्य शमनं
 कर्तव्यं न शोधनमित्यर्थः । क्षपणं शोधनम् आमकफयोः कुर्यादिति योजना । तत्र क्षपणं शोधनं
 द्रवभागविशेषणम् ॥ ९ ॥

रुक्षोपचारं स यदा यवश्यामाककोद्रवान् ।
 शाकैरलवणैर्दद्यात् जलतैलोपसाधितैः ॥
 सुनिषण्णकनिम्बार्क-वेत्रारग्वधपल्लवैः ।
 वायसीवास्तुकैस्तित्तरैर्न्यश्च कुलकादिभिः ॥ १० ॥
 क्षारारिष्टप्रयोगैश्च हरीतक्यास्तथैव च ।
 मधूदकस्य पिप्पल्याश्चोरुस्तम्भविनाशनम् ॥ ११ ॥
 समङ्गाशात्मलीबिल्वं मधुना सह ना पिबेत् ।
 तथा श्रीवेष्टकोदीच्य-देवदारुनतान्यपि ॥
 चन्दनं धातकी कुष्ठं तालीशं नलदं तथा ।
 मुस्तं हरीतकी लोध्रं पञ्चकं तित्करोहिणी ॥
 देवदारु हरिद्रे द्वे वचा कटुकरोहिणी ।
 पिप्पली पिप्पलीमूलं सरलं देवदारु च ॥
 चव्यं चित्रकमूलञ्च देवदारु हरीतकी । *
 सच्चौद्रानर्द्धश्लोकोक्तान् कल्कानूरग्रहापहान् ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—युक्त्या किं कुर्यात् तदाह—रुक्षोपचारं कुर्यादिति पूर्व्वेणा-
 न्वयः । स यदान्नं काङ्क्षति तदा यवाद्यन्नानि जलतलसाधितः शाकैर्दद्यात् ।
 शाकान्याह । सुनिषण्णकेत्यादि । कुलकादिभिरन्यैस्तित्कैः पटोलपत्रादिभि-
 स्तित्कैः । जलतैलोपसाधितैरिति योजना ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—क्षारारिष्टयोः प्रयोगैर्हरीतक्यादिप्रयोगश्च ऊरुस्तम्भविनाशनं
 स्यात् ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—संशमनानाह । समङ्गेत्यादि । अर्द्धश्लोकोक्तानूरग्रहापहान्

चक्रपाणिः—वायसी काकमाची । कुलकं कारवेल्लकम् । शात्मलं शात्मली । श्रीवेष्टकलता ।
 एतानि मधुना पिबेदिति सम्बन्धः । मुस्तेत्यादिकाः पञ्च योगाः अर्द्धश्लोकोक्ता उदग्रहापहाः ॥ १०—१२

* इतःपरं “भल्लातकं समूलाञ्च पिप्पलीं पञ्च तान् पिबेत्” इत्यधिकः पाठः चक्रसम्मतः ।

शार्ङ्गेष्टां मदनं दन्तीं वत्सकस्य फलं वचाम् ।
 भल्लातकं समूलाश्च पिप्पलीं कथितान् पिबेत् ॥
 मूर्वामारग्वधं पाठां करञ्जं कुलकं तथा ।
 पिबेत् तुल्यं मधुयुतं चूर्णं वा वारिणाप्लुतम् ॥
 सक्षौद्रं दधिमण्डैर्वा ऊरुस्तम्भविनाशनम् ।
 मूर्वामतिविषां कुष्ठं चित्रकं कटुरोहिणीम् ॥
 पूर्व्ववद् गुग्गुलुं मूत्रे रात्रिस्थितमथापि वा ।
 स्वर्णक्षीरीमातविषां मुस्तं तैजोवतीं वचाम् ॥
 सुराह्वां कटुकं कुष्ठं पाठां कटुकरोहिणीम् ।
 लेहयेन्मधुना चूर्णं सक्षौद्रं वा जलप्लुतम् ॥
 फलीं व्याघ्रनखं हेम पिबेद् वा मधुसंयुतम् ।
 त्रिफलां पिप्पलीं मुस्तं चव्यं कटुकरोहिणीम् ।
 लिह्याद् वा मधुना चूर्णमूरुस्तम्भादितो नरः ॥ १३ ॥

सप्त कल्कान् मधुना सह पिबेदिति । पुनः सक्षौद्राणीति द्वितीयादियोगेषु
 मधुनिवृत्तिभ्रान्तिनिरासार्थम् ॥ १२ ॥

गुग्गाधरः—शार्ङ्गेष्टामित्यादि । शार्ङ्गेष्टादीन् पक्त्वा कथितान् तान् पिबेत् ।
 मूर्वामित्यादि । मूर्वादीनां चूर्णं मधुना पिबेद् वारिणाप्लुतं वा पिबेत् ।
 सक्षौद्रमित्यादि । मूर्वादिकटुरोहिण्यन्तानां चूर्णं सक्षौद्रं पिबेद् दधिमण्डैर्वा
 पिबेदिति पूर्व्वणान्वयः । पूर्व्ववदित्यादि । गोमूत्रे रात्रिस्थितं दिवाशुष्क-
 मित्येवं सप्ताहं पूर्व्ववद्भावितं गुग्गुलुमथवा सक्षौद्रं दधिमण्डैर्वा पिबेदिति
 पूर्व्वणान्वयः । स्वर्णक्षीरीमित्यादि । स्वर्णक्षीर्यादीनां चूर्णं मधुना लेहयेदथवा
 जलाप्लुतं सक्षौद्रं पिबेत् । फलीमित्यादि । फली प्रियङ्गुः । हेम नागकेशरम्, फली-
 प्रभृतित्रयं चूर्णयित्वा मधुयुतं पिबेत् । त्रिफलादीनां चूर्णञ्च मधुना लिह्यात् ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—शार्ङ्गेष्टा गुग्गा, स्वादुकण्टकं विकङ्कतम् । पूर्व्ववदिति पूर्व्वेण सम्बध्यते । गुग्गुलुञ्च
 मूत्रे उचितं पिबेदिति योज्यम् । जलान्वितं पिबेदिति शेषः । फली न्यग्रोधः । हेम नाग-
 केशरम् ॥ १३ ॥

र्वणा-
 यात् ।
 देभि-
 शासनं
 महान्
 लता ।

अपतर्पणतश्च स्याद् दोषः सन्तर्पयेत् तु तम् ।
 युक्त्या जाङ्गलजैर्मांसैः पुराणैश्चैव शालिभिः ॥
 रुक्षणाद् वातकोपश्चेन्निद्रानाशार्त्तिपूर्वकः ।
 स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र कार्यो वातामयापहः ॥ १४ ॥
 पीलुपर्णी पयस्या च रास्ना गोक्षुरकं वचा ।
 सरलागुरुपाठाश्च तैलमेभिर्विपाचयेत् ॥
 सक्षौद्रं प्रसृतं तस्मादञ्जलिश्चापि ना पिबेत् ।
 अपतर्पणतो रौक्ष्यादूरुस्तम्भी विमुच्यते ॥ १५ ॥
 कुष्ठश्रीवेष्टकोदीच्यं सरलं दारु केशरम् ।
 अजगन्धाश्चगन्धा च तैलं तैः सार्पणं पचेत् ॥
 सक्षौद्रं मात्रया तच्चाप्यूरुस्तम्भार्दितः पिबेत् ।
 रौक्ष्यान्मुक्त ऊरुस्तम्भात् ततश्च स विमुच्यते ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवमामश्च कफश्च यदि तद्दि किमपतर्पयेदेनमित्यत आह—
 अपतर्पणतश्चेत्यादि । दोषः स्यादूरुस्तम्भदोषस्य दुष्टिः स्यादपतर्पणतस्तस्माद्
 युक्त्या सन्तर्पयेत् । कैरित्यत आह—युक्त्येत्यादि । रुक्षणादित्यादि । अन्यैरेव-
 मेव रुक्षोपचारैर्यदि निद्रानाशादिपूर्वको वातकोपः स्यात्, तदा तत्र स्नेहस्वेद-
 क्रमो वातामयोक्तः कार्यः ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—तत्र स्नेहक्रममाह—पीलुपर्णीत्यादि । पीलुपर्णी मूर्त्वा, पयस्या
 क्षीरविदारी । पाठान्तैः कल्कैश्चतुर्गुणजले तैलं विपाचयेत् । तत्तैलं सक्षौद्रं
 प्रसृतं पलद्वयं कोष्ठापेक्षयाञ्जलिं कुडवं वा पिबेत् ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—कुष्ठेत्यादि । अजगन्धा यमानी । कुष्ठादिभिः कल्कैः सार्पणं
 तैलं चतुर्गुणजले पचेत् । तच्चापि तैलं मात्रया सक्षौद्रं पिबेत् ॥ १६ ॥

चक्रपाणिः—आवस्थिकं क्रममाह—अपतर्पणेत्यादिना । रुक्षणादित्यादिना स्नेहविधान-
 मावस्थिकम्, तेन सामान्येनाह विहितस्नेहनिषेधेन समं न विरोधि, अस्य विरोधापवाद-
 त्वात् ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—पीलुपर्णी मोरटः, रास्नामेद इत्यन्ये । सक्षौद्रमिति पादिकक्षौद्रम् । अजगन्धा

द्वे पले सैन्धवात् पञ्च शुण्ठ्या ग्रन्थिकचित्रकात् ।

द्वे द्व भल्लातकास्थानि विंशतिर्द्वे तथाद्वके ॥

आरनालात् पचेत् प्रस्थं तैलस्यैतैरपत्यदम् ।

गृध्रस्यूरुग्रहाशोऽर्त्ति-सर्ववातविकारनुत् ॥ १७ ॥

पलाभ्यां पिप्पलीमूल-नागरादष्टकट्वरः ।

तैलप्रस्थः समो दध्ना गृध्रस्यूरुग्रहापहः ॥ १८ ॥

अष्टकट्वरं तलम् ।

इत्याभ्यन्तरमुद्दिष्टमूरुस्तम्भस्य भेषजम् ।

श्लेष्मणः क्षपणान्वन्यद् वाह्यं शृणु चिकित्सितम् ॥ १९ ॥

वल्मीकमृत्तिका मूलं करञ्जात् सफलत्वचम् ।

इष्टकानां ततश्चूर्णैः कुर्यात् उत्सादनं भृशम् ॥

गङ्गाधरः—द्वे पले इत्यादि । सैन्धवाद् द्वे पले शुण्ठ्याः पञ्च पलानि द्वे द्वे पले ग्रन्थिकचित्रकात् । भल्लातकास्थानि विंशतिराकृतिमानान्नतु विंशतिः पलानि । तथा आरनालाद् द्वे आद्वके, तैस्तैलस्य प्रस्थं पचेत् । इत्यपत्यदं तैलं गृध्रस्यादिनुत् ॥ १७ ॥ अपत्यदतैलम् ।

गङ्गाधरः—पलाभ्यामित्यादि । पिप्पलीमूलपलं नागरपलमिति पलाभ्यां कल्काभ्यामष्टगुणकट्वरैस्तैलप्रस्थो दध्ना समः पक्वः गृध्रस्याद्यपहः । दध्नः सप्सारकस्यैव तक्रं कट्वरमुच्यते ॥ १८ ॥ अष्टकट्वरतैलम् ।

गङ्गाधरः—इतीत्यादि । अन्यच्च श्लेष्मणः क्षपणं वाह्यं चिकित्सितं शृणु ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—वल्मीकेत्यादि । वल्मीकमृत्तिका । करञ्जात् सफलत्वचं मूलम् ।

अजमोदा । भल्लातकास्थानि विंशतिरिति अभिधानेन । पलाभ्यामिति पिप्पलिसमुदायात् पलाभ्याम् । अष्टकट्वर इति तैलादष्टगुणः कट्वरः । कट्वरं तक्रम् ॥ १५—१९ ॥

मूलैवोप्यश्वगन्धाया मूलरकस्य वा भिषक् ।
 पिचुमर्दस्य वा मूलैरथवा देवदारुणः ॥
 क्षौद्रसर्षपवल्मीक-मृत्तिकासंयुतैर्भिषक् ।
 गाढमुत्सादनं कुर्यात् ऊरुस्तम्भे प्रलेपनम् ॥ २० ॥
 दन्तीद्रवन्तीसुरसा-सर्षपैश्चापि बुद्धिमान् ।
 तर्कारीविश्वसुरस-शिग्रुवत्सकनिम्बजैः ॥
 पत्रमूलफलैस्तोयं शृतमुष्णञ्च सेचनम् ।
 पिष्टन्तु सर्षपं मूत्रेऽध्युषितं स्यात् प्रलेपनम् ॥
 वत्सकः सुरसः कुष्ठं गन्धा तुम्बुरुशिग्रुकौ ।
 हिंस्रार्कमूलवल्मीक-मृत्तिकाः सकुठेरकाः ॥
 दधिसैन्धवसंयुक्तं कार्य्यमेतैः प्रलेपनम् ।
 ऊरुस्तम्भविनाशाय भिषजा जानता क्रमम् ॥ २१ ॥
 श्योनाकं खदिरं निम्बं वृहत्यौ सरलाशनौ ।
 शोभाञ्जनकतर्कारी-श्वदंष्ट्रासुरसाज्जकम् ॥

वल्मीकमृत्तिकादीष्टकान्तचूर्णैरुत्सादनं कुर्यात् । मूलैरित्यादि । अश्वगन्धादीनां
 मूलं प्रत्येकं क्षौद्रादिसंयुक्तं गाढमुत्सादनं कुर्यात् । चत्वारो योगाः ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—दन्तीत्यादि । दन्त्यादिभिः प्रलेपनम् । तर्कारीमृत्तिकाभिश्च
 प्रलेपनम् । एषां पत्रादिभिः शृतमुष्णं तोयं सेचनम् । पिष्टन्तित्यादि ।
 गोमूत्रेऽध्युषितं सर्षपं पिष्ट्वा प्रलेपनम् । वत्सक इत्यादि । गन्धा अश्वगन्धा
 हिंस्रार्कयोर्मूलं वत्सकादिकुठेरकान्तं दध्ना पिष्ट्वा सैन्धवयुक्तं प्रलेपनं
 कार्य्यम् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—श्योनाकमित्यादि । सुरसः श्वेतपर्णाशः अर्जकः कुष्णपर्णाशः,

चक्रपाणिः—पिचुमर्दो निम्बः । द्रवन्ती दन्तीभेदः । तर्कारी जयन्ती । गन्धा इत्युष्णी-

अग्निमन्थकरञ्जौ च जले निक्वाथ्य सेचयेत् ।
 प्रलेपो मूत्रपिष्टैर्वाप्युरुस्तम्भनिवारणः ॥ २२ ॥
 कफक्षयार्थं व्यायामेष्वेनं शक्येषु चोत्सृजेत् ।
 स्थानान्याक्रामयेत् कालं ॥ शर्करासिकतास्तथा ॥
 प्रतारयेत् प्रतिस्रोतो नदीं शीतजलां शिवाम् ।
 सरश्च विमलं शीतं स्थिरतोयं पुनःपुनः ॥
 तथा विशुष्केऽस्य कफे शान्तिमूरुग्रहो व्रजेत् ॥ २३ ॥
 यत् स्यात् कफप्रशमनं न च मारुतकोपनम् ।
 तत् सर्वं सर्वदा कार्य्यमूरुस्तम्भस्य भेषजम् ।
 शरीरं बलमग्निश्च कार्य्यैषा रक्षता क्रिया ॥ २४ ॥

श्योनाकादिकरञ्जान्तानि जले निक्वाथ्य सेचयेत् । गोमूत्रः पिष्ट्वा तैः प्रलेपो
 देयः ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—कफेत्यादि । कफक्षयार्थमेनमूरुस्तम्भिनं शक्येषु व्यायामेषु
 चोत्सृजेत् नियोजयेत् । व्यायाममाह । स्थानानीति स्वस्थानाद् गच्छन्ना-
 क्रामेत् । तथा शर्करासिकता आक्रामेत् । नदीं प्रतिस्रोतः प्रतारयेत् । स च
 प्रतारयेत् । तथा कुर्व्वतः कफे विशुष्के ऊरुग्रहः शान्तिं व्रजेत् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—यत् स्यादित्यादि । इत्यनुक्तभेषजसंग्रहवचनम् । शरीरमिति ।
 शरीरादीनि रक्षता रोगिणा त्वेषा क्रिया कार्य्या ॥ २४ ॥

इयक्ता इह ग्राह्याः । कुठेरकः पर्णासः । शक्येषु वोढुं शक्येषु । अतः जलप्रतरणं कथमस्य
 श्लेष्मक्षयकरं भवति ? यस्माज्जलसम्बन्धमात्रेण श्लेष्मवृद्धिरेव प्राप्ता । उच्यते—जलेन
 वह्निर्निर्गच्छद्भ्रमणः निरुद्धस्यान्तःप्रवेशाद् श्लेष्मसङ्घातभेदनं भवति ; तथा प्रतरणक्रियया
 श्लेष्मा विच्छिद्यते ; समानाभिमता क्रिया अतः योग्यत्वात् क्रियत एव, उक्तं हि—‘भवेत् कदाचित्
 कार्य्येषु विरुद्धाभिमता क्रिया’ इति ॥ १९—२४ ॥

तत्र श्लोकः ।

हेतुप्राप्नुपलिङ्गानि कर्मायोग्यत्वकारणम् ।

भेषजं द्विविधञ्चोक्तमूरुस्तम्भचिकित्सिते ॥ २५ ॥

इत्यग्निवेशकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतैऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृतै

चिकित्सितस्थाने ऊरुस्तम्भचिकित्सितं नाम

सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—तत्र श्लोक इति । हेतुत्यादिनाध्यायार्थसंग्रहः ॥ २५ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव च ।

ऊरुस्तम्भचिकित्सिते सप्तविंशेऽध्याये पुनः । वैद्यगङ्गाधरकृतै जल्प-

कल्पतरौ पुनः । चिकित्सितस्थानजल्पे षष्ठस्कन्धे चिकित्सिते ।

ऊरुस्तम्भस्य जल्पाख्या शाखेयं सप्तविंशिका ॥ २७ ॥

चक्रपाणिः—अनुक्तचिकित्सापरिग्रहार्थमाह—श्लेष्मण इत्यादि । हेतुरित्यादिः संग्रहः । कर्मा-
योग्यत्वं हेतुः बुद्धये श्लेष्मण इत्यादिनीको ज्ञेयः । द्विविधमिति आन्तरं बाह्यञ्च । भेषजमिति
औषधम् ॥ २५ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां

चरकतत्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां ऊरुस्तम्भचिकित्सितं

नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः ।

अथातो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

वायुरायुर्वलं वायुर्वायुर्धाता शरोरिणाम् ।

वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुः प्रकीर्तितः ॥

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः ।

वायुः स्यात् सोऽधिकं जीवेत् वीतरोगः समाः शतम् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टक्रमाद् वातरोगचिकित्सितमाह—अथात इत्यादि ।
सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—वायुस्त्यादि । वायुरायुहेतुत्वादायुः । वायुर्धाता देहधारणकर्त्ता ।
इदं सर्वं विश्वं जगत् धारणाद् वायुः । कथमायुर्वायुरित्यत आह—अव्या-
हतेत्यादि । यस्याव्याहतगतिमदादिर्वायुः स्यात्, सोऽधिकं समाः शतं
जीवेदिति ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—ऊरुस्तम्भभेषजे विरूक्षणाद् वातप्रकोपो भवतीति सम्बन्धादूरुस्तम्भानन्तरं
वातव्याधिचिकित्सितमारभ्यते । वात एव व्याधिरिति, पक्ष विकृतश्च वातः सर्वोङ्गैकाङ्ग-
रूपतामापन्नः विविधपीडाकरत्वाद् वातव्याधिरुच्यते । यदा वाताद् व्याधिरिति पक्षस्तदा
वाताद् दोषदूष्यसंमूर्च्छनविशेषरूपत्वात् सर्वोङ्गैकाङ्गरूपो व्याधिर्वातव्याधिरुच्यते । त्वरादयस्तु
यद्यपि वातादुत्पद्यन्ते तथापि ते दोषान्तरेणापि वातं विना भवन्तीति कृत्वा नात्र शास्त्र
वातव्याधिशब्देनोच्यन्ते । येऽपि चात्र कफपित्तावृतत्वाद् वाताद् विकाराः व्याधित्वेन वक्तव्याः
तेऽतिप्रधानं वातं विना न भवन्तीति कृत्वा वातव्याधिरूपाः । एवं यथा वातिकाश्च
व्याधयः पृथक्चिकित्सयोच्यन्ते तथा पित्तजाः कफजाश्च चिकित्सन्तामिति न वाच्यम् । यतः
पित्तकफकृतानां व्याधीनां न तथा प्राधान्यं यथा वातजानाम् । तेन वातजानामेव
पृथक् चिकित्सोच्यते । कफपित्तजानान्तु अनाविष्कृतानां वमनविरेचनादिकफपित्तचिकित्सैव
युक्तेति ज्ञेयम् ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—वायोर्विकारं स्थापयितुं तत्स्वभावज्ञानं विना विकृतिविज्ञानस्यापार्थक्यात्
स्वभावमेव तावदाह—वायुरित्यादि । यद्यपि शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगमायुस्तथापि तादृश-
संयोगप्रधानत्वाद् वायुरपि प्रकृतिरुच्यते । एवं शरीराधारतया वायुरेव बलम् । हेतुत्वं
दर्शयन्नाह, अव्याहतगतिः अपरित्यक्तस्वमार्गः । स्थानस्थ इति न विमार्गः । प्रकृतौ स्थित इति
अक्षीणवृद्धः । वीतरोग इति निरोगः ॥ २ ॥

प्राणोदानसमानाख्य-व्यानापानैः स पञ्चधा ।
 देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन् ॥ ३ ॥
 स्थानं प्राणस्य शीर्षोरः-कण्ठजिह्वास्यनासिकाः ।
 ष्ठीवनक्षवथूद्वार-श्वासाहारादि कर्म च ॥
 उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरःकण्ठ एव च ।
 वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्जोबलवर्णादि कर्म च ॥
 स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः ।
 अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः ॥
 देहं व्याप्नोति सर्व्वन्तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम् ।
 गतिप्रसारणाक्षेप-निमेषादिक्रियः सदा ॥

गङ्गाधरः—कथं वायुर्बलश्च धाता च तदुच्यते । प्राणेत्यादि । प्राणादिभिर्भेदैः पञ्चधा स वायुर्देहं तन्त्रयते नियमयति स्वस्वस्थानेषु चरन् अव्याहत एव नियमयति ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—प्राणादीनां स्थानादीन्याह—स्थानमित्यादि । शीर्षादयः प्राणस्य स्थानम् । तस्य येन येन कर्मणा तन्त्रणं तदाह—ष्ठीवनेत्यादि । उदानस्य स्थानकर्मण्याह—उदानस्येत्यादि । नाभ्यादीन्युदानस्य स्थानानि । वाक्-प्रवृत्त्यादिकं कर्म च । समानस्य स्थानकर्मणी आह—स्वेदेत्यादि । स्वेदादि-वाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः समानः अन्तरग्नेर्जाठराग्नेः पार्श्वस्थश्च अग्नि-बलप्रदः । व्यानस्थानकर्मणी आह—देहमित्यादि । सर्व्वं देहं व्याप्नोतीति व्यानः

चक्रपाणिः—प्राणोदानेत्यादिना व्यवहारार्थं संज्ञोपदर्शनपूर्व्वकं प्राणादीनां स्थानं कर्म चाह—देहं तन्त्रयते इत्यादि । स्थानेष्विति वक्ष्यमाणात्मीयस्थानेषु । आहारादीत्यस्य आदि-ग्रहणादन्नविभारणनिःसरणादीनि गृह्यन्ते । प्राणोदानयोश्चपि समानसुरःस्थानं तथापि कर्मभेदाद् भेद एव । यथैव एकगृहस्थितमालाकारकुम्भकारयोः । प्रयतनं प्रयत्नः । ऊर्जः बलवर्णनिष्पादनमुच्यते । स्वेददोषाम्बुवाहीनीत्यादौ स्वेदवाहीनि तथाम्बुवाहीनि च स्रोतांसि स्रोतोविमाने पृथगेवोक्तानि ज्ञेयानि । दोषवहानि च स्रोतांसि सर्व्वशरीरचराण्येव । वक्त्रं हि—‘वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्व्वशरीरचराणां स्रोतांसि अयनभूतानि’ । गतीत्यादौ आदिभेदेन

वृषणौ वस्तिमेदृश्च नाभ्यूरु वङ्क्षणौ गुदम् ।

अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृत्क्रियः ॥

सृजत्यार्त्तवगभौ च युक्ताः स्थानस्थिताश्च ते ।

स्वकर्म कुर्वन्ते देहो धार्यन्ते तैरनामयः ॥

विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः ॥

शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति वा ॥ ४ ॥

सङ्ग्रामप्यतिवृत्तानां तज्जानां हि प्रधानतः ।

अशीतिर्नखभेदाद्या रोगाः सूत्रे निदर्शिताः ॥

शीघ्रगतिः । नृणां गत्यादिक्रियाकृत् । अपानस्य स्थानकर्मणी आह—वृषणा-
वित्यादि । वृषणादिगुदान्तमपानस्य स्थानम्, अन्त्रस्थश्चापानः शुक्रादिप्रवर्तन-
क्रियाकृत् । आर्त्तवगभौ च सृजति । (पञ्चानां कर्मण्याह) ते प्राणादयः
स्थानस्थिता युक्ताश्च समयोगयुक्ताः स्वकर्म कुर्वन्ते अनामयो देहश्च तैर्धार्यन्ते ।
विमार्गस्था इत्यादि । हि यस्माद् विमार्गस्थास्त्वेते प्राणादयोऽयुक्ता अयोगाति-
योगमिथ्यायोगयुक्ता वा स्वस्थानकर्मजै रोगैः शरीरं पीडयन्ति प्राणान्
वाशु हरन्ति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—कै रोगैः पीडयन्ति कथं वा प्राणान् हरन्तीत्यत आह—
सङ्ग्रामत्यादि । तज्जानां रोगाणां सङ्ग्रामतिवृत्तानामसङ्ग्रेयानां मध्ये

आकुञ्चनप्रसारणादीनाञ्च ग्रहणम् । अन्त्रस्थ इति वस्त्यादिगतः । सृजतीति निःसारयतीति
यावत् । आर्त्तवगभौ च सृजतीति सम्बन्धः । एतानि कर्माणि यादृशाः कुर्वन्ति तदाह—
युक्ता इति अव्यापन्नाः । स्थानस्थिता इति यथोक्तस्थानस्थिताः । यस्मादेवममृताः अतो
देहो धार्यन्ते । वातानां वैगुण्यं कर्माह—विमार्गस्था इत्यादि । स्वस्थानकर्मजैरिति यस्य
वायोर्यत् स्थानमुक्तं तःस्थानगतैः । तथा छीवनादि यद्वायोः कर्म उक्तं तज्जैश्च रोगैः
शरीरं पीडयन्ति । प्राणान् वातरोगेण हरन्ति च । अत्र वायोरेव भूरिप्रधानरोगकर्तृतया
भिन्नचिकित्साप्रयोगतया पञ्चभेदा उक्ताः, न पित्तकफयोः अनतिप्रयोजनत्वात् । तथाहि
तन्वान्तरे पित्तमपि पाचकरञ्जकसाधकालोचकआजकभेदात् पञ्चविधमुक्तम् । तेषाञ्च यथाक्रमं
जठरामाशयहृदयदृष्टित्वक् स्थानमुक्तम् । तथा श्लेष्मापि अवलम्बक-क्लेदक-बोधक-तर्पक-
श्लेषकभेदात् पञ्चविधः । तेषाञ्च स्थानानि यथाक्रमं हृदयामाशय-जिह्वा-शिरः-सन्धयः । कर्माणि
यथाक्रममवलम्बनान्नक्लेदनरसबोधनाक्षितर्पणश्लेषणानि पृथगुक्तानि । प्रकृतवातव्याधि-

तानुच्यमानान् पर्यायैः सहेतूपक्रमान् शृणु ।

केवलं वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात् तथावृतम् ॥ ५ ॥

रूक्षशीताल्पलघ्वन्न-व्याध्यातिप्रजागरैः ।

विषमादुपचारात्तु दोषास्तृक्स्त्रवणादति ॥

लङ्घनप्लवनात्यध्व-व्यायामातिविचेष्टितैः ।

धातूनां संचयाच्चिन्ता-शोकरोगातिकर्षणात् ॥

वेगसन्धारणादामादभिघातादभोजनात् ।

मर्मावाधाद् गजोष्ट्राश्च-शीघ्रयानापतंसनात् ॥

देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ।

करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥ ६ ॥

प्रधानतोऽशीतिर्व्याधयो नस्वभेदाद्याः सूत्रस्थाने महारोगाध्याये निदर्शिताः । तानशीतिं वातजान् पर्यायैः सहेतूपक्रमानुच्यमानान् शृणु । केवलं वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात् शृणु तथा चावृतं वायुं शृणु ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—तेषां वातरोगाणां हेतुमाह—रूक्षेत्यादि । रूक्षाद्यन्नम् । विषमाद-सम्यगुपचारात् । दोषाणां वमनादिनाऽतिस्रवणादसृजश्चाभिघातादिनाऽति-स्त्रवणात् । लङ्घनाभोजनयोरत्र भेदो लङ्घनमभोजनभिन्नचतुःप्रकारसंशुद्ध्यादि, उत्पतनं वा । रूक्षान्नादिशीघ्रयानापतंसनान्तेभ्यो हेतुभ्यो बली बलवान-निलो रिक्तानि शून्यानि स्रोतांसि पूरयित्वा सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् विविधान् व्याधीन् करोति ॥ ६ ॥

कथनायैव संख्यानिर्दिष्टाः । अशीतिरित्यादि सूत्रे इति महारोगाध्याये । पर्यायैरिति संज्ञान्तरैः । कथं पुनस्तेऽशीतिर्नस्वभेदाद्या उपदिष्टाः ? उच्यन्ते—केवलं वायुमुद्दिश्य केचित् उक्तास्तथा चावृतं वातमुद्दिश्य केचित् उक्ताः ॥ ३—५ ॥

चक्रपाणिः—रूक्षेत्यादिना सम्प्रति निदानमाह । विषमादुपचारादिति उपचारवैरूप्यात् । दोषासृगित्यादौ दोषशब्देन पुरीषमपि गृह्यते । अवतंसनं गजादिभ्यः पतनम् । किंवा अवतंसनं धातूनां कर्षणम् । रिक्तानीति स्रोतांसि स्नेहादिगुणशून्यानीत्यर्थः ॥ ६ ॥

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम् ।
 आत्मरूपन्तु तद् व्यक्तमपायो लघुता पुनः ॥ ७ ॥
 सङ्कोचः पर्वणां स्तम्भो भेदोऽस्थिपर्वणामपि ।
 लोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपादशिरोग्रहः ॥
 खाञ्जपाङ्गुल्यकुब्जत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता ।
 गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ॥
 शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम् ।
 भेदस्तोदोऽर्त्तिराक्षेपो मोहश्चायास एव च ॥
 एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः ।
 हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद् रोगविशेषकृत् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—अव्यक्तेत्यादि । तेषां विविधानां व्याधीनां यद् यत् स्वस्वलक्षणं तदेवाव्यक्तं यदा, तदा पूर्वरूपं तस्य व्याधेस्तदिति स्मृतम् । आत्मरूपन्तु खलु तस्य तस्य व्याधेः स्वस्वलक्षणन्तु तदव्यक्तमेवेति ततो भेदः । अपायस्तु तेषां लघुता यदा तदा ज्ञेयः । लक्षणं वक्ष्यते ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—विविधान् यान् व्याधीन् करोति तानाह—सङ्कोच इत्यादि । पर्वणां सङ्कोचः । शिरःप्रभृतीनां हुण्डनं वैकृतम् । तत्र विकृतिविशेषः पूर्वं महारोगाध्यायेऽभिहितः । शिरोरूक् च शिरोग्रहशब्देनोक्तत्वादहं शिरोहुण्डनं केशभूमिस्फुटनश्च शङ्खभेदश्च ललाटभेदश्चेति । नासाहुण्डनं घ्राणनाशः । अक्षिहुण्डनमक्षिशूलमक्षिव्युदासश्च । जत्रुहुण्डनं वक्षोघर्षश्च वक्ष-उपरोधश्च वक्षस्तोदश्च । ग्रीवाहुण्डनं ग्रीवास्तम्भश्च मन्यास्तम्भश्च । अनुक्तानाम्

चक्रपाणिः—अव्यक्तं लक्षणमित्यादिना पूर्वरूपमाह । अपायेति वायोश्चपलत्वेन वात-व्याधीनाम् अपगतत्वमिव । लघुता च शरीरस्य । न सर्व्वथा वातलिङ्गाभावो येन प्रकृतलिङ्गानि सन्त्येव । अथवा वातलिङ्गानां लघुता ॥ ७ ॥

चक्रपाणिः—कुपितानां कार्य्यमाह । हुण्डनं शिरःप्रभृतीनाम् अन्तःप्रवेशः । अन्ये तु केशभूमिस्फुटनं शङ्खललाटभेदश्च इत्याहुः । नासाहुण्डनं घ्राणनाशः । अक्षिहुण्डनमक्षिव्युदासः । जत्रुहुण्डनं वक्ष-उपरोधः । ग्रीवाहुण्डनं ग्रीवास्तम्भः । उक्तं हि—व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टं निग्रहो मूत्रवच्चर्चसोः ।
 ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शः पार्श्वशूलश्च मारुतै ॥
 सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने ।
 वेदनाभिः परीतश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥
 ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः ।
 जङ्घोरुत्रिकपातपृष्ठ-रोगशोथौ गुदे स्थितै ॥
 रुक् पार्श्वोदरहृन्नाभेस्तृष्णोद्गारविसूचिकाः ।
 कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थितै ॥
 पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च ।
 कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ॥
 श्रोत्रादिष्विन्द्रियबधं कुर्यात् क्रुद्धः समीरणः ॥
 त्वग्रूचा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यतै ।
 आतन्यतै सरागा च पर्वरुक् त्वग्गतैऽनिले ॥
 रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः ।
 गात्रे चारुं पि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतैऽनिले ॥

उपसंहारार्थमाह—एवंविधानीत्यादि । हेतुविशेषात् स्थानविशेषाच्च रोग-
 विशेषकृत् कुपितोऽनिलो भवति । तद्विशेषोऽत ऊर्द्धं वक्ष्यते ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—तत्र स्थानविशेषे रोगानाह—तत्रेत्यादि । कोष्ठाश्रिते दुष्टे
 मारुते मूत्रनिग्रहादि । सर्वाङ्गकुपिते गात्रस्फुरणादि । गुदे स्थिते वाते
 विण्मूत्रादिग्रहादि । आमाशयस्थिते वाते पार्श्वरुगादि । पक्वाशयस्थो वातो-
 ऽन्त्रकूजनादि करोति । श्रोत्रादिषु स्थितः क्रुद्धः समीरण इन्द्रियबधं कुर्यात् ।
 त्वग्गतैऽनिले त्वग्रूक्षादि स्यात् । असृग्गतैऽनिले रुजस्तीव्रा इत्यादयः स्युः ।

मामया इति । हेत्वित्यादि वातव्याधिविशेष हेतुस्थानविशेषः । उक्तं हि—प्रकुपितास्तु प्रकोपण-
 विशेषान् दूष्यविशेषान् दूषयन्ति ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—सर्वाङ्गकुपिते इति कृत्स्नदेहकुपिते । गुदे इत्युत्तरगुदे । आतन्यने विस्तारयते ।

गुर्वङ्गं तुद्यते स्तब्धं दण्डमुष्टिहतं यथा ।
 सरुक् स्तिमित-०-मत्यर्थं मांसमेदोगतैऽनिले ॥
 भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धि-शूलं मांसबलक्षयः ।
 अस्त्रमः सन्तता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ॥
 क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा ।
 विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ॥
 बाह्याभ्यन्तरमायामं खल्लीं कुब्जत्वमेव च ।
 सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः ॥
 शरीरं मन्दरुक् शोथं शुष्यति स्पन्दते तथा ।
 सुप्तास्तन्व्यो महत्यो वा सिरा वाते सिरागतैः ॥
 वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतैऽनिले ।
 प्रसारणाकुञ्चनयोः सन्धिवृत्तिश्च वेदना ॥
 इत्युक्तं स्थानभेदेन वायोर्लक्षणमेव च ॥ ६ ॥

मांसमेदोगतेऽनिले गुर्वङ्गमित्यादयः स्युः । मज्जास्थिकुपितेऽनिले अस्थिपर्व-
 भेदादयः स्युः । कुपितः शुक्रस्थोऽनिलः क्षिप्रं शुक्रत्यागादीन् जनयेत् । स्नायु-
 गतोऽनिलः बाह्यायामादीन् कुर्यात् । सिरागते वाते मन्दरुगादि शरीरं स्यात्
 सिराः सुप्तादयः स्युः । सन्धिगतेऽनिले वातपूर्णदृतिस्पर्शशोथादयः स्युः ॥ ९ ॥

भुक्तस्य स्तम्भ इति भुक्तस्तम्भः, भुक्तवतो गालस्तम्भो भवतीति । गुर्वङ्गमित्यादिना मांसमेदोगत-
 लक्षणम् । तथा भेदोऽस्थिपर्वणामित्यादि अस्थिमज्जगयोः समानं लक्षणम् । समानेऽपि लक्षणे
 विविधाशितपीतीयोक्तविशिष्टधातुलक्षणैर्विशेष उन्नेयः । सन्ततेति सातुबन्धा । क्षिप्रं
 मुञ्चति बध्नातीति व्यवायकाले क्षिप्रं मुञ्चति वा चिरं धारयते । विकृतिमित्यादिना विकारयुक्तं
 गर्भं जनयति । बाह्येत्यादिना स्नायुगतवातलक्षणत्वेनोक्तानि बहिरायामादीनि अग्रे वक्तव्यानि ।
 एतौ चायामौ खल्लीं कुब्जत्वं सर्वाङ्गत्वं कुर्यात् । स्नायुगत इति स्नायुगतोऽनिल इत्यनेन
 स्नायुगतानिलजन्याबुक्तौ । इह च सिरागतवातजन्यत्वेनोक्तौ तेनोभयवचनात् एतावायामौ शिरा-
 स्नायुगतवातजन्यावेव भवतः । उक्तं हि अन्यत्र—महाहेतुर्बली वायुः शिराः स्नायवः कण्डराः

अतिवृद्धः शरीरार्द्धमेकं वायुः प्रपद्यते ।

यदा तदोपशोष्यासृक् बाहुं पादश्च जानु च ॥

तस्मिन् सङ्कोचयत्यूर्ध्वं मुखं जिह्वं करोति च ।

वक्रीकरोति नासाभ्रू-ललाटादिहनूस्तथा ॥

तदा वक्रं व्रजत्यास्येऽभोजनं वक्रनासिकम् ।

स्तब्धं नेत्रं कथयतः क्ष्वथुश्च निगृह्यते ॥

दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ताऽफला * सज्जति चास्य वाक् ।

दन्ताश्चलन्ति वध्येते श्रवणे भिद्यते स्वरः ॥

पादहस्तादिजङ्घोरु-शङ्खश्रवणागण्डरूक् ।

अर्धे तस्मिन् मुखाद्धे वा केवले स्यात् तदार्द्धितम् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—अथार्द्धितलक्षणमाह—अतिवृद्ध इत्यादि । अतिवृद्धो वायुः शरीरार्द्धम् अथैकं केवलं शरीरं यदा प्रपद्यते, तदाऽसृगादिकमुपशोष्य तस्मिन् शरीरार्द्धे (ऊर्ध्व) केवले वा शरीरे ऊर्ध्व सङ्कोचयति । मुखञ्च जिह्वं कुटिलं करोति । नासादिकं वक्रीकरोति । हनूरिति शसन्तं पदम् । तदा खल्वास्ये वक्रं व्रजति सति कुटिलीभूते सति अभोजनं भोजने शक्तिहीनं वक्रनासिकं कथयतः स्तब्धं नेत्रं भवति । जिह्वा समुत्क्षिप्ता दीना चाफला च स्यात् । ततोऽस्य वाक् सज्जति । दन्ताश्चलन्ति श्रवणे च वध्येते स्वरश्च भिद्यते । पादादिषु रूग् भवति । अर्ध तस्मिञ्छरीरे मुखाद्धे वा केवले कृत्स्ने मुखे वा रूक् स्यात् तदार्द्धितं नाम वातरोगः । इति ॥ १० ॥

शिराः मन्यापृष्ठाश्रिता वाह्याः संशोष्यायामयेद वहिरिति । मन्दरूक्शोफमिति मन्दरुजं मन्दशोफञ्च । सुप्ता इति निःस्पन्दाः ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—इदानीमतिबलान् वातविकारानभिधातुमुद्यतोऽर्द्धितमाह—अतिवृद्ध इत्यादि । अतिग्रहणेन वायोर्बलवत्त्वम् । उग्रकुपितत्वमाह—एकमिति । वामं दक्षिणं वा सङ्कोचयति । अभोजनमिति न समं मुखेन खादति किन्तु वक्तैकदेशेन । दीनेति अगम्भीरा, जिह्वेति कुटिला, समुत्क्षिप्तेति निःसारिता । वाध्येते श्रवणौ यद्यपि एकपार्श्वश्रयो विकारोऽयं तथापि प्रभावात् कर्णयोर्बाधा भवति । केवल इति अर्धे एव । ननु यदि देहाद्धव्यापित्वं अर्द्धितस्य तदार्द्धितेन अर्द्धाङ्गेन च को भेदः ? ब्रूमः—अर्द्धितेऽवेगितया सच्चकालं वेदना न भवति, अर्द्धाङ्गे तु

मन्ये संश्रित्य वातोऽन्तयदा नाडीः प्रपद्यते ।
 मन्यास्तम्भं तदा कुर्यादन्तरायामसंज्ञकम् ॥
 अन्तरायम्यते ग्रीवा मन्या च स्तभ्यते भृशम् ।
 दन्तानां दंशनं लाला पृष्ठाक्षेपः शिरोग्रहः ॥
 जृम्भा वदनसङ्गोऽप्यन्तरायामलक्षणम् ।
 इत्युक्तस्त्वन्तरायामः—

—वहिरायाम उच्यते ॥ ११ । १२ ॥

पृष्ठमन्याश्रिता वाह्याः शोषयित्वा सिरा बली ।
 ततः कुर्यादनुस्तम्भं वहिरायामसंज्ञकम् ॥
 चापवन्नाम्यमानस्य पृष्ठतो नीयते शिरः ।
 उर उत्क्षिप्यते मन्ये स्तब्धे ग्रीवा च मृद्यते ॥

गङ्गाधरः—अथान्तरायामलक्षणमाह—मन्ये इत्यादि । कुपितो वातो यदा द्वे मन्ये संश्रित्यान्तर्नाडीः प्रपद्यते, तदान्तरायामसंज्ञकं मन्यास्तम्भं कुर्यात् । तत्रान्तः क्रोडदेशे ग्रीवा आयम्यते आयता स्यात्, मन्या च भृशं स्तभ्यते, दन्तानाञ्च दंशनं लाला च स्यात्, पृष्ठाक्षेपः पृष्ठे देशे वक्रं स्यात् वदनसङ्गो मुखचालनाक्षमता ॥ ११ । १२ ॥

गङ्गाधरः—वहिरायाममाह—पृष्ठेत्यादि । पृष्ठं मन्याश्चाश्रिता वाह्या याः सिरास्ता बली वातः शोषयित्वा वहिरायामसंज्ञकं हनुस्तम्भं कुर्यात् । चापवत् धनुर्वत् नाम्यमानस्य पृष्ठतः शिरो नीयते । उरो वक्ष उत्क्षिप्यते ऊर्ध्वं क्षिप्यते व्याप्या सर्वदैव भवति । उक्तं हि—‘स्वस्थः स्यादहिताद्यानां मुहुर्वैगागमे गते’ इति । किंवा यथोक्तविशिष्टत्वादहितः, अर्द्धाङ्गे तु नैतानि सर्वाणि भवन्ति ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—मन्ये इत्यादि अन्तरायाममाह । अन्तः यदा नाडीः प्रपद्यते मन्यासम्बद्धा एव शिराः यदि अन्तः प्रपद्यत इत्यर्थः । अन्तरायामसंज्ञितमिति एवंविधो मन्यास्तम्भः अन्तरायाम उच्यते । अपरस्तु मन्यास्तम्भो वक्ष्यमाणवहिरायाम इति वक्तव्यः । तन्त्वान्तरे तु मन्यास्तम्भः आयामयोः पूर्वरूपत्वेनोक्तः । अन्तः आयम्यत इति अन्तः आकृष्यते ॥ ११ । १२ ॥

चक्रपाणिः—पृष्ठमन्याश्रिता इति पृष्ठानुगतमन्यासम्बन्धाः । वाह्या इति शिराविशेषणम् । बाह्याश्च शिराः पृष्ठगता एव । केचित् तु पृष्ठमन्याश्रिता इति वातविशेषणं पठन्ति । पृष्ठतो नीयत इति पृष्ठं प्रति आकृष्यते । जातवेग इति अतिवेगः ॥ १३ ॥

दन्तानां दंशनं जृम्भा लालालावश्च वाग्ग्रहः ।

जातवेगो निहन्येष वैकल्यं वा प्रयच्छति ॥ १३ ॥

हनुमूले स्थितो बन्धात् स्रंसयत्यनिलो हनू ।

विवृतास्यत्वमथवा कुर्यात् संवृतमाननम् ॥

हनुग्रहश्च संस्तभ्य हनू संवृतवक्त्रताम् ॥ १४ ॥

❁ मुहुर्मुहुश्चाक्षिपति गात्राण्याक्षेपकोऽनिलः ।

पाणिपादौ च संशोष्य ससिराः स्नायुकण्डराः ॥

पाणिपादशिरःपृष्ठ-श्रोणीः स्तब्धनाति मारुतः ।

दण्डवत् स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः ॥ १५ ॥

मन्ये द्वे स्तब्धे स्यातां ग्रीवा च मृद्यते । दन्तदंशनादि स्यात् । एष जातवेग एव निहन्ति नरम्, नरस्य वैकल्यं वा प्रयच्छति । वहिरायामः ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—हनुस्तम्भमाह—हनुमूलस्थितोऽनिलो हनुबन्धात् द्वे हनू स्रंसयति । ततो विवृतास्यतां कुर्यादथवा संवृतमाननं कुर्यात् । हनू संस्तभ्य संवृतवक्त्रतां हनुग्रहश्च कुर्यादिति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—आक्षेपकमाह—मुहुर्मुहुश्चरित्यादि । योऽनिलो गात्राणि मुहुर्मुहुश्चाक्षिपति गजारूढस्येव गात्राणि चालयति सोऽनिल आक्षेपकः । तस्यावस्थाविशेषं दण्डकमाह—पाणीत्यादि । पाणी पादौ च संशोष्य ससिराः स्नायुकण्डराश्च संशोष्य मारुतः पाणिपादादीनि स्तब्धनाति । दण्डवदिति दण्डवत् स्तब्धगात्रस्य दण्डको नाम स आक्षेपकोऽनुपक्रमोऽसाध्यः ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—हनुस्तम्भसङ्कोचयोर्लक्षणं हनुमूले स्थित इत्यादि । स्रंसयतीति विवर्त्तयति । विवृतास्यत्वमथवाशब्देन संवृतवक्त्रतां पाक्षिकीञ्चापेक्षते । संस्तभ्येति निश्चलं कृत्वा संवृतमुखतां करोति । एतद् द्वयमपि हनुस्तम्भे एव ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—मुहुश्चरित्यादि आक्षेपलक्षणम्, पाणिपादश्च संशोष्येत्यादि आक्षेपकसम्प्राप्ति-

स्वस्थः स्यादर्हितादीनां मुहुर्वेगे गतेऽगते ।

पीड्यते पीडनैस्तैस्तैर्भिषगेतान् विवर्जयेत् ॥ १६ ॥

हृत्वेकं मारुतः पक्षं दक्षिणं वाममेव वा ।

करोति चेष्टाविरतिं रुजं वाक्स्तम्भमेव च ॥

गृहीत्वाङ्गं शरीरस्य सिराः स्नायुर्विशोष्य च ।

पादं सङ्कोचयत्येकं हस्तं वा तोदशूलकृत् ॥

एकाङ्गरोगं तं विद्यात् पवनात् कुशलो भिषक् ।

सर्वाङ्गरोगं तद्वच्च सर्वदेहानुगेऽनिले ॥ १७ ॥

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरु-जानुजङ्घापदं क्रमात् ।

गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः ॥

गङ्गाधरः—अर्हितादीनामेतदन्तानां मुहुर्वेगे गतेऽतीते सति स्वस्थ आपाततः स्यात् । अगते वेगे पीड्यते ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—हृत्वेत्यादि । कुपितो मारुत एकं दक्षिणं वामं वा पक्षं हत्वा चेष्टाविरतिप्रभृतिं करोति । इति पक्षवधः । गृहीत्वेत्यादि । वायुः शरीरस्याङ्गं गृहीत्वा सिरास्नायुर्विशोष्य तोदशूलकृत् सन् पादमेकमेकं हस्तं वा सङ्कोचयति, तमेकाङ्गरोगं विद्यात् । सर्वाङ्गं शरीरस्य गृहीत्वा सिरास्नायुर्विशोष्य तोदशूलकृद् वायुः पादौ हस्तौ वा सङ्कोचयति तं सर्वाङ्गरोगं विद्यादिति ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—स्फिगित्यादि । स्फिक्पूर्वा गृध्रसी पूर्वं स्फिचं स्तम्भरुक्तोदैर्गृहीत्वा क्रमात् कट्यादीनि स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति मुहुश्च स्पन्दते, सा कथनम् । पाणिपादशिर इत्यादि दण्डकलक्षणम् । अर्हितादीनां दण्डकान्तानां समानं रूपमाह—स्वस्थः स्यादित्यादि । अर्हितहनुस्तम्भादिषु मुहुर्मुहुर्वेगित्वं दृश्यते, तदर्हितान्तर्गतमेव ज्ञेयम् ॥ १५ । १६ ॥

चक्रपाणिः—हृत्वेकमित्यादि पक्षवधलक्षणम् । गृहीत्वाङ्गमित्यादि एकाङ्गलक्षणम् । सर्वाङ्गं सर्वदेहजमिति सर्वाङ्गलक्षणम् । स्फिक्पूर्व्वेत्यादि प्रथमं स्फिक् स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति, पश्चात्

वाताद् वातकफात् तन्द्रा-गौरवारोचकान्विता ।
 खल्ली तु पादजङ्घोरु-करमूलावमोटनी (नात्) ॥ १८ ॥
 स्थाननामानुरूपः स्वैर्लिङ्गैः शेषान् विनिर्दिशेत् ।
 सर्व्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्तादैरुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥
 वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च ।
 वातपित्तकफा देहे सर्व्वस्रोतोऽनुगामिनः ॥
 वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् वायोस्तत्राप्युदीरणः ।
 कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्रान्निपन् गदान् ।
 करोत्यावृतमार्गत्वात् रसादींश्चोपशोषयेत् ॥ २० ॥

गृध्रसी वातात् केवलात् । वातकफात् तु तन्द्रादियुक्ता । इति गृध्रसीलक्षणम् ।
 खल्लीत्यादि । पादमूलाद्यवमोटिनी खल्लीत्युच्यते ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—स्थाननामानुरूपैः स्वैर्लिङ्गैः शेषान् उक्तादितादिभ्योऽन्यान्
 वातरोगान् विनिर्दिशेत् । इति ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—अथ वायोरावरणजरोगानाह—वायोरित्यादि । धातुक्षयाद्
 वायोः कोपे मार्गस्य वायोरावरणेन च कोपो भवति, वातपित्तकफा देहे
 सर्व्वस्रोतोऽनुगामिनो हेतवः स्युः । कथं तद्धि वायोः कोपे वातादयः सर्व्व-
 स्रोतोऽनुगामिनः स्युरित्यत आह—वायुरेव हीत्यादि । हि यस्मादेको वायु-
 रपरस्य वायोर्धातुक्षयात् मार्गावरणेन कोपे सूक्ष्मत्वादुदीरणः प्रेरकः । तौ

कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं गृह्णाति, सा गृध्रसी वातात् । वातकफात् सा पूर्व्वोक्तलक्षणा सती
 तन्द्रा इत्यभिधेया भवति । एवं गृध्रसीद्वयं यद् द्वे गृध्रस्यौ वातात् वातकफाद् द्वे इत्यनेनोक्ते अपि
 विवृते भवतः ॥ १७ । १८ ॥

चक्रपाणिः—अनुक्तानां परिग्रहार्थमाह—स्थाननामेत्यादि । शेषान् अनुरूपैर्लिङ्गैः भेद-
 शुलादिभिः निर्दिशेदिति ज्ञेयम् । केचित् स्थानानामनुरूपैरिति पठन्ति । तत्र नखभेदस्थानानु-
 रूपञ्च लिङ्गं नखस्फुटनरूपं भवति । एवं चापरवातविकारेष्वपि महारोगोक्तेषु स्थानानुरूपं
 लिङ्गमनुसर्तव्यम् । वातस्य पित्तादिसंसर्गं ज्ञापयन्नाह—सर्व्वेष्वित्यादि । पित्ताद्यैरिति पित्त-
 कफरक्तादिभिः । अथावृतस्य वायोः कथं कुपितत्वं भवति, भवतु मार्गरोधात् वातकोपः
 आवरकेश तु पित्तेन कफेन वातकोपनस्य कथं सम्भवो भवतीत्याह—वातपित्तेत्यादि । तृतीय-
 मेलके वायोः प्राधान्यमाह—सूक्ष्मत्वादिति । सूक्ष्ममार्गानुसारितया प्रेरकत्वात् । तस्मात्

लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमः क्लमः ।

कटुम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामिता ॥

शैत्यगौरवशूलानि कट्टादुपशयोऽधिकम् ।

लङ्घनायासरूक्षोष्ण-कामता च कफावृते ॥

रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरयोर्भृशम् ।

भवेत् सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च ॥

कठिनाश्च विवर्णाश्च पिङ्गकाः श्वयथुस्तथा ।

हर्षः पिपीलिकानाश्च संसार इव मांसगे ॥

चलः क्षिब्धो मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वरुचिस्तथा ।

आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसावृतः ॥

पित्तकफौ समुद्धय तत्र तत्र माग आक्षिपन् गदान् करोति । आवृत-
मार्गैर्लाद् रसादींश्चोपशोषयेदिति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—येन येनावृतः सन् यद् यल्लिङ्गं करोति तदाह । लिङ्गमित्यादि ।
पित्तावृते वायौ लिङ्गं दाहादि । तत्र कट्टादिभिः सेवितैर्विदाहः शीतकामिता
च स्यात् । शैत्येत्यादि । कफावृते वायौ शैत्यादीनि स्युः कट्टादुपशयोऽधिकं
भवति । लङ्घनादिकामता च स्यात् । रक्तावृत इत्यादि । रक्तावृते वायौ लङ्-
मांसयोरन्तरे भृशं सदाहार्तिः सरागः श्वयथुर्भवेत् । मण्डलानि च जायन्ते ।
मांसदिवातुगतवातकार्य्याण्याह—कठिना इत्यादि । मांसगे वायौ कठिन-
पिङ्गकादि स्यात् । पिपीलिकानां संसारः संसरणमिव हर्षः स्यात् । चल
इत्यादि । मेदसावृतो वातश्चल इत्यादिलक्षण आढ्यवात इति ज्ञेयः, स कृच्छ्र-

त्रिष्वनि दोषेषु वायुरेव उक्तन्यायेन प्रधानम्, अतः कुपितः पित्तकफौ समुदीर्य्य ताभ्यामावृत-
मार्गोऽपि तत्र तत्र प्रदेशे गदान् करोति । तथा रसादींश्च तत्र तत्र क्षिपन् संशोषयेत् ॥ १९ । २० ॥

चक्रपाणिः—आवरणकृतं वातकोपं दर्शयित्वा आवरणविशेषकृतं लिङ्गमाह—पित्तावृत इत्यादि ।
कट्टाद्युपशय इति कट्टूणादिकफविपरीतैरुपशयः । अधिकमिति..... । मांसगे इति मांसावृते ।
मांसगतस्य रक्तादिगतस्य च वातस्य लक्षणमुच्यते । आढ्यवात इति आयुर्वेदसंज्ञा मेदसा आवृत-

स्पर्शमस्थ्यावृतै तूष्णां पीडनश्चाभिनन्दति ।
 संभज्यते सीदति च सूचीभिरिव तुद्यते ॥
 मज्जावृतै विनमति जृम्भते परिचेष्टते ।
 शूलश्च पीड्यमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम् ॥
 शुक्रावेगोऽतिवेगा वा निष्फलत्वश्च शुक्रगे ।
 भुक्ते कुक्षौ रुजा जीर्णे शाम्यन्त्यन्नावृतोऽनिले ॥
 मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं वस्तौ मूत्रावृतोऽनिले ।
 वर्चसोऽतिविवन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति ॥
 व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः ।
 चिरात् पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं शकृत् सृजेत् ॥
 श्रोणिवङ्क्षणपृष्ठेषु रुग्विलोमश्च मारुतः ।
 अस्वस्थं हृदयञ्चैव वर्चसा त्वावृतोऽनिले ॥ २१ ॥

साध्यः । स्पर्शमित्यादि । अस्थ्यावृते वाते स्पर्शन्तूष्णमभिनन्दति पीडनश्चाभि-
 नन्दति संभज्यतेऽङ्गमिति शेषः । मज्जावृत इत्यादि । मज्जावृते वायौ नरो-
 विनमतीत्यादि । शूलश्च स्यात् । तत्र पाणिभ्यां पीड्यमाने देहे सुखं लभते ।
 शुक्रावेग इत्यादि । शुक्रगे वायौ शुक्रस्यावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्वश्च गर्भ-
 जननफलरहितत्वं स्यात् । भुक्त इत्यादि । अन्नावृतोऽनिले भुक्तेऽन्ने कुक्षौ
 रुजा जीर्णोऽन्ने शाम्यन्ति । मूत्रेत्यादि । मूत्रावृतोऽनिले मूत्रस्याप्रवृत्तिर्वस्तौ
 चाध्मानं स्यात् । वर्च इत्यादि । वर्चसावृतोऽनिले वर्चसोऽधोऽतिविवन्धः
 स्वे स्थाने विवन्धस्थाने परिकृन्तति । भुक्तेऽन्ने सत्याशु स्नेहो जरामाशु व्रजति
 भुक्तेऽन्ने चानह्यते पुरीषम् । अन्नेन पीडितं शुष्कं शकृत् नरश्चिराद् दुःखं यथा
 स्यात्तथा सृजेत् । श्रोण्यादिषु रुक् मारुतश्च विलोमो नानुलोमः ।
 हृदयश्चास्वस्थमिति ॥ २१ ॥

वातस्य । स्वस्थान इति पक्काशये । परिकृन्तति परिकर्त्तिकां जनयति । साध्यासाध्यविभागा इति

गात्रश्लेषो हनुस्तम्भः कुञ्चनं कुब्जतार्दितम् ।
 सन्धिच्युतिः पक्षवधः पाङ्गुल्यं खुड्वातता ॥
 स्तम्भनं चाढ्यवातश्च रोगा मज्जास्थिगाश्च ये ।
 एतै स्थानस्य गाम्भीर्यात् यत्नात् सिध्यन्ति वा न वा ॥
 नवान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान् ॥ २२ ॥
 क्रियामतःपरं सिद्धां वातरोगापहां शृणु ।
 केवलं निरुपस्तम्भमादौ स्नेहरूपाचरेत् ।
 वायुं सर्पिर्वसातैल-मज्जपानैर्नरं ततः ॥
 स्नेहक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत् पुनः ।
 यूषैर्ग्राम्याम्बुजानूप-रसैर्वा स्नेहसंयुतैः ॥

गङ्गाधरः—गात्रेत्यादि । गात्रश्लेषादयो वातरोगा ये त एते स्थान-
 गाम्भीर्यात् यत्नात् सिध्यन्ति वा न वा । नवांस्तु खल्वेतान् गात्रश्लेषादीन्
 निरुपद्रवान् बलवतो नरस्य साधयेत् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—इत्यन्यावृत्तवातरोगानुत्तवा तेषां चिकित्सितं वक्तुमुच्यते ।
 क्रियामत इत्यादि । केवलमित्यादि । केवलं वायुं निरुपस्तम्भं स्तम्भहीनमादौ
 सर्पिरादिभिः स्नेहरूपाचरेत् । सर्पिरादिपानैः स्नेहक्लान्तं नरं ततः समाश्वास्य
 पयोभिः पुनः स्नेहयेत् । स्नेहसंयुतैर्यूषैरथवा स्नेहसंयुतेर्ग्राम्यादिमांसरसैः

स कृच्छ इत्यादि । अत्र कुब्जत्वपङ्गुत्वादयो यद्यपि साक्षात् प्रपञ्चितास्तथापि विशेषदोषेणैव
 तल्लक्षणं ज्ञेयम् । खण्डवातता गुल्फवातता किंवा सन्निपातवातः । मज्जास्थिगा इति
 मज्जास्थिगतवातजन्या इत्यर्थः । स्थानस्य गाम्भीर्यादिति गम्भीरस्थानाश्रितत्वात् । अन्ये तु
 गाम्भीर्यत्वमाहुः । वैद्यस्तु नावश्यं सर्व्वत्र अव्याहतज्ञानो भवति । तेन संशयाभिधानमिति
 ज्ञेयम् । नवानामप्येषां निरुपद्रवतया साध्यतामाह—नवानित्यादि । उपद्रवाश्चात्र शृङ्गग्राहि-
 तयानुक्ता अपि सामान्योपलक्षणयुक्ता एव केचित् गदा विज्ञेयाः । किंवा अध्यायशेषे हृद्रोग-
 विद्रवीत्यादिना वक्ष्यमाणा उपद्रवा ज्ञेयाः ॥ २१ । २२ ॥

चक्रपाणिः—अवसरप्राप्तां क्रियामाह—क्रियामत इत्यादि । केवलमित्यादौ केवलमिति
 असंसृष्टम् । निरुपस्तम्भमित्यनावृत्तम् । कैः स्नेहैः कथञ्चोपाचरेदित्याह—सर्पिर्वसातैलमज्जपानै-
 रिति । स्नेहपानानन्तरं कर्त्तव्यमाह—नरं ततः स्नेहक्लान्तमित्यादि । स्नेहपानोद्विनं समा-

कृशरापायसैः साम्ल-लवणैः सानुवासनैः ।
 नावनैस्तर्पणश्चान्यैः सुस्निग्धं स्वेदयेत् तु तम् ॥
 स्वभ्यक्तं स्नेहसंयुक्तर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः ।
 तथान्यैर्विविधैर्योगैर्यथायोगमुपाचरेत् ॥ २३ ॥
 स्नेहाक्तं स्निन्नमङ्गन्तु वक्रं स्तब्धमथापि वा ।
 शनैर्नमयितुं शक्यं यथेष्टं शुष्कदारुवत् ॥
 हर्षतोदरुगायास-शोथस्तम्भग्रहादयः ।
 स्निन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति मार्दवश्चोपजायते ॥
 स्नेहश्च धातून् संशुष्कान् पुष्णात्याशु प्रयोजितः ।
 बलमग्निबलं पुष्टिं प्राणांश्चाप्यतिवर्द्धयेत् ॥
 असंस्कृतं पुनः स्नेहैः स्वेदैश्चाप्युपपादयेत् ।
 तथा स्नेहमृदौ कोष्ठे न तिष्ठन्त्यनिलामयाः ॥ २४ ॥

कृशरादिभिश्च स्नेहयेत् । ततः सुस्निग्धं तं स्वभ्यक्तं स्नेहेन नाडीस्वेदादिभिः
 स्नेहसंयुक्तैः स्वेदयेत् । तथा यथायोगं विविधैरन्यैर्योगैश्चोपाचरेत् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—एवं स्नेहपूर्वस्वेदफलमाह—स्नेहाक्तमित्यादि । स्नेहाक्तं स्निन्नं
 वक्रं वा स्तब्धं वा शनैर्यथेष्टं यथाभिमतं नमयितुं शक्यं स्यात् शुष्कदारुवत् ।
 हर्षादयश्च स्निन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति मार्दवश्च जायते । स्नेहश्च प्रयोजितः
 शुष्कान् धातूनाशु पुष्णाति । बलादिकं वर्द्धयेत् । स्नेहैः स्वेदैश्चाप्यसंस्कृतं
 नरं पुनः स्नेहैः स्वेदैश्चोपपादयेत् । तथा सति स्नेहमृदौ कोष्ठे सति अनिलामया
 न तिष्ठन्ति ॥ २४ ॥

आस्थेति विश्राम्य स्नेहयेदिति तर्पणैः । पानैस्तित्यत्र यावदित्यादि अनुवर्तते । अन्यैरिति
 कुटीमृमिस्वेदादिभिः । यथायोगमिति सर्व्वथा स्नेहपूर्व्वकस्वेदम् ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—स्नेहपूर्व्वकस्वेदगुणमाह—स्नेहाद्रं स्निन्नमित्यादि । स्वेदाध्याये स्नेहपूर्व्व-
 प्रयुक्तं स्वेदेनेत्युक्तोऽपि अयं स्नेहपूर्व्वकः स्वेदगुणः पुनः प्रकरणागतत्वादुच्यते । आशुप्रयोजित
 इत्यत्र पुष्णातीत्यनेन सम्बध्यते । अनिलामयाः न तिष्ठन्ति न स्थायिनो भवन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

यद्यनेन सदोषत्वात् कर्मणा न प्रशाम्यति ।

मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैर्भेषजैस्तं विशोधयेत् ॥ २५ ॥

घृतं तिल्वकसिद्धं वा सातलासिद्धमेव वा ।

पयस्येरण्डतैलं वा पिबेद् दोषहरं शिवम् ॥

स्निग्धाम्ललवणोष्णादौ राहारैर्हि मलश्चितः ।

स्रोतो बध्नाति तं रुद्धा तस्मात् तमनुलोमयेत् ॥ २६ ॥

दुर्बलो यो विरेच्यः स्यात् तं निरुहैरुपाचरेत् ।

पाचनैर्दीपनीयैर्वा भोजनैस्तदुद्युतेनैरम् ॥

गङ्गाधरः— दीत्यादि । अनेन निरुक्तेन कर्मणा यदि सदोषत्वादवशिष्ट-
दोषवत्त्वाद् वातामयो न प्रशाम्यति, तदा स्नेहयुक्तैर्मृदुभिर्भेषजैस्तं विशोधयेत्
विरेचनेन ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—स्नेहमृदुविरेचनमाह—घृतमित्यादि । तिल्वकं लोध्रं तत्-
सिद्धं घृतमथवा सातलया सप्तलया सिद्धं घृतम् अथवा पयस्येरण्डतैलं दोष-
हरं पिबेत् । एतेन यत् स्यात् तदाह—स्निग्धेत्यादि । हि यस्मात् स्निग्धा-
द्याहारैश्चितो मलस्तं मलं रुद्धा स्रोतो बध्नाति तस्मात् तं मलमनुलोमयेद्
विरेचनेनानेनेति ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—अविरेच्यस्य विधिमाह—दुर्बल इत्यादि । यो हि विरेच्यो
दुर्बलस्तथा यश्चाविरेच्यस्तं निरुहैरुपाचरेत् । अथवा पाचनादिभिर्युतै-

चक्रपाणिः—यद्यनेन सदोषत्वादित्यादि । अत्र केवलो वा निरुस्तम्भः वायुः चिकित्स्यत्वेनाधि-
कृतः । स दोषमुपपन्नः कर्मणा न प्रशाम्यति, तेनोक्तस्य कर्मणोऽपि तत्वाशुद्धिः मलजनकत्वात् ।
वक्ष्यति हि 'स्निग्धाम्ललवणोष्णाद्यै राहारैर्हि मलश्चितः' इति, किंवा सदोषत्वादित्यनेन उत्तर-
कालीनं वायोः संशमनमुच्यते । असंस्तृत्वञ्च यदुक्तं तदुपक्रमारम्भकाले ज्ञेयम् । सदोषत्वञ्च
स्नेहप्रयोगेणानुपशये ज्ञेयम् । संशोधनकरणे च हेतुः शमनमेवोत्तरकालीनं कुतो भवतीत्याह—
स्निग्धेत्यादि ॥ २५ । २६ ॥

चक्रपाणिः—दुर्बलो योऽविरेच्य इति दुर्बलत्वप्रकर्षेण अविरेच्य इत्यर्थः । अत्यथेदुर्बलतायां
विधिमाह—पाचनैर्दीपनीयैरिति । यथा पाचनैः तथा दीपनैः, तथा अनास्थाप्यास्त्वत्तिस्निग्ध इत्यादौ
अपि दुर्बलः पठितः । पाचनं किञ्चिद्दीपनं यथा पदोलम्, दीपनं किञ्चित् पाचनं यथा लिफला,
उक्तं हि सुश्रुते—'लिफला कफपित्तास्र-मेहकुष्ठविनाशिनी । चक्षुष्या दीपनी चेति । तथा

संशुद्धस्योत्थिते चाग्नौ स्नेहस्वेदौ पुनर्हितौ ।
 स्वाद्वम्ललवणः स्निग्धैराहारैः सततं पुनः ॥
 नावनधूमपानैश्च सर्वानेवोपपादयेत् ।
 इति सामान्यतः प्रोक्तं वातरोगचिकित्सितम् ॥ २७ ॥
 विशेषतस्तु कोष्ठस्थे वाते क्षीरं * पिबेन्नरः ।
 पाचनीयरसैर्युक्तैरन्यैर्वा पाचयेन्मलान् ॥
 गुदपक्वाशयस्थे तु कर्म्मोदावर्त्तनुद्धितम् ।
 आम्लाशयस्थे शुद्धस्य यथादोषहरी क्रिया ॥
 सर्वाङ्गकुपितेऽभ्यङ्गो वस्तयः सानुवासनाः ।
 स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते ॥
 शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम् ।
 विरेको मांसमेदःस्थे निरूहाः शमनानि च ॥

भोजनैस्तं नरमुपाचरेत् । संशुद्धस्येत्यादि । एवं संशुद्धस्य वातरोगिणोऽग्नौ
 चोत्थिते पुनः स्नेहस्वेदौ हितौ स्वाद्वम्ललवणैर्नावनधूमपानैस्ततः पुनः स
 सर्वानेव वातरोगानुपपादयेत् । इति सामान्यतो वातरोगचिकित्सित-
 मुक्तम् ॥ २७ ॥

गङ्गाघरः—विशेषत आह—विशेषतस्त्वित्यादि । विशेषतः कोष्ठगते वाते
 नरः क्षीरं पिबेत् । पाचनीयरसैर्युक्तैरन्यैर्मलान् पाचयेत् । गुदेत्यादि ।
 गुदस्थे पक्वाशयस्थे च । आम्लाशयस्थे शुद्धस्य विरेचनेन दोषहरी क्रिया ।
 सर्वाङ्गकुपितेऽभ्यङ्गादयः । त्वगाश्रिते वाते स्वेदादयः । शीता इत्यादि ।

पाचनैरित्यस्य दीपनैरिति विशेषणं कृतम् । भोज्यैर्वा तदयुतैरिति पाचनदीपनसंयुक्तैर्भोज्यैः ।
 उत्थिते चाग्नौ इति दीप्ते बह्वौ ॥ २७ ॥

चक्रपाणिः—स्थानविशेषेण क्रियाविशेषमाह—विशेषतस्त्वित्यादिना अधो नाभेः शस्यते
 चावपीडक इत्यन्तेन । क्षारं यवक्षारं किंवा क्षारमिति ग्रहण्यादिनिर्दिष्टं दीपनक्षारम् ।

* क्षारमिति चक्रसम्मतः पाठः ।

बाहुशीषंगते नस्यं पानञ्चौत्तरभक्तिकम् ।
 वस्तिकर्म त्वधो नाभेः शस्यते चावपीडकः ॥ २९ ॥
 अर्दिते नावनं मूर्च्छि तैलं तर्पणमेव च ।
 नाडीस्वेदोपनाहाश्चाप्यानूपपिशितहिताः ॥
 स्वेदनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम् ।
 अन्तरा कण्डराङ्गुल्योः शिरोवस्त्यग्निकर्म च ॥
 गृध्रसीषु प्रयुञ्जीत खल्ल्यां तूष्णोपनाहनम् ।
 पायसैः कृशरैश्चैव शस्तैस्तैलघृतान्वितैः ॥ ३० ॥
 व्यादितास्ये हनुं खिन्नमङ्गुलाभ्यां प्रपीडयेत् ।
 प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य चिवुकोन्नमनं हितम् ॥

सङ्घचिते वाते माषसैन्धवसाधितं तैलप्रभृद्भिः । बाहुशीषंगते वाते नस्यम्
 औत्तरभक्तिकं स्नेहपानञ्च । नाभेरधो वाते वस्तिकर्म शस्यतेऽवपीडश्च ॥ २९ ॥
 गङ्गाधरः—अर्दिते वाते नावनं नस्यं मूर्च्छि तैलं तर्पणञ्च । नाडीत्यादि ।
 अर्दिते वाते नाडीस्वेदादय आनूपपिशितैर्दिताः । एवं पक्षाघाते स्नेहसंयुक्तं
 स्वेदनं विरेचनञ्च । गृध्रसीषु कण्डराङ्गुलयोरन्तरा शिरोवस्तिरग्निकर्म च
 यथायोग्यं प्रयुञ्जीत । खल्ल्यान्तूष्णोपनाहनं तैलघृतान्वितैः पायसैः कृशरः शस्तैः
 प्रयुञ्जीत ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—व्यादितास्य इत्यादि । व्यादितास्ये हनुस्तम्भे खिन्नं हनुं
 प्रदेशिनीभ्यामङ्गुलीभ्यां चिवुकमुन्नाम्य प्रपीडयेत् । इत्येवं चिवुकोन्नमनं

उपनाहनञ्च वातहरद्रव्यैरेव कर्तव्यम् । नस्ये पाने च उक्तमाषसैन्धवसाधितमेव तैलम् । अथ
 च माषस्य काथः सैन्धवस्य कल्कः । २८ । २९ ॥

चक्रपाणिः—अर्दितानि विचिकित्सामाह—अर्दित इत्यादि । तर्पणमित्यादि नावनविशेषणम् ।
 अन्तराकण्डराङ्गुलयोरिति । कण्डराङ्गुल्योर्मध्ये सिराव्यधनं कर्तव्यम् । गृध्रसीष्विति बहुवचनं
 व्याधिभेदतया गदितम् । व्यात्ताननमिति विवृतास्यम् । प्रदेशिनी अङ्गुष्ठानन्तराङ्गुली ।

स्नस्तं स्वं गमयेत् स्थानं तथा स्निन्नञ्च नामयेत् ।

प्रत्येकं स्थानदूष्यादि-क्रियां सर्वत्र कारयेत् ॥ ३१ ॥

सर्पिस्तैलवसामज्ज-पानाभ्यञ्जनवस्तयः ।

स्वेदः स्निग्धो निवातश्च स्थानं प्रावरणानि च ॥

रसाः पर्यासि भोज्यानि स्वाद्वम्ललवणानि च ।

बृंहणं यच्च तत् सर्वं प्रशस्तं वातरोगिणाम् ॥ ३२ ॥

बलायाः पञ्चमूलस्य दशमूलस्य वा रसे ।

अजशीर्षाम्बुजानूप-क्रव्यादपिशितैः समम् ॥

साधयित्वा रसान् स्निग्धान् दध्यम्लव्योषसंस्कृतान् ।

भोजयेद् वातरोगार्त्तं तैर्व्यक्तलवणैर्नरम् ॥

एतैरेवोपनाहांश्च पिशितैः संप्रकल्पयेत् ।

घृततैलयुतैः साम्लैः स्निन्नक्षणाैरनस्थिभिः ॥ ३३ ॥

हितम् । स्नस्तमित्यादि । स्नस्तमङ्गं स्निन्नं स्वं स्थानं गमयेत् ऊर्द्धं गतं
तथा स्निन्नं नामयेत् । प्रत्येकमित्यादि । सर्वत्र वातरोगे प्रत्येकं स्थान-
दूष्यादिक्रियां कारयेत् ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—एवं सर्पिरादिचतुःस्नेहपानादयः । स्वेदादयः । स्वाद्वम्लादि-
भोजनानि ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—बलाया इत्यादि । बलाया रसे पञ्चमूलस्य महतो रसे वा
दशमूलस्य रसे वा छागशीर्षं साधयित्वा रसं कृत्वाम्बुजपिशितं वा तस्मिं
स्तस्मिन् रसे रसं साधयित्वा आनूपमांसं वा तस्मिंस्तस्मिन् रसे पक्त्वा रसं
साधयित्वा क्रव्यादमांसं वा तस्मिंस्तस्मिन् रसे पक्त्वा रसं साधयित्वा
दध्यम्लव्योषं दत्त्वा वातरोगार्त्तं तेन तेन रसेन व्यक्तलवणेन भोजयेत् ।
एतैरेवाजशीर्षादिपिशितैरनस्थिभिः स्निन्नक्षणाः स्निन्नं कृत्वा पिशितैः

अनुक्तविशेषचिकित्साग्रहणार्थमाह—प्रत्येकमित्यादि । स्थानं पक्षाशयादि । दूष्यं रसरक्षादि ।
आदिग्रहणात् आवरणग्रहणम् । स्थानदूष्यापेक्षः क्रियाविशेषस्तु कोष्ठस्थ इत्यनेनैवोक्तः ॥ ३०३१ ॥

चक्रपाणिः—सर्वविकारशमनं चिकित्सितमाह—सर्पिस्तैलमित्यादि ॥ ३२ ॥

पत्रोत्काथपयस्तल-द्रोणयः स्युरवगाहने ।

स्वभ्यक्तानां प्रशस्यन्ते सेकाश्चानिलरोगिणाम् ॥ ३४ ॥

आनूपौदकमांसानि दशमूलं शतावरोम् ।

कुलत्थान् बदरान् माषान् तिलान् रास्त्राबलायवान् ॥

वसादध्यारनालाम्लैः सह कुम्भ्यां विपाचयेत् ।

नाडीस्वेदं प्रयुञ्जीत पिष्टैश्चाप्युपनाहनम् ॥

तैश्च सिद्धं घृतं तलमभ्यङ्गं पानमेव च ॥ ३५ ॥

मुस्तं कुष्ठं तिलाः किरणं सुराहं लवणं नतम् ।

दधिचौरचतुःस्नेहैः शस्तं स्यादुपनाहनम् ॥ ३६ ॥

उत्कारिकावेशवार-चौरमाषतिलौदनैः ।

एरण्डबीजगोधूम-यवकोलस्थिरादिभिः ॥

साम्लैरम्लकाञ्जिकादियुक्तैर्घृततैलयुक्तैश्चोपनाहान् कल्पयेत् । बहुवचनात् प्रत्येकश्चाजशीर्षादीनां पिशितैरुपनाहाः कार्य्या इति ॥ ३३ ॥

गङ्गाधरः—पत्रोत्काथेत्यादि । वातहरप्रसारण्यादिपत्राणामुत्काथा अवगाहने शस्ताः । पयसो द्रोणी तैलद्रोणी चावगाहने शस्ता । तथा वातहरस्नेहेनाभ्यक्तगात्राणां सेका वातहरद्रव्यकाथं धारया सेचयेत् ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—आनूपेत्यादि । आनूपमांसादीनि यवान्तानि वसादिभिः द्रवैः सह कुम्भीमध्ये तन्मुखरोधेन पचेत् । तेन नाडीस्वेदं प्रयुञ्जीत । अथवा पिष्टैस्तैश्च तथा पक्त्वा उपनाहं प्रयुञ्जीत । एवं तैरानूपमांसदियवान्तैः पादिकैः कल्कैर्दध्यारनालाम्लैश्चतुर्गुणैः स्नेहत्वाद् वसया समया सिद्धं घृतं तैलाश्चाभ्यङ्गं पानञ्च प्रयुञ्जीत ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—मुस्तमित्यादि । मुस्तादिकं दध्यादिभिः पिष्ट्वा उपनाहनं शस्तं स्यात् ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—उत्कारिकेत्यादि । वातरोगिणां सरुजं गात्रमुत्कारिका-

सस्नेहैः सरुजं गात्रमालिप्य बहलं भिषक् ।
 एरण्डपत्रैर्बध्नीयात् रात्रौ कल्यं विमोक्षयेत् ॥
 क्षीराम्बुना ततः सिक्तं पुनश्चैवोपनाहितम् ।
 मुञ्चेद् रात्रौ दिवा बद्धं चर्मभिस्तं सलोमभिः ॥ ३७ ॥
 फलानां तैलयोनोनामम्लपिष्टान् सुशीतलान् ।
 प्रदेहानुपनाहांश्च गन्धैर्वातहरैरपि ।
 कृशरापायसैश्चैव कारयेत् स्नेहसंयुतः ॥ ३८ ॥
 रुद्धशुद्धानिलार्त्तानामतः स्नेहान् प्रवक्ष्यति ।
 विवधान् विविधव्याधि-प्रशमायामृतोपमान् ॥ ३९ ॥
 द्रोणेऽम्भसः पचेद् भागान् दशमूलचतुष्पलान् ।
 यवकोलकुलस्थानां भागैः प्रस्थोन्मितैः सह ॥

दिभिर्बहलं घनमालिप्य रात्रावेरण्डपत्रैर्बध्नीयात् । कल्यं प्रातर्विमोक्षयेत् ।
 उत्कारिकया यवादिकृतया सस्नेहया बहलालेप एकोऽपरो वेशवारेण सस्नेहेन,
 तृतीयः क्षीरमाषतिलौदनैः सस्नेहैः, चतुर्थ एरण्डादिभिः सर्व्वैः सस्नेहैरिति ।
 एवं प्रातर्बन्धमोक्षणं कृत्वा क्षीराम्बुना सिक्तं धौतं कृत्वा पुनर्दिवा तथैव
 बहलमालिप्य सलोमभिश्चर्मभिर्बध्नीयादेवं दिवाबद्धं रात्रौ मुञ्चेत् ॥ ३७ ॥
 गङ्गाधरः—फलानामित्यादि । तैलयोनीनां तिलसर्षपातसीत्यादीनां
 फलानि पिष्ट्वा सुशीतान् प्रदेहानुपलेपांश्च कारयेत् । वातहरैर्गन्धैरेलादिभिः
 स्नेहसंयुतैरपि प्रदेहानुपलेपांश्च कारयेत् । कृशरया स्नेहयुतयाऽथवा पायसैः
 स्नेहसंयुतैः प्रदेहानुपलेपांश्च कारयेदिति ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—रुक्षेत्यादि । ये शुद्धवातरोगार्त्ता रुक्षास्तेषां स्नेहान्
 प्रवक्ष्यति ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—द्रोणेऽम्भस इत्यादि । दशमूलस्य प्रत्येकं चतुष्पलान् भागान्

चक्रपाणिः—बलाया इत्यादौ बला पृथक्शब्दः । बलादीनां रसाः साधनद्रव्याणि ।
 अजक्षीर्षादयश्चत्वारः साध्याः । एवं द्वादश रसा भवन्ति । कल्यमिति प्रभाते ॥ ३३—३७ ॥

चक्रपाणिः—फलानां तैलयोनीनामिति तिलातस्यादीनाम् । प्रदेहानुपनाहांश्चेत्यत्र प्रदेहः
 उपनाहापेक्षया तनुर्लपः । गन्धैरित्यगुर्वाद्यैः । रुक्षेत्यादौ शुद्धानिलार्त्ताः केवलवातपीडिताः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

पादशेषरसैः पिष्टैर्जीवनीयैः सशर्करैः ।

तथा काश्मर्यखज्जूर-द्राक्षाबदरफल्गुभिः ॥

सक्षीरैः सर्पिषः प्रस्थः सिद्धः केवलवातनुत् ।

निरत्ययः प्रयोक्तव्यः पानाभ्यञ्जनवस्तिषु ॥ ४० ॥

चित्रकं नागरं राक्षां पौष्करं पिप्पलीं शटीम् ।

पिष्ट्वा विपाचयेत् सर्पिर्वातरोगहरं परम् ॥ ४१ ॥

बलाबिल्वशृत्तै क्षीरे घृतमण्डं विपाचयेत् ।

तस्य शुक्तिः प्रकुञ्चो वा नस्यं शीषगतैऽनिले ॥ ४२ ॥

ग्राम्यान्पौदकानाञ्च भित्वास्थीनि पचेज्जले ।

तं स्नेहं दशमूलस्य कषायेण पुनः पचेत् ॥

जावकर्षभकास्फोता-विदारीकपिकच्छुभिः ।

वातघ्नैर्जीवनीयैश्च कल्कैर्द्वि क्षीरभागिकम् ॥

यवादीनां प्रत्येक प्रस्थोन्मितभागैः सहाम्भसो द्रोणे पचेत् । पादशेषे रसे
जीवनीयैः सशर्करैः पिष्टैः कल्कैः पादिकैः सर्पिषः प्रस्थः सिद्ध एको योगः ।
तथा दशमूलादिक्वाथे काश्मर्यादिभिः कल्कैः पादिकैः समक्षीरैः सर्पिषः
प्रस्थः सिद्धो द्वितीययोगः । कश्चित् तु तथा काश्मर्यादिभिः कल्कैः
सक्षीरैश्चतुर्गुणक्षीरैः सिद्धो घृतप्रस्थ इति व्याचष्टे ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—चित्रकमित्यादि । चित्रकादिकः कल्कः पादिकश्चतुर्गुणं
जलम् ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—बलेत्यादि । बलाबिल्वाभ्यामष्टगुणं क्षीरं चतुर्गुणजले पक्वं
शेषं क्षीरं चतुर्गुणं घृतमण्डमकल्कं पाचयेत् । तस्य शुक्तिरर्द्धपलं प्रकुञ्चः
पलं वा नस्यम् ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—ग्राम्येत्यादि । ग्राम्यादीनां जन्तूनामस्थीनि भित्वा जले पचेत्
ततः स्थापयेत्, अथ स्थिरजलोपरि स्नेह उत्तिष्ठति तं मज्जस्नेहं द्विक्षीर-

तत् सिद्धं नावनाभ्यङ्गात् तथा पानानुवासनात् ।
 सिरापर्वीस्थिकोष्ठस्थं प्रणुदत्याशु मारुतम् ॥
 ये स्युः प्रक्षोणमज्जानः क्षीणशुक्रौजसश्च ये ।
 बलपुष्टिकरं तेषामेतत् स्यादमृतोपमम् ॥ ४३ ॥ *
 प्रस्थः स्यात् त्रिफलायास्तु कुलत्थकुड्मद्वयम् ।
 कृष्णागन्धात्वगाढकयोः पृथक् पञ्चपलं भवेत् ॥
 रास्नाचित्रकयोर्द्वे द्वे दशमूलं पलोन्मितम् ।
 जलद्रोणे पचेत् पाद-शेषे प्रस्थोन्मितं पृथक् ॥
 सुरारनालदध्यम्ल-सौवीरकतुषोदकम् ।
 कोलदाडिमवृक्षाम्ल-रसांस्तैलं घृतं वसाम् ॥
 मज्जानश्च पयश्चव जीवनीयपलानि षट् ।
 कल्कान् दत्त्वा महास्नेहं सम्यगेन विपाचयेत् ॥

भागिकं दशमूलस्य कषायेण चतुर्गुणन जीवकादिभिः कल्कैः पचेदित्येकयोगः ।
 वातघ्नवर्गजीवनीयदशभिश्च कल्कैः पादिकैर्द्विगुणक्षीरं द्विगुणजलं (दशमूलस्य
 कषायम्) पचेत् । एवं सिद्धं तन्मज्जस्नेहद्वयं नावनादितः सिरादिस्थं मारुतं
 प्रणुदति । ये स्युरित्यादि । एतद् वक्ष्यमाणमतः परम् ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—तदाह—प्रस्थः स्यादित्यादि । कृष्णागन्धा शोभाञ्जनस्तस्य
 लक् चार्द्रकी च तयोः पृथक् पञ्चपलम् । रास्नाया द्वे पले चित्रकस्य द्वे
 पले । दशमूलं प्रत्येकं पलम् । सर्वं जलद्रोणे पचत् । पादशेषे तत्र काथे
 तथा सुरादीनामष्टानां पृथक् प्रस्थोन्मितं द्रवं तलादिस्नेहचतुष्टयस्य प्रत्येकं

चक्रपाणिः—तद्वत्सिद्धेति बलाबिस्वशृतक्षीरसिद्धा । चुलुकी शिशुमारः । प्रत्यग्रेति ।
 नस्यपानेष्विति नस्येषु पानेषु योजयेत् । कृष्णागन्धात्वक् शोभाञ्जनत्वक् । महास्नेहमिति

* तद्वत्सिद्धा वसा नक्र-मत्सर-कूर्मचुलुकाः । प्रत्यग्राविधिनानेन नस्यपानेषु शस्यते ॥
 हृत्पथिकः पाठः कश्चित् ।

शिरामज्जास्थिगे वातै सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिषु ।
 वेपनाक्षेपशूलेषु तदभ्यङ्गं प्रदापयेत् ॥ ४४ ॥ ४५ ॥
 समूलपत्रां निर्गुण्डीं पीडयित्वा रसेन तु ।
 तैः सिद्धं समं तैलं नाडीकुष्ठानिलार्तिषु ॥
 हितं पामापचीनान्तु पानाभ्यञ्जनपूरणम् ।
 कार्पासास्थिफलोत्थानां रसे सिद्धश्च वातनुत् ॥ ४६ ॥
 मूलकस्वरसे क्षीर-समे स्थाप्यं त्राहं दधि ।
 तस्याम्लस्य त्रिभिः प्रस्थैस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥
 यष्ट्याह्वशर्करास्रा-लवणाद्रकनागरैः ।
 सुपिष्टैः पलिकैः पानात् तदभ्यङ्गाच्च वातनुत् ॥ ४७ ॥
 पञ्चमूलीकषायेण पिण्याकं बहुवार्षिकम् ।
 पक्त्वाभसि रसे तस्मिंस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥

प्रस्थोन्मितं पयश्च प्रस्थोन्मितं जीवनीयदशानां प्रत्येकं षट् पलानि कल्कान्
 दत्त्वा महास्नेहं पचेदिति ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ महास्नेहः ।

गङ्गाधरः—समूलेत्यादि । समूलपत्रनिर्गुण्डीरसेन चतुर्गुणेन समं साद्धं तैलं
 सिद्धं न तु समानांशम् । कार्पासैत्यादि । कार्पासस्यास्थिसहितफलानि कुट्ट-
 यितोत्थितानां कल्कानां पीडनेन जाते रसे चतुर्गुणे सिद्धं तैलं वातनुत् ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—मूलकेत्यादि । क्षीरसमे मूलकस्वरसे दधि दत्त्वा त्राहं स्थाप्यम्,
 तस्य जातस्याम्लस्य दध्नस्त्रिभिः प्रस्थैस्तैलप्रस्थं यष्ट्याह्वादिभिः प्रत्येकं पलिकैः
 कल्कैर्विपाचयेत्, तत्तैलं पानाभ्यङ्गाभ्यां वातनुत् ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—पञ्चमूलीत्यादि । पञ्चमूलीकाये समाने बहुवार्षिकं तिल-
 चतुःस्नेहः । तेन सिद्धं तैलमित्यत्र सममिति निर्गुण्डीरससमम् । नाडीव्रणः अपची च हन्वस्थि-
 कक्षादिदेशभवा ॥ ४४—४६ ॥

चक्रपाणिः—रस इत्यादौ मूलकस्वरसे समक्षीरे दधि स्थाप्यम् । तस्याम्लस्येति
 मूलकरसाद्यम्लतां गतस्य । अत्र च त्रिभिः प्रस्थैरिति वचनात् मूलकरसादीनां प्रत्येकं प्रस्थ-
 मानत्वम् । उक्तं हि जतुकण—‘विपचेत् दधिमूलकरसपयसा’ इत्यादि ॥ ४७ ॥

चक्रपाणिः—पञ्चमूलीकषायेणेत्यादौ । ऋमूलीकषायं तथा पिण्याकं कथितं । अलञ्च पृथक्तेजसि

पयसाष्टगुणेनैतत् सर्ववातविकारनुत् ।
 संसृष्टे श्लेष्मणा चैतत् वातै शस्तं विशेषतः ॥ ४८ ॥
 यत्रकोलकुलस्थानां श्रेयस्याः शुष्कमूलकात् ।
 बिल्वान्नाञ्जलिमेककं द्रवरम्लैर्विपाचयेत् ॥
 तेन तैलं कषायेण फलाम्लैः कटुभिस्तथा ।
 पिष्टैः सिद्धं महावातैरात्तं शीते प्रयोजयेत् ॥ ४९ ॥
 सर्ववातविकाराणां तैलान्यन्यान्यतः शृणु ।
 चतुःप्रयोगाण्यायुष्य-वर्गान्यन्यतमानि च ।
 रजःशुक्रप्रदोषघ्नान्यपत्यजननानि च ।
 निरत्ययानि सिद्धानि सर्वदोषहराणि च ॥ ५० ॥
 सहाचरतुलायास्तु रसे तैलाढकं पचेत् ।
 मूलकल्काद् दशपलं पयो दत्त्वा चतुर्गुणम् ॥
 सिद्धेऽस्मिन् शर्कराचूर्णादष्टादशपलं भिषक् ।
 विनीय दारुणेष्वेतद् वातव्याधिषु योजयेत् ॥ ५१ ॥

पिण्याकं जले चतुर्गुणे पक्त्वा स्रावयित्वा तस्मिन् रसे भागानुक्तौ समाने तैल-
 प्रस्थमष्टगुणेन पयसा विपाचयेत्, एतत् तैलं सर्ववातनुत् ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—यवेत्यादि । यवादीनां प्रत्येकमञ्जलिमेकं कुडवं द्रवरम्लैः
 काञ्जिकैरष्टगुणैर्विपाचयेत् । पादावशेषेण तेन कषायेण चतुर्गुणेन तित्ति-
 ङ्यादिफलाम्लकटुत्रयकल्कैः सिद्धं तैलं महावातैरात्तं शीते प्रयोजयेत् ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—सर्व्वत्यादि । चतुःप्रयोगाणि पानाभ्यङ्गानुवासनस्यप्रयोगाणि
 तैलान्यन्यानि शृणु ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—सहाचरेत्यादि । सहाचरस्य झिष्ट्यास्तुलां जलद्रोणे पक्त्वा
 पादशेषे रसे तैलाढकं चतुर्गुणं पयो दत्त्वा सहाचरस्यैव मूलकल्क दशपलं
 दत्त्वा पचेत् । सिद्धे तैले पूते शर्कराया अष्टादशपलं प्रक्षिप्य स्थाप्यम् ॥ ५१ ॥

केचिद् वदन्ति । पञ्चमूलीकषायेणैव जलस्य पूर्णमानत्वात् शास्त्रपरिभाषया पक्षकल्को देय इत्युच्यते ।

श्वदंष्ट्रास्वरसप्रस्थौ द्वौ समौ पयसा सह ।
 षट्पलं शृङ्गवेरस्य गुडस्याष्टपलन्तथा ॥
 तैलप्रस्थं विपक्वं तैर्दद्यात् सर्वानिलार्त्तिषु ।
 जीर्णे तैले च दुग्धेन पेयाकल्पः प्रशस्यते ॥ ५२ ॥
 बलाशतं गुडूच्याश्च पादं रास्नाष्टभागिकम् ।
 जलाढकशते पक्त्वा दशभागस्थिते रसे ॥
 दधिमस्त्वक्षुनिर्यास-शुक्तैस्तैलाढकं समैः ।
 पचेत् साजपयोऽर्द्धांशैः कल्कैरेभिः पलोन्मितैः ॥
 शटीसरलदाव्वेला-मञ्जिष्ठागुरुचन्दनैः ।
 पद्मकातिविषामुस्त-सूप्यपर्णीहरेणुभिः ॥
 यष्ट्राहसुरसव्याघ्र-नखर्षभकजीवकैः ।
 पलाशरसकस्तूरी-नलिकाजातिकोषकैः ॥
 पृक्काकुङ्कुमशैलेय-जातीकटुफलाम्बुभिः ।
 त्वक्चन्दनैलाकर्पूर-तुरुष्कश्रोनिवासकैः ॥

गङ्गाधरः—श्वदंष्ट्र त्यादि । श्वदंष्ट्रायाः स्वरसस्य द्वौ प्रस्थौ पयसा सह समौ तेन पयसोऽपि द्वौ प्रस्थौ शृङ्गवेरस्य शुण्ठ्याः षट्पलं गुडस्याष्टपलं कल्कं दत्त्वा तैस्तैलप्रस्थं पक्वं पातुं दद्यात् । जीर्ण तैले पयसा पेयाकल्पः प्रशस्यते ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—बलेत्यादि । बलायाः शतं पलानि तस्य पादं गुडूच्याः पञ्च-विंशतिपलानि । रास्नाया अष्टमो भागो गुडूच्यास्तेन रास्नाया सार्द्धद्वादश-पलम् (बलायाः शतं पलानां गुडूच्याः पादं तेन चतुःशतपलं गुडूच्याः । रास्नाया अष्टमो भागो गुडूच्यास्तेन रास्ना पञ्चाशत्पलमिति क्वचित् पाठः) एकीकृत्य जलाढकशते षोडशशतशरावजले पक्त्वा दशभागकभागे स्थिते षष्ट्युत्तरशतशरावे रसे दध्यादिभिः समः प्रत्येकं तैलसमैः अजापयोऽर्द्धांश-सहितैरष्टशरावान्वितैः पलोन्मितैरेभिः शट्यादिभिर्नागकेशरान्तैः कल्कैस्तैलाढकं पचेदिति । सूप्यपर्णी माषपर्णी मुद्गपर्णी च । पलाशरसः पलाशवृक्षनिर्यासः । जातीकटोः फलं जातिफलं कटफलं लताकस्तूरी । अम्बु बालकं तुरुष्कः

लवङ्गनतककोल-कुष्ठगन्धप्रियङ्गुभिः ।
 स्थौण्येतगरध्याम-वचामदनकप्लवैः ॥
 सनागकेशरैः सिद्धे दद्याच्चात्रावतारितै ।
 पत्रकल्कं ततः पूतं विधिना तत् प्रयोजयेत् ॥
 कासं श्वासं ज्वरं मूर्च्छा-छर्दिर्गुल्मान् क्षतं क्षयम् ।
 ग्रीहशोषावपस्मारमलक्ष्मोश्च विनाशयेत् ॥
 बलातैलमिदं श्रेष्ठं वातव्याधिविनाशनम् ।
 अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम् ॥ ५३ ॥

बलातैलम् ।

अमृतायास्तुलाः पञ्च द्रोणेष्वष्टस्वपां पचेत् ।
 पादशेषे समक्षीरं तैलस्यार्द्धादिकं पचेत् ॥
 एलामांसीनतोशीर-सारिवाकुष्ठचन्दनैः ।
 शतपुष्पाबलामेदा-महामेदार्द्धिजीवकैः ॥
 काकोलीक्षीरकाकोली-श्रावण्यतिबलानखैः ।
 महाश्रावणिजीवन्तो-विदारीकपिकच्छुभिः ॥

शिङ्गकवृक्षनिर्ग्यासः । गन्धप्रियङ्गुः । एषु कल्केषु मध्ये तूत्तमसुगन्धिद्रव्याणि
 कस्तूरीजातीकोषकुङ्कुमजातिफलकर्पूरखड्गानि पाककाले तैलमध्ये न दत्त्वा
 तैले सिद्धे पूतेष्वतारिते चोष्ण एव सम्यक् पिष्ट्वा चूर्णीकृत्य पत्रकल्कं
 प्रयोजयेत् । “पके पूते चोष्ण एव सम्यग् यत् परिपेषितम् । दीयते गन्ध-
 वृद्धयर्थं पत्रकल्कं तदुच्यते ॥” इति ॥ ५३ ॥ बलातैलम् ।

गङ्गाधरः—अमृताया इत्यादि । अमृताया गुडूच्याः पञ्च तुलाः अपामष्टसु
 द्रोणेषु पचेत् । पादशेषे काथे तैलस्यार्द्धादिकमष्टशरावं क्षीरश्चाष्टशरावं तत्र

गन्धशास्त्रे च चूर्णस्वरसपुष्पाणां सिद्धयः शीते अवतारिते दीयन्ते गन्धवृद्धयर्थम् । पत्रकल्क-
 मिति तेन कर्पूरादिपत्रकल्कः अवतारितेऽपि देयः ॥ ४८—५३ ॥

वचागोनुरकैरगुड-रान्नाकालासहाचरैः ।
 शतावरीतामलकी-कर्कटाख्याहरेणुभिः ॥
 वीरासहैलर्षभक-त्रिदशाह्नैश्च कार्षिकैः । *
 मञ्जिष्ठायास्त्रिकर्षेण मधुकाष्ठपलेन च ॥
 कल्कैस्तत् क्षीणवीर्याग्नि-बलसंमूढचेतसा ।
 उन्मादारत्यपस्मारैरार्त्तांश्च प्रकृतिं नयेत् ॥
 वातव्याधिहरं श्रेष्ठं तैलाग्रममृताह्वयम् ।
 कृष्णात्रयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितम् ॥ ५४ ॥

अमृतातैलम् ।

रान्नासहस्रनिय्यूहे तैलद्रोणं विपाचयेत् ।
 गन्धहैमवतैः पिष्टैरेलादैश्चानिलार्त्तिनुत् ॥ ५५ ॥

एलादित्रिदशाह्नान्तैः कार्षिकैर्मञ्जिष्ठायास्त्रिकर्षेण मधुकस्य चाष्टपलेनतैः कल्कः
 पचेत् । अत्र श्रावणी मुण्डेरी महाश्रावणी रक्तमुण्डेरी काला कालानु-
 सारिवा । सहा नीलझिण्टी एला पुनः सूक्ष्मैला त्रिदशाह्नो देवदारु ॥ ५४ ॥

अमृतातैलम् ।

गङ्गाधरः—रास्नेत्यादि । रास्नायाः सहस्रपलस्य दशद्रोणे जले पाकात्
 पादावशेषे निय्यूहे अमृतातैलोक्तैरेलादैर्हैमवतैश्च श्वेतवचागन्धैश्च तैलद्रोणं
 विपाचयेत् । तदनिलार्त्तिनुत् ॥ ५५ ॥

रास्नातैलम् ।

चक्रपाणिः—अमृताया इत्यादौ श्रावणी बृहन्मुण्डी, काला सारिवा, त्रिदशाह्नः देवदारु ॥ ५४ ॥

चक्रपाणिः—रास्नासहस्रपलस्य निय्यूहे । हैमवतैरिति हिमालयभूतैः । एलादौपरिति
 अमृताद्यतैलोक्तैः एलामांसीनतेत्यादिनोक्तैः ॥ ५५ ॥

* वीराशङ्कमुस्तत्वक्-पलर्षभकबालकैः । सहैलाकुङ्कुमस्पृका-त्रिदशाह्नैश्च कार्षिकैः ॥ इति
 पाठान्तरम् ।

एष कल्पस्तु बलायाः प्रसारण्यश्वगन्धयोः ।

काथकल्कपयोभिर्वा बलादीनां पचेत् पृथक् ॥ ५६ ॥

रास्नादितलम् ।

मूलकस्वरसं क्षीरं तैलं दध्यम्लकाञ्जिकम् ।

तुल्यं विपाचयेत् कल्कैर्बलाचित्रकसैन्धवैः ॥

पिप्पल्यतिविषारान्ना-चविकागुरुचित्रकैः ।

भल्लातकवचाकुष्ठ-श्वदंष्ट्राविश्वभेषजैः ॥

पुष्कराह्वशटीबिल्व-शताह्वानतदारुभिः ।

तत् सिद्धं पीतमत्युग्रान् हन्ति वातात्मकान् गदान् ॥ ५७ ॥

मूलकाद्यतैलम् ।

गङ्गाधरः—एष इत्यादि । एष रास्नातैलकल्प एव बलायाः गोरक्ष-
तण्डुलायाः प्रसारण्या अश्वगन्धायाश्च । तद्यथा । बलायाः सहस्रपलं दश-
द्रोणजले पक्त्वा पादावशेषे निर्य्यूहे ह्रैमवतैर्गन्धैरमृतातैलोक्तैरेलादैः कल्कः
पादिकैस्तैलद्रोणं विपाचयेदिति बलातैलम् । तथा प्रसारण्याः सहस्रपलं दश-
द्रोणे जले पक्त्वा पादशेषे निर्य्यूहे ह्रैमवतैर्गन्धैरमृतातैलोक्तैरेलादैः पादिकै-
स्तैलद्रोणं पचेदिति प्रसारणीतैलम् । तथाश्वगन्धायाः सहस्रपलं दशद्रोणे
जले पक्त्वा पादशेषे निर्य्यूहे ह्रैमवतैर्गन्धैरमृतातैलोक्तैरेलाद्यैः पादिकैस्तैलद्रोणं
विपाचयेदिति अश्वगन्धातैलम् । काथेत्यादि । बलादीनां बलाप्रसारण्यश्वगन्धानां
प्रत्येकं काथश्चतुर्गुणः पादभागः कल्कः समक्षीरं तैलं पचेदिति । बलातैल-
प्रसारणीतैलाश्वगन्धातैलानि ॥ ५६ ॥

गङ्गाधरः—मूलकेत्यादि । मूलकस्वरसश्च क्षीरमम्लदधि चाम्लकाञ्जिकश्च
तैलश्च तुल्यं बलादिभिर्दाव्वन्तैः कल्कैः पादिकैर्विपाचयेत् । चित्रकद्रव्यं श्वेत-
स्तुभेदादिह ग्राह्यम् । तत् सिद्धं तैलं पीतम् ॥ ५७ ॥ मूलकादितैलम् ।

चक्रपाणिः—एष कल्प इत्यनन्तरोक्तेषु बलादिष्वपि वक्तव्यः ॥ ५६ । ५७ ॥

वृषमूलगुडूच्योश्च द्विशतस्य शतस्य तु ।

चित्रकात् साश्वगन्धाच्च काथे तैलाढकं पचेत् ॥

सजीरं वायुना भग्ने दद्यात् जर्जरिते तथा ।

प्राक्तैलावापसिद्धश्च भवेदेतद् गुणोत्तरम् ॥ ५८ ॥

रास्नाशिरीषयष्टग्राह-शुण्ठीसहचरामृताः ।

श्योणाकं दारुकं मांसी-हयगन्धात्रिकण्टकाः ॥

एषां दशपलान् भागान् कषायमुपकल्पयेत् ।

ततस्तैन कषायेण सर्वगन्धैश्च कार्षिकैः ॥

दध्यारनालमाषाम्ल-मूलकैचुरसैः शुभैः ।

पृथक् प्रस्थोन्मितैः साङ्गं तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥

ग्रीहपार्श्वग्रहश्वास-कासमारुतकोपनुत् ।

रास्नातैलमिति ख्यातं पुनर्व्वसुनिदर्शितम् ॥ ५९ ॥

रास्नातैलम् ।

गङ्गाधरः—वृषमूलेत्यादि । वृषमूलस्य शतपलं गुडूच्याः शतपलमिति द्विशतस्य चित्रकात् शतपलस्याश्वगन्धायाः शतपलस्य च काथे एकैकद्रोणजले पक्त्वा षोडशषोडशशरावावशेषे तैलाढकं समक्षीरमकल्कं पचेत् । वृष-मूलादितैलम् । एतत्तैलं प्राक् तैलस्य बलाच्चित्रकसैन्धवादिनतदाव्वन्तेः कल्कैः सिद्धश्च गुणोत्तरं स्यादकल्कादस्मादिति ॥ ५८ ॥

सकल्कवृषमूलादितैलम् ।

गङ्गाधरः—रास्नेत्यादि । रास्नादीनां त्रिकण्टकान्तानामेकादशानां प्रत्येकं दशपलमष्टगुणे जले पक्त्वा पादशेषे काथे दध्यादीनां प्रत्येकं प्रस्थमितैः सह कार्षिकैः सर्वगन्धैस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥ ५९ ॥

रास्नातैलम् ।

चक्रपाणिः—वृषमूलेत्यादौ अश्वगन्धाचित्रकाभ्यां मिलिताभ्यां काथे । प्राक् तैलात् ओषसिद्ध-मिति मूलकस्वरसेत्याहुक्ततैलेन समं सिद्धम् । द्विगुणोत्तरमिति पाठे वृषमूलादिकाथसिद्धात् ब्रैलात् द्विगुणं श्रेष्ठम् ॥ ५८ ॥

यवकोलकुलत्थानां मत्स्यानां शिग्रु बिल्वयोः ।

रसेन मूलकानाञ्च तैलं दधिपयोऽन्वितम् ॥

साधयित्वा भिषक् दद्यात् सर्ववातामयापहम् ।

लशुनस्वरसे सिद्धं तैलमेभिश्च वातनुत् ॥

तलान्येतानृपतुस्त्रातामङ्गनां पाययेत् च ।

पीत्वान्यतममेतेषां बन्ध्यापि जनयेत् सुतम् ॥ ६० ॥

यच्च शीतज्वरे तैलमगुर्वाद्यमुदाहृतम् ।

अनेकशतशस्तच्च सिद्धं स्याद् वातरोगनुत् ॥

वक्ष्यन्ते यानि तैलानि वातशोणितिकेऽपि च ।

तानि तानि च शान्त्यर्थं सिद्धिकामः प्रयोजयेत् ॥ ६१ ॥

नास्ति तैलात् परं किञ्चिदौषधं मारुतापहम् ।

व्यवाद्युष्णागुरुस्नेहात् संस्काराद् बलवत्तरम् ॥

गणैर्वातहरैस्तस्माच्छतशोऽथ सहस्रशः ।

सिद्धं चिप्रतरं हन्ति सूक्ष्ममार्गस्थितान् गदान् ॥ ६२ ॥

गङ्गाधरः—यवेत्यादि । यवादीनां प्रत्येकं रसेन तैलसमेन तैलं साधयित्वा भिषक् दद्यात् । एभिर्वादिस्तैललशुनस्वरस च तैलं सिद्धं वातनुत् । तलान्येतानीति बलातैलादीनि ॥ ६० ॥

गङ्गाधरः—यच्चेत्यादि । ज्वरचिकित्सिते प्रोक्तमगुर्वादितलमनेकशतशः बहुशतवारं पक्त्वा सिद्धं वातरोगनुत् स्यात् । वातशोणितिके वातरक्तचिकित्सिते यानि तैलानि वक्ष्यन्ते तानि तानि च तैलानि वातरोगाणां शान्त्यर्थं प्रयोजयेत् ॥ ६१ ॥

गङ्गाधरः—।स्तीत्यादि । वातहरैर्गणैर्भद्रदार्वादिभिः । शतशः शतशतवारान् पक्वं सहस्रशः सहस्रसहस्रवारान् पक्वम् ॥ ६२ ॥

चक्रपाणिः—सर्वगन्धैरिति बलातैलीकैः सर्वगन्धैः । सान्द्रं सहितम् । मूलकतैलाग्रमिति संज्ञया, अथवा रास्नादीनां मूलेनैव कायसाधनेन साधितम् । लशुनस्वरस इत्यादौ एभिश्चेति यवादिकायैः अनन्तरोक्तः । अनेकशः शतशश्च तेनैव विधानेन साधितम् ॥ ५९—६२ ॥

क्रिया साधारणी सर्वा संसृष्टा चापि शस्यते ।

वातपित्तादिभिः स्रोतःस्वावृत्तेषु विशेषतः ॥

पित्तावृत्ते विशेषेण शीतामुष्णां तथा क्रियाम् ।

व्यत्यासात् कारयेत् सर्पिर्जीवनीयश्च शस्यते ॥

धन्वमांसं यत्राः शालिर्यापनाः क्षीरवस्तयः ।

विरेकः क्षीरपानश्च पञ्चमूलीबलाश्रुतम् ॥

मधुयष्टीबलातैल-घृतक्षीरश्च सेचनम् ।

पञ्चमूलीकषायेण कुर्याद् वा शीतवारिणा ॥

कफावृत्ते यवान्नानि जाङ्गला मृगपक्षिणः ।

स्वेदा निरुहास्तीक्ष्णाश्च वमनं सविरेचनम् ॥

पुराणसर्पिस्तैलश्च तिलसर्षपजं हितम् ।

संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत् ॥ ६३ ॥

गङ्गाधरः—क्रियेत्यादि । साधारणवातोक्ता क्रिया तथा संसृष्टा चापि या क्रिया सा वाताद्यावृत्तेषु स्रोतःसु विशेषतः शस्यते । पित्तावृत्त इत्यादि । व्यत्यासादावरकदोषविपर्ययासात् क्रियामावृत्तवाते कारयेत् । जीवनीयं सर्पिश्चावृत्तवाते शस्यते । धन्वमांसादिकम्, यापना वस्तयः क्षीरवस्तयश्च वक्ष्यन्ते सिद्धिषु । पञ्चमूली स्वल्पा वातपित्तहरत्वात् । मधुयष्टी यष्टीमधुकाथेन बलातैलेन घृतेन क्षीरेण च सेचनं पञ्चमूल्याः स्वल्पायाः कषायेण शीतवारिणा वा सेचनं पित्तावृत्ते कुर्यादिति । कफावृत्त इत्यादि । तिलसर्षपजं तैलं तिलतैलं सर्षपतैलश्च न तु मिश्रितम् । संसृष्ट इत्यादि । कफपित्ताभ्यामावृत्ते वाते त्वादौ पित्तं निर्जयेत् ॥ ६३ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति दोषान्तरादिसंसृष्टवातचिकित्सामाह—क्रिया साधारणीत्यादि । साधारणीति या वाते सा संसर्गिणी च पित्तादौ समाना, न केवलं संसृष्टवायौ साधारणी किन्तु वातपित्तादिभिरावृत्तेऽपि साधारणी कर्तव्या । केचित् तु वातपित्तादिभिरिति पठन्ति । पाठः सुगमः । विशिष्टसूचितां क्रियामाह—पित्तावृत्ते इत्यादि । व्यत्यासादिति परिवर्त्तनेन शीतां कृत्वोष्णां उष्णाञ्च कृत्वा शीतां कुर्यादित्यर्थः । यापनाः वस्तयः सिद्धौ वक्ष्यमाणाः । पित्तमादौ विनिर्जयेत् इति वक्ष्येन कफापेक्षया पित्तस्याशुकारितया पित्तजयमेवोपदिशति ॥ ६३ ॥

स्यते ।

॥

गाम् ।

पते ॥

॥

॥

॥

॥ ६३ ॥

मथा संसृष्टा चापि

पित्ताहत इत्यादि ।

रयेत् । जीवनीयं

क्षीरवस्तयश्च वक्ष्यन्ते

ष्टी यष्टीमधुकाथेन

गयेण शीतवारिणा

तिलसषेपजं तैलं

रुफपित्ताभ्यामाहृते

गारणीत्यादि । साधा-

वायौ साधारणी किन्तु

रेति पठन्ति । पाठः

परिवर्त्तनेन शीतां

भ्यामाणाः । पित्तमादौ

ते ॥ ६३ ॥

आमाशयगतं मत्वा कफं वमनमादिशेत् ।

पकाशये विरेकन्तु पित्ते सर्वत्रगे तथा ॥

स्वेदर्विष्यन्दितः श्लेष्मा यदा पकाशयस्थितः ।

पित्तं वा दर्शयेत्लिङ्गं वस्तिभिस्तौ विनिर्हरेत् ॥

श्लेष्माणानुगतं वातमुष्णैर्गोमूत्रसंयुतैः ।

निरूहैः पित्तसंसृष्टं निर्हरेत् क्षीरसंयुतैः ॥

मधुरौषधसिद्धैश्च तैलैस्तमनुवासयेत् ।

शिरोगते तु सकफे धूमनस्यादि कारयेत् ॥

हृते पित्ते कफे च स्यादुरःस्रोतोऽनुगोऽनिलः ।

सर्वेषां स्यात् क्रिया तत्र कार्य्या केवलवातिकी ॥

कारयेत् रक्तसंसृष्टे वातशोणितिकीं क्रियाम् ।

प्रमेहवातमेदोघ्नीमामवाते प्रयोजयेत् ॥

गङ्गाधरः—आमाशयेत्यादि । कफमामाशयगतं मत्वा वमनमादिशेत् । पकाशय इत्यादि । सर्वत्रगे पित्ते विरेकमादिशेत् । स्वेदरित्यादि । स्वेद-
विष्यन्दितो द्रवीभूतः श्लेष्मा यदा पकाशयस्थितः स्यात् पित्तं वा स्वलिङ्गं
दर्शयेत् तदा तौ पित्तकफौ वस्तिभिर्विनिर्हरेत् । श्लेष्मणेत्यादि । श्लेष्माणुगतं
वातमुष्णैरुष्णद्रव्यकृतनिरूहैर्गोमूत्रयुतैर्निर्हरेत् । पित्तसंसृष्टं वातं मधुरौषध-
सिद्धैः क्षीरसंयुतैर्निरूहैर्निर्हरेत् । तैलैश्च मधुरौषधसिद्धैस्तं पित्तसंसृष्टं
वातमनुवासयेत् । शिरोगते इत्यादि । सकफे वाते । हृत इत्यादि । हृते पित्ते च
कफे च यदुरःस्रोतोऽनुगोऽनिलः स्यात् तदा सर्वेषां वातानां केवलवातिकी
क्रिया कार्य्या । कारयेदित्यादि । रक्तसंसृष्टे वाते वातरक्तक्रियाम्, आमवाते

चक्रपाणिः—आमाशयगतं मत्वा कफमिति वातानुबन्धिकफस्यैव चिकित्सा । पकाशये
विरेकन्तित्वत्तत्तत् कफ इत्यनुवर्त्तते । सर्वत्रगे इति अन्यस्थानगतेऽपि पित्ते । यद्यपि दोषान्तरस्थाने
गते तद्दोषप्रधानमेव कर्म वमनं वस्तिर्वोक्तं तथाप्यनेन विरेचनमिति यौगिकं तत्र दर्शयति ।
सकफ इति सकफे वाते । स्रोतोऽसृगिति केचित् पठन्ति । तथाच सूक्ष्मस्रोतोऽनुग इति
केचित् पठन्ति, सूक्ष्मस्रोतोऽनुगत इत्यर्थः । प्रमेहवातमेदोघ्नीति प्रमेहघ्नीं वातघ्नीं मेदोघ्नीञ्च ।

स्वेदाभ्यङ्गरसक्षीर-स्नेहा मांसावृते हिताः ।

महास्नेहोऽस्थिमज्जस्थे पूर्ववद्रेतसावृते ॥

अन्नावृते तदुल्लेखः पाचनं दीपनं लघु ।

मूत्रलानि च मूत्रस्थे स्वेदाः सोत्तरवस्तयः ॥

एरण्डतैलं वच्चस्थे वस्तिः स्नेहाश्च भेदिनः ।

स्वस्थानस्थो बली दोषः प्राक् तं स्वैरोषधैर्जयेत् ॥

प्रमेहघ्नीं वातघ्नीं मेदोघ्नीं क्रियां प्रयोजयेत् । आमवातलक्षणश्चान्यत्रोक्तम् ।

—“विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च । स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा । वायुना प्रेरितो ह्यामः श्लेष्मस्थानं प्रधावति । तेनात्यर्थं

विदग्धोऽसौ धमनीः प्रतिपद्यते । वातपित्तकफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः ।

स्रोतांस्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिलः । व्याधीनामाश्रयो ह्येष आम-

संज्ञोऽतिदारुणः । युगपत् कुपितावन्तस्त्रिकसन्धिप्रवेशकौ । स्तब्धश्च कुरुते

गात्रमामवातः स उच्यते । अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा चालस्यं गौरवं ज्वरः ।

अपाकः शूनताङ्गानामामवातस्य लक्षणम् । स कष्टः सर्व्वरोगाणां यदा

प्रकुपितो भवेत् । हस्तपादशिरोगुल्फ-त्रिकजानूरुसन्धिषु । करोति सरुजं शोथं

यत्र दोषः प्रपद्यते । स देशो रुज्यतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः । जनयेत्

सोऽग्निदौर्बल्यं प्रसेकारुचिगौरवम् । उत्साहहानिं वैरस्यं दाहश्च बहुमूत्रताम् ।

कुक्षौ कठिनतां शूलं तथा निद्राविपर्य्ययम् । तृट्छिद्विभ्रममूर्च्छाश्च हृद्ग्रहं

विट्त्विवद्धताम् । जाड्यान्नकूजमानाहं कष्टांश्चान्यानुपद्रवान् । पित्तात्

सदाहरागश्च सशूलं पवनानुगम् । स्तिमितं गुरुकण्डूश्च कफदुष्टं तमादिशेत् ।

एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते । सर्व्वदेहचरः शोथः स कष्टः

सान्निपातिकः ॥” स्वेदत्यादि । मांसावृते वाते स्वेदादयो हिताः । अस्थि-

मज्जस्थे वाते महास्नेह उक्त एव हितः । रेतसावृते वाते पूर्व्वमेव शुक्रस्थे

यद्यदुक्तं तद्धितम् । अन्नावृत् इत्यादि । तस्यान्नस्योल्लेखो वमनम् । मूत्रलानि

मूत्रकारीणि । एरण्डेत्यादि । एरण्डतैलं भेदिनो विरेचका वस्तिस्नेहाः ।

महास्नेह इति चतुःस्नेहः अत्रैवोक्तः । पूर्व्ववद्रेतसावृत् इति शुक्रस्थे वाते या क्रिया पूर्व्वमुक्ता

सा रेतसावृतेऽपि वाते कार्या । उल्लेख इति उल्लेखनं वमनम् । मूत्रलानीति मूत्रवैरेचनिकानि ।

स्वस्थानेत्यादि स्वस्थानस्थो यस्मात् स्थानोपबन्धनाद् बली दोषो भवति तस्मात् स्वैरोषधैर्जयेत् ।

वमनैर्वा विरेकैर्वा वस्तिभिः शमनेन वा ।

इत्युक्तमावृते वाते पित्तादिभियथायथम् ॥ ६४ ॥

मारुतानाञ्च पञ्चानामन्योऽन्यावरणं शृणु ।

लिङ्गं व्याससमासाभ्यामुच्यमानं मयानघ ॥ ६५ ॥

प्राणो वृणोत्युदानादीन् प्राणं वृण्वन्ति तैऽपि च ।

उदानाद्यास्तथान्योऽन्यं सर्व एव यथाक्रमम् ॥

विंशतिर्वरणान्येतान्युल्बणानां परस्परम् ।

मारुतानाञ्च पञ्चानां तानि सम्यक् प्रतर्कयेत् ॥ ६६ ॥

स्वस्थानस्थ इत्यादि । दोषो यदि स्वस्थाने तिष्ठन् बलवान् भवति तदा तं प्राक् स्वैरौषधैर्जयेत् । कैरित्यत आह । वमनैः कफं स्वस्थानस्थं बलिनं जयेत् । विरेकैः पित्तं वस्तिभिर्वायुं शमनेन वा तं तं जयेत् ॥ ६४ ॥

गङ्गाधरः—अथ वायोर्वाय्वावरणं यदुक्तं तल्लक्षणमाह—मारुतानाञ्चेत्यादि । व्याससमासाभ्यां विस्तरसंक्षेपाभ्याम् ॥ ६५ ॥

गङ्गाधरः—तद्यथा । प्राण इत्यादि । उदानादीन् शेषांश्चतुरः । ते च चत्वारः प्राणं वृण्वन्ति । एवमुदानाद्याश्चत्वारः । उदानः शेषान् चतुर आवृणोति उदानश्च शेषा आवृण्वन्ति । समानः शेषांश्चतुर आवृणोति समानश्च शेषा आवृण्वन्ति । व्यानः शेषानावृणोति व्यानश्च शेषा आवृण्वन्ति । अपानः शेषानावृणोति अपानश्च शेषा आवृण्वन्तीति सङ्क्षेपोक्तिः । विंशतिर्वरणान्यावरणान्येतानि उल्बणदोषाणां परस्परं भवन्ति ॥ ६६ ॥

कतमैः स्वैरौषधैरित्याह—वमनैरित्यादि । शमनेनेति कफादिशमनेनैव । शमनञ्च शोधनानन्तरं शोधनार्हं वा ज्ञेयम् ॥ ६४ ॥

चक्रपाणिः—मारुतानाम् अन्योऽन्यावरणमाह—मारुतानामित्यादि । यद्यपि चेह वायोरमूर्तत्वं वातकलाकलीये प्रोक्तम् तथापीदममूर्तत्वमकटिनवाचकं न त्ववयवप्रतिषेधकम् । तेन वायोः वायुं प्रति आवरणमुपपन्नमेव । दृष्टा च वायुना वायवन्तरेण अपघातेन वातकुण्डलिका वहिरपनीतेन तेन वातादीनां परस्परमावरणमुपपन्नमेव । प्राणो वृणोत्युदानादीनित्यादिना विंशत्यावरणान्युक्तानि । प्राणो वृणोत्युदानादीनित्यनेन चत्वार्य्यवरणानि, प्राणं वृण्वन्ति तेऽपि चेत्यनेन

सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृतिबलक्षयम् ।

व्याने प्राणावृते लिङ्गं कर्म तत्रोद्धृजत्रुकम् ॥

स्वेदोऽत्यर्थं लोमहृषस्त्वग्दोषः सुप्तगात्रता ।

प्राणे व्यानावृते तत्र स्नेहयुक्तं विरेचनम् ॥

प्राणावृते समाने स्युर्जङ्गदुग्दमूकताः ।

चतुःप्रयोगाः शस्यन्ते स्नेहास्तत्र सयापनाः ॥

समानेनावृते प्राणे ग्रहणीपार्श्ववेदना ।

शूने चामाशये तत्र दोषनं सर्पिरिष्यते ॥

शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निश्वासोच्छ्वाससंग्रहः ।

हृद्रोगो मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते ।

तत्रोद्धृभागिकं कर्म कार्यमाश्वासनं तथा ॥

गङ्गाधरः—सर्वेन्द्रियाणामित्यादि । प्राणावृते व्याने सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं स्मृतिबलक्षयश्च ज्ञात्वा तत्रोद्धृजत्रुकं कर्म कुर्यात् । स्वेद इत्यादि । व्यानावृते प्राणे स्वेदादयः स्युः । तत्र स्नेहयुक्तं विरेचनं कार्यम् । प्राणावृते इत्यादि । समाने प्राणावृते जङ्गादयः स्युः । तत्र स्नेहाः पानाभ्यङ्गानुवासननस्येषु चत्वारः प्रयोगाः स्युः । यापना वस्तिश्च । समानेन इत्यादि । प्राणे समानेनावृते ग्रहण्यादयः स्युः । आमाशये शूने स्फीते तत्र दीपनं सर्पिर्हितम् । शिरोग्रह इत्यादि । प्राणसंवृते उदाने शिरोग्रहादयः स्युः ।

चत्वारि । उदानाद्यास्तथान्योऽन्यमित्यनेन द्वादशावरणान्युच्यन्ते । तत्त्वोदानेन व्यानादीनां व्याणामावरणमिति त्रीणि, तथा व्यानाद्यैश्चोदानावरणे त्रीणि, तथा व्यानेन समानापानावरणौ द्वौ, समानापानाभ्यां व्यानावरणौ च द्वौ, परिशिष्टयोश्चान्योऽन्यावरणे द्वे; एवं द्वादशावरणानि पूर्वाष्टकयुक्तानि विंशतिर्भवन्ति । उल्लङ्घनानामिति वृद्धानाम्, किंवा उल्लङ्घनानामिति आविष्कृततमोनां मिलितानामेतेषां द्वित्रयादिसंसर्गात् बहुविधमावरणं भवतीति दर्शयति । शिरोग्रह इत्यादिना अष्टावावरणानि प्रायो भावीनि । अनुक्तशेषोपग्रहणार्थमाह । ऊर्ध्वभागिकं कर्ममिति उपर्युक्तम् ।

कर्मोर्जोबलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि च ।
 उदानेनावृते प्राणे तं शनैः शीतवारिणा ।
 सिञ्चेदाश्वासयेच्चैनं सुखञ्चैवोपपादयेत् ॥
 ऊर्ध्वगेनावृतेऽपाने छर्दिश्वासादयो गदाः ।
 स्युर्वाते तत्र वस्त्यादिर्भोज्यञ्चैवानुलोमनम् ॥
 मोहोऽल्पाग्निरतीसार ऊर्ध्वगेऽपानसंवृतै ।
 वाते स्युर्वमनं तत्र दीपनं ग्राहि चाशनम् ॥
 छर्द्ग्राध्मानमुदावर्त्तो गुल्मार्त्तिः परिकर्त्तिका ।
 लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने तं स्निग्धैरनुलोमयेत् ॥
 अपानेनावृते व्याने भवेद् विण्मूत्ररेतसाम् ।
 अतिप्रवृत्तिस्तत्रापि सर्व्व संग्रहणं हितम् ॥
 मूर्च्छातन्द्राप्रलापोऽङ्ग-सादोऽग्न्योजोबलक्षयः ।
 समानेनावृतेऽपाने व्यायामो लघु भोजनम् ॥
 स्तब्धताल्पाग्निता स्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम् ।
 उदानेनावृते व्याने तत्र पथ्यं मितं लघु ॥

तत्रौढं भागिकं कर्म तथाश्वासनञ्च कार्य्यम् । कर्मेत्यादि । उदानसंवृत
 प्राणे कर्मणादीनां नाशः, अथवा मृत्युश्च स्यात् । तं शनैः शीतवारिणा
 सिञ्चेदित्यादि । ऊर्ध्वगेनेत्यादि । ऊर्ध्वगेन प्राणेन । मोह इत्यादि ।
 अपानेन संवृते ऊर्ध्वगे प्राणे वाते मोहादयः स्युः । तत्र वमनादि
 कार्य्यम् । छर्दीत्यादि । व्यानावृतेऽपाने छर्द्ग्रादयः स्युः । तं स्निग्धै-
 रनुलोमयेत् । अपानेनेत्यादि । अपानेनावृते व्याने विद्याद्यतिप्रवृत्तिः ।
 तत्र सर्व्व संग्रहणं कर्म कार्य्यम् । मूर्च्छेत्यादि । अपाने समानेनावृते
 मूर्च्छादयः स्युः । तत्र व्यायामो लघु भोजनं कार्य्यम् । स्तब्धतेत्यादि ।
 उदानेनावृते व्याने स्तब्धतादयः स्युः । तत्र लघु च परिमितञ्च पथ्यं कार्य्यम् ।

इन्द्रियाणां
 इत्यादि ।
 प्राणावृते
 भयङ्गानु-
 इत्यादि ।
 दीपनं
 यः स्युः ।

व्यानादीनां
 अपानावरणौ
 शावरणानि
 कृततमोनां
 इत्यादिना
 उपर्युक्त-

पञ्चान्योऽन्यावृतानेवं वातान् बुध्येत लक्षणैः ।
 एषां स्वकर्मणां हानिवृद्धिर्वावरणे मता ॥ ६७ ॥
 यथास्थूलं समुद्दिष्टमेतदावरणे पृथक् ।
 खलिङ्गभेषजं सम्यक् शृणु मे बुद्धिवृद्धये ॥ ६८ ॥
 स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिश्च कर्मणाम् ।
 द्वादशावरणान्यन्यान्युपलक्ष्य भिषग्जितम् ॥
 कुर्यादभ्यञ्जनस्नेह-नस्यपानादि सर्वशः ।
 उष्णं क्रममनुष्णञ्च व्यत्यासादवचारयेत् ॥
 उदाने योजयेद्दूर्ध्वमपाने चानुलोमनम् ।
 समानं शमयेच्चैव त्रिधा व्यानश्च योजयेत् ॥

अनुक्तानुपसंहरति । पञ्चेत्यादि । एवमनेन प्रकारेण लक्षणैरन्योन्या-
 वृतान् पञ्च वातान् बुध्येत । तत्र लक्षणान्याह—एषामित्यादि । एषां
 प्राणादीनामपरेणावरणेन । स्वकर्मणामावृतस्य कर्मणां हानिः स्यादावरणस्य
 कर्मणां वृद्धिर्मता ॥ ६७ । ६८ ॥

गङ्गाधरः—स्थानानीत्यादि । वातानां प्राणादीनां स्थानान्यवेक्ष्य कर्मणां
 वृद्धिश्च हानिश्चावेक्ष्यान्यानि द्वादशावरणान्युपलक्ष्य अभ्यञ्जनादि भिषग्जितं
 कुर्यात् । उष्णानुष्णक्रमश्च व्यत्यासादवचारयेत् । उदान इत्यादि । उदाने
 तावृते ऊर्ध्वं भेषजं योजयेत् । अपाने तावृतेऽनुलोमनं योजयेत् ।
 स्नेहपाननस्यादिकम् । आश्वासयेदिति स्थिरीकारयेत् । ऊर्ध्वगेनावृते प्राणेन । अनुक्तावरण-
 रूपमाह—एषां स्वकर्मणामित्यादि । अत्र आचार्याणां बलीयावरणात् स्वकर्महानिर्भवति,
 आवरकस्य तु स्वकर्मवृद्धिर्भवति यदावरणेन आचार्यः प्रकुपितो न भवति तदा स्वकर्मणां
 वृद्धिर्भवतीति व्यवस्था । अन्ये तु आवरणीयस्य स्वकर्मवृद्धिर्भवतीति व्यवस्थामाहुः ॥ ६५—६८ ॥

चक्रपाणिः—अनुक्तावरणलक्षणज्ञानोपायमाह—स्थानान्यवेक्ष्येति । कर्मवृद्ध्या व्याख्यातं
 पूर्ववत् । स्थानान्यवेक्ष्येत्यनेन वातानां स्थानगतविकारेण च वातविकृतिर्ज्ञातव्येति दर्शयति ।
 उष्णं क्रममनुष्णञ्चेत्यत्र उष्ण एव क्रमो वाते युज्यते, तथापि स्थानापेक्षया रक्तादिवृष्यं क्रम-
 विपर्ययस्य कारणं ज्ञेयम् । विकृतवातानां प्रकृतिस्थापनमाह—उदाने योजयेद्दूर्ध्वमित्यादि ।
 एतच्च स्वमार्गयोजनं वातानां यथोक्तवचनादिक्रियायोगविधानेन कर्तव्यम् । समानं शमयेदिति

प्र
—
कु
वि
सं
गा
अ
प्र
य
सो
कु
वि
सद
एक

महा
सा रे
स्वस्था

प्राणो रक्ष्यश्चतुर्भ्योऽपि स्थाने ह्यस्य स्थितिर्ध्रुवम् ।

स्वस्थानं गमयेदेवं वृत्तानेतान् विमार्गगान् ॥ ६६ ॥

मूर्च्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता ।

छर्द्दनश्च विदग्धस्य प्राणे पित्तसमावृते ॥

ष्ठीवनं चवथूद्गारो निश्वासोच्छ्वाससंग्रहः ।

प्राणे कफावृते रूपाण्यरुचिश्छर्द्दिरेव च ॥

मूर्च्छाद्यानि च रूपाणि दाहो नाभ्युरसोः क्लमः ।

ऊर्द्ध्वभ्रंशश्च श्वासश्चाप्युदाने पित्तसंवृते ॥

आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्यं वाक्स्वग्रहः ।

दौर्बल्यं गुरुगात्रत्वमरुचिश्रोपजायते ॥

अतिस्वेदस्तृषा दाहो मूर्च्छायाऽरतिरेव च ।

पित्तावृते समाने स्युरुपतापस्तथोष्मणः ॥

अस्वेदो वह्निमान्द्यश्च रोमहर्षस्तथैव च ।

कफावृते समाने स्युर्गात्राणाञ्चातिशीतता ॥

आवृतं समानन्तु शमयेत्, एवमावृतं व्यानमूर्च्छानुलोमशमनैस्त्रिधा योजयेत् ।

आवृतः प्राणश्चतुर्भ्यो रक्ष्यः । अस्य हि स्थाने स्वस्थाने ध्रुवं स्थितिः कार्या ।

एवं वृत्तानेतान् विमार्गगान् स्वस्थानं गमयेत् ॥ ६९ ॥

गङ्गाधरः—प्राणादीनां प्रत्येकं पित्ताद्यावरणमाह—मूर्च्छत्यादि । पित्त-

समावृते प्राणे मूर्च्छादयः स्युः । ष्ठीवनमित्यादि । कफावृते प्राणे ष्ठीवनादयः

स्युः । मूर्च्छेत्यादि । उदाने पित्तसंवृते मूर्च्छाद्यानि पूर्वोक्तानि मूर्च्छा-

दाहभ्रमादीनि । आवृत इत्यादि । उदाने श्लेष्मणावृते वैवर्ण्यादयः स्युः ।

अतिस्वेद इत्यादि । समाने पित्तावृतेऽतिस्वेदादयः स्युः । अस्वेद इत्यादि ।

देहमध्यं कुर्यादित्यर्थः । त्रिधा व्यानन्तु योजयेदिति ऊर्द्ध्वमधो मध्ये त्रिधा योजयेत् । प्राणो रक्ष्यः

स्थाने एव पालनीयः । चतुर्भ्य इत्यनेन हृत्तरेभ्यःकुतोऽयं विशेषरक्षणीय इत्याह—स्थाने त्वस्य

स्थितिर्ध्रुवेति । अस्य प्राणस्य स्थाने चेति सम्यगवस्थाने सति स्थितिर्जीवनरूपा ध्रुवा ॥ ६९ ॥

चक्रपाणिः—प्राणादीनां पित्तेन कफेन तथा पित्तकफाभ्यां चावरणलक्षणान्याह—मूर्च्छा दाहो

व्याने पित्तावृते तु स्याद् दाहः सर्वाङ्गः कृमः ।

गात्रविक्षेपसङ्गश्च सन्तापश्च सवेदनः ॥

गुरुता सर्वगात्राणां पर्वसन्ध्यस्थिजा रुजा ।

व्याने कफावृते लिङ्गं गतिसङ्गस्तथा रुजः ॥

हारिद्रमूत्रवर्चस्त्वं तापश्च गुदशेफसोः ।

लिङ्गं पित्तावृतेऽपाने रजसश्चाभिवर्त्तनम् ॥

भिन्नामश्लेष्मसंसृष्ट-गुरुवर्चःप्रवर्त्तनम् ।

श्लेष्मणा संवृतेऽपाने कफमेहस्य चागमः ।

लक्षणानान्तु मिश्रत्वं पित्तस्य च कफस्य च ।

उपलक्ष्य भिषग् विद्वान् मिश्रमावरणं वदेत् ॥ ७० ॥

यद् यस्य वायोर्निर्दिष्टं स्थानं तत्रेतरौ स्थितौ ।

दोषौ बहुविधान् व्याधीन् दर्शयेतां यथानिजम् ॥

कफावृते समानेऽस्वेदादयः स्युः । व्यान इत्यादि । पित्तावृते व्याने दाहादयः स्युः । सर्वाङ्गः कृमः क्लान्तिश्च । गुरुतेत्यादि । व्याने कफावृते सर्वगात्र-गुरुतादयः स्युः । हारिद्रेत्यादि । अपाने पित्तावृते हारिद्रमूत्रलादयः स्युः । भिन्नामेत्यादि । अपाने श्लेष्मणा संवृते भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चः-प्रवर्त्तनादीनि स्युः । लक्षणानामित्यादि । पित्तकफावृते प्राणादौ पित्तस्य कफस्य च लक्षणानां मिश्रत्वमुपलक्ष्य मिश्रमावरणं कफपित्तावरणं वदेत् ॥ ७० ॥

गङ्गाधरः—यद् यस्येत्यादि । यस्य प्राणादेर्वायोऽयं स्थानं पूर्वं निर्दिष्टं तत्र वायोः स्थाने स्थितावितरौ पित्तकफौ दोषौ बहुविधान् व्याधीन् दर्शयेतां

अजम् इत्यादि । सूक्ष्माणि दाह इत्यादिना प्रागुक्तानि श्लेष्माणं शोषयेयुः । अत्र पित्तेनावृते समाने अग्न्युत्पन्नाभावाद्गुणोपधातो ज्ञेयः । गात्रविक्षेपसङ्गश्च गात्रविक्षेपणोपरमः । मिश्र-मावरणमिति कफपित्तमावरणम् ॥ ७० ॥

प्र
—
कु
वि
सं
गा
अ
प्र
य
सो
कु
वि

यद्
मूत्र

महा
सा रे
स्वस्था

आवृतं श्लेष्मपित्ताभ्यां प्राणश्चोदानमेव च ।

गरीयस्त्वेन पश्यन्ति भिषजः शास्त्रचक्षुषः ॥

विशेषाज्जीवितं प्राण उदाने संश्रितं बलम् ।

स्यात् तयोः पीडनात् हानिरायुषश्च बलस्य च ॥ ७१ ॥

सर्वेऽपि ते परिज्ञाताः परिसंवत्सरास्तथा ।

उपेक्षणादसाध्याः स्युरथ वा दुरुपक्रमात् ॥ ७२ ॥

हृद्रोगो विद्रधिः ग्रीहा गुल्मोऽतिसार एव च ।

भवन्त्युपद्रवास्तैषामावृतानामुपेक्षणात् ॥

तस्मादावरणं वैद्यः पवनस्योपलक्षयेत् ।

पञ्चात्मकस्य वातेन पित्तेन श्लेष्मणापि वा ॥

भिषग्जितैस्ततः सम्यगुपलक्ष्य समाचरेत् ।

अनभिष्यन्दिभिः स्निग्धैः स्रोतसां शुद्धिकारकैः ॥ ७३ ॥

यथानिजं यथास्वम् । आवृतमित्यादि । श्लेष्मपित्ताभ्यामावृतं प्राणश्चोदानश्च सर्वेष्व्वावृतेषु वायुषु गरीयस्त्वेन पश्यन्ति । कस्मादित्यतस्तदाह—विशेषादित्यादि । यतो विशेषात् प्राणे संश्रितं जीवितमायुः, उदाने संश्रितं बलं स्यात् । तयोः प्राणोदानयोः पित्तकफाभ्यां पीडनादायुषो बलस्य च हानिः स्यात् ॥ ७१ ॥

गङ्गाधरः—सर्वेऽपीत्यादि । ते सर्वेऽपि प्राणादय आवृता अपरिज्ञाताः सर्वतोभावेनाज्ञातास्तथा परिसंवत्सरा अब्दातीताः उपेक्षणाच्चासाध्याः स्युः । अथ दुरुपक्रमात् दुष्टचिकित्सयारम्भादसाध्याः स्युः ॥ ७२ ॥

गङ्गाधरः—हृद्रोग इत्यादि । पित्ताद्यावृतानां प्राणादीनामुपेक्षणात् हृद्रोगादय उपद्रवा भवन्ति । तस्मात् वैद्यः पवनस्य पञ्चात्मकस्य प्राणादेरावरणं वातेन

चक्रपाणिः—यथानिजानिति यथात्मीयान् । गरीयस्त्वेनेत्यधिकत्वेन । एतद्गरीयस्त्वे हेतुमाह—विशेषादित्यादि । संश्रितमित्यधीनम् । परिज्ञेया इति याथातथ्येन ज्ञातव्याः । सम्प्रज्ञाता अपि उपेक्षणात् याथातथ्येन ज्ञाता अपि परिसंवत्सरात् तथेति परिसंवत्सरात् उपेक्षणीयाः स्युरिति योज्यम् । हृद्रोग इत्यादिना उपद्रवान्याह । पञ्चात्मकस्येति प्राणादिभेदेन पञ्चस्वरूपस्य ॥ ७१—७३ ॥

कफपित्ताविरुद्धं यद् यच्च वातानुलोमनम् ।

सर्वस्थानावृत्तैऽप्याशु तत् कार्यं मारुते हितम् ।

यापना वस्तयः प्रायो मधुराः सानुवासनाः ।

प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यं मृदु वा स्त्रंसनं हितम् ॥

रसायनानां सर्वेषामुपयोगः प्रशस्यते ।

शैलस्य जतुनोऽत्यर्थं पयसा गुग्गुलोस्तथा ॥

लेहं वा भार्गवप्रोक्तमभ्यसेत् क्षीरभुङ् नरः ।

अभयामलकीयोक्तानेकादश मिताशनः ॥ ७४ ॥

अपानेनावृत्तैः सर्वं दीपनग्राहि भेषजम् ।

वातानुलोमनं यच्च पकाशयविशोधनम् ॥

इति संचेपतः प्रोक्तमावृतानां चिकित्सितम् ।

प्राणादीनां भिषक् कुर्यात् वितर्क्य स्वयमेव तत् ॥ ७५ ॥

स्वेतरेण पित्तेन कफेन चोपलक्षयेत् । उपलक्ष्य ततः परं भिषग्जितैरनभि-
व्यन्धादिभिः सम्यक् समाचरेत् ॥ ७३ ॥

गङ्गाधरः—अपरश्च भिषग्जितमाह—कफेत्यादि । कफपित्तयोरविरुद्धं यत्
यच्च वातानुलोमनं तत् सर्वस्थानावृत्ते मारुते हितमाशु कार्यम् । यापना वस्तयो
वक्ष्यन्ते सिद्धिषु मधुरा वस्तयः सानुवासना अनुवासनश्च । एवं बलाधिक्यं
प्रसमीक्ष्य मृदु स्त्रंसनं विरेचनं वा हितम् । सर्वेषां रसायनानां प्रयोगः
प्रशस्यते शिलाजतुनः प्रयोगश्चात्यर्थं पयसा गुग्गुलोः प्रयोगः । तथा भार्गवप्रोक्तं
लेहं च्यवनप्राशं क्षीरभुङ् नरोऽभ्यस्येत् । एवमभयामलकीयोक्तान् एकादश
रसायनयोगान् मिताशनोऽभ्यसेत् ॥ ७४ ॥

गङ्गाधरः—अपानेनेत्यादि । अपानेनावृत्ते प्राणादौ सर्वं दीपनादि
भेषजं यच्च वातानुलोमनं पकाशयशोधनं तदभ्यसेत् । उपसंहरति—इति

चक्रपाणिः—प्रसमीक्ष्येत्यादौ बलाधिक्ये सति स्त्रंसनं मृदु कर्तव्यमित्यभिप्रायः । अत्यर्थं
प्रशस्यत इति सम्बन्धः । लेहं वा भार्गवप्रोक्तमिति च्यवनप्राशम्, च्यवनो हि भार्गव उच्यते ।
उक्तं हि आयुर्वेदसमुत्थाने—“भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः ।” इति ॥ ७४ ॥

पित्तावृते तु पित्तघ्नैर्मारुतस्यानुलोमनैः ।

कफावृते कफघ्नैश्च भिषक् कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥ ७६ ॥

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः ।

तथा शरीरे वातस्य पित्तस्यापि कफस्य च ॥

क्षयं वृद्धिं समत्वञ्च तथैवावरणं भिषक् ।

विज्ञाय पवनादीनां न प्रमुह्यति कर्मसु ॥ ७७ ॥

तत्र श्लोकौ ।

पञ्चात्मनः स्थानवशाच्छरीरे

स्थानानि कर्माणि च देहधातोः ।

प्रकोपहेतुः कुपितश्च रोगान्

स्थानेषु चान्येषु वृतोऽवृतश्च ॥

॥ ७५ ॥

जितैरनभि-

विरुद्धं यत्

पना वस्तयो

वलाधिक्यं

ानां प्रयोगः

भार्गवप्रोक्तं

न एकादश

दीपनादि

इति—इति

यः । अत्यथ

भार्गव उच्यते ।

॥ ७४ ॥

संक्षेपत इत्यादि । आवृतानां प्राणादीनां चिकित्सितं यत् संक्षेपत इति प्रोक्तम्, भिषक् स्वयमेव तद् वितर्क्य विस्तरेण चिकित्सितं कुर्यात् ॥ ७५ ॥

गङ्गाधरः—पित्तेत्यादि । पित्तावृते पित्तघ्नैर्मारुतस्यानुलोमनैरित्येवं शेषं (कफावृते कफघ्नैर्मारुतानुलोमनैश्च प्रतिक्रियां) कुर्यात् ॥ ७६ ॥

गङ्गाधरः—लोक इत्यादि । यथा भूलोकादिलोके वाय्वर्कसोमानां गतिः दुर्विज्ञेया, तथा शरीरे वातपित्तकफानां गतिर्दुर्विज्ञेया । क्षयमित्यादि । पवनादीनां क्षयं वृद्धिं समत्वञ्च तथैवावरणं विज्ञाय भिषक् कर्मसु चिकित्सा-क्रियासु न प्रमुह्यतीति ॥ ७७ ॥

चक्रपाणिः—वातस्यानुलोमनश्चिकित्सितं कुर्यादिति नियोजनीयम् । वातादीनां इर्विज्ञेयता इष्टान्तेन दर्शयति लोक इत्यादि । क्षयमित्यादौ आवरणमपि क्षयवृद्धिसमत्वं निर्दिष्टमेव, तथापि आवरणस्य विशेषलक्षणचिकित्सार्थं पृथगभिधानम् । कर्मस्विति चिकित्सासु ॥ ७५—७७ ॥

चक्रपाणिः—पञ्चात्मन इत्यादिसंग्रहे पञ्चात्मनः स्थानवशात् इति छेदः । देहधातोरिति

वाणीश्वरः प्राणभृतां करोति

क्रिया च तेषां निखिला निरुक्ता ।

तां देशसात्म्यर्तुबलान्यवेक्ष्य

प्रयोजयेच्छास्त्रमतानुसारी ॥ ७८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते

चिकित्सितस्थाने वातरोगचिकित्सितं नाम

अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—तत्र श्लोकाविति । पञ्चात्मन इत्यादि । पञ्चात्मनः पवनस्य ।

वाणीश्वरः प्राणः । समापयति—अग्न्यादि ॥ ७८ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव च ।

अष्टाविंशोऽध्याय एतद्वातरोगचिकित्सिते । वैद्यगङ्गाधरकृते जल्पकल्पतरौ

पुनः । चिकित्सितस्थानजल्पे षष्ठस्कन्धे चिकित्सिते । वातरोगिक-

जल्पाख्या शाखाष्टाविंशिका मता ॥ २८ ॥

देहधारकरूपस्याविकृतस्य वायोरित्यर्थः । उक्तचिकित्साकरणापेक्षणीयं संग्रहेणाह ताम्रित्यादि ।

देशाद्यपेक्षया सूक्ष्मस्थाने विवृता देशादिभेदेन प्रकरणतया विस्तारिता प्रपञ्चिता ॥ ७८ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुरानन-श्रीमच्चक्रपाणिदत्तचिरचितायामायुर्वेददीपिकायां

चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां वातव्याधिचिकित्सितं

नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

ऊनत्रिंशोऽध्यायः ।

अथातो वातरक्तचिकित्सितं व्याख्यास्यामः,
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

संस्कृते

हुताग्निहोत्रमासीनमृषिमध्ये पुनर्व्वसुम् ।
पृष्ठवान् गुरुमेकाग्रमग्निवेशोऽग्निवर्च्वसम् ॥
अग्निमारुततुल्यस्य संसर्गस्यानिलासृजोः ।
हेतुलक्षणभैषज्यान्यथास्मै गुरुरब्रवीत् ॥ २ ॥
लवणाम्लकटुक्षार-स्निग्धोष्णजोर्णभोजनैः ।
क्लिन्नशुष्काम्बुजानूप-मांसपिण्याकमूलकैः ॥
कुलत्थमाषनिष्पाव-शाकादिपललेक्षुभिः ।
दध्यारनालसौवीर-शुक्ततक्रसुरासवैः ॥

पवनस्य ।

त एव च ।

कल्पतरौ

योगिक-

तामित्यादि ।

पेकायां

तं

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टक्रमाद् वातरक्तचिकित्सितमाह—अथात इत्यादि ।
सर्व्वं पूर्व्ववद् व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—हुताग्निहोत्रमित्यादि । अनिलासृजोः संसर्गस्य वातरक्तस्य,
अथेत्येवं पृष्ठवतेऽस्म अग्निवेशाय ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—लवणाम्लेत्यादि । क्लिन्नं वा शुष्कं वाम्बुजादिमांसम् । पल्लव

चक्रपाणिः—वातव्याधिचिकित्सितानन्तरं वातरक्तचिकित्सितमुच्यते । वातरेकाभ्यां जनितो
व्याधिः वातरक्तं किंवा वात एव अवस्थान्तरप्राप्तं वातरक्तम् । अग्निमारुततुल्यस्येत्यनेन वात-
रक्तस्य इर्निधारत्वं शीघ्रकारित्वञ्चाह । लवणेत्यादिना हेतुमाह । प्रायशः सुकुमाराणामित्यनेन
सुकुमारशरीरे लवणादिहेतुसेवया शीघ्रं दृष्टवातशोणितं सम्भवतीति दर्शयति । संसृष्टमन्नं सुखेन
मुञ्चते तेषां संसृष्टान्नसुखभोजनाम् । अन्न लवणानि यद्यपि वातशोणितहेतुतयोक्तानि तथापि
शोणितदृष्टिकारणम् एतत् प्राधान्यात् ज्ञेयम् । वातदृष्टिकारणन्तु कषायेत्यादिनोक्तम्, तच्च लवणादि

विरुद्धाध्यशनक्रोध-दिवास्वप्नप्रजागरैः ।

प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम् ।

अचक्रमणशीलानां कुप्यते वातशोणितम् ॥

अभिघातादशुद्धाच्च प्रदुष्टं शोणितं नृणाम् ।

कषायकटुतिक्तानां रुचाणामतिभोजनात् ॥

हयोष्ट्रखरयानाम्बु-क्रीडाप्रवनलङ्घनैः ।

उष्णे चात्यध्वगमनाद् व्यवायाद् वेगनिग्रहात् ॥

वायुर्विवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावरितः पथि ।

कृत्स्नं संदूषयेद् रक्तं तज्ज्ञं वातशोणितम् ॥

खुडं वातबलासाख्यमाढ्यवातश्च नामभिः ॥ ३ ॥

तिलकल्कः । सुकुमारा मृदुदेहावयवास्तेषां मिथ्याहारादीनाम् । अभिघाता-
दित्यादि । अभिघाताशुद्धिभ्यां नृणां रक्ते दुष्टे कषायादीनामतिभोजनात्
हययानादिभिविवृद्धो वायुर्वृद्धेन रक्तेन पथि वातस्य गमनस्रोतसि आवरितः
सन् कृत्स्नं रक्तं संदूषयेत् । तद् वातशोणितं ज्ञेयम् । तच्च खुड्ढादिकं
नामभिरुच्यते ॥ ३ ॥

अ मिलितं सत् वातशोणितोत्पादकं भवति । यत् तु कुप्यते वातशोणितमिति अनेन लवणादीनां
वातशोणितकारणत्वमुक्तम्, तद् वातशोणितजनकशोणितदृष्टिकारणात् ज्ञेयम् । अशुद्धेति शुद्धि-
कालेऽसंशोधनात् । केचिदभिघाताद् अशुद्ध्या चेतिस्थाने अधुना वातवैषम्यमिति पठन्ति ।
अशुद्ध्या चेति चकारेण लवणादिषु प्रजागरैरित्यन्तं शोणितदृष्टिकारणं समुच्चिनोति । अत्र
शोणितवातस्य विच्छिद्य हेतुवर्गपाठेन द्वयोरप्यत्र स्वतन्त्रं प्रकोपं दर्शयति । उष्णे काले च
जनिताद् वातवैषम्यात् । वायुरित्यादिना सम्प्राप्तिमाह—वायुः क्रुध्यति स्रोतसि इति वृद्धोऽपि
स्वहेतोर्वायुः पुनः शोणिताद्यावरणविशेषेण क्रुद्धः । व्यवहारार्थं तन्तान्तरप्रसिद्धसंज्ञाभेदान-
प्याह—खुडमित्यादि । खुडदेशप्राप्तं खुडः । वातस्यावरणेन बलमस्य यस्मिन् तत् शोणित-
मिति वातबलाशम् । खुडशब्देन सन्धिरुच्यते । वातस्यावरणेन आक्यानां प्रायो भवतीति
आक्यरोगः ॥ १—३ ॥

तस्य स्थानं करौ पादावङ्गुल्यः सर्वसन्धयः ।
 कृत्वादौ हस्तपादेषु मूलं देहं विधावति ॥
 सौक्ष्म्यात् सर्वसरत्वाच्च पवनस्यासृजस्तथा ।
 तद् द्रवत्वात् सरत्वाच्च देहं गच्छेत् सिरायणः ॥
 पर्वस्वभिहतं क्रुद्धं वक्रत्वादवतिष्ठते ।
 स्थितं पित्तादिसंसृष्टं तास्ताः सृजति वेदनाः ॥
 करोति दुःखं तैष्वेव तस्मात् प्रायेण सन्धिषु ।
 भवन्ति वेदनास्तास्ता अत्यर्थं दुःसहा नृणाम् ॥ ४ ॥
 स्वेदोऽत्यर्थं न वा काषायं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतैरुक् ।
 सन्धिर्शैथिल्यमालस्यं सदनं पिङ्गकोद्धमः ॥
 जानुजङ्घोरुकटंगस-हस्तपादाङ्गसन्धिषु ।
 निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ॥
 कण्डूः सन्धिषु रुग् भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत् ।
 वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्ववत्क्षणम् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—तस्येत्यादि । तस्य स्थानं करपादाङ्गुलीसन्धयः । तत्र हस्तपादेष्वदौ मूलं कृत्वा तद् वातशोणितं पवनस्यासृजश्च सौक्ष्म्यादितो देहं विधावति । तच्च वातशोणितं द्रवत्वात् सरत्वाच्च सिरायणैर्देहं गच्छेत् । पर्वसु क्रुद्धं तद्रक्तमभिहतं वक्रत्वादवतिष्ठते । तत्र स्थितं पित्तादिसंसृष्टं तास्ताः पित्तजा वेदनाः सृजति । करोति प्रायेण तत्र सन्धिषु दुःखं करोति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—पूर्वरूपमाह—स्वेद इत्यादि । स्वेदोऽत्यर्थं न वा स्वेदः ।

चक्रपाणिः—वातशोणितस्य वैशेषिकं स्थानमाह । तस्य स्थानमित्यादि । करपाद-ग्रहणेनैव अङ्गुलीनां ग्रहणं प्राप्ते अङ्गुलीनां बहुपर्वतया विशेषाधिष्ठानत्वोपदर्शनार्थं पुनरभि-
 स्थानम् । मूलमास्थायेति आस्पदं कृत्वा । तत्र हेतुमाह—सौक्ष्म्यादित्यादि । सूक्ष्ममार्गानुसारित्वात् ।
 वातशोणितस्य देहं सर्पतः विशेषेण पर्वस्थानम् । शिरायनैरिति शिरारूपैर्मार्गैः । वक्रत्वादिति
 पर्वणां वक्रत्वात् । पित्तादिसंसृष्टमिति पित्तेन कफेन च हेतवन्तरयुक्तेन वायुना युक्तम् । तस्मा-
 दिति सन्धिष्ववस्थानात् । स्वेद इत्यादिना पूर्वरूपमाह । स्वेदोऽत्यर्थं न वेति च यद्यपि कुष्ठपूर्वरूपे
 ङ्गं तथाप्यसमानभूरिसम्बन्धात् अन्यतरपूर्वरूपत्वे निश्चयः ॥ ४ । ५ ॥

उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत् प्रचक्ष्यते ।
 त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरन्त्वन्तराश्रयम् ॥
 कण्डूदाहरजायाम-तोदस्फुरणकुञ्चनैः ।
 अन्विता श्यावरक्ता त्वक् वाहे ताम्रा तथोच्यते ॥
 गम्भीरे श्वयथुः स्तब्धः कठिनोऽथ भृशार्त्तिमान् ।
 श्यावस्ताम्रोऽथवा दाह-तोदस्फुरणपाकवान् ॥
 रुग्विदाहान्वितोऽभीक्ष्णं वायुः सन्ध्यस्थमज्जसु ।
 छिन्दन्निव चरत्यन्तं वक्रीकुर्वन्श्च वेगवान् ॥
 करोति खञ्जं पङ्कं वा शरीरे सर्व्वतश्चरन् ।
 सर्व्वैर्लिङ्गैरतु विज्ञेयं वातासृगुभयाश्रयम् ॥ ६ ॥

काष्ण्यं शरीरस्य । यदि कुत्रचित् क्षतं भवति तदा तत्रातिरुग् भवति ।
 सन्धिषु रुग् भूत्वा भूत्वा नश्यति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—उत्तानमित्यादि । त्रगाद्याश्रितमुत्तानं गम्भीरन्तु मेदोमज्जा-
 चन्तराश्रयम् । तत्रोत्ताने लक्षणमाह—कण्डूदाहेत्यादि । वाहे उत्ताने वातरक्त
 त्वक् कण्डूदिभिरन्विता श्यावरक्ता च भवति तथा ताम्रवर्णा चोच्यते । गम्भीर
 इत्यादि । गम्भीरे वातरक्ते यः श्वयथुः स स्तब्धादिः स्यात् । वायुस्तु सन्धिषु
 चास्थिषु मज्जसु च छिन्दन्निव चरति । वेगवानन्तं करपादाङ्गुलीप्रभृत्यङ्गं
 वक्रीकुर्वन् खञ्जं पाङ्गुल्यं वा सर्व्वतश्चरन् करोति । सर्व्वैरित्यादि ।
 कण्डादेरतदन्तैः सर्व्वैर्लिङ्गैरुभयाश्रयं उत्तानगम्भीराश्रयं वातासृक् विज्ञेयम् ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—अवगाढानवगाढचिकित्साभेदार्थमाह—उत्तानमित्यादि । अन्तराश्रयमिति त्वङ्-
 मांसव्यतिरिक्तगम्भीरभात्वाश्रयम् । सर्व्वैर्लिङ्गैरिति । उत्तरवर्गाभ्युक्तैर्मिलित्वा अयञ्च तृतीयः
 प्रकारः, वाह्याभ्यन्तरप्रकारो वेति कृत्वा रोगसंग्रहे द्विविधं वातशोणितमुक्तम् । उत्तानमगाढ-
 मित्येके भाषन्ते । तत् तु न सम्यक्, कस्मात् ? कुष्ठवदुत्तानं भूत्वा कालान्तरेण अवगाढं भवतीत्यनेन
 अद्वैविध्यं सिद्धम् । तदा आचार्य्ययोः परमात्मयोः सुश्रुताग्निवेशयोः एकस्यापि अप्रामाण्यं न
 सङ्गतामिति कृत्वा अविरोधमस्य व्याख्यास्यामः । तथाहि सुश्रुतेनोक्तम् । द्विविधं वातशोणित-
 मुत्तानमवगाढचेत्येके भाषन्ते तत् तु न सम्यक् । तद्धि कुष्ठवदुत्तानाभूत्वा कालान्तरेणावगाढी-
 भवति तस्माच्च द्विविधम् । उत्तानं वातशोणितं कुष्ठवद् गम्भीरं भवतीत्युच्यते । न तु सर्व्वमेव
 उत्तानं भूत्वा गम्भीरं भवतीति प्रतिज्ञायते । तेन यो ब्रूते उत्तानमेवावतिष्ठते तं प्रति सुश्रुत-

तत्र वातोऽधिको वा स्याद् रक्तं पित्तं कफोऽपि वा ।
 संस्पृष्टैश्च समस्तैश्च यच्च तच्छृणु लक्षणैः ॥ ७ ॥
 विशेषतः सिरायामस्तोदस्फुरणभेदनम् ।
 शोथस्य कार्ण्यं रौक्ष्यञ्च श्यावतावृद्धिहानयः ॥
 धमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक् ।
 कुञ्चनस्तम्भने शोत-प्रद्वेषश्चानिलोत्तरे ॥
 रक्ते शोथोऽतिरुक् तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते ।
 क्षिग्धरुक्षः शमं नैति कण्डूस्वेदान्वितो भृशम् ॥
 विदाहो वेदना मूर्च्छा स्वेदस्तृष्णा मदो भ्रमः ।
 रागः पाकश्च भेदश्च शोषश्चोक्तानि पैत्तिके ॥
 स्तैमित्यं गौरवं स्वेदः सुप्तिर्मन्दा च रुक् कफे ।
 हेतुलक्षणसंसर्गाद् वदेद् द्वन्द्वं त्रिदोषजम् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—तत्रेत्यादि । तत्रोभयाश्रये संस्पृष्टैश्च समस्तैश्च वातोऽधिकः स्यात्
 पित्तञ्च रक्तञ्च कफश्चाधिको भवति तल्लक्षणं शृणु ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—विशेषत इत्यादि । अनिलोत्तरे वातरक्ते सिरायामः सिराणां
 दैर्घ्यं तोदादीनि च । रक्त इत्यादि । रक्ते रक्ताधिके वातरक्ते यः शोथः
 सोऽतिरुक् तोदः इत्यादि स्यात् । विदाह इत्यादि । पैत्तिके पित्ताधिके
 वातरक्ते विदाहादयः स्युः । स्तैमित्यमित्यादि । कफे कफाधिके वातरक्ते
 स्तैमित्यादि स्यात् । हेतुलक्षणद्वन्द्वसर्वाणां संसर्गाद् द्वन्द्वं वातरक्तं त्रिदोषजञ्च
 वदेत् ॥ ८ ॥

वचनं बाधकम् । चरके तु उत्तानमेवावतिष्ठते इति नैवोक्तम् । किन्तु प्रथमोत्पत्तौ किञ्चिदुत्तानमुत्-
 पद्यते किञ्चित् तु गम्भीरमिति, तेन न विरोधश्चरकमुश्रुतयोः ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—तत्र वातेऽधिके इत्यादौ पित्तवृद्धिः शोणितवृद्धिः कफवृद्धिर्ज्ञेया । संस्पृष्टैरिति
 द्वित्रिमेलकैः, समस्तैरिति चतुर्मिलितैः । शिरायामेत्यादिना वाताङ्गुलवर्णानां चतुर्णां लक्षणमाह ।
 आयामो विस्तरणम्, श्यावता श्याववर्णत्वम् । श्रयथुरित्यादिना उद्भिक्तरक्तस्य विशेषणम् । द्वन्द्वं
 त्रिदोषजमित्यस्य अधिकशोणितानुबन्धोऽपि गृहीतव्यः । तेन वातादिचतुष्टयमेलकजम् अपि वात-
 शोणितं ज्ञेयम् । अत एव द्वित्रिसर्वाधिकभेदात् द्विविधस्यापि वातशोणितस्य पूर्ववर्तीकाकृद्भिः

एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम् ।

त्रिदोषजमसाध्यं स्याद् यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥ ९ ॥

अस्वप्नारोचकश्वास-मांसकोथशिरोग्रहाः ।

मूर्च्छायामदरुक्तृष्णा-ज्वरमोहप्रवेपकाः ॥

हिक्रापाङ्गल्यवीसर्प-पाकतोदभ्रमक्लमाः ।

अङ्गुलीवक्रता स्फोटा दाहमर्मग्रहाव्वदाः ॥ १० ॥

एतैरुपद्रुतं वज्ज्यं मोहेनैकेन वापि यत् ।

संप्रस्त्रावि विवर्णश्च स्तब्धमव्वदकृच्च यत् ॥

वज्जयेच्चैव सङ्कोच-करमिन्द्रियतापनम् ।

अकृतस्त्रोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—एकेत्यादि । एकदोषानुगं नवं वातरक्तं साध्यम्, द्विदोषजं याप्यम्, त्रिदोषजमसाध्यं स्यात्, यस्य च वाताद्यधिकस्यापि उपद्रवाः स्युस्तदप्यसाध्यं स्यात् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—उपद्रवानाह—अस्वप्नेत्यादि । अस्वप्नाद्यव्वदान्ता उपद्रवा भवन्ति ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—एतैरित्यादि । एतैः समस्तरुपद्रवरुपद्रुतं वातरक्तं वज्ज्यं न त्वेकैकेन बहुभिर्वोपद्रुतम् । तत्रैकेन मोहेनोपद्रुतं यत् तदपि वज्ज्यम् । मांस-स्त्राविप्रभृतिकं यच्च तदपि विवर्जयेत् । सङ्कोचकरमिन्द्रियतापनं यच्च तदपि वज्जयेत् । नन्वेकोपद्रवयुक्तं किं साध्यमित्यत आह—अकृतस्नेत्यादि । एकाद्य-

पञ्चचत्वारिंशद्भेदा उक्ताः । करणादीनि तु प्रकरणान्तरेण षट्त्रिंशद्विधमुक्तम् । उक्तं हि—
“वातोत्तरं प्रवृद्धासृक् पञ्चविंशद्विधं मतम् । पित्तात् षट्त्रिंशद्विधं योगात् कफाद् दशेति । एते भेदाः अनतिप्रयोजनत्वान्न विवृता ॥ ७ । ८ ॥

चक्रपाणिः—साध्यादिविभागमाह—एकदोषानुगमित्यादि । यस्य च स्युरुपद्रवा इति साध्यत्वेनोक्तस्यापि वक्ष्यमाणोपद्रवयोगादसाध्यता । त्रिदोषस्य असाध्यत्वेऽपि यद् वक्ष्यति “स्वजेन-मथिता पेया वातरक्ते त्रिदोषजे” इति, तत् असंपूर्णलक्षणत्रिदोषजाभिप्रायेण । मूर्च्छा इव मूर्च्छा, पाङ्गुल्यं पङ्गुता । मोहेनैकेनेति इतरोपद्रवाणां मेलकैरसाध्यत्वम्, मोहस्तु एक एव असाध्यताकर इत्यर्थः । ये तु मेहेनैकेनेति पठन्ति ते मेहेन वातशोणितस्य विरुद्धोपक्रमतया मेहयोगेनासाध्यताम्

रक्तमार्गं निहन्त्याशु शाखासन्धिषु मारुतः ।
 निविश्यान्योऽन्यमावाध्य वेदनाभिर्हरेदसून् ॥
 तत्र मुञ्चेदसृक् शृङ्ग-सूच्यलावुजलौकसा ।
 प्रच्छनैर्वा सिराभिर्वा यथादोषं यथाबलम् ॥
 रुग्दाहतोदरागार्तादसृक् स्राव्यं जलौकसा ।
 शृङ्गैस्तु वै चिमिचिमा कण्डूगु दूयनात् हरेत् ॥
 देशाद् देशं व्रजत् स्राव्यं सिराभिः प्रच्छनेन वा ।
 अङ्गुलानौ तु न स्राव्यं रुद्धे वातोत्तरे च यत् ॥
 गम्भीरं श्वयथुं स्तम्भं कम्पं स्नायुसिरामयान् * ।
 स्नानिश्चापि ससङ्कोचां कुर्याद् वायुरसृक्क्षयात् ॥

कृत्स्नेनोपद्रवेणोपद्रुतं वातरक्तं याप्यं निरुपद्रवन्त्वेकदोषानुगं साध्यं
 स्यात् ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अत्र साध्ये क्रियाथमाह—रक्तेत्यादि । वातरक्ते मारुतः
 शाखासन्धिषु निविश्य रक्तमार्गमाशु निहन्ति ततो रक्तञ्च मारुतश्चान्योऽन्य-
 मावाध्य वेदनाभिरसून् हरेत् । तत्रासृक् शृङ्गादिभिर्मुञ्चेत् । यथादोषमाह—
 रुगित्यादि । रुगादियुक्ताद् वातरक्तादसृक् जलौकसा मुञ्चेत् । चिमिचिमादि-
 युक्तात् शृङ्गैर्हरेत् । देशाद् देशं व्रजद् वातरक्तेऽसृक् सिराभिः प्रच्छनेन वा स्राव्यम् ।
 अयोग्यमाह—अङ्गुलानावित्यादि । अङ्गुलान्यादौ कस्मान्न स्राव्यमित्यत आह—
 गम्भीरमित्यादि । अङ्गुलानौ रुद्धे वातोत्तरे च वायुः (स्नायुसिरामुखात्)
 आहुः । वातशोणितस्य हि प्रायेण मधुरशीतोपक्रमः, तद्विपरीतस्तु मेहस्येति विरुद्धोपक्रमता ।
 विवर्णमिति विपरीतवर्णम्, विवर्णत्वमत्र तु वातानुषङ्गोपद्रवः ॥ ९—११ ॥

चक्रपाणिः—वातशोणितस्य रक्तहरणार्थं रूपमाह—रक्तमार्गमित्यादि । रक्तस्य मार्गं मारुतो
 निहन्ति, शाखासन्धिषु निविश्य रक्तनिरोधार्थं अन्योऽन्यमावाध्य रक्तेन वातं वातेन च रक्तं आवाध्य
 वेदनाभिः हरेदसूनि निति योज्यम् । अत एवाह । अत्र वातशोणिते असृक् विमुञ्चेदिति भावः ।
 असृङ्मोक्षणेन आवरकव्यपगमात् वायुरपि प्रसज्यो भवति ततश्च व्याध्युपरमः । देशाद् देशं
 व्रजदिति प्रसरणलौकम् । स्नावनाहं शोणितेऽपि अतिस्त्रावणाद् दोषमाह—गम्भीरमित्यादि ।

* स्नायुसिरामयात् तथा स्नायुसिरामुखादिति वा पाठः क्वचित् ।

खाज्जादीन् वातरोगांश्च मृत्युश्चात्यवसेचनात् ।

कुर्यात् तस्मात् प्रमाणेन स्निग्धाद्रक्तं विनिर्हरेत् ॥ १२ ॥

विरेच्य स्नेहयित्वादा स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः ।

रुक्षैर्वा मृदुभिः शस्तमसकृद् वस्तिकर्म च ॥

सेकाभ्यङ्गप्रदेहान्न-स्नेहाः प्रायोऽविदाहिनः ।

वातरक्ते प्रशस्यन्ते विशेषन्तु निबोध मे ॥ १३ ॥

वाह्यमालेपनाभ्यङ्ग-परिषेकोपनाहनैः ।

विरेकास्थापनस्नेह-पानैर्गम्भीरमाचरेत् ॥ १४ ॥

सर्पिस्तैलवसामज्ज-पानाभ्यञ्जनवस्तिभिः ।

सुखोष्णैरुपनाहैश्च वातोत्तरमुपाचरेत् ॥

विरेचनैर्घृतक्षीर-पानैः सेकैः सवस्तिभिः ।

शीतैर्निर्वापणैश्चापि रक्तपित्तोत्तरं जयेत् ॥

असृक्षयात् गम्भीरश्वयथुप्रभृतीन् कुर्यात् । अत्यवसेचनात् सर्वस्मिन्नेव वातरक्ते खाज्जादीन् कुर्यात् । तस्मात् स्निग्धाद् वातरक्तिपुरुषात् प्रमाणेन रक्तं विनिर्हरेत् ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—अथ क्रियान्तरमाह—विरेच्येत्यादि । आदौ स्नेहयित्वा वातरक्तं स्नेहयुक्तैर्विरेचनै रुक्षैर्वा मृदुभिर्विरेचनैर्विरेच्यासकृद् वस्तिकर्म शस्तम्, सेकादयश्च वातरक्तं प्रशस्यन्ते, ततो विशेषन्तु निबोधेति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—विशेषमाह—वाह्यमित्यादि । आलेपनादुपनाहान्तैर्वाह्यमुत्तानमुपाचरेत् । विरेकादिभिर्गम्भीरमुपाचरेत् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—तत्र वातादिविशेषे विशेषमाह—सर्पिरित्यादि । सर्पिरादिभिः वातोत्तरमुत्तानमुपाचरेत् । विरेचनादिभिस्तु रक्तोत्तरं पित्तोत्तरञ्चोत्तानं खाज्जादीनिति खाज्जप्रपङ्गुल्यकुञ्जत्वादीन् कुर्यादिति छेदः । प्रमाणेनेति अविकारिमात्रया ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—विरेचनविधानमाह । स्नेहयुक्तै रुक्षैर्वेति विकल्पद्वयम् । स्नेहयुक्तविरेचनम् ईषत्-स्निग्धविषयम्, रुक्षैस्तु विरेचनं अतिस्निग्धविषयम् । मृदुभिरित्यनेन वातक्षोभभयाद् अत्र तीक्ष्ण-विरेचनं निषेधयति । वस्तिकर्मैति अनुवासननिरुह रूपम् । प्रायोऽविदाहिन इति नितराम्

२ ॥

वमनं मृदु नात्यर्थं स्नेहसेकौ विलङ्घनम् ।
 कोष्णा लेपाश्च शस्यन्ते वातरक्ते कफोत्तरे ॥
 कफवातोत्तरे शीतैः प्रलिप्ते वातशोणिते ।
 विदाहशोफरुक्कण्डू-विवृद्धिः स्तम्भनाद् भवेत् ॥
 रक्तपित्तोत्तरे * दाहः क्लेदोऽवदारणं भवेत् ।
 उष्णैस्तस्माद् भिषक् दोष-बलं बुद्ध्वा चरेत् क्रियाम् ॥ १५ ॥
 दिवास्वप्नं ससन्तापं व्यायामं मैथुनं तथा ।
 कटूष्णगुर्वभिष्यन्दि-लवणाम्लञ्च वर्जयेत् ॥ १६ ॥
 पुराणयवगोधूम-नीवाराः शालिषष्टिकाः ।
 भोजनार्थं रसार्थन्तु विष्किरप्रतुदा हिताः ॥
 आढक्यश्रणका मुद्गा मसूराः समुकुष्टकाः ।
 यूषार्थं बहुसपिष्काः प्रशस्ता वातशोणिते ॥
 सुनिषण्णकवेत्राग्र-काकमाचीशतावरीम् ।
 वास्तुकोपोदिकाशाकं शाकं सौवर्चलं तथा ॥

मन्नेव
माणेनवात-
वकर्म

तान-

देभिः

त्तानं

कारि-

इषत्-

ीक्ष्ण-

तराम्

जयेत् । वमनमित्यादि । कफोत्तरे उत्ताने वातरक्ते वमनादयः शस्यन्ते ।
 द्वन्द्वजक्रियामाह—कफवातोत्तर इत्यादि । कफवातोत्तरे उत्ताने शीतैः प्रलिप्ते
 स्तम्भनाद् विदाहादिवृद्धिः स्यात् । पित्तरक्तोत्तरे तूष्णैर्लिप्ते दाहादिकं भवेत् ।
 तस्माद् दोषबलं बुद्ध्वा क्रियां चरेत् ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—वर्ज्यान्याह—दिवेत्यादि । वातरक्ते दिवास्वप्नादिकं वर्जयेत् ॥ १६

गङ्गाधरः—पथ्यान्याह—पुराणेत्यादि । पुराणयवादयो भोजनार्थं विष्कि-

रादयो प्रांसरसार्थम् । यूषार्थं बहुसपिष्का आढक्यादयः शस्ताः । शाकन्तु
 अविदाहिनः । विशेषमिति विशिष्टचिकित्सितम् । बाह्यमित्युक्त्वा कफोत्तरे वातोत्तरे च शीतप्रलेप-
 दोषमाह—कफवातोत्तर इत्यादि । शीतलेपेन विदाहोऽल उष्णरोधाद् भवतीति ज्ञेयम् ।
 पित्तोत्तरे रक्तोत्तरे च उष्णैः प्रलेपैर्दोषमाह—रक्तपित्तोत्तर इत्यादि । दोषबलं बुद्ध्वा अनुगुणामेव
 क्रियामाचरेत्, वातकफोत्तरे उष्णा रक्तपित्तोत्तरे शीता मिश्रे च मिश्रा ॥ १३—१६ ॥

* वातपित्तोत्तरे इति कचित् पाठः ।

घृतमांसरसे भृष्टं शाकसात्म्याय दापयेत् ।
 व्यञ्जनार्थं तथा गव्यं माहिषाजं पयो हितम् ॥
 इति संक्षेपतः प्रोक्तं वातरक्तचिकित्सितम् ।
 एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः संप्रवक्ष्यते ॥ १७ ॥
 श्रावणीक्षीरकाकोली-जीवकर्षभकैः समैः ।
 सिद्धं समधुकैः सर्पिः सक्षीरं वातरक्तनुत् ॥ १८ ॥
 बलामतिबलां मेदामात्मगुप्तां शतावरीम् ।
 काकोलीं क्षीरकाकोलीं रास्नां मृद्वीश्च पेषयेत् ॥
 घृतं चतुर्गुणक्षीरं तैः सिद्धं वातरक्तनुत् ।
 हृत्पाण्डुरोगवीसर्ष-कामलाज्वरनाशनम् ॥ १९ ॥
 त्रायन्तिका तामलकी द्विकाकोली शतावरी ।
 कशेरुका कषायेण कल्कैरेभिः पचेद् घृतम् ॥
 दत्त्वा परुषकद्राक्षा-काश्मर्येक्षुरसान् समान् ।
 पृथक् विदार्याः स्वरसं तथा क्षीरं चतुर्गुणम् ॥

सुनिषण्णकादिशाकम् । लवणं सौवर्चलम् । घृतेत्यादि । शाकसात्म्याय
 सुनिषण्णकादीनां शाकं घृतमांसरसे भृष्टं व्यञ्जनार्थं दापयेत् । तथा गव्यं
 माहिषमाजश्च पयो हितमिति । इतीत्यादि स्पष्टम् ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—व्यासत आह—श्रावणीत्यादि । श्रावणी मुण्डेरी । श्रावण्यादि-
 मधुकान्तैः कल्कैश्चतुर्गुणक्षीरे सिद्धं सर्पिः सर्ववातरक्तनुत् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—बलामित्यादि । बलादि-मृद्वीकान्तः कल्कः ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—त्रायन्तिकेत्यादि । त्रायन्ती त्रायमाणा तामलकी भूम्यामलकी ।
 त्रायन्तिकादीनां षण्णां घृतसमेन कषायेण एभिः पङ्क्तिभिरुत्पादिकैः कल्कैश्च

चक्रपाणिः—सौवर्चलमिति सूर्यावर्चशाकम् । व्यञ्जनार्थमिति भोजनसाधनतया । आजं पय-
 इत्यादि उपक्रमः । एतदेवेति संक्षिप्तप्रयोगकथनं प्रपञ्चेन प्रपञ्चयति ॥ १७ ॥

चक्रपाणिः—श्रावणी मुण्डेरी । चतुर्गुणक्षीरमित्यनेन द्रवान्तरभावात् चतुर्गुणक्षीरमेव घृतात्
 भवति । त्रायन्तीत्यादौ कल्कैरेभिरित्यनेन पृथक् विदार्यन्तीनां कल्कत्वम्, कशेरुकाकषायः ।
 परुषकस्वरसादीनां प्रत्येकं घृतसमानत्वे विदार्यरुस्यापि तथा वचनात् समत्वम् । अत्र चतुर्गुणं—

एतत् प्रायौगिकं सर्पिः पारुषकमिति स्मृतम् ।

वातरक्ते क्षते क्षीणे वीसर्पे पैत्तिके ज्वरे ॥ २० ॥

पारुषकं घृतम् ।

द्वे पञ्चमूले वर्षाभूमेरण्डं सपुनर्नवम् ।

मुद्गपर्णीमहामेदा-माषपर्णीशतावरीः ॥

शङ्खपुष्पीमवाक्पुष्पीं रास्त्रामतिबलां बलाम् ।

पृथक् द्विपलिकान् कृत्वा जलद्रोणे विपाचयेत् ॥

पादशेषं समं क्षीरं धात्रीक्षुच्छागलान् रसान् ।

घृतादुक्तेन संयोज्य शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥

कल्कं दत्त्वा च मेदे द्वे काश्मर्यफलमुत्पलम् ।

त्वक्क्षीरीं पिप्पलीं द्राक्षां पद्मबीजं पुनर्नवाम् ॥

नागरं क्षीरकाकोलं पद्मकं बृहतीद्वयम् ।

वीरां शृङ्गाटकं भव्यमुरुमालं निकोठकम् ॥

खज्जराक्षोड्वादाम-मुञ्जाताभिषुकं तथा ।

एतैर्घृतादुक्ते सिद्धे क्षौद्रं शोते प्रदापयेत् ॥

घृतं परुषकादीनां रस प्रत्येकं घृतसमं दत्त्वा विदार्याः स्वरसं घृताचतुर्गुणं
तथा क्षीरं चतुर्गुणं दत्त्वा पचेत् । प्रायौगिकं नित्यं प्रयोगाय सम्पद्यते ॥ २० ॥

पारुषकं घृतम् ।

गङ्गाधरः—द्वे पञ्चमूले इत्यादि । पुनर्नवाद्वयम् । अवाक्पुष्पी शतपुष्पा ।
द्विपञ्चमूलादीनां प्रत्येकं द्विपलं नीत्वा जलद्रोणे विपाचयेत् । पादशेषं तं
काथं षोडशशरावं क्षीरञ्च षोडशशरावं धात्रीरसं षोडशशरावमिक्षुरसं षोडश-
शरावं छागमांसरसं षोडशशरावं घृतादुक्तेन घृतस्य षोडशशरावेण सह संयोज्य

“रसैः परुषककाश्मर्यककशोरुकीविदारीद्राक्षेक्षणां चतुष्के पयसि द्विकाकोलीतामलकीलायन्ती-
शतावरीः पिष्ट्वा पिबेत् घृतं प्रयोगेण, तद् वातास्रजित् सर्पिः परुषकं नासेति ॥ १८—२० ॥

चक्रपाणिः—द्वे पञ्चमूल इत्यादौ वर्षाभूः श्वेतपुनर्नवा, अवाक्पुष्पी अत्रःपुष्पीति ख्याता ।

सम्यक् सिद्धञ्च विज्ञाय सुगुप्तं सन्निधापयेत् ।
 कृतरक्षाविधं तच्च प्राशयेदक्षसम्मितम् ॥
 पाण्डुरोगं ज्वरं हिक्कां स्वरभेदं भगन्दरम् ।
 पार्श्वशूलं क्षयं कासं ग्रीहानं वातशोणितम् ॥
 सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च मूत्रसङ्गञ्च नाशयेत् ।
 बलवर्णकरं धन्यं बलीपलितनाशनम् ।
 जीवनीयमिदं सर्पिवृष्यं बन्ध्यासुतप्रदम् ।
 अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रयेण भाषितम् ॥ २१ ॥
 जीवनीयं घृतम् ।

द्राक्षामधुकतोयाभ्यां सिद्धं वा ससितोपलम् ।
 घृतं पिबेत् तथा क्षीरे गुडूचीस्वरसे शृतम् ॥ २२ ॥
 जीवकर्षभकौ मेदामृष्यप्रोक्तां शतावरीम् ।
 मधुकं मधुपर्णीञ्च काकोलीद्वयमेव च ॥
 मुद्गमाषाख्यपर्यायौ च दशमूलं पुनर्नवाम् ।
 बलामृताविदारीश्च साश्वगन्धाश्मभेदकाः ॥

मेदाद्वयादिकं कल्कं पादिकं दत्त्वा मृद्वग्निना शनैः पचेत् । अक्षसमं तद् घृतं प्राशयेत् । वीरां काकोलीं भव्यादिकं देशविशेषे स्वनामप्रसिद्धम् ॥ २१ ॥
 जीवनीयं घृतम् ।

गङ्गाधरः—द्राक्षेत्यादि । द्राक्षामधुककाथे चतुर्गुणेऽकल्कं घृतं पक्त्वा पादिकां ससितोपलां प्रक्षिप्यालोड्य घृतं पिबेत् । तथा क्षीरे चतुर्गुणे शृतं ससितोपलं, गुडूचीस्वरसे चतुर्गुणे शृतं घृतं ससितोपलं पादिकां शर्करां प्रक्षिप्य पिबेत् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—जीवकेत्यादि । ऋष्यप्रोक्ता शूकशिम्बी । मधुपर्णी गुडूची अमृता च गुडूची तस्माद् भागद्वयम् । जीवकादीनां कल्कं जीवकादीनां कृषायश्च क्षीरादीनां स्नेहसमत्वम् । सुगुप्तमिति वाताद्यस्पर्शनीयं यथा भवति तथा विधाय प्राशयेदिति । द्राक्षेत्यादौ ससितोपलमिति प्रक्षिप्तशर्करम् ॥ २१ । २२ ॥

कुर्यात् कल्कं कषायश्च ताभ्यां तैलं घृतं पचेत् ।
 लाभतश्च वसामज्ज धन्वप्रतुदवैष्किरम् ॥
 चतुर्गुणेन पयसा तत् सिद्धं वातशोणितम् ।
 सर्व्वदेहाश्रितं हन्ति व्याधीन् घोरांश्च वातजान् ॥ २३ ॥
 स्थिरां श्वदंष्ट्रां वृहतीं सारिवाश्च शतावरीम् ।
 काश्मरीमात्मगुप्ताश्च वृश्चीरं द्वे बले तथा ॥
 एषां काथे चतुःक्षीरे पृथक् तैलं पृथग् घृतम् ।
 मेदा शतावरी यष्टी जीवकर्षभकौ बला ॥ *
 पक्त्वा मात्रा ततः क्षीर-त्रिगुणाध्यर्द्धशर्करा ।
 खजेन मथिता पेया वातरक्ते त्रिदोषजे ॥ २४ ॥

कुर्यात् ताभ्यां पादिककल्क-चतुर्गुणकषायाभ्यां तैलं घृतश्चेति द्वयमेकी-
 कृत्य चतुर्गुणेन पयसा पचेत् । लाभतस्तु धन्वादिवसामज्ज च तत्र दत्त्वा
 (समं चतुःस्नेहं चतुर्गुणेन क्षीरेण ताभ्यां पादिककल्कचतुर्गुणकषायाभ्यां)
 पचेत् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—स्थिरामित्यादि । स्थिरादीनां काथे तैलसमाने घृतसमे चतुर्गुणे
 क्षीरे तैलं घृतं वा मेदादिकल्केन पक्त्वा स्थाप्यम्, ततो मात्रा यावती पातु
 योग्या सा क्षीरत्रिगुणा त्रिगुणदुग्धयुता सार्द्धैकगुणशर्करासहिता खजेन
 मथिता पेया, एवं प्रतिदिनं पेया । यद्यपि त्रिदोषमसाध्यमुक्तं तथापि
 चावलवद्वातरक्ते त्रिदोषजेऽपि यापनार्थमुक्तम् ॥ २४ ॥

चक्रपाणिः—ऋष्यप्रोक्ता अतिबला काला मज्जिष्ठा मधुपर्णी विकङ्कतम् । धन्वप्रतुदवैष्किरमिति
 वसामज्जविशेषणम् ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—स्थिरामित्यादौ चतुःक्षीर इति चतुर्गुणं क्षीरम् । पृथक् तैलं पृथग् घृतमित्यनेन
 संमिश्रपाकं निषेधयति । क्षीरत्रिगुणा सार्द्धभागा शर्करा यस्यां माहायां सा त्रिगुणाध्यर्द्धशर्करा ।
 खजः पञ्चाङ्गुलो हस्तः मन्थानो वा ॥ २४ ॥

तैलं पयः शर्कराञ्च पाययेद् वा सुमूर्च्छिताम् ।
 सर्पिस्तैलवसाक्षौद्रैर्मिश्रितं वा पिबेत् पयः ॥
 अंशुमत्या शृतः प्रस्थः पयसः ससितोपलः ।
 पाने प्रशस्यते तद्वत् पिप्पलीनागरैः शृतः ॥
 बलाशतावरीरास्त्रा-दशमूलैः सपीलुभिः ।
 श्यामैरण्डस्थिराभिर्वा वातार्त्तिघ्नं शृतं पयः ॥
 धारोष्णं मूत्रयुक्तं वा क्षीरं दोषानुलोमनम् ।
 पिबेद् वा सत्रिवृच्चूर्णं पित्तरक्तेऽनिलात्मके ॥ २५ ॥
 क्षीरेणैरण्डतैलं वा प्रयोगेण नरः पिबेत् ।
 बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीरौदनाशनः ॥
 कषायममृतानां वा घृतभृष्टं पिबेन्नरः ।
 क्षीरानुपानं त्रिवृता-चूर्णं द्राक्षारसेन वा ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—तैलमित्यादि । तैलं पयः शर्करां युक्त्या खजेन सुमूर्च्छितां कृत्वा पाययेत् । सर्पिरादिभिः सह पयः खजेन मिश्रितं कृत्वा वा पिबेत् । अंशुमत्येत्यादि । अंशुमती शालपर्णी पयसोऽष्टमांशा जलं चतुःप्रस्थं पयसः प्रस्थः पक्त्वा पयोऽवशिष्टं पादिकां सितोपलां दत्त्वा पिबेत् । तद्वत् पिप्पलीनागरः शृतं ससितोपलं पयः पिबेत् । बलेत्यादि । बलादिभिरष्टमांशश्चतुर्गुणजले शृतं पयः श्यामादिभिरष्टमांशश्चतुर्गुणजले शृतं पयो वातार्त्तिघ्नम् । धारेत्यादि । धारोष्णं क्षीरं गोमूत्रयुक्तं दोषानुलोमनं पित्तरक्तेऽधिके वातरक्तेऽनिलात्मके च पिबेत्, अथवा धारोष्णं क्षीरं त्रिवृच्चूर्णयुक्तं दोषानुलोमनं पिबेत् ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—क्षीरेणेत्यादि । एरण्डतैलं क्षीरेण प्रयोगेण नित्यं पिबेत् । जीर्णे क्षीरौदनमश्नीयात् । अमृतानां गुडूचीनां कषायं घृतभृष्टं क्षीरानुपानं पिबेत्, अथवा द्राक्षारसेन त्रिवृताचूर्णं पिबेद् विरेकार्थमित्यनुवर्त्तते ॥ २६ ॥

चक्रपाणिः—अंशुमती शालपर्णी । ससितोपल इति शर्कराद्विपलम् । इयञ्च क्षीरमात्रा उत्तमाग्नीन् प्रति । धारोष्णमिति दोहकालमेव धारयति । अग्नियोगादिना उष्णीकृतं मूत्रञ्च क्षीरसमम्, सत्रिवृच्चूर्णं धारोष्णं क्षीरमिति सम्बन्धः । प्रयोगेणेत्यभ्यासेन ॥ २५ । २६ ॥

काश्मर्यं त्रिवृतां द्राक्षां त्रिफलां सपरुषकाम् ।
 शृतां पिबेद् विरेकार्थं लवणक्षौद्रसंयुताम् ॥
 त्रिफलायाः कषायं वा पिबेत् क्षौद्रेण संयुतम् ।
 धात्रीहरिद्रामुस्तानां कषायं वा कफाधिकः ॥ २७ ॥
 योगैश्च कल्पनिर्दिष्टैरसकृत् तं विरेचयेत् ।
 मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैर्जात्वा वायुमनावृतम् ॥
 निर्हरेद् वा मलं तस्य सघृतैः क्षीरवस्तिभिः ।
 न हि वस्तिसमं किञ्चिद् वातरक्तचिकित्सितम् ॥ २८ ॥
 वस्तिवद्धरणपार्श्वोरु-पर्व्वास्थिजठरात्तिष्ठु ।
 उदावर्ते च शस्यन्ते निरूहा सानुवासनाः ॥
 दद्याच्चेमानि तैलानि वस्तिकर्मणि बुद्धिमान् ।
 नस्याभ्यञ्जनसेके च दाहशूलहराणि च ॥ २९ ॥
 मधुपर्ण्याः * पलशतं कषाये पादशेषिते ।
 तैलाढकं समक्षोरं पचेत् कल्कैः पलोन्मितैः ॥

गङ्गाधरः—काश्मर्यमित्यादि । काश्मर्यफलादिकां काथयित्वा सन्धव-
 क्षौद्रे प्रक्षिप्य विरेकार्थं पिबेत् । त्रिफलाया इत्यादि । त्रिफलाकषायं क्षौद्रयुक्तं
 पिबेत् । कफाधिको वातरक्ती धात्रीप्रभृतीनां कषायं वा पिबेत् ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—योगैस्त्यादि । कल्पस्थाने निर्दिष्टविरेचनयोगैर्मृदुभिः स्नेह-
 संयुक्तैरसकृत् तं नरं विरेचयेत् । निर्हरेदित्यादि । तस्य वा मलं सघृतक्षीर-
 वस्तिभिर्निर्हरेत् । हि यस्माद् वस्तिसमं वातरक्तचिकित्सितं नास्ति ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—वस्तीत्यादि । वस्त्यादिष्वत्तिष्ठु उदावर्ते च निरूहा अनुवासनञ्च
 शस्यन्ते । दद्यादित्यादि । इमानि वक्ष्यमाणानि तैलानि वस्तिकर्मणि
 अनुवासने दद्यात् । नस्यादौ च दाहादिहराणि तानि स्युः ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—मधुपर्ण्या इत्यादि । मधुपर्णी गुडूची शतपले जलद्रोणः ।

चक्रपाणिः—क्षीरप्रधानो वस्तिः क्षीरवस्तिः । मधुयष्ट्या इत्यादौ मधुकतुलायां जलद्रोणं

* मधुयष्ट्या इति चक्रवर्तः पाठः ।

शतपुष्पावरोमूढ्वा-पयस्यागुरुचन्दनैः ।
 स्थिराहंसपदीमांसी-द्विमेदामधुपर्णिभिः ॥
 काकोलीक्षीरकाकोली-तामलकृच्छ्रिपद्मकैः ।
 जोवकर्षभजीवन्ती-त्वक्पत्रनखवालकैः ॥
 प्रपौण्डरोकमञ्जिष्ठा-सारिवैन्द्रीवितुन्नकैः ।
 चतुःप्रयोगात् तद्धन्ति तैलं मारुतशोणितम् ॥
 सोपद्रवं साङ्गशूलं सर्व्वगात्रानुगं तथा ।
 वातासृक्पित्तदाहार्ति-ज्वरघ्नं बलवर्णकृत् ॥ ३० ॥
 मधुकस्य शतं द्राक्षा खज्जूरानि परुषकम् ।
 मधूकौदनपाक्यौ च प्रस्थं मुञ्जातकस्य च ॥
 काश्मर्यादकमित्येतच्चतुर्द्रोणे पचेदपाम् ।
 शेषेऽष्टभागे पूते च तस्मिंस्तैलादकं पचेत् ॥
 तथामलककाश्मर्य्य-विदारीक्षुरसैः समैः ।
 चतुर्द्रोणेन पयसा कल्कं दत्त्वा विपाचितम् ॥

शतपुष्पादीनां प्रत्येकं पलं कल्कः । वितुन्नकस्तामलकीप्रभेदः भागद्वयं वा ।
 चतुःप्रयोगादिह प्रोक्तवस्तिकर्मनस्याभ्यञ्जनसकैः प्रयोगात् ॥ ३० ॥

मधुपर्ण्यादितैलम् ।

गङ्गाधरः—मधुकस्येत्यादि । यष्टीमधुपलशतं द्राक्षादीनां प्रत्येकं प्रस्थः ।
 काश्मर्य्यस्य गम्भारीफलस्यादकं चतुर्द्रोणे जले पचेत् । अष्टभागे शेषे
 द्वात्रिंशच्छरावे तैलादकं षोडशशरावं आमलकरसं काश्मरीफलरसं विदारी-

दत्त्वा तैलादकं पचेत् । वरी शतावरी । हंसपदी स्वनामख्याता । वितुन्नकं धान्यकम् ।
 चतुःप्रयोगादिति पानाभ्यङ्गवस्तिनस्यप्रयोगात् ॥ २७—३० ॥

चक्रपाणिः—मधुकस्य शतमिति शतधा पाकेन मधुकपलशतात् सिद्धमित्यर्थः ।

कदम्बामलकाचोड़-पद्मबीजकशेरुकम् ।
 शृङ्गाटकं शृङ्गवेरं लवणं पिप्पलीं सिताम् ॥
 जीवनीयञ्च संसिद्धं क्षौद्रप्रस्थेन संसृजेत् ।
 नस्याभ्यञ्जनपानेषु वस्तौ चापि नियोजयेत् ॥
 वातव्याधिषु सर्वेषु मन्यास्तम्भे हनुग्रहे ।
 सर्वाङ्गकाङ्गवाते च क्षतक्षीणे क्षतज्वरे ॥
 सुकुमारकमित्येतत् वातास्त्रामयनाशनम् ।
 स्थिरवर्णकरं तैलमारोग्यबलपुष्टिदम् ॥ ३१ ॥

सुकुमारकतैलम् ।

गुडूचीं मधुकं ह्रस्वां पञ्चमूलीं पुनर्नवाम् ।
 रास्त्रामेरण्डमूलञ्च जीवनीयानि लाभतः ॥
 पलानां शतकैर्भागैर्वलापञ्चशतं तथा ।
 कोलबिल्वयवान् माषान् कुलत्थांश्चाढकोन्मितान् ॥
 काश्मर्याणां सुशुष्काणां द्रोणं द्रोणशतैश्मभसि ।
 साधयेज्जर्जरं धौतं चतुर्द्रोणञ्च शेषयेत् ॥

रसमिक्षुरसं तैलसमं दत्त्वा चतुर्द्रोणेन पयसा कदम्बादिकं कल्कं दत्त्वा पचेत् ।
 पक्वे पूते शीते क्षौद्रप्रस्थं प्रक्षिप्य मिश्रयेत् । नस्याभ्यञ्जनपानेषु वस्तौ चेति
 चतुःप्रयोगे विनियोजयेत् । ओदनपाकी नीलझिण्टी ॥ ३१ ॥

सुकुमारकतैलम् ।

गङ्गाधरः—गुडूचीमित्यादि । ह्रस्वां पञ्चमूलीं शालपर्ण्यादिपञ्चमूलीं
 गुडूच्यादीनां जीवनीयान्तानां प्रत्येकं पलशतं बलायाः पञ्चशतपलं कोलादीनां
 प्रत्येकमाढकं काश्मर्याफलानां सुशुष्काणां द्रोणं द्वात्रिंशच्छरावं सर्वमेकत्र
 द्रोणशतैश्मभसि चतुःषष्टिशतशरावेश्मभसि साधयेत् चतुर्द्रोणं शेषं कुर्यात् ।

तैलद्रोणं पचेत् तैल दत्त्वा पञ्चगुणं पयः ।
 पिष्ट्वा त्रिपलिकांश्चैव चन्दनोशीरकेशरान् ॥
 पत्रैलागुरुकुष्ठानि तगरं मधुयष्टिकाम् ।
 मञ्जिष्ठाष्टपलञ्चैव तत् सिद्धं सार्वभौगिकम् ॥
 वातरक्ते क्षतक्षीणे भारक्ते क्षीणरेतसि ।
 वेपनोत्क्षिप्तभग्नानां सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिणाम् ॥
 योनिदोषमपस्मारमुन्मादं विषमज्वरम् ।
 हन्यात् पुंसवनञ्चेत् तैलाग्राममृताह्वयम् ॥ ३२ ॥

अमृताख्यं तैलम् ।

पद्मवेतस्यष्टाह-फेनिलापद्मकोत्पलैः ।
 पृथक् पञ्चपलैर्दर्भ-बलाकिंशुकचन्दनैः ॥
 जले शृतैः पचेत् तैल-प्रस्थं सौवीरसम्मितम् ।
 लोध्रकालीयकोशीर-जीवकर्षभकेशरैः ॥

तेन चतुर्द्रोणकाथेन तैलद्रोणं पञ्चगुणं पञ्चद्रोणं पयो दत्त्वा चन्दनादीनां
 मधुयष्टिकान्तानां प्रत्येकं त्रिपलं पिष्ट्वा मञ्जिष्ठाष्टपलञ्च कल्कं दत्त्वा पचेत् ।
 सिद्धमेतत् तैलं सार्वभौगिकं पानाभ्यञ्जनादिषु सर्वेषु यौगिकम् । वातरक्त
 इत्यादौ श्रितमित्यूह्यम् ॥ ३२ ॥

अमृताख्यं तैलम् ।

गङ्गाधरः—पद्मेत्यादि । पद्मं पुष्पं वेतसोऽशोकः । फेनिलाः कोलं पद्मकं
 पद्मकाष्ठं दर्भ उल्लया कश्चित् कुशमूलमाह । पद्मादीनां चन्दनान्तानां पृथक्
 पञ्चपलैरष्टगुणे जले शृतैः पादशेषैस्तैलप्रस्थं सौवीराम्लस्य च प्रस्थं लोध्रादीनां
 गुडूच्यादीनां प्रत्येकं शतपलत्वम् । कोलादीनां प्रत्येकमादकमानत्वम् । काशमर्याणामिति
 गम्भासीफलानाम् । सार्वभौगिकमिति पानादिचतुःप्रयोगे यौगिकत्वम् । पुंसवनमिति
 पुंसूतिकारकम् ॥ ३१ । ३२ ॥

चक्रपाणिः—पद्मवेतसेत्यादौ फेनिला उपोदिका । सौवीरसम्मितमिति स्नेहसमं सौवीरकम् ।

मदयन्तीलतापत्र-पद्मकेशरपद्मकैः ।

प्रपौण्डरीककाशमर्य्य-मांसीमेदाप्रियङ्गुभिः ॥

कुङ्कुमस्य पलाद्धेन मञ्जिष्ठायाः पलेन च ।

महापद्ममिदं तैलं वातासृक्ज्वरनाशनम् ॥ ३३ ॥

महापद्मतैलम् ।

पद्मकोशीरयष्टाह्व-रजनीकाथसाधितम् ।

स्यात् पिष्टैः सज्जमञ्जिष्ठा-वोराकाकोलिचन्दनैः ॥

खड्वाकपद्मकमिदं तैलं वातास्रदाहनुत् ।

आत्रयेणान्निवेशाय भाषितं हितकाम्यया ॥ ३४ ॥

खड्वाकपद्मतैलम् ।

● मधुपर्ण्याः पलं पिष्ट्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणे ।

क्षीरे साध्यं शतकृत्वस्तदेवं मधुकाच्छते ॥

कुङ्कुमान्तानां प्रत्येक पलाद्धेन मञ्जिष्ठायाः पलेन च पचेत् । तत्र कुङ्कुमपलाद्धं पत्रकल्कं दद्यादिति युक्तिः ॥ ३३ ॥ महापद्मतैलम् ।

गङ्गाधरः—पद्मकेत्यादि । महापद्मतैलादनन्तरमिदं खड्वाकपद्मकसंज्ञतादिह पद्मकशब्देन पद्मपुष्पमेव न तु पद्मकाष्ठं महापद्मे प्रथमं पद्मशब्दोपादानात् पद्म-संज्ञा कृता तत इह पद्मशब्देनैवेति सामान्ये सति खड्वाकविशेषणं न तु पद्मक-शब्देन पद्मकाष्ठग्रहणे संज्ञाहेतु पद्मसामान्यं भवति, खड्वाकविशेषणञ्चानर्थकं स्यात् न च मध्ये निर्दिष्टेन पद्मकशब्देन संज्ञाकरणव्यवहार आचार्य्याणामिति पद्मपुष्पोशीरादीनां काथे चतुर्गुणे सज्जादिभिः पादिकैः कल्कैः साधितं खड्वाक-पद्ममिदं तैलं वातास्रदाहनुत् स्यात् ॥ ३४ ॥ खड्वाकपद्मतैलम् ।

गङ्गाधरः—मधुपर्ण्या इत्यादि । मधुपर्णी गुडूची तस्याः पलं पिष्ट्वा कल्कं दत्त्वा चतुर्गुणे क्षीरे तैलप्रस्थं साध्यमित्येवं शतकृत्वः साध्यित्वा शतवार-लोभादिभिः कार्ष्णिकैः । कुङ्कुमञ्च द्विकार्ष्णिकम् । खड्वाकपद्ममिह अल्पपद्मकसंज्ञा वैद्य-व्यवहारार्था ॥ ३३ । ३४ ॥

चक्रपाणिः—शतेन यष्टिमधुकादित्यादौ यष्टिमधुपलशतं दशगुणेन क्षीरेण साध्यम् । तैले

* शतेन यष्टिमधुकात् साध्यं दशगुणं पयः । तस्मिंस्तैले चतुर्दशे मधुकस्य पलेन तु । सिद्धं मधुकाशमर्य्य-रसैर्वा वातरक्तनुत् ॥ इति चक्रसम्मतोऽधिकः पाठः ।

सिद्धं देयं विषोन्माद-वातास्रश्वासकासनुत् ।

हृत्पाण्डुरोगवीसर्प-कामलादाहनाशनम् ॥ ३५ ॥

शतपाकमधुपर्णीतैलम् ।

बलाकषायकल्काभ्यां तैलं क्षीरसमं पचेत् ।

सहस्रं शतवारं वा वातासृग्वातरोगनुत् ॥

रसायनमिदं श्रेष्ठमिन्द्रियाणां प्रसादनम् ।

जीवनं वृंहणं स्वयं शुक्रासृग्दोषनुत् परम् ॥ ३६ ॥

सहस्रपाकं शतपाकं बलातैलम् ।

गुडूचीकाथदुग्धाभ्यां तैलं द्राक्षारसेन वा ।

सिद्धं मधुककाश्मर्य-रसैर्वा वातरक्तनुत् ॥ ३७ ॥

गुडूच्यादीनि तैलानि ।

आरनालादृके तैलं पादं सज्जरसं घृतम् ।

प्रभूते खजिते तोये ज्वरदाहार्तिनुत् परम् ॥ ३८ ॥

पाकादुत्तरं मधुकात् शते मधुकस्य पलशतं जलद्रोणे पक्त्वा पादशेषकाथे तदेवं सिद्धं विषादिनुद् देयम् ॥ ३५ ॥

शतपाकमधुपर्णीतैलम् ।

गङ्गाधरः—बलेत्यादि । बलाकषायकल्काभ्यां बलायाश्चतुर्गुणकपायेण बलाया एव कल्केन पादिकेन क्षीरसमं तैलं पचेत् । सहस्रं वारान् शतवारं वा ॥ ३६ ॥

सहस्रपाकशतपाके बलातैले ।

गङ्गाधरः—गुडूचीत्यादि । गुडूच्याः काथेन चतुर्गुणेन तैलसमेन दुग्धेन सिद्धमकल्कमेकं तैलम् । द्राक्षारसेन वा चतुर्गुणेनाकल्कं सिद्धमपरं तैलम् । मधुककाश्मर्ययोर्मिलितयो रसैः काथैश्चतुर्गुणैः सिद्धमकल्कं तृतीयं तैलम् ॥ ३७ ॥

गुडूच्यादीनि तैलानि ।

गङ्गाधरः—आरनालेत्यादि । आरनालस्यादृकं तत्पादं तैलं सज्जरसश्च तैलसमं घृतञ्च तैलसममिति त्रयं तस्मिन्नारनाले पक्त्वावतार्य तस्य यथा-चतुर्द्रोणे स्थितं, तदेव मधुकाच्छतमिति शतधापाकेन मधुकपलशतात् सिद्धमित्यर्थः । अनेन च मधुकपलशतसाधनोपदेशेन शतकृत्व इति शब्दस्य विपुलवाचितां निषेधयति ॥ ३५ ॥

चक्रपाणिः—बलाकषायेत्यादिनोक्तशतसहस्रपाके अयम्भुपाकात् स्नेहक्षयं पश्यन्तः शत-गुणन सहस्रगुणेन वा द्रवेण एकदैव पाकं व्याख्यानयन्ति । किन्तु तावती स्नेहमात्रा अत्र

समधूच्छिष्टमाञ्जिष्टं ससर्जरससारिवम् ।

पिण्डतैलं तदभ्यङ्गात् वातरक्तरुजापहम् ॥ ३६ ॥

पिण्डतैलम् ।

दशमूलशृतं क्षीरं सद्यः शूलनिवारणम् ।

परिषेकोऽनिलप्राये तद्वत् कोष्णेन सर्पिषा ॥

स्नेहैर्मधुरसिद्धैर्वा चतुर्भिः परिषेचयेत् ।

स्तम्भाक्षेपणशूलार्त्ते कोष्णैर्दाहे तु शीतलैः ॥

तद्वद् गव्याविकच्छागैः क्षीरैस्तैलविमिश्रितैः ।

निकाथैर्जीवनीयानां पञ्चमूलस्य वा भिषक् ॥

योग्यं किञ्चित् तैलं तोये प्रभूते खजिते मन्थनदण्डेन मथिते सति तल्लेपनं
ज्वरादिनुत् स्यात् ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—समधूच्छिष्टेत्यादि । तैलं प्रस्थोन्मितं मधूच्छिष्टादिचतुष्कं कलकं
पादिकं दत्त्वा चतुर्गुणे जले पक्त्वा वस्त्रपूतं कुर्यात् तत् पिण्डतैलम् ॥ ३९ ॥

पिण्डतैलम् ।

गङ्गाधरः—दशमूलेत्यादि । दशमूलमष्टमांशं क्षीराज्जलं चतुर्गुणं पक्त्वा
क्षीरावशेषं, तेन परिषेकः प्रायानिले । तद्वत् कोष्णेन सर्पिषाऽनिलप्राये
परिषेकः । स्नेहैरित्यादि । मधुरगणद्रव्यैः सिद्धैश्चतुर्भिः स्नेहैः स्तम्भाक्षेपण-
शूलार्त्ते कोष्णः परिषेचयेत् । दाहे तु तैः शीतलैः परिषेचयेदिति । तद्वदित्यादि ।
तलविमिश्रितैर्गव्यादिक्षीरैः कोष्णेन स्तम्भादिषु परिषेचयेद् दाहे तु शीतलैः ।

पक्त्वा या पाकापेक्षया निःशेषा भवति । क्षीरञ्चात्र स्नेहवर्द्धकमस्ति तेन यथाश्रुतमेव
आचार्य्यवचनं प्रमाणमिति पश्यामः, किञ्च प्रत्यासन्ने एव पाके रुद्रवत् स्नेहकल्कोद्गमनमत्र
कर्त्तव्यम् । तेन स्नेहापेक्षयैव भवति । गुडूचीत्यादौ द्रवात् पादिकस्नेह इति न्यायात् प्रस्थं
तैलस्य भवति । खजितमिति मथितम् ॥ ३६—३८ ॥

चक्रपाणिः—समधूच्छिष्टेत्यादौ मधूच्छिष्टादीनि कलकः जलञ्च द्रवं देयम् । पिण्डतैल-
भाषयात्र वस्त्रापूतमेव एतत् तैलं कर्त्तव्यम् । अत्र तैले एव सर्जरसस्थाने मधूच्छिष्टादीनां
प्रक्षेपात् तत् तैलं अभ्यङ्गे उच्यते इति जतूकर्णदचनादुन्नीयते, उक्तं हि—काञ्जिकसर्जरसशृतं
खजितं बहुना जलेन दाहहितम् । विकसानन्तासिक्थकसर्जरसैर्युक्तं अभ्यङ्गनमिति ॥ ३९ ॥

द्राक्षेक्षुरसमद्यानि दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकम् ।

सेकार्थं तण्डुलक्षौद्र-शर्कराम्बु च शस्यते ॥ ४० ॥

कुमुदोत्पलपत्रादौर्मणिहारैः सचन्दनैः ।

शीततोयानुगैर्दाहे प्रोक्षणं स्पर्शनं हितम् ॥

चन्द्रपादाम्बुसंसिक्ते क्षौमपद्मदलच्छदे ।

शयने पुलिनस्पर्शे शीतमारुतवीजिते ॥

चन्दनार्द्रस्तनकराः प्रिया नार्यः प्रियंवदाः ।

स्पर्शशीताः सुखस्पर्शा घ्नन्ति दाहं रुजं क्लमम् ॥ ४१ ॥

सरागे सरुजे दाहे रक्तं विस्त्राव्य लेपयेत् ।

मधुकाश्वत्थत्वङ्मांसो-वीरोदुम्बरशाद्वलैः ॥

जलजैर्यवचूर्णैर्वा यष्ट्याह्वयोघृतैः ।

सपिषा जीवनीयैर्वा पिष्टलैर्पोऽर्त्तिदाहनुत् ॥

जीवनीयानां निकाथैः पञ्चमूलस्य वा महतो निकाथैस्तद्वत् स्तम्भादौ
कोष्णैर्दाहे तु शीतलैर्भिषक् परिषेचयेत् । द्राक्षेत्यादि । द्राक्षारसादिकं सेकार्थं
पृथक् पृथक् शस्यतेऽनिलप्राये ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—कुमुदेत्यादि । वातरक्ते दाहे शीततोयानुगैः शीततोयसिक्तैः
कुमुदादिभिः सचन्दनैः प्रोक्षणं स्पर्शनञ्च हितम् । चन्द्रेत्यादि । पुलिनस्पर्शं
पुलिनदेशे विस्तारिते शयने शय्यायां चन्द्रपादेन चन्द्रकिरणेनाम्बुना वा
सिक्ते क्षौमवस्त्रच्छदे पद्मदलच्छदे वा व्यजनकृतशीतमारुतवीजिते शयानस्य
चन्दनार्द्रस्तनकराः प्रियाः प्रियंवदाः स्पर्शशीता नार्यः सुखस्पर्शा दाहादिकं
घ्नन्ति ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—सराग इत्यादि । सरागादौ वातरक्ते रक्तं विस्त्राव्य मधुरादिभिः
लेपयेत् । वीरा काकोली । शाद्वलः नवतृणस्थानमृत्तिका । जलजै-
रित्यादि । यष्ट्याह्वयोघृतसहितैर्जलजः पद्मादिपुष्पैर्यवर्वा । जीवनीयैः

चक्रपाणिः—मधुरसिद्धैः स्नेहैरिति जीवनीयसिद्धस्नेहैः । तण्डुलेत्यादौ प्रत्येकं त्रिभिर्गु-
णैः सम्बध्यते । शीततोयानुगैरिति शीततोयसिक्तैः । चन्द्रपादाम्बुसंसिक्त इति तुषारजल-

एलापियालमधुक-विसं मूलश्च वेतसात् ।
 आजेन पयसा पिष्ट्वा प्रलेपो दाहरागनुत् ॥
 प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठा-दाव्वीमधुकचन्दनैः ।
 सितोपलैरकासक्तु-मसूरोशोरपद्मकैः ॥
 लेपो रुग्दाहवीसर्प-रुक्शोफविनिवारणः ।
 पित्तरक्तोत्तरे त्वेतै लेपान् वातोत्तरे शृणु ॥ ४२ ॥
 वातघ्नैः साधितः स्निग्धः सक्षीरमुद्गपायसैः ।
 तिलसर्षपपिण्डैर्वाप्युपनाहा रुजापहाः ॥
 औदकप्रसहानूप-वेशवाराः सुसंस्कृताः ।
 जीवनीयौषधस्नेह-युक्ताः स्युरुपनाहने ॥
 स्तम्भतोदरुगायास-शोफाङ्गग्रहनाशनाः ।
 जीवनीयौषधस्नेहा सपयस्का वसापि वा ॥
 घृतं सहचरान्मूलं जीवन्ती छागलं पयः ।
 लेपः पिष्टास्तिलास्तद्वत् भृष्टाः पयसि निवृत्ताः ॥

पिष्टैः सर्पिषा युक्तैर्वा लेपः । एलेत्यादि । मूलश्च वेतसादित्यशोकस्य मूलं
 वेतसवृक्षस्य मूलं वा । प्रपौण्डरीकेत्यादि । एरका शरमूलम्, रुक् साधारण-
 रुजा, वीसपेस्य रुक् । पित्तेत्यादि । सराग इत्यादिभिरुक्तास्त्वैते प्रलेपा
 ज्ञेयाः । वातोत्तरे तु लेपान् शृणु ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—वातघ्नैरित्यादि । वातघ्नैर्भेद्रदाव्वीदिभिः साधितः स्निग्ध
 उपनाहस्तथा सक्षीरमुद्गपायसैरुपनाहः तिलसर्षपपिण्डैर्वाप्युपनाहः, इत्येते
 तूपनाहा रुजापहाः । औदकेत्यादि । औदकादिमांसवेशवाराः सुसंस्कृताः
 जीवनीयौषधदशकेन घृतादिस्नेहेन च युक्ता उपनाहने स्युः । जीवनीयैत्यादि ।
 दश जीवनीयौषधानि स्नेहाश्च तैलादयः सपयस्का वसा वा उपनाहने

निषिक्तः । पुलिनं नदीतटः । पुलिनस्पर्शनं शीते शयने । पयसि निवृत्ता इति क्षीरे निर्वापिता ।

द्राक्षेक्षुरसमद्यानि दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकम् ।
 सेकार्थं तण्डुलचौद्र-शर्कराम्बु च शस्यते ॥ ४० ॥
 कुमुदोत्पलपत्रादैर्मणिहारैः सचन्दनैः ।
 शीततोयानुगैर्दाहे प्रोक्षणं स्पर्शनं हितम् ॥
 चन्द्रपादाम्बुसंसिक्ते क्षौमपद्मदलच्छदे ।
 शयने पुलिनस्पर्शे शीतमारुतवीजिते ॥
 चन्दनार्द्रस्तनकराः प्रिया नार्यः प्रियंवदाः ।
 स्पर्शशीताः सुखस्पर्शा घ्नन्ति दाहं रुजं क्लमम् ॥ ४१ ॥
 सरागे सरुजे दाहे रक्तं विस्राव्य लेपयेत् ।
 मधुकाश्वत्थत्वङ्मांसो-वीरोडुम्बरशाद्वलैः ॥
 जलजैर्यवचूर्णैर्वा यष्ट्राह्वपयोधृतैः ।
 सपिषा जीवनीयैर्वा पिष्टलैर्पोऽर्त्तिदाहनुत् ॥

जावनीयानां निकाथैः पञ्चमूलस्य वा महतो निकाथैस्तद्वत् स्तम्भादौ
 कोष्णैर्दाहे तु शीतलैर्भिषक् परिषेचयेत् । द्राक्षेत्यादि । द्राक्षारसादिकं सेकार्थं
 पृथक् पृथक् शस्यतेऽनिलप्राये ॥ ४० ॥

गङ्गाधरः—कुमुदेत्यादि । वातरक्ते दाहे शीततोयानुगं शीततोयसिक्तं
 कुमुदादिभिः सचन्दनैः प्रोक्षणं स्पर्शनञ्च हितम् । चन्द्रेत्यादि । पुलिनस्पर्शं
 पुलिनदेशे विस्तारिते शयने शय्यायां चन्द्रपादेन चन्द्रकिरणेनाम्बुना वा
 सिक्ते क्षौमवस्त्रच्छदे पद्मदलच्छदे वा व्यजनकृतशीतमारुतवीजिते शयानस्य
 चन्दनार्द्रस्तनकराः प्रियाः प्रियंवदाः स्पर्शशीता नार्यः सुखस्पर्शा दाहादिकं
 घ्नन्ति ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—सराग इत्यादि । सरागादौ वातरक्ते रक्तं विस्राव्य मधुरादिभिः
 लेपयेत् । वीरा काकोली । शाद्वलः नवतृणस्थानमृत्तिका । जलजै-
 रित्यादि । यष्ट्राह्वपयोधृतसहितैर्जलजः पद्मादिपुष्पैर्यवैर्वा । जीवनीयैः

चक्रपाणिः—मधुरसिद्धैः स्नेहैरिति जीवनीयसिद्धस्नेहैः । तण्डुलेत्यादौ प्रत्येकं त्रिभिर्गु-
 शब्दः सम्बध्यते । शीततोयानुगैरिति शीततोयसिक्तैः । चन्द्रपादाम्बुसंसिक्त इति तुषारजल-

एलापियालमधुक-विसं मूलञ्च वेतसात् ।
 आजेन पयसा पिष्ट्वा प्रलेपो दाहरागनुत् ॥
 प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठा-दाव्वीमधुकचन्दनैः ।
 सितोपलैरकासक्तु-मसूरोशोरपद्मकैः ॥
 लेपो रुग्दाहवीसर्प-रुक्शोफविनिवारणः ।
 पित्तरक्तोत्तरे त्वेतै लेपान् वातोत्तरे शृणु ॥ ४२ ॥
 वातघ्नैः साधितः स्निग्धः सक्षीरमुद्रपायसैः ।
 तिलसर्षपपिण्डैर्वाप्युपनाहा रुजापहाः ॥
 औदकप्रसहानूप-वेशवाराः सुसंस्कृताः ।
 जीवनीयौषधस्नेह-युक्ताः स्युरुपनाहने ॥
 स्तम्भतोदरुगायास-शोफाङ्गग्रहनाशनाः ।
 जीवनीयौषधस्नेहा सपयस्का वसापि वा ॥
 घृतं सहचरान्मूलं जीवन्ती छागलं पयः ।
 लेपः पिष्टास्तिलास्तद्वत् भृष्टाः पयसि निवृत्ताः ॥

स्तम्भादौ
 रक्तं सेकार्थं

ततोयसिक्तः
 पुलिनस्पर्श
 म्बुना वा
 शयानस्य
 दाहादिकं

धुरादिभिः
 जलजै-
 जीवनीयैः

त्रिभिर्गु-
 तुपारजल-

पिष्टैः सर्पिषा युक्तैर्वा लेपः । एलेत्यादि । मूलञ्च वेतसादित्यशोकस्य मूलं
 वेतसवृक्षस्य मूलं वा । प्रपौण्डरीकेत्यादि । एरका शरमूलम्, रुक् साधारण-
 रुजा, वीसपस्य रुक् । पित्तेत्यादि । सराग इत्यादिभिरुक्तास्त्वेते प्रलेपा
 ज्ञेयाः । वातोत्तरे तु लेपान् शृणु ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—वातघ्नैरित्यादि । वातघ्नैर्भद्रदाव्वीदिभिः साधितः स्निग्ध
 उपनाहस्तथा सक्षीरमुद्रपायसैरुपनाहः तिलसर्षपपिण्डैर्वाप्युपनाहः, इत्येते
 तूपनाहा रुजापहाः । औदकेत्यादि । औदकादिमांसवेशवाराः सुसंस्कृताः
 जीवनीयौषधदशकेन घृतादिस्नेहेन च युक्ता उपनाहने स्युः । जीवनीयेत्यादि ।
 दश जीवनीयौषधानि स्नेहाश्च तैलादयः सपयस्का वसा वा उपनाहने

निषिक्तः । पुलिनं नदीतटः । पुलिनस्पर्शनं शीते शयने । पयसि निवृत्ता इति क्षीरे निर्वापिता ।

क्षीरपिष्टमुमालेपमेरुदण्डस्य फलानि च ।

कुर्याच्छूलनिवृत्त्यर्थं शताह्वां वाधिकेऽनिले ॥ ४३ ॥

समूलाग्रच्छदैरण्ड-काथे द्विप्रास्थिकं पृथक् ।

घृतं तैलं वसा मज्जा चानूपमृगपक्षिणाम् ॥

कल्कार्थं जीवनीयानि गव्यं क्षीरमथाजकम् ।

हरिद्रोत्पलकुष्ठैला-शताह्वाश्वहनच्छदान् ॥

बिल्वमात्रान् पृथक् पुष्पं काकुभञ्चापि साधयेत् ।

मधूच्छिष्टपलान्यष्टौ दत्त्वा शीतेऽवतारिते ॥

शूलेनैवार्दिताङ्गानां लेपः सन्धिगतैऽनिले ।

वातरक्ते स्नुते भग्ने खञ्जे कुष्ठे च शस्यते ॥ ४४ ॥

शोफगौरवकण्डूदौर्गुक्ते चास्मिन् कफोत्तरे ।

मूत्रक्षारसुरापक-घृतमभ्यञ्जने हितम् ॥

पद्मकं त्वक् समधुकं शारिवा चेति तैर्घृतम् ।

सिद्धं समधुशुक्तं स्यात् सेकाभ्यङ्गः कफोत्तरे ॥

स्युः । घृतमित्यादि । सहचरात् झिष्ट्या मूलम् । घृतादिभिलेप एकः । तद्वत् । शृष्टास्तिलाः पयसि पयसि क्षिप्ता चिह्निता निर्व्वापिताः पिष्टा लेपस्तद्वत् । क्षीरपिष्टमित्यादि । अधिकेऽनिले वातरक्ते क्षीरपिष्टमुमालेपं कुर्यात् । एरण्डस्य फलानि च क्षीरपिष्टानि लेपं कुर्यात् । शताह्वां वा क्षीरपिष्टां लेपं कुर्यात् ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—समूलेत्यादि । एरण्डस्य समूलाग्रच्छदस्य काथे चतुर्गुणे द्विप्रास्थिकं घृतं तैलं वा आनूपमृगपक्षिणां वसा मज्जा वा तत्र कल्कार्थं जीवनीयानि दश हरिद्रादीन् काकुभं पुष्पं पृथक् प्रत्येकं बिल्वमात्रान् पलमात्रान् गव्यक्षीरं स्नेहसममाजकं क्षीरञ्च स्नेहसममेकत्र साधयेत् । सिद्धं तत् पूलावतारिते अशीते उष्णे एव मधूच्छिष्टस्य अष्टौ पलानि दत्त्वा तेन लेपः शस्यते ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—अथ कफोत्तरे विधिमाह—शोफेत्यादि । शोफादियुक्ते कफोत्तरे

ते

पञ्च

पञ्च

गुड

गन्ध

गुड

क्षीरं तैलं गवां मूत्रं घृतञ्च कटुकैः शृतम् ।
 परिषेके प्रशंसन्ति वातरक्ते कफाधिके ॥ ४५ ॥
 लेपः सर्पपनिम्बार्क-हिंसाक्षीरतिलैर्हितः ।
 श्रेष्ठः सक्तुघृतक्षीर-कपित्थत्वग्भिरेव च ॥ ४६ ॥
 गृहधूमो वचा कुष्ठं शताह्वा रजनीद्वयम् ।
 प्रलेपः शूलनुदु वात-रक्ते वातकफोत्तरे ॥
 मधुशिग्रोर्हितं तद्वद् बीजं धान्याम्लपेषितम् ।
 मुहूर्त्तं लिप्तमम्लैश्च सिञ्चेद् वातकफोत्तरे ॥
 त्रिफलाव्योषपत्रैला-त्वक्क्षीरीचित्रकं वचा ।
 विडङ्गं पिप्पलीमूलं लोमशां वृषकत्वचम् ॥
 ऋद्धिं लाङ्गलिकां चव्यं समभागानि चूर्णयेत् ।
 कल्कैर्लिप्त्वाक्सीं पात्रां मध्याह्ने भक्षयेत् ततः ॥
 वज्जयेद् दधिशुक्तानि क्षारं वैरोधिकानि च ।
 वातासौ सर्वदोषेऽपि हितं शूलार्दिते परम् ॥ ४७ ॥

ऽस्मिन् वातरक्ते । क्षीरमित्यादि । कटुकैस्त्रिकटुकादिभिः शृतं क्षीरादेरकैकं
 परिषेके प्रशंसन्ति ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—लेप इत्यादि । सर्पपादिभिर्लेपः कफाधिके वातरक्त हितः ।
 सक्तुप्रभृतिभिर्लेपश्च श्रेष्ठः ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—गृहत्यादि । वातकफोत्तरे गृहधूमादिप्रलेपः । मधुशिग्रो-
 रित्यादि । रक्तशोभाञ्जनस्य बीजं धान्याम्लपेषितं तद्वद् वातकफाधिके
 हितम् । एतेन मुहूर्त्तं लिप्तमम्लैः काञ्जिकादिभिः सिञ्चेत् । त्रिफलेत्यादि ।
 त्वक्क्षीरी वंशलोचना । लोमशा जटामांसी । त्रिफलादीनि चव्यान्तानि
 समभागानि चूर्णयेत् जलेन पेषयेत् । तैः कल्कैरायसीं लौहमयीं पात्रां
 प्रातर्लिप्त्वा मध्याह्ने तान् कल्कान् भक्षयेदेवं प्रतिदिनं कुर्यात्, दध्यादिकं
 वज्जयेत् ॥ ४७ ॥

एकः ।

पिष्टा

प्रमुमालेपं

ताह्वां वा

चतुर्गुणे

कल्कायं

स्वमात्रान्

। सिद्धं

त्वा तेन

कफोत्तरे

तगरं त्वक् शताह्वैला मुस्तं कुष्ठं हरेणुका ।
 दारुव्याघ्रनखश्चांम्ल-पिष्टं वातकफासनुत् ॥
 बुद्धा स्थानविशेषांश्च दोषाणाञ्च बलाबलम् ।
 चिकित्सितमिदं कुर्याद्दूहापोहविकल्पवित् ॥ ४८ ॥
 कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसो वा कफस्य वा ।
 अतिवृद्धेऽनिले नादौ शस्तं स्नेहनवृंहणम् ॥
 व्यायामशोधनारिष्ट-मूत्रपानैर्विरेचनैः ।
 तक्राभयाप्रयोगैश्च क्षपयेत् कफमेदसौ ॥ ४९ ॥
 बोधिवृक्षकषायन्तु प्रपिबेन्मधुना सह ।
 वातरक्तं जयत्याशु त्रिदोषमपि दारुणम् ॥
 पुराणयवगोधूम-मध्वरिष्टसुरासवैः ।
 शिलाजतुप्रयोगैश्च गुग्गुलोर्माक्षिकस्य च ॥

तेन
 मधु
 सि
 इत्

पत्र
 पञ्च

गङ्गाधरः—तगरमित्यादि । तगरादिव्याघ्रनखान्तमम्लपिष्टं वायसीं
 पार्त्रीं प्रातर्लिप्तं मध्याह्ने भक्षयेदिति प्रकरणात् । अनुक्तमुपसंहर्तुमाह—
 बुद्धेत्यादि । ऊहस्तर्काऽपोहो वितर्कः ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—कुपित इत्यादि । मेदसः कफस्य वा मार्गसंरोधात् कुपिते-
 ऽनिलेऽतिवृद्धे वातरक्ते आदौ स्नेहनवृंहणं न शस्तम्, तत्र कफमेदसौ व्यायामा-
 दिभिः क्षपयेत् ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—अपरश्चाह—बोधीत्यादि । बोधिवृक्षोऽध्वत्थस्तस्य काथं मधु
 प्रक्षिप्य पिबेत् । पुराणेत्यादि । गुग्गुलोः प्रयोगैर्माक्षिकस्य च प्रयोगैः ।

उमा अतसी । अग्रच्छदानीति वरुणपलाणि । अग्नैरिति काञ्जिकादिभिः । बुद्धेत्यादि अवस्था-
 कर्त्तव्यमाह—ऊहापोहविकल्पवित् इति पूर्वोक्तचिकित्सितस्य ऊहापोहविकल्पः ॥ ४०—४८ ॥

चक्रपाणिः—कुपित इत्यादि । मेदसः कफस्य वा अतिवृद्ध्या कृतात् मार्गसंरोधात् कुपितेऽनिले
 आदौ स्नेहनं तथा वृंहणञ्च न शस्तमिति वक्तव्यम् । अत्र स्नेहनवृंहणनिषेधे सति कर्त्तव्य-

पश्चाद् वाते क्रियां कुर्याद् वातरक्तप्रसादनीम् ।

गम्भीररक्तमाक्रान्तं स्याच्चेद् वा तद् विवर्जयेत् ॥ ५० ॥

रक्तपित्ताधिके त्वामात् पाकमाशु नियच्छति ।

भिन्नं च्यवति वा रक्तं विदग्धं पूयमेव च ॥

तयोश्चिकित्सां व्रणवत् भेदशोधनदारणैः * ।

कुर्यादुपद्रवाणाञ्च क्रियां स्वां स्वां चिकित्सया ॥ ५१ ॥

तत्र श्लोकाः ।

हेतुः स्थानानि मूलञ्च यस्मात् प्रायेण सन्धिषु ।

कुप्यति प्राक् च तद्रूपं द्विविधस्य च रक्षणम् ॥

पृथग् भिन्नस्य लिङ्गञ्च दोषाधिव्यमुपद्रवाः ।

साध्यं याप्यमसाध्यञ्च क्रिया साध्यस्य चाखिला ॥

कफभेदसोः क्षपणे सति पश्चाद् वाते वातरक्तप्रसादनीं क्रियां कुर्यात् । गम्भीरेत्यादि । वातरक्तं गम्भीररक्तं चेदाक्रान्तं स्यात् तदा तं विवर्जयेत् ॥ ५० ॥

गङ्गाधरः—रक्तेत्यादि । रक्तपित्ताधिके तु आमादपक्वादाशु पाकं नियच्छति । पक्वं भिन्नं वातरक्तं रक्तं वा च्यवति । तच्च विदग्धं पक्वं सत् पूयमेव च च्यवति । तयोरामं रक्तच्यावकं विदग्धं पूयच्यावकमित्येतयोश्चिकित्सां व्रणवत् भेदशोधनदारणैः कुर्यात् । उपद्रवाणाञ्चास्वप्नारोचकादीनां चिकित्सया स्वां स्वां क्रियां कुर्यादिति ॥ ५१ ॥

माह—व्यायामेत्यादि । एतत्क्रियोत्तरकालीनं कर्तव्यमाह—पश्चाद्वात इत्यादि । कफभेदोवृत्त एव निर्जितकफभेदसि वाते वातरक्तप्रसादनी क्रिया कार्या, अत्रैवोक्ता स्नेहप्रयोगादिका । वातविकारत्वात् वातव्याधिचिकित्सित जनयेत् । एतच्च वातेन गम्भीर एव वातरक्ते प्रायो भवति इति दर्शयितुं गम्भीर इति कृतम् । गम्भीरानुगते हि वातरक्ते रक्तं बहुलमाक्रान्तं रक्तस्य हि रक्ताभारा त्वक् स्थानं तेन रक्तावसेचनमाचरेदिति ॥ ४९ । ५० ॥

चक्रपाणिः—रक्तस्यावस्थिकं विधिमाह—रक्तेत्यादि । रक्तवृद्ध्या पित्तवृद्ध्या चेति रक्तपित्तातिवृद्ध्या पाकं नियच्छति वातरक्तमिति शेषः । तयोरित्यादि । वृद्धपित्तवृद्धरक्तकृतपाकयोः वातरक्तयोश्चिकित्सामतिदिशन्माह व्यधेत्यादि । उपद्रवचिकित्सामाह—कुर्यादित्यादि ॥ ५१ ॥

वातरक्तस्य निर्दिष्टा समासव्यासतस्तथा ।

महर्षिणाग्निवेशाय तथैवावस्थिकी क्रिया ॥ ५२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतैऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृते
चिकित्सितस्थाने वातरक्तचिकित्सितं नाम
एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहर्तुमाह—तत्र श्लोका इति । हेतुस्थानानी-
त्यादि । इति ॥ ५२ ॥

अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । अप्राप्ते तु दृढबल-प्रतिसंस्कृत एव च ।
षष्ठे चिकित्सितस्थाने एकोनत्रिंश एव च । वातरक्तचिकित्सिते त्वध्याये
पुनरेव तु । वैद्यगङ्गाधरकृते जल्पकल्पतरौ पुनः । चिकित्सितस्थानजल्पे
षष्ठस्कन्धे चिकित्सिते । वातशोणितजल्पाख्या
शाखैकोनत्रिंशी मता ॥ २९ ॥

चक्रपाणिः—हेतुस्थानानीत्यादि । दोषाधिक्यमुपद्रवाः साध्यं याप्यमसाध्यञ्चेति अननुक्रमेण
संग्रहं करोति उपद्रवाणां स्तोकास्तोकाभाविन्वेन साध्यत्वासाध्यत्वयाप्यत्वं ख्यापनार्थम् ॥ ५२ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीरुक्मचक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां
चरकतात्पर्यटीकायां चिकित्सितस्थानव्याख्यायां वातरक्तचिकित्सितं
नाम ऊनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

तेन
मधुर
सिद्ध

पुद्गल
गन्धमा
पुद्गल
ख

त्रिंशोऽध्यायः ।

अथातो योनिव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः,

इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

तीर्थदिव्यौषधिमतश्चित्रधातुशिलावतः ।

पुण्ये हिमवतः पार्श्वे सुरसिद्धर्षिसेविते ॥

विहरन्तं तपोयोगात् तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

कृष्णात्रेयं जितात्मानमग्निवेशोऽनुपृष्टवान् ॥

भगवन् यदपत्यानां मूलं नार्याः परं नृणाम् ।

तद्विधातो गदैश्चासां क्रियते योनिमाश्रितैः ॥

तस्मात् तेषां समुत्पत्तिमुत्पन्नानाञ्च लक्षणम् ।

सौषधं श्रोतुमिच्छामि प्रजानुग्रहकाम्यया ।

इति शिष्येण पृष्टस्तु प्रोवाचर्षिवरोऽत्रिजः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्दिष्टानुक्रमाद् योनिव्यापदिकचिकित्सितमाह—अथात
इत्यादि । सर्व्वं पूर्व्ववद् व्याख्येयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—तीर्थेत्यादि । तीर्थानि दिव्यौषधयश्च तद्वतो हिमवतः पर्व्वत-
राजस्य चित्रधातुशिलावतः पार्श्व पुण्ये सुरादिसेविते विहरन्तं कृष्णात्रेयं
गुरुमग्निवेशोऽनुपृष्टवान् । यत् पृष्टवांस्तदाह । भगवन्नित्यादि । नृणामपत्यानां
परं मूलं कारणं नार्या यद् भवति तद्विधातस्त्वासां नारीणां योनिमाश्रितगदैः
क्रियते तस्मात् तेषां योन्याश्रितानां गदानामुत्पत्त्यादिकं श्रोतुमिच्छामि ।
इतीत्यादि । इति शिष्येणाग्निवेशेन पृष्टोऽत्रिजः पुनर्व्वसुः प्रोवाच ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—वातरक्तचिकित्सानन्तरं पारिशेष्यात् वातकृतत्वाच्च योनिव्यापच्चिकित्सित-
मुच्यते । उक्तं हि—“न हि वाताहते योनिर्नारीणां संप्रदुष्यतीति ।” दिव्यानि तीर्थानि गङ्गादीनि
दिव्याश्चौषधो ब्रह्मसुवर्च्वलैर्द्रोप्रभृतयः यस्मिन् स दिव्यतीर्थौषधिः । चित्रधातुः नानावर्णधातुः ।
तत्त्वज्ञानेन अर्थान् द्रष्टुं शीलं यस्य तं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । मूलमिति कारणम् । तद्विधातो
योनिव्यापत्कारणविधातः । तेषामिति योनिगदानाम्, समुत्पत्तिरिति उत्पत्तिः कारणे कार्य्योप-

विंशतिर्व्यापदो योनेर्निर्दिष्टा रोगसंग्रहे ।

मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्त्तवेन च ।

जायन्ते वीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक् ॥ ३ ॥

वातलाहारचेष्टाया वातलायाः समोरणः ।

विवृद्धो योनिमाश्रित्य योनेस्तोदं सवेदनम् ॥

स्तम्भं पिपीलिकासृष्टिमिव कर्कशतां तथा ।

करोति सुप्तिमायासं वातजांश्चापरान् गदान् ।

सा स्यात् सशब्दरुक् फेन-तनुरुक्षार्त्तवानिलात् ॥ ४ ॥

व्यापल्लवणकट्फल-क्षारादयः पित्तजा भवेत् ।

दाहपाकज्वरोष्णार्त्ता नीलपीतसितार्त्तवा ।

भृशोष्णकुणपस्त्रावा योनिः स्यात् पित्तदूषिता ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—तद्यथा । विंशतिरित्यादि । रोगसंग्रहेऽष्टोदरीयेऽध्याये । ता योनिव्यापदः स्त्रीणां मिथ्याचारेण प्रदुष्टेनार्त्तवेन च जायन्ते वीजदोषाच्च जायन्ते दैवाच्च दिष्टा जायन्ते ताः पृथक् विंशतिं शृणु ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—वातलेत्यादि । वातलायाः जन्मप्रभृतिवातोल्बणप्रकृतिकाया नाय्याः । पिपीलिकानां सृष्टिं सर्पणमिव आर्त्तवप्रवृत्तिकाले सशब्दं सरुक् च यथा स्यात् तथा सफेनं तनु चाघनं रुक्षश्चार्त्तवं सा योनिः सृजेदिति । सशब्दाद्यार्त्तवा सा योनिः स्यात् ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—व्यापदित्यादि । लवणादीनामतिसेवनात् पित्तजा योने-
र्व्यापद् भवेत् । तस्य लक्षणमाह—दाहेत्यादि । सा पित्तदूषिता पित्तजव्यापद्-
युता योनिर्दाहाद्यार्त्ता नीलाद्यार्त्तवा भृशोष्णादिस्त्रावा स्यात् ॥ ५ ॥

चारात् । रोगसंग्रह इति अष्टोदरीये । मिथ्याचारेण असम्यगाचरणेन । प्रदुष्टेनार्त्तवेनेति वातादि-
दुष्टार्त्तवेन योनिव्यापद् भवति । वीजदोषादिति वीजार्त्तवदोषात् । दैवादिति अकर्मवशात् ।
एतेषाञ्च यथायोग्यतया कारणत्वम् अग्रे वक्ष्यमाणकारणत्वभेदेन योनिव्यापत्सु उपपादितमेव,
दैवन्तु सर्वत्रैव साधारणकारणम् ॥ १—३ ॥

चक्रपाणिः—वातलाया इति विशेषेण वातलयोनिव्यापद्वत्पादोपदर्शनार्थम् । पिपीलिका-
सृष्टिमिति पिपीलिका-परिसर्पणाकारा वेदना । सशब्दरुक्फेनतनुरुक्षार्त्तवेति एवम्भूतार्त्तवा भवति,

कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिञ्चेद् दूषयेत् स्त्रियाः ।

स कुर्यात् पिच्छिलां शीतां कण्डूप्रस्तामवेदनाम् ।

पाण्डुवर्णां तथा पाण्डु-पिच्छिलार्त्तववाहिनीम् ॥ ६ ॥

समाश्रित्य * रसान् सर्वान् दूषयित्वा त्रयो मलाः ।

योनिगर्भाशयस्थाः स्वैर्योनिं युञ्जन्ति लक्षणैः ।

सा भवेद् दाहशूलार्त्ता शुक्लपिच्छिलवाहिनी ॥ ७ ॥

पित्तरक्तकरैर्नार्या रक्तं पित्तेन दूषितम् ।

अतिप्रवर्त्तते योन्यां लब्धे गर्भेऽपि सासृजा ॥

योनिगर्भाशयस्थं चेत् पित्तं संदूषयेदसृक् ।

सारजस्का मता कार्श्य-वैवर्ग्यजननी भृशम् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—कफ इत्यादि । पाण्डुलमार्त्तवस्य कफकृतश्चेतमिश्रितत्वेन रक्तवर्णस्य ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—समाश्रित्येत्यादि । त्रयो मलाः सर्वान् रसान् शरीरान् दूषयित्वा योनिगर्भाशयस्थाः स्वैर्वातादिलिङ्गैर्योनिं युञ्जन्ति । ततः सा योनिर्दाहशूलार्त्ता शुक्लपिच्छिलद्रववाहिनी स्यात् ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—पित्तेत्यादि । पित्तरक्तकरैर्द्रव्यैः । सासृजा गर्भं लब्धेऽपि सात्तवा भवति । इत्येषा रक्तयोनिः । योनीत्यादि । योनिगर्भाशययोरुभयोः स्थितं दुष्टं पित्तञ्चेदार्त्तवं दूषयेत् तदा सा योनिररजस्का मता देहकार्श्यादिजननी ॥ ८ ॥

तेन वातिकरूपा योनिव्यापत् । एवमेव पैत्तिकश्लेष्मिकसान्निपातिकयोनिव्यापदामपि पैत्तिक-
कफजसान्निपातिकदोषप्रभवत्वं वर्णयन्ति । रक्तयोनिरह असृक्दरसंज्ञया चिकित्साप्रस्तावे
वक्तव्या । मैवम्, ये तु एतद्व्यापदां प्रदरं भिन्नमेव मन्यन्ते तेषामल विरोधः । इति प्रदर-
चिकित्सार्थं प्रकरणान्तरम् अग्राध्याये पठिष्यन्ति । समश्नन्त्या इति पथ्यापथ्यमेलकेनोप-
पन्नमन्नादि भक्षयन्त्याः ॥ ४—७ ॥

चक्रपाणिः—रक्तपित्तकरैरित्यादौ गर्भं लब्धेऽपि रक्तमतिप्रवर्त्तते तेनास्या गर्भो भवति ।
सा अप्रजा रक्तयोनिः इत्यर्थः । ये तु सासृजा इति पठन्ति ते यस्यां लब्धेऽपि गर्भे अस्त्रमति-
प्रवर्त्तते सा तादृशरक्तस्रुत्या अस्त्रजा भवतीति वदन्ति । योनौ गर्भं तिष्ठतीति योनिगर्भाशयस्था
सा अरजस्केति अनार्त्तवा ॥ ८ ॥

* समाश्रित्य इत्यल समश्नन्त्याः तथा गर्भेऽपि सासृजा इत्यल बीजेऽपि साऽप्रजा इति चक्रधृतः पाठः ।

योन्यामधावनात् कण्डूजाताः कुर्वन्ति जन्तवः ।
 सा स्यादचरणा कण्डा तयातिनरकाङ्क्षिणी ॥ ९ ॥
 अतिव्यवायात् पवनः शोथसुप्तिरुजः स्त्रियाः ।
 योनौ करोति कुपितः सा चातिचरणा मता ॥ १० ॥
 मैथुनादतिबालायाः पृष्ठकटूरुवङ्क्षणम् ।
 रुजयन् दूषयेद् योनिं वायुः प्राक्चरणा हि सा ॥ ११ ॥
 गर्भिण्याः श्लेष्मलाभ्यासाच्छर्दिनिश्वासनिग्रहात् ।
 वायुर्वृद्धः कफं योनिमुपनीय प्रदूषयेत् ॥
 पाण्डुं सतोदमास्त्रावं श्वेतं स्रवति वा कफम् ।
 कफवातामयव्याप्ता सा स्याद् योनिरुपप्लुता ॥ १२ ॥
 पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूद्वारधारणात् ।
 पित्तसम्मूर्च्छितो वायुर्योनिं दूषयति स्त्रियाः ॥

गङ्गाधरः—योनिरित्यादि । अधावनाद् योण्यां जन्तवो जाताः कण्डू^१
 कुर्वन्ति । तथा कण्डा सा योनिरतिनरकाङ्क्षिणी स्यादतो नाम्ना सा
 स्यादचरणा ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—अतिव्यवायादित्यादि । अतिव्यवायात् सा योनिरतिचरणा
 मता ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—मैथुनादित्यादि । अतिबालाया मैथुनात् सा योनिः प्राक्-
 चरणा नाम ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—गर्भिण्या इत्यादि । उपप्लुता नाम योनिः ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—पित्तलेत्यादि । पित्तलाया नाट्या यां योनिं नृसंवासे

चक्रपाणिः—अचरणा कण्डा तयेति कृमिजनितयोनिः कण्डा । व्यवायस्यातिचरणेन व्यापत्
 अतिचरणा । रुजयन् इति दुःखयन् । उचितव्यवायकालात् प्राक् व्यवायाचरणात् प्राक्चरणा
 उच्यते । गर्भिण्या इत्यादौ आस्त्रावमिति श्लेष्मानिलमास्त्रावम् । कफवातामयैः उपप्लुता
 उपप्लुता इत्युच्यते ॥ ९—१२ ॥

चक्रपाणिः—नृसंवासे इति रमणजनरुन्निध्ये सर्व्वतः वातापत्तविकारोपप्लुतात् परिप्लुता ।

शूना स्पर्शासहा सार्त्तिर्नीलपीतमसृक् सवेत् ।
श्रोणिवङ्क्षणपृष्ठार्त्ति-ज्वरार्त्तायाः परिप्लुता ॥ १३ ॥

वेगोदावर्त्तनाद् योनिमावर्त्तयति मारुतः ।
सा रुगार्त्ता रजः कृच्छ्रेणोदावृत्त्य विमुञ्चति ॥

आर्त्तवे या विमुक्ते तु तत्क्षणं लभते सुखम् ।
रजसो गमनादूर्द्ध्वं ज्ञेयोदावर्त्तिनी बुधैः ॥ १४ ॥

अकाले वाहमानाया गर्भेण पिहितोऽनिलः ।
कर्णिकां जनयेद् योनौ श्लेष्मरक्तेन मूर्च्छितः ॥

रक्तमार्गविरोधिन्या तथा कर्णिकयान्विता ।

सा योनिः सर्व्वभिषजा नामतः कर्णिनी मता ॥ १५ ॥

रौक्ष्याद् वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत् ।

दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा मता ॥ १६ ॥

पुंसम्भोगे क्षवधूदारधारणात् पित्तसंमूर्च्छितोऽनिलो दूषयति सा योनिः
परिप्लुता नाम ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—वेगेत्यादि । वेगानामुदावर्त्तनादधो वेगधारणात् । उदावृत्त्य
ऊर्द्ध्वं मारुतेनावृत्त्य वद्धम् । इत्येवं प्रकारेण रजस ऊर्द्ध्वं गमनादुदावर्त्तिनी
नाम योनिः ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अकाल इत्यादि । अकाले वाहमानायाः अल्पकाले गर्भं
वहन्त्या गभण पिहितोऽनिलः । कर्णिकां पद्मकर्णिकामिव चक्रिकाम्, सा
कर्णिनी नाम योनिः ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—रौक्ष्यादित्यादि । पुत्रघ्नी नाम सा योनिः ॥ १६ ॥

योनिमुदावर्त्तयते इति योनिमुदावर्त्तवृत्तां करोति । विकारेण रजसः ऊर्द्ध्वं गमनात् उदावर्त्तिनीति
व्यस्यते । वाहमानाया इत्यादि अप्राप्तगर्भनिष्क्रमणकाले प्रवाहणं कुर्वन्त्याः । कर्णिकामिति
कर्णिकाकारं ग्रन्थिम् ॥ १३—१५ ॥

चक्रपाणिः—रौक्ष्यादिति रुक्षगुणोत्कर्षात्, दुष्टशोणितजमिति वचनादिह वायुना इष्टिरपि
क्रियते इति दर्शयति । अस्त च यद्यपि सामान्येनैव गर्भविनाश उक्तः, तथापि पुत्रस्यैव प्राधान्यात्

व्यवायमतितृप्ताया भजन्त्यास्त्वन्नपीडितः ।

वायुर्मिथ्यास्थिताङ्गाया योनिस्त्रोतसि संस्थितः ॥

योनेर्मुखं वक्रयति सास्थिमांसानिलार्त्तिभिः ।

भृशार्त्तिमैर्धनासक्ता योनिरन्तर्मुखी मता ॥ १७ ॥

गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद् वायुर्योनिं प्रदूषयेत् ।

मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखी तु सा ॥ १८ ॥

व्यवायकाले रुन्धन्त्या वेगान् प्रकुपितोऽनिलः ।

कुर्याद् विगमूत्रसङ्गार्त्तां शोषं योनिमुखस्य च ॥

षड्हात् सप्तरात्राद् वा शुक्रं गर्भाशयं गतम् ।

सरुजं नीरुजं वापि या स्रवेत् सा तु वामिनी ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—व्यवायमित्यादि । भोजनेनातितृप्ताया नार्याः व्यवायं भजन्त्या मिथ्यास्थिताङ्गाया अन्नपीडितो वायुः । सा योनिरन्तर्मुखी मता ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—गर्भस्थाया इत्यादि । यस्या दुहिता गर्भस्था तस्या मातृदोषाद् रुक्षाद्याहारविहाराद् योन्यारम्भकबीजभागस्य रौक्ष्याद् वायुर्गर्भनिर्मर्माता वायुः योनिं प्रदूषयेत्, अणुद्वारां सूक्ष्मद्वारां तस्या दुहितुर्योनिं कुर्यात् । सा योनिः सूचीमुखी नाम मता ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—व्यवायेत्यादि । या नारी व्यवायकाले समुपस्थितान् वेगान् विष्मृत्राणां रुणद्धि, तस्या अनिलः कुपितः सन् तां विष्मूत्रसङ्गार्त्तां कुर्यात् । योनिमुखस्य च शोषं कुर्यादिति शुष्का नाम योनिः । षड्हादित्यादि । या योनिः षड्हात् सप्तरात्राद् वा गर्भाशयगतं शुक्रं सरुजं नीरुजं वा स्रवेत् सा योनिर्वामिनी नाम ॥ १९ ॥

पुल्लङ्गीति व्यपदेशो ज्ञेयः । व्यवायमतितृप्ताया इत्यादौ अतितृप्तायाः व्यवायं भजन्त्याः मिथ्यास्थिताङ्गायाः मिथ्यास्थिताङ्गत्वेन वक्रतया अन्तः मुखनयनमभिप्रेतम् । गर्भस्थाया इत्यादौ रौक्ष्यादिति रुक्षगुणात् । मातृदोषादिति मातुः गर्भकाले वातप्रकोपहेतुरुपाचारात् ॥ १६—१८ ॥

चक्रपाणिः—शोषं योनिमुखस्येत्यनेन योनिमुखशोषात् शुष्कयोनिं संज्ञा । षड्हादित्यादिना

वीजदोषात् तु गर्भस्थ-मारुतोपहताशया ।

ऋतुद्वेषिण्यस्तनी या षण्डी स्यादनुपक्रमा ॥ २० ॥

विषमदुःखशय्याति-मैथुनात् कुपितोऽनिलः ।

गर्भाशयस्य योन्याश्च मुखं विष्टम्भयेत् स्त्रियाः ।

असंवृतमुखी सार्त्तिः सफेनार्त्तववाहिनी ।

मांसोत्सन्ना महायोनिः पर्ववङ्क्षणशूलिनी ॥ २१ ॥

इत्येतैर्लक्षणैः प्रोक्ता विंशतिर्योनिजा गदाः ।

न शुक्रं धारयत्येभिर्दोषैर्योनिरुपद्रुता ॥

तस्माद् गर्भं न गृह्णाति स्त्री गच्छत्यामयान् बहून् ।

गुल्मार्शःप्रदरादींश्च वाताद्यैश्चातिपीडनम् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—वीजेत्यादि । या नारी जन्मकाले वीजदोषाद् गर्भस्थमारुतेन गर्भाशयारम्भकवायुना उपहतगर्भाशया जाता सा ऋतुद्वेषिणी चास्तनी च भवति, तस्याः सा योनिः षण्डी, सा पुनरनुपक्रमा न साध्या ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—विषमेत्यादि । कुपितोऽनिलः गर्भाशयस्य योन्याश्च मुखं विष्टम्भयेत् स्तम्भयेत् विष्टमेव वर्त्तते, सा विष्टता नाम खलु असंवृतमुखी महायोनिर्नाम च ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—इत्येतैरित्यादि । एभिर्दोषैरुपद्रुता योनिर्न शुक्रं धारयति । तस्मादित्यादि । गुल्मार्शःप्रदरादींश्चेति गुल्मार्गसी उक्ते प्रदरं वक्ष्यते ॥ २२ ॥

शुक्रवमनात् वामिनीति उच्यते । मारुतोपहताशयेति मारुतोपहतगर्भाशया । वीजदोषादिति सामान्यवचनेनापि आर्त्तवरूपवीजदोष एवात्र ज्ञेयः, गर्भाशयोपघातकरत्वात् । उक्तं हि—यदा ह्यस्याः शोणितं गर्भाशयवीजभागं प्रकोपमापद्यते तदा वन्ध्यां जनयति । विषममिति क्रिया-विशेषणं विषमं यथा भवति तथा मैथुनादित्यर्थः । विष्टम्भयेदिति विस्तारयेत् । मांसोत्सन्नेति उत्सन्नमांसा ॥ १९—२१ ॥

चक्रपाणिः—दोषैर्योनिरुपद्रुतेत्यनेन दोषशब्देन योनिदूषका यथोक्ता गदा उच्यन्ते । उक्तं हि—रोगा हि दोषशब्दं लभन्ते । तस्मादिति । योन्युपद्रवान् प्रदरादीन् इत्यत्र योनिव्यापच्छेषं प्रदरमाहुः । तेन योनिव्यापदभावे प्रदरदोषोत्पादं वर्णयन्ति, ये तु योनिव्यापदभिक्षमेव

आसां षोडश यास्त्वन्त्या आदेः द्वे पित्तदोषजे ।

परिप्लुता वामिनी च वातपित्तात्मिके मते ।

कर्णिन्युपप्लुते वात-कफात् शेषास्तु वातजाः ।

देहं वातादयस्तासां स्वैर्लिङ्गैः पीडयन्ति हि ॥ २३ ॥

स्नेहनस्वेदवस्त्यादि वातजास्वनिलापहम् ।

कारयेद् रक्तपित्तघ्नं शीतं पित्तकृतासु च ॥

श्लेष्मजासु तु रुक्षोष्णं कर्म कुर्याद् विचक्षणः ।

सन्निपाते विमिश्रन्तु संसृष्टासु च कारयेत् ॥ २४ ॥

स्निग्धस्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां स्थापयेत् पुनः ।

पाणिना नामयेज्जिह्वां संवृतां वर्द्धयेत् पुनः ॥

गङ्गाधरः—आसामित्यादि । आसां विंशतेर्व्यापदां मध्ये पित्तरक्तकर-
रित्यादिभिरुक्ता यास्त्वन्त्याः षोडशयोनिव्यापदस्तासामादेः द्वे सासृजा
चारजस्का चेति द्वे पित्तजे । शेषास्तु चतुर्दश वातजाः । देहमित्यादि । हि
यस्मात् तासां देहं वातादयः पीडयन्ति, तस्माद् वातजासु योनिव्यापत्सु
अनिलापहं स्नेहनादि कारयेत् । पित्तकृतासु रक्तपित्तघ्नं शीतं कारयेत् ।
श्लेष्मजासु तु रुक्षोष्णं कर्म कुर्यात् । सन्निपाते विमिश्रं तिसृषूक्तं कर्म
विशेषेण मिश्रीकृत्य कुर्यात् । संसृष्टासु परिप्लुतावामिन्योर्वातपित्तोक्तं विमिश्रं
कारयेत् । कर्णिन्युपप्लुतयोर्वातकफोक्तं विमिश्रं कारयेत् ॥ २३ । २४ ॥

गङ्गाधरः—विशेषेण कर्म चाह—स्निग्धेत्यादि । स्निग्धस्विन्नां कृत्वा
दुःस्थितां योनिं स्थापयेत् पुनः सुस्थितां कुर्यात्, जिह्वां कुटिलां योनिं पाणिना
प्रदरमिच्छन्ति तेषामत्र विरोधो नास्त्येव । सम्प्रति आयव्यापच्चतुष्टयं त्यक्त्वा शेषषोडश-
व्यापत्सु वातादिलिङ्गं चिकित्साज्ञानार्थं दोषविभागं दर्शयन्नाह—आसामित्याद । आदेः
द्वे इति रक्तयोन्यरजस्के । देहं वातादय इति तासां वातादिविभागेन उक्तयोनिव्यापदां वातादयो
देहमिति स्वैर्लिङ्गैः पीडयन्ति तेन वाताद्यहितत्वं तासामुपपन्नम् इति भावः । अन्ये तु देहशब्दे-
नात्र योनिस्थानमेवोच्यत इत्याहुः ॥ २२ । २३ ॥

चक्रपाणिः—लिङ्गानन्तरं चिकित्सामाह—स्नेहनेत्यादि । स्नेहनादीनाम् अनिलापहतत्वे
सिद्धेऽपि अनिलापहमिति विशेषेण अनिलापहद्रव्यकृतस्नेहनादिप्रतिपादनार्थम् । संसृष्टासु
इति द्वन्द्वजासु । स्थानप्रवारमाह । स्निग्धस्विन्नामिति रुक्षोष्णानुवर्त्तते । जिह्वामिति वक्ष्यामः,

प्रवेशयेन्निःसृताश्च विवृतां परिवर्त्तयेत् ।
 योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता मता स्त्रियाः ॥
 सर्वा व्यापन्नयोनिस्तु कर्मभिर्वमनादिभिः ।
 मृदुभिः पञ्चभिर्नारीं स्निग्धस्विन्नामुपाचरेत् ।
 सर्व्वतः सुविशुद्धायाः शेषं कर्म विधीयते ॥ २५ ॥
 वातव्याधिहरं कर्म वातार्त्तानां सदा हितम् ।
 औदकानूपजैर्मांसैः क्षीरैः सतिलतण्डुलैः ॥
 सवातघ्नौषधैर्नाडी-कुम्भीस्वेदमुपाचरेत् ।
 आक्तां लवणतैलेन साश्मप्रस्तरसङ्करैः ।
 स्विन्नामुष्णाम्बुसिक्ताङ्गीं वातघ्नैर्भोजयेद् रसैः ॥ २६ ॥
 बलाद्रोणद्वयकाथे घृततैलाढकं पचेत् ।
 स्थिरापयस्याजीवन्ती-वीरर्षभकजीवकैः ॥

सरला यथा स्यात् तथा नामयेत्, संवृतां योनिं पुनः पाणिना वर्द्धयेद् विवृतां
 कारयेत्, निःसृताश्च योनिं पाणिना प्रवेशयेत्, विवृतां योनिं महायोनिं
 परिवर्त्तयेत् संवृणुयात् । स्थानापवृत्त्य वृत्ता योनिः शल्यभूता । सर्वामित्यादि ।
 सर्वामेव व्यापन्नयोनिं नारीं स्निग्धस्विन्नां मृदुभिः पञ्चभिर्वमनादिभि-
 रूपाचरेत् । सर्व्वत इत्यादि । सर्व्वत ऊर्द्धाधः प्रभृतिः । शेषं कर्म यत्
 तद् विधीयते ॥ २५ ॥

गङ्गाधरः—तद् यथा वातेत्यादि । वातार्त्तानां वातयोनिव्यापन्नानाम् ।
 औदकेत्यादि । औदकादिमांसैरथवा सतिलतण्डुलैः क्षीरैरथवा सवातघ्नौषधैः
 क्षीरेर्नाडीस्वेदं कुम्भीस्वेदं वा उपाचरेत् । आक्तामित्यादि । सैन्धवलवणतैलेन
 मिलितेनाक्तामभ्यक्तां नारीं प्रस्तरस्वेदेन सङ्करस्वेदेन वा स्विन्नामुष्णाम्बुना
 सिक्ताङ्गीं वातघ्नैर्मांसैर्भोजयेत् ॥ २६ ॥

विवृतामिति विवृत्तमुखां परिवर्त्तयेदिति परितो वर्त्तनेन संवृतां कुर्यात् । पञ्चभिरितिपदं
 सकलकर्मणां मृदुतया कर्त्तव्योपदर्शनार्थम् । अथ च वमनादीनां सर्व्वदेहोपकारकतया योनिगत-
 रोगहरणेऽपि सामर्थ्यं भवत्येवेति ज्ञेयम् । शेषं कर्मैति वक्ष्यमाणम् ॥ २४—२६ ॥

चक्रपाणिः—बलाद्रोणद्वयेत्यादौ बलाद्रोणद्वयस्य काथ इति बलायाः द्रोणद्वयप्रमाणकाथ

श्रावणीपिप्पलीमूल-पीलुमाषाख्यपर्णिभिः ।

शर्कराक्षीरकाकोली-काकनासाभिरेव च ॥

पिष्टैश्चतुर्गुणक्षीरे सिद्धं पेयं यथाबलम् ।

वातपित्तकृतान् रोगान् हत्वा गर्भं ददाति तत् ॥ २७ ॥

बलातैलम् ।

काश्मर्यत्रिफलाद्राक्षा-कासमर्दपरुषकैः ।

पुनर्नवाद्विरजनी-शुकनासासहाचरैः ॥

शतावर्या गुडूच्याश्च प्रस्थमक्षसमैर्घृतात् ।

सिद्धं पिबेद् वातयोनि-दोषघ्नं गर्भदं परम् ॥ २८ ॥

काश्मर्यादिघृतम् ।

पिप्पलीः किंशुकाजाजी-वृषकं सैन्धवं वचाम् ।

यवक्षाराजमोदे च शर्करां चित्रकन्तथा ॥

पिष्ट्वा प्रसन्नयालोढ्य घृतभृष्टानि दापयेत् ।

योनिपार्श्वार्त्तिहृद्रोग-गुल्माशोर्विनिवृत्तये ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—बलेत्यादि । बलाया द्रोणद्वयकाथे बलायाश्चतुःषष्टिशरावमष्ट-
द्रोणे जले पक्त्वा पादशेषे द्रोणद्वये काथे तलाढकं पोदशशरावमितं तैलं
स्थिरादिभिः काकनासान्तः कल्कैस्तैलपादिकैश्चतुर्गुणक्षीरे सिद्धं पक्वं तैलं
यथाबलं पेयम् । स्थिरा शालपर्णी पयस्या क्षीरविदारी वीरा काकोली
श्रावणी मुण्डेरी माषाख्यपर्णी माषपर्णी । काकनासा काज्या ठुथीति
लोके ॥ २७ ॥

बलातैलम् ।

गङ्गाधरः—काश्मर्यत्यादि । काश्मर्यादिगुडूच्यन्तैरक्षसमः कल्कैर्घृतात्
प्रस्थं चतुर्गुणजले सिद्धं पिबेत् ॥ २८ ॥

काश्मर्यादिघृतम् ।

इति वा उभयथापि द्रोणद्वयमान एव काथो भवति । पयस्या अर्कपुष्पी, मुद्गपीलुमाषाख्यैः पर्णीशब्दः
प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तत्र पीलुपर्णी मोरटा, केचित् मूर्त्वामाहुः । प्रसन्ना मधिराया उपरितनो

वृषकं मातुलङ्गस्य मूलानि मदयन्तिकाम् ।
 पिबेत् सलवणैर्मदैः पिप्पलीकुञ्चिके तथा ॥
 रास्नाश्वदंष्ट्रावृषकैः शृतं शूले पिबेत् पयः ।
 गुडूचीत्रिफलादन्ती-काथैश्च परिषेचयेत् ॥
 सैन्धवं तगरं कुष्ठं वृहती देवदारु च ।
 समांशैः साधितं कल्कैस्तैलं धार्यं रुजापहम् ॥ ३० ॥
 गुडूचीमालतीरास्ना-बलामधुकचित्रकैः ।
 निदिग्धिकामहादारु-यूथिकाभिश्च कार्ष्णिकैः ॥
 तैलप्रस्थं गवां मूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत् ।
 वातार्तानाञ्च योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः ॥ ३१ ॥
 वातार्तायाः पिचुं दद्यात् योनौ च प्रणयेत् ततः ।
 हिंसाकल्कन्तु वातार्ता कोष्णमभ्यज्य धारयेत् ।
 पञ्चवल्कस्य पित्तार्ता श्यामादीनां कफातुरा ॥

गङ्गाधरः—पिप्पलीरित्यादि । पिप्पल्यादीनि पिष्ट्वा प्रसन्नयालोड्य
 आलोडनयोग्यया घृते सम्भृष्टानि पातुं दापयेत् ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः—वृषकमित्यादि । वृषकादिकं सलवणैर्मदैः पिष्ट्वा पिबेत् ।
 मदयन्तिका मल्लिका । तथा पिप्पलीमुपकुञ्चिकाश्च पिष्ट्वा सलवणैर्मदैः
 पिबेत् । रास्नेत्यादि । रास्नादिभिरष्टभागिकैश्चतुर्गुणजले शृतं पयः पिबेत् ।
 गुडूच्यादिकाथैश्च सेचयेत् । सैन्धवमित्यादि । सैन्धवादिभिः समांशैः कल्कैः
 साधितं तैलं पिचुना योनौ धार्यम् ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—गुडूचीत्यादि । गुडूच्यादिभिर्यूथिकान्तैः कल्कैः कार्ष्णिकैः
 गवां मूत्रे द्विगुणे क्षीरे च द्विगुणे तैलप्रस्थं पचेत् । तेन सेकादिक्रिया ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—वातार्ताया इत्यादि । योनिमभ्यज्य हिंसाकल्कं कोष्णं योनौ
 धारयेत् । पञ्चेत्यादि । आम्रादीनां पञ्चानां वल्कस्य कल्कं पित्तार्ता,

भागः । शूल इति योनिशूले । तलं धार्यमिति पिच्छिलायां योनौ धार्यम् । योनौ च

पित्तलानान्तु योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः ।

शीताः पित्तहराः कार्य्याः स्नेहनार्थं घृतानि च ।

पित्तघ्नौषधसिद्धानि कार्य्याणि भिषजा तथा ॥ ३२ ॥

शतावरीमूलतुलाश्चतस्रः संप्रपीडयेत् ।

रसेन क्षीरतुल्येन पचेत् तेन घृताढकम् ॥

जीवनीयैः शतावर्या मृद्रीकाभिः परुषकैः ।

पिष्टैः पियालैश्चाक्षांशैर्द्वियष्टिमधुकैर्भिषक् ॥

सिद्धशीते च मधुनः पिप्पल्याश्च पलाष्टकम्

दत्त्वा दशपलञ्चात्र सितायास्तद्विमिश्रितम् ॥

ब्राह्मणान् प्राशयेत् पूर्वं लिह्यात् पाणितलं तथा ।

योन्यसृक्शुक्रदोषघ्नं वृष्यं पुंसवनञ्च तत् ॥

क्षतक्षयं रक्तपित्तं श्वासं कासं हलोमकम् ।

कामलां वातरक्तञ्च विसर्पं हृच्छिरोग्रहम् ॥

श्यामा अनन्तमूलं श्यामादीनां कल्कं कफातुरा योनौ धारयेत् । पित्तलाना-
मित्यादि । पित्तहराः शीताः सेकादयः क्रियाः कार्य्याः, स्नेहनार्थं घृतानि
कार्य्याणि पित्तघ्नौषधसिद्धानि ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—शतावरीत्यादि । शतावर्या मूलस्य चतस्रस्तुलाः पञ्चाशच्छरावं
पिष्ट्वा प्रपीडयेद् यावांस्तद्रसो भवति, तेन रसेन क्षीरतुल्येन घृताढकं जीव-
नीयादिभिर्द्वियष्टिमधुकान्तैरक्षांशैः कल्कैः पचेत् । पक्वे पूते शीते च सति
मधुनोऽष्टपलं पिप्पल्याश्चाष्टपलं सिताया दशपलञ्च दत्त्वा विमिश्रितं तत्

प्रणयेदिति योनौ उत्तरवस्तिना प्रवेशयेत् । श्यामादीनामिति रोगभिषग्जित्तोये श्यामास्त्रिवृता-
चतुरङ्गुलेत्यादिनोक्तानाम् ॥ २७—३२ ॥

चक्रपाणिः—शतावरीमूलतुला इत्यादौ आर्द्रशतावरीमूलपीडनेन यावद् रसो भवति

उन्मादारत्यपस्मारान् वातपित्तात्मकान् जयेत् ।

शतावरीघृतमिदं कृष्णात्रेयेण पूजितम् ॥ ३३ ॥

शतावरीघृतम् ।

एवमेव क्षीरसर्पिर्जीवनीयोपसाधितम् ।

गर्भदं पित्तलानाञ्च रोगाणां स्याद् भिषग्जितम् ॥

योन्याः श्लेष्मप्रदुष्टाया वर्त्तिः संशोधनो हिता ।

वाराहे बहुशः पित्ते भावितैर्लक्तकैः कृता ॥

भावितं पयसार्केण यवचूर्णं ससैन्धवम् ।

वर्त्तिः कृता मुहुर्धार्या ततः सेच्या सुखाम्बुना ॥

पिप्पलीमरिचैर्मर्षैः शताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ।

वर्त्तिस्तुल्या प्रदेशिन्या धार्या योनिविशोधिनी ॥ ३४ ॥

पूर्वं ब्राह्मणान् प्राशयेत् भोजयेत् । ब्राह्मणभोजनादुत्तरं तद् घृतं पाणितलं
लिह्यात् ॥ ३३ ॥

शतावरीघृतम् ।

गङ्गाधरः—एवमेवेत्यादि । एवमनेन प्रकारेण क्षीरघृतं क्षीरोत्थं सर्पि-
र्जीवनीयदशककल्कसाधितं गर्भदमित्यादि स्यात् । योन्या इत्यादि ।
संशोधनी वर्त्तिर्हिता या या तां तामाह—वाराह इत्यादि । वाराहे पित्ते बहुशो
भावितैर्लक्तकैः कृता वर्त्तिर्योनौ दत्ता हितेत्यन्वयः । भावितमित्यादि ।
ससैन्धवं यवचूर्णमार्केण पयसा भावितं वर्त्तिः कृता मुहुर्योनौ धार्या न तु
चिरकालम्, ततः सुखाम्बुना योनिः सेच्या । पिप्पलीत्यादि । पिप्पल्यादीनि
पिष्ट्वा जलेन वर्त्तिः प्रदेशिन्याङ्गुल्या तुल्या कार्या, कृता सा योनौ धार्या
योनिशोधिनी ॥ ३४ ॥

तेन समं क्षीरं घृतं वक्ष्यमाणकल्कैः पाचनीयम् । द्वियष्टिमधुकैरिति द्विभागमधुयष्टिकैः, किंवा
जलस्थलयष्टिमधुकद्वययुक्तैः ॥ ३३ ॥

चक्रपाणिः—एवमेवेत्यादौ शतावरीचतुःशतपलरससमेनेत्यर्थः । क्षीरोत्थितं सर्पिः जीवनीयान्यस्त-
कल्कः । पयसार्कस्येति अर्कक्षीरेण । सेच्येति परिपिञ्चनीया । प्रदेशिनीतुल्या प्रदेशिन्यङ्गुली-
समानपरिणाहेन दैर्घ्येण च ॥ ३४ ॥

उडुम्बरशलाटूनां द्रोणमवद्रोणसंयुतम् ।

सपञ्चवल्ककुनक-मालतीनिम्बपल्लवम् ॥

निशां स्थाप्य जले तस्मिंस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ।

लाक्षाधवपलाशत्वक्-निर्यासैः शाल्मलेन च ॥

पिष्टैः सिद्धन्तु तत्तैल-पिचुर्योनौ रुजापहः ।

सशर्करैः कषायश्च शीतैः कुर्वीत सेचनम् ॥

पिच्छिला विवृता काल-दुष्टा योनिश्च दारुणा ।

सप्ताहात् सिध्यति क्षिप्रमपत्यश्चापि विन्दति ॥ ३५ ॥

उडुम्बरस्य दुग्धेन षट्कृत्वो भावितात् तिलात् ।

तैलं काथेन तास्वेव सिद्धं धार्य्यञ्च पूर्व्ववत् ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—उडुम्बरेत्यादि । यडुम्बरस्यामफलानि द्रोणसम्मितानि अव-
द्रोणसंयुतं पञ्चवल्ककुनकादिपत्रं मिलित्वा द्रोणम्, सर्व्व द्रोणद्वयं कुट्टयित्वा अपां
द्रोणे निशां संस्थाप्य रसं निष्पीड्य गालयेत्, तेन रसेन लाक्षाधवत्वङ्निर्यास-
पलाशत्वङ्निर्यासशाल्मलनिर्यासैः पिष्टैः कल्कैः सिद्धं तैलं यत् तत्तैल-
पिचुः तत्तैलाद्रीकृततूलकपत्री योनौ धार्य्या, ततः पर उडुम्बरादीनां
निम्बपल्लवान्तानां कषायैः शीतैः सशर्करैर्योनिसेचनं कुर्वीत । तस्याशीः
पिच्छिलेत्यादि ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—उडुम्बरस्येत्यादि । उडुम्बरस्य दुग्धेन क्षीरेण तिलान् षट्कृत्वो
भावयेत् । भावितात् तत्तिलात् पीडितादुत्पन्नं तैलं तस्यैवोडुम्बरस्य
त्वक्काथेन चतुर्गुणेन सिद्धं तैलं पूर्व्ववत् पिचुना धार्य्यम्, तत उडुम्बरकषायेण
सशर्करेण योनिसेचनं कुर्वीत । तस्य पिच्छिलाद्याशीः पूर्व्ववत् ॥ ३६ ॥

चक्रपाणिः—उडुम्बरशलाटूनामित्यादौ पञ्चवल्कादिसहितानां द्रोणं समभागं द्रव्यमानं
गृहीतम् । निर्यासैरिति पलाशस्यैव निर्यासैः । लाक्षा च पलाशव्यतिरेकेण भवतीति ज्ञेयम् ।
सशर्करैः कषायैरिति उडुम्बरशलाटूनादिकृतकषायरेवेत्यर्थः । कालदुष्टा चिरकालदुष्टा । उडुम्बरस्य

धातक्यामलकीपत्र-स्रोतोजमधुकोत्पलैः ।

जम्बवाग्रमध्यकाशीश-लोध्रकट्फलतिन्दुकैः ॥

सौराष्ट्रिकादाडिमत्वगुडम्बरशलाटुभिः ।

अक्षमात्रैरजामूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत् ॥

तलप्रस्थं पिचुं दद्यात् योनौ च प्रणयेत् ततः ।

कटीपृष्ठत्रिकाभ्यङ्गं स्नेहवस्तिञ्च दापयेत् ॥

पिच्छिला स्त्राविणो योनिर्विप्लुतोपप्लुता तथा ।

उत्ताना चोन्नता शूना सिध्येत् सस्फोटशूलिनी ॥ ३७ ॥

करीरधवनिम्बार्क-रेणु(वेणु)कोषाग्रजाम्बवैः ।

जिङ्गिनीविषमूलानां काथैर्माध्वीकसीधुभिः ॥

संयुक्तैर्धावनं मिश्रैर्योनिस्त्रावनिवारणम् ।

कुर्यात् सतक्रगोमूत्र-शुक्तैर्वा त्रिफलारसैः ॥

पिप्पल्ययोरजःपथ्या-प्रयोगा मधुना हिताः ।

श्लेष्मलायां कटुप्रायाः समूत्रा वस्तयो हिताः ॥

गङ्गाधरः—धातकीत्यादि । धातक्यामलकयोः पत्रम् । स्रोतोजः शङ्खनाभिः । जम्बवाग्रयोरस्थिमध्यं मज्जा । सौराष्ट्रिकी मृत् । दाडिमफलत्वक् उडम्बरस्यापकानि फलानि । अक्षमात्रैरेतैः कल्कैरजामूत्रे द्विगुणे क्षीरे चाजाया एव द्विगुणे तैलप्रस्थं पचेत् । तेन योनौ पिचुं दद्यात्, ततः प्रणयेत् जलेन सेचयेत् । ततः कट्याद्यभ्यङ्गं दापयेत् । स्नेहवस्तिञ्च दापयेत् । पिच्छिलेत्यादिराशीः ॥ ३७ ॥

गङ्गाधरः—करीरेत्यादि । करीरो मरुजो द्रमविशेषः । कोषाग्रः ओडि-आग्र इति लोके । जिङ्गिनी मज्जिष्ठा । करीरादीनां प्रत्येककाथैर्जिङ्गिनीवृष-मूलानां काथैर्माध्वीकसीधुभिः संयुक्तैर्मिश्रैर्योनिधावनं कुर्यात् योनिस्त्राव-निवारणम् । त्रिफलारसः सतक्रगोमूत्रशुक्तैर्वा योनेर्धावनं कुर्यात् । पिप्पली-त्यादि । मधुना पिप्पलीप्रयोगो मधुना मारितपुटितलौहरजःप्रयोगो मधुना रुग्धेनेति उडम्बरक्षीरेण । काथेन तस्यैवेति उडम्बरस्य काथेन । सौराष्ट्रिका अपरमृत्तिका । अजामूत्रे क्षीरे चेति अजाक्षीरे प्रत्येकं द्विगुणे । उत्तानेत्युन्नता ॥ ३५—३७ ॥

पित्ते समधुरक्षीरा वाते तैलाम्लसंयुताः ।

सन्निपातसमुत्थायाः कर्म साधारणं मतम् ॥ ३८ ॥

रक्तयोन्यामसृग्वर्णैरनुबन्धं समोदय च ।

ततः कुर्याद् यथादोषं रक्तस्थापनमौषधम् ॥

तिलचूर्णं दधि घृतं फाणितं शौकरी वसा ।

क्षौद्रेण संयुतं पेयं वातासृग्दरनाशनम् ॥

वराहस्य रसो मेध्यः सकौलत्थोऽनिलाधिके ।

शर्कराक्षौद्रयष्टाह्व-नागरैर्वा युतं दधि ॥

पयस्योत्पलशालूकं विसकालीयकाम्बुदम् ।

सपयःशर्कराक्षौद्रमेकशोऽसृग्दरे पिबेत् ॥ ३९ ॥

पथ्याचूणप्रयोग इत्येते प्रयोगा योनिस्त्रावे हिताः । श्लेष्मलायां योनौ कटुप्रायाः समूत्रवस्तयश्च हिताः । पित्ते समधुरक्षीरा वस्तयो हिताः, वाते तैलाम्लसंयुता वस्तयो हिताः । सन्निपातसमुत्थायाः साधारणं त्रिषु दोषेषूक्तं कर्म हितं मतम् ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—रक्तयोन्यामित्यादि । रक्तयोण्यां वातादिवर्णैरसृक् समीक्ष्यानुबन्धं समीक्ष्य च यथादोषं रक्तस्थापनमौषधं जातिमूत्रीयोक्तं कुर्यात् । तिलत्यादि । तिलचूर्णादिकं क्षौद्रेण संयुतं पेयं वातासृग्दरनाशनम् । रक्तयोनिरेव प्रदरमुच्यते । शौकरी वसा वराहस्य वसा । वराहस्येत्यादि । कुलत्थ-रससहितवराहमांसरसोऽनिलाधिके, तथा शर्करादियुतं दधि चानिलाधिके प्रदरे । पयस्येत्यादि । पयस्या क्षीरविदारी । पयस्यादीनामेकैकं सपयःशर्करा-क्षौद्रमनिलाधिकेऽसृग्दरे पिबेत् ॥ ३९ ॥

चक्रपाणिः—करीरो मरुद्गुमः । कोषाग्नः स्वनामख्यातः । जिह्मिनी प्रसिद्धा । कर्म साधारणं वातादिजयोनिदोषोक्तं मिलितं त्रिदोषजायां कर्तव्यम् । रक्तयोन्यामित्यादि असृग्वर्णैरनुबन्धं वीक्ष्येति असृग्वर्णविशेषैः दोषानुबन्धं परीक्ष्य ॥ ३८ । ३९ ॥

पाठा जम्बवाग्रयोर्मध्यं शिलोद्भेदं रसाञ्जनम् ।
 अम्बष्ठा शाल्मलीवेष्टं समङ्गा वत्सकत्वचम् ॥
 बाह्लीकातिविषे लोघ्रं बिल्वं मुस्तं सगैरिकम् ।
 कटुङ्गं मधुकं शुण्ठी मृद्वीका रक्तचन्दनम् ॥
 कट्फलं वत्सकानन्ता-धातकीमधुकार्ज्जनम् ।
 पुष्येणोद्धृत्य तुल्यानि श्लक्ष्णचूर्णानि कारयेत् ।
 तानि क्षौद्रेण संयुज्य पिबेत् तण्डुलवारिणा ॥
 अशःसु चातिसारेषु रक्तं यच्चौपवेश्यते ।
 दोषागन्तुकृता ये च बालानां तांश्च नाशयेत् ॥
 योनिदोषं रजोदोषं श्वेतं नीलं सपीतकम् ।
 स्त्रीणां श्यावारुणं यच्च प्रसह्यापि निवर्त्तयेत् ।
 चूर्णं पुष्यानुगं नाम हितमात्रेयपूजितम् ॥ ४० ॥

पुष्यानुगं चूर्णम् ।

तण्डुलीयकमूलन्तु सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना ।
 रसाञ्जनञ्च लाक्षाञ्च छागेन पयसा पिबेत् ॥

गङ्गाधरः—पाठेत्यादि । पाठा चाम्बष्ठा चेति द्विरुक्तत्वाद् भागद्वयम् ।
 बाह्लीकं हिङ्गु । कटुङ्गं श्योनाकः । वत्सकमिन्द्रयवः । पाठादीनि तुल्यान्युद्धृत्य
 पुष्येण श्लक्ष्णचूर्णानि कारयेत् । कश्चिदाह पुष्येणोद्धृत्य यदा तदा
 चूर्णानि कारयेदिति । तानि क्षौद्रेण अक्षयित्वा तण्डुलोदकेन पिबेदिति ।
 शेषमाशीरिति ॥ ४० ॥

पुष्यानुगं चूर्णम् ।

गङ्गाधरः—तण्डुलीयकेत्यादि । तण्डुलीयोऽल्पमारिषः, स चात्र रक्तो ग्राह्यः ।
 तस्य मूलं सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना पिबेदथवा रसाञ्जनञ्चाथवा लाक्षां छागेन

चक्रपाणिः—पाठेत्यादौ अम्बष्ठा पाठाभेदः । अन्ये तु पाठाभागद्वयग्रहणार्थं पुनः अम्बष्ठेति-
 पदं वर्णयन्ति । उक्तं हि—“घृते तेले च योगे च यद् द्रव्यं पुनरुच्यते । भागतो द्विगुणं तद्वि-
 ग्रहणीयं मनीषिभिः” इति । शाल्मलीवेष्टं शाल्मलीवेष्टः । बाह्लीकमिति कुङ्कमम् । पुष्येणेति
 पुष्यनक्षत्रे उद्धृत्य । नीलं श्वेतं सपीतकमिति रजोदोषविशेषणम् ॥ ४० ॥

कटुप्रायाः
 गन्धसंयुता
 कर्म हितं

मीक्ष्यानु-
 । तिल-
 कयोनिरेव
 कुलत्थ-
 निलाधिके
 यः शर्करा-

मं साधारणं
 गवर्णं सुबन्धं

पत्रकल्को घृतभृष्टौ राजादनकपित्थयोः ।

पित्तानिलहरौ पित्ते सर्व्वथैवास्त्रपित्तजित् ॥

मधुकं त्रिफला लोध्रं मुस्तं सौराष्ट्रिका मधु ।

मदैर्निम्बगुडूच्यौ वा कफजेऽसृग्दरे पिबेत् ॥

विरेचनं महातिक्तं पित्तजेऽसृग्दरे हितम् ।

हितं गर्भपरिस्त्रावे यच्चोक्तं तच्च कारयेत् ॥ ४१ ॥

काश्मर्य्यकुटजकाथ-सिद्धमुत्तरवस्तिना ।

रक्तयोन्यरजस्कानां पुत्रघ्न्याश्च हितं घृतम् ॥ ४२ ॥

मृगाजाविवराहासृग् दध्यम्लक्षौद्रसर्पिषा ।

अरजस्का पिबेत् सिद्धं जीवनीयैः पयोऽपि वा ॥ ४३ ॥

पयसा पिबेत् । पत्रेत्यादि । राजादनस्य पत्रकल्को घृतभृष्टः कपित्थस्य वा पत्रकल्को घृतभृष्टः पित्तानिलहरः । पित्तेऽसृग्दरे सर्व्वथा रक्तपित्ताधिकारोक्तमौषधं विधीयते । मधुकमित्यादि । कफजेऽसृग्दरे मधुकादि मध्वन्तं मदैः पिबेत् । निम्बगुडूच्यौ वा चूर्णीकृतौ मदैः पिबेत् । विरेचनमित्यादि । महातिक्तं घृतं गर्भपरिस्त्रावे जातिसूत्रीयोक्तं यच्च तच्च पित्तजे कारयेत् ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—काश्मर्य्येत्यादि । काश्मर्य्यं गम्भारीफलं तस्य कुटजस्य मिलितस्य काथे चतुर्गुणेऽकल्कं सिद्धं घृतमुत्तरवस्तिना रक्तयोन्यादौ हितम् ॥ ४२ ॥

गङ्गाधरः—मृगेत्यादि । मृगाद्यन्यतमस्यासृक् दध्यम्लान्यतमेनारजस्का पिबेत् । अथवा जीवनीयकल्कसिद्धं पयः पिबेत् ॥ ४३ ॥

चक्रपाणिः—विरेचनमित्यादौ विरेचनमेव लिघृतादि पिबेत् । तथा महातिक्तं घृतं कुष्ठोक्तं पिबेदिति योज्यम् । गर्भपरिस्त्रावे यच्चोक्तमिति जातिसूत्रीये गर्भचिकित्सितं यदुक्तं तत् कारयेत् । मृगाजावीत्यादौ मृगादीनामसृक् दध्यम्लफलसर्पिषा पिबेदिति योज्यम् । अम्लक्षौद्रसर्पिषेति वा पाठः ॥ ४१—४३ ॥

कर्णिन्यचरणाशुष्क-योनिप्राक्चरणासु च ।

कफवाते च दातव्यं तैलमुत्तरवस्तिना ॥

गोपित्ते मत्स्यपित्ते वा क्षौमं त्रिःसप्तभावितम् ।

मधुना किरवचूर्णं वा दद्यादचरणापहम् ॥

स्रोतसां शोधनं क्लेद-शोथकण्डूहरश्च तत् ॥ ४४ ॥

वातघ्नैः शतपाकैश्च तैलः प्रागतिचारिणो ।

आस्थाप्या चानुवास्या वा स्वेद्या चानिलसूदनैः ।

स्नेहद्रव्यैस्तथाहारैरुपनाहैश्च युक्तितः ॥

शताह्वयवगोधूम-किण्वकुष्ठप्रियङ्गुभिः ।

बलाखुपर्णिकास्नेहैः संयावा धारणे मताः ॥ ४५ ॥

वामिन्युपप्लुतानाञ्च स्नेहस्वेदादिकः क्रमः ।

कार्यस्ततः स्नेहपिचुस्ततः सन्तर्पणं भवेत् ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—कर्णिनीत्यादि । कर्णिन्यादिषूत्तरवस्तिना तैलं दातव्यम् । गोपित्त इत्यादि । त्रिःसप्तेति एकविंशतिवारं भावितं क्षौमवस्त्रचेलं क्षुमा मसिना तस्य बल्कलकृतं वस्त्रं क्षौमं योनौ दद्यात् । किण्वं मद्यकिट्टं चूर्णयित्वा मधुना मिश्रीकृत्य योनौ दद्यात् ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—वातघ्नस्तियादि । प्रागतिचारिणी प्राक्चरणा योनिरतिचरणा च योनिर्वातघ्नैर्वातरोगोक्तैस्तैलैः शतपाकैश्च तैलेरास्थाप्या चानुवास्या च । अनिलसूदनैश्च स्नेहद्रव्यैः स्वेद्यास्तथानिलसूदनैराहारैः स्नेहद्रव्यैर्युक्तित उपनाहैश्च स्नेहद्रव्यैरुपचर्या । शताह्वेत्यादि । शताह्वादीनां संयावाः कल्क-अक्षितालक्तकपत्राणि योनौ धारणे मताः ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः—वामिनीत्यादि । स्नेहस्वेदादिक इति आदिपदेन विरेचनमदिकं गृह्यते ॥ ४६ ॥

चक्रपाणिः—तैलमुत्तरवस्तिनेत्यस्य जीवनीयसिद्धं तैलम् । गोपित्त इत्यादि दद्यादचरणपह-मिति । संयाव उत्कारिका । धारणे स्मृत इति धारणकारक इत्यर्थः ॥ ४४—४६ ॥

शल्लकीजिङ्गिनीजम्बू-धवत्वक्पञ्चवल्कलैः ।

कषायैः साधितः स्नेह-पिचुः स्याद् विप्लुतापहः ॥ ४७ ॥

कर्णिन्यां वर्त्तिका कुष्ठ-पिप्पल्यर्काग्रसैन्धवैः ।

वस्तमूत्रकृता धार्या सर्व्वश्च श्लेष्मनुद्धितम् ॥ ४८ ॥

त्रवृतः स्नेहनं स्वेदो ग्राम्यानूपौदका रसाः ।

दशमूलीपयोवस्तिश्चोदावर्त्तानिलार्त्तिषु ॥ ४९ ॥

त्रवृतैरानुवास्यैव वस्तिरुत्तरसंज्ञकः ।

एतदेव महायोण्यां सस्तायाश्च विधीयते ॥

वराहकुक्कुटवसा घृतं मधुरकैः शृतम् ।

संप्रवेश्य महायोनिं बध्नीयात् क्षौमलक्तकैः ॥

प्रसुप्तां सर्पिषाभ्यज्य क्षीरस्विन्नां प्रवेशयेत् ।

बध्नीयाद् वेश्वारस्य पिण्डेनामूत्रकालतः ॥

गङ्गाधरः—शल्लकीत्यादि । शल्लकी वृक्षविशेषः । जिङ्गिनी मञ्जिष्ठा । जम्बूधवयोस्त्वक् । आम्रादिपञ्चवल्कलैश्च काथैश्चतुर्गुणरक्त्वसाधिततैलादि-स्नेहपिचुर्विप्लुतापहः ॥ ४७ ॥

गङ्गाधरः—कर्णिन्यामित्यादि । कर्णिन्यां योनौ कुष्ठादि सैन्धवान्तर्वस्त-मूत्रपिष्टः कृता वर्त्तिका योनौ धार्या । सर्व्वश्च श्लेष्मनुत् कर्म्म हितम् ॥ ४८ ॥

गङ्गाधरः—त्रैवृत इत्यादि । उदावर्त्तायामनिलार्त्तिषु त्रैवृताप्रयोगः । ग्राम्यादिमांसरसाः । दशमूली गव्यं पयः । त्रैवृतेनेत्यादि । त्रैवृतेन तैलेनानुवास्या । महायोण्यामुत्तरवस्तिर्विधीयते । एतदेव सस्तायां योनौ विधीयते । वराहेत्यादि । वराहकुक्कुटयोर्वसा च घृतञ्चेति यमकं मधुरकैर्जीवनीयः कल्कैः शृतं अक्षयित्वा महायोनिं संप्रवेश्य तद्घृताक्तैः क्षौमलक्तकैर्बध्नीयात् । प्रसुप्ता-मित्यादि । प्रसुप्तां योनिं सर्पिषाभ्यज्य क्षीरस्विन्नां प्रवेशयेत् । ततो वेश-वारस्य पिण्डेन बध्नीयात् । आमूत्रकालतो मूत्रवेगकालपर्यन्तम्, मूत्रवेगे मुञ्चेत् ।

चक्रपाणिः—त्रैवृतं स्नेहनमिति सर्पिस्तैलवसास्नेहनम् । एतदेवेति त्रैवृतमेव अनुवासनवस्तिः

४७ ॥

॥

यच्च वातविकाराणां कम्मोक्तं तच्च कारयेत् ।
 सर्व्वव्यापत्सु मतिमान् महायोन्यां विशेषतः ॥
 न हि वातादृतै योनिर्नारीणां संप्रदुष्यति ।
 शमयित्वा तमन्यस्य कुर्याद् दोषस्य भेषजम् ॥ ५० ॥
 रोहीतकान्मूलकल्कं पाण्डरेऽसृग्दरे पिबेत् ।
 जलेनामलकीबीज-कल्कं वा ससितामधुम् ॥
 मधुनामलकं चूर्णं रसं वा लेहयेच्च ताम् ।
 न्यग्रोधस्य कषायेण लोध्रकल्कं तथा पिबेत् ॥
 आस्रावे क्षौमपट्टं वा भावितं तेन धारयेत् ।
 श्लक्ष्णत्वक्चूर्णपिष्टं वा धारयेन्मधुना कृतम् ॥
 योन्या स्नेहाक्तया लोध्र-प्रयङ्गुमधुकस्य वा ।
 धार्या मधुयुता वर्त्तिः कषायाणाञ्च सर्व्वशः ॥

जिष्ठा ।

तेलादि-

न्तर्वस्त-

॥४८॥

मयोगः ।

वास्या ।

त्यादि ।

ः शृतं

प्रसृप्ता-

तो वेश-

पुञ्चेत् ।

सनवस्तिः

यच्चत्यादि । सर्व्वयोनिव्यापत्सु कस्माद् वातविकारोक्तं कम्म कुर्यात् ?
 तत आह—न हीत्यादि । तं वातमादौ शमयित्वान्यस्य दोषस्य भेषजं
 कुर्यात् ॥ ४९ । ५० ॥

गङ्गाधरः—रोहीतकेत्यादि । पाण्डरे श्वेतवर्ण । जलेनेति पूर्व्वणान्वयः ।
 ससितामधुमामलकीकल्कं पिबेत् । मधुनेत्यादि । पाण्डरेऽसृग्दरे आमलकस्य
 चूर्णं रसं वा मधुना लेहयेत् न्यग्रोधस्य कषायेण वा लोध्रकल्कं लेहयेत् । आस्राव
 इत्यादि । आस्रावे योनेस्तेन न्यग्रोधकषायेण लोध्रकल्केन वा भावितं क्षौमपट्टं
 योनौ धारयेत् । न्यग्रोधस्य लोध्रस्य वा श्लक्ष्णं सक्चूर्णं तक्पिष्टं वा मधुना
 द्रवीकृतं क्षौमपट्टं योनौ धारयेत् । योन्येत्यादि । लोध्रादीनां पिष्टानां मधुयुता
 कृता वर्त्तिः स्नेहाक्तया योन्या धार्या । तेषां लोध्रादीनां कषायाणाञ्च

अन्तरवस्तिश्च । आमूलकालत इति मूलकालपर्यन्तं बन्धनं कुर्यात् । सर्व्वव्यापत्सु वात-
 चिकित्साकरणे हेतुमाह—न हि वातादृत इत्यादि ॥ ४७—५० ॥

चक्रपाणिः—पाण्डुरे प्रदर इति श्वेतप्रदरे । भावितं तेनेति न्यग्रोधत्वक्कषायेण भावितम् ।

स्त्रावच्छेदार्थमभ्यक्तां धूपयेद् वा घृतप्लुतैः ।

सरलागुग्गुलुधवैः सतैलकटुमत्स्यकैः ॥

काशीशं त्रिफला काक्षी समङ्गाम्रास्थि धातकी ।

पच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्तश्चूर्णो वैशद्यकारकः ॥

पलाशसर्जजम्बूत्वक्-समङ्गामोचधातकी ।

सपिच्छिला परिक्लिन्ना स्तम्भनः कल्क इष्यते ॥

स्तब्धानां कर्कशानाञ्च कार्यं मार्दवकारकम् ।

धारयेद् वेश्वारं वा कृशरां पायसं तथा ॥

दुर्गन्धानां कषायः स्यात् तौवरः कल्क एव च ।

चूर्णो वा सर्वगन्धानां पूतिगन्धापकर्षणः ॥ ५१ ॥

एवं योनिषु शुद्धासु गर्भं विन्दन्ति योषितः ।

अदुष्टे प्राकृते बीजे * गर्भावक्रमणे सति ॥

अथवा कषायरसद्रव्याणां सर्वशो वर्त्तिसेकादिभिः प्रयोगः । स्त्रावेत्यादि । योनेः स्त्रावस्य छेदार्थं स्त्राविणीं योनिं स्नेहाभ्यक्तां सतैलकटुमत्स्यकस्तैलप्रोष्ठी-
मत्स्याभ्यां सहितैः सरलागुग्गुलुधवैः पिष्टैर्घृतप्लुतैर्धूपयेत् । काशीशमित्यादि ।
योनेः पौच्छिल्ये काशीशादीनां चूर्णैः क्षौद्रसंयुतो योनौ देयः । काक्षी आढकी-
मूलम् । पलाशेत्यादि । मोच आमकदली । एषां कल्कः सपिच्छिलादि-
स्तम्भनः । स्तब्धानामित्यादि । मार्दवकारकं किञ्चिदाह वेश्वारं वा कृशरां
वा पायसं वा योनौ धारयेत् । दुर्गन्धानामित्यादि । दुर्गन्धानां योनिनां
कषायो रस एव यत्र यत्र द्रव्ये तत्तद् द्रव्यस्य चूर्णस्तुवरीकल्क आढकीकल्क-
श्चूर्णो वा सर्वगन्धानां द्रव्याणां चूर्णो वा पूतिगन्धापकर्षणः ॥ ५१ ॥

गङ्गाधरः—एवमित्यादि । एवमनेन प्रकारेण योनिषु शुद्धासु योषितो
गर्भं विन्दन्ति, कथं विन्दन्ति ? प्राकृतेऽदुष्टे खल्वविकृते बीजे रेतसि सिक्के
सति गर्भावक्रमणे च परलोकात् जीवावक्रमणे गर्भाशयप्रवेशे सति । यदि बीजं
सहजगुणसम्पन्ने शुक्रशोणितबीजे अदुष्टे सति गर्भं योषितः विन्दन्ति । जीवोपक्रमणं पूर्ववत्कर्म-
प्रेरितत् सुयोगाद् भवति । यस्मात् पुरुषस्य शुक्रमप्यत्र कारणम्, तस्मात् शुक्रस्यापि परीक्षापूर्विकां
जीवोपक्रमणे इति चक्रघृतः पाठः ।

पञ्चकर्मविशुद्धस्य पुरुषस्यापि चेन्द्रियम् ।
परीक्ष्य वर्णैर्दोषाणां दुष्टिघ्नैस्तमुपाचरेत् ॥ ५२ ॥

भवति चात्र ।

सलिङ्गा व्यापदो योनेः सनिदानचिकित्सिताः ।
उक्ता विस्तरतः सम्यङ् मुनिना तत्त्वदर्शिना ॥ ५३ ॥
पुनरेवाग्निवेशस्तु पप्रच्छ भिषजां वरम् ।
आत्रयमुपसङ्गम्य शुक्रदोषास्त्वयानघ ॥
रोगाध्याये समुद्दिष्टास्त्वष्टौ पुंसामशेषतः ।
तेषां हेतुं पृथक् श्रेष्ठ दुष्टादुष्टस्य चाकृतिम् ॥
चिकित्सितश्च कार्त्तस्येन क्लैव्यं यच्च चतुर्विधम् ।
उपद्रवेषु योनीनां प्रदरो यश्च कीर्तितः ॥

दुष्टं स्यात् तर्हि किं कत्तव्यमित्यत उच्यते । पञ्चेत्यादि । पुरुषस्यापि चेन्द्रियं
शुक्रं वर्णः परीक्ष्य यदोषवर्णं शुक्रं स्यात् तदा तस्य पुरुषस्य पञ्चभिः कर्मभिः
विशुद्धस्य तेषां दोषाणां दुष्टिघ्नैर्भेषजैस्तं पुरुषमुपाचरेत् । इति । योनिव्याप-
चिकित्सितार्थमाह—भवति चात्रेति ॥ ५२ ॥

गङ्गाधरः—सलिङ्गा इत्यादि । मुनिना पुनर्व्वसुना । इति योनिव्याप-
दधिकारः ॥ ५३ ॥

गङ्गाधरः—अथात्र गर्भग्रहणप्रसङ्गात् पुरुषस्य रेतोदोषमाह—पुनरेवेत्यादि ।
रोगाध्यायेऽष्टोदरीये अष्टौ रेतोदोषा इति उद्देश्यपुनर्निर्देशः कृतः । अष्टौ रेतोदोषा
इति “तनु शुष्कं फेनिलमश्वेतं पूत्यपिच्छिलमन्यधातूपहितमवसादि चेति”

चिकित्सामाह—पञ्चकर्मैत्यादि । दोषाणां वातादीनां वर्णैर्यदि दुष्टं भवति, तदा वातादिवर्णयोगात्
वातादिहरैर्भेषजैः उपाचरेदित्यर्थः ॥ ५१ । ५२ ॥

चक्रपाणिः—अस्तान्तरे पुनरेवेत्यादिग्रन्थं शुक्रदोषादिलक्षणचिकित्सादिभायकं केचित्
महन्ति, तच्चान्ये अन्याय्यं वदन्ति । उपपत्तिञ्च वर्णयन्ति यत् शुक्रादिदोषाः वाजीकरणेनैव
चिकित्सिताः, क्लैव्यञ्च शारीरे एव प्रतिपादितम्, प्रदर्शयैवेह योनिव्यापचिकित्सिते इति ये

तेषां निदानं लिङ्गञ्च चिकित्साञ्चैव तत्त्वतः ।

समासव्यासभेदेन ब्रूहि नो भिषजां वर ॥ ५४ ॥

तस्मै शुश्रूषमाणाय प्रोवाच मुनिपुङ्गवः ।

बीजं यस्माद् व्यवायेषु हर्षयोनिसमुत्थितम् ।

शुक्रं पौरुषमित्युक्तं तस्माद् वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ ५५ ॥

यथा बीजमकालाम्बु-क्रिमिकीटाग्निदूषितम् ।

न विरोहति संदुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम् ॥ ५६ ॥

अतिव्यवायाद् व्यायामादसात्म्यानाञ्च सेवनात् ।

अकाले वाप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः ॥

रुक्षतित्तकषायाति-लवणाम्लोष्णसेवनात् ।

नारीणामरसज्ञत्वात् सरणाञ्जरया तथा ॥

पुंसामष्टौ शुक्रदोषा अशेषतस्त्वया समुद्दिष्टाः । तेषां शुक्रदोषाणां पृथक्
हेलादीनि, तथा चतुर्विधं क्लैव्यं यच्च तत्रैवाध्याये चत्वारि क्लैव्यानीत्युद्देश्य-
निर्देशः कृतश्चत्वारि क्लैव्यानीति बीजोपघातात् ध्वजभङ्गात् जरायाः शुक्रक्षया-
च्चति । यदुक्तं तेषां निदानादीनि य इह योनिव्यापदामुपद्रवेषु यः प्रदर उक्त-
स्तेषां निदानादीनि तत्त्वतः समासव्यासाभ्यां ब्रूहीति अग्निवेशः पप्रच्छ ॥ ५४ ॥

गङ्गाधरः—तस्मा इत्यादि । यस्माद्धेतोः पौरुषं शुक्रं हर्षयोनिसमुत्थितं
हृषात् कामोद्रेकात् योनितः शुक्रस्याकरतः समुत्थितं व्यवायेषु बीजमित्युक्तं
तस्मात् तद् वक्ष्यामि तच्च शृणु ॥ ५५ ॥

गङ्गाधरः—यथेत्यादि । धान्यादीनां बीजं यथा खल्वकालवर्षादिभिर्दूषितं
न विरोहति, तथा शरीरिणां दुष्टं शुक्रं न विरोहति ॥ ५६ ॥

गङ्गाधरः—तस्य दुष्टिकारणानि चाह—अतिव्यवायादित्यादि । असात्म्यानां
सेवनात् । अकाले मैथुनं गच्छतः अयोनौ वा मैथुनं गच्छतः । मैथुनं न च
तु पठन्ति ते पूर्वोक्तसंक्षपस्य विरतराभिधानादिति वर्णयन्ति । एवमस्यार्थस्य विवादेऽपि
काश्मीरादिदेशानुमतत्वात् किञ्चित् व्याकरणं कुर्म एव । शुक्रगुणोपवर्णने हेतुमाह—बीजं
यस्मादित्यादि । यस्माद् बीजभूतं गर्भस्य शुक्रं तस्माद् वक्ष्यामि । व्यवायेषु हर्षयोनिः
तस्मादुत्थितं पौरुषमिति पुरुषचिह्नम् । शुक्रेऽपि हि पुरुष उच्यते । मैथुनं न च गच्छत इति

चिन्ताशोकादविस्त्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ।

भयात् क्रोधादतीसाराद् व्याधिभिः कर्षितस्य च ॥

वेगाघातात् क्षताच्चापि धातूनां संप्रदूषणात् ।

दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः ।

शुक्रं सन्दूषयन्त्याशु तद् वक्ष्यामि विभागतः ॥ ५७ ॥

फेनिलं तनु रुक्षञ्च विवर्णं पूति पिच्छिलम् ।

अन्यधातूपसंस्त्रष्टमवसादि तथाष्टमम् ॥ ५८ ॥

फेनिलं तनु रुक्षञ्च कृच्छ्रेणाल्पञ्च मारुतात् ।

भवत्युपहतं शुक्रं न तद् गर्भाय कल्पते ॥

सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि वा ।

दहल्लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् ॥

श्लेष्मणा रुद्धमागन्तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम् ॥

गच्छतः पुंसः, नारीणां रसबलाभावात् सरणात् गमनात् । जरया हेतुना ।
अविस्त्रम्भात् प्रकाशस्थानात् । पृथग्दोषाः रेतोवहाः सिराः प्राप्य शुक्रं
सन्दूषयन्ति ॥ ५७ ॥

गङ्गाधरः—फेनिलमित्यादि । रुक्षमिति यच्छुष्कमुक्तं तत् । विवर्ण-
मित्यश्वेतमुक्तं यत् तत् ॥ ५८ ॥

गङ्गाधरः—तेषु दोषनियममाह—फेनिलमित्यादि । कृच्छ्रेणाल्पमव-
सादि नाम, चलाय्यतानि वाताद् भवन्ति । वातोपहतं तत्तच्छुक्रं न गर्भाय
कल्पते । सनीलमित्यादि । सनीलमथवा पीतमित्येवं विवर्णं यच्छुक्रं
विनिर्याति अत्युष्णं पूतिगन्धि वा यच्छुक्रं लिङ्गं दहद् विनिर्याति
तत् पित्तेन दूषितं शुक्रं भवति । श्लेष्मणेत्यादिना पिच्छिलस्य लक्षणम् ।

उचितमैथुनकाले । मैथुनागमनं शुक्रवेगप्रतीघातादेव दर्शयति—अविस्त्रम्भादिति अविश्वासात् ।
वक्ष्यामीति इष्टं शुक्रं वक्ष्यामि ॥ ५३—५७ ॥

स्त्रीणामत्यर्थगमनादभिघातात् क्षतादपि ।

शुक्रं प्रवर्तते जन्तोः प्रायेण रुधिरान्वयम् ॥

वेगसन्धारणाच्छुक्रं वायुना विहते पथि ।

कृच्छ्रेण याति ग्रथितमवसादि तथाष्टमम् ॥

इति दोषाः समाख्याताः शुक्रस्याष्टौ सलक्षणाः ॥ ५६ ॥

स्निग्धं घनं पिच्छिलञ्च मधुरञ्चाविदाहि च ।

रेतः शुद्धं विजानीयात् शुद्धस्फटिकसन्निभम् ॥ ६० ॥

वाजीकरणयोगैस्तेरुपयोगैः सुखर्हितम् ।

रक्तपित्तहरैर्योगैर्योनिव्यापदिकैस्तथा ।

दुष्टं भवेद् यदा शुक्रं तदा तत् समुपाचरेत् ॥ ६१ ॥

घृतं यज्जीवनीयोक्तं च्यवनप्राश एव च ।

गिरिजस्य प्रयोगश्च रेतोदोषान् व्यपोहति ॥

वातान्विते हिताः शुक्रे निरुहाः सानुवासनाः ॥

स्त्रीणामित्यादिनाऽन्यधातूपसंसृष्टलक्षणम् । कृच्छ्रेणाल्पञ्च मारुतादिति यदुक्तं तदाह—वेगेत्यादि । विष्मूत्रशुक्रादिवेगसन्धारणात् कुपितेन वायुना शुक्र-सरणपथे विहते सति शुक्रं ग्रथितं भवत् कृच्छ्रेण निर्याति तदवसादि शुक्रमष्टमित्यष्टौ शुक्रस्य दोषाः सलक्षणाः समाख्याताः ॥ ५९ ॥

गङ्गाधरः—शुद्धन्तु शुक्रमाह—शुद्धन्तु शुक्रं स्निग्धं घनमीपत् पिच्छिलमत्यर्थ-पिच्छिलस्य दोषतयोक्तेः, अपिच्छिलस्य शुष्कत्वेनोक्तेः । शुद्धस्फटिकसन्निभन्तु स्वाभाविकवर्णमिति ॥ ६० ॥

गङ्गाधरः—एषां चिकित्सितमाह—वाजीत्यादि । यदा शुक्रमष्टविध-दोषेण दुष्टं भवेत्, तदा तच्छुक्रं वाजीकरणादिप्रयोगैरुपाचरेत् ॥ ६१ ॥

गङ्गाधरः—घृतमित्यादि । जीवनीयनाम्नोक्तं घृतम्, गिरिजस्य शिला-जतुनः । वातान्वित इत्यादि । वातान्विते फेनिलतनुरूक्षावसादिशुक्रे

चक्रपाणिः—रुधिरान्वयमिति रुधिरयुक्तम् । शुक्राभिधानप्रसङ्गात् विशुद्धशुक्रलक्षणमाह—स्निग्धमित्यादि ॥ ५८—६१ ॥

ब्राह्मणमामलकीयश्च पैत्ते शस्तं विरेचनम् ।
 मागध्यमृतलौहानां त्रिफलाया रसायनम् ॥
 कफोद्भवं शुक्रदोषं हन्याद् भल्लातकस्य च ।
 अन्यधातूपसंसृष्टं शुक्रं वीक्ष्य भिषक् क्रियाम् ॥
 यथादोषं प्रयुञ्जीत दोषधातुभिषग्जितम् ।
 सर्पिःपयोरसाः शालि-यवगोधूमषष्टिकाः ॥
 प्रशस्ताः शुक्रदोषेषु वस्तिकर्म विशेषतः ।
 इत्यष्टशुक्रदोषाणां मुनिनोक्तं चिकित्सितम् ॥ ६२ ॥
 रेतोदोषोद्भवं क्लैव्यं यस्माच्छुद्धैव सिध्यति ।
 अतो वक्ष्यामि ते सम्यगग्निवेश यथायथम् ॥
 बीजध्वजोपघाताभ्यां जरया शुक्रसंचयात् ।
 क्लैव्यं सम्पद्यते तस्य शृणु सामान्यलक्षणम् ॥ ६३ ॥

ब्राह्मणं रसायनमुक्तम्, अभयामलकीयश्च रसायनम् । पैत्ते शुके विवर्ण
 पूतिगन्धिनि विरेचनं शस्तम् । मागधीत्यादि । मागध्याः पिप्पल्या रसायनं
 पिप्पलीवर्द्धमानम् अमृतलौहममृतसारलौहं तन्त्रान्तरोक्तं त्रिफलारसायनञ्च ।
 कफेत्यादि । भल्लातकस्य रसायनमुक्तं कफोद्भवमत्यर्थपिच्छिलं हन्यात् ।
 अन्येत्यादि । अन्यधातूपसंसृष्टं वातादिदुष्टं भवति तत्र वातादिलक्षणं शुक्रं
 वीक्ष्य यथादोषं स्निग्धोष्णस्निग्धशीतरूक्षोष्णादिकां क्रियां प्रयुञ्जीत, यथादोषं
 यथाधातु भिषग्जितञ्च योज्यम् । सर्पिरित्यादि । रसा मांसानाम् ॥ ६२ ॥

गङ्गाधरः—इति शुक्रदोषलिङ्गादिकमुक्त्वा क्लैव्यानाह—रेतोदोषेत्यादि ।
 यस्माद्रेतोदोषोद्भवं क्लैव्यं शुद्ध्या विरेचनादिनैव शुध्यति, अतो यथायथं क्लैव्यं
 ते वक्ष्यामि । बीजेत्यादि । बीजोपघातादष्टविधशुक्रदोषाद् एकं क्लैव्यम्,
 ध्वजोपघातात् शिश्रोपघाताद् द्वितीयम्, तृतीयं जरया वार्द्धक्येन, शुक्रक्षया-
 चतुर्थम्, तस्य चतुर्विधक्लैव्यस्य सामान्यलक्षणं शृणु ॥ ६३ ॥

चक्रपाणिः—मागध्यमृतेत्यादौ मागधी पिप्पली । अमृतलौहममृतसारलौहम् । भल्लातक-

सङ्कल्पप्रवणो नित्यं प्रियां वश्यामपि स्त्रियम् ।
 न याति लिङ्गशैथिल्यात् कदाचिद् याति वा यदि ॥
 श्वासार्तः खिन्नगात्रश्च मोघसङ्कल्पचेष्टितः ।
 म्लानशिशुश्च निर्वीर्यः स्यादेतत् क्लैव्यलक्षणम् ॥
 सामान्यलक्षणं हेतुतद् विस्तरेण प्रवक्ष्यते ॥ ६४ ॥
 शीतरूक्षाल्पसंक्लिष्ट-विषमासात्म्यभोजनात् ।
 शोकचिन्ताभयत्रासात् स्त्रीणाञ्चातिनिषेवणात् ॥
 अभिचाराद्विस्रम्भाद् रसादोनाञ्च संचयात् ।
 वातादीनाञ्च वैषम्याद् विरुद्धाध्यशनात् श्रमात् ॥
 नारीणामरसज्ञत्वात् पञ्चकर्मपचारतः ।
 बीजोपघाताद् भवति पाण्डुवर्णः सुदुर्बलः ॥

गङ्गाधरः—सङ्कल्पेत्यादि । सङ्कल्पः सततं मेथुनविषयेऽप्या मनसः कम्म
 प्रबलं यस्य । तादृशोऽपि चामनोज्ञामप्रियावश्यां स्त्रियं नरो न याति । तत्र
 स्त्रियमपि प्रियां वश्यां मनोज्ञां लिङ्गशैथिल्यात् न याति, यदि कदाचिद्
 याति तदा व्यवायश्रमात् श्वासार्तः खिन्नगात्रश्च सन् मोघसङ्कल्पचेष्टितः
 स्यादेतः सेकाभावेन सङ्कल्पचेष्टितश्च मोघो व्यर्थः स्यादिति म्लानशिशुश्च सन्
 निर्वीर्यः निःशक्तिः स्यादेतत् क्लैव्यस्य सामान्यलक्षणं भाषितम्, विस्तरेण
 प्रत्येकेन पुनः शृणु लक्षणमिह वक्ष्यते ॥ ६४ ॥

गङ्गाधरः—शीतेत्यादि । शीतरूक्षाणामल्पसंक्लिष्टानां विषमाणामसात्म्या-
 नाञ्च भोजनात् । अविस्त्रम्भः प्रकाशभावः, रहस्ये हि हर्षोद्गमो भवति ।
 विरुद्धाशनादध्यशनात् पूर्व्वदिनाहाराजोर्णे भोजनादिति । श्रमादतिश्रमादिति ।
 बीजोपघातादेतेभ्यो हेतुभ्यो बीजस्य शुक्रस्योपघातात् क्लैव्यं भवति तत्र पाण्ड-

स्येति रसायनमिति अनुवर्तते । शुद्धैवेति एतैः शुद्धैः । सङ्कल्पेत्यादौ लिङ्गशैथिल्यादिति
 लिङ्गापगमात् । मोघे सङ्कल्पचेष्टिते यस्य सः । तथा वायोः क्षयात् बीजक्षयानुपपत्तेः,

अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च प्रमदासु भवेन्नरः ।
 हृत्पाण्डुकामलारोग-तमकश्रमपीडितः ॥
 छद्ग्रतोसारशूलार्तः कासज्वरनिपीडितः ।
 बीजोपघातजं क्लैव्यं ध्वजभङ्गकृतं शृणु ॥ ६५ ॥
 अत्यम्ललवणक्षार-विरुद्धासात्म्यभोजनात् ।
 अत्यम्बुपानाद् विषमात् पिष्टान्नगुरुभोजनात् ॥
 दधिक्षीरानूपमांस-सेवनाद् व्याधिकर्षणात् ।
 कन्यानां गमनाच्चापि अयोनिगमनादपि ॥
 दीर्घरोम्णीं * चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम् ।
 दुर्गन्धां दुष्टयोनिश्च तथैव च परिस्नुताम् ॥
 ईदृशीं प्रमदां मोहाद् यो गच्छेत् कामहर्षितः ।
 चतुष्पदाभिगमनाच्छेफसश्चाभिघाततः ॥
 अधावनाद् वा मेदस्य शस्त्रदन्तनखक्षतात् ।
 काष्ठप्रहारनिष्पेषात् शूकानाञ्चातिसेवनात् ।
 रेतसश्च प्रतोघाताद् ध्वजभङ्गः प्रवर्तते ॥ ६६ ॥

वर्णादिः पुरुषः स्यात्, प्रमदासु गमनेऽल्पप्राणोऽल्पहर्षः हृद्रोगादिपीडितः
 छद्ग्रत्याद्यार्तः कासादिपीडितश्च भवतीति बीजोपघातजं क्लैव्यमुक्तम् । अथ ध्वज-
 भङ्गकृतं क्लैव्यं शृणु ॥ ६५ ॥

गङ्गाधरः—अत्यम्लेत्यादि । विषमात् । पिष्टान्नादिभोजनात् । कन्यानामिति
 बालिकानां क्षुद्रयोनिमुखानाम् । अयोनिः पायवादिः । दीर्घाधोलोम्नीम् ।
 चिरोत्सृष्टां बहुकालत्यक्तमैथुनां दुर्गन्धयोनिं दोषदुष्टयोनिं परिस्नुतयोनिम् ।
 चतुष्पदः पशुः । शेफसोऽभिघातो हस्तादिभिः । अधावनादधौतात् । मेदस्य
 शस्त्रादिभिः क्षतात् । दन्तक्षतं काममत्ताभिरनुरागात् मेद्रे सम्भवति । काष्ठस्य
 वातादीनाञ्च संक्षयादित्यत्र प्राकृतवातादिक्षयेणैव शूकानुत्पादो ज्ञेयः । शूकानाञ्चातिसेवनादिति
 अतिबृद्धपथं कृतप्रयोगात् ॥ ६२—६६ ॥

* दीर्घरोमामिति पाठान्तरम् ।

श्वयथुर्वेदना मेदू-रागश्चैवोपजायते ।

स्फोटास्तीव्राश्च जायन्ते लिङ्गपाको भवत्यपि ॥

मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्रं भवन्त्यपि ।

पुलाकोदकसङ्काशः श्यावः श्यावारुणस्तथा ॥

वलयीकुरुते चापि कठिनश्च परिग्रहः ।

ज्वरस्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा छर्दिश्चाप्युपजायते ॥

रक्तं कृष्णं स्रवेच्चापि नीलमाविललोहितम् ।

अग्निनेव च दग्धस्य तीव्रो दाहः प्रवर्तते ॥

वस्तौ वृषणयोर्वापि सेवन्यां वङ्क्षणेष्ु च ।

कदाचित् पिच्छिलो वापि पाण्डुः स्यावश्च जायते ॥

प्रहारनिष्पेषणाभ्याम्, शुक्रस्य जलशुक्रस्य शिश्रुवृद्धिकामेनातिसेवनात् ।
रेतसः शुक्रस्य प्रवर्तमानस्य प्रतिघातात् ध्वजभङ्ग उपदंशो नाम
रोगः प्रवर्तते । सुश्रुते ह्युपदंश एवायं नाम्ना रोग उक्तः । तद्यथा—
“तत्रातिमैथुनाद् ब्रह्मचर्याद् वा तथा ब्रह्मचारिणीं चिरोत्सृष्टां रजस्वलां
दीर्घरोमां कर्कशरोमां सङ्कीर्णरोमां निगूढरोमामल्पद्वारां महाद्वारामप्रिया-
मकामामचौक्षसलिलप्रक्षालितयोनिमक्षालितयोनिं योनिरोगोपसृष्टां स्वभावतो
वा दुष्टयोनिं वियोनिं वा नारीमत्यर्थमुपसेवमानस्य तथा करजदशनविष-
शुक्रनिपातनादहनाद् हस्ताभिघाताच्चतुष्पदीगमनादचौक्षसलिलप्रक्षालनादब-
पीडनात् शुक्रमूत्रवेगविधारणामैथुनान्ते वाप्यप्रक्षालनादिभिर्मेदूभागस्य
प्रकुपिता दोषाः क्षतेऽक्षते वा श्वयथुमुपजनयन्ति तमुपदंशमित्याचक्षते”
इति ॥ ६६ ॥

गङ्गाधरः—अथ ध्वजभङ्गप्रवृत्तौ यथा स्यात् तदाह—श्वयथुरित्यादि । श्वयथुः
क्षतेऽक्षते वा मेदू श्वयथुर्वेदना मेदूरागश्च जायते । तीव्राः स्फोटा लिङ्गपाकश्च
भवति । पुलाकोदकसङ्काशस्तुच्छधान्यजलवच्छ्राववर्णाऽथवा श्यावारुणवर्णः
परिग्रहः स्फीतदेशः शिशने वलयीकुरुते कठिनश्च भवति । ज्वरादिश्वोपजायते ।
पक्वः शोफो रक्तादिवर्णं स्यात् स्रवेत् । अग्निना दग्धस्याङ्गस्य यथा तीव्रो
दाहस्तथा वस्त्यादिषु तीव्रो दाहः प्रवर्तते । कदाचित् पिच्छिलः पाण्डश्च

श्वयथुर्जायते मन्दः स्तिमितोऽल्पपरिस्त्रवः ।
 चिरादुपैति वा पाकं शीघ्रं वाथ प्रमुच्यते ॥
 जायन्ते क्रिमयश्चापि क्लियते पूतिगन्धि च ।
 विशीर्यते मणिश्चास्य मेढ्रं मुष्कमथापि वा ॥
 ध्वजभङ्गकृतं क्लैव्यमित्येतत् समुदाहृतम् ।
 एतं पञ्चविधं केचित् ध्वजभङ्गं प्रचक्षते ॥ ६७ ॥
 क्लव्यं जरासम्भवं हि प्रवक्ष्याम्यथ तच्छृणु ।
 जघन्यमध्यप्रवरं वयस्त्रिविधमुच्यते ॥

स्त्रवः स्यात् । कदाचिच्च श्वयथुर्मन्दः स्यात् स्तिमितश्चाल्पपरिस्त्रवश्च स्यात् ।
 चिराद् वाप्यचिराद् वा पाकमुपैति अथ प्रमुच्यते चिकित्सयारोग्यमापद्यते ।
 उपेक्षया तु क्रिमयो जायन्ते, क्लियते च मेढ्रं पूतिगन्धि च स्यादथास्य पुंसो
 मेढ्रस्य मणिरग्रदेशो यो विकशति स च विशीर्यते मेढ्रं सर्वं विशीर्यते
 मुष्कं वा यदा विशीर्यते तदायं ध्वजभङ्गो यस्तत्कृतं क्लैव्यं सुतरां भवति
 मेढ्रमणिसर्वाङ्गमेढ्रमुष्काभावादिति । एतमित्यादि । एतं ध्वजभङ्गमुपदंशं
 केचित् पञ्चविधं प्रचक्षते । भिन्नाधिकारादिह नोक्तमेतेनानुमतमेव । तदुक्तं
 सुश्रुते । “स पञ्चविधस्त्रिभिर्दोषैः पृथक् समस्तेरसृजा चैकः । तत्र वातिके
 पारुष्यं त्वक्परिपुटनं स्तब्धमेद्रता परुषशोफता विविधाश्च वातवेदनाः ।
 पैत्तिके ज्वरः श्वयथुः पकोटुम्बरसङ्काशस्तीव्रदाहः क्षिप्रपाकः पित्तवेदनश्च ।
 श्लैष्मिके श्वयथुः कण्डूमान् कठिनः स्निग्धः श्लेष्मवेदनश्च । सर्व्वजे सर्व्वलिङ्ग-
 दर्शनमवदरणं शोफसः क्रिमिप्रादुर्भावो मरणश्च । रक्तजे कृष्णस्फोटप्रादुर्भावो-
 ऽत्यर्थमसृक्प्रवृत्तिः पित्तलिङ्गान्यत्यर्थं ज्वरदाहौ शोषश्च याप्यश्चैव कदा-
 चित् ।” इति ॥ ६७ ॥

गङ्गाधरः—ध्वजभङ्गकृतक्लव्यमुक्तत्वा जराजक्लैव्यमाह—क्लव्यमित्यादि ।
 जरासम्भवं हि क्लैव्यं प्रवक्ष्यामि तत् शृणु । प्राणिनां वयस्त्रिविधं जघन्यमध्य-

चक्रपाणिः—तत्र श्वयथुर्वेदना मेढ्रे इति वातेन, स्फोटाश्चेति पित्तन, मांसादिषुद्धिरिति कफेन,
 ज्वरस्तृष्णेत्यादि रक्तेन, अग्निनेवेति सन्निपातेन । एतत् पञ्चविधं केचित् ध्वजभङ्गं वदन्ति । तथोक्तं
 वातपित्तकफरक्तसन्निपातभेदेन पञ्चविधत्वमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

अथ प्रवयसां शुक्रं प्रायशः क्षीयते नृणाम् ।
 रसादीनां संक्षयाच्च तथैवावृष्यसेवनात् ॥
 बलवीर्येन्द्रियाणाञ्च क्रमेणैव परिक्षयात् ।
 परिक्षीणादायुषश्चाप्यनाहाराच्छ्रमात् क्लृप्तात् ॥
 जरासम्भवजं क्लैव्यमित्येतैर्हेतुभिर्नृणाम् ।
 जायते तेन स क्षिप्रं क्षीणधातुः सुदुर्बलः ॥
 विवर्णो दुर्बलो दीनः स क्षिप्रं व्याधिमृच्छति ।
 एतज् जरासम्भवं हि चतुर्थं क्षयजं शृणु ॥ ६८ ॥
 अतीवचिन्तनाच्चैव शोकात् क्रोधाद् भयात् तथा ।
 ईर्ष्योत्कण्ठामदोद्वेगान् सदा विशति यो नरः ॥
 कृशो वा सेवते रूक्षमन्नपानं तथौषधम् ।
 दुर्बलप्रकृतिश्चैवाप्यनाहारो भवेद् यदि ॥

प्रवरमिति । तत्र जघन्ये बाल्ये षोडशाब्दपर्यन्तमनुद्भूतशुक्रः पुमान् । मध्ये षष्टिवर्षपर्यन्तमुद्भूतशुक्रः । ततोऽनन्तरं यथा स्यात् तदाह । अथेत्यादि । प्रवयसां वार्द्धक्यारम्भावधिक्रमेण शुक्रं नृणां क्षीयते स्वयमेवावस्थास्वभावात् । प्रायशःपदेन बाजीकरणसेविनां व्यवच्छेदः । तदाह रसादीनां संक्षयादिति तदवस्थास्वभावात् । अवृष्यसेवनाच्च । क्रमेण बलादीनां परिक्षयात् । आयुषश्च परिक्षीणात् । कालस्वभावादाहाराल्पत्वादित्यात् । श्रमात् । क्लृप्तात् । जरासम्भवं क्लैव्यमेतैर्हेतुभिर्जायते इति । क्लैव्ये जाते स पुमान् तेन क्लैव्येन क्षीणधात्वादिति क्षिप्रं स्यात् । क्षिप्रञ्च व्याधिमृच्छतीति जरासम्भवं क्लैव्यमुक्तम् । क्षयजं चतुर्थं क्लैव्यं शृणु ॥ ६८ ॥

गङ्गाधरः—अतीवेत्यादि । अतीवचिन्तनादिभ्यो हेतुभ्यो यदा मानव ईर्ष्योत्कण्ठादीन् विशति, अथवा कृशो नरो रूक्षान्नपानौषधं सेवते, अथवा

चक्रपाणिः—वृष्यादिसेविनां न क्षीयते शुक्रमिति दर्शयति । प्रवयसां शुक्रक्षये हेतुमाह—रसादीनामित्यादि । एते च रसक्षयादयो हेतवः बाधकस्वभावादेव भवन्ति । जघन्येत्यादौ प्रायशः क्षीयते इति वचनात् प्रवयसामपि शुद्धसाराणाम् ॥ ६८ ॥

असात्म्यभोजनो यो हि हृदये यो व्यवस्थितः ।

रसः प्रधानधातुर्हि क्षीयेताशु ततो नृणाम् ॥

रक्तादयश्च क्षीयन्ते क्षीयन्ते देहिनस्ततः ।

शुक्रावसानास्तैभ्योऽपि शुक्रं धाम परं मतम् ॥

चेतसो वातिहर्षेण व्यवायं सेवतैऽति यः ।

तस्याशु क्षीयते शुक्रं ततः प्राप्नोति संचयम् ॥

घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा समृच्छति ।

शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता ।

एतन्निदानलिङ्गाभ्यामुक्तं क्लैव्यं चतुर्विधम् ॥ ६६ ॥

केचित् क्लैव्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे ।

वदन्ति शेषसंश्लेदाद् वृषणोत्पाटनेन च ॥

दुर्बलप्रकृतिः पुमान् यद्यनाहारो भवेत्, योऽसात्म्यभोजनः, तस्य तस्य यः प्रधानधातुर्हृदये व्यवस्थितो रसः स क्षीयेत । ततो रक्तादयश्च शुक्रावसानाः शुक्रान्ताः पङ्क्तावः क्षीयन्ते ततो नरश्चाशु क्षीयेतेति । तैभ्यो रसादिभ्यः परं धाम शुक्रं मतम् । अनुलोमक्षयमुक्त्वा प्रतिलोमक्षयमाह—चेतसो वेत्यादि । अथवा चेतसोऽतिहर्षेण व्यवायं योऽतिसेवते, तस्य शुक्रमाशु क्षीयते स पुमांस्ततः शुक्रक्षयात् संक्षयमाप्नोति, घोरं व्याधिं मरणं वा समृच्छति । ततः क्षयजं क्लैव्यं सुतरां भवतीति । तस्माद् विशेषेण शुक्रमारोग्यमिच्छता रक्षयमिति । उपसंहरति एतदित्यादि । एतन्निदानलिङ्गाभ्यां चतुर्विधं क्लैव्यमुक्तं भवति ॥ ६९ ॥

गङ्गाधरः—केचिदित्यादि । केचिन्मुनयः क्लैव्ये द्वे ध्वजभङ्गोद्भवं क्षयोद्भवञ्चेति द्वे असाध्ये वदन्ति । मेढ्राभावान्नितरामसाध्यं ध्वजभङ्गकृतं क्लैव्यमिति । प्रसङ्गादागन्तुकल्ययमाह । शेषसंश्लेदात् क्लैवं स्याद् वृषणोत्पाटनात्

चक्रपाणिः—केचिदित्यादौ ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे रक्षयमाणविशेषभङ्गक्षयोद्भवे । भेदमुद-

मातापित्रोर्वीजदोषादशुभैश्चाकृतात्मनः ।

गर्भस्थस्य यदा दोषाः प्राप्य रेतोवहाः सिराः ।

शोषयन्त्याशु तन्नाशाद् रेतश्चाप्युपहन्यते ॥

तत्र सम्पूर्णसर्वाङ्गः स भवत्यपुमान् पुमान् ।

एते त्वसाध्या व्याख्याताः सन्निपातसमुच्छ्रयात् ॥ ७० ॥

चिकित्सितमतश्चोद्धृत् समासव्यासतः शृणु ॥

शुक्रदोषेषु निर्दिष्टं भेषजं यन्मयानघ ।

क्लैव्योपशान्तये कुर्यात् क्षीणक्षयहितञ्च यत् ॥

वस्तयः क्षीरसर्पिश्च वृष्ययोगाश्च ये मताः ।

रसायनप्रयोगाश्च सर्वानेतान् प्रयोजयेत् ।

समीक्ष्य देहदोषान्निबलं भेषजकालवित् ॥ ७१ ॥

व्यवायहेतुजं क्लैव्यं यच्च धातुविपर्ययात् ।

दैवव्यपाश्रयं तत्र भेषजं संप्रयोजयेत् ॥

क्लैव्यं स्यात् । कर्मजमाह—मातेत्यादि । मातापित्रोर्वीजदोषाद् अकृत-
सुकृतकर्मार्त्मानोऽशुभैः पूर्वकर्मभिर्गर्भस्थस्य जीवस्य गर्भारम्भका दोषा
यदा रेतोवहाः सिराः प्राप्य शोषयन्ति, तदा तत्सिरानाशाद्रेतश्चाप्युपहन्यते ।
तत्र स पुमान् सर्वसम्पूर्णाङ्गः सन्नपुमान् पुंस्त्वहीन एव भवति । एते सर्वे
क्लीवा असाध्याः सन्निपातसमुच्छ्रयात् । इति क्लैव्यमुक्तम् ॥ ७० ॥

गङ्गाधरः—चिकित्सितमित्यादि । चिकित्सितमत ऊद्धृतस्य शृणु ।
शुक्रदोषेत्यादि । पूर्वं यच्छुक्रदोषेषु । क्षीणक्षतयोर्यद्विदितम् । वृष्ययोगा
वाजीकरणे ॥ ७१ ॥

गङ्गाधरः—व्यवायेत्यादि । व्यवायहेतुजं क्षयजं क्लैव्यम् ।

भावयति वृषणोत्पादनेनेत्यन्तेन । मातापितृरित्यादिनोच्यते । स पुमान् स्त्रीपुरुषव्यापार-
करणासमर्थत्वात् अपुमान् भवति । व्यवायहेतुजमिति पदं बीजदोषोत्पन्नसहजव्युदासार्थम् ।

समासेनैतदुद्दिष्टं भेषजं क्लैव्यशान्तये ।
विस्तरेण प्रवक्ष्यामि क्लैव्यानां भेषजं पुनः ॥ ७२ ॥
सुस्निग्धस्विन्नगात्रस्य स्नेहयुक्तं विरेचनम् ।
अन्नाशनं ततः कुर्यादथवास्थापनं पुनः ॥
प्रदद्यान्मतिमान् वैद्यस्ततस्तमनुवासयेत् ।
पलाशैरण्डमुस्ताद्यैः पश्चादास्थापयेत् ततः ॥
वाजीकरणयोगाश्च पूर्वं ये समुदाहृताः ।
भिषजा ते प्रयोज्याः स्युः क्लैव्ये बीजोपघातजे ॥ ७३ ॥
ध्वजभङ्गकृतं क्लैव्यं ज्ञात्वा तस्याचरेत् क्रियाम् ।
प्रदेहान् परिषेकांश्च कुर्याद् वा रक्तमोक्षणम् ॥
स्नेहपानञ्च कुर्वीत सस्नेहञ्च विरेचनम् ।
व्रणवच्च क्रियाः सर्वास्ततः कुर्याद् विचक्षणः ॥ ७४ ॥
जरासम्भवजे क्लैव्ये क्षयजे चापि कारयेत् ।
स्नेहस्वेदोपपन्नस्य सस्नेहं शोधनं हितम् ॥

सुस्निग्धेत्यादि । स्नेहयुक्तं विरेचनं कुर्यादित्यन्वयः । ततोऽन्नाशनं कुर्यादथवा-
स्थापनं दद्यात् ततस्तमनुवासयेत् । अनुवासनानन्तरं पुनः पलाशादिभि-
रास्थापयेत् । ततो वाजीकरणयोगा वाजीकरणोक्ताः ॥ ७२ । ७३ ॥

गङ्गाधरः—बीजोपघातजक्लैव्यचिकित्सितमुत्तवा ध्वजभङ्गकृतस्य चिकित्सा-
माह—ध्वजेत्यादि । ध्वजभङ्गे प्राग् ध्वजविनाशात् क्लैव्यं ज्ञात्वा
तस्य क्रियामाचरेत् । ध्वजविनाशे त्वसाध्यत्वात् । प्रदेहादिकां क्रियां व्रण-
शोधनरोपणादिकाम् ॥ ७४ ॥

गङ्गाधरः—अथ जरासम्भवक्लैव्यचिकित्सामाह—जरेत्यादि । सस्नेहं

हेतुविपर्ययादिति दोषवैषम्यात् । दैवव्यपाश्रयैश्चेत्यादिना अभिचारादिजक्लैव्यचिकित्सां व्रूते ।
अभिचारादिजक्लैव्यं दैवव्यपाश्रयचिकित्साभिधानादेव स्वीकर्तव्यम् ॥ ६९—७२ ॥

चक्रपाणिः—पलाशैरण्डमुस्ताद्यै रिति । तत्र एरण्डपत्तादि एरण्डमूललिफलादिग्रन्थे

क्षीरसर्पिर्वृष्ययोगा वस्तयश्चैव यापनाः ।

रसायनप्रयोगाश्च तयोर्भेषजमुच्यते ।

विस्तरेणैतदुद्दिष्टं क्लेशानां भेषजं परम् ॥ ७५ ॥

क्लेशव्यचिकित्सा ।

यः पूर्वमुक्तः प्रदरः शृणु हेत्वादिभिः पृथक् ।

यात्यर्थं सेवते नारी लवणाम्लगुरुणि च ॥

कटून्यथ विदाहीनि स्निग्धानि पिशितानि च ।

ग्राम्यौदकानि मेघ्यानि कृशरां पायसं दधि ॥

शुक्तमत्स्यसुरादीनि भजन्त्याः कुपितोऽनिलः ।

रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः ॥

रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः ।

तस्माद् विवर्द्धयत्याशु रसभावाद् विमानता ॥

शोधनं न तु रुक्षम् । क्षीरेत्यादि । क्षीरादुत्थितं सर्पिः क्षीरसर्पिर्नवनीतम्, यापना वस्तयो वक्ष्यन्ते सिद्धिषु । तयोरिति जरासम्भवक्लेशव्यक्षयज-क्लेशव्ययोः ॥ ७५ ॥

गङ्गाधरः—इति क्लेशव्यचिकित्सितमुक्त्वा प्रदरप्रश्नोत्तरमाह—यः पूर्व-मित्यादि । यात्यर्थमित्यादि । या नारी लवणादीन्यत्यर्थं सेवते तानि भजन्त्यास्तस्या नादर्याः कुपितोऽनिलः प्रमाणं स्वपरिमाणस्थं रक्तमार्त्तव-मुत्क्रम्य उद्गतं कृत्वा गर्भाशयगता रजोवहाः सिराः समाश्रित्य तद्रजोरक्त-मादाय विवर्द्धयत्याशु तस्माद्रसभावाद् विमानता भवति, स्वमानाद् विवृद्धमानता वक्ष्यमाणा मुक्तादयः सिद्धौ वक्ष्यमाणाः । वस्तिद्वयेऽप्यल बहुवचनं व्यक्तिसंज्ञावापेक्षया ज्ञेयम् ॥ ७३—७५ ॥

चक्रपाणिः—यः पूर्वमुक्तः प्रदर इत्यादौ उपद्रवरूपतया पूर्वमुक्तः प्रदर इति वदन्ति । किन्तु रक्तयोनिकित्सिते असृग्दरसंज्ञैव रक्तयोनिसामान्याच्च निर्दिष्टदोषभेदेन च तत्रैव रक्तयोनिरसृग्दररूपा व्याकृता, तेनेह पुनः असृग्दरलक्षणाभिधानं पूर्ववटीकाकृतामपि समानम् । ये येत्यादिग्रन्थं पठन्ति ते तस्यैवायं प्रभेदः प्रपञ्चो वा क्रियत इति वर्णयन्ति । वयन्तु मूरिपुस्तकेषु

तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत् तन्त्रविशारदाः ॥

रजः प्रदीर्यते यस्मात् प्रदरस्तैन कथ्यते ॥ ७६ ॥

सामान्यतः समुद्दिष्टं कारणं लिङ्गमेव च ॥

चतुर्विधं व्यासतस्तु वातादयः सन्निपाततः ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि हेत्वाकृतिभिषग्जितम् ॥ ७७ ॥

रुन्नादिभिर्मारुतस्तु रक्तमादाय पूर्ववत् ।

कुपितः प्रदरं कुर्यात् लक्षणं तस्य मे शृणु ॥ ७८ ॥

तनु फेनिलरुक्षश्च श्यावमारुणमेव च ।

किंशुकोदकसङ्काशं सरुजं वाथ नीरुजम् ॥

कटीवङ्क्षणहृत्पार्श्व-पृष्ठश्रोणिषु मारुतः ।

वेदनां कुरुते तीव्रामेतद् वातात्मकं विदुः ॥ ७९ ॥

अम्लोष्णलवणचारैः पित्तं प्रकुपितं यदा ।

पूर्ववत् प्रदरं कुर्यात् पैत्तिकं लिङ्गतः शृणु ॥ ८० ॥

भवति । तस्मादेतदायुर्वेदतन्त्रविशारदा असृग्दरं प्राहुः । यस्माद्रजो रक्तं प्रदीर्यते तेन प्रदरश्च कथ्यते ॥ ७६ ॥

गङ्गाधरः—सामान्यत इत्यादि । व्यासतस्तु चतुर्विधं पृथग्वातादयः सन्निपाततश्च । तेषां हेत्वादिक्रमतः परं प्रवक्ष्यामि । तद् यथा—रुक्षेत्यादि । आदिना वायोः प्रकोपणानि ज्ञेयानि ॥ ७७ । ७८ ॥

गङ्गाधरः—तन्वित्यादि । तन्वादिख्यमार्त्तवं मारुतः कुरुते । कट्यादिषु तीव्रां वेदनाश्च कुरुते ॥ ७९ ॥

गङ्गाधरः—अम्लोष्णेत्यादि । पूर्ववत्—रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्येत्यादुक्त-रूपम् ॥ ८० ॥

पाठदर्शनादस्य व्याख्यानं कुर्मः । गर्भाशयगता इति गर्भाशयसम्बद्धाः । असृग्दरशब्द-व्युत्पत्तिमाह—कुपितोऽनिल इति । रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य इति रक्तं प्रमाणाधिकं कृत्वा रक्तमादाय तर्जो यस्माद् विवर्द्धयति वृद्धेन रक्तेन योजयित्वा रजो विवर्द्धयति यस्मात्, तस्माद् अ.सृजो मेलरूपत्वाद् अयं व्याधिरसृग्दर इत्युच्यते । प्रदीर्यते इति दिक्सारश्रुति

सनीलमथवा कृष्णमत्युष्णं पीतकं तथा ।

नितान्तरक्तं स्रवति मुहुर्महुरथार्त्तिमत् ॥

रागदाहतृषामोह-ज्वरभ्रमसमायुतम् ।

असृग्दरं पित्तिकं तत् श्लष्मिकन्तु प्रबध्यते ॥ ८१ ॥

गुर्वादिभिर्हेतुभिश्च पूर्ववत् कुपितः कफः ।

प्रदरं कुरुते तस्य लक्षणं तत्त्वतः शृणु ॥ ८२ ॥

पिच्छिलं पाण्डुरवर्णं गुरु स्निग्धं शीतलम् ।

स्रवत्यसृक् श्लेष्मलश्च तथा मन्दरुजाकरम् ॥

छर्द्दारोचकहृल्लास-श्वासकाससमायुतम् ।

त्रिलिङ्गसंयुतं विद्यान्नैकावस्थमसृग्दरम् ॥ ८३ । ८४ ॥

नारी त्वतिपरिक्लिष्टा यदा प्रक्षीणशोणिता ।

सर्वहेतुसमाचारादतिवृद्धस्तदानिलः ॥

रक्तमार्गेण सृजति प्रत्यनीकबलं कफम् ।

दुर्गन्धं पिच्छिलं शीतं विदग्धः पित्ततेजसा ॥

गङ्गाधरः—सनीलमित्यादि । नितान्तं निरन्तरम् ॥ ८१ ॥

गङ्गाधरः—गुर्वादिभिरित्यादि आदिना शेषकारणानि द्रवादीनि । अत्रापि पूर्ववदिति रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्येत्यादुक्तम् । पिच्छिलमित्यादिना लिङ्गम् । श्लेष्मलं श्लेष्मयुक्तमात्तवम् । त्रिलिङ्गेत्यादि । नैकावस्थं नानारूपतयावतिष्ठते ॥ ८२—८४ ॥

गङ्गाधरः—नारीत्यादिना तस्य लक्षणम् । सर्वहेतूनां वातादीनां सर्वेषां हेतूनां समाचाराद् अतिवृद्धोऽनिलः प्रत्यनीकबलं बलहानिकरं कफं रक्तमार्गेण सृजति । कफं पुनर्दुर्गन्धादिरूपम् । पित्ततेजसा विदग्धः

असृक् प्रदीर्यते अस्मिन्निति असृग्दर इत्येषा निरुक्तिरप्यत्र बोद्धव्या । नैकावस्थमिति जानीवस्थम् ॥ ७६—८४ ॥

वसामेदश्च यावद्धि तमुपादाय वेगवान् ।
 सृजत्यार्त्तवमार्गेण सर्पिर्मज्जवसोपमम् ॥
 शश्वत् स्रवत्यथास्त्रावं तृष्णादाहज्वरान्वितम् ।
 क्षीणरक्तां दुर्बलाश्च तामसाध्यां विवर्जयेत् ॥ ८५ ॥
 मासान्निषिच्छदाहार्त्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च ।
 नैवातिबहुलात्यल्पमार्त्तवं शुद्धमादिशेत् ॥
 गुञ्जाफलसवर्णश्च यद् वालक्तकसन्निभम् ।
 इन्द्रगोपकसङ्काशमार्त्तवं शुद्धमादिशेत् ॥ ८६ ॥
 वाताढ्यानाश्च योनीनां यदुक्तमिह भेषजम् ।
 चतुर्णां प्रदराणांश्च तत् सर्वं कारयेद् भिषक् ॥
 रक्तातिसारिणां यच्च तथा लोहितपित्तिनाम् ।
 रक्तार्शसाश्च यत् प्रोक्तं भेषजं तच्च कारयेत् ॥ ८७ ॥

प्रदरचिकित्सा ।

स वेगवाननिलः यावद् वसा मेदश्च तावत् तमुपादाय सर्पिर्मज्जवसोपमम्
 आर्त्तवमार्गेण रक्तक्षरणपथेन सृजति । अथास्त्रावं शश्वत् स्रवति तृपाद्यन्वितमिति
 सन्निपातप्रदरलक्षणम् । तस्यासाध्यतामाह—क्षीणेत्यादि । क्षीणरक्तां क्षीणार्त्तवां
 दुर्बलाश्च तां सन्निपातप्रदरवर्ती नारीमसाध्यां विवर्जयेत् ॥ ८५ ॥

गङ्गाधरः—शुद्धार्त्तवलक्षणमाह—मासादित्यादि । यदात्तं मासात्
 प्रवर्त्तते निषिच्छदाहार्त्ति पिच्छदाहार्त्तिभ्यो निर्गतं पञ्चरात्रमनुवन्नाति
 प्रकाशरूपेणाल्पशः, नैवातिबहुलं नात्यल्पं तदार्त्तं शुद्धमादिशेत् ।
 लक्षणान्तरश्च गुञ्जेत्यादि । इन्द्रगोपकः कीटविशेषो रक्तवर्णः ॥ ८६ ॥

गङ्गाधरः—अथ प्रदरभेषजमाह—वाताढ्यानामित्यादि । योनिव्यापत्सु
 वातदूषितयोनीनां यदुक्तमिहाध्याये भेषजं तच्चतुर्णामेव प्रदराणां सर्वं
 कारयेत् । रक्तातिसारिणामित्यादि । स्पष्टम् । इति प्रदरचिकित्सित-
 मुक्तम् ॥ ८७ ॥

चक्रपाणिः—प्रसङ्गालक्षणमाह—नारीत्यादि । पञ्चरात्रमनुबन्धीति पञ्चरात्रमनुबन्धातीति

धात्रीस्तनस्तन्यसम्पदुक्ता विस्तरतः पुरा ।
 स्तन्यसञ्जननञ्च स्तन्यस्य च विशोधनम् ॥
 वातादिदुष्टलिङ्गञ्च क्षीणस्य च चिकित्सितम् ।
 तत् सर्वमुक्तं ये त्वष्टौ क्षीरदोषाः प्रकीर्त्तताः ॥
 वातादिष्वेव तान् विद्याच्छास्त्रचक्षुर्भिषग्वरः ।
 त्रिविधास्तु यतः शिष्यास्ततो वक्ष्यामि विस्तरम् ॥ ८८ ॥
 अजीर्णासात्म्यविषम-विरुद्धात्यर्थभोजनात् ।
 लवणाम्लकटुक्षार-प्रक्लिन्नानाञ्च सेवनात् ॥
 मनःशरीरसन्तापादस्वप्नान्निशि चिन्तनात् ।
 प्रातवेगप्रतोघातादप्राप्तोदीरणेन च ॥
 परमान्नं गुडघृतं मत्स्यञ्च कृशरां दधि ।
 अभिष्यन्दीनि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च ॥

गङ्गाधरः—अथ स्तन्यदोषचिकित्सितमाह—धात्रीत्यादि । पुरा जाति-
 सूत्रीये । ये त्वष्टौ क्षीरदोषाः प्रकीर्त्तिता अष्टोदरीये अष्टौ क्षीरदोषा इत्युद्देशं कृत्वा
 पुनर्निर्देशः कृतः । अष्टौ क्षीरदोषा इति वैवर्ण्यं वैगन्ध्यं वैरस्यं पैच्छिल्यं फेन-
 सङ्घातो रौक्ष्यं गौरवमतिस्नेहश्चेति तानष्टौ दोषान् वातादिष्वेव दोषेषु शास्त्र-
 चक्षुर्भिषग्वरो विद्यात् । मध्यमोऽवरश्च भिषक् तथा वेदितुं न शक्नोति ।
 शिष्या हि त्रिविधास्ततो मध्यमावरशिष्यप्रबोधनार्थं वातादिदोषक्रमेण विस्तरं
 वक्ष्यामि ॥ ८८ ॥

गङ्गाधरः—तद्यथा—अजीर्णेत्यादि । निशि अस्वप्नात् । अप्राप्तवेगानां

पञ्चरात्रानुबन्धी । द्वादशरात्रकालस्य किं न निर्देशः ? द्वादशरात्रपर्यन्तं गर्भाशयस्थसार्त्तवस्य
 प्रवृत्तिरिति ज्ञेयम् । गुप्ताफलसवर्णमित्यादिना वर्णभेदश्चात्तवे प्रकृतिभेदादेव भवति ॥ ८५—८७ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति प्रदरचिकित्सामभिधाय स्त्रीरोगाभिधानप्रसङ्गाद् अपरमपि स्त्रीरोगं
 स्तन्यदोषमभिधायसुराह—धात्रीस्तनस्तन्येत्यादि । त्रिविधास्तु यतो शिष्या ततो वक्ष्यामीति
 त्रिविधभेदेषु शिष्येषु मन्दबुद्धिशिष्याणां सुखप्रतिपत्त्यर्थम् ॥ ८८ ॥

भुक्त्वा भुक्त्वा दिवास्वप्नात् मद्यस्याति च सेवनात् ।

अभिचारादनायासाद् व्याधिभिः कर्षणेन च ॥

दोषाः क्षीराश्रयाः प्राप्य सिराः स्तन्यं प्रदूष्य च ।

कुय्युरष्टविधं भूयो दोषतस्तन्निबोध मे ॥ ८६ ॥

वैरस्यं फेनसङ्घातो रौक्ष्यञ्चेत्यनिलात्मके ।

पित्ताद् वैवर्ण्यदौर्गन्ध्यं स्नेहपैच्छिल्यगौरवम् ॥

कफाद् भवति रौक्ष्यादैरनिलः स्वैः प्रकोपणैः ।

क्रुद्धः क्षीराश्रयः प्राप्य रसं स्तन्यं प्रदूषयेत् ॥

विरसं वातसंसृष्टं कृशो भवति तत् पिबन् ।

न चास्य स्वदते क्षीरं कृच्छ्रेण च विवर्द्धते ॥

तथैव वायुः कुपितः स्तन्यमन्तर्विलोडयन् ।

करोति फेनसङ्घातं ततः कृच्छ्रात् प्रवर्द्धते ॥

तेन क्षामस्वरो बालो बद्धविण्मूत्रमारुतः ।

वातिकं शीर्षरोगं वा पीनसं वा स गच्छति ॥

पूर्ववत् कुपितः स्तन्ये स्नेहं शोषयतेऽनिलः ।

रूक्षं तत् पिबतो रौक्ष्याद् बलहासश्च जायते ॥ ९० ॥

उदीरणेन प्रेरणेन । कृशरा तिलकल्कः । परमान्नादीनि भुक्त्वा भुक्त्वा दिवा-
स्वप्नात् । दोषा वातादयः क्षीराश्रयाः स्तन्यवहाः सिराः प्राप्य स्तन्यं प्रदूष्य
चाष्टविधं दोषं वैवर्ण्यादिकं कुय्युरस्तद् भूयो दोषतो वातादितो निबोध ॥ ८९

गङ्गाधरः—वैरस्यमित्यादि । अनिलात्मके वातदूषिते स्तन्ये वैरस्यादि-
त्रयं भवति । पित्तात् स्तन्ये वैवर्ण्यं दौर्गन्ध्यञ्च द्वे भवतः । कफात् स्तन्ये
स्नेहादित्रयं भवति । तद् यथा स्यात् तदाह—रौक्ष्याद्यैरित्यादि । तत् पिबन्
शिशुः कृशो भवति । न चास्य शिशोः क्षीरं स्वदते कृच्छ्रेण शरीरमस्य
विवर्द्धते । तथवेत्यादिना फेनसङ्घातसम्प्राप्तिः । ततस्तत्पानात् शिशुः
कृच्छ्रेण विवर्द्धते इत्यादि । पूर्ववदित्यादिना रौक्ष्यसम्प्राप्तिः । स्वैः

पित्तमुष्णादिभिः क्रुद्धं स्तन्याश्रयमभिप्लुतम् ।
 करोति स्तन्यवैवर्ण्यं नीलपोतासितादिकम् ॥
 विवर्णगात्रः स्त्रियः स्यात् तृष्णालुर्भिन्नविट् शिशुः ।
 नित्यमुष्णशरीरश्च नाभिनन्दति तं स्तनम् ॥
 पूर्ववत् कुपितैः पित्ते दौर्गन्ध्यं क्षीरमृच्छति ।
 पाण्ड्यामयस्तत् पिबतः कामला वा भवेच्छिशोः ॥ ६१ ॥
 क्रुद्धो गुर्व्यादिभिः श्लेष्मा क्षीराश्रयगतः स्त्रियाः ।
 स्नेहान्वितं वा तत् क्षीरमतिस्निग्धं करोति सः ॥
 छर्दनः क्लेशनस्तैन लालालुर्जायते शिशुः ।
 नित्योपदिग्धैः स्रोतोभिर्निद्राक्रमसमन्वितः ।
 श्वासकासपरीतश्च प्रसेकतमकान्वितः ॥
 अभिभूय कफः स्तन्यं पिच्छिलं कुरुते यदा ।
 लालालुः शूनवक्त्राक्षो जडः स्यात् तत् पिबन् शिशुः ॥

प्रकोपणैः क्रुद्धोऽनिलः क्षीराश्रयः सन् स्तन्ये स्नेहं शोषयते, ततो रूक्षं स्तन्यं
 स्यात्, तत् पिबतो बालस्य बलहासश्च जायते । इति त्रयः स्तन्यदोषा
 वातजाः ॥ ९० ॥

गङ्गाधरः—पित्तजौ द्वावाह—पित्तमित्यादि । उष्णादिभिः स्वैः प्रकोपणैः
 क्रुद्धं पित्तं स्तन्याश्रयं वर्णमभिप्लुतं कुर्वन् स्तन्यवैवर्ण्यं करोति नीलादि
 रूपम् । तत् पिबन् शिशुर्विवर्णगात्र इत्यादिः स्यात् । पूर्ववदित्यादि ।
 पूर्ववदुष्णादिभिः स्वैः प्रकोपणैः क्रुद्धे पित्ते क्षीरमृच्छति सति स्तन्ये दौर्गन्ध्यं
 स्यात् । तत् पिबतः शिशोः पाण्ड्यामयः कामला वा स्यात् ॥ ९१ ॥

गङ्गाधरः—इति पित्तदोषौ द्वावुक्त्वा कफदोषांस्त्रीनाह—क्रुद्ध इत्यादि ।
 गुर्व्यादिभिः स्वैः प्रकोपणैः क्रुद्धः श्लेष्मा स्त्रियाः क्षीराश्रयस्तनगतः सन्
 तत् क्षीरं स्नेहान्वितमतिस्निग्धं वा करोति । तत् पिबन् शिशुश्छर्दन इत्यादिः
 स्यात् । अभिभूयेत्यादि । स्वैः प्रकोपणैः क्रुद्धः कफः स्तन्यमभियभू

कफः क्षीराशयगतो गुरुत्वात् क्षीरगौरवम् ।

कुर्यात् स्नेहान्वितं पीतं तद्भावात् कफरोगवान् ।

अन्यांश्च विविधान् रोगान् कुर्यात् क्षीरसमाश्रितान् ॥ ६२ ॥

क्षीरे वातादिभिर्दुष्टे सम्भवन्ति यदात्मकाः ।

तत्रादौ क्षीरशुद्ध्यर्थं धात्रौ स्नेहोपपादिताम् ।

संस्वेद्य विधिवद् वैद्यो वमनेनोपपादयेत् ॥ ६३ ॥

वचाप्रियङ्गुयष्ट्याह-कफवत्सकसर्षपैः ।

कल्कैर्निम्बपटोलानां काथैः सलवणैर्वमेत् ॥

सम्यग्त्वान्तां यथान्यायं कृतसंसर्ज्जनां ततः ।

दोषकालबलापेक्षी स्नेहयित्वा विरेचयेत् ॥

त्रिवृतामभयां वापि त्रिफलारससंयुताम् ।

पाययेन्मधुसंयुक्तां विरेकाथं भिषग्वरः ॥

पिच्छिलं कुरुते । तत् पिबन् शिशुर्लालुर्लुप्त्यादिः स्यात् । कफ इत्यादि ।
गुर्वादिभिः क्रुद्धः कफः क्षीराशयस्तनगतः सन् गुरुत्वात् क्षीरस्य गौरवं
कुर्यात् । स्नेहान्वितं तत् गुरु क्षीरं पीतं शिशुना तद्गुरुभावात् तस्य
शिशोः कफरोगा जायन्ते ये तज्जानन्यांश्च विविधान् क्षीरसमाश्रितान् रोगान्
कुर्यात् ॥ ९२ ॥

गङ्गाधरः—इत्यष्टौ वातादिभेदेन दोषानुत्त्वेषां चिकित्सामाह—क्षीर
इत्यादि । यदात्मका ववर्ण्यादियद्यद्रूपा दोषाः सम्भवन्ति । तत्रादौ
क्षीरशुद्ध्यर्थं स्नेहोपपादितां धात्रौ संस्वेद्य वमनेनोपपादयेत् ॥ ९३ ॥

गङ्गाधरः—वचेत्यादि । स्निग्धा स्निग्धा सा धात्री वचादिकल्केयुक्तैः
निम्बादिकाथैः सलवणैर्वमेत्, तत्र वचादिषु कफः श्लेष्मातकः । सम्यग्-
त्वान्तां यथान्यायं कृतसंसर्ज्जनां कृतपेयादिक्रमाहारां पुनः स्नेहयित्वा
दोषाद्यपेक्षी वंध्यो विरेचयेत् । विरेचनयोगमाह—त्रिवृतामित्यादि । त्रिवृतां

सम्यग् विरिक्तां मतिमान् कृतसंसज्जनां पुनः ।

ततो दोषावशेषघ्नैरन्नपानरुपाचरेत् ॥ ६४ ॥

शालयः षष्टिका वापि श्यामाका भोजने हिताः ।

प्रियङ्गवः कोरदूषा यवा वेणुयवास्तथा ॥

वंशवेत्रकलायाश्च शाकार्थे स्नेहसंस्कृताः ।

मुद्गान् मसूरान् यूषार्थे कुलत्थांश्च प्रकल्पयेत् ॥ ६५ ॥

निम्बवेत्राग्रकुलक-वार्त्ताकामलकैः शृतान् ।

सव्योषसैन्धवान् यूषान् दापयेत् स्तन्यशोधनान् ॥

शशान् कपिञ्जलानेणान् संस्कृतांश्च प्रदापयेत् ॥

शाङ्गैष्टासप्तपणत्वक्-वस्तगन्धाशृतं जलम् ।

दापयेत् स्तन्यशुद्ध्यर्थमथवा रोहिणीशृतम् ॥ ६६ ॥

त्रिफलारससंयुतां मधुसंयुक्तां पाययेद्, अथवा अभयां त्रिफलारससंयुतां मधुसंयुक्तां पाययेत् । विरिक्तां कृतसंसज्जनां तां धात्रीं पुनस्ततो दोष-शेषघ्नैरन्नपानरुपाचरेत् ॥ ९४ ॥

गङ्गाधरः—अन्नार्थमाह—शालय इत्यादि । प्रियङ्गवो धान्यविशेषाः । वंश-दयोऽपि शाकार्थे स्नेहसंस्कृताः, वंशो वंशकरीरः, वेत्रं वेत्राग्रम्, यूषाथ मुद्गादीन् कल्पयेत् ॥ ९५ ॥

गङ्गाधरः—यूषसंस्कारमाह—निम्बेत्यादि । कुलकं पटोलपत्रम् । निम्बा-दिभिः कथितः कल्कैर्वा शृतान् सव्योषसैन्धवान् यूषान् दापयेत् । शशानित्यादि । शशादींश्च संस्कृतान् रसान् कृत्वा प्रदापयेत् । पानार्थमाह । शाङ्गैष्टेत्यादि । शाङ्गैष्टा काकजङ्घा । वस्तगन्धा अजमोदा । रोहिणी कटरोहिणी ॥ ९६ ॥

अमृतासप्तपर्णत्वक्-काथञ्चैव सनागरम् ।

किराततित्तककाथं श्लोकपादेरितान् पिबेत् ॥

त्रीनेतान् स्तन्यशुद्धार्थमिति सामान्यभेषजम् ।

कीर्तितं स्तन्यदोषाणां पृथगन्यन्निबोध मे ॥ ६७ ॥

पाययेद् द्विरसक्षीरा द्राक्षामधुकसारिवाः ।

श्लक्ष्णपिष्टां पयस्याश्च समालोड्य सुखाम्बुना ।

स्तन्यसंशोधनार्थन्तु धात्रोन्तु पाययेद् भिषक् ॥ ६८ ॥

पञ्चकोलकुलत्थैश्च पिष्टैरालेपयेत् स्तनौ ।

शुष्कौ प्रक्षाल्य निर्दुह्यात् तथा स्तन्यं विशुध्यति ॥ ६९ ॥

फेनसङ्घातवत् क्षीरं यस्यास्तां पाययेत् स्त्रियम् ।

पाठानागरशार्ङ्गेष्टा-मूर्वाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना ॥

अञ्जनं नागरं दारु-विल्वमूलप्रियङ्गवः ।

स्तनयोः पूर्ववत् कार्यं लेपनं क्षीरशोधनम् ॥

गङ्गाधरः—अमृतेत्यादि । श्लोकस्यास्य पादत्रयेण त्रीन् योगान् पिबेत् । अमृता सप्तपर्णत्वक् कल्कीकृत्य जलेन पेया । इत्येकः । सनागरं तयोः काथञ्च पिबेदिति द्वितीयः । किराततित्तकाथं पिबेदिति तृतीयः ॥ ९७ ॥

गङ्गाधरः—इति सामान्यभेषजं स्तन्यदोषस्य पृथगन्यत् शृणु । पाययेदित्यादि । द्विरसक्षीरा द्विगुणजलक्षीरा द्राक्षामधुकसारिवाः पक्त्वा शेषं क्षीरं पाययेत् । द्विगुणजलक्षीरमष्टांशद्राक्षादिकल्कं पक्त्वा पाययेत् । श्लक्ष्णेत्यादि । पयस्यां क्षीरकाकोलीं श्लक्ष्णपिष्टां सुखाम्बुना समालोड्य पाययेत् ॥ ९८ ॥

गङ्गाधरः—पञ्चेत्यादि । पञ्चकोलकुलत्थैः पिष्टैर्जलेनालिप्य स्तनौ शुष्कौ पुनः प्रक्षाल्य निर्दुह्यान्निःशेषेण दुग्धं गालयेदिति ॥ ९९ ॥

गङ्गाधरः—फेनेत्यादि । यस्याः स्त्रियाः फेनसङ्घातवत् क्षीरं तां पाठादिकान् पिष्ट्वा सुखाम्बुना पाययेत् । शार्ङ्गष्टा काकजङ्घा । अञ्जनमित्यादि । अञ्जनं रसाञ्जनं प्रियङ्गवो धान्यविशेषाः । पूर्ववत् स्तनौ लिप्त्वा शुष्कौ निर्दुह्यात् ।

चक्रपाणिः—काथञ्चैव सनागरम् इत्येतन् नागरकृत एव काथो ज्ञेयः ॥ ८९—९९ ॥

किराततित्तकं शुण्ठी सामृता काथयेद् भिषक् ।

तं काथं पाययेद् धात्रीं स्तन्यदोषनिवर्हणम् ॥

स्तनौ चालेपयेत् पिष्टैर्यवगोधूमसर्षपैः ।

षड्विरेकाश्रितोक्तैरौषधैः स्तन्यशोधनैः ॥ १०० ॥

रूक्षक्षीरा पिबेत् क्षीरं तैर्वा सिद्धं घृतं पिबेत् ।

पूर्व्ववज्जीवकाद्यश्च पञ्चमूलश्च लेपनम् ॥

श्लक्ष्णं पिष्ट्वा जलेनैव लेपनं भिषजा स्त्रियाः ।

स्तनयोः संविधातव्यं सुखोष्णं स्तन्यशोधनम् ॥ १०१ ॥

यष्टीमधुकमृद्वीका-पयस्यासिन्धुवारिका ।

शीताम्बुना पिबेत् कल्कं क्षीरवैवर्ण्यनाशनम् ॥

द्राक्षामधुककल्केन स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ।

प्रक्षाल्य वारिणा चैव निर्दुह्यात् तौ पुनःपुनः ॥ १०२ ॥

विषाणिकाजशृङ्गौ च त्रिफलां रजनीं वचाम् ।

पिबेत् क्षीराम्बुना पिष्ट्वा क्षीरदौर्गन्धनाशनम् ॥

किरातेत्यादि । किराततित्तकादीनां काथं कृत्वा तं पाययेत् । स्तनावित्यादि ।

यवादिभिश्च पिष्टैः स्तनावालेपयेदित्येको योगः । षड्विरेकेत्यादि । षड्विरेकशताश्रितोक्तैः स्तन्यविशोधनेदेशभिः ॥ १०० ॥

गङ्गाधरः—रूक्षेत्यादि । शृतं क्षीरं रूक्षक्षीरा स्त्री पिबेत् । तैः सिद्धं घृतं वा पिबेत् । पूर्व्ववाद्यादि । जीवकाद्यं दशकं पञ्चमूलश्च बृहत् पूर्व्ववदालेपनं

सुखोष्णं स्तनयोः कृत्वा शुष्कीभावे प्रक्षाल्य निर्दाहनं विधातव्यमिति ॥ १०१ ॥

गङ्गाधरः—यष्टीत्यादि । पयस्या क्षीरकाकोली, सिन्धुवारिका निर्गुण्डी ।

एषां कल्कं शीताम्बुना पिबेत् । द्राक्षेत्यादि । अस्या विवर्णक्षीराया धात्र्याः

द्राक्षाकल्केन स्तनौ लिप्त्वा शुष्को वारिणा प्रक्षाल्य निर्दुह्यादेवं पुनः-

पुनः ॥ १०२ ॥

गङ्गाधरः—विषाणिकेत्यादि । विषाणिकादिकं क्षीराम्बुना मिलितेन

पिष्ट्वा पिबेत् । अजशृङ्गी द्विधा विषाणी चाजशृङ्गी च तस्माद् भागद्वयम् ।

लिह्याद् वाप्यभयाचूण सव्योषं माक्षिकप्लुतम् ।

क्षीरदुर्गन्धनाशार्थं धात्री पथ्याशिनो तथा ॥

सारिवोक्षीरमज्जिष्ठा-श्लेष्मातैर्वा सचन्दनैः ।

पत्राम्बुचन्दनोक्षोरैः स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ॥ १०३ ॥

स्निग्धक्षीरा दारु मुस्तं पाठां पिष्ट्वा सुखाम्बुना ।

पीत्वा ससन्धवं क्षिप्रं क्षीरशुद्धिमवाप्नुयात् ॥ १०४ ॥

पाययेत् पिच्छिलक्षीरां शार्ङ्गेष्टामभयां वचाम् ।

मुस्तनागरपाठाश्च पीताः स्तन्यविशोधनाः ॥

तक्रारिष्टं पिबेच्चापि श्रृंशं यन्निदर्शितम् ।

विदारीबिल्वमधुकैः स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ॥ १०५ ॥

त्रायमाणाभृतानिम्ब-पटोलत्रिफलाशृतम् ।

गुरुक्षीरा पिबेदेतत् स्तन्यदोषविशुद्धये ।

पिबेद् वा पिप्पलीमूल-चव्यचित्रकनागरम् ॥

बलानागरशार्ङ्गेष्टा-मूवर्वाभलेपयेत् स्तनौ ।

पृश्निपर्णीपयस्याभ्यां स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ॥ १०६ ॥

लिह्याद् वेत्यादि । स्पष्टार्थम् । सारिवेत्यादि । अस्या दुर्गन्धक्षीरायाः स्तनौ सचन्दनैः सारिवादिभिः प्रलेपयेत् । अथवा सचन्दनैः पत्रादिभिर्वा स्तनौ प्रलेपयेत् ॥ १०३ ॥

गङ्गाधरः—स्निग्धेत्यादि । ससैन्धवं दान्वादिक् सुखाम्बुना पिष्ट्वा पीत्वा स्निग्धक्षीरा नारी क्षीरशुद्धिमवाप्नुयात् ॥ १०४ ॥

गङ्गाधरः—पाययेदित्यादि । शार्ङ्गेष्टा काकजङ्घा, शार्ङ्गेष्टामभयां वा वचां वा पाययेत् । मुस्तादिकाः पीताः । तक्रारिष्टं वाप्यशीनिर्दिष्टं पिबेत् पिच्छिलक्षीरा नारी । विदारीप्रभृतिभिः पिष्टैरस्याः पिच्छिलक्षीरायाः स्तनौ प्रलेपयेत् ॥ १०५ ॥

गङ्गाधरः—त्रायमाणेत्यादि । गुरुक्षीरा नारी त्रायमाणादिशृतं काथं पिबेत् । पिबेद् वेत्यादि । पिप्पलीमूलादि नागरान्तं कथितं पिबेद् वा ।

अष्टावेतै क्षीरदोषा हेतुलक्षणभेषजैः ।

निर्दिष्टाः क्षीरदोषोत्थास्तत्रोक्ताः केचिदामयाः ॥ १०७ ॥

दोषदूष्या मलाश्चैव महतां ये तथामयाः ।

त एव सर्वे बालानां मात्रा त्वल्पतरा मता ॥

निवृत्तिर्वमनादीनां मृदुत्वं परतन्त्रता ।

वाक्चेष्टयोश्च सामर्थ्यं वीक्ष्य बालेषु शास्त्रवित् ॥

भेषजं चाल्पमात्रन्तु यथाव्याधि प्रयोजयेत् ।

मधुराणि कषायाणि क्षीरवन्ति मृदूनि च ॥ १०८ ॥

बलादिभिः स्तनौ लेपयत् । पृश्निपर्णीत्यादि । पृश्निपर्ण्यादिभ्यां द्वाभ्यामस्याः गुरुक्षीरायाः स्तनौ प्रलेपयेदिति ॥ १०६ ॥

गङ्गाधरः—अष्टावित्यादिना क्षीरदोषहेतुत्वादुपसंहारः । प्रसङ्गाद् बालस्य चिकित्सामाह—निर्दिष्टा इत्यादि । तत्र क्षीरदोषोत्था ये केचिदामया निर्दिष्टास्तथा महतां युववृद्धानां ये दोषदूष्या आमयाश्च निर्दिष्टास्त एव सर्वे रोगा ते च योगा बालानां विधीयन्ते तत्र मात्रा त्वल्पतरा मता । यथावयो बालकानां मात्रा विधेया । निवृत्तिरित्यादि । तत्र वमनादीनां संशोधनानां बालेषु निवृत्तिः, कस्मात् ? यतो मृदुत्वं परतन्त्रता च बालानामिति । वागित्यादि । वाक्चेष्टयोः सामर्थ्यं वीक्ष्य बालेषु यथाव्याधि भेषजमल्पमात्रं प्रयोजयेत् । मधुराणि कषायाणि क्षीरवन्ति मृदूनि च प्रयोजयेत् ॥ १०७ । १०८ ॥

चक्रपाणिः—पूर्ववत् जीवकाद्यमित्यल जीवकाद्यं जीवनीयम् । एवं दृष्टक्षीरे उत्पन्न-वातविकाराणां रूपं दर्शयित्वा यथाकर्तव्यं भेषजमाह । दोषा वातादयः । दूष्याणि रक्तादीनि । मलाः सूत्रस्वेदादयः । एते दोषादयो महतामिव बालानामपि भवन्ति । किन्तु तेषां दोषादीनां मला तु अल्पतरा इति विशेषः । तेन दोषादिमालापेक्षया भेषजमालाप्यल्पा भवतीति भावः । निवृत्तिर्वमनादीनामित्यादि । द्विविधा बाला भवन्ति स्वतन्त्रवृत्तयः परतन्त्रवृत्तयश्च । तच्च परतन्त्रवतां बालानां वमनादीनां निवृत्तिः कर्तव्या, वाक्चेष्टयोश्च बालकस्य सामर्थ्यं वीक्ष्य स्वतन्त्राणां वमनादीनां मृदुत्वं शास्त्रविद् वैद्यः प्रयोजयेत् । तथा संशमनमपि भेषजम् अल्पमात्रं यथाव्याधि प्रयोजयेत् । किंवा बालेषु मृदुतां परतन्त्रताञ्च वीक्ष्य वमनादीनां निवृत्तिर्विधातव्या । वाक्चेष्टयोश्च बालेषु सामर्थ्यं वीक्ष्य संशमनं भेषजमल्पमात्रं यथाव्याधि

अत्यर्थस्निग्धरुक्षोष्णामृत्तं कटु विपाकि च ।

गुरु चौषधपानान्नमेतद् बालेषु गहितम् ॥ १०६ ॥

समासात् सर्वरोगाणामेतद् बालेषु भेषजम् ।

निर्दिष्टं शास्त्रविदु वैद्यः प्रविभज्य प्रयोजयेत् ॥ ११० ॥

स्तन्यदोषवालरोगौ ।

भवन्ति चात्र ।

इति सर्वविकाराणामुक्तमेतच्चिकित्सितम् ।

स्थानमेतद्धि तन्त्रस्य रहस्यं परमुच्यते ॥

अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च ।

नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते ॥

तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढबलोऽकरोत् ।

तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम् ॥ १११ । ११२ ॥

गङ्गाधरः—वज्ज्याह—अत्यथत्यादि । अत्यथस्निग्धादिकं बालेषु गहितम् । समासादित्यादि । स्पष्टम् ॥ १०९—११२ ॥ स्तन्यदोषवालरोगौ ।

गङ्गाधरः—उपसंहरति—भवन्ति चात्रेत्यादि । इतीत्यादि । इत्येतच्चिकित्सितं स्थानं सर्वविकाराणामुक्तम् । एतस्य तन्त्रस्य पुनरेतत् परं रहस्यमुच्यते । किं रहस्यमित्यत आह—अस्मिन्नित्यादि । अस्मिन्चिकित्सितस्थाने शेषाः सप्तदशाध्यायाः कल्पा द्वादशाध्यायाः सिद्धयश्च द्वादशाध्याया नासाद्यन्ते चरकप्रति-संस्कृतेऽग्निवेशतन्त्रेऽधुना न प्राप्यन्ते, केवलाग्निवेशतन्त्रे तु प्राप्यन्ते । तान् अग्नि-वेशतन्त्रोक्तान् एतान् अध्यायान् चिकित्सितस्थाने सप्तदशाध्यायान् शेषान् कापिल-बलिः कपिलबलस्यापत्यं दृढबलोऽकरोत् प्रतिसंस्कृतानकरोत् ॥ १११ । ११२ ॥ प्रयोजयेदिति योजनीयम् । मधुराणीत्यादिना बालेषु कर्तव्यं भेषजमाह । अत्यर्थमित्यादि । बालेषु निषिद्धभेषजमाह । शास्त्रविद् वैद्यः प्रविभज्य निर्दिष्टं प्रयोजयेदिति ॥ १००—११० ॥

चक्रप्राणिः—सर्वविकाराणां चिकित्सास्थानोक्तम् उपसंगृह्णाति । सर्वविकाराणामिति वचनेन अनुक्तानामपि विकाराणामेतत् चिकित्सावोजसूत्रमिति दर्शयति । रहस्यपदेन न कस्मैचित् पापिष्टाय प्रकाशनीयमिति द्योतयति । सप्रति दृढबलः स्वकीयस्थानविषयं दर्शयन्नाह—अस्मिन्नित्यादि । सप्तदशाध्याया इति चिकित्सास्थाने सप्तदशाध्यायान्ते यस्मच्चिकित्सितान्तान् अध्यायान् तथा अतीसारावसर्गद्विषयीयमदामयोक्तान् परिशिष्टसंस्कारस्य दृष्ट्वा अतिशय-
तन्त्रस्यास्येत्यादि ॥ १११ । ११२ ॥

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा बहुत्वान्नामरूपतः ।

तैषामप्येतदेव स्याद् दोषादोन् वीक्ष्य भेषजम् ॥

दोषदूष्यनिदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम् ।

उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग् युक्तं नियच्छति ॥

देशकालप्रमाणानां सात्म्यासात्म्यस्य चैव हि ।

सम्यग्योगोऽन्यथा हेतुषां पथ्यमप्यन्यथा भवेत् ॥ ११३ ॥

गङ्गाधरः—अनुक्तानां भेषजमाह—रोगा इत्यादि । तेषां रोगाणां दोषादिविपरीतं हितं द्रव्यं सम्यग्युक्तमुक्तानुक्तान् नियच्छति । तथा देशादीनां सात्म्यासात्म्यस्य च सम्यग्योगोऽप्युक्तानुक्तान् विकारान् नियच्छति । अन्यथा सम्यग्युक्तं पथ्यमप्यन्यथाऽपथ्यं भवेत् ॥ ११३ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति उक्तानुक्तरोगचिकित्सातिदेशार्थमाह—रोगा येऽप्यत्रेत्यादि । तच्चिकित्सा-स्थानाक्तं भेषजं तदेव हि भेषजं नामरूपादना विशेषेणानुक्तानां सामान्यतश्च वातादिजन्यतया दोषानपेक्ष्य तथायुक्तं सत् भेषजं भवतीत्यर्थः । दोषादीनिति दोषदूष्यनिदानानि अग्रे वक्ष्यमाणानि, किंवा दोषभेषजदेशवारुशरीरसत्त्वप्रकृतिव्याप्तिं सूत्रस्थानोक्तानि । अथ कथमेतद् भेषजम् अनुक्तानां गदानां भेषजं भवतीत्याह—दोषदूष्येत्यादि । दोषा वातादयः, दूष्याणि रक्तादीनि, निदानानि रूक्षादीनि, एषां विपरीतं भेषजं हितमिति । ततः सम्यग्युक्तं सत् उक्तानुक्तगदान् ध्रुवं नियच्छति । उक्तानि नामरूपादीनि, अनुक्तानि नामरूपादिविशेषेण अनुक्ता ये तानि । एतेन यदैव दोषादिविपरीततया प्रतिपादितं भेषजं तदेव अनुक्तानां गदानां दोषादिसमत्वं बुद्ध्वा भेषजं योज्यमिति ज्ञेयम् । यद्यपि च निदानविपरीतं भेषजं तद्दोषविपरीतेनैव ग्रहीतुं पार्यते, यतो निदानेषु दोषप्रकोपः क्रियते, तस्य च दोषाद् विपरीतं यत् यथारूक्षनिदानवृद्धे वायौ रूक्षस्य विपरीता स्नेहाः स निदानविपरीत एव, तथापि दोषस्यैव विपरीत्येन भेषजप्रयोगोप-दशानार्थं निदानविपरीतोपादानमिह यथायथं संयोजनीयम् । अथ दोषादिविपरीतं सम्यग्योगेन यद् गदान् नियच्छतीत्युक्तं ततो येन सम्यग्योगेन कालगृहीतपक्षसम्यग्योगेनैव कृतम् । तमेव सम्यग्योगमाह—देशकालेत्यादि । येषान्तु देशाद्यपेक्षया योगानामुदाहरणानि आचार्यैर्नैव दत्तानि आस्यादामाशयस्थानित्यादिना त्विदोषश्च बहुपीत्यन्तेन । तत्रेह देशः आतुरस्यैवोक्तः भूमिः । इदानीं तद्दोषादिभिस्तत्तल्लक्ष्यैः पक्षकालो दशाविधः । प्रमाणमौषधस्य त्रिविधम् अल्पं बहु समञ्च । समञ्च द्विविधं देशशरीरयोः । असात्म्यं उक्तसात्म्यविपरीतम् । सम्यग्योगो यथावत् प्रयोगः । विपर्यये दोषमाह । अन्यथा हेतुषां पथ्यमपि अन्यथा भवेत् । एषां दोषादीनां.....भेषजं दोषादिविपरीतमपि अन्यथेति अपथ्यं भवति । यानि चापराणि बलसत्त्वादीनि दशविधदोषाद्यन्तर-गतानि नेहोक्तानि तानि दोषादिवन्तर्भवनीयानि ॥ ११३ ॥

आस्यादामाशयस्थांश्च रोगान् नस्तः शिरोगतान् ।
 गुदात् पक्वाशयस्थांश्च हन्त्याशु द्रवमौषधम् ॥
 शरीरावयवोत्थेषु विसर्पपिड्कादिषु ।
 यथादोषं * प्रदेहादि श्मनं स्याद् विशेषतः ॥ ११४ ॥
 दिनातुरौषधव्याधि-जोर्णालिङ्गत्वंवेक्षणम् ।
 कालं विद्याद् दिनावेक्षं पूर्वाह्णे वमनं यथा ॥
 रोग्यवेक्षा यथा प्रातर्निरन्नो बलवान् पिबेत् ।
 भेषजं लघुपथ्यादैर्युक्तमद्यात् तु दुर्बलः ॥
 भैषज्यकालो भुक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः ।
 सामुद्रं भक्तसंयुक्तं ग्रासे ग्रासान्तरे दश ॥

गङ्गाधरः—आस्यादित्यादि । आस्यादास्यमारभ्यामाशयस्थान् रोगान्
 तथा नस्तः नासिकामारभ्य शिरोगतान् रोगानेवं गुदमारभ्य पक्वाशयस्थांश्च
 रोगान् द्रवमौषधमाशु हन्ति । शरीरेत्यादि । स्पष्टम् ॥ ११४ ॥

गङ्गाधरः—दिनेत्यादि । चिकित्साक्रियाविधौ दिनाद्यवेक्षणं कालं
 षड्विधं विद्यात् । तत्र दिनावेक्षं कालं पूर्वाह्णे यथा वमनं विद्यात् ।
 रोग्यवेक्षेत्यादि । रोग्यवेक्षा यथा बलवान् रोगी प्रातरेव निरन्न औषधं
 पिबेत् । दुर्बलो रोगी लघुपथ्यादैर्युक्तं भेषजं पिबेदिति । औषधावेक्षणं
 कालमाह—भैषज्यकाल इत्यादि । एको भुक्तादौ भैषज्यकालः, द्वितीयो

चक्रपाणिः—अत्र उदाहरणमाह—आस्यादित्यादि । आस्यादित्यादौ तृतीयास्थाने पञ्चमी ।
 तेन आस्येन दत्तमौषधं वमनादामाशयस्थान् गदानाशुतरास्निहन्ति । एवं नासिकया दत्तमौषधं
 शिरोगतान् निहन्ति । गुदेन दत्तमौषधं पक्वाशयस्थान् निहन्ति । सम्यग्योगे देशापेक्षामाह—
 शरीरावयवेष्वित्यादि । यथादेशमिति व्याधेदेशे । प्रदेहादिति प्रदेहपरिपेक्षोपनाहनादि देशसामर्थ्य-
 कालमपेक्ष्य देयमिति ॥ ११४ ॥

चक्रपाणिः—सोदाहरणं कालविभागपूर्वकमाह—दिनातुरेत्यादि । तत्र दिनावेक्षादिकालान्
 क्रमाद्बुद्धाहरति । दिनावेक्षः रोग्यपेक्षेति रोगिणो विशेषेण बलवत्त्वमबलवत्त्वञ्चापेक्ष्य भवतीत्यर्थः ।
 औषधमुपयुज्यापि उपेक्षणम् अभुञ्जानः औषधम् । भैषज्यकाला इत्यादि । अत्र भुक्तादौ विषयेन

अपाने विगुणे पूर्व समाने मध्यभोजनम् ।

व्याने तु प्रातराशायमुदाने भोजनोत्तरम् ॥

वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु ग्रासे ग्रासान्तरिष्यते ।

श्वासकासपिपासासु त्ववचार्यं मुहुर्मुहुः ॥

भुक्तमध्यम्, तृतीयो भुक्तात् पश्चात् । चतुर्थो मुहुर्मुहुः । पञ्चमः सामुद्रं सम्पुटकं द्वयोराहारयोर्मध्ये काले । षष्ठो भक्तसंयुक्तम् । सप्तमो ग्रासे । अष्टमो ग्रासान्तरे । प्रातर्निर्वन्तं पथ्यादियुक्तमिति द्वौ कालौ पूर्वमुक्तौ । तद्विषयमाह—अपान इत्यादि । अपाने वायौ विगुणे पूर्वं प्राग्भक्ताद् भेषज्यं सेव्यम् । समाने विगुणे मध्यभोजनं भोजनमध्यकाले । व्याने विगुणे प्रातःकाले आशायमौषधमाश्रयमादं लेहं पेयम् । उदाने विगुणे भोजनोत्तरम् औषधमाद्यम् । प्राणे वायौ प्रदुष्टे तु ग्रासे ग्रासान्तः प्रतिग्रासमध्ये ।

कालद्वयमुच्यते । यथा प्रातर्निषिद्धं तथा प्रातर्भोजनञ्च तथा पश्चादित्यनेन च कालद्वयं प्रातर्भोजनोत्तरम् अपरस्तु सायं भोजनोत्तरम् । कालञ्च मध्यभुक्तन्तु यद्वदं भुक्त्वा उपयुज्यते पश्चात् पुनरदं भुज्यते । मुहुर्मुहुः नाम यद् भोजनसमये प्रतिक्षणं योज्यम् । सामुद्रं नाम यदन्नस्य आदावन्ते च समुद्रवत् आचरणं तत् सामुद्रमभिधीयते । भुक्तमिति पदं भुक्तादावित्यादिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते । सम्भुक्तं नाम यदन्नेन संयोगान्मिश्रितं भुज्यते । ग्रासान्तरे तु भुक्तं नाम यत् ग्रासादनुभुज्यते ; अन्ये तु ग्रासग्रासान्तरे इति पठन्ति एकं भेषजकालं अतिभुक्तमिति । कालान्तरमभिधाय देशौषधकालपूरणं कुर्वन्ति अतएव वायौ प्राणे दुष्टे तु ग्रासे ग्रासान्तरे इष्यत इति वचनेन आचार्येण एक एव काल उक्तः । तत्र ग्रासस्य ग्रासान्तरमध्ये यदौषधं तत् ग्रासान्तरमुच्यते । भुक्तभुक्तस्य उपेक्ष्य ग्रासपेक्ष्य भोजनमिति बोधनात् गृहीतकालः षड्विधः । एवं व्यवस्थिते अपाने विगुणे इत्यादि पुनर्व्याक्रियते । एते च कालाः यद्यपि रोगविशेषविषयतया विहिताः, तथापि भेषजस्यैवामी अन्नपानादिविधेयस्य काला भवन्ति । अपानवैगुण्यादयस्तु गदाः इह भेषजविशेषतयोपदर्शनार्थम् । यदौषधं तस्य पूर्वम् अर्थात् पूर्वकाल इत्यादि अर्थो बोद्धव्यः । यस्तु व्याध्यपेक्षः कालः स व्याध्यवस्थारूप इह वक्तव्य इति विशेषः । औषधमित्यादिना औषधं संस्कृतमनुपयुज्यते, अलघु लघु वा तत् सम्भुक्तशब्देन उच्यते । ये तु ग्रासे ग्रासान्तर इति पठन्ति तेन ग्रासे ग्रासान्तरे च भेषज्योपयोगेन कालद्वयमाहुः । संयुतमिति सम्भोज्यमित्यस्यैव विशेषणं वर्णयन्ति ।

सामुद्रं हिक्किने देयं लघुनान्नेन संयुतम् ।

संभोज्यश्चौषधं भोज्यैर्विचित्ररुचौ हितम् ॥

ज्वरे पेयाः कषायाश्च क्षीरं सर्पिर्विरेचनम् ।

षड्दहे षड्दहे देयं कालं वोक्ष्यामयस्य च ॥

क्षुद्वेगमोक्षौ लघुता विशुद्धिर्जीर्णलक्षणम् ।

तदा भेषजमादेयं स्याद् दोषवदतोऽन्यथा ॥

चयादयश्च दोषाणां वज्ज्यं सेव्यञ्च यत्र यत् ।

ऋतावेक्ष्य तत् कर्म सर्वं पूर्वमुदाहृतम् ॥ ११५ ॥

श्वासादिषु मुहुष्मुहुरवचार्यम् । हिक्किने सामुद्रं देयं लघुनान्नेन संयुतम् । भक्तसंयुक्तं विचित्रैर्भोज्यैः सहौषधं भोज्यमरुचौ हितम् । इति दश काला औषधावेक्षणा भवन्ति । अथ व्याध्यवेक्षणं कालमाह—ज्वर इत्यादि । ज्वरे प्रथमं लङ्घनं लङ्घनानन्तरं पेया प्रथमे षड्दहे प्रथमदिनावधिसप्ताहे, ततोऽष्टम दिनावधि षड्दहे कषायास्ततश्चतुर्दशदिनावधिषड्दहे क्षीरं ततो विंशदिनावधि षड्दहे सर्पिस्ततः षड् विंशदिनावधिषड्दहे विरेचनमिति । एवमामयस्य कालं वोक्ष्य च पेयादिकक्रमः । पूर्वोपरकालेऽपि । अथ जीर्णलिङ्गावेक्षणं कालमाह—क्षुदित्यादि । क्षुधा तथा वेगस्य मलमूत्रयोर्मोक्षः शरीरोदरयो- लघुता उद्गारशुद्धिश्च जीर्णलक्षणमिति । जीर्णलक्षणे भेषजं सेव्यमन्यथा भेषजं दोषवत् स्यादिति । अथ ऋतवेक्षणं कालमाह—चयादय इत्यादि । दोषाणां यत्रतौ यस्य चयप्रकोपप्रशमाः पूर्व ते प्रोक्ताः सूत्रस्थाने, यत्र ऋतौ यद् वज्ज्यं यच्च सेव्यं तत् सर्वं पूर्वं तस्याशितोये उदाहृतम्, तदवेक्ष्य कर्म कार्यम् ॥ ११५ ॥

भुक्तमिति तु पदं सर्वोक्तकालेऽपि योजनीयं भेषजविशेषणमिति व्याख्यानयन्ति । औषधापेक्षं कालमभिधाय व्याध्यपेक्षं कालमाह—ज्वर इत्यादि । उत्सर्गविधिना ज्वराद् आरभ्य षड्दहे षड्दहे यथाक्रमं देयमिति उच्यते । षड्दहादिक्रमे पेयादिदानं न विरोधभाववति । सामान्यविधिर्विशेषविधिं न बाधते तस्य सर्वत्रैव अनुलङ्घनीयत्वात् । क्षुदादिभिः लक्षणैः सूच्यते ॥ ११५ ॥

उपक्रमाणां करण(1)प्रतिषेधे च कारणम् ।

व्याख्यातमवलानां सविकल्पानामवेक्षणम् ॥ ११६ ॥

मुहुर्मुहुश्च रोगाणामवस्था आतुरस्य च ।

अवेक्षमाणस्तु भिषक् चिकित्सासु न मुह्यति ॥ ११७ ॥

इत्येवं षड्विधं कालमनवेक्ष्य भिषग्जितम् ।

प्रयुक्तमहिताय स्याच्छस्यस्याकालवर्षवत् ॥ ११८ ॥

व्याधीनामृतत्वहोरात्र-वयसां भोजनस्य च ।

विशेषो भिद्यते यस्तु कालावेक्षः स उच्यते ॥ ११९ ॥

वसन्ते श्लेष्मजा रोगाः शरत्काले तु पित्तजाः ।

वर्षासु वातिकाश्चैव प्रायः प्रादुर्भवन्ति हि ॥

गङ्गाधरः—उपक्रमाणामित्यादि । यस्योपक्रमस्य यत्र यत्र (करणस्या-
प्रतिषेधस्तत्र) करणप्रतिषेधे कारणं व्याख्यातं षट्पक्रमणीये । अवलानां
सविकल्पानामवेक्षणे पूर्वं व्याख्यातमिति ॥ ११६ ॥

गङ्गाधरः—एवं सति मुहुर्मुहुश्च रोगाणामातुरस्य चावस्थामवेक्षमाणो
वद्यश्चिकित्सायां न मुह्यति ॥ ११७ ॥

गङ्गाधरः—इति षट्कालावेक्षणप्रयोजनमाह—इत्येवमित्यादि । इत्येवं षट्
कालमनवेक्ष्यानालोच्य भिषग्जितं प्रयुक्तमहिताय स्यात्, शस्यस्याकाल-
वर्षवत् ॥ ११८ ॥

गङ्गाधरः—कः पुनः कालावेक्ष इत्यत आह—व्याधीनामित्यादि ।
व्याधीनां वातादिजातानां योऽप्यतूनां विशेषो भिद्यते यश्चाहविशेषो भिद्यते
यश्च रात्रिविशेषो भिद्यते यश्च वयसो विशेषो भिद्यते यश्च भोजनस्य विशेषो
भिद्यते, स स विशेषः कालावेक्षः कालावेक्षणमुच्यते ॥ ११९ ॥

गङ्गाधरः—तद्यथा—वसन्त इत्यादि । वसन्तादिषु श्लेष्मरोगादयः

निशान्ते दिवसान्ते च वर्द्धन्ते वातजा गदाः ।

प्रातः क्षपादौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजाः ॥

वयोऽन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः ।

बलवन्तो भवन्त्येव स्वभावाद् वयसो नृणाम् ॥

जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्ण्यमाणे तु पित्तजाः ।

श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम् ॥ १२० ॥

नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथापोऽल्पा महानलम् ।

दोषवच्चातिमात्रं स्यात् शस्यस्यात्युदकं यथा ॥

सम्प्रधार्य बलं तस्मादामयस्यौषधस्य च ।

नवातिबहुलात्यल्पं भैषज्यञ्चावचारयेत् ॥ १२१ ॥

स्युरिति व्याधीनामुक्तं विशेषावेक्षणम् । निशान्त इत्यादि । निशान्ते दिवसान्ते च वातजा गदा वर्द्धन्ते तथा प्रातः पूर्वार्द्धे क्षपादौ रात्रेरादौ कफजा गदा वर्द्धन्ते तयोर्निशामध्ये दिनमध्ये च पित्तजा गदा वर्द्धन्ते । इत्यहोरात्रावेक्षणं व्याधीनाम् । वयोऽन्त इत्यादि । वयसोऽन्ते वातजा गदा बलवन्तो भवन्ति मध्ये पित्तजाः प्रथमे कफजाः । इति वयोऽवेक्षणम् । जीर्णान्त इत्यादि । जीर्णान्ते भोजनस्य वातजा रोगा वर्द्धन्ते भोजने जीर्ण्यमाणे पित्तजाः भुक्तमात्रे तु श्लेष्मजाः प्रायशो बलं लभन्ते । इति वयोभोजनावेक्षणं व्याधीनामिति ॥ १२० ॥

गङ्गाधरः—मात्रावदौषधप्रयोग एव कार्य्यो न त्वतिमात्राल्पमात्राभ्याम्, कस्मादित्यत आह—नाल्पमित्यादि । अल्पमात्रमौषधं व्याधिं न हन्ति यथाल्पा आपो न महानलं घ्नन्ति । तर्हि त्रिमात्रं व्याधिं किं हन्तीत्यत आह—अतिमात्रमौषधञ्च दोषवत् स्याद् यथात्युदकं शस्यस्य दोषवत् । तस्मात् आतुरस्य बलं सम्प्रधार्यामयस्य बलं सम्प्रधार्य औषधस्य च बलं सम्प्रधार्य नवातिबहुलं नात्यल्पं यथा स्यात् तथा भैषज्यमवचारयेत् ॥ १२१ ॥

औचित्याद् यस्य यत् सात्म्यं देशस्य पुरुषस्य च ।
 अपथ्यमपि नैकान्तात् सन्त्यज्य लभते सुखम् ॥
 वाहीकाः शाड्वलाश्चीनाः शुनीका यवनाः शकाः ।
 मांसगोधूममाध्वीक-शस्त्रवैश्वानरोचिताः ॥
 मत्स्यसात्म्यास्तथा प्राच्याः क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः ।
 अश्मकावन्तिकानान्तु तैलाम्लं सात्म्यमुच्यते ॥
 कन्दमूलफलं सात्म्यं विद्यान्मलयवासिनाम् ।
 सात्म्यं दक्षिणतः पेया मण्डश्चोत्तरपश्चिमे ।
 मध्यदेशे भवेत् सात्म्यं यवगोधूमगोरसाः ॥
 सात्म्यं ह्याशु बलं धत्ते नातिदोषश्च बह्वपि ।
 योगैरेवं चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति ॥
 तेषां तत्सात्म्ययुक्ताश्च वयोऽवस्थायुतास्तथा ।
 आयुर्बलशरीरादि-भेदा हि बहवो मताः ॥ १२२ ॥

गङ्गाधरः—अपथ्यस्यापि सात्मस्यावर्जनमाह—औचित्यादित्यादि । यस्य
 जनस्य देशस्यौचित्याद् यद् द्रव्यं सात्म्यं पुरुषस्य प्रकृत्यौचित्याच्च यस्य यत्
 सात्म्यं तदुपस्थितरोगेष्वपथ्यमपि नैकान्तात् त्यजेत् । ऐकान्तात् सन्त्यज्य
 न सुखं लभते । तत्र देशौचित्यात् सात्म्यमाह—वाहीका इत्यादि ।
 वाहीकादयः देशौचित्यात् मांसादुचिताः । प्राच्या मत्स्यसात्म्याः । सैन्धवाः
 क्षीरसात्म्याः । अश्मका आवन्तिकाश्च तैलाम्लसात्म्याः । मलयवासिनः
 कन्दमूलफलसात्म्याः । पेयासात्म्याः दक्षिणात्याः । उदीच्याः पाश्चात्याश्च
 मण्डसात्म्याः । मध्य देशे वासिनो यवगोधूमगोरससात्म्याः । तेषां तत्सात्म्य-
 युक्तास्तथा वयोऽवस्थायुताश्च आयुर्बलशरीरादिभेदा बहवो मता इति ॥ १२२ ॥

चक्रपाणिः—उक्तप्रयोगरेव चिकित्सां कुर्वन्तो दोषमाह—योगैरेवमित्यादि । देशादीत्यनेन
 देशाद्यज्ञानात् देशादिविगुणचिकित्साकारकं पुरुषं लक्षयति । अपराध्यतीति नेप्सितं
 साधयति । देशाद्यज्ञ इत्यत्रादिशब्देन वयोबलादीनां ग्रहणम् । वयोबलद शरीरप्रकृतिसंस्वानां

तथान्तःसन्धिमार्गाणां दोषाणां गूढचारिणाम् ।
 भवेत् कदाचित् कुत्रापि विरुद्धाभिमतता क्रिया ॥
 पित्तमन्तर्गतं गूढं स्वेदसेकोपनाहनैः ।
 नीयते वहिरुष्णैर्हि तथोष्णं शमयन्ति ते ॥
 वाह्रैः शीतैश्च सेकादौष्मान्तर्यो हि पीडितः ।
 सोऽणुगूढं कफं हन्ति शीतः शीतैस्तथा व्रजेत् ॥
 श्लक्ष्णपिष्टो घनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत् ।
 त्वग्गतस्योष्मणो रोधाद् दाहहृत् त्वन्यथागुरोः ॥
 छर्दिघ्नो मक्षिकाविष्टा मक्षिका बहु वामयेत् ।
 द्रव्येषु च विदग्धेषु चैवं तेषु च विक्रिया ॥

गङ्गाधरः—इति देशसात्मानां मांसादीनामपथ्यानामपि नैकान्तः परिहारः
 काय्यं इति दर्शयित्वा अपरमाह—तथेत्यादि । तथान्तर्गतानां दोषाणां सन्धि-
 गतानां दोषाणां गूढचारिणाञ्च दोषाणां कदाचित् कुत्रापि रोगे विरुद्धा
 क्रियाप्यभिमतता भवेत् । तद्वया—पित्तमित्यादि । अन्तर्गतं गूढमुष्णं पित्तमुष्णैः
 स्वेदादिभिर्वह्निर्नीयते । तथा स्वेदादयः पित्तमुष्णं शमयन्ति । वाह्रैरित्यादि ।
 शीतैर्वाह्रैः सेकादिभिर्योऽन्तरुष्मा पीडितः, सोऽन्तरुष्मा अणुं सूक्ष्मं गूढं
 कफं हन्ति । तथा शीतैः शीतः कफो शमं व्रजेत् । तद्वया । श्लक्ष्णेत्यादि ।
 चन्दनस्य दाहहरस्य शीतस्य श्लक्ष्णपिष्टो घनो लेपो दाहकृत् । कस्मात् ?
 त्वग्गतस्योष्मणो रोधात् । एवमतोऽन्यथा अगुरोर्गुणस्यापि दाहकरस्य
 श्लक्ष्णपिष्टोऽघनस्तनुलेपो दाहहृत् । एवमङ्गविशेषेऽपि कर्मविशेषः स्यात् ।
 तद्वया । छर्दित्यादि । मक्षिकाविष्टा छर्दिघ्नो, मक्षिका तु बहु वामयेत् ।

ग्रहणं यस्मात् तत् वयोबलशरीरादि । यदि वायुः सर्वात्मना कुप्यति, तदा तस्य वायोः यद्
 विपरीतं तैलं तत् कर्त्तव्यम् । यदा तु शीतेन वायुर्वृद्धः तदा सर्वात्मना वातविपरीतं
 तैलमुत्सृज्य यदेव शीतवातसहितं तस्यैवगुणस्य शैत्यप्रशमाय हेतुविपरीतमुष्णं भेषजं
 कर्त्तव्यम्, चोक्तं 'श्रोतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः' इत्यादि । इह तु

। यस्य
 यस्य यत्
 सन्त्यज्य
 त्यादि ।
 सैन्धवाः
 वासिनः
 धात्याश्च
 सात्मान-
 । १२२ ॥

शादीत्यनेन
 नेप्सितं
 हितिसरवानां

एतस्मादौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः ।

कुर्व्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम् ॥ १२३ ॥

निवृत्तोऽपि पुनर्व्याधिः स्वल्पेनायाति हेतुना ।

क्षीणे मार्गीकृते दोषे शेषः सूक्ष्म इवानलः ॥

तस्मात् तमनुबध्नायात् प्रयोगेणानपायिना ।

दाढ्यार्थं प्राक्प्रयुक्तस्य सिद्धस्याप्यौषधस्य तु ॥ १२४ ॥

कठिनादूनभावाच्च दोषोऽन्तःकुपितो महान् ।

पथ्यैर्मृद्वल्पतां नीतो मृदुर्दोषकरो भवेत् ॥

पथ्यमप्यश्नतस्तस्माद् यो व्याधिरुपजायते ।

ज्ञात्वैवं वृद्धिमभ्यासमथवान्यस्य कारयेत् ॥

सातत्यात् स्वाद्रभावाच्च पथ्यं द्वेष्ट्यत्वमागतम् ।

कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् पुनः ॥

तथा सति द्रव्येषु विदग्धेषु तेषु चैवं विक्रिया विपरीतक्रिया । एतस्माद्धेतो-
रौषधादीनि दश प्रागुक्तानि विमाने तत्त्वतः परीक्ष्य प्राञ्चिकित्सितं कुर्व्यात्,
न केवलं योगैरिति ॥ १२३ ॥

गङ्गाधरः—निवृत्त इत्यादि । निवृत्तो व्याधिः स्वल्पेनापि हेतुना
पुनरायाति । निवृत्तो रोगः कस्मात् पुनरायाति तत्राह । दोषे मार्गीकृते
सति क्षीणेऽपि शेषो वर्तते सूक्ष्मोऽनल इव । तस्मात् तं निवृत्तदोषं पुनरसम्
अनपायिना प्रयोगेणानुबध्नीयाच्चिरमुपाचरेत् । किमथमित्यत आह—दाढ्यार्थं
प्राक्प्रयुक्तस्य सिद्धस्यौषधस्य येनौषधेन व्याधिर्निवृत्तोऽभूत् । तस्य
सिद्धेर्दाढ्यार्थमनपायिना प्रयोगेणानुबध्नीयात् चिरमाचरेत् ॥ १२४ ॥

गङ्गाधरः—कठिनेत्यादि । कठिनादूनभावाच्च अन्तःकुपितो महान् दोषो
हि पथ्यैर्मृद्वल्पतां नीतो मृदुरपि दोषकरो भवेत् । तस्मात् पथ्यमप्यश्नतो
जनस्य यो व्याधिरुपजायते, तस्यैवं वृद्धिं ज्ञात्वान्यस्य पथ्यस्याभ्यासं कारयेत् ।
तत्र पथ्यद्वेषे कर्त्तव्यमाह—सातत्यादित्यादि । पथ्यं सततप्रयोगाद् यदि
दोषादीनां व्यस्तसमस्तानां ग्रहणात् दोषद्वयसमुदायात्मा व्याधिरपि लभ्यते, तेन व्याधि-

शुद्धिः
५५५

चरक-संहिता ।

चिकित्सा चापि निर्दिष्टा दोषाणां गूढचारि
योनिव्यापदिकेऽध्याये पुनर्वसुनिदर्शिता ॥
यस्तु सम्यक् न जानाति शास्त्रं शास्त्रार्थमेव च ॥ १ ॥
न कुर्यात् स क्रियां विप्रमथन्नरिव चित्रकृत् ॥ १ ॥
इत्यग्निवेशकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतैऽप्राप्ते दृढबलप्रतिसंस्कृतै

चिकित्सितस्थाने योनिव्यापचिकित्सितं नाम
त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति—भवन्ति चात्रेत्यादि । विंशतिरित्यादि ।
स्पष्टार्थः श्लोका एते ॥ १२६ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायं समापयति—अशीत्यादि ॥